मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म



व्याख्यान-दिवाकर, विद्याभूषण

हीरालाल दुग्गड़

न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक,



प्रकाशक—

जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मन्दिर,
१/२४८४ गली नं० ३ मौजीराम मार्ग
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

अथवा

कलानिकेतन १/१२१० (ई—३१ ए) मानसरोवर पार्क
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

●

प्रथम आवृति
वि० संवत २०३६
ई० सन् १९७९

●

भारत : मूल्य ८५.०० रुपये
विदेश : $ 20.00
£ 8.00

●

मुद्रक—

अरुण कम्पोजिंग एजेन्सी, डी-१०२ नई बस्ती सीलमपुर दिल्ली द्वारा कालका प्रिंटर्स दिल्ली।

समर्पण

[illegible] जिला [illegible] (पंजाब) निवासी

[illegible] गोत्रीय

[illegible] शाह जैन की पुत्री

स्व० श्रीमती [illegible]

जिसने मुझ ९ दिन के मातृविहीन शिशु का

अपने दूध से पालन पोषण किया

उन

जीवनदातृ नानी माँ की पुण्य स्मृति मे

हीरालाल दूगड़

दो शब्द

पंडित हीरालाल जी दूगड की इस बहुमूल्य कृति को पुस्तक के रूप में प्रकाशित देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। वे जैनधर्म के कतिपय विद्वानों मे से एक हैं। उन्होंने जैनधर्म विषयक उपयोगी जानकारी एक स्थान पर एकत्रित करने का जो भागीरथ प्रयत्न किया है—विज्ञ पाठक इससे भरपूर लाभ उठायेंगे ऐसी आशा है।

उनकी धाराप्रवाह शैली ने गम्भीर विषय को भी पठनीय और सुपाच्य बना दिया है। विषय सामग्री को अधिकाधिक उपयोगी बनाने में उन्होंने कोई कसर बाकी नही छोड़ी। उनके परिश्रम की जितनी सराहना की जाए कम हैं।

—साध्वी श्री मृगावतीश्री

इस इतिहास के लेखक



पं० श्री हीरालाल जी दूगड़ शास्त्री

शास्त्री हीरालाल जी दूगड़ अपने तीन छोटे भाईयों के साथ



(४) श्री रमणीक कुमार (१) श्री हीरालाल दूगड़ (३) श्री महेन्द्र लाल (२) श्री शादीलाल

लेखक परिचय

कर्मयोगी शास्त्री हीरालाल जी दूगड़

मैं जिस व्यक्ति की चर्चा कर रहा हूँ वे हैं इस ग्रंथ के रचयिता परम आदरणीय शास्त्री हीरालाल जी दूगड़। जन्म से लेकर अब तक का आपका जीवन एक संघर्षमय जीवन की गाथा है। आपका जन्म पंजाब के गुजरांवाला नगर में जो अब पाकिस्तान में है ई० स० १६०४ में हुआ। आपके पिता चौधरी दीनानाथ जी प्रख्यात समाजसेवक तथा ज्योतिष के अच्छे विद्वान थे। मातृ स्नेह से आप सदैव वंचित रहे। जब आप केवल ६ दिन के थे तो आपकी माता सुश्री धनदेवी जी का देहान्त हो गया। पश्चात् आपकी सगी मौसी आपकी दूसरी माता हुई। परन्तु जब आप १० वर्ष के थे उनका भी देहान्त हो गया। इनकी मृत्यु के बाद आप माता के प्यार से सदैव के लिए वंचित हो गए। वि० स० १६७५ में आपके पिताजी का तीसरा विवाह गुजरांवाला के शाह गुलाबराय बरड़ के सुपुत्र ला० लछमनदास जी की तीसरी सुपुत्री सुश्री मायादेवी से हुआ।

१६ वर्ष की आयु में मैट्रिक पास करके आप अपने पिताजी के साथ धातु के बरतनों का व्यवसाय करने लगे। परन्तु आपके मन पर आपके बाबा ला० मथुरादासजी के बड़े भाई शास्त्री कर्मचन्दजी और अपने पिता ला० दीनानाथ जी के संस्कार थे। आपके मन में धर्म के प्रति जिज्ञासा थी। व्यवसाय में आपका मन न लगा। अतः आपने गुजरांवाला में आचार्य श्री मद् विजयवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज द्वारा स्थापित श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब के कालेज सेक्शन (साहित्यमंदिर) में प्रवेश ले लिया। पांच वर्षों में जैन न्याय, दर्शन शास्त्र, काव्य, साहित्य, व्याकरण, प्रकरण एवं आगम आदि तथा प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं का अभ्यास कर गुरुकुल की स्नातक परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की और "विद्याभूषण" की उपाधि से विभूषित हुए। उस समय जबकि मैट्रिक तक की शिक्षा ही पर्याप्त समझी जाती थी आपने उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज को एक नई दिशा दी। इसके एक वर्ष पश्चात् आपने कलकत्ता संस्कृत एसोसियेशन कलकत्ता यूनिवर्सिटी रेकोगनाइज्ड की संस्कृत में जैन न्याय तर्क-दर्शन शास्त्र में "न्यायतीर्थ" परीक्षा उत्तीर्ण की दूसरे वर्ष गायकवाड़ सरकार द्वारा स्थापित सैण्ट्रल लायब्रेरी बड़ौदा से लायब्रेरी केटेलागिंग तथा कार्ड एकार्डर की सनद प्राप्त की।

अगले ही वर्ष आप अजमेर में व्याख्यान प्रतियोगिता में बैठे। उसमें उत्तम प्रकार से सफलता प्राप्त करने पर भारतवर्षीय विद्वदपरिषद अजमेर ने आपको "व्याख्यान दिवाकर" की उपाधि से अलंकृत किया। सन् १६३५ में आपने अजमेर निवासी श्री नरोत्तीलाल पल्लीवाल दिगम्बर जैन धर्मानुयायी द्वारा पूछे गए श्री श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनधर्म के विरुद्ध ४० प्रश्नों का समाधान अजमेर से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक पत्र "जैन ध्वज" में प्रकाशित करवा कर सच्चोट, युक्ति पुरस्सर, ऐतिहासिक, तार्किक एवं भारतीय जैन श्वेतांबर-दिगम्बर शास्त्रों तथा जैनेतर धर्मग्रन्थों और भारतीय वाङ्मय के आधार से किया। जो छः मास में समाप्त हुआ। इससे आपकी विद्वता

से प्रभावित होकर अयोध्या संस्कृत कार्यालय के मनीषीमंडल ने जिसमें हिंदू धर्मानुयायी जगद्गुरु आदि भी सम्मिलित थे आप श्री को "न्यायमनीषी" पदवी से सम्मानित किया।

आप समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता हैं। वयोवृद्ध होते हुए भी आपका उत्साह और पुरुषार्थ युवा जैसा है। सादा जीवन, कर्मठ वृत्ति, श्रमनिष्ठा के साक्षात् प्रतीक हैं। दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। धर्म श्रद्धालु व जैनधर्म के प्रचारकों के प्रेरणा स्रोत होने से जैन समाज के सभी संप्रदायों के कई आचार्यो मुनियों और श्रावक-श्राविकाओं से आपका अच्छा परिचय है।

आपकी शास्त्र प्रवचन पद्धति अत्यन्त रोचक और प्रभावोत्पादक है, शिक्षण देने की शैली अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। वक्तृत्व कला आकर्षक है। शंका समाधान करने की शक्ति अलौकिक है। इस वर्ष कांगड़ा में हुए श्री समुद्र सूरि जैनदर्शन शिविर में आपने अपनी इस कला से विद्यार्थियों को मंत्रमुग्ध कर दिया था। जैन संप्रदायों तथा जैनेतर वागङ्मय का चिंतनशील अभ्यास किया है। पर्यूषण तथा दसलाक्षणी आदि पर्वो में आपके शास्त्र प्रवचनों से लाभान्वित होने के लिए श्वेतांबर और दिगम्बर जैनसंघ समान रूप से सदा निमन्त्रित करते है। लेखन शैली में गम्भीरता और सरलता रूप गंगा जमुना का संगम रहता है। जैनदर्शन तथा इतिहास के प्रति आपकी सच्ची आस्था और अनुराग अत्यन्त प्रशंसनीय है जो कि आपके द्वारा लिखे हुए ग्रंथों में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

आपने अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनेक उत्तम पुस्तकों का सृजन तथा अन्य भाषाओं से भाषांतर भी किया है। अपनी समस्त प्रकाशित व प्रकाशनीय पुस्तकों की सूची शास्त्री जी ने इस पुस्तक में अन्यत्र दी होगी। २३ प्रकाशित और लगभग १० तैयार हो रही पुस्तकों का यह लेखक अभिनन्दनीय है। आपकी अधिकांश पुस्तकें अब अप्राप्य हैं। आपकी पुस्तक निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान महावीर तथा मांसाहार परिहार" मैंने आद्योपांत पढ़ी है। इस पुस्तक के द्वारा आपकी अनुपम प्रतिभा की झलक मिलती है। इस एक पुस्तक द्वारा यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आपकी अन्य पुस्तकें भी कितनी उच्चकोटि की होंगी। इस पुस्तक के लिए आपको श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत ने वि.सं. २०२२ को अक्षय तृतीया के दिन ई. स.१९६५ को श्री हस्तिनापुर में वर्षीय तप पारणा महोत्सव पर चतुर्विध संघ के समक्ष पुरस्कृत कर सम्मानित किया। इस महत्वपूर्ण पुस्तक में जैन निर्ग्रंथ मुनियों तथा श्रमण भगवान् महावीर पर लगाए गए मांसाहार के आरोपों का वेद, पुराण, उपनिषद, जैनागम, इतिहास, तर्क, चिकित्सा शास्त्र आदि के दृष्टिकोणों को लेकर प्रतिकार किया है।

धर्म पर अगाध श्रद्धा होते हुए भी आप रूढ़िवादी नहीं है। २७ वर्ष की आयु में आपने अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर सम्प्रदाय में विवाह कर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। विवाह भी बड़े आदर्श रूप से हुआ। आप श्वेतांबर हैं तो आपकी पत्नी सुश्री कलावती दिगम्बर सम्प्रदाय की थीं। आप पंजाब के और आपकी पत्नी उत्तरप्रदेश की थीं। आप ओसवाल हैं और आपकी पत्नी पोरवाल थीं।

सन् १९६६ में आपकी धर्मपत्नी का देहान्त हो जाने के पश्चात् आपने दिल्ली में शांतमूर्ति आचार्य श्री विजय समुद्र सूरिजी से विधिवत् सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। अभक्ष्य-अनन्तकाय

का त्याग, रात्रि को तिविहार पच्चक्खाण, प्रातःकाल नवकारसी-पोरसी का पच्चक्खाण, प्रतिदिन सामायिक-प्रतिक्रमण देवदर्शन-पूजन करने को प्रतिज्ञाबद्ध हैं। अजमेर, बीजापुर, राजकोट, आजिमगंज, कलकत्ता, गुजरांवाला, मद्रास, अम्बाला, दिल्ली आदि अनेक स्थानों के अनेकों व्यक्ति एवं साधु-साध्वियां आपके ज्ञान व शिक्षण से लाभ उठा चुके हैं। धर्म संबंधी शंकाओं का समाधान करने की तर्कयुक्त शैली जिज्ञासुओं को मंत्रमुग्ध किए बिना नहीं रह सकती। जैन समाज का गौरव है कि उसे ऐसे सच्चरित्र सम्यग्दृष्टि विद्वान की उपलब्धि हुई है। कृशगात्र और साधारण सी वेशभूषा में आपकी प्रतिभा और विद्वता को पहचान पाना साधारण व्यक्ति के लिए आपके सम्पर्क में आए बिना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

शास्त्री जी जब अपने जीवन की पिछली घटनाओं का वर्णन करते हैं तो लगता है मानो वे उनके सामने चलचित्र की भांति उभर रही हों। आपकी अद्भुत स्मरण शक्ति को देखकर आश्चर्य होता है। परन्तु इतनी प्रतिभाओं का धनी यह व्यक्ति सदैव अभाव का जीवन ही जीता रहा है। मुन्शी प्रेमचन्द हिंदी और उर्दू के महान साहित्यकार हुए हैं परन्तु उनका जीवन अभाव और कष्ट में बीता। इसी प्रकार शास्त्री जी का जीवन भी अभाव और संघर्ष की गाथा है। ऊपर से कठोर, परंतु अंदर से कोमल और व्यथा से भरे हृदय को व्यक्ति उनके सम्पर्क में आकर ही जान सकता है।

केवल जैन समाज ही नहीं अपितु सभी समाजों की यह वृत्ति रही है कि वह व्यक्ति को कम से कम देकर अधिक से अधिक पाना चाहता है। साहित्यकार सदैव समाज से जितना पाता है उससे कहीं अधिक देता है। मुझे विश्वास है कि यदि शास्त्री जी आर्थिक चिंताओं से मुक्त हों तो वे अपने जीवन के शेष काल में भी समाज को अनूठी कृतियां दे सकते हैं।

दिनांक—६-११-१६७६

—निर्मलकुमार जैन, आगरा
मंत्री, श्री महावीर जैन
युवासंघ उत्तर—भारत।
सचिव, आचार्य वल्लभ
यंग सोसायटी आगरा।

पुस्तक छपने के बाद प्राप्त समाचार

भटिण्डा (पंजाब)

वि० सं० १२३६ (सन ११७९) में प्रतिष्ठित ३०" ऊंची अत्यन्त बढ़िया संगमरमर की बनी हुई भगवान श्री नेमिनाथ जी की तथा दूसरी भगवान धर्मनाथ जी की २३" ऊंची श्वेत वर्ण—इस प्रकार दो प्रतिमाएं अक्टूबर १९७९ में भटिण्डा में भूगर्भ से प्राप्त हुई हैं। भगवान नेमिनाथ जी की मूर्ति भामण्डल और सिंहासन सहित है। लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं राजा कोरपाल ने अपने पिता की स्मृति में बनवाई थी। सिंहासन में शेर, हाथी आदि बने हुए हैं, जबकि तोरण में नाट्य आदि मुद्रा में इन्द्राणियां चित्रित हैं। श्री धर्मनाथ जी की प्रतिमा में एक विशेष लक्षण यह है कि दाईं भुजा पर ३॥" लम्बी ६" चौड़ी तथा ०।" मोटी पट्टी का निशान है। जैसेकि किसी कपड़े या चादर का निशान बनाया हो। कपड़े का ऐसा चिन्ह इससे पूर्व किसी मूर्ति पर संभवतः उपलब्ध नहीं हुआ है। प्रतिमाओं के हाथों और चरणों की रेखाएं बिल्कुल स्पष्ट हैं। कानों और होंटो पर लाल रंग अभी तक विद्यमान है। मूर्तियों का पाषाण, आकृति व शैली इतने श्रेष्ठ है कि उस काल की विकसित मूर्तिकला का आदर्श निदर्शन हैं।

भटिण्डा पूर्व काल में भी जैनों का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। जैन ग्रंथों में सतलुज नदी के किनारे पर बीदपुर नामक किसी नगर के होने का उल्लेख मिलता है, यहाँ पर श्रीपूज्यों की गद्दी भी थी। उत्तरभारत से मुलतान सिंध तथा राजस्थान में जाने के लिए यह मार्गद्वार था। खरतरगच्छीय श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार श्री जिनदत्त सूरि जी ने भटिण्डा की एक श्राविका के लिए "सन्देह दोहावली" ग्रंथ की रचना की थी।

भटिण्डा से मण्डी डबवाली जाने वाली सड़क पर शहर के समीप ही पटियाला कालोनी के पास श्री हंसराज बागला अपने फार्म (खेत) को ट्रैक्टर से समतल करवा रहे थे, तभी ये दोनों मूर्तियां उपलब्ध हुई है. इस क्षेत्र को सरकार ने सुरक्षित क्षेत्र घोषित कर दिया है। अधिक खुदाई होने पर और तथ्य सामने आएंगे।

(इनमें से एक मूर्ति भटिण्डा के जैन मन्दिर में आ गई है। दूसरी केलिए प्रयत्न जारी है)

प्रकाशकीय

हमें हर्ष होता है कि आज हम पाठकों के करकमलों में जैन वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान शास्त्री श्री हीरालाल जी दुग्गड़ द्वारा लिखित "मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म" नामक जैन इतिहास का ऐसा अनुपम ग्रंथ उपस्थित कर रहे हैं जिस विषय पर आज तक किसी भी विद्वान ने लिखने का प्रयास नहीं किया। जिन-जिन विद्वद् महानुभावों ने इसकी पांडुलिपि का अवलोकन किया है उन सबने इसे भारतीय इतिहास का, विशेष रूप से जैन इतिहास का संदर्भ ग्रंथ(Encyclopidia) कहा है। श्री दुग्गड़ जी ने इस ग्रंथ को लिखने का कितना पुरुषार्थ और परिश्रम किया है, कितना विशाल और प्रौढ़ बनाया है; इतिहास की प्रच्छन्न कितनी कितनी परतों को खोला है; जैन इतिहास के साथ कई भारतीय तथा विदेशी विद्वानों द्वारा किये गये खिलवाड़ का ऐतिहासिक, शास्त्रीय तथा तार्किक ढग से कैसा समाधान किया है; कितनी नयी-नयी शोध खोज की है; इसका पूर्ण परिचय तो पाठक तभी जान पायेंगे जब वे इस इतिहास ग्रंथ का आद्योपांत मनन पूर्वक पठन-पाठन करेंगे। यह भारतीय इतिहास की उस शृंखला की कड़ी है जिसकी आज तक इतिहासकारों ने उपेक्षा की है। विशेष रूप से जैन इतिहास का तो यह एक अलौकिक ग्रंथ है ही परन्तु भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिये श्री दुग्गड़ जी की यह एक अनुपम देन है। श्री दुग्गड़ जी की यह तीसवीं पुस्तक प्रकाशित हो रही है। इस ग्रंथ रत्न का प्रचार व प्रसार होकर भारत के जन-जन के हाथ में पहुंचे, सरकारी पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों की लायब्रेरियों तथा विदेशों में भी सर्वत्र इसका प्रसार हो, जिससे इतिहास शोधकर्ता विद्यार्थियों को भी मार्गदर्शन मिले। विद्वद्जनों के परिश्रम की कद्र विद्वदजन ही कर सकते हैं और यह ग्रंथ विद्वानों के पठन-पाठ के लिए भी अत्यंत उपयोगी है यह बात संदेह रहित है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन करने का गौरव हमें प्राप्त हुआ है इसके लिये हम श्री दुग्गड़ जी के आभारी है।

के. बी. ओसवाल

अध्यक्ष श्री जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मंदिर

कला निकेतन E/31 मानसरोवर पार्क

शाहदरा-दिल्ली ११००३२

इस ग्रंथ के लिए आर्थिक सहयोगी

सेठ मणिलाल जी डोसी		....
श्री आत्मानन्द जैन सभा रूपनगर	दिल्ली	२००१.००
आचार्यश्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि जी की प्रेरणा से		१५००.००
तपस्वी मुनि श्री बसंतविजय जी की प्रेरणा से		१५००.००
लाला नरपतराय खरायतीलाल	दिल्ली	१००१.००
लाला रामलाल इन्द्रलाल तैलवाले	,,	१००१.००
लाला मकनलाल प्यारालाल मुन्हानी	,,	१००१००
लाला खजानचीलाल एंड सन्स लाहौर वाले	,,	१००१.००
श्री हस्तिनापुर जैनश्वेतांबर तीर्थसमिति		१००१.००
लाला मानकचन्द छोटेलाल दूगड़	आगरा	१०००.००
लाला जगननाथ दीवानचन्द दूगड़	,,	१००१.००
लाला दीनानाथ देवराज	दिल्ली	१००१.००
लाला पन्नालाल हरबसलाल अमृतसरवाले	,,	१००१.००
लाला गणेशदास प्यारालाल बरड़	अंबाला	१००१.००
लाला मुनिलाल कीर्तिप्रसाद लोढ़ा	,,	१००१००
लाला सागरचन्द महेन्द्रकुमार	सामाना	१००१.००
लाला कपूरचन्द जैन	जालंधर	१०००.००
लाला खजानचन्द चिमनलाल दूगड़	,,	१००१.००
लाला रतनचंद रिखबदास	दिल्ली	१००१.००
लाला देवराज (वी० के० होजरी)	,,	१००१.००
लाला रामलाल जगदीशलाल	दिल्ली	५०१.००
लाला ज्ञानचन्द शीलकुमार	,,	५०१.००
लाला मनोहरलाल चन्द्रमोहन	,,	५०१.००
लाला जोगेन्द्रपाल मुन्हानी (J. P. Jain)	,,	५०१.००
एन आर जैन	,,	५०१.००
श्री समरथमल मरडिया	जोधपुर	५०१.००
,, सुरेन्द्रकुमार जंडियाला गुरुवाले	दिल्ली	५०१.००
लाला चिमनलाल लाहौरवाले	,,	५०२.००
लाला खेतूराम सत्यपाल नौलखा	जीरा	५०१.००
श्री मनसुखलाल महता	दिल्ली	२५१.००

भूमिका

कोई भी जाति अपने अतीत की उपेक्षा करके अपनी भावि का निर्माण नहीं कर सकती। इतिहास हमें अतीत का सम्यग्ज्ञान प्रदान करके उसके परिपेक्ष्य में वर्तमान का समुचित मूल्यांकन करने की तथा भविष्य में यथोचित निर्माण करने का मार्गदर्शन कराता है। मनुष्य के व्यक्तित्व विकास के लिए ऐतिहासिक अध्ययन का प्रायः सर्वोपरि महत्व रहता है। यदि वह पूर्वजों के महत्वपूर्ण कार्यकलापों को बतला कर उनका अनुकरण करने की प्रेरणा देता है तो उनके द्वारा की गई भूलों से शिक्षा लेकर, उन्हें सुधारकर अपने मार्ग को प्रशस्त करने की भी प्रेरणा देता है। किन्तु इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रामाणिक हो, निष्पक्ष हो, और संतुलित बुद्धि से लिखा जावे।

इतिहास लेखक के सन्मुख अनेक विविध कठिनाइयाँ होती हैं। स्वयं अपनी साधन सुविधाओं, क्षमता और समय की सीमाएं, उपयुक्त सामग्री का अभाव अथवा विरलता, विवेक, सांप्रदायिक आदि दृष्टिराग से मुक्त रहकर सत्य की तह तक पहुंचने की मनोवृत्ति, कदाग्रह का अभाव, यथासम्भव स्वयं निर्णय न देकर पाठकों पर निर्णय देने एवं निष्कर्ष निकालने का भार छोड़ना आदि।

जैनधर्म आदि (अत्यंत प्राचीन) धर्म है। यह एक ऐसी सनातन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध भारतीय होने के साथ सबसे अधिक प्रामाणिक एवं विशुद्ध मूल स्वरूप में प्राचीनतम जीवित परम्परा है। इसके उद्गम और विकास के बीज सुदूर प्रागैतिहासिक काल में निहित है।

मानवी जीवन में कर्मयुग अथवा लौकिक सभ्यता के उदय के साथ ही साथ इस अहिंसा और निवृत्ति प्रधान आत्मधर्म का अविर्भाव हुआ। वर्तमान कल्पकाल में इसके आदि पुरस्कर्ता आदि पुरुष, स्वयंभू प्रजापति भगवान ऋषभदेव थे जो चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में प्रथम थे। उत्तर भारतीय जगत में इस महान धर्म के उद्भव, विकास एवं वर्त्तमान का सम्पूर्ण इतिहास प्राप्त नहीं है। और इस महत्वपूर्ण विषय पर लिखने का किसी ने प्रयास किया हो ऐसा हमारे पढ़ने और सुनने में नही आया।

वि० सं० १९७४ में मुनि श्री बुद्धिविजय जी आदि पांच पंजाबी मुनिराजों के चरित्रों के संकलन रूप सद्धर्मसंरक्षक नामक पुस्तक को लिखते समय स्फूरणा हुई कि इन चरित्रों को लिखकर पूर्ण करने के पश्चात् इसी पुस्तक के परिशिष्ठ रूप में पंजाब के जैन इतिहास का भी संक्षिप्त रूप में संकलन कर दिया जावे। अब इसकी रूप रेखा तैयार की तो ऐसा लगा कि आज तक जिस पर लिखने की तरफ विद्वानों का लक्ष्य नहीं गया, पंजाब का जैन इतिहास स्वतंत्र पुस्तक के रूप से लिखना ही उचित है। ऐसा निश्चय कर लेने पर इस इतिहास की सामग्री एकत्रित करने का कार्य भी चालू कर दिया। इसे तैयार करने में छह वर्षों का लम्बा समय व्यतीत हो गया।

जैन श्वेतांबर-दिगम्बर वांगमय का, वैदिक ब्राह्मणीय वेदों, पुराणों, स्मृतियों, उपनिषदों, बौद्ध-वांगमय भारतीय साहित्य एवं विदेशी, स्वदेशी लेखकों द्वारा लिखे गये इतिहास ग्रंथों, शिलालेखों, मूर्तिलेखों, पट्टावलियों, प्रशस्तियों, वंशावलियों, सिक्कों, स्तूपलेखों, ताम्रपत्रों, फरमानों आदि एवं खंडहरों से उपलब्ध नानाविध सामग्री के आधार से शोध-खोज पूर्वक इस इतिहास ग्रंथ को सत्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तैयार किया है। यत्र-तत्र बिखरी पड़ी जैन इतिहास की सामग्री का संकलन करने के लिये पटियाला, जम्मू, श्रीनगर (काश्मीर) आगरा, दिल्ली, होशियारपुर आदि अनेक विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों तथा खानगी पुस्तकालयों में जाकर शोध कार्य करना पड़ा। अंबाला के श्री आत्मानंद जैन पुस्तकालय, दिल्ली दरियागंज में दिगम्बरी शोध संस्थान के वीरसेवा मंदिर तथा दिल्ली रूपनगर मे सुरक्षित श्री वल्लभ स्मारक जैन शास्त्र भंडार के हस्तलिखित तथा प्रकाशित ग्रंथों के सदर्भों से, मासिक पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री संकलित करने में सहयोग लिया गया। मात्र इतना ही नहीं अपितु श्रीनगर, चंडीगढ़, मथुरा, लखनऊ, कांगड़ा, कुरुक्षेत्र, होशियारपुर आदि अनेक स्थानों के सरकारी पुरातत्त्व संग्रहालयों, पानीपत, हिसार, पंजौर तथा पंजाब के अन्य स्थानो पर उत्खनन से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री को वहाँ जाकर अध्ययन से जो कुछ प्राप्त हो सका उसे शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से, साम्प्रदायिक आदि दृष्टिराग से मुक्त रहकर सत्य तक पहुचने की मनोवृत्ति से, कदाग्रह के अभाव, यथासम्भव स्वतंत्र विचारधारा से इस ग्रंथ की रचना करने में पूरा-पूरा ध्यान रखा गया।

इतिहास के कई गण्यमान्य विद्वानों का एतद विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिये साक्षात्कार भी किया और पत्रों द्वारा जानकारी प्राप्त करने के प्रयास भी किये गये। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय का प्राचीन साहित्य पंजाब-सिंध आदि प्रदेशों में प्रचार और प्रसार के विषय में एकदम मौन है इसलिये उनके सत्य इतिहास को विशेष रूप से जानने के लिये दिगम्बर विद्वानों से भी पूछ-ताछ की गई परन्तु किसी के वहाँ से संतोष जनक कुछ भी प्राप्त न हो सका। पंजाब में विद्यमान स्थानकवासी कतिपय विद्वान साधुओं तथा प्रतिष्ठित, विद्वान श्रावकों को भी पत्रों से तथा साक्षात् भेंट करके भी उनके इतिहास के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये कई बार प्रयास किये गये। परन्तु वहाँ से भी कुछ प्राप्त न हो पाया।

अतः अपनी शोध-खोज से जो कुछ मिल पाया या जान पाया उसी के आधार से इस ग्रंथ का निर्माण किया है।

पुस्तक प्रकाशन करने से पहले इतिहास के कतिपय जैन-जैनेतर स्कालर्ज को इसकी प्रेस कॉपी का अवलोकन भी कराया गया है। इस प्रकार इस इतिहास ग्रंथ को सब प्रकार से प्रौढ़ और समृद्ध बनाने के लिये प्रयास करने और लिखने में छह वर्ष व्यतीत करने पड़े हैं।

इस ग्रंथ के सात अध्याय हैं—१. जैनधर्म की प्राचीनता और लोकमत, २. पंजाब में जैन धर्म, ३. जैनधर्म और शासक, ४. जैनधर्म के सम्प्रदाय, ५. जैन मंदिर संस्थाएं और साहित्य, ६. पंजाब में जैन क्रांति, ७. पंजाब में विद्यमान साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं का परिचय।

इस इतिहास ग्रंथ में चीन, महाचीन, तिब्बत, इराक, ईरान पर्शिया, कजकस्तान, युनान, तुर्किस्तान अफगानिस्तान, कम्बोज, बिलोचिस्तान, अरब, काबुल, नेपाल, भूटान, सीमाप्रांत, तक्षशिला, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, कुरुक्षेत्र, काश्मीर, सिंध, लंका, हंसद्वीप, कोंकद्वीप इत्यादि अनेक क्षेत्रों अर्थात् चीन से लेकर दिल्ली की सीमा तक के इतिहास का समावेश है। यही कारण कि इसका नाम मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म रखा है।

इस पुस्तक में श्री ऋषभदेव, ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक के जैन इतिहास का संकलन है।

इस ग्रंथ में क्या-क्या विषय संकलित किये हैं उसको पाठक अनुक्रमणिका (विषय सूचि) से पढ़कर जान पायेंगे।

इस ग्रंथ में जैनधर्म के अनेक पहलूओं पर आलोचनात्मक विषद विवेचन भी किया है और लिखते हुए दृष्टिराग अथवा साम्प्रदायिक व्यामोह से पूरी तरह बचने के लिये विवेक को नजर अन्दाज (दृष्टि ओझल) नहीं किया गया।

धार्मिक भावना जबसांप्रदायिक रूप धारण कर लेती है तब बहुत अटपटी बन जाती है। इससे सत्यांश और निर्भयता का अंश दब जाता है। इसमें सांप्रदायिक अथवा वास्तविक धार्मिक किसी भी मुद्दे पर चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से करने पर कई पाठकों के मन में सांप्रदायिक भावना की गंध आ जाना सम्भव है। यह बात मेरे ध्यान से बाहर नहीं है। आजकल ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर अथवा किसी की आड़ में सांप्रदायिक भावना को पोषण करने की प्रवृत्ति अथवा विचारक माने जाने वाले व्यक्तियों में भी दिखलाई पड़ती है। ऐसी भावना से लिखे गये इतिहासिक ग्रंथों में देखा जाता है कि उसमें इतिहास से खिलवाड़ की गई है। इन सब भयस्थानों के होते हुए भी मैंने इस ग्रंथ में अनेक ऐसी चर्चाएं भी की हैं जिन्हें साम्प्रदायिक व्यामोह के पर्दे के पीछे ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य परखने की आवश्यकता रही हुई है। इस एक ही विचारणा से कि जो असांप्रदायिक अथवा सांप्रदायिक सत्य शोधक होंगे, जो सत्य और इतिहास के अभिलाषी होंगे उन्हें यह चर्चाएं कदापि सांप्रदायिक भाव से रंगी हुई भासित नहीं होंगी और सत्य की प्रतीति के लिए अत्यंत उपयोगी मालूम पड़ेंगी।

इतिहास का कोई पारावार नहीं है और न ही कोई इसे पूर्ण रूप से लिखने का सामर्थ्य रखता है। जैसे-जैसे शोध खोज होती रहती है। वैसे-वैसे इतिहास के नये-नये परत खुलते रहे हैं। अतः जहाँ तक मुझ से बन पाया है मैंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार लिखने का प्रयास किया है। जैनधर्म के इतिहास को लिखने के लिए सब ऐतिहासिकों के सहयोग की आवश्यकता रहती है। बहुत कोशिश से छह वर्ष की अवधि में जो कुछ लिख पाया हूँ उसे संयोजकर पाठकों के सामने रख दिया है। इस कार्य में कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

विद्वद्वर्य श्रद्धेय डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन M.A.L.L.B. लखनऊ वालों ने महती उदारता करके इतिहास ग्रंथ की प्रेसकॉपी को आद्योपांत पढ़ने का परिश्रम उठाया है, उनका स्नेहपूर्ण सहयोग सदा चिरस्मरणीय रहेगा।

डा० महोदय के विचार से "अध्याय ५ में पंजाब के यति, श्रीपूज्य, भट्टारक, जैन बस्तियाँ जैन जातियां और गोत्र, पुरातत्व, मंदिर और संस्थाएं, साहित्यकार आदि का उपयोगी परिचय है। ग्रंथ का यह अध्याय तो पर्याप्त महत्वपूर्ण है और बहुत सी नवीन सामग्री का उद्घाटन करता है।

जिन पूजा में हिंसा का अभाव, जैनों की मूर्तिमान्यता की प्राचीनता और तुलनात्मक अध्ययन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है इत्यादि।

इस प्रकार लगभग ६५० पृष्ठों में इस ग्रंथ में विद्वान लेखक ने अविभाजित भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतो के जैनधर्म और जैनों से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री एवं सूचनाएं संकलित कर दी हैं।

इस प्रसंग में यह बता देना शायद अनुचित न होगा कि इस पुस्तक में यदि दिगम्बर जैनों के कार्य कलापों पर अत्यल्प प्रकाश पड़पाया है तो उसका मुख्य कारण संभवतया साधना-भाव रहा।

पुनश्च इसकी पांडुलिपि को श्री वीरेन्द्र कुमार जी जैन B.A. साहित्यरत्न दिल्ली तथा श्री महेन्द्रकुमार मस्त सामाना ने आद्योपांत पढकर कुछ सुझाव दिए है उसके अनुसार यथा संभव उचित संशोधन से इसे प्रमाणिक बनाने में अपनी तरफ से पूरा प्रयत्न किया है। अतः इस सहयोग के लिये मैं दोनों का आभारी हूं। प्रूफ संशोधन में मेरे सुपुत्र श्री अमृतकुमार ने पूर्ण सहयोग दिया है।

इस ग्रंथ के मुद्रक अरुण कम्पोजिंग एजेंसी के मालिक पं० कुंवरकान्त चौधरी जी ने इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिये अथक परिश्रम किया है जिससे यह ग्रंथ समय पर प्रकाशित हो पाया हैं, मैं इनका भी धन्यवाद करता हूँ।

श्री गोकुलदास भाई कापडिया बम्बई वालों ने (१) शिव और ऋषभ, (२) भगवान महावीर कमल पर विराजमान, (३) श्री ऋषभदेव का चतुर्मुष्टि लोच तथा अष्ट प्रातिहार्य सहित केवल ज्ञानावस्था का चित्र (४) श्री ऋषभदेव का पंचमुष्टि लोच वाला निर्वाणसमय का चित्र (चार चित्रों) को निःशुल्क बनाकर बम्बई से भेजने की उदारतापूर्वक महत् कृपा की है। मैं उनके इस निस्वार्थ सहयोग के लिये जितना भी धन्यवाद करूं थोड़ा है। अतः उनकी उदारता और सौजन्य का भी मैं विशेष रूप से आभारी हूं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग दिया हैं, यदि उनका सहयोग न मिल पाता तो यह ग्रंथ प्रकाशित ही न हो पाता। अतः उनकी यह उदारता भी प्रशंसनीय है। दाताओं की सूची पहले दी है।

अन्त में पाठकों से निवेदन है कि इस ग्रंथ को पढ़कर अपनी-अपनी सम्मति भेजकर अवश्य अनुग्रहित करें तथा एतद्विषयक कोई सामग्री भी हो तो अवश्य भेजने की उदारता रखें ताकि अगले रसंस्करण में उसका उपयोग करके इस ग्रंथ को समृद्ध बनाया जा सके।

हीरालाल दुग्गड़ (दिल्ली)

प्रस्तावना

जैनधर्म वैदिक स्रोत से पृथक एवं वेद काल से भी प्राचीन है, ऐसा मन्तव्य भारत में विशेष रूप से जैन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत और विस्तृत किया जाता रहा है। इस मन्तव्य को जैन संघ ने भी सादर स्वीकार किया है। इस दिशा में भारतीय जैन विद्वानों की विशेष रूप से चली आ रही जो प्रवृत्ति देखी जाती है, उस में वे लोग यदि अपनी मेधाविता को भी अवकाश दें तो अवश्य कुछ विशेष परिणाम पाये जा सकते हैं। मेधाविता के लिए नितांत आवश्यक है कि जिन जिन जैन ग्रंथों में जो जो इस विषय के प्रमाण पाये जाते हैं, उन उन ग्रंथों के कलेवर में से उपलब्ध विधानों तथा उनके अंशों का तलस्पर्शी अंतरंग परीक्षण करने की प्राथमिक प्रक्रिया अपनायी जाए। जिससे कि सारे ग्रंथों से विभिन्न समय समय एवं विभिन्न कर्ताओं के विभिन्न स्तरों के दर्शन हो जायें तभी हम उन ग्रंथों के स्तरों के नीचे प्रच्छन्न (दबा हुआ) उसका मूल प्राण पा सकते हैं। तथा उन ग्रंथों में से लिये हुए प्रमाण मौलिक हैं अथवा अन्य स्तर के हैं इसका भी हम निर्णय पा सकते हैं। प्राचीन समय की किसी भी कृति में समय समय पर परंपरा के विद्वानों द्वारा कुछ न कुछ परिवर्तन तो होता ही रहता है, जिससे कृति का मौलिक स्वरूप बदलता जाता है। परिवर्तन होना यह दोष नहीं है किन्तु विचारों के जीवंत प्रवाह का यह द्योतक है। इन सब बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

जैनधर्म की प्राचीनता सम्बन्धी मान्यताओं को पुष्ट करने के लिए जैनेतर (धर्म) साहित्य का भी अतरंग परीक्षण करना उतना ही आवश्यक है, जितना जैन धर्म के साहित्य का। उसके साथ साथ पाश्चात्य, पौर्वात्य तथा प्रणालीगत विद्वद परम्पराओं से प्राप्त सभी प्रकार की विचार प्रक्रियाओं का विमर्श करना भी जरूरी है। ऋग्वेद की बात आती हो तो "इण्डो-यूरोपीयन" भाषाओं का तलस्पर्शी अभ्यास भी जरूरी है। जिसका अभ्यास हमारे भारत में विकसित नहीं हुआ है। इस लिये ऋग्वेद आदि के आधार पर अवलंबित हमारी प्रायः सभी मान्यताएं प्रमाणभूत नहीं ठहर सकतीं। 'ऋषभ', 'वातरशना', 'मुनि' इत्यादि जैसे वैदिक साहित्य के शब्दों के साथ उपयुक्त अन्य शब्दो एव अर्थों की विचारणा भी जो "इण्डो यूरोपियन" भाषाविदों ने की हो उस में सबसे प्रमाणभूत विचारणा का स्वीकार करना युक्ति संगत होता है। यह भी चर्चा आवश्यक है कि भगवान पार्श्वनाथ के अलावा भगवान महावीर के पूर्व कालीन ऋषभादि तीर्थंकरों का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में क्यों नहीं मिल पाता। अहिंसा एवं श्रमण (संन्यास) मार्ग का मूल स्वरूप निर्धारण करने को गृह्यसूत्रों-धर्मसूत्रों के एवं औपनिषदिक साहित्य का भी अंतरग परीक्षण अत्यन्त अनिवार्य है। इन सब के साथ बौद्ध साहित्य की भी उपेक्षा करना साहस मात्र है। इस दृष्टि से भारतीय जैन विद्वान अपनी साधन सामग्री का अभ्यास करें और जैनधर्म के मूल स्वरूप सम्बन्धी कुछ तथ्य निकालें।

जैनधर्म की प्राचीनता सम्बन्धी मान्यता को विकसित करने के लिये पहले सब विधान सामग्री का संकलन करना परमावश्यक है जो अति दुष्कर कार्य भी है। हमें प्रतीत होता है कि

यह दुष्कर साधन सामग्री पं० श्री हीरालाल जी दुग्गड़ की "मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म" नामक इस कृति में भरपूर है। इसके लिये यह कृति सचमुच एक "संदर्भ ग्रंथ" हो सकती है।

ऊपर निर्देश किया गया है, इससे स्वाभाविक ख्याल आ जाता है कि जैनधर्म की सब (भारतीय) धर्मों से भी प्राचीनता को वैज्ञानिक तौर से प्रस्तुत करना आसान और सरल कार्य नहीं है वरन दुष्कर प्रक्रिया है। यही कारण है कि अब तक यह (सब से प्राचीनता की) मान्यता पुष्ट हुई हो ऐसा सब आधुनिक "इण्डो यूरोपियन" भाषाविद एवं बहुशः अन्य विचक्षण विद्वान लोग भी नहीं मानते। किन्तु श्री दूग्गर जी को इसका विस्तृत विश्लेषण करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

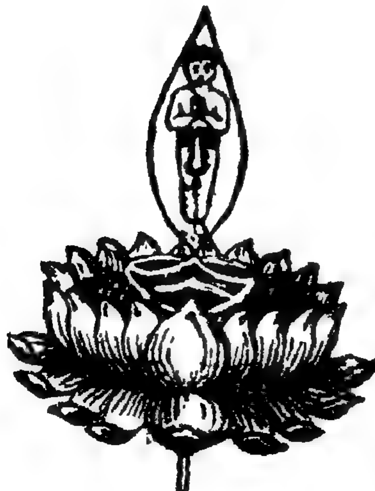
हमें आशा है कि श्री दुग्गड जी की इसी सामग्री को अपना कर और ऊपर दिये गये निर्देश अनुसार कोई भारतीय जैन विद्वान संशोधन की इस संश्लिष्ट दिशा में प्रस्थान करने को प्रयत्नशील बनेगा और इस साहस के लिये अवश्य प्रेरणा पायेगा।

निःसंकोच कह सकते हैं कि श्री दुग्गड़ जी द्वारा पंजाब में जैनधर्म सम्बन्धी संकलित की हुई यह सामग्री बहुत उपयोगी है। ऐसे तो अपने ग्रंथ मे विद्वान से निर्दिष्ट सभी विधानों की मान्यता में अन्य विद्वानों का कोई न कोई मतभेद रहना स्वाभाविक है। मतभेद ही विद्वता को आगे बढ़ाता है और नई-नई शोध खोज का मार्ग प्रस्तुत करता है। विशेषतः इतिहास का विषय ही ऐसा है कि जिसमें विद्वानों का मतभेद रहता ही है। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि हर कोई इतिहासवेत्ता को श्री दुग्गड़ जी के विधानों को विमर्शार्थ योग्य अवकाश अवश्य देना पड़ेगा। सचमुच प० श्री हीरालाल जी दुग्गड़ इस कार्य के लिये धन्यवादार्ह हैं।

हम श्री पंडित जी की इस कृति में प्रतिबिंबित उनकी अगम्य विद्वता की साश्चर्य सराहना करते हैं और आशा व्यक्त करते हैं कि यह कृति शोध-छात्रों मे और विद्वद् परम्पराओं में उच्च कोटि को प्राप्त होगी।

Patiala (Punjab)
Date 1. January, 1980

Dr. Bhatt, Dr. Phil (Germany)
Professor & Head :
MAHĀVĪRA Chair for Jain Studies
Punjabi University Patiala



अनुक्रमणिका

अध्याय ३ **जैनधर्म और शासक**

अध्याय १

जैनधर्म की प्राचीनता और लोकमत

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं सर्वदोष प्रणाशाय्ये नम :

वेदों की रचना के बहुत पहले से ही दो सांस्कृतिक धाराएँ चली आ रही हैं; आर्हत् और बार्हत्। प्राचीन साहित्य में इन दोनों के उल्लेख पाये जाते हैं। आर्हत् लोग अर्हत् के उपासक थे और बार्हत् वेद और ब्राह्मण को मानने वाले यज्ञों के उपासक थे। बृहती को वेद कहते हैं और उसके उपासक बार्हत् थे।

१. बार्हत् (वैदिक) आर्य लोग सांसारिक भौतिक सुखों को प्राप्त कर वर्तमान जीवन-को सुखी बनाने वाले प्रवृत्तिमूलक विचारों के तथा यज्ञों के उपासक थे। ये लोग मूल में भारत वासी नहीं थे। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियायी पुरातत्त्व एवं मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि सिन्धु-घाटी सभ्यता की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार से यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्य गण लघु एशिया और मध्य एशिया के देशों से त्रेतायुग के प्रारम्भ में लग-भग ३००० वर्ष ईसा पूर्व इलावत और उत्तर पश्चिम दर्राखैबर से होकर सर्वप्रथम पंजाब में आये और धीरे-धीरे सारे भारत में फैल गये।

जो जातियाँ दर्राखैबर के रास्ते भारत आईं उन सब का प्रवेश पहले पंजाब की धरती पर हुआ। इसका कारण यह था कि पंजाब की धरती कई दृष्टियों से सारे भारत देश में श्रेष्ठ है। यहाँ जैसा उत्तम जलवायु अन्यत्र नहीं है। जल की प्रचुरता, स्थल की विशालता, वनस्पति की विपुलता, अनाज की बहुलता, फल द्रुपता और पुष्ट कदावर दुधारू पशुओं की बहुतायत के कारण इस देश को सोने की चिड़िया तथा दूध की नदियाँ बहने वाला कहा जाता था। अतिथ्य सत्कार की भावना वाली सरल मानव प्रकृति, बलवान् हृष्ट-पुष्ट शरीर, वीरता भरा ओजपूर्ण साहस यहाँ की प्रजा को प्रकृतिदत्त वरदान है। नदियों और उनसे निकलती हुई नहरों

---

1. भारतीय विचारधारा हमें आदिकाल (प्रागैतिहासिककाल) से ही दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है। पहली विचारधारा परम्परामूलक ब्राह्मण या ब्रह्मवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य में बृहत् स्वरूप में प्रकट हुआ है। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थमूलक, प्रगतिशील श्रामण्य अथवा श्रमण प्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई है ये दोनों विचारधारायें एक दूसरे की पूरक भी रही हैं और विरोधी भी रही हैं। राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाये रखने के लिये इन दोनों का समानतः महत्वपूर्ण स्थान है।

(भारतीय दर्शन पृष्ठ ८६—वाचस्पति गैरोला—प्रयाग)

द्वारा सिंचित शस्य श्यामला उपजाऊ धरती। भारत के अन्य प्रदेशों को दुष्काल के समय यहाँ की पीड़ित जनता को अन्न देकर दुष्काल से राहत देने का सौभाग्य प्रकृति ने इसी धरती को प्रदान किया है। यही कारण है कि यहाँ के लोग अन्य देशों के समान दुष्काल से पीड़ित होकर अपना घरबार छोड़ अन्यत्र भटकने नही जाते। इसी कारण से पंजाब को नदी-मात्रिक देश के नाम से किरात काव्य में युधिष्ठिर के दूत वनचर (भील) ने वर्णन किया है। राजस्थान, सौराष्ट्र, बागड़, कच्छ, गुजरात आदि प्रदेशों के समान पंजाब दैवमात्रिक (वर्षा पर निर्भर खेती) देश नहीं है। इत्यादि सर्वश्रेष्ठ गुणसम्पन्न रमणीयता के कारण बाहर से आगन्तुक जातियों के बसने के लिये पंजाब सदा आकर्षक रहा है। वैदिक आर्य लोग ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, यजुर्वेद इन चारों वेदों को अपना धर्मग्रन्थ मानते है। कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदों की रचना ईसा पूर्व १५०० वर्ष पहले हुई और अनेक विद्वान् १०००,९०० वर्ष ईसा पूर्व मानते है।

वैदिक दर्शन-साहित्य की रचना पंजाब, काश्मीर से प्रारम्भ होकर ब्रह्मवर्त, काशी, मिथिला, दक्षिण बंगाल आदि जनपदो में हुई है। सभी इतिहासकारों का यह मत है कि वर्तमान में उपलब्ध विश्व के साहित्य मे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है और इसकी रचना पंजाब में हुई है।

सिंधु घाटी सभ्यता की खुदाई से सिर पर जटाजूट वाली अर्हत् ऋषभ की खड़े योग (कायोत्सर्ग) मुद्रा में नग्न, सिर पर पांच सर्प फणवाली अर्हत् सुपार्श्वनाथ और शिव (रुद्र) की पाषाण मूर्तियाँ तो अवश्य मिली है। परन्तु वैदिक यजन सभ्यता की कोई सामग्री, यजन कुंड अथवा चिन्ह प्राप्त नही हुए। इस पुरानी सभ्यता के आधार से जो पुरातत्त्वज्ञों के मत से ईसा पूर्व तीन हज़ार वर्ष प्राचीन है निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस समय तक वैदिक व हिंसक यागयज्ञों का भारत में कोई प्रचलन नही था। पर अर्हतों तथा शिव की उपासना प्राग्वैदिक काल से इस देश में प्रचलित थी। ऋषभ और शिव दोनों प्रतीक ऋषभ के ही है। इसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे।

हमारे विचार में वेदों की रचना पजाब में प्रारम्भ हुई, इनका रचना काल ई० पूर्व ९०० वर्ष से पहले का नही है। कारण यह है इन यज्ञों में हिंसक यज्ञों के विधिविधान का विस्तृत प्रतिपादन है जिन यज्ञों का प्रसार ईसा पूर्व ९०० तक भारत में नही था। इस मत की पुष्टि नीचे लिखे संदर्भों से होती है।

(1) बाईसवें अर्हत् 'जैन तीर्थंकर' अरिष्टनेमि कृष्ण के ताऊ समुद्र विजय के पुत्र थे। जैनागमों में उनके चरित्र को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनके समय में भारत में विवाह-शादियों के प्रसंगों पर प्राण्यग मास भक्षण की प्रथा भी थी, जिससे उन्होने इस प्रथा का घोर विरोध किया और इसी प्रसंग को लेकर संसार से विरक्त होकर आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली, और अनगार बन गये परन्तु उस काल में हिंसक यज्ञों का न तो कोई प्रचलन था और न ही इसका कोई उल्लेख मिलता है। इतिहासज्ञों ने कृष्ण का समय ई० पू० तीन हज़ार वर्ष माना है। अतः अरिष्टनेमि (जैनों के बाईसवें तीर्थंकर) और कृष्ण समकालीन थे। यद्यपि श्री अरिष्टनेमि का तथा श्री कृष्ण का समय जैनागम इस काल से बहुत पूर्व का मानते हैं।

(2) जैनों के तेईसवें तीर्थंकर अर्हत् पार्श्वनाथ का समय ईसा पूर्व ९ वीं ८ वीं शताब्दी

का है। क्योंकि जैनों के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर अर्हत् महावीर का निर्वाण ईसा पूर्व ५२७ वर्ष में हुआ, पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी। अतः पार्श्वनाथ का समय ईसा पूर्व ८७७ से ७७७ ठहरता है। जैनागमों (साहित्य) में पार्श्वनाथ के चरित्र में कमठ तापस के प्रसंग को लेकर उसके हिंसामय अज्ञान तप का प्रतिकार तो उन्होंने किया है; किन्तु हिंसक यज्ञों का प्रचलन, प्रसार अथवा विरोध के प्रसंगों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि ईसा पूर्व ९ वीं शताब्दी तक भारत में हिंसक यज्ञों का प्रचलन नहीं था अथवा बहुत ही कम था। यदि होता तो उनके विरोध का अथवा प्रचलन का वर्णन अवश्य पाया जाता। अतः हिंसक यज्ञों का प्रचलन लगभग ईसा पूर्व ९ वीं शताब्दी के बाद होना निश्चित होता है। हमारे इस मत की पुष्टि बौद्ध विद्वान अध्यापक धर्मानन्द कौसांबी की पुस्तक **'हिन्दी संस्कृति और अहिंसा'** में इस प्रकार होती है—"परीक्षित और जनमेजय (बुद्ध से ३०० वर्ष पूर्व) से पहले के समय में हिंसा प्रधान यज्ञ-यागादि का प्राधान्य न था। उन्होंने (परीक्षित और जनमेजय) ने हिंसा प्रधान यज्ञ-यागादि धर्म को अधिक से अधिक वेग और उत्तेजन दिया। (यह समय पार्श्वनाथ का है) जिसका विरोध महावीर और बुद्ध ने किया।"

(3) अर्हत् (तीर्थंकर) महावीर तथा तथागत गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वेद विहीत इन हिंसक यज्ञों का डटकर विरोध किया और उनके इस भगीरथ प्रयत्न के फल-स्वरूप इस प्रथा की रोकथाम तथा मिटाने में बहुत सफलता प्राप्त की। इस बात की पुष्टि जैन आगमों और बौद्ध पिटकों से पूर्णरूप से हो जाती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान वेदों की रचना ई० पू० ९ वी १० वी शताब्दी से पहले की नहीं है। यदि ऋग्वेद की रचना इस काल से पहले की मानी जावे तो मानना होगा कि इन वेदो में हिंसक यज्ञ-यागादि के विधि-विधानों का प्रक्षेप ईसा पूर्व ९ वी शताब्दी के बाद हुआ और तत्पश्चात् इन हिंसक यज्ञों ने प्रचार व प्रसार पाया।

वेद पूर्व भारतीय संस्कृति

वैदिक आर्यों के भारत आने से पहले यहाँ जो संस्कृति थी अब उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान इस बात को मानने लगे है कि यह श्रमण या आर्हत् संस्कृति होनी चाहिये, जो यज्ञपरायण वैदिक संस्कृति से भिन्न थी। डा० रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक **"संस्कृति के चार अध्याय'** में लिखा है कि—"यह मानना युक्तियुक्त है कि श्रमण संस्था भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और वेदधर्मानुयायी ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण ब्राह्मण संघर्ष बौद्धों से पूर्व भी था। क्योंकि पाणिनी ने जिसका समय ईसा से ७०० वर्ष पूर्व माना जाता है, **श्रमण ब्राह्मण संघर्ष** का उल्लेख करते हुए **'शाश्वतिक विरोध'** के उदाहरण के रूप में किया है (पाणिनीय अष्टाध्यायी २।१।७० के इसी सूत्र पर पातंजली के महा-भाष्य ३।४।९) **येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यवकाशः श्रमणः ब्राह्मणम्।** वे आगे लिखते हैं कि 'पौराणिक धर्म निगम और आगम दोनों के आधार से माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान है और आगम प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। जैनों के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का आज भी आगम के नाम से ही उल्लेख किया जाता है और ये

आगम अर्हतों (तीर्थंकरों) द्वारा कहे गये हैं। जैन, बौद्ध, आजीवक (गोशालामती) आदि मतानुयायी भिक्षुओं को श्रमण नाम से पहचाना जाता है। बौद्धधर्म की स्थापना तथागत बुद्ध ने की, आजीवक मत की स्थापना गोशाला ने की। ये दोनों तीर्थंकर महावीर के समकालीन थे। इसलिये इन दोनों से पहले जो श्रमण संस्कृति भारत में विद्यमान थी उसके जैन संस्कृति होने के ही अधिक प्रमाण व संभावना है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। इसलिये जैन श्रमणसंस्कृति बौद्ध और आजीवक श्रमण संस्कृतियों से प्राचीन होने के ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

तथागत गौतम बुद्ध ने पहले भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में जैन श्रमण की दीक्षा ली थी, किन्तु उनसे इस निर्ग्रन्थ कठिन चर्या का पालन न हो सका, इसलिये उन्होंने इस मार्ग का त्याग कर मध्यम मार्ग रूप बौद्ध धर्म की स्थापना की। इस बात की पुष्टि बुद्ध की तपःचर्या से हो जाती है[1]। तथागत गौतम बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था, इस बात को बौद्ध विद्वान अध्यापक धर्मानन्द कौसाम्बी ने भी अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथा चा चातुर्याम धर्म' में स्वीकार किया है।[2] एव जैनों की अनुश्रुतियो में भी बुद्ध के जैन श्रमण होने के उल्लेख मिलते हैं।

अर्हत् पार्श्वनाथ से भी पहले जिनका उल्लेख प्राचीन काल में मिलता है वे अरिष्टनेमि, अजितनाथ तथा ऋषभदेव जैनियो के उपास्यदेव बाईसवें - दूसरे और पहले तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक संभव यही लगता है कि प्राग्वैदिक काल मे भारत में वैदिक आर्यों के भारत आने से पहले जो श्रमण संस्कृति थी, वह जैन संस्कृति थी जो आर्हत् नाम से भी प्रसिद्ध थी। जैन साहित्य भी इसी मत की पुष्टि करता है कि जैनधर्म अत्यंत प्राचीन काल से विद्यमान चला आ रहा है। जैनों के परमपवित्र नवकार मन्त्र में सर्वप्रथम अर्हतों को ही नमस्कार किया गया है। "नमो-अरहंताणं" अर्थात् अर्हतों को नमस्कार हो। अर्हतों शब्द बहुवचन है। इससे स्पष्ट है कि श्री ऋषभदेव से लेकर अनेक अर्हत् जैनधर्म में हुए है। अर्हतों के धर्म को मानने वाले तथा उनके उपासक आर्हत् कहलाते थे। आर्हत् परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत[3], पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्धपुराण, शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रंथों से भी होती है। इनमे जैनधर्म की उत्पत्ति के विषय में अनेक उपाख्यान उपलब्ध हैं। यथार्थ मे आर्हत् धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदो, महाभारत और पुराण साहित्य मे कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। निश्चय ही अर्हत् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिये आर्हत् शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पाली ग्रंथों में तथा अशोक के शिलालेखों में निग्गंठ (निर्ग्रन्थ) का प्रयोग मिलता है। निग्गंठ[4] या निर्ग्रन्थ शब्द जैनों का पारिभाषिक शब्द है। जिसका अर्थ

1. देखें लेखक की अन्य कृति "निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान महावीर तथा मांसाहार परिहार" : पृष्ठ ५७ से ६१।
2. धर्मानन्द कौशांबी कृत पार्श्वनाथा चा चातुर्यामधर्म (मराठी) : पृष्ठ २४ से २६।
3. श्री मद्भागवत ५।३।२०, पद्मपुराण १३।३५०, विष्णुपुराण १७,१८, स्कन्द पुराण ३१,३७, ३८ अ०, शिव पुराण ५।४-५।
4, एन्शियेंट इंडिया ऍज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड इरॅयन : पृष्ठ ९७-९८।

भीतरी (काम-कषाय आदि) बाहरी जर (धन-दौलत आदि) जोरु (स्त्री-माता पिता आदि समस्त परिवार) तथा जमीन (खेती, मकान, दुकान, धरती आदि अचल सम्पत्ति) परिग्रह का सर्वथा त्यागी श्रमण, भिक्षु, साधु है। युनानी लेखकों ने इण्डोग्रीक और इण्डोसिथियन रूप में ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकों का उल्लेख किया है।[1] कहने का आशय यह है कि अनेक प्रमाणों से प्रमाणित है कि वैदिक आर्यों के भारत आने से पहले तथा वेद रचना काल से पूर्व इस देश में जैनधर्म प्रचलित था। वैदिक काल में यह आर्हत् नाम से प्रसिद्ध था। आर्हत् लोग अर्हंतों के उपासक थे। वे वेदों और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता भी नहीं मानते थे।

जैन वाङ्मय में अर्हत् की उपासना का बड़ा महत्व बतलाया है। यथा—

ते जन्मभाजः खलु जीवलोके, येषां मनो ध्यायति अर्हन्नाथम्।
वाणी गुणान् स्तौति कथां शृणोति श्रोत्रद्वयं ते भवमुत्तरन्ति॥

अर्थात्—जिनका मन अर्हत् का ध्यान करता है, जिनकी वाणी उनके गुणों का स्तवन करती है और जिनके दो कान उनकी कथा सुनते हैं, इस लोक में वास्तव में उन्हीं का जन्म सार्थक है तथा वे ही संसार को पार करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पापं लुंपति दुर्गतिंदलयति व्यापदयत्यापदं,
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति निरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चाऽर्हतां निर्मिता॥

अर्थात्—श्री अर्हतों की पूजा पापों का लोप करती है, दुर्गति का दलन करती है, आपदाओं का नाश करती है, पुण्य का संचय करती है, श्री की वृद्धि करती है, आरोग्यता से पवित्र करती है, सौभाग्य को देती है, प्रीति को बढ़ाती है, यश को उत्पन्न करती है, स्वर्ग को देती है और अन्त में मोक्ष की रचना करती है।

इससे स्पष्ट है कि जैनधर्मानुयायी अर्हतों को अपना इष्टदेव मानते हैं और उनकी उपासना से सर्व प्रकार के कल्याणों की कामना रखते हैं। इसीलिए ये आर्हत् के नाम से प्रसिद्धि पाये।

---

1. ग्रंथः कर्माष्टविध मिथ्यात्वाविरति दुष्टयोगाश्च। तज्जय-हेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः॥ (तत्त्वार्थकर्त्ता-वाचकमुख्य उमास्वाति कृत प्रशमरति प्रकरण १४२) अर्थ—अष्टकर्म, मिथ्यात्व, अविरति, दुष्टयोग ये ग्रंथ कहलाते हैं। जो इन्हें जीतने के लिये सरल भाव से प्रयत्न करता है वह निर्ग्रंथ है।

आजकल जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय में मात्र नंगे साधु को ही निर्ग्रंथ मानने की एकान्त धारणा है। परन्तु इस संप्रदाय के प्राचीन मूलाचार ग्रंथ वट्टकेराचार्य में निर्ग्रंथ शब्द का नंगे अर्थ में कोई संकेत नहीं पाया जाता। यथा—निर्ग्रंथ शब्द के पर्यायवाची शब्द—

'समणो त्ति संजदो त्ति रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो यति॥ १२०॥

अर्थात्-१-श्रमण, २-संयत, ३-ऋषि, ४-मुनि, ५-साधु, ६-वीतराग, ७-सुविहित, ८-अणगार, ९-भदंत १०-दंत, ११-यति ये सब निर्ग्रंथ के पर्यायवाची हैं।

अर्हत् शब्द ऋग्वेद में भी आया है और इसे विश्व की रक्षा करने वाला श्रेष्ठ कहा है। इस उल्लेख से लगता है कि ऋग्वेद रचना काल से पहले से ही भारत में आर्हतों का प्रभाव था।

आर्हतों के उपास्य ऋषभदेव को वैदिक आर्यों ने अपने यहाँ पूज्य पुरुषों में स्थान दिया है। आगे चलकर ऋषभदेव ने ब्राह्मणों के २४ अवतारो में स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणों की तरह वैदिक ब्राह्मणों के भी आदरणीय बने।

वेदों मे ऋषभ शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। रुद्र, शिव, मेघ, बैल, सांड और अग्नि के रूप में भी इसका उल्लेख हुआ है। कई स्थानो मे कामनाओं की पूर्ति करनेवाला या कामनाओं की वर्षा करनेवाला माना गया है। ये सब नाम भी अर्हत् ऋषभदेव के ही अर्थवाची है।[1] किन्तु ऋग्वेद में दो जगह ऋषभदेव परमात्मा के रूप में वर्णित है। यदि जैनागमो में ऋषभदेव को इस अवसर्पिणी काल में धर्म का आदि प्रवर्तक कहा है तो भागवत में ऋषभदेव को अवतार रूप मे मानकर उनका उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने वाला बतलाया है। श्रीमद्भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य हेतु भी बतलाया है—"**अयमोवतारो रजोप्लुत कैवल्यो प्रशिक्षणार्थ.**।[2] अर्थात् भगवान का यह ऋषभावतार रजोगुण व्याप्त मनुष्यों को कैवल्य (मोक्षमार्ग) की शिक्षा देने के लिए हुआ था। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सभव है कि यह अवतार रज से उप्लुप्त अर्थात् रजोधारण-करन (मलधारण-करन) वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिए हुआ था। जैन साधुओं के आचार मे अस्नान, अदन्तधावन, तथा मल-परिषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को सयम वा (साधुचर्या का) एक आवश्यक अग माना है।

भारत के प्राचीनतम साहित्य से स्पष्ट है कि वातरशना (प्राणायाम) तथा रजोधारण वृत्ति वाले साधुओ की परम्परा बहुत प्राचीन है। अष्टमोऽष्टक ऋग्वेद में उल्लेख है कि—

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यंति यद् देवासो अविक्षत ॥२॥

उन्मादिता मौने येन वातां आ तस्थिता वयं ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्ता स. अभिपश्यथ ॥३॥ (ऋग्वेद ११, १३६, २-३)

अर्थात्—अतिन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगलवर्ण दिखलाई देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना (प्राणायाम) द्वारा धारण कर लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते है। वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौन वृत्ति को उन्मतवत् 'परमानन्द सम्पन्न' वायुभाव अशरीरी ध्यान वृत्ति को प्राप्त होते हैं। तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो किन्तु हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं।

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में '**केशी**' नामांकित स्तुति की गई है। जो इस तथ्य की पुष्टि करती है कि 'केशी वातरशना मुनियों के प्रधान थे'। केशी

1. डॉ० राजकुमार जैन ने अपने ऋषभदेव और शिवसम्बन्धी प्राच्य मान्यताओं के विषय में विस्तृत स्पष्टीकरण किया है। शिव और ऋषभ एक व्यक्ति थे, इस विषय पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।
2. भागवत स० ५ अ० ६।

की यह स्तुति निम्न प्रकार है—"**केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।**" (ऋग्वेद ११, १३६, १)

अर्थात्—केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञानज्योति' कहलाता है।

सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, पर सायणाचार्य ने "केशस्थानिय रश्मियों को धारण करने वाला" किया है, इससे सूर्य का अर्थ निकाला है। परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनके साथ इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं। जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही—**मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।**"

अर्थात्—देवों के देव मुनि उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है।

भगवान् ऋषभदेव के केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है। श्वेतांबर जैनों के मान्य आगम कल्पसूत्र की टीका में (व्याख्यान ७) श्री ऋषभदेव के सिर पर केशों की विद्यमानता का उल्लेख है—

यावत् आत्मवैव चतुर्मौष्टिकं लोचं करोति, चतुसृभिर्मुष्टिभिर्लोचे कृते सति अविशिष्टं एकां मुष्टिं सुवर्णवर्णयोः स्कन्धयोरुपरि लुठन्ति कनककलशोपरि विराजमानानां नीलकमलमिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षत्वान्।

अर्थात्—श्री ऋषभनाथ ने गृहत्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हुए 'अपने आप चारमुष्टि लोच की। चार मुष्टिलोच कर लेने पर सोने के कलश पर विराजमान नीलकमल माला के समान बाकी रहे हुए एक मुष्टि प्रमाण सुनहरी बालों को कन्धों पर गिरते हुए देखकर प्रसन्न चित्त वाले इन्द्र के आग्रह करने से प्रभु ने रहने दिए।

इसकी पुष्टि भक्तामर स्तोत्र के १०वें श्लोक की आचार्य गुणाकर सूरि ने अपनी की हुई विवृत्ति में भी की है। यथा—

"**श्री ऋषभप्रभुः शक्राभ्यर्थनया चातुर्मुष्टिकं लोचं करोति।**"

अर्थात्—श्री ऋषभदेव प्रभु ने शक्रेन्द्र की प्रार्थना से चार मुष्टि लोच की।[1]

---

1. जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि श्री ऋषभदेव ने पंचमुष्टि लोच की थी जिससे ऋषभदेव के केशों का सर्वथा अभाव था। दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में लिखा है कि:—

ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृत सिद्ध नमस्क्रियः। केशानलुंचदाबद्ध पल्यांकः पंचमुष्टिकम्॥
निलुंच्य बहुमोहाग्रवल्लरीः केशवल्लरीः। जातरूपधरो धीरो जैनी दीक्षामुपाददे॥
पर्व १७ श्लोक ॥२००-२०१॥

अर्थात्-तदनन्तर भगवान् (ऋषभदेव) पूर्व दिशा की ओर मुँह कर पद्मासन में विराजमान हुए और उन्होंने पंचमुष्टि केश लोच की। धीर भगवान् ने मोहनीय कर्म की मुख्य लताओं के समान बहुत सी केश रूपी लताओं को लोचकर यथाजात अवस्था को धारण कर जिनदीक्षा ग्रहण की।

इससे यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा श्री ऋषभदेव के सिर पर केशों का सर्वथा अभाव मानती है। अतः यह बात निर्विवाद है कि श्री ऋषभदेव की केशों वाली मूर्तियां भी श्वेतांबर जैनों की मान्यता वाली होने के कारण उन्हीं द्वारा निर्मित और प्रतिष्ठित की गई हैं। ऐसी प्रतिमाएं कंकाली टीले मथुरा के उत्खनन से भी प्राप्त हुई है जो श्वेतांबर आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी ऐसे लेख अंकित हैं।

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत वातरशना श्रमण ऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के निगूढ़ प्रागैतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता से प्रकाश में लाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी व वातरशना मुनि, एवं श्री भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण ऋषि, और केशरियानाथ, तथा ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

यथार्थतः समस्त तीर्थंकरो में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल तथा कंधों तक लटकते हुए केशों का रूप दिखलाया जाता है। ऋषभदेव के केशरियानाथ के नामांतर में यही रहस्य निहित मालूम होता है।[1] केसर, केश और जटा ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक है। जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ ऋषभदेव के वाचक प्रतीत होते हैं। राजस्थान के उदयपुर जिले में धुलेवा गांव (वर्तमान में श्री रिषभदेव गांव) मे श्वेताम्बर जैनों का "एक तीर्थ श्री केसरियानाथ" के नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें भगवान ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय काले पाषाण की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। केसरियानाथ पर जो केसर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नाम साम्य के कारण प्रचलित प्रतीत होती है।

ऋग्वेद के निम्नांकित ऋचा से केशी और ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है।

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथीरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना मे निरुक्त के जो "**मुद्गलस्य हृता गावः**" आदि श्लोक आये हैं उनके अनुसार—मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे, उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी ऋषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएं आगे को न भाग कर पीछे की ओर लौट पड़ीं।

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायनाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक बतलाया है, किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है :—

"**अथवा सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशो वृषभोऽवावचीत भृशम शब्दयत्**" इत्यादि।

"सायन के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा प्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है—

"**मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे उनकी वाणी निकली जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएं (इंद्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।**"

---

1. देखें डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख। (अहिंसा वाणी वर्ष ७ अंक १-२, १९५७ ईस्वी)

तात्पर्य यह है कि ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थीं वे उनके ज्ञानयुक्त ज्ञानी नेता केशी ऋषभदेव के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में भी ऋषभदेव की जटाओं का वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि भागवत के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केसरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि ऋषभ और केशी का एक स्थान पर वैदिक ऋचा में उल्लेख आया है, जिससे यह अनुमान निकलता है कि वातरशना (योग की प्रक्रिया वाले) मुनियों, निर्ग्रंथ साधुओं तथा ऋषियों के नायक केशी मुनि ऋषभदेव हैं, जो अर्हत् (तीर्थंकर) हैं। इससे जैन धर्म की प्राचीनता और सर्व विश्व-प्रियता, सर्वत्र व्यापकता पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

सिन्धुघाटी में लारकाना जिलांतर्गत मोहन-जो-दड़ो तथा पंजाब में हरप्पा (माऊंटगुमरी नगर के निकट) की खुदाई से जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में और भी अधिक समर्थन मिला है। (वर्तमान मे ये दोनों स्थान पाकिस्तान में हैं) वहां जो ऋषभदेव की कायोत्सर्ग ध्यानावस्था की मूर्तियां मिली हैं, और उन पर बैल के चित्र खुदे हुए मिलते हैं। उस से जैनधर्म की प्राचीनता की कड़ी कहां तक जुड़ जाती है विचार करने से वैदिककाल से भी यह धर्म प्राचीनतम सिद्ध होता है। सिंध (पाकिस्तान) में मीरपुर खास के पास काहू-जो-डेरो की खुदाई में भी अत्यन्त प्राचीन जैन-मूर्तियां मिली हैं।

ऋषभदेव केवल भारतीय उपास्यदेव ही नही थे, पर भारत के बाहर भी उनका प्रभाव होना चाहिये; ऐसा सायप्रस से हुई खुदाई में ऋषभदेव की जो कांस्यमूर्ति मिली है, उससे तथा अन्य शोधों से भी पता चलता है कि इजिप्त (मिस्र), सुमेरियन आदि संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का प्रभाव था। उन प्राचीन संस्कृतियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे बहुत अंशों में जैन संस्कृति से मिलती जुलती रही हैं।

प्रागैतिहासिक काल में आर्हत् श्रमण संस्कृति और उस संस्कृति के नायक अर्हतों ने वैदिक सस्कृति पर प्रभाव डाला था तथा वैदिक धर्म में श्रमण संस्कृति के प्रभाव से उपनिषद, भारत, भागवत आदि ग्रन्थों की रचना हुई। उपर्युक्त वैदिक साहित्य में श्रमण संस्कृति के प्रभाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

प्राग्वैदिक संस्कृति और वैदिक संस्कृति में भेद

अब हमें यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक संस्कृति और आर्हत् संस्कृति में किन-किन बातों में मतभेद था? वेदों में जिस यज्ञप्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं उसमें वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म प्राप्ति के लिए यजनकर्म को परमपुरुषार्थ निरूपण करती है। यह संस्कृति ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता और संसारी जीवों को कर्मफल प्रदाता मानती है। वह ईश्वर सर्वव्यापी, अरूपी, सर्वज्ञ, नित्य, एक और अनादि-अनन्त काल तक विद्यमान रहता है। ये बार्हत् लोग जिस संस्कृति को मानते हैं वह आज भी भारत में वैदिक संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है।

प्राग्वैदिक आर्हत्-श्रमण संस्कृति

अहिंसा प्रधान आर्हत् संस्कृति और यज्ञ प्रधान वैदिक संस्कृति में वैदिककाल में तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखलाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत् श्रमण संस्कृति को मानने वाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता और कर्मफल प्रदाता नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बन्धी हुई है। प्रकृति के नियमों के ज्ञान से मनुष्य भी नये संसार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियों से बड़ी है। वह सब शक्तियों से श्रेष्ठ है। आर्हत् लोग कर्म में विश्वास करते थे, और यही उनके सृष्टिकर्त्ता न मानने का कारण था। ये लोग मुख्य रूप से क्षत्रीय थे। राजनीति की भांति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में भी विशेष रुचि रखते थे और समय पड़ने पर वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। वे अर्हत् के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक थे और पूजा अवैदिक थी। आज यही संस्कृति जैनधर्म के नाम से पहचानी जाती है। यह संस्कृति अहिंसा-समता प्रधान तथा कर्मप्रधान थी, पुनर्जन्म को मानती थी, जीवों द्वारा कृत कर्मों का फल उन्हें स्वतः ही मिलता है, कर्मफल देने में अन्य कोई भी शक्ति का सम्बन्ध नहीं है, इस बात का इसे दृढ़ विश्वास था। यह संस्कृति आध्यात्म प्रधान थी।

वेदों में अर्हत् को विश्व की रक्षा करने वाला और श्रेष्ठ कहा है।[1] शतपथ ब्राह्मण में अर्हत् का आह्वान किया गया है और कई स्थानों पर उसे श्रेष्ठ कहा है।[2] ऋग्वेद में दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से '**वृषभ**' परमात्मा के रूप में वर्णित[3] हैं। वृषभ का दूसरा नाम ऋषभ भी है। इसी प्रकार **अरिष्टनेमि का अर्थ "हानि रहित नेमिवाला त्रिपुरवासी असुर पुर्जित सुत और श्रोतों का पिता कहा गया है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में अरिष्ट का अर्थ अहिंसा** की धुरी अर्थात् अहिंसा का प्रवर्तक किया है। अर्हत् वृषभ-ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त कहा है। वृषभ को धर्म रूप ही माना गया है और जैनागमो में ऋषभ को धर्म का आदि प्रवर्तक कहा है बृहस्पति की भांति अरिष्टनेमि[4] की स्तुति की गई है और जैनागमों में अरिष्टनेमि को बाईसवां तीर्थंकर माना है।

आर्हत—श्रमण धर्म को मानने वाली जातियां

वेदों में वर्णन है कि **व्रात्य** और **पणि** लोग आर्हत् धर्म को मानने वाले थे—

१. **पणि**—भारतवर्ष के आदिम व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन में ही नहीं ज्ञान में भी बढे चढ़े थे। इसलिये यज्ञ याग परायण संस्कृति को नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणों को हवि, दक्षिणा, दान नहीं देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार इन्हीं के हाथों में था। वे कारवां (काफिले) बनाकर अरब और उत्तरी अफ्रीका को जाते थे। बाद में चीन तथा अन्य देशों में भी पणिक लोगों के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।

२. **व्रात्य**—ये लोग आर्य तथा क्षत्रीय थे। उन्हें **अब्राह्मण** क्षत्रीय कहा जाता था। वे

1. ऋग्वेद २/२३/१०, २/३/१,३; ७/१८/२२; १०/२/२२,१६,७, १०/८५/४; ए ओ ५/२/२; शां० १५/४, १८/२, २३/१; ऐ ४/२।
2. ३/४/१/३-६; तै० २/८/६/९; तै आ० ४/५/७; ५/४/१० आदि
3. ऋग्वेद २/५८/३:४/५/१]
4. अरिष्टनेमि स्वास्ते नो बृहस्पतिर्दधान।

ब्रह्म, ब्राह्मण तथा यज्ञ-याग विधान आदि को नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीन वर्ग के थे। उनकी यह मान्यता ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि पंचवीशब्राह्मण में (१७/१) व्रात्यों के लिये यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुतः व्रात्य लोग व्रतों को मानते थे, अर्हतों की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ;—

"कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।

अर्थात्—वहां उस व्रात्य से मन्तव्य यह है कि—जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्व पूज्य है तथा जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं।

अथर्ववेद में व्रात्य का अर्थ घूमने वाला साधु किया है। व्रात्यकांड में पूर्णब्रह्मचारी को व्रात्य कहा गया है।[2] इसी वेद में व्रात्य की भाँति महावृष भी एक जाति कही है।[1] महावृष लोग आर्य जाति के कहे गये है।

इससे पता लगता है कि वैदिक काल में ब्राह्मण वैदिकधर्म विरोधी जातियाँ भी थी जो प्राकृतिक नियमों से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थी। वस्तुतः यह आध्यात्मवादी परम्परा थी। आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है। यद्यपि वैदिक युग में ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी, पर उस समय ३—साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव एवं नियन्त्रण था। प्रागैतिहासिक काल में साध्यों को देवद्रोही कहा जाता था। ये लोग भी संसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे।[3] इस प्रकार वेदों में वेद विरोधि पणि, व्रात्य, दास-दस्यु, साध्य और महावृष इन पांच जातियों का नाम पाया जाता है।

इससे यह तो पता चलता है कि जिस युग में वेदों की सृष्टि हुई थी और वैदिक आर्य भारत आये थे उस समय यहां आर्हत् लोग विद्यमान थे और वे वेद विरोधी थे। आर्हत् और श्रमण संस्कृति को मानने वाले जैनधर्मानुयायी कहलाते है; यह बात हम पहले भी स्पष्ट कर चुके है। मत्स्यपुराण में जैनधर्म को वेदबाह्य कहा है जो वेदों को नहीं मानता। कहना होगा कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही जैनधर्म पंजाब में भी विद्यमान था जो आज तक विद्यमान और प्रचलित है। मात्र इतना ही नही परन्तु सारे भारत तथा भारत से बाहर के अन्य देशों में भी सर्वत्र आर्हत् धर्म ही प्रधान था। ये आर्हत् भारत के मूल निवासी तथा भारतीय आर्य जाति के थे।

वैदिककाल में पंजाब की पाँच नदियों और गंगा-यमुना के निकटवर्ती प्रदेश में वैदिक आर्यों का निवास था। इन सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसंधव पड़ा। विद्वानों का मत है कि विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद की रचना इसी प्रदेश में हुई है।

---

1. सूर्यकान्त: वैदिक कोश वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय १९६३।
2. अथर्ववेद ५/२२; ४-५; ८।
3. देवदत्त शास्त्री कृत चिंतन के नये चरण पृष्ठ ६७-६८।

जैनधर्म के नाम

१—प्राग्वैदिककाल से पार्श्वनाथ तक श्रमण, मुनि, यति, आर्हत् धर्म, २—बौद्ध ग्रंथों तथा अशोक के शिलालेखों में यह निग्गंठ (निग्रंथ) धर्म के नाम से प्रसिद्ध रहा। ३—इंडोग्रीक और इंडोसिथियन युग में श्रमण धर्म के नाम से देश-विदेशों में पहचाना जाता रहा। ४— पुराण काल में जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ। जैनागम तथा जैन शास्त्रों में इसके ५—जिन शासन, ६—जैन तीर्थ, ७—स्याद्वादी, ८—अनेकांतवादी ९— आर्हत्, १०—श्रमण, ११- निर्ग्रन्थ, १२- जैन आदि नाम मिलते है। जिस समय दक्षिण में भक्ति आन्दोलन जोर पकड़ रहा था उस समय वहाँ पर १३- भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। १४- सिंध, गांधार, पंजाब में विक्रम के पूर्वकाल से विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक भावड़ा नाम से प्रसिद्ध रहा। १५- बंगाल और बिहार में सराक (श्रावक) के नाम से पहचाना जाता था। १६- सरावग, १७- सरावगी, १८- महाजन के नाम से राजस्थान में आज भी प्रचलित है। भागवत में १९- वातरशना, २०- वातर-सन के नाम से प्रसिद्ध था।

वर्तमान शोधकर्त्ताओ ने उत्खनन से मिली वस्तुओं के अतिरिक्त मानवंवश शास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्यदेव आदि साधनो का भी ऐतिहासिक शोध-खोज में उपयोग किया है। जिससे वे लोग इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि वैदिक संस्कृति के पूर्व जो वैदिक आर्येतर जातियां (साध्यादि) भारत में विद्यमान थी, उनके रहन-सहन मकान आदि सब सुविधाओं से युक्त थे। स्थापत्यकला में उनकी अच्छी प्रगति थी।

श्री देवदत्त शास्त्री 'चिन्तन के नये चरण' मे लिखते है कि—साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर एक विज्ञान भवन स्थापित किया था। इस विज्ञान भवन में बैठकर उन्होने समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था।

कुछ वर्ष पहले समझा जाता था कि भारतवर्ष की सबसे पुरानी संस्कृति वैदिक संस्कृति है और सबसे पुरानी जाति वैदिक आर्य है। किन्तु ईस्वी सन् १९२२-२३ की खोज ने भारत के इतिहास को कुछ और अधिक प्राचीनता प्रदान की है। ईस्वी १९२२-२३ में सिन्ध (पाकिस्तान) के लरकाना जिले के मोहन-जो-दड़ो स्थित एक टीले की खुदाई की गई है। इस खुदाई में जो सामग्री प्राप्त हुई है उसके आधार पर पूर्वस्थित एक के बाद दूसरे कई नगरों के विषय में जिस संस्कृति की जानकारी प्राप्त हुई है, वह संस्कृति ईसा पूर्व ३००० वर्ष पहले की बतलाई है। बाद में पश्चिम पंजाब में माऊंटगुमरी नगर के निकट हड़प्पा नामक स्थान की खुदाई हुई। इस प्रकार सिंध, बिलोचिस्तान, पश्चिमी पंजाब, कच्छ, वायव्य सीमा प्रांत, अफगानिस्तान, सौराष्ट्र, राजपुताना आदि प्रदेशों में चन्हु-दड़ो, लोहुज-दड़ो, कोहीरो, नम्री, नाल, रोपड़, अलीमुराद, सक्कर-जो-दड़ो, काहु-जो-दड़ो आदि भिन्न-भिन्न साठ स्थलों की (मात्र सिंधु नदी तटवर्ती प्रदेशों में ही ऐसा नहीं है परन्तु जेहलम नदी और ब्यासा नदी के प्रदेशो तक) विस्तृत की गई खुदाई से जिस प्राचीन सस्कृति की सामग्री प्राप्त हुई है, इस संस्कृति को पुरातत्त्वज्ञों ने सिन्धुघाटी की संस्कृति का नाम दिया है। पश्चिम में मकराना, दक्षिण में सौराष्ट्र, उत्तर में हिमालय पर्वत की शिवालिक पर्वतमालाओं तक सिंधु घाटी की संस्कृति की पुष्कल सामग्री प्राप्त हुई है। जिसके

आधार पर एक बहुत पुरानी संस्कृति की जानकारी मिली है। इससे भारतवर्ष के इतिहास को ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व तक प्राचीन माना जाने लगा है। हम लिख आये हैं कि मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त अर्हत् ऋषभ की आकृतियाँ मिली हैं; उनका विवरण यहाँ दिया जाता है—मिट्टी की सीलों (मुद्राओं) पर एक तरफ खड़े आकार में भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्ग मुद्रा में मूर्ति बनी हुई है, दूसरी तरफ बैल का चिन्ह बना है। अर्हत् ऋषभ जैनों के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर हैं और उनका प्रतीक बैल है। इस ऐतिहासिक खोज के लिये जो राय बहादुर श्री रामप्रसाद जी चन्दा के नेतृत्व में खुदाई हुई थी, इससे प्राप्त इन सीलों के बारे में वे लिखते हैं कि—

Mohan-Jo-Daro

(Sindh Five Thousand years ago)

"Not only the seated deities engraved on some of Indus seals are in yoga posture and bear witness to the prevalance of yoga in the Indus valley in that remote age, the standing dieties on the seals also show "Kayotsarga posture" of yoga. Further that 'The Kayotsarga posture' is peculiary Jaina. It is posture not of sitting but of standing. In the Adipurana a Book XV Vol III Kayotsarga posture is described in connection with the penences of Rishbha. A standing image of Jina Rishbha Kayotsarga posture on slab showing four such images assignable to the 2nd century A. D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12. Among the Egyptian sculptures of time of the early dynasties there are standing statues with arms hanging on two sides. Although these early Egyptian statues and archaic Greek Kaurai show nearly the same pose, but they lock the jealing of abandon that characterises the standing figures on the Indus seal and images of Jainas in the Kayotsarga posture. The name Vrishbha means bull and bull is the emblem of Jina Rishabha.[1]

अर्थात्—सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देवमूर्तियां योग मुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योग-मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं, बल्कि खड़ी देवमूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और ये कायोत्सर्ग ध्यान मुद्राएं विशेषतया जैन हैं। आदिपुराण में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख वृषभ या ऋषभदेव के तपश्चर्या के सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। एक सील पर चार खड़ी मूर्तियां कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभ की अंकित हैं। यह (मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त) ईसा की दूसरी शताब्दी की जिन ऋषभ की न० १२ की प्रतिमा से मिलती हैं। जो प्रतिमा पुरातत्त्व विभाग के कर्जन म्युजियम मथुरा[2] में सुरक्षित है।

1. Modern Review, August 1932.
2. मथुरा से प्राप्त कंकाली टीले में से जिन मूर्तियां नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की मिली हैं। उन पर जो लेख अंकित हैं वे सब श्वेताम्बर जैनो द्वारा निर्माण करवाकर श्वेतांबर जैनाचार्यों, मुनियों द्वारा प्रतिष्ठित की गई हैं। यहाँ के इस ध्वंस किये गये प्रसिद्ध स्तूप की स्थापना श्वेतांबर जैनों द्वारा ईसा पूर्व की गई थी। यह स्तूप देवनिर्मित माना जाता था (जैनागम आवश्यक चूर्णी) तथा प्रतिष्ठा कराने वालों के गण, कुल, शाखाएं श्वेतांबरमान्य आगम कल्पसूत्र से बराबर मेल खाते हैं।

प्राचीन मिस्र के प्रारंभिक राज्यवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाए हुए खड़ी मूर्तियां मिलती हैं। यद्यपि उन प्राचीन मिस्री मूर्तियों में तथा प्राचीन युनानी कुराई नामक मूर्तियों में भी प्रायः वही आकृति है तथापि उनमें देहोत्सर्ग निःसंगभाव का अभाव है जो सिंधुघाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा से युक्त जैनमूर्तियो में पाया जाता है, वृषभ का अर्थ है बैल और वृषभ-ऋषभ का पर्यायवाची भी है। तथा बैल जिन वृषभ का प्रतीक भी है।

हड़प्पा की खुदाई में मूर्तियां, मोहरें, गहने आदि विभिन्न सामान मिले हैं। प्राप्त सामग्री में नग्न पुरुष का धड़ (गर्दन से कमर के कुछ नीचे तक) भी है। जिसके सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि यह किसी जिन मूर्ति का संभवतः ऋषभ की मूर्ति का ही अंश है। यह धड़ उन नग्न मूर्तियों के धड के समान है जो पटना के समीप लोहानीपुर[1] की खुदाई में मिली हैं। जिसके सम्बन्ध में डा० काशीप्रसाद तथा ए० बनर्जी शास्त्री का कहना है कि वे जैन तीर्थंकरों की ही मूर्तियां हैं।

इसके अलावा यहाँ से प्राप्त अन्य सीलों पर अंकित कुछ ऐसे चित्र भी मिलते हैं जो कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न ध्यानस्थ योगियों के हैं। इन चित्रों को जैन तीर्थंकरों या ऋषभदेव के चित्र माना गया है। इस मत का समर्थन रामप्रसाद चन्द्र ने किया है। सील मोहरों पर अंकित चित्र में योगी के सिर पर त्रिशूल और बैल के चिन्ह अंकित हैं। त्रिशूल रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का प्रतीक है और बैल ऋषभदेव का प्रतीक है। अन्य भी अनेक मोहरों पर जैनो के प्रतीक-रूप चिन्ह पाये जाते हैं। एक मोहर पर योगमुद्रा-कायोत्सर्ग मुद्रा में खडी पुरुषाकृति के सिर पर पांच सर्पफणों वाली नग्नमूर्ति अंकित है। श्वेतांबर आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के सिर पर पांच सर्पफणों का वर्णन मिलता है। ऐसी पांच फणों वाली सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा कंकाली टीला मथुरा की खुदाई से भी प्राप्त हुई है जो कर्जन म्युजियम मथुरा मे सुरक्षित है। इससे स्पष्ट है कि अर्हत् ऋषभदेव, और अर्हत् सुपार्श्वनाथ की मान्यता सिंधुघाटी से भी पहले की है। जटाजूट सहित ऋषभ तथा पांच फण सहित सुपार्श्व[2] की मान्यता श्वेतांबर जैनों की है दिगम्बर पंथ की न तो ऋषभ के सिर पर जटाजूट और न ही सुपार्श्व के सिर पर सर्पफणो की मान्यता है। अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि यह आकृतियां श्वेतांबर जैन परम्परा के अनुकूल होने से वैदिक काल के पहले से ही यहाँ श्वेतांबर जैन धर्म का प्रचार तथा प्रसार था और व्रात्य, पणि, दास आदि जो जातियां आर्हत् धर्मानुयायी थी वे सब इसी परम्परा की थी। इससे यह भी स्पष्ट है वर्तमान में श्वेतांबर जैन धर्म वैदिक काल में आर्हत धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। श्वेतांबर जैन धर्म नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की अर्हत् प्रतिमाएं मानता है। हड़प्पा की खुदाई से कुछ खंडित मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं। उन सबका अध्ययन करके श्री टी० एन० रामचंद्रन डायरेक्टर जनरल भारतीय पुरातत्त्व विभाग लिखते हैं कि—

---

1. लोहानीपुर से प्राप्त ऋषभ की नग्न मूर्तियों के सिरपर जटाजूट तथा कधों पर लटकते हुए केश विद्यमान हैं।

2. देखें जैन भारती नामक त्रैमासिक पत्र के मुख्य पृष्ठ पर दिया गया चित्र। स्व० बनारसी दास जैन लाहौर वालों द्वारा सपादित)

(नोट सिर पर सर्पफण वाली जैन मूर्तियों को देखकर लोग मात्र पार्श्वनाथ की मूर्ति मान लेते हैं। परन्तु ७, ६, अथवा सहस्र फणी पार्श्वनाथ की और पांच अथवा तीन फणी सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा होती है।

These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statues a full fledeged Jaina Tirthankra in the characteristic-pose of Physical abandan (kayotsarga).

The Statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception.

अर्थात्—इन दोनों रिक्स (धड़ों) मूर्तियों से इस बात की सत्यता पर रोशनी पड़ती है कि शायद यह हड़प्पा काल की जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ-जैनधर्म में वर्णित कायोत्सर्ग मुद्रा की ही प्रतीक हैं। इसलिये कथित मूर्तियाँ जैन धर्म के इस विचार का शायद प्रारम्भ से ही जीता-जागता नमूना है। इत्यादि

इन्हीं स्थानों से ऐसी सीलें भी उपलब्ध हुई हैं जिन पर स्वस्तिक अंकित है और उसके आगे हाथी नतमस्तक खड़ा है। भारतीय पुरातत्ववेत्ता अभी तक इस प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ रहे हैं। किन्तु जैन प्रतीक योजना के छात्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। प्रतीकात्मक रूप में स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातंग तथा यक्षिणी शांतिदेवी के वाहनों का द्योतक है। अर्थात् सुपार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षिणी उनको नत मस्तक है। यह मान्यता भी श्वेतांबर जैनों की है। दिगम्बर इनके विजय यक्ष का वाहन सिंह मानते है और यक्षिणी पुरुषदत्ता अथवा मानवी का वाहन बैल मानते हैं।

भारतीय इतिहास का जब वैज्ञानिक अध्ययन शिशु अवस्था में था तब विद्वानों ने उसके विवेचन का कुछ गलत तरीका अपना लिया था। वे इस पृथ्वी तल पर डार्विन के प्राणी विकास-वाद के अनुसार बन्दर से मनुष्य की उत्पत्ति बतलाकर भारत में आदि सभ्यता का दर्शन वैदिक काल से मानते थे। कारण यह था कि तब तक उनके पास इतिहास जानने के साधन ही कम थे तथा विश्व के सर्वप्रथम साहित्य के रूप में ऋग्वेद तथा बाद में रचित अन्य तीन वेद ही उनके सामने थे। पर आज भारत के वेदकालीन और उसके पश्चात् युग के संस्कृति और इतिहास को जानने के लिये मात्र प्रचुर लिखित साहित्य ही नहीं अपितु विशाल पुरातत्व सामग्री भी उपलब्ध है तथा वैदिक आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व की भारतीय संस्कृति और सभ्यता के खोज पूर्वक ज्ञान के लिये भी विद्वानों ने अनेक साधन जुटा लिये हैं। आज विद्वान लोग जिन साधनों का आश्रय लेकर उस सदूर अतीत का चित्र उपस्थित कर रहे हैं वे मुख्य तीन हैं :—

(१) मानववंश विज्ञान (Anthropology), (२) भाषा विज्ञान (Philalogy) और (३) पुरातत्त्व (Archaeology), प्रथम मानववंश विज्ञान के द्वारा मनुष्य के शरीर का निर्माण विशेषकर मुख, नासिका के निर्माण का अध्ययन कर विविध मानव शालाओं की पहचान की गई है। द्वितीय भाषा विज्ञान से भाषा के विविध अंगों के विकास के अध्ययन के साथ विविध संस्कृतियों के प्रतिनिधि शब्दों को खोज निकाला है। भाषा विज्ञान से तत्कालीन समाज की विचारधारा तथा सांस्कृतिक स्थिति का पता लगता है। तृतीय पुरातत्त्व सामग्री इतिहास का एक सुदृढ़ आधार है। जहाँ अन्य साधन मौन रह जाते हैं या धुंधले दीख पड़ते हैं, वहाँ इस पुरातत्त्व की गति है। यह अन्य निर्बल से दीखने वाले प्रमाणों में सबलता प्राप्त करता है। इस पुरातत्त्व की प्रेरणा से हम भारतीय संस्कृति के आधारों को खोजने में समर्थ हुए हैं।

भारतीय इतिहास को अब हम विश्व इतिहास का एक भाग मानकर अध्ययन करते हैं तथा विशेषकर निकट पूर्व (near east) से संबोधित कर वेदों का अध्ययन करते हैं तो मानव इतिहास की अनेक समस्याएँ सहज ही सुलझ जाती हैं। वेदों में वर्णित घटनाओं का मतलब निकट पूर्व (near east) की घटनाएँ मालूम होती हैं। इन घटनाओं से विद्वानों ने सिद्ध किया है कि वैदिक आर्य लोग भारत में बाहर से आये हैं, उन्हें बाहर से आने पर दो प्रकार के शत्रुओं से सामना करना पड़ा। एक व्रात्य कहलाते थे जो सभ्य जाति के थे। दूसरे थे दास या दस्यु जो वैदिक आर्येतर नगरों में रहने वाले थे। वेदों में इनके बड़े-बड़े नगरों (पुरों) का उल्लेख है। उनमें जो व्यापारी थे वे पणि कहलाते थे, जिनके साथ वैदिक आर्यों को अनेक बार युद्ध करना पड़ा था। ऋग्वेद में दिवोदास तथा पुरुकुत्स उन पुरों के स्वामियों से युद्ध का वर्णन है। इन वैदिक विदेशी आर्यों ने भारतवासी आर्यों को अनार्य की संज्ञा दी है। अतः भारत की प्राचीनतम संस्कृति श्रमण संस्कृति है और वह अर्हतों (तीर्थंकरों) की उपासक थी जो अब तक भारत में विद्यमान है। श्रमण परम्परा आत्म-विद्या की परम्परा है, वह इतनी ही प्राचीन है जितनी आत्मविद्या है। भारतीय विद्याओ (संस्कृतियो) में आत्मविद्या का स्थान सर्वोच्च तथा प्राचीनतम है। जो व्यक्ति आत्मा को नही पहचानता वह बहुत कुछ जान कर भी ज्ञानी नहीं बन पाता। आत्मविद्या क्षत्रीय परम्परा के अधीन रही है। पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज भगवान् ऋषदेव[1] हैं और वे जैनों के प्रथम तीर्थंकर धर्म प्रवर्तक हैं। श्रीमद्भागवत्

1. यद्यपि प्रवाह से काल अनादि अनन्त है किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिये उसे सेकिण्ड, मिनट, घटा, दिन, रात, मास, वर्ष और सवत्सर आदि में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनदर्शन ने एक दूसरी दृष्टि से भी काल का विभाजन किया है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। एक समय ऐसा आता है जब जगत अवनति की ओर झुकता जाता है। इस काल को अवसर्पिणी कहा जाता है। एक समय ऐसा आता है जब जगत उन्नति की ओर ही अग्रसर होता जाता है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं। एक मे प्राणियो का बल, आयु, शरीर प्रमाण और सुख-सुविधाए घटती जाती हैं तो दूसरे मे बढ़ती जाती हैं। यह काल चक्र घड़ी के समान होता है। जैसे घडी की सूई छह तक नीचे की ओर फिर छह तक ऊपर की ओर चलती है। इसी भाति दोनो काल १-सुषमा-सुषमा, २-सुषमा, ३-सुषमा-दुषमा, ४-दुषमा-सुषमा, ५-दुषमा, ६-दुषमा-दुषमा के छह छह चक्रो मे अवनति-उन्नति के मध्य घूमते रहते है। ये छह चक्र आरो के नाम से संबोधित किये जाते हैं। दोनो को मिलाकर एक कल्प होता है। जिसे आज की भाषा मे युग भी कहते हैं। उपर्युक्त अवसर्पिणी मे से तीन कालो मे यहां भोगभूमि थी। तब लोगो की आवश्यकताए बिना श्रम किये ही कल्पवृक्षो से पूर्ण हो जाती थीं। धीरे-धीरे उनकी सख्या और प्रभाव क्षीण होते गये इस लिये नई-नई समस्याए उत्पन्न होती गयी। जब तीसरे काल की समाप्ति में कुछ समय शेष था और कल्पवृक्षों का प्रभाव और सख्या क्षीण होते ही जा रहे थे तब उन समस्याओ को सुलझाने के लिये कालक्रम से १४ मनुओं ने प्रजा का मार्गदर्शन किया। उन कुलकरों के नाम क्रमशः इस प्रकार है—प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमधर, सीमकर, सीमधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित, नाभीराय। इन चौदह ही कुलकरो ने अपने-अपने काल में जनोपयोगी कार्य किये।

इन में से नाभि हम सब के विशेष रूप से परिचित हैं। उनका नाम वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। वे अत्यधिक प्रभावशाली थे। उनके नाम पर इस देश को अजनाभवर्ष कहते थे। शाश्वत कोश में लिखा है कि—"प्राण्यंगे क्षत्रिये नाभि: प्रधान नृपतावपि"। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्राणी के अंगों में नाभि मुख्य होती है, उसी प्रकार सब राजाओ में नाभि मुख्य थे। नाभिराय का युग

पुराण के अभिमत से भगवान् ऋषभदेव मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक अवतार थे।[1] भगवान् ऋषभ के गृहस्थावस्था में भरतादि सौ पुत्र थे। उनमें से नौ आतरसना श्रमण बने। वे आत्म-विद्या विशारद थे। भगवान् ऋषभ ने जिस आत्मविद्या और मोक्षविद्या का प्रवर्तन किया था वह सुदीर्घकाल तक क्षत्रियों के अधीन रही। बृहदारण्यक और छन्दोग्य उपनिषद् में हम देख पाते हैं कि अनेक ब्राह्मण क्षत्रिय राजाओं के पास जाते हैं और आत्मविद्या का बोध लेते हैं।[2] विन्टरनीत्स के मत में दार्शनिक चिंतन (अथवा जागरण) ब्राह्मण युग के पश्चात् नहीं किन्तु इस युग से पूर्व शुरू हो चुका था। स्वयं ऋग्वेद में ही ऐसे सूक्त हैं जिनमें देवताओं और पुरोहितों की अद्‌भुत शक्ति में जनता के अन्धविश्वास के प्रति कुछ संदेह स्पष्ट हो चुके हैं।[3]

आश्चर्य है

वैदिक और बौद्ध आदि परम्पराओं से जैन परम्परा भिन्न, स्वतन्त्र, आस्तिक तथा पुरानी है और उसके अन्तिम पुरस्कर्ता वर्धमान महावीर बुद्ध से भिन्न व्यक्ति हैं; इस विषय में किसी भी जैन व्यक्ति को कभी भी सन्देह नहीं था। ऐसी सत्य और असंदिग्ध वस्तु के खिलाफ़ भी विदेशी विद्वानों की राय प्रकट होने लगी। (१) वेदों, पुराणों, स्मृतियों, उपनिषदों ने इस आर्हत् श्रमण आध्यात्मिक धर्म को नास्तिक, अवैदिक, अनार्य, अब्राह्मणादि धर्म के नामों से वर्णन किया है। (२) गत शताब्दी में प्रो० लासेन ने लिखा कि बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति थे, क्योंकि बुद्ध और महावीर की मान्यताओं में अनेकविध समानता है और जैनधर्म को महावीर ने प्रारम्भ किया[4]। (३) थोड़े वर्षों के बाद अधिक साधनों की उपलब्धि और विशेष अध्ययन के बल पर प्रो० वेबर आदि विद्वानों ने यह मत प्रकट किया कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है, वह उससे स्वतन्त्र नहीं है[5]। (४) आगे जाकर विशेष साधनों की उपलब्धि,

---

संक्रान्तिकाल था। उनके समय में भारत भोगभूमि थी। कल्पवृक्ष फलते थे। सबको उनका कामना वांछित फल कल्पवृक्षों से मिलता था, किन्तु उनके जीवनकाल में ही भोगभूमि समाप्त हो गई थी। कल्पवृक्ष निशेष प्रायः हो चुके थे। नये नये प्रश्न उपस्थित होते गये। उनके नये हल चाहिये थे। नाभिराय ने धैर्यपूर्वक अपनी सूझ-बूझ से उनका समाधान दिया। वे स्वयं त्राणसह बने, इसलिये उन्हें क्षत्रीय कहा गया। क्षत्रीयस्त्राण सहः; उनपर चरितार्थ होता था। आगे चलकर क्षत्रीय शब्द नाभि अर्थ में रूढ़ हो गया। अमरकोशकारने "क्षत्रिये नाभिः (३।५।२०) और आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने कोष अभिधान चिंतामणि (१।३६) में "नाभिश्चक्षत्रिये" लिखा है। उन्होंने पुरुषार्थ से सत्युग (कर्मभूमियुग) को जन्म दिया। जब उन्होंने उस समय की सब समस्याओं के समाधान के लिये अपने पुत्र ऋषभ को पूर्ण समर्थ देखा तब प्रजाओं को उन्हीं के पास भेजना प्रारंभ कर दिया और उन्हें राज्यसिंहासनारूढ़ कर राज्याभिषिक्त किया।

इस प्रसंग को कवि सूरदासजी ने सूरसागर में भी लिखा है कि—

"बहुरि रिसभ बड़े जब भये, नाभि राज देवन को गये।
रिसभ राज परजा सुख पायो, जस ताको सब जग में छायो।"

इसीलिये क्षत्रियों के पूर्वज श्री ऋषभदेव को कहा है।

1. भागवत स्कन्ध ५ अ० ६।
2. छांदोग्य उपनिषद् ५।३, ५।११ (तृतीय संस्करण)। बृहदारण्यक ६।२,२।१ (द्वितीय संस्करण)
3. प्राचीन भारतीय साहित्य—प्रथम भाग, प्रथम खण्ड पृष्ठ १८२ (मोतीलाल बनारसीदास)
4. 5. S. B. E. Vol 22 Introduction P. 18-19.

विशेष अध्ययन तथा विशेष परीक्षा के बल पर जर्मन के प्रो० हर्मन यकोबी ने उपर्युक्त मतों का निराकरण करके यह स्थापित किया कि जैन और बौद्ध परम्परा दोनों स्वतन्त्र हैं, मात्र इतना ही नहीं बल्कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र महावीर तो इस धर्म के अन्तिम पुरस्कर्ता हैं। महावीर से पहले तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जिनका निर्वाण महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ था वे भी ऐतिहासिक हैं[1]। करीब सवा सौ वर्ष जितने परिमित काल में एक ही मुद्दे पर ऐतिहासिकों की राय बदलती रही। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि इस बीच में किसी भी त्यागी अथवा गृहस्थ जैन विद्वान ने अपनी यथार्थ बात को भी इस ऐतिहासिक ढंग से दुनियां के सामने न रखा।

यह कहना भी ग़लत है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की प्रतिक्रियारूप अथवा पार्श्वनाथ से प्रचलित हुआ। सच्चाई तो यह है कि यह सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है और वैदिक काल से भी अति प्राचीन काल से पहले चला आता है। इस बात की पुष्टि हम वैदिक साहित्य तथा सिन्धु घाटी सभ्यता की प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री से विस्तारपूर्वक कर आये हैं। हमारे इस मत की पुष्टि श्री P. C. Roy Chaudhary जो पुरातत्त्व विभाग के उच्चाधिकारी थे उनके निम्नलिखित लेख से भी हो जाती है—

"A common mistake has been made by some of the recent writers in holding that Jainism was born because of discontent against Brahmanism. This wrong theory originates because these writers have taken Vardhmana Mahavira as the founder of Jainism. This is not a fact. It is true that the historicity of the other Jain slabs lies burried in the lap of harry times long before history came in to existance, but at least there is a certain amount of historicity regarding Parshwanatha the 23rd Tirthankra. The creed had already originated and spreed and Mahavira propagated it within historic time and that it is probably the reason why the mistake has been made by some of the eminent scholars whose name however need not be mentioned here.

अर्थात् आधुनिक कुछ लेखकों ने यह लिखकर एक साधारण भूल की है कि (वैदिक) ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध असंतोष की भावनाएं फैल जाने के कारण जैनधर्म की उत्पत्ति हुई। इस ग़लत धारणा का सूत्रपात इसलिए हुआ कि उन्होंने वर्धमान-महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक मान लिया, पर यह तथ्य ठीक नहीं है। यह सत्य है कि अन्य तीर्थंकरों के ऐतिहासिक प्रमाण—जिन प्रतिमाएं इतिहास काल शुरू होने से बहुत पहले लम्बे काल की अवधि से नीचे दबी पड़ी है। परन्तु तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में तो निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण पाये जाते हैं। अतः जैनधर्म की उत्पत्ति एवं प्रसार बहुत पहले ही हो चुका था और महावीर ने इसका अत्यधिक प्रचार किया था। यही कारण है कि इस प्रकार की ग़लत धारणा कई ख्याति प्राप्त विद्वानों से हो गई। उन विद्वानों का नाम देना यहां आवश्यक नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से और जैनागमों से भी प्रमाणित है कि **जैनधर्म न केवल भारत का अपितु विश्व का प्राचीनतम आध्यात्मिक धर्म है।** इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में काफ़ी प्रमाण दिए जा चुके हैं और इसकी विशेष पुष्टि के लिए आगे भी लिखेंगे। यदि सच कहा जावे तो जैनधर्म विश्व

1. S.B.E. Vol. Introduction p. 18-19

की आदि सभ्यता का स्रोत है और भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का एक ऐसा अंग है कि उसे निकाल देने से हमारी संस्कृति का रूप ही एकांगी और विकृत रह जायेगा।

वैदिक साहित्य में ऋषभदेव की अवतार रूप में मान्यता का जहाँ ब्रह्मा ने भागवत में विष्णु के २४ अवतारों का उल्लेख किया है, वहाँ कहा है कि—

(१) नाभेर[1] सा वृषभः[2] आस सुदेवि सूनुर्यो वै चचार समदृग्जडयोग चर्याम् यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशांतकरणः परिमुक्तसंगः ॥[3]

अर्थात्—नाभि की सुपत्नि सुदेवि (मरुदेवी) के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में उन्होंने समस्त आसक्तियों से रहित होकर अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यंत शांत करके एवं अपने स्वरूप में स्थिर होकर समदर्शी के रूप में जड़ों की भांति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस पद कहते हैं।

इसी ग्रंथ में श्री ऋषभदेव को अवतार होने की बात नारद ने भी कही है—

(२) तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्म विवक्षया[4] ॥

अर्थात्—शास्त्रों में इन्हें (ऋषभदेव को) भगवान वासुदेव का अंश कहा है। मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिये उन्होंने अवतार लिया।

श्रीमाल पुराण में कहा है कि—

(३) प्रथम ऋषभो देवो जैनधर्म प्रवर्तकः। एकादश सहस्राणि शिष्याणां धारितो मुनिः। जैन धर्मस्य विस्तारो करोति जगति तले (अ० ७२ श्लो० ११-१२)

---

1. श्री नाभिराजा और ऋषभदेव की विश्वमान्य महानता के कारण नाभिराज केवल वैदिकों व जैनों में ही नहीं अपितु मुसलमानों ने उन्हें ईश्वर का दूत-रसूल-नबी-पैगम्बर माना है। यह शब्द संस्कृत में नाभि और प्राकृत में नाभि एव णाभि का ही नबी रूपोतान्तर है। नबी अरबी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ होता है, ईश्वर का दूत, पैगम्बर और रसूल। (उर्दू हिन्दी कोश रामचन्द्र शर्मा सपादित चतुर्थ संस्करण अगस्त ई० १९५३ पृ० २२४)

नाभि के नाम पर ही इस आर्यखण्ड को नाभिखण्ड या अजनाभवर्ष भागवत आदि पुराणों में कहा है। भागवतकार आगे चलकर लिखता है कि अजनाभवर्ष ही आगे चल कर नाभि के पौत्र चक्रवर्ती भरत के नाम से भारतवर्ष संज्ञा से प्रसिद्धि पाया।

2. अनेक विद्वानों की धारणा है कि मुसलमान लोग श्री ऋषभदेव को ही बाबा आदम के नाम से अपना नबी मानते हैं क्योंकि नबी-नाभि (ऋषभदेव के पिता का नाम) का समानार्थक है और इसी नबी के पुत्र ऋषभ को आदि नबी मानकर बाबा आदम का नाम दिया गया है।

इससे यह फलित होता है कि हजरत मुहम्मद (मुसलिम मत संस्थापक) के समय में भी अरब आदि देशों में भी ऋषभ की ईश्वररूप में मान्यता थी इसलिये वहाँ पर भी जैनधर्म का प्रसार था। अतः उस काल से पहले से ही वहां जैनों के उपास्य अर्हतों (तीर्थंकरों श्री ऋषभदेव आदि) के जैन मंदिर भी सर्वत्र विद्यमान अवश्य होंगे। यदि वहां पर सर्वे किया जावे तो भूगर्भ से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री से जैनधर्म के इतिहास पर अत्यधिक प्रकाश पड़ने की संभावना है।

3. खण्ड १ स्कन्ध २, अध्याय ७।१०

4. स्कन्ध ११ अध्याय २, खण्ड २

अर्थात्— श्री ऋषभदेव जैनधर्म के प्रवर्तक, ग्यारह हजार शिष्यों को धारण करने वाले मुनि ने जगति तल पर जैनधर्म का विस्तार किया है।

श्रीमद्भागवत पुराण में कहा है—

(४) "वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथीनांशुक्लया तनु वावतार[1]।"

अर्थात्—वातरशना (प्राणायाम करनेवाले) योगियों, श्रमणों, ऋषियों तथा ऊर्ध्वमंथिन (ब्रह्मचारियों) का धर्म प्रकट करने के लिये ऋषभ शुक्ल सत्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

इसी ग्रंथ में एक श्लोक है—

(५) "नित्यानुभूतनिजलाभ निवृत्ति तृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिर सप्तबुद्धेः[2]।
लोकस्य यः करुणाऽभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मैः॥"

अर्थात्—निरन्तर विषयभोगों की अभिलाषा के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया था और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उस भगवान ऋषभदेव को नमस्कार है।

स्कन्ध पुराण में कहा है—

(६) "कैलासे पर्वते रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वर[3]।
चकार स्वावतारं यः सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥"

अर्थात्—केवलज्ञान द्वारा सर्वव्यापी, सर्वज्ञाता, परमकल्याणरूप—शिव वृषभ (ऋषभ) देव जिनेश्वर मनोहर कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर पधारे।

श्री ऋषभदेव भगवान का उल्लेख ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी है।

(७) वैदिक यंत्रालय अजमेर से प्रकाशित ऋग्वेद सहिता (वि० सं० २०१० पृष्ठ १४४) मंत्र १ सूक्त १९०; मं०-१ (पृ० १७५); २२-२३-१६ (पृ० २९३); ५-२८-४ (पृ० ३३७); ६-१-८ (पृ० ३५३); ६-१९-११ तथा पृष्ठ ७७५ तथा

(८) यजुर्वेद संहिता (वैदिक यंत्रालय वि० सं० २००७) पृष्ठ ३१ मंत्र ३६-३८। तथा

(९) अथर्ववेद (वैदिक यंत्रालय वि० सं० २०१५) पृ० ३५९ मंत्र ४२-४ में भी ऋषभ-देव का उल्लेख है।

(१०) इसके अतिरिक्त कूर्मपुराण अ० ४१, अग्निपुराण अ० १०, वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० ३३, गरुड़ पुराण अ० १, मार्कण्डेय पुराण (आर्य महिला हितकारिणी वाराणसी) खं०२ पृ० ३२०; (पार्जिटर अनुदित पृ० २७४); ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्द्ध अ० १४; वराह पुराण अ० ७४; विष्णु पुराण अंश २ अ० १; श्रीमाल पुराण में भी ऋषभदेव के उल्लेख हैं।

---

1. श्रीमद्भागवत-खं० ५ अ० ४ श्लोक २०,
2. श्रीमद्भागवत खं० १ अ० ३ श्लोक १३ तथा स्कन्ध ५ अ० ६
3. कौमार खं० अ० ३७

कुछ उद्धरणों का यहाँ उल्लेख करते हैं—

(११) "ॐ नमोऽर्हतो ऋषभो वा ॐ ऋषभं पवित्रम्"

वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का उल्लेख

१- ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा ।

वामदेव शान्त्यर्थमनुव विधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहाः ।

२—"ॐ स्वस्तिः न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥" (यजुर्वेद अ० २५)

३—"रैवताद्री जिनो नेमि युगादि विमलाचले ।
ऋषिणामाश्रमा देव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥" (प्रभास पुराण)

४—"नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि आत्मन्येव जिनो तथा ॥

दर्शनवर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृत्य ।
नाति त्रितयं कर्ता यो युगादौ प्रभो जिनः ॥"

बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) की ऐतिहासिकता

श्री अरिष्टनेमि के विषय में हमने वैदिक साहित्य के उद्धरण दिये हैं। अब उनके विषय में कतिपय विद्वानों के मतों का यहाँ उल्लेख करते हैं।

(१) डा० फ़ुरहर एपिग्राफिका इंडिका वाल्युम २ पृ० २०६-२०७ में लिखते हैं कि—
"जैनियो के बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ ऐतिहासिक पुरुष माने गये हैं।"

(२) भगवद्गीता के परिशिष्ट मे भी श्रीयुत बरवे स्वीकार करते हैं कि श्री अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के (ताऊ समुद्रविजय के पुत्र) भाई थे और वे जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर तथा श्रीकृष्ण के समकालीन थे। यदि श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो अरिष्टनेमि उनके भाई और समकालीन होने से अवश्य ऐतिहासिक पुरुष माने जायेंगे।

(३) श्री नेमिनाथ की ऐतिहासिकता प्राचीन ताम्रपत्र से भी प्रमाणित है। यह ताम्रपत्र प्रभासपट्टन से भूमि खनन से प्राप्त हुआ है। जिसका अनुवाद डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने किया है। उसमें बेबीलोन के राजा नेबुचन्द्र नेजर के द्वारा सौराष्ट्र के गिरिनार पर्वत पर स्थित नेमि—मंदिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। बेबीलोन के राजा नेबुचन्द्र नेजर प्रथम का समय ११४० ई० पू० है (यह पार्श्वनाथ से पहले हुआ)। द्वितीय का समय ६०४-५६१ ई० पू० के लगभग कहा जाता है (यह महावीर के केवलज्ञान से पहले हुआ)। इस राजा ने अपने देश की उस आय को जो इसे नाविकों के द्वारा कर से प्राप्त होती थी, जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत पर स्थित अरिष्टनेमि की पूजा के लिये प्रदान की थी।[1] इससे स्पष्ट है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान से भी यह पहले का मंदिर था। उस समय श्री नेमिनाथ अन्तिम निकटवर्ती तीर्थंकर होने को प्राप्त प्रमाण उन्हें निःसंदेह ऐतिहासिक सिद्ध करता है।

---

1. अनेकान्त मासिक हिन्दी वर्ष ११ किरण १ मोहन-जो-दड़ो कालीन और आधुनिक जैन संस्कृति पृष्ठ ४८

(४) ईसा की ७ वीं शताब्दी में बौद्धधर्मानुयायी चीनी यात्री हुएनसांग भारत भ्रमण करता हुआ सिंहपुर में आया। [एलेगजेण्डर कनिंगम इस परिणाम पर पहुंचा है कि यह स्थान आजकल कटास अथवा कटाक्ष जो पंजाब में जेहलम जिले में है और जेहलम नदी के किनारे पर स्थित है] वह उसके वर्णन में लिखता है कि यहाँ अशोक राजा के स्तूप के पास एक स्थान है, जहाँ श्वेत-पटधारी पाखंडियों के आदि उपदेष्टा ने बोधि प्राप्त की थी। इस घटना का सूचक यहां एक शिलालेख भी है। पास ही एक देवमंदिर[1] भी है। जो लोग वहाँ दर्शनार्थ जाते हैं वे घोर तपस्या करते हैं और अपने धर्म में सदा अप्रमत रहते हैं। ·········उनके चरित्र अपने-अपने दर्जे के अनुसार ही होते है बड़ों को भिक्षु तथा छोटों को श्रामणेतर कहते हैं।[2]

यात्री ने जिन श्वेतपटधारियों तथा देवमंदिर का उल्लेख किया है। वे श्वेतांबर जैन श्रमण-श्रावक तथा उनके द्वारा स्थापित १३ वें तीर्थंकर श्री विमलनाथ एवं बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि आदि के मंदिर थे। इसकी पुष्टि श्री जिनप्रभ सूरि के निम्नलिखित उल्लेख से होती है।

"श्री सिंहपुरे लिंगाभिधः श्री नेमिनाथ : ॥"·······"श्री सिंहपुरे च विमलनाथः ॥"[3]

अर्थात्—सिंहपुर में लिंगभिधः श्री नेमिनाथ तथा श्री विमलनाथ का महातीर्थ है।

"सिंहपुरे पाताल लिंगाभिधः श्री नेमिनाथः।"[4]

अर्थात्—सिंहपुर में लिंगाभिधः श्री नेमिनाथ का महातीर्थ है।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि इस महातीर्थ में अनेक जैन मंदिर होने चाहियें और इसके समीप हुएनसांग ने जिस स्तूप का उल्लेख किया है वह भी जैन स्तूप ही होना चाहिये। इस महातीर्थ में स्थित जैन मंदिरों को कब और किसने ध्वंस किया यह खोज का विषय है। श्री जिनप्रभसूरि का स्वर्गवास वि० सं० १३६० में हुआ।[5] इससे स्पष्ट है कि विक्रम की १४ वीं शताब्दी तक यह जैन महातीर्थ विद्यमान था। इससे अनुमान होता है कि संभवतः इस महातीर्थ का ध्वंस सुलतान सिकन्दर बुतशिकन ने किया होगा। इसका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी है। इस अत्याचारी ने अफ़गानिस्तान से लेकर काश्मीर तथा सारे पंजाब में देवमंदिरों का ध्वंस किया और तलवार के ज़ोर से भारतीयों को मुसलमान बनाया। इसका विवरण हम आगे काश्मीर के प्रकरण में लिखेंगे।

डा० बूल्हर की प्रेरणा से डा० स्टाइन ने सिंहपुर के उन जैन मंदिरों का पता लगाया। उन्हें मालूम हुआ कि कटाक्ष से दो मील की दूरी पर मूर्ति[6] नामक गांव में इन मंदिरों के खंडहर

1. श्वेताम्बर जैन मंदिर
2. Budhist Readers of the western Vol. I P. 143-45
3. सिंघी जैन विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित जिनप्रभसूरिकृत विविध तीर्थकल्प मे चतुरशीति (८४) जैन महातीर्थ नामक कल्प। (लिंगभिधः का अर्थ इन्द्र द्वारा निर्मित तीर्थक्षेत्र है। अतः यह तीर्थ देवनिर्मित नाम से प्रसिद्ध था। इससे यह स्पष्ट है कि यह तीर्थ इतना प्राचीन था कि इसके निर्माण का समय किसी को ज्ञात नहीं था)
4. जिनप्रभ सुरि कृत कल्प ४६ पृ० ८५,८६ (विविध तीर्थ कल्प)
5. जिन शासनप्रभावक जिनप्रभ तथा उनका साहित्य पृ० ६१
6. सिंहपुर का वर्तमान नाम मूर्ति गांव का उल्लेख डा० स्टाईन ने किया है। संभवतः जैन मूर्तियों वाले जैन मंदिरों के खण्डहरों के कारण इस स्थान का नाम मूर्तिगांव प्रसिद्ध हो गया होगा।

विद्यमान हैं। तब उसने वहाँ पहुंचकर झट खुदाई शुरू की। बहुत सी जैन मूर्तियाँ, जैन मंदिरों तथा स्तूपों के पत्थर प्राप्त हुए जो २६ ऊँटों पर लादकर लाहौर लाये गये और वहाँ के म्यूजियम में सुरक्षित किये गये।

(५) विज्ञप्ति त्रिवेणी ग्रंथ में कांगड़ा (हिमाचल) में जैन श्वेतांबर तीर्थ की स्थापना अरिष्टनेमि के समकालीन वहाँ के राजा शिवशर्म ने की थी। यह कटोचवंशीय राजा अंबिकादेवी (श्री नेमिनाथ की शासन देवी) को अपनी कुलदेवी मानता था। (इसका विवरण कांगड़ा के प्रकरण में करेंगे।

(६) काश्मीर के इतिहास राजतरंगिणि (कवि कल्हण कृत) में वर्णन है कि वहाँ का राजा सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान् जैनधर्मानुयायी था इसका समय नेमिनाथ और पार्श्वनाथ का मध्यवर्ती था। (इसका विवरण हम काश्मीर के इतिहास में आगे करेंगे) इसने तथा इसके पुत्र आदि अनेकों ने जैन मंदिरों का निर्माण तथा जैन धर्म का प्रसार किया। इससे भी स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ से भी पूर्व जैनधर्म विद्यमान था। पार्श्वनाथ से पहले बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। अतः इससे भी नेमिनाथ का ऐतिहासिक होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

श्री नेमिनाथ का समय इतिहासकारों ने ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष आंका है। ये बाईसवें तीर्थंकर थे। इनसे पहले नेमिनाथ से लेकर ऋषभदेव के मध्यवर्ती काल में क्रमशः २० तीर्थंकर और हो चुके हैं। इस अर्हत् परम्परा की पुष्टि वैदिक साहित्य से भी होती है। इन मध्यवर्ती बीस तीर्थंकरों के होने में कितना समय व्यतीत हुआ होगा? इसका अन्दाज पाठक स्वयं लगा लें। कहना होगा कि यह समय अंकों की गिनती की सीमा से बाहर तक पहुंच जाता है। ऋषभदेव का समय तो इस काल से भी बहुत अतीत था।

अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि आर्हत् (जैन) धर्म न केवल ऐतिहासिक युग से प्राचीन है परन्तु वैदिक काल और वैदिक धर्म से भी सर्वाधिक प्राचीन है। ब्राह्मण साहित्य में जैन तीर्थों शत्रुंजय, गिरिनार[1] आदि के महत्व के पर्याप्त उल्लेख उपलब्ध हैं। जैनधर्म इतना प्राचीन है कि इसके प्रारंभ की निश्चित तिथि ज्ञात करना कोई सरल कार्य नहीं है अपितु अशक्य है।

हम लिख आये हैं कि वैदिक ब्राह्मण साहित्य में जैनधर्म, जैन तीर्थंकरों तथा जैन तीर्थों की प्रशंसा एवं पूज्यभाव के बहुत उल्लेख पाये जाते हैं। इसके बावजूद ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने आगे चलकर न केवल जैनधर्म की उपेक्षा ही की, परन्तु उसके प्रति अवाच्य वचन कहने में भी कोई कमी नहीं रखी।[2] इसका कारण यह था कि जैनधर्म अपने विचारों पर दृढ़ रहा और

---

1. दृष्ट्वा शत्रुंजयतीर्थं नत्वा रैवतकाचलम्।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ 1 ॥ (स्कन्द पुराण)
अर्थात् श्रीशत्रुंजय तीर्थ के दर्शन से, गिरिनार पर्वत को नमस्कार करने से, गजपदकुंड में स्नान करने से फिर जन्म नहीं होता।

2. भागवत् स० ५ अ० ६; आग्नेय अ० ४९; विष्णुपुराण अं० ३ अ० १७; विष्णुपुराण बंगला आवृत्ति अ० १८ अं ३; शिवपुराण ज्ञा सं० २ युद्धखंड ५ अ० ४-५; ज्ञान सं० अ० २१-२२; मत्स्य पुराण अ० २४; स्कन्ध पुराण; कूर्मपुराण अ० २२,३६

उन्होंने ब्राह्मणों को किंचित् मात्र भी महत्ता नहीं दी। जो ब्राह्मण तीर्थंकरों की शरण में आये वे पूर्णतः अर्हतों के अनुयायी हो गये। अर्थात् उन्होंने भी श्रमण संस्कृति को स्वीकार कर लिया।[1]

परन्तु तीर्थंकर महावीर के समकालीन तथागत गौतमबुद्ध के अनुयायियों ने ब्राह्मण वर्ग से समझौते का प्रयास किया। उन्होंने बुद्ध के जन्म के लिये दो कुल बतलाये—क्षत्रीय और ब्राह्मण।[2] इस समझौते का यह फल हुआ कि यद्यपि शाक्यमुनि बुद्ध के समय के बौद्धों को ब्राह्मण ग्रंथों में कोई महत्व नहीं मिला और बुद्ध साहित्य में भी राम-कृष्ण को कोई महत्व नहीं मिला। पर बाद में ब्राह्मणों ने शाक्यमुनि को अपना एक अवतार मान लिया और बुद्ध की गणना दस अवतारों में हुई, अपनी इस उक्ति के प्रमाण में हम यहाँ कह दें कि महाभारत शांतिपर्व ३४८ वें अध्याय में दस अवतारों की सूचि दी है उसमें बुद्ध का नाम नहीं है। यथा—

हंस: कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम :॥ ५४॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वत: कल्किरेव च॥ ५५॥

इन दस अवतारों में ऋषभ और बुद्ध का हिन्दू पौराणिक अवतारों में उल्लेख नहीं है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऋषभ और बुद्ध को पौराणिक ब्राह्मणों ने बाद में अवतारों में सम्मिलित कर लिया। यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक जैन संदर्भ ऐसे विद्यमान हैं जिनमें ऋषभ अजितनाथ, अरिष्टनेमि तथा वर्धमान-महावीर आदि जैन तीर्थंकरों को ईश्वर के रूप में स्वीकार करके उनसे कल्याण कामना की है तथा बड़ी श्रद्धा और भक्ति से नमस्कार भी किया है।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वैदिक आर्य ईश्वर को एक, स्वतन्त्र, अनादि, अनंत, सर्वज्ञ-सर्वव्यापी, अरूपी, कर्मफलदाता और सृष्टि का कर्ता-हरता मानते हैं। जिस से ऐसे अरूपी ईश्वर का अवतार लेना और जन्म-मरण असभव है। तथापि जैनों के चौबीस तीर्थंकर (अर्हत्) जिनको जैन संस्कृति सर्वदोषरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सशरीरी मानती है और उनके सशरीरी होने के कारण जब उपासना और आराधना के लिये उन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं निर्मित कराकर जैन मंदिरो-तीर्थों की स्थापनाएं की और इसके माध्यम से लोगो में प्रभु-ईश्वर भक्ति के लिये आकर्षण बढ़ता गया। तब ब्राह्मणों ने भी जैनधर्म की प्रतिस्पर्धा में निगम (वेदों) और आगम (जैन शास्त्रों) के माध्यम को लेकर उपनिषदो आदि ग्रन्थो की रचना करके पहले अशरीरी ईश्वर के १० अवतारों की और बाद में २४ अवतारों की कल्पना करके उन अवतारों की प्रतिमाओं का निर्माण किया और उनके मंदिरों की स्थापनाएं की। इस प्रकार अशरीरी, अमूर्तिक, सर्वव्यापी ईश्वर को शरीर व्यापी साकार-सशरीरी बनाकर मूर्ति पूजा का प्रारंभ किया। प्रारंभ में सशरीरी ईश्वर मानने के कारण केवल जैन ही मूर्तिपूजक थे वैदिक लोग मूर्तिपूजक नहीं थे। क्योंकि अशरीरी ईश्वर का आकार न होने से ईश्वर की मूर्ति निर्माण होना सर्वथा असंभव था। इन अवतारो में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की गणना नहीं है। कहने का आशय यह है कि यज्ञ-यागादि क्रियाकांडी वैदिक ब्राह्मण जैनधर्म की प्रतिस्पर्धा के लिए पौराणिक काल में ईश्वर के अवतारों की कल्पना करके मूर्तिपूजक बने। जैनों के समझौतेवादी विचारधारा से दूर रहने का

1. कल्पसूत्र सुबोधिका टीका
2. जातकट्ठ कथा पृष्ठ ३१

यह काम हुआ कि जो जैन-संदर्भ ब्राह्मण ग्रंथों में थे उन्हें बाद में विकृत कर दिया गया। उदाहरण के लिये अर्हत् शब्द को ही लीजिये— इस शब्द की ब्राह्मण साहित्य में मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई है।

हनुमान नाटक में आता है कि—

(१) "अर्हन्नित्यथ जैनशासन रताः ॥"
जैन शासन जिसको अर्हत् कहकर (पूजता है)।

(२) "अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपं।
अर्हन्निदं दयसे विश्वं भवभुवं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥"[1]

अर्थात्—हे अर्हत्देव! तुम धर्मरूपी बाणों को सदुपदेश रूपी धनुष को, अनन्तज्ञान आदि रूप आभूषणों को धारण किये हो। आप जगत प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त किये हुए हो, संसार के जीवों के रक्षक हो, काम-क्रोधादि शत्रु समूह के लिए भयंकर हो, तथा आपके समान अन्य कोई बलवान नहीं है।

(३) "अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः ॥"[2]

अर्थात्—जो मनुष्याकार अनन्त दान देने वाले और सर्वज्ञ अर्हत् हैं वे अपनी पूजा कराने वाले देवों से पूजा कराते हैं।

(४) मद्रास प्रेजीडेंसी (तमिलनाड प्रदेश) कालेज के फ़िलासफी के प्रोफेसर श्री ए० चक्रवर्ती एम. ए. एल. टी. ए. ने फिलासफी नाम के लेख[3] में स्पष्ट लिखा है कि —

"ऋषभदेव जो आदि जिन, आदीश्वर भगवान के नाम से भी सम्बोधित हैं, ऋग्वेद सूक्ति मे उनका अर्हत् के नाम से उल्लेख आया है। जैन उन्हें प्रथम तीर्थंकर मानते हैं (वे इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रीय थे) दूसरे (अन्य तेईस) तीर्थंकर भी सब क्षत्रिय थे।"

(५) श्री स्वामी विरूपाक्ष वडियर-धर्मभूषण, पंडित, वेदतीर्थ, विद्यानिधि, एम. ए. प्रोफेसर संस्कृत कालेज इंदौर लिखते हैं कि—

"ईर्षा-द्वेष के कारण धर्म प्रचार को रोकने वाली विपत्तियाँ आने पर भी जैन शासन कभी पराजित नही हुआ; वह सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। अर्हत्देव साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हैं। इसके प्रमाण आर्यग्रंथो में पाये जाते है। अर्हत् परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी आता है।"[4]

बाद में टीकाकारों ने हनुमान नाटक सरीखे संस्कृत ग्रंथ के संदर्भ के बावजूद और पूरे जैन साहित्य में पारिभाषिक शब्द के रूप में तथा वेदो मे भी प्रयुक्त होने के बावजूद अर्हत् शब्द का अर्थ ही बदल दिया।

ऐसी ही विकृति अरिष्टनेमि शब्द के साथ भी की गई। यजुर्वेद अध्याय ९ मंत्र २५ पृ० १४३ में—

---

1. ऋग्वेद २।४।३३।१० पृष्ठ १३४
2. वही पृष्ठ ३११
3. इंडियन रिव्यु का अक्तूबर सन् १९२० का अंक।
4. चित्मय जगत नामक पुस्तक में।

"वाजस्य नु प्रसव आवभूवेमा च विश्वानानि सर्वतः।
स नेमिराजा परि याति विद्वान पुष्टिं वर्द्धमानोऽस्मै स्वाहाः॥"

उसी प्रकार उसी वेद में आता है कि—

"स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः॥" (यजुर्वेद अ० २५ मं० १६ पृष्ठ १४२)

पर अरिष्टनेमि अथवा नेमि शब्द की टीकाएं बदल दी गईं।

ऐसा ही व्यवहार कई अन्य शब्दों के साथ भी हुआ। 'वर्धमान' भगवान महावीर का नाम है। ऐसा नाम पड़ने का कारण जैनग्रंथों में यह बतलाया है कि जब से वे गर्भ में आये तब से धन बल आदि सबकी वृद्धि होने लगी इसलिए उनका नाम वर्धमान रखा गया।[1]

यजुर्वेद अ० ३ मंत्र २३ में वर्धमान को नमस्कार किया है—

"राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविं वर्द्धमानं स्वेदमे।"

अर्थात्—मन और इंद्रियो को दमन करने वाले (तीन गुप्तियों युक्त) शोभायमान, ज्ञान से प्रकाशमान, आनन्द के देने वाले, मोक्ष रूप स्थान में विराजमान जगदीश्वर वर्धमान को नमस्कार हो।

पर शंकराचार्य ने विष्णु सहस्रनाम जिस में वर्धमान को विष्णु का एक अवतार बताया है, वहाँ वर्धमान पर टीका करते हुए लिखा है कि—

"प्रपंच रूपेण वर्धते इति वर्द्धमानः॥"

अर्थात्—प्रपंच रूप से बढ़ते हुए इसलिये वर्द्धमान है।[2]

ब्राह्मण ग्रंथों में केवल ऐसी टीका की ही विकृति नही हुई है परन्तु मूलग्रन्थों में भी जैन धर्म के सम्बन्ध में निन्दात्मक बातें जोड़ी गई हैं। ऐसे प्रसंग विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, भागवत और कूर्मपुराण आदि में भरे पड़े है। ऐसे प्रसंगों का उल्लेख करते हुए पार्जिटर ने अपनी पुस्तक "एन्शेण्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन" (पृष्ठ २६१) में लिखा है कि—

"जरासंध द किंग आफ़ मगध······इज़ स्टिमटाइजड ऐज़ एन असुर एण्ड द बुद्धिस्ट एण्ड जैनज़ आर ट्रीटेड ऐज़ असुराज़ एण्ड दैत्याज़············।"

अर्थात्—मगध के महान राजा जरासंध को असुर बताया गया है······और बौद्ध तथा जैन असुर एवं दैत्य के रूप में वर्णित हैं।

ऐसा होने पर भी जैन धर्म की सर्वथा उपेक्षा नहीं हो सकी तैतिरीय आरण्यक के १० वें प्रपाठक के अनुवादक ६३ में सायनाचार्य को भी लिखना पड़ा है कि—

कंथा कोपीनोत्तरासंगादिनां त्यागिनो यथाजात रूपधरा निर्ग्रंथः निष्परिग्रहाः।

अर्थात्—शीत निवारण कंथा कोपीन उत्तरासंगों आदि के त्यागी और यथाजात रूप को

1. कल्पसूत्र सुबोधका टीका पृष्ठ २०४
2. विष्णु सहस्रनाम स्टीक गीता प्रेस गोरखपुर पृष्ठ २०८

धारण करने वाले जो हैं वे निर्ग्रंथ[1] निष्परिग्रही-यानि ममत्व रहित होते हैं।

हमारे द्वारा दिये गये जैनधर्म की प्राचीनता के संदर्भों की पुष्टि निम्नलिखित कतिपय विद्वानों के मत से भी हो जाती है। अतः निःसंदेह जैनधर्म इतना प्राचीन है कि जिस के आदि काल को जानना असंभव है।

जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में लोकमत

(१) फ्रांस के डा॰ गेरिनाट का मत है कि :—

अब यह बात निःसंदेह रूप से कही जा सकती है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार वे एक सौ वर्ष जीवित रहे और महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण पाये, इसलिए उनके कार्य कलाप का समय ईसापूर्व आठवीं शताब्दी का है।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे। इस (अवसर्पिणी) काल में जैनधर्म के [क्रमशः] चौबीस प्रस्थापक हुए। वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से हम ऐतिहासिक काल में प्रवेश करते हैं।[2] जैनधर्म असाधारण-स्वतंत्र, वास्तविक, व्यवस्थित सिद्धांत है।

(२) जैन स्तूप मथुरा इंट्रोडक्शन पृ॰ ६—

The discoveries have to a very large extent supplied carroboration to the written Jain tradition and they offer tangible in convertible proof of the antiquity[3] of the Jain Religion and of its early existence very much in its present form. The series of twenty four pontiffs (Tirthankars), each with his distinctive emblem was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era.

(३) जर्मनी के प्रसिद्ध इतिहासविद् व संस्कृत प्रोफेसर डा॰ हर्मन यकोबी एम॰ ए॰ पी-एच॰ डी॰ का मत है कि जैनधर्म सर्वथा स्वतंत्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि यह किसी का अनु-

---

1. निर्ग्रन्थ शब्द जैन साहित्य का पारिभाषिक शब्द है (भगवान महावीर के बाद भी उनके शिष्य पांचवें गणधर सुधर्मास्वामी से लेकर आठवें पाट तक जैन मुनियों के लिये निर्ग्रन्थ शब्द का ही प्रयोग होता रहा है। "श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन यावत् निर्ग्रन्थाः" ॥ (तपागच्छ पट्टावली पृष्ठ २५३)

अशोक के शिलालेखों में भी निर्ग्रंथ शब्द आया है। "निगंठेसु पि मे कटे इवे विवापटा होहंति।" (अशोक के धर्मलेख पृष्ठ ६६)। चीनी बौद्धयात्री हुएनसांग जब वैशाली, राजगिर आदि आया था, तब वहां निर्ग्रंथ बहुत संख्या में थे। "वाटर्स ने अपने ग्रन्थ (भाग २ पृष्ठ ६३) पर निर्ग्रंथ के स्थान पर दिगम्बर लिखा है, पर यह इसकी भूल है।" "निर्ग्रंथ का अर्थ है गांठ के बिना।" जिसके पास आन्तरिक या बाहरी गांठ बांध कर रखने या संग्रह करने जैसा कुछ भी न हो अर्थात् परिग्रह का सर्वथा त्यागी। जैन शास्त्र निर्ग्रंथ शब्द का स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं णिग्गंठो णीरागो णिसल्लो सयलदोसणिम्मुक्को। णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ (समनसुत्त गाथा १८७) इस गाथा में नंगा या दिगम्बर का कोई संकेत नहीं है। इसके विवेचन हम आगे करेंगे।

2. Introduction of his essay of Jain Bibliography.

3. जैन स्तूप मथुरा से प्राप्त मूर्तियों पर खुदे हुए लेखों तथा जैनागमों से पता लगता है कि यह स्तूप श्वेतांबर जैनों द्वारा स्थापित किया गया था।

कारण नहीं है। इसलिये प्राचीन भारतवर्ष के तत्वज्ञान का तथा धर्मपद्धति का अध्ययन करने वालों के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है। यह बात भी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक हैं। जैन अनुश्रुति श्री ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक पूर्ण रूप में मानती है।

(४) श्री कन्नूमल एम० ए० जज (न्यायधीश) का मत है कि—

जैनधर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति और इतिहास के प्रारम्भ का पता लगाना एक दुर्लभ बात है।[1] तथा मनुष्यों की तरक्की के लिए जैनधर्म का चरित्र बहुत लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही असल, स्वतंत्र, सादा, बहुत मूल्यवान एवं ब्राह्मणों के मतों से भिन्न है और बुद्ध के समान नास्तिक नहीं है।[2]

(५) मेजर जनरल फ़ारलांग का मत है कि—

It is impossible to find a beginning for Jainism thus appears an earliest faith of India.[3]

अर्थात् जैन धर्म का प्रारम्भ काल पाना असंभव है। जैनधर्म भारत का सबसे पुराना धर्म मालूम होता है।

(६) डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम० ए० पी-एच० डी० एफ० आई० आर० एस० का मत है कि—

जैनधर्म तब से प्रचलित हुआ है, जब से संसार की सृष्टि का प्रारम्भ।

(७) राष्ट्रनेता लोकमान्य तिलक का मत है कि—

ग्रंथों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैनधर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद रहित है। सुतरां इस विषय मे इतिहास के दृढ प्रमाण है।

(८) डा० विशुद्धानन्द पाठक का मत है कि—

विद्वानों का अभिमत है कि यह जैनधर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिंधुघाटी की सभ्यता से मिली योगमुद्रा वाली मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मत्रों से ऋषभ तथा अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णुपुराण मे मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।[4]

(९) रायबहादुर पूर्णेन्दु नारायण सिंह एम० ए० का मत है कि—

जैनधर्म व्यवहारिक योगाभ्यास के लिए सब से प्राचीन है, यह वेद के रीति-रिवाजों से पृथक हैं। इसमें हिन्दू (वेद) धर्म के पूर्व की आत्मिक स्वतत्रता विद्यमान है। जिसको परमपुरुष (तीर्थंकर) प्रकाश में लाये हैं।

(१०) न्यायमूर्ति रांगनेकर का मत है कि—

आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह निःसंदेह प्रकट हुआ है कि यथार्थ में ब्राह्मण (वैदिक) धर्म के सद्भाव अथवा उसके हिन्दूधर्म में परिवर्तित होने के बहुत पहले से जैनधर्म इस देश में विद्यमान था।

---

1. थिओसीफिस्ट बुक दिसम्बर जनवरी
2. ता० २.१२.१९११ के पत्र।
3. Studies in Science of comparative Religion p. p. 13-15
4. भारतीय इतिहास और संस्कृति पृष्ठ १९९-२००

(११) डा० श्री रामधारीसिंह दिनकर का मत है कि—

कई विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदों के लिखने के काल से भी पूर्वकाल में हुए हैं।[1]

(१२) डा० राधाकृष्णन भूतपूर्व राष्ट्रपति भारतवर्ष का मत है कि—

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ईसा से एक शताब्दी पहले से ही ऐसे लोग विद्यमान थे जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। तथा यह बात भी निःसंदेह है कि जैनधर्म महावीर और पार्श्वनाथ से भी पहले विद्यमान था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है—ऋषभ, अजितनाथ, अरिष्टनेमि। भागवत पुराण में वर्णन है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।[2]

(१३) एम० एम० डा० एस० सी० विद्याभूषण कहते है कि—

मानव सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही भारत ने विश्व की जनता को सदा आध्यात्म माता की देन दी है। वास्तव में कहा जाय तो यदि विश्व में भारत अध्यात्मवाद और तत्वज्ञान के विस्तार करने से अद्वितीय सिद्ध हुआ है तो इस बात के लिए कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इसका श्रेय जैनधर्म को ब्राह्मण और बौद्धधर्म से कोई कम नही है। पुनश्च अन्य धर्मों से जैनधर्म एक प्राचीन, सुप्रतिष्ठित, तेजस्वी और महाधर्म है।

(१४) सर षणमुखम चेटी कहते हैं कि—

It is beyond my capacity to say any thing about the greatness of the Jain religion. I have read sufficiently to warrant my saying that contribution which the Jains have culture is something unique. I personally believe that if only Jainism had kept its hold firmly in India, we would perhaps have had a more united India and certainly a greater India than today. Viewed as a religion the keynote of Jainism have been 'the realisation of the highest ideals that man's physical and moral nature points out as his final goal and which incidentally is the cardial canon of Universalism

The Pali Sutras confirm good deal of what is contained in the **Swetambera Jain canon.** The ancient Jain sculptures of Mathura, dating from the first century A.D. guarantee the antiquity and authenticity of many of the Jain tradition. It is generally believed that there were Jain monks before Mahaveera belonging to the order founded by Parswanath.......... They had also their own Caityas (चैत्य)

(१५) प्रो० रामप्रसाद चांदा जो प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ हैं, वे कहते हैं कि—

जैन सिद्धांतों की विशेषकर इसके स्याद्वाद सिद्धांत की ब्राह्मण तत्त्वज्ञानियों, ख्याति प्राप्त विद्वानों ने जैसे कि बाद्रायन (वेदांत सूत्र) तथा शंकराचार्य ने खूब अनुचित आलोचना की है।

(१६) जे० एन० का० का कहना है कि शंकराचार्य ने न तो स्याद्वाद के वास्तविक रूप को समझा है और न कभी समझने का प्रयत्न ही किया है। (आर्य समाज के संस्थापक) स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश (अध्याय १२) में एवं होप्किन ने अपने (Religions in India) नामक पुस्तक में कुछ आधुनिक उदाहरण रूप वैसे ही जैनधर्म को गलत और गुमराह करने वाली आलोचनाएं की हैं।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ २९
2. इंडियन फिलासफी

(१७) जो लोग वास्तविक इतिहास जानते हैं अथवा जानने के इच्छुक हैं उनमें से कोई भी इस बात से इन्कार (विरोध) नहीं कर सकता कि बुद्ध से लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व मात्र एक-दो ही नहीं परन्तु बहुत तीर्थंकरों ने अहिंसा का उपदेश दिया था। जैनधर्म बहुत प्राचीन धर्म है और इसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ प्रदान किया है।

(१८) यदि Rev. A. Dubois के शब्दों में कहें तो वास्तव में जैनधर्म एक सच्चाई और सर्वमान्य धर्म है। यह मानवमात्र का सार्वभौम विश्वास है।

· टी.एन. शेषगिरि अईयर एम.एल.ए. भूतपूर्व न्यायाधीश मद्रास हाईकोर्ट का कथन है कि—

(१९) I have no desire to date the Jain religion at period subsequent to the Vedas, it might be simultaneous with them. Jainas are not the Hindu dissenters. I can fully out the statement that all Jainas are not Viasyas. They are of all castes and grades.

(२०) यदि एस. एन. गोखले के शब्दों में कहें तो— जैनधर्म का जो मुख्य सिद्धान्त अहिंसा का है वह तत्त्वज्ञान वैदिक आर्ययुग से भी पूर्वकालीन है।

(२१) हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, सिख आदि संस्कृतियां ईश्वर, गॉड, खुदा आदि नामों से एक असाधारण सर्वविलक्षण, शक्तिशाली तत्त्व की कल्पणा करती है, और उसे सृष्टि का कर्ता, हर्ता, नियंता मानती हैं। यह ईश्वर सम्बन्धी मान्यता वैदिक युग के अन्त में (वि. पू. १४५६) के लगभग जैनों के बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि, कृष्ण और जैनो के तेईसवें तीर्थंकर के अन्तराल काल में प्रचलित हुई। तब यूरोप में दार्शनिक तत्त्ववेत्ता विद्वान एनेक्सा गोरेस ने (वि० पू० ४४४-३५४ में) पहले-पहल ईश्वर को स्थापित किया। इससे यह बात तो निश्चित है कि भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के समय में भारतवर्ष में ईश्वर सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता प्रचलित हो चुकी थी। तब भी जैन दर्शन ने इसको बिल्कुल स्वीकार नही किया था। इससे यह बात पाई जाती है कि जैन दर्शन के तत्त्व इस ईश्वरी मान्यता के प्रचलित होने से बहुत पहले ही निश्चित हो चुके थे।

अर्हत् ऋषभदेव का प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमय धर्म

अर्हत् ऋषभदेव ने लोक और परलोक के आदर्श प्रस्तुत किये। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म दोनों का स्वयं आचरण करते हुए राज्यावस्था में विश्व को सर्वकलाओं का प्रशिक्षण दिया तथा बाद में पुत्रों को राज्य भार सौंपकर आध्यात्मकला द्वारा स्व-पर कल्याण के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत्[1] बने। शायद यही कारण है कि श्रीमद्भागवत में उन्हें भगवान कहा है।

---

1. अर्हत् का अर्थ है--पूजा योग्य। षट्खण्डागम की आचार्य वीरसेन कृत धवला टीका में कहा है कि--
"अतिशय-पूजार्हत्वाद्वार्हतः। स्वर्गावतरण-जन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण-केवल ज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणेषु देवकृतानां देवासुर-मानव-प्राप्त-पूजाभ्योऽधिकत्वा-दतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वा-दर्हतः॥"
अर्थात्--अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हत् संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि स्वर्ग से अवतरण (च्यवन), जन्माभिषेक, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण इन पांचों कल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजाएं देव, असुर और मनुष्यो को प्राप्त पूजाओं से अधिक (महान्) हैं। इसलिए इन अतिशयो के योग्य होने से अर्हत् संज्ञा समझना चाहिए।

"महर्षिः तस्मिन्नेव विष्णुदत्तः भगवान परमर्षिभिः प्रसादितः नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यामधर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणः नामृषीणामूर्ध्वमंथिना शुक्लया तनुवावततार ॥ (५।३।२० भागवत) ।

अर्थात्—हे परीक्षित ! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर भगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से वातरशना (योगियों) श्रमणों और उर्ध्वगामी मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

श्रीमद्भागवतकार ने ही लिखा है कि यद्यपि ऋषभदेव परमानन्दस्वरूप थे, स्वयं भगवान थे फिर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम में नियमित आचरण किया।[2] उनका यह आचरण मोक्षसंहिता के विपरीतवत लगता है, किन्तु वैसा था नहीं। यथा—

"भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभवः ईश्वर एवं विपरीतवत् कर्माण्यारम्भमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशांतो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थ यशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोक नियमयत्।" (भागवत् ५।४।१४)

अर्थात्—भगवान ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुरूप स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वालों को उसी की शिक्षा दी। साथ ही सम (मैत्री) शांत (माध्यस्थ) सहृद (प्रमोद) और कारुणिक (कृपापरत्व) रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तानरूप भोग सुख तथा मोक्ष सुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

आविर्भूतानन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-विरति-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ - भोगोपभोगाद्यनन्त गुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्ध-स्वरूपाः स्फटिक-मणि महीधर-गर्भोद्भूतादित्य-बिम्बवद्दैदीप्यमानाः स्व- शरीर-परिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्त विश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्त विश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगतशेषपापांजनपुञ्जत्वेन निरंजनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः। तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः।

अर्थात्—अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुणस्वरूप होने से जिन्होंने यहीं पर सिद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्यबिम्ब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है। अपने (ज्ञान) में ही सम्पूर्ण प्रमेय रहने के कारण (प्रतिभासित होने से) जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गए हैं, सम्पूर्ण आमय अर्थात् रोगो से दूर हो जाने के कारण जो निरामय हैं, सम्पूर्ण पाप रूपी अंजन के समूह के नष्ट हो जाने से जो निरंजन हैं और दोषो की कलाएं अर्थात् सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अर्हंतो को नमस्कार हो। (धवला टीका १,१,१.)

2. जैनाचार्य हेमचन्द्र ऋषभदेव के विवाह प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ऋषभदेव ने लोगो में विवाह प्रवृत्ति चालू रखने के लिए विवाह किया। वे कहते हैं कि सुनंदा को स्वीकार कर उसका अनाथपन दूर किया, ऋषभ ने दो विवाह एक साथ किए थे। एक सुमंगला के साथ जो उनके साथ युगल रूप में जन्मी थी तथा दूसरी जिसके साथ उसका युगलरूप में जन्मा हुआ भाई था, उसकी आठ वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो जाने के कारण अकेली रह जाने से अनाथ हो गई थी, ऐसी सुनन्दा के साथ विवाह किया। इन दोनों से दो पुत्रियों तथा सौ पुत्रों का जन्म हुआ।

यह सत्य है कि उनके सुन्दर सुडोल शरीर, विपुल कीर्ति, अतुल तेज-बल, यश, ऐश्वर्य, पराक्रम और शौर्यादि गुणों के कारण नाभिराय ने उनका नाम ऋषभ रखा था। ऋषभ का एक अर्थ धर्म भी है। ऋषभदेव साक्षात् धर्म ही थे। उन्होंने स्वयं कहा— मेरा यह शरीर दुर्विभाव्य है अर्थात् शारीरिक आचरणायें सब की समझ में नहीं आ सकती। मेरे हृदय में सत्व का निवास है, वही धर्म की स्थिति है। मैंने धर्मस्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है, अतएव मुझे आर्य लोग 'ऋषभ' कहते हैं। यथा—

"इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, सत्त्वं ही मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराधतो ही मां ऋषभं प्राहुरार्याः॥(भागवत ५।५।१९)

एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है—हे धर्मतत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव! आप धर्म का उपदेश कर रहे हैं। अवश्य ही आप वृषभरूप में स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते है, वे ही आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं। यथा—

"धर्मब्रवीषी धर्मज्ञ धर्मोसि वृषभ रूप धृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत॥" (भागवत १।११।२२)

भगवान ने धर्म का उपदेश दिया क्योकि वे स्वयं धर्मरूप थे। तीर्थ का प्रवर्तन किया क्योकि वे स्वयं तीर्थंकर थे, यह सब कुछ सत्य है किन्तु उन्होंने प्रजा को संसार में जीने का उपाय भी बताया। उन्होंने सबसे पहले क्षात्रधर्म की शिक्षा दी। महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि—क्षात्रधर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत हुआ और शेष धर्म उसके पश्चात् प्रचलित हुए। यथा—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः। पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्म्मा॥"

(महाभारत शांतिपर्व १६।६४।२०)

ब्रह्माण्ड पुराण (२।१४) में पार्थिवश्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है।

१— प्रजाओं का रक्षण क्षात्रधर्म है, अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दो गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यमान थे। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर लोगों को शस्त्रविद्या सिखाई। शस्त्र शिक्षा पाने वालों को क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय का अन्तर्निहित भाव यही था कि जो हाथो में शस्त्र लेकर दुष्टो और सबल शत्रुओं से निर्बलों की रक्षा करते हैं। उन्होंने मात्र शस्त्र विद्या की शिक्षा ही नही दी अपितु सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की थी।

ऋषभदेव का यह वचन अधिक महत्वपूर्ण है कि केवल शत्रुओं और दुष्टो से युद्ध करना ही क्षात्रधर्म नहीं है अपितु विषय, वासना, तृष्णा और मोह आदि जीतना भी क्षात्रधर्म है। उन्होंने दोनों काम किये। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या का पुरस्कर्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये अनिवार्य है, उससे भी अधिक मोहादि अन्त-शत्रुओं को जीतने के लिए अनिवार्य है। ऋषभदेव ने सारी पृथ्वी-समुद्रों पर राज्य किया, सारे विश्व को व्यवस्थित किया और फिर मोहादि शत्रुओं का विनाश करने में भी विलम्ब नहीं किया। आचार्य समन्तभद्र ने नीचे लिखे श्लोक में बड़ा ही भाव-भीना वर्णन किया है—

विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधां वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥ (स्वयंभू स्तोत्र १।३)

अर्थात्—समुद्र वस्त्र ही है किनारा जिसका (समुद्र पर्यन्त विस्तृत) ऐसी वसुधारूपी वधू को छोड़कर मोक्ष की इच्छा रखने वाले इक्ष्वाकुवंशीय आत्मवान् सहिष्णु और अच्युत प्रभु ने दीक्षा ले ली।

उन्होंने अपने अंतर्शत्रुओं को अपनी समाधि तेज से भस्म कर दिया और केवलज्ञान प्राप्त कर अचिन्त्य और तीनों लोकों की पूजा के स्थान स्वरूप अर्हत् पद प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अर्थ केवल सांसारिक विजय ही नहीं है अपितु आध्यात्मिक विजय भी है। उसके दो शत्रु हैं, एक बाह्य है तो दूसरा आन्तरिक। एक स्थूल है तो दूसरा सूक्ष्म। एक आसान है तो दूसरा मुश्किल। दोनों का विजेता ही सच्चा क्षत्रिय है। इसीलिये तो कहा है कि—"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा"।

२. प्राकृतिक अवरोध के कारण कल्पवृक्षों से भोजनादि की व्यवस्था निशेष प्राय: हो गई थी। तब भगवान ने प्रजाओं को कृषि की शिक्षा दी। कृषि का अर्थ है—"कृषि: भूकर्षणे प्रोक्तः।" पृथ्वी विलेखन को कृषि कहते हैं। कृषि से अन्नादि पैदा होते हैं। इसलिये अन्न, चारा, वस्त्र, ईंधन तथा लकड़ी द्वारा निर्मित जीवनोपयोगी नाव, जहाज, मकान, हाट, हल आदि सब सामग्रियां खेती से प्राप्त करना सिखलाई। जिससे प्राण रक्षा के लिए उपयोगी साधन सामग्री का निर्माण करना भी सिखलाया। अत: वे खेती के प्रथम आविष्कर्ता थे। ऋषभदेव ने केवल हल और बैल के द्वारा खेती करना ही नहीं सिखाया अपितु उत्पन्न अन्न से भोजन तैयार करने तथा खाने की विधि भी बताई। उन्होंने पशुपालन भी सिखलाया। दुधारु पशुओं को पालकर उनका चारे से पालन पोषण कर दूध प्राप्त करना भी सिखाया। तथा दूध से दही आदि मिष्टान्न तैयार करना भी सिखलाया। भोजन बनाने के लिये पात्र बनाने भी सिखलाये। अत. कोई व्यक्ति वस्त्र, पात्र, भोजन, मकान आदि के अभाव से पीड़ित न रहा।

३. ऋषभदेव ने लिपि और गणित की शिक्षा अपनी ब्राह्मी, सुन्दरी दोनों पुत्रियों को दी। ब्राह्मी को भाषा और लिपि का मुख्यरूप से ज्ञान कराया। उसी के नाम पर भारत की प्राचीन लिपि को ब्राह्मी लिपि कहते हैं। भाषा विज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि ब्राह्मी लिपि पूर्ण और सर्वग्राह्य थी। आगे चलकर इस लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ। आज की देवनागरी लिपि उसी का विकसित रूप है।

ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को मुख्यरूप से अंकों का ज्ञान करवाया। उससे गणित विद्या का विकास होकर समूचे जगत में प्रसार हुआ। आज जैन आचार्यों द्वारा लिखे हुए गणित सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ विद्यमान हैं।

जगद्गुरु ऋषभदेव ने पुरुषों को ७२ कलाएं और स्त्रियों को ६४ कलाएं सिखलाईं। उन्होंने एक सुनियोजित व्यवस्थारूप में प्रजाओं को अनुशासित किया। उन्होंने कर्म के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया। वे चतुर्वर्णी (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और ब्राह्मण) व्यवस्था के सूत्रधार बने[1]। चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारंभ हो चुकी थी।

---

1. भगवान ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की और ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ऋषभ के केवलज्ञान पाने के बाद चतुर्विध संघ की स्थापना में जो व्रतधारी श्रावक-श्राविकाएं थे, उनको तिलक देकर उनके प्रथम पुत्र चक्रवर्ती भरत ने की। (कल्पसूत्र व्याख्यान ७)

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारंभ में धरा और धरावासियों की आवश्यकताओं के समाधान के लिए ऋषभदेव ने जिस घोर परिश्रम का परिचय दिया वही परिश्रम आत्मविद्या के पुरस्कर्ता होने पर भी किया। वे श्रमण आर्हत् धारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। भागवतकार ने उन्हें नाना योगचर्याओं का आचरण करने वाले "कैवल्यपति की संज्ञा तो दी ही है। (भागवत ५।६।६४) तथा साथ ही उन्हें वातरशना (योगियों), श्रमणों, ऋषियों और ऊर्ध्वगामी (मोक्षगामी) मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता और श्रमण धर्म का प्रवर्तक माना है (५।४।२०)

यहां श्रमण से अभिप्राय—'श्राम्यति तपक्लेशं सहते इति श्रमणः' अर्थात् जो तपश्चरण करे वे श्रमण है। श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक की टीका में लिखा है कि—'श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।' (१।३) इसका अर्थ है जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह तपस्वी श्रमण है। भागवत ने वातरशना योगी, श्रमण, ऋषि को ऊर्ध्वगामी कहा है। ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव है किन्तु कर्मों का भार उसे बहुत ऊंचाई तक नहीं जाने देता। जब जीव कर्मबन्धन से नितांत मुक्त हो जाता है तब अपने स्वभावानुसार लोक के अन्त तक उर्ध्वगमन करता है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कथन है कि—"तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्" (१०।५) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊंचे जाता है। जैन शास्त्रों में जहां भी मोक्षतत्त्व का वर्णन आया है वहां पर मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी संदर्भ में वैदिक ऋषियों ने वातरशना श्रमण मुनियों के ऊर्ध्वमंथी, उर्ध्वरेता आदि शब्दों का प्रयोग जैन श्रमणों के लिए ही किया है। और ऋषभदेव को इसका प्रवर्तक कहा है। अतः ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे यह वैदिक साहित्य भी स्वीकार करता है।

श्री ऋषभदेव ने भारत में इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम जैनधर्म का प्रचलन किया। उनका समय संख्यातीत वर्ष पहले का है अतः इसका पता लगाना संभव नहीं है। कहना होगा कि अर्हत् श्रमण निर्ग्रन्थ संस्कृति विश्व की प्राचीनतम आदि सभ्यता है। इस युग में क्रमशः चौबीस तीर्थंकर हो गए हैं। प्रथम ऋषभदेव तथा अन्तिम वर्धमान-महावीर थे। महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ वर्ष में हुआ और निर्वाण ७२ वर्ष की आयु में ईसा पूर्व ५२७ वर्ष में हुआ। यह धर्म भारत में स्थापित होकर विश्व में विस्तार पाया। विश्व के सब देशों, सब जातियों को सभ्यता प्रदान करके अन्त में सिमट कर भारत में ही विद्यमान रहा है और आज भी अपने आदर्शों पर पूर्ववत कायम है। इस बात की पुष्टि राजा शिवप्रसाद सतारे हिन्द ने अपनी "भूगोल हस्तामलक" नामक पुस्तक में इस प्रकार की है।

"दो ढाई हजार वर्ष पहले विश्व का अधिक भाग जैनधर्म का उपासक था।"

इस विषय पर हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे।

ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर सब भारतवर्ष में ही हुए हैं। उनके विषय में संक्षिप्त विवरण यहां नीचे लिखे कोष्टक में देते हैं। जिससे पता लग जावे कि अर्हत् (जैन) संस्कृति कितनी पुरानी है। इस कोष्टक में चौबीस तीर्थंकरों की आयु तथा उनमें अन्तरकाल आदि से आप स्पष्ट जान पायेंगे कि जैनधर्म के प्रारम्भकाल का पता लगाना असंभव है। तथा ऋषभादि की लम्बी आयु के साथ पौराणिक ब्रह्मा, विष्णु और शिव की आयु की तुलना करके यह भी जान जायेंगे कि तीर्थंकरों के विषय में कल्पना मात्र नहीं पर वास्तविकता है।

जैनधर्म किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है; बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय, सार्वभौमिक तथा लोकप्रिय धर्म है। जैन तीर्थंकरों की महानात्माओं ने संसार को जीतने की चिन्ता नहीं की, उनका ध्येय राज्य जीतने का नहीं बल्कि स्वयं पर विजय प्राप्त करने का है। राज्यों का जीतना कुछ कठिन नहीं है। लड़ाइयों से कुछ देर के लिए शत्रु दब जाता है, दुश्मनी का नाश नहीं होता।

स्वयं पर विजय पाना यही एक महान ध्येय है और मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है। हिंसक युद्धों से संसार का कल्याण नहीं होता। यदि किसी ने आज महान परिवर्तन करके दिया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त ही है। अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति संसार की समस्त खोजों और प्राप्तियों से महान है। मनुष्य का स्वभाव है कि नीचे की ओर जाना। किन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम यह बताया कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाता है। (डा० कालीदास नाग—उपकुलपति कलकत्ता विश्वविद्यालय)

चौबीस तीर्थंकर विवरण

नम्बर	तीर्थंकर नाम	जन्म नगर	आयुष्य	छद्मस्थ काल	परस्पर अन्तर
१	श्री ऋषभदेव	अयोध्या	८४ लाख पूर्व[1]	१००० वर्ष	पचास लाख करोड़ सागर[2]
२	श्री अजितनाथ	अयोध्या	७२ लाख पूर्व	१२ वर्ष	तीस लाख करोड़ सागर
३	श्री सम्भवनाथ	सावत्थी	६० लाख पूर्व	१४ वर्ष	दस लाख करोड़ सागर
४	श्रीअभिनंदननाथ	अयोध्या	५० लाख पूर्व	१८ वर्ष	नौ लाख करोड़ सागर
५	श्री सुमतिनाथ	अयोध्या	४० लाख पूर्व	२० वर्ष	नब्बे हजार करोड़ सागर
६	श्री पद्मप्रभु	कौशाम्बी	३० लाख पूर्व	६ मास	नौ हजार करोड़ सागर
७	श्री सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	२० लाख पूर्व	९ मास	नौ सौ करोड़ सागरोपम
८	श्री चन्द्रप्रभु	चन्द्रपुरी	१० लाख पूर्व	३ मास	नब्बे करोड़ सागर
९	श्री सुविधिनाथ	काकन्दी	२ लाख पूर्व	४ मास	नौ करोड़ सागर
१०	श्री शीतलनाथ	भद्दिलपुर	१ लाख पूर्व	३ मास	एक करोड़ सागर
११	श्री श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	८४ लाख वर्ष	२ मास	५४ सागर
१२	श्री वासुपूज्य	चम्पापुरी	७२ लाख वर्ष	१ मास	३० सागरोपम
१३	श्री विमलनाथ	कम्पिलपुर	६० लाख वर्ष	२ मास	९ सागर
१४	श्री अनन्तनाथ	अयोध्या	३० लाख वर्ष	३ वर्ष	४ सागर
१५	श्री धर्मनाथ	रत्नपुरी	१० लाख वर्ष	२ वर्ष	३ सागर
१६	श्री शांतिनाथ	हस्तिनापुर	१ लाख वर्ष	१ वर्ष	०॥ पल्योपम[3]
१७	श्री कुंथुनाथ	हस्तिनापुर	९५ हजार वर्ष	१६ वर्ष	०। पल्योपम
१८	श्री अरनाथ	हस्तिनापुर	८४ हजार वर्ष	३ वर्ष	१००० करोड़ वर्ष
१९	श्री मल्लिनाथ	मिथिला	५५ हजार वर्ष	१ दिन-रात	५४ लाख वर्ष
२०	श्रीमुनि सुव्रतनाथ	राजगृही	३० हजार वर्ष	११ मास	६ लाख वर्ष
२१	श्री नमिनाथ	मथुरा	१० हजार वर्ष	९ मास	५ लाख वर्ष
२२	श्री अरिष्टनेमि	शौरीपुर	१ हजार वर्ष	५४ दिन	८३७५० वर्ष
२३	श्री पार्श्वनाथ	वाराणसी	१०० वर्ष	८४ दिन	२५० वर्ष
२४	श्री महावीर	क्षत्रियकुण्ड	७२ वर्ष	१२॥ वर्ष	अन्तिम अर्हत् (तीर्थंकर)

1. चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व अर्थात् ८४०००००×८४००००० = ७०५६०००००००००० सौर वर्षों का एक पूर्व। ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व = ७०५६०००००००००० × ८४००००० = ५८२७०००००००००००००००० सौर वर्ष आयु ऋषभदेव की।
2. दस कोटाकोटी पल्योपम का एक सागरोपम (सागर)। अर्थात् १०×१००००००००×१००००००००=१०० ०००००००००००००० पल्योपम (पल्य) का एक सागर अथवा सागरोपम।
3. एक योजन लम्बा एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा खड्डा युगलियो के सात दिन के जन्मे हुए बालक के एक-एक बाल (केश) के २०९७१५२ किए हुए अतिसूक्ष्म टुकड़ों को ठोस-ठोसकर इस प्रकार भरें कि अग्नि से जलें नहीं, पानी से बहें नहीं, चक्रवर्ती की सेना के ऊपर चलने से दबें नहीं। इस प्रकार के खड्डे में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक टुकड़ा निकाले। जितने काल में खड्डा खाली हो वह एक पल्योपम।

दीर्घायु तुलना

जैनागमों में वर्णित लम्बी आयु के विषय में अधिकतर विद्वानों की यह धारणा है कि यह मात्र अतिशयोक्ति है जो अपने महापुरुषों की महत्ता बतलाने के लिए की गई है। परन्तु पौराणिक ब्राह्मण साहित्य में जो अवतारों की आयु बतलाई है, उसके साथ तुलना करने से ज्ञात होता है कि उनकी भी आयु इसी प्रकार संख्यातीत वर्षों की बतलाई गयी हैं। हम यहां पर मात्र ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) की आयु का उल्लेख करके सन्तोष मानेंगे। इस तुलना से आप जान पायेंगे कि इस विषय में आर्हतों (जैनों) और बार्हतों (वैदिक ब्राह्मणों) की मान्यता में कितनी समानता है। हम लिख आए हैं कि विश्व में जितनी भी संस्कृतियों ने जन्म लिया उनमें आर्हत् और बार्हत् सबसे प्राचीन हैं।

(१) ब्रह्मा की आयु—

ब्रह्मा की १०० वर्ष की आयु थी। ये सौ वर्ष कितना लम्बा समय था इसका विवरण इस प्रकार है—वैदिक आर्यों ने काल के चार विभाग किए हैं—१-सतयुग १७२८००० सौर वर्षों का, २-त्रेतायुग १२९६००० सौर वर्षों का, ३-द्वापर युग ८६४००० सौर वर्षों का और कलियुग ४३२००० सौर वर्षों का। चारों युगों को मिलाकर एक महायुग होता है, इसका समय ४३२०००० सौर वर्षों का हुआ। एक हजार महायुगो का ब्रह्मा की आयु का एक दिन होता है। अर्थात् ४३२००००००० सौर वर्षों का ब्रह्मा की आयु का एक दिन हुआ। यही एक दिन १४ मन्वन्तरों का होता है। इस एक दिन को एक कल्प भी कहते है। एक वर्ष मे ३६५.२५ दिन होते है। अतः ४३२००००००० × ३६५.२५=१५७७८८००००००० सौर वर्षो का ब्रह्मा का एक वर्ष। तो ब्रह्मा की १०० वर्ष की आयु १५७७८८००००००० × १००=१५७७८८००००००००० सौर वर्षो की हुई।

(२) विष्णु की आयु—

विष्णु की आयु भी १०० वर्ष की है। इन सौ वर्षों का विवरण इस प्रकार है। ब्रह्मा की एक हजार वर्ष आयु विष्णु की एक घड़ी (२४ मिनट) आयु। एक घड़ी एक दिन-रात का १/६० होता है। अतः विष्णु की आयु १५७७८८०००००००००० × १००० × ६० × ३६५.२५ × १००= ३४५७९२४०२००००००००००००००००० सौर वर्षों की है।

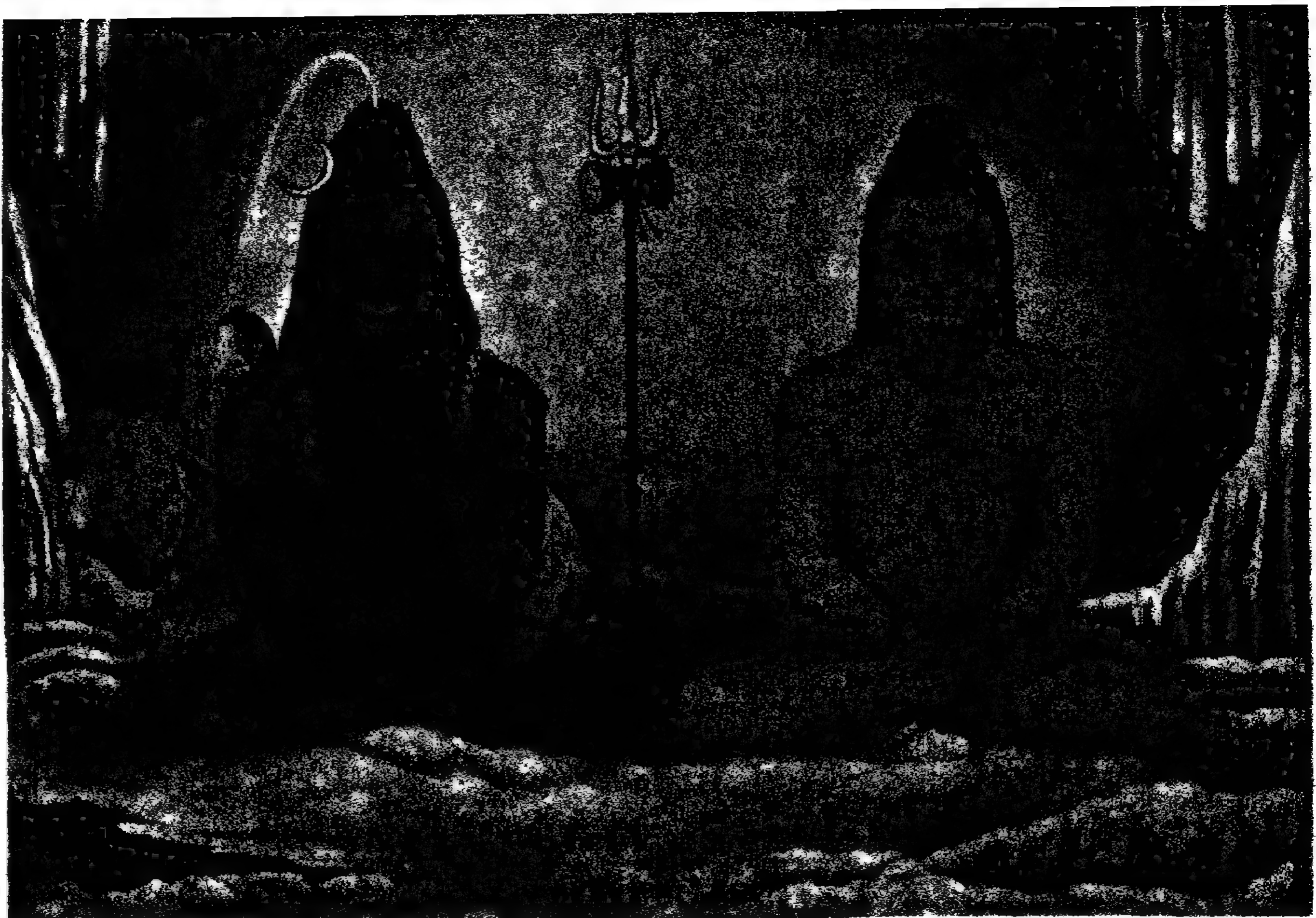
(३) रुद्र (शिव) की आयु—

शिव की आयु १०० वर्ष की है। इसका विवरण इस प्रकार है। शिव की आयु की आधी कला=विष्णु की आयु के १२००००० गुणा। अर्थात् एक अहोरात्र (दिन-रात) का १/१८०० समय होता है। अतः शिव की आयु=१२००००० × १८०० × ३६५.२५ × ३४५७९२४०२००००००००-०००००००००० × १०० =२७२८०९४५७६३३८८००००००००००००००००००००००००००००००-०० सौर वर्षों की हुई।

(४) रुद्र (शिव) के अर्बुद(१०००००००००) वर्ष=अक्षर ब्रह्म का समय।

(५) मनुस्मृति के अनुसार काल परिमाण के १८ निमेश की १ काष्टा। ३० काष्टों की १ कला। ३० कलाओं का एक महूर्त। ३० महूर्तों को एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है।

(१) कार्तिक शुक्ला ९ के प्रथम प्रहर में श्रवण नक्षत्र वृद्धि योग में सतयुग का जन्म हुआ। इस युग में मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह ये चार अवतार हुए। (२) वैसाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया)



शिव और ऋषभ

सोमवार रोहिणी नक्षत्र शोभन योग के द्वितीय प्रहर में त्रेता युग की उत्पत्ति हुई। इस युग में वामन, परशुराम, रामचन्द्र ये तीन अवतार हुए। (३) माघ कृष्णा अमावस्या, शुक्रवार, धनिष्ठा नक्षत्र, परिघ योग, वृष लग्न में द्वापर युग का प्रारम्भ हुआ। इसमें कृष्ण और बुद्ध दो अवतार हुए। (४) भाद्रपद कृष्णा १३ रविवार अश्लेषा नक्षत्र, व्यतिपात योग में आधी रात को मिथुन लग्न में कलियुग का जन्म हुआ। इस युग में कल्की नाम का एक अवतार होगा।

ऋषभ और शिव

ऋषभ और शिव दोनों ही अति प्राचीन काल से भारत के महान आराध्य देव हैं। वैदिककाल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय में दोनों का देव-देवताओं के विविध रूपों में उल्लेख हुआ है। उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव को जो मान्यता और पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा मे भी उन्हें उसी कोटि की है। जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य और संस्तुत किया गया है उसी प्रकार हिन्दू वेद, पुराण शास्त्र भी उन्हें भगवान् के अवतार रूप में मान्य करते हैं। इसका उल्लेख हम विस्तारपूर्वक कर आये हैं।

अब तो अधिकतर पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा दृढ़ होती जा रही है कि शिव ऋषभ का ही रूपान्तर हैं। अर्थात् शिव और ऋषभ दोनों एक ही है। ऋषभ को जैनों ने अर्हत् रूप में इस काल का प्रथम तीर्थंकर और जैनधर्म का आदि संस्थापक माना है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते है कि **शिव** वैदिक आर्यों के देव नही थे। जब वैदिक आर्य लघु एशिया और मध्य एशिया के देशों से होते हुए लगभग ३००० हजार वर्ष ईसा से पूर्व इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे इस समय शिव के उपासकों की संख्या की यहां कमी नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा शाखा की खुदाई से शिव की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में भारत में शिव की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हें शिव, महादेव, रुद्र, व्रातपति, शंकर, त्रिनेत्र, महेश्वर, गिरीश, गिरिश्वर, त्र्यम्बक, ऋषभध्वज, क्षेत्रपति आदि विविध नामो से सम्बोधित किया जाता रहा है। मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि के उत्खनन से जो शिव और ऋषभ की शिलायें मिली हैं दोनों की ध्यानावस्था, योगी, नग्न और खड़ी मुद्रा में मिली हैं। जिनको बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखने से ही दोनों में कुछ अन्तर मालूम पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि सीलों में अंकित मुद्राओ मे शिव और ऋषभ की बहुत समानता है। जब वैदिक आर्य भारत आए तो उन्होंने पंजाब में आकर ऋग्वेद की रचना की और उसमें शिव को योगी और आध्यात्मिक उपास्यदेव के रूप में चित्रित किया और उसे अपने उपास्यदेव के रूप में मान लिया। पर आश्चर्य और खेद का विषय है कि पौराणिक ब्राह्मणों ने आगे चलकर शिवपुराण, देवी भागवत, मत्स्य पुराण, श्रीमद्‌भागवत की श्रुतसागरी टीका आदि पुराणों में शिव का स्वरूप अज्ञानी, कामी, स्त्रीलंपट, क्रोधी, मानी, लोभी, मायावी आदि अत्यन्त वीभत्स रूप में चित्रित करके अति विकृत कर दिया। महादेव, देवाधिदेव, शिव स्वरूप परम आध्यात्मिक उपास्य देव को अत्यन्त घटिया दर्जे का बना दिया। शिवलिंग जो सिद्धावस्था का प्रतीक था उसे स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियों को मैथुन करते हुए बदल दिया। शिव के ऐसे विकृत चरित्रों को पढ़ने सुनने से सभ्य समाज का सिर मारे शरम के झुक जाता है। अधिक क्या लिखें।

भूखनन से ढोलवाहा जिला होशियारपुर से पाषाण का एक प्राचीन शिवलिंग पुरातत्त्व विभाग को मिला है जो बड़े थाल समान गोलाकार पाषाण के मध्य भाग में गोलाकार ऊंचा शिवलिंग

स्थित है। दूसरा शिवलिंग सुलतानपुर लोधी से भू-उत्खनन से प्राप्त हुआ है, वह भी पहले वाले शिवलिंग के आकार का ही है। इस शिवलिंग की विशेषता यह है कि इसके ऊपरी भाग में एक-मुखिया शिव की मूर्ति अंकित है। ये दोनो शिवलिंग स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रिय आकार के न होकर सिद्धशिला पर ऋषभ की मुक्तात्मा के रूप में गोलाकार लम्बोतरे आकार का प्रतीक है। सिद्धशिला को जैनों ने थाली के समान गोलाकार माना है और मुक्तात्मा को शिवलिंग के आकार का माना है। अतः ये दोनों शिवलिंग निर्विकार सिद्धावस्था के प्रतीक हैं। ये दोनो शिवलिंग विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर (पंजाब) के पुरातत्त्व विभाग में सुरक्षित हैं।

वास्तव मे शिव-ऋषभ का ही पर्यायवाची है और जो ऋषभ का पवित्र चरित्र है वही शिव का है। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सोमेश्वर के शिव मन्दिर में जाकर महादेव स्तोत्रकी रचना द्वारा शिव की राग-द्वेष रहित निर्विकार वीतराग-सर्वज्ञ देव के रूप मे स्तुति की थी। अतः ऐसे स्वरूप को लक्ष्य में रखकर वैदिक आर्यों के भारत में आने से पहले शिव की मान्यता उपास्यदेव के रूप में थी। अतः मुमुक्षु आत्मा को ऐसे निर्विकार वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शिवरूप ऋषभ को मानने से ही आत्म कल्याण संभव है।

ऋषभदेव शिव कैसे बन गए उसका उल्लेख कई ग्रन्थों मे मिलता है। ईशान संहिता में लिखा है कि—

"माघ वदि त्रयोदश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंग तयोभूतः कोटिसूर्य समप्रभ.॥"

अर्थात्—माघ वदि त्रयोदशी की महानिशा (अंधेरी रात्रि) को आदिदेव ऋषभ करोड़ो सूर्यो के समान प्रकाशमान शिवलिंग के रूप मे प्रकट हुए।

शिवपुराण में भी स्पष्ट उल्लेख है कि—'मुझ शंकर का ऋषभ अवतार होगा।' वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा तथा उसका अवतार नवां होगा। यथा—

"इत्थ प्रभव. ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः॥ (शिव पुराण ४।४६)

(१) नग्न और मलिन गात्र—

"भगवान ऋषभदेव ने राजपाट, गृहस्थ परिवार, धन-दौलत आदि का त्याग कर मुनि दीक्षा ले ली अर्थात् सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया और निर्ग्रन्थ मुनि हो गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह रह गया था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे मानो उन्हें भूत लग गया हो।

जैनागम कल्पसूत्र में भी ऋषभदेव ने दीक्षा लेने के बाद १३ मास तक इन्द्र द्वारा दिया हुआ एकमात्र देवदूष्य वस्त्र रखा, उसके बाद देवदूष्य का भी त्याग कर दिया और नग्न रहने लगे। स्नान न करने के कारण उनका शरीर मलिन दीख पड़ता था।

पुराणों में शिव को भी नग्न और मलिन गात्र वाला माना है। उनकी मलिनता प्रदर्शित करने के लिए उनकी देह पर भभूत दिखलाई जाती है।

(२) जटाओं का सद्भाव और दाढ़ी मूछों का अभाव—

श्वेतांबर जैनाचार्य श्री विमल सूरि अपने ग्रंथ पउम चरियं (पद्मचरित्र) में लिखते हैं कि—श्री ऋषभदेव प्रभु ने दीक्षा लेने से लेकर ४०० दिनों तक निर्दोष आहार न मिलने के कारण निर्जल

उपवास किया। तब वे बैसाख सुदी ३ को आहार के लिए हस्तिनापुर पहुंचे, उस समय उनकी जटाओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"जं जं उवणेइ तं तं नेच्छइ जिणो विगय-मोहो ।
लंबंत जडा भारो, नरवई भवणं समणुपत्तो ॥ (४।८)

अर्थात्—जो जो वस्तु (ऋषभदेव को देने के लिए) मनुष्य लाते हैं, वह वह मोहहीन भगवान नहीं चाहते थे। (वह ऋषभदेव) जिनकी लम्बी जटाओं का भार था राजा (सोमयश) के महल के पास पहुंचे।

जैनागम कल्पसूत्र तथा भक्तामर की टीका में श्री ऋषभदेव ने चारमुष्टि लोच करके पांचवीं मुष्टि के केश इन्द्र की प्रार्थना करने पर अपने सिर पर रहने दिये थे, इसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। यह भी लिख आए हैं कि श्वेताम्बर शास्त्र ही ऋषभ के सिर पर जटाजूट मानते हैं पर दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती।

श्री ऋषभदेव के सिर पर जटाजूट और कंधों पर लटकते हुए केशों वाली प्रतिमाएं भी जैन-मन्दिरों में विद्यमान है। हम लिख आये हैं एक ऐसी ही केशों वाली (सातिशय) ऋषभदेव की मूर्ति उदयपुर जिले में रिखभदेव नामक गांव में श्वेताम्बर जैन मन्दिर (जो इन केशों के कारण केशरियानाथ के नाम से प्रख्यात है) में मूलनायक रूप में विराजमान है।

महाराजा श्रीपाल (सिद्धचक्र आराधक) ने भी रत्नसानु पर्वत के मध्य रत्नसचया नामक नगर के राजा कनककेतु के श्री ऋषभदेव के जिनमन्दिर में ऐसे ही केशों वाली श्री ऋषभदेव की प्रतिमा के सामने स्तुति की थी। ऐसा उल्लेख श्वेतांबर आचार्य श्री रत्नशेखर सूरि ने अपने प्राकृत-श्रीपाल-चरित्र में भी किया है। यथा—

"कल्लाणकारणुत्तम-तत्त-कणय-कलिस-सरिस-संठाण ।
कंठ-ट्ठिअ-कल-कुतल-नीलुप्पल-कलिय ! तुज्झ नमो ॥५५०॥
आईसर ! जोईसर-लय-गय-मण-लक्खिय-सरूव ।
भव-कुव-पडिय-जंतु-तारण ! जिणनाह ! तुज्झ नमो ॥५५१॥

(संस्कृत) कल्याणस्य कारणं यत् उत्तमं तप्तं कनकं-सुवर्णं तस्य यः कलशः तेन सदृशं संस्थानं आकारो यस्य तस्य तत् संबोधनं—हे कल्याणकारण-संस्थान ! पुनःकण्ठे स्थित ये कला-मनोहरः कुंतलाः—पंचममुष्टि सम्बंधि—कुडलाकारे (जटा-जूट) केशास्त एव नीलोत्पलानि ज्ञेयानि-कलित ! तुभ्यं नमः ॥५५०॥ हे आदीश्वर (ऋषभदेव) ! पुनर्योगीश्वरानां लयं गतानि-लीनतां प्राप्तानि यानि मनोलक्षणानि तैर्लक्षितं स्वरूपं यस्य सः तत्संबुद्धौ हे योगीश्वर! लयगत मन लक्ष्यलक्षित स्वरूप ! पुनर्भवकूपे पतितान् जन्तून उत्-ऊर्ध्वं तारयतीति भवजन्तूतारणस्तत् संबुद्धौ हे भवकूपपतित तारक ! जिननाथ ! तुभ्यं नमः ॥५५१॥

भावार्थ—हे कल्याण के कारण उत्तम तपे हुए स्वर्ण के कलश[1] के तुल्य सुन्दर शरीर वाले !

---

1. श्री ऋषभदेव के शरीर का वर्ण अग्नि में तपे हुए स्वर्ण के समान तेजोमय था। उनके सिर पर पांचवीं मुष्ठि के बचे हुए जटाजूट कंधो पर लटकते हुए केश थे।

हे कंठ में रही हुई मनोहर पांचवी मुष्टि के बचे हुए सिर पर जटा-जूट केशों से निकलती हुई काले केशों की नीलोत्पल समान मालाओं से युक्त ! जिननाथ (सामान्य केवलियों के भी स्वामी) ! आपको नमस्कार है।।५५०।।

हे आदीश्वर-ऋषभदेव प्रभो ! योगीश्वरों के लीन मन से (ध्यान योग्य) लक्षित स्वरूपवाले योगीश्वर लयगत मनलक्षित (योग में लयलीन) लक्षण स्वरूप ! हे भवकूप में पतित जन्तुओं के तारक जिननाथ ! आपको नमस्कार हो ।।५५१।।

इससे स्पष्ट है कि श्री ऋषभदेव के सिर पर जटाजूट था और दाढ़ी-मूछों का लुंचन के कारण सर्वथा अभाव था। जैन परम्परा ऐसा भी मानती है कि दीक्षा लेने के बाद तीर्थंकर के केश और नख बढ़ते नहीं है।

यद्यपि दिगम्बर परम्परा ऋषभ के जटा-जूट को स्वीकार नहीं करती तथापि उनके साहित्य में ऋषभ की जटा-जूट वाली प्रतिमाओं की विद्यमानता के प्रमाण उपलब्ध है। यथा—

यतिवृषभ (समय वीर निर्वाण ११ शताब्दी) ने तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि ऋषभ की जटा-जूट वाली प्रतिमा पर गंगा अवतरण हुई। रविषेण (वीर निर्वाण १३वीं शताब्दी) ने पद्म-चरित्र में लिखा है कि—"वाताद्धूता जटस्तस्य रेजाकुलमूर्तयः। (३।२८८)। पुन्नाट संघीय जिनसेन (वीरात् १४वीं शती) ने हरिवंश पुराण (६।२०४) में लिखा है कि— **सप्रलम्ब जटा-भार भ्राजिष्णु।** अपभ्रंश भाषा के सुकुमाल चरित्र में लिखा है कि—

पढमु जिणवरु णविविभावेण जड-मउड विहूसिउ विसह भयणारि णासुणु। अमरासुर-णर-थुय-चलणु। सततत्व णवपयत्थ णवणयहि पयासणु लोयालोय पयासयरु जसु उप्पण्णउ णाणु। सो पणवेप्पिणु रिसह जिणु अक्खय—सोक्ख णिहाणु ।।

अतः ऋषभ के सिर पर जटा-जूट उनके कंधों पर लटकते हुए केश, और दाढ़ी-मूछों का अभाव श्वेतांबर परम्परा की पुष्टि करती है और इससे यह भी फलित होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से पार्श्वनाथ और महावीर से भी पहले इस मान्यता को मानने वाले जैनों ने इनकी स्थापनाएं की थीं।

शिव के सिर पर भी जटाजूट-कंधों पर लटकते केश, दाढ़ी मूछों का अभाव तथा योगियों के ध्यान योग्य एवं स्वयं भी ध्यानारूढ़ योगी हैं। ये सब लक्षण ऋषभ और शिव में समानरूप से इस बात की पुष्टि करते हैं कि ऋषभ और शिव ये दोनों रूप ऋषभदेव के ही दीक्षा लेने के बाद के हैं।

(३) गले और केशों के जटा-जूट में सांपों के वेष्टन

श्री ऋषभदेव ने मुनि अवस्था में देव-दानव, पशु-पक्षियों, सर्पादि विषैले प्राणियों, मानवों के बहुत उपसर्ग सहन किये थे। जिससे उनकी वीतरागता और समता के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। तथा इन्द्रियों रूप महान् सर्पों को जीत कर समभाव से आत्मा में लीन होकर तपश्चर्या में लीन हो गए थे। हमारे इस मत का समर्थन लिंगपुराण[1] ने भी किया है। यथा—

1. लिंगपुराण शिवतत्त्व (पद) की मीमांसा की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें १६३ अध्याय और ११००० श्लोक हैं। उनमें भगवान शंकर के ३८ अवतारों का वर्णन है। इसके ४७वें अध्याय के श्लोक १९ से २३ में यह उल्लेख है।

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामति. ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य महामतिः ।।१६।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।।२०।।
ज्ञाने वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियं महोरगान् ।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।।२१।।
नग्नो जटो निराहारोऽचीवरो ध्वान्तगतो हि सः ।
निराशस्त्यक्त सन्देह. शैवमाप परमपदम् ।।२२।।
हिमाद्रे र्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत ।
तस्मात् भारतवर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ।।२३।।

अर्थात्—महामति नाभि को मरुदेवी नाम की पत्नी से ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राजाओ में उत्तम था और सम्पूर्ण क्षत्रियो द्वारा सुपूजित था। ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई जो अपने सौ भाइयो मे बडा था। पुत्रवत्सल ऋषभदेव ने भरत को राज्यपद पर अभिषिक्त किया और स्वय ज्ञान-वैराग्य को धारण कर इन्द्रियरूप महान् सर्पों को जीतकर सर्वभाव से ईश्वर-परमात्मा को अपनी आत्मा मे स्थापित कर तपश्चर्या मे लग गए। वे उस समय नग्न थे, जटाधारी, निराहार, वस्त्रहीन तथा मलिन थे। उन्होने सब आशाओ (इच्छाओं) का त्याग कर दिया था। सन्देह का परित्याग कर दिया था और परम शिवपद (मोक्षपद) को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने हिमवान (हिमालय) के दक्षिण भाग को भरत के लिए दिया था। उसी भरत के नाम से विद्वान इसे भारतवर्ष कहते है।

अतः ऋषभदेव के सिर पर जटा-जूट, सर्पो तथा, शिवपद की तुलना-शिव के गले और जटा-जूट मे लिपटे हुए सापो से ऋषभ के उपसर्गों को बरदाश्त करने, मन और इन्द्रियो को वश मे करने का परिचय और समता भाव के दर्शन होते है। तथा ऋषभ के मोक्षपद प्राप्त करने के कारण उन्हे शिव के रूप मे अंकित किया गया है। अर्थात् ऋषभ को शिवरूप मे पहचाना जाने लगा।

(४) श्याम वर्ण —

शिव का श्याम वर्ण है। यद्यपि ऋषभ का स्वर्ण वर्ण है परन्तु तपस्या तथा अस्नान रहने के कारण मलिन गात्र होने से श्याम वर्ण दिखलाई देते थे।

(५) त्रिनेत्र (तीन आंखें) :

शिव के तीन नेत्र बतलाये गये है। दो उनके चेहरे पर और तीसरा मस्तक पर।

श्री ऋषभदेव के चेहरे पर प्राकृतिक दो नेत्रो के साथ उनका तीसरा नेत्र अन्तर्चक्षु केवल ज्ञान रूपी था। अथवा जिन्होने तीनो कालो (भूत, भविष्य, वर्तमान) तथा तीनों लोको ऊर्ध्व, मध्य, अधो) को विषय केवलज्ञानार्जन करने रूपी तीन नेत्रों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है। ज्ञान मस्तिष्क का विषय होने से शिव के मस्तक में तीसरा नेत्र दिखलाया गया है।

(६-७) त्रिशूल और अंधकासुर :—

जैन शास्त्रों में श्री ऋषभदेव के केवलज्ञान के सिलसिले में अनेक स्थानों पर अलंकारिक वर्णन मिलता है कि उन्होंने त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र) रूप त्रिशूल[1] से मोहनीयकर्म रूपी महासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोहरूप अन्धकासुर[1] का वध किया था। अथवा शुक्लध्यान के प्रथम तीन भेदों रूप त्रिशूल से मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय इन चार घातिया कर्मों रूप अन्धकासुर का नाश करके केवलदर्शन, केवल ज्ञान रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त किया था। मोहनीय कर्म को ही वास्तव में अन्धक असुर (अन्धकासुर) की उपमा लागू पड़ती है। मोहनीय कर्म के मूल दो भेद है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उदय से अन्तर्चक्षु रूप सम्यग्दर्शन की जीव को प्राप्ति न होने से वह मिथ्यात्व के उदय से अन्धा कहा जाता है क्योंकि ऐसे प्राणी को वस्तु के सत्य स्वरूप के दर्शन नहीं होते और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव कुचारित्र रूप असुर से ग्रसित रहता है। इसलिए श्री ऋषभदेव ने रत्नत्रय रूप त्रिशूल के द्वारा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूपी अन्धकासुर का नाश किया था। मोहनीय कर्म की २८ उत्तर प्रकृतिया (भेद) है।

इसी प्रकार शिव भी त्रिशूलधारी तथा अन्धकासुर के संहारक रूप २८ नर-कपालधारी माने जाते है। शिव की मूर्ति अथवा शिवलिंग के साथ त्रिशूल रहता है।

(८) कामदेव पर विजय :

श्री ऋषभदेवने तपस्या करके कामदेव[1] पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। शिव ने भी कामदेव का संहार किया था। क्या अन्तर है दोनों में ?

(९) नीलकंठ :

देवताओं द्वारा समुद्र मंथन से प्राप्त विष का पान करके शिव नीलकंठ कहलाये, और समुद्र के मंथन से प्राप्त अमृत का पान देवताओ को कराया।

श्री ऋषभदेव ने भी आत्ममंथन से आत्मस्वरूप रूप अमृत को प्राप्त कर उसे भव्य प्राणियों को उपदेशामृत द्वारा पान कराकर दिव्यस्वरूप प्राप्त कराया, और स्वयं आत्मसाधनाकाल में अनेक प्रकार के परिषहों तथा उपसर्गो रूपी विष का पान करके समता तथा वीतरागता का परिचय दिया।

(१०) नांदी (वृषभ-बैल) :

चौबीस जैन तीर्थंकरो के प्रत्येक को एक-एक प्रतीक चिह्न उनकी जंघा पर होता है। तीर्थंकर प्रतिमाओं पर भी ये चिह्न अंकित रहते हैं। उन्ही चिह्नों से किस तीर्थंकर की प्रतिमा है

---

1. दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल विसएहिं तीहिं णयणेहिं।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदद्ध-तिउरा मुनि-वइणो ॥२४॥
ति-रयण-तिसूलधारिय मोहधासुर-कबध-विंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्परूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥२५॥ (षट्खंडागम खंड १,१,१)

उसे पहचाना जाता है। श्री ऋषभदेव का प्रतीक वृषभ—बैल है। जंघा को शरीर की स्वारी माना गया है।

अतः शिव का वाहन भी नांदी [बैल] है और शिव के मंदिर में शिव प्रतिमा [शिवलिंग] के सामने नांदी की प्रतिमा भी होती है।

(११) एक हजार वर्ष तक तपस्वी जीवन :

पुराणों में वर्णन मिलता है कि शिव ने कैलाश पर्वत पर एक हजार [सौर] वर्षों तक तप किया था और उस समय ध्यानारूढ़ होकर योगी के रूप में स्थिर रहे।

श्री ऋषभदेव ने भी दीक्षा लेने के बाद एक हजार वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तप किया और पश्चात् चार घातिया कर्मों को क्षय कर केवलदर्शन, केवलज्ञान प्राप्त कर सर्वदर्शी सर्वज्ञ बने।

(१२) गंगावतरण :

जैन मान्यता है कि गंगा नदी हिमवान पर्वत के पद्मसरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर फिर दक्षिण की ओर बहती है। वहां गगाकूट नामक एक चबूतरे पर जटा-जूट मुकुट[1] से सुशोभित श्री ऋषभदेव की एक प्रतिमा है। सर्व प्रथम उसके जटा-जूट पर गगा की धारा पड़ती है। मानो गंगा उसका अभिषेक ही कर रही हो। इसी प्रकार शिव के लिए भी मान्यता है कि गगा जब आकाश से अवतरित हुई तो शिव की जटाओं में आकर गिरी और वहीं बहुत समय तक विलीन रही। पश्चात् वहां से निकलकर धरती पर चली।

(१३) संसार सहारक :

हिन्दू पुराणो मे ब्रह्मा को ससार का स्रष्टा, विष्णु को पालक तथा शिव को सहारक माना है।

श्री ऋषभदेव ने भी सर्व कर्मो को क्षय करके जन्म-मरण रूप ससार मे आवागमन को नाश करके शाश्वत मोक्ष को प्राप्त कर ससार का अन्त कर दिया।

शिव के जिस तृतीय नेत्र और उसके खुलने पर ससार के सहारक रूप मे कल्पना की गई है। वही ऋषभदेव का आत्मज्ञान रूप केवलज्ञान तृतीय नेत्र है। उसकी प्राप्ति (खुलने) के बाद ऋषभदेव ने जन्म-मरण रूप ससार का नाश—अन्त (संहार) किया और अजर-अमर रूप मोक्ष प्राप्त किया था।

(१४) शिव और गिरजा :

गिरजा को शिव की पत्नी कहा है। हिन्दू पुराणों में शिव का आधा अंग गिरजा को माना है। ऋग्वेद आदि ब्राह्मण साहित्य में ऋषभदेव का एक नाम शिव भी कहा है। अथवा शिव ने

1. आदि-जिण-पडिमाओ जड मउड सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरम्मि गंगा अभिसित्तु मणा व सा पडदि॥ (तिलोयपण्णत्ति ४-२३०)
सिरिगिह सीसट्ठियंबुजकण्णिय सिंहासणं जडामंडलं।
जिणमभिसित्तु मणा वा ओ दिण्णा मत्थए गंगा॥ (तिलोयपण्णत्ति ४-५६०)

ही स्वयं ऋषभ के रूप में अवतार लिया माना जाता है। गिरजा शब्द=गिर+जा से निष्पन्न हुआ है। गिर और गिरा एकार्थवाची शब्द हैं। गिरा का अर्थ है 'वाणी' और 'जा' का अर्थ है उससे उत्पन्न। अतः गिरजा शब्द का अर्थ हुआ वाणी द्वारा उत्पन्न अथवा वाणी द्वारा प्रतिपादित श्रुत-धारा-आगम। अथवा शिव आत्मा को भी कहते हैं और गिरा को ज्ञान कहा है। अर्थात् ऋषभदेव की वीतराग आत्मा और केवलज्ञान का तदात्म्य सम्बन्ध ही सर्वज्ञ-ऋषभदेव का वास्तविक स्वरूप है। और उनके मुख से मुखरित द्वादशांग वाणी संसार के प्राणियों के लिए कल्याणकारिणी है। अतः इससे ऋषभ रूप शिव का द्वादशांग वाणी रूप गिरजा का तदात्म्य सम्बन्ध बतलाकर और इससे द्वादशांग को उनकी आत्मा से अभिन्न मानकर अभिन्नता बतलाई है।

(१५-१६) **शिव को गिरजा से दो पुत्र :**

हिन्दू शास्त्रों में शिव को गिरजा से दो पुत्रों की प्राप्ति का वर्णन है। १. गणेश (गणपति) और २. कार्तिकेय (षणमुख-छह मुहवाला)।

श्री ऋषभदेव को भी उनकी द्वादशांग वाणी से दो पुत्रों की प्राप्ति हुई थी। १. गणधर (गणेश-गणपति) और षड्द्रव्यात्मक आगम।

(१५) गणेश का अर्थ है, गणों का ईश (स्वामी) तथा गणपति का अर्थ है गणों का पति (नेता)। इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ गणों का नेता-स्वामी होना है। जैनागमों में गण मुनियों के उस समूह को कहते है जो एक आचार्य के अधिपत्य में रहकर पठन-पाठन और निरातिचार चारित्र का पालन करता है। इस गण के नेता को जैन आगमिक भाषा में गणधर कहा है। जिसका अर्थ होता है मुनियों के गण को धारण करने वाला नेता। यह शब्द गणेश और गणपति का पर्यायवाची है। ये प्रत्येक तीर्थंकर के मुख्य शिष्य होते है जो अपने तीर्थंकर के मुनियो के गणों को अपनी निश्रा में लेकर उनको मुनिचर्या में व्यवस्थित, सुदृढ रखते हैं और चारित्र के पालन में सहयोगी होते है। श्री ऋषभदेव के ऋषभसेन आदि ८४ गणधर थे। जो ऋषभदेव की वाणी से बोध प्राप्त कर उनके शिष्य रूप पुत्र की संज्ञा को प्राप्त हुए थे। अतः श्री ऋषभदेव को उनकी वाणी से गणधर रूप पुत्र समूह की प्रथम पुत्र रूप में प्राप्ति हुई। जो गणेश, गणपति, गणधर कहलाये। इस प्रकार प्रभु ने मुनि संघ की स्थापना कर गुरुपद रूप पुत्र की प्राप्ति की।

हिन्दू पुराणकार गणेश को लम्बी सूड सहित हाथी के मुख वाला मनुष्य शरीरी मानते हैं। गणपति शिव का बड़ा पुत्र है और गणधर तीर्थंकर का मुख्य (बड़ा) शिष्य है। अथवा साधु को तीर्थंकर का शिष्य रूप पुत्र माना है। जैन श्रमण ब्रह्मचारी होता है अतः उसके इस अवस्था में पत्नी नहीं होती। अर्हत के शिष्यों को ही उनकी संतान कहा जाता है। गणधर राग द्वेष के विजेता होकर केवलज्ञान प्राप्त करके वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, विश्व के स्वरूप को हस्तामलकवत जानते हैं, और सामान्य केवली बनते हैं। अन्त में निर्वाण प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

कश्मीर का इतिहासकार कवि कल्हण अपने राजतरंगिणी नामक ग्रंथ में लिखता है कि 'कश्मीर में गणपति का स्वरूप इस प्रकार से माना जाता है और इसकी पुष्टि ऋग्वेद भी करता है :

१. "गणानां त्वा गणपति" (ऋग्वेद २:२३:१)

अर्थात्—गणपति अथवा गणेश शब्द का अर्थ गणों का अध्यक्ष अथवा लोकतन्त्र का राष्ट्रपति लगाया जाता है।

२. "श्लाघ्यः स एव गणवान राग-द्वेष बहिष्कृतः।
भूतार्थं कथने यस्य स्थेप्रस्येव सरस्वती॥"

अर्थात्—वही गणवान (गणपति) श्लाघनीय है, जिसकी वाणी राग-द्वेष का बहिष्कार करने वाली है तथा वह एक न्याय मूर्ति के समान भूतकालीन घटनावलियों को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि गणधर ही शिव का गणपति पुत्र है जिसे बाद मे पुराणकारो ने गज-मुख वाले गणपति के रूप मे बदल दिया। ऐसा मालूम होता है कि भारत में जब वैदिक आर्य आये थे और उन्होने ईसा पूर्व ६वीं शताब्दी के लगभग यज्ञ-योगो की प्रथा चलाई थी। उस समय जैनो के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का बहुत प्रभाव था। पार्श्वनाथ का पार्श्वयक्ष नाम का एक देव यक्ष रूप में परमभक्त था। उसकी आकृति गजमुख मानव शरीर की मानी जाती है। जहा पार्श्वनाथ का मंदिर बनाया जाता है वहा पार्श्वयक्ष की प्रतिमा भी विराजमान की जाती है। जब वैदिक ब्राह्मणो ने जैनो की प्रतिस्पर्धा मे चौबीस अवतारो की कल्पणा की तब उसी प्रतिस्पर्धा मे गणपति को भी पार्श्वयक्ष की आकृति मे बदल दिया गया। उसमें पार्श्वयक्ष की सवारी गलहरी है उसके बदले चूहे की सवारी बना दी होगी, जो हो। पुरातत्त्ववेत्ताओ को कंकाली टीलादि जैन स्तूपो तथा जैन मंदिरो के खडहरो से प्रायः गज-मुखवाले पार्श्वयक्ष की प्रतिमाए भी मिलती रहती हैं। जिन्हे वे लोग अपनी अज्ञानता के कारण ब्राह्मणीय मान्यता वाला गणेश मानकर सग्रहालयों में रखते है। इसी प्रकार इन्ही जैन स्थापत्यो के खडहरो से प्राप्त जैन यक्ष यक्षणिया, शासनदेवो—शासनदेवियों की प्राप्त मूर्तियों को भी अजैनो के देवी-देवता के रूप में मानकर सग्रहालयो के रेकार्ड तैयार करके जैन सस्कृति और इतिहास के साथ खिलवाड करके अपनी अज्ञानता का परिचय देते है। अपरच पार्श्वयक्ष की ऐसी प्रतिमाए भी मिलती है कि जिनकी मुखाकृति हाथी की लम्बी सूड वाली मानवाकृति के सिर पर सर्पफण एव कछुए पर बैठी हुई गणेशाकृति होती है, अथवा पार्श्वयक्ष की प्रतिमाओं पर कोई चिन्ह नही भी होता है।


पार्श्वयक्ष

(१६) षण्मुख

श्री ऋषभदेव ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद जो वाणी द्वारा उपदेश दिया वह, द्वादशांग वाणी के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभु ने जो अर्थ[1] से पदार्थों का स्वरूप अपनी वाणी द्वारा बतलाया, उसे उनके गणधरो ने भी प्रत्यक्ष रूप मे सुना और सुनकर उन्होने उस श्रुतधारा को सूत्र रूप में गुथन करके उन्हें द्वादश अगो में विभाजित किया। इसलिये प्रभु की वाणी द्वादशागवाणी कहलाई। इस द्वादशाग वाणी द्वारा ऋषभदेव के दूसरे पुत्र रूप आगम की उत्पत्ति हुई। इस पुत्र का नाम षण्मुख क्यो दिया गया? इसका समाधान यह है कि षण्मुख का अर्थ है छह मुह वाला। श्री ऋषभदेव की द्वादशांग वाणी में छह द्रव्यो-जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों के स्वरूप का वर्णन था अथवा सारे विश्व

1. वेद की रचना पहले मूल मे सूत्र रूप मे हुई और उसका अर्थ पीछे बाद मे किया गया जैनागमो को पहले तीर्थंकर ने अर्थरूप में और बाद में गणधरो ने सूत्र रूप मे गुथन किया।

की विचारधाराओं को षड्दर्शन में समावेश करके उनका समन्वय द्वारा सत्य स्वरूप का प्रतिपादन था। इसलिये उनका दूसरा पुत्र 'आगम' षण्मुख नाम से प्रसिद्ध[1] हुआ। आगम द्वारा प्रभू ने धर्मपद की स्थापना की। आगम को दूसरा पुत्र मानने का यह कारण है कि वाणीरूप गिरा से अर्थरूप आगम उत्पन्न होकर उसका पोषण सूत्ररूप में गणधरों ने किया। इस प्रकार ऋषभ-देव, गणधर-गुरु और आगम-ज्ञान (धर्म) तीनों देव, गुरु, धर्म के नाम से प्रसिद्धि पाये। इसलिए भी शिव-ऋषभ को त्रिनेत्र कहा गया है।

अतः १--श्री ऋषभ-देव, २--गणधर आदि मुनि गुरु तथा ३ द्वादशांगवाणी का संकलनरूप आगम शास्त्र, इन तीनों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव श्री ऋषभ से हुआ। इसलिए भी ऋषभ त्रिनेत्र हैं।

(१७) **डमरू** –शिव के हाथ में डमरू है जिसको बजाने से डिम-डिम नाद होता है। ऋषभ का अपनी दिव्य-ध्वनि नाद द्वारा भव्य जीवों को कल्याणकारी उपदेश देने का प्रतीक है।

(१८) **कैलाश-अष्टापद पर्वत**

श्री ऋषभदेव ने कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर जाकर अनशनपूर्वक निर्वाण (शिवपद) प्राप्त किया था। शिव का धाम तथा तपस्या स्थान भी कैलाश माना जाता है।

(१९) **नासाग्रदृष्टि**—शिव की भी नासाग्रदृष्टि है। योगीश्वर ऋषभदेव ध्यानावस्था में सदा नासाग्रदृष्टि रखते थे।

(२०) **पद्मासनासीन**—श्री ऋषभदेव ने कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर पद्मासन से ध्यानारूढ़ होकर शुक्लध्यान से मोक्ष प्राप्त किया। शिव भी पद्मासन में बैठे हुए दिखलाई पड़ते है।

(२१) **शिवरात्रि**—श्री ऋषभदेव ने माघ कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि को कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त किया था। कैलाश पर्वत तिब्बत की पहाड़ियों पर स्थित है। लिंगपूजा का शब्द तिब्बत से ही प्रारंभ हुआ है। तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ इन्द्र द्वारा स्थापित तीर्थ अथवा क्षेत्र हैं।[2] अतः लिंगपूजा का अर्थ तिब्बती भाषा में तीर्थ या क्षेत्र पूजा[3] है। जैनागमों के अनुसार श्री ऋषभदेव के कैलाश पर्वत पर निर्वाण होने से नरेन्द्र (चक्रवर्ती भरत) तथा देवेन्द्रों द्वारा वहां आकर उनके पार्थिव शरीर का दाह संस्कार किया था, और उनकी चिता स्थानों पर देवेन्द्रो ने तीन स्तूपों का निर्माण किया, तथा चक्रवर्ती भरत ने उन स्तूपों के समीपस्थ क्षेत्र में श्री

1. श्री ऋषभ के गृहस्थावस्था मे सौ पुत्र और दो पुत्रियां थी। परन्तु दीक्षा लेने पर उन्होंने राजपाट-परिवार आदि सब परिग्रह का त्याग कर दिया था। इसलिए अर्हत् अवस्था मे उनकी साधक अवस्था थी उस समय उनकी पुत्र (बेटे-बेटियां) आदि कोई संतान नही थी। शिव और ऋषभ की तुलना त्यागावस्था से ही की जा रही है। अत. यहा ऋषभ के कैवल्य के पश्चात् गणधर तथा आगम दो पुत्रो की तुलना की गई है।

2. जैनाचार्य जिनप्रभ सूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प में कई जैन तीर्थों का लिंग के नाम से उल्लेख किया है। यथा सिंहपुरे पाताललिंगा भिधः श्री नेमिनाथः। अर्थात् पंजाब में सिंहपुर मे पाताल लिंग (इन्द्र द्वारा निर्मित तीर्थक्षेत्र) नाम का नेमिनाथ का महातीर्थ है। (विविध तीर्थकल्प पृ० ८६ चतुरशिति महातीर्थनाम संग्रह कल्प)।

3. It may be mentioned that linga is a Tibetan word of land. The Northern most district of Bengal is called Darj-ling which means 'Thuder-er's land (इन्द्र द्वारा निर्मित क्षेत्र-तीर्थ)।

(S, K. Roy pre-Historic Indian and Ancient Egypt P. 28)

ऋषभदेव से लेकर वर्धमान महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की उन तीर्थंकरों के शरीर तथा वर्ण के अनुरूप रत्नोंमयी प्रतिमाओं वाले जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। इस प्रकार नरेन्द्र और देवेन्द्र[1] द्वारा इस तीर्थ की स्थापना हुई। तभी से (गुजराती) माघ वदि १३ को ऋषभदेव की निर्वाण रात्रि को देवों, दानवों, मानवों, देवेन्द्रों, नरेन्द्रों ने मिलकर प्रभु ऋषभदेव के निर्वाण कल्याणक की पूजा करके महाशिवरात्रि का पर्व मनाया, जो आज तक चालू है। कोई शिवलिंग के उदय (तीर्थ स्थापना) की तिथि माघ वदि १४ मानते हैं। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि श्री ऋषभदेव के निर्वाण के दूसरे दिन वहाँ जिनमन्दिर और स्तूपों की नीव रखकर तीर्थक्षेत्र की स्थापना की होगी। इसलिए महाशिवरात्री माघ वदि १३ की तथा तीर्थ स्थापना (शिवलिंग का अवतार) माघ वदि १४ की मान्यता चालू हुई। भरत चक्रवर्ती ने जिस जिनमन्दिर का निर्माण कराया था उसका नाम सिंहनिषद्या रख दिया। सिंहनिषद्या के निर्माण के बाद भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत को कारीगरों द्वारा तराश करवाकर एकदम सीधी बहुत ऊंची-ऊंची आठ सीढियों के रूप में परिवर्तित कर दिया। ताकि दुष्ट लोग तथा मतांध लोग इसे हानि न पहुंचा सकें। तब से इस पर्वत का नाम अष्टापद (आठ सीढ़ियों वाला) प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण भारत तथा गुजरात सौराष्ट्र में वहां की माघ वदि १३ को शिवरात्रि मनाई जाती है। उत्तर भारत में फाल्गुण कृष्णा (वदि) त्रयोदशी को मानी जाती है। यह अन्तर दक्षिण और उत्तर भारत के पंचांगों के अन्तर के कारण मालूम होता है। परन्तु वास्तव में दोनों की एक ही रात्रि आती है जिस रात्रि को यह पर्व मनाया जाता है। 'कालमाधवीयनागर खण्ड' इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है। जो इस प्रकार है—

"माघस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा त्रयोदशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तित.॥"

अर्थात्—दक्षिण (गुजरात सौराष्ट्र आदि) भारत वालों के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर भारत वालों के फाल्गुण मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा त्रयोदशी को शिवरात्रि कही है। यानी उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते है और दक्षिण एवं पश्चिम भारत वाले मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से मानते हैं। पश्चात् जो कृष्ण पक्ष आता है वह दक्षिण व पश्चिम भारत वालों का माघ मास का कृष्ण पक्ष होता है और वही पक्ष उत्तर भारत वालों का फाल्गुण मास का कृष्ण पक्ष होता है। इसलिए गुजराती माघ कृष्णा त्रयोदशी को ही उत्तर भारत की फाल्गुण कृष्णा त्रयोदशी को श्री ऋषभदेव का निर्वाण होने के कारण, उसी वर्ष की रात्रि से प्रारम्भ होकर आज तक उत्तर भारत की फाल्गुण वदी त्रयोदशी की रात्रि को ही महाशिवरात्रि पर्व मानने की प्रथा चली आ रही है। इसलिए इस पर्व का सम्बन्ध श्रीऋषभदेव के निर्वाण के साथ ही है। ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। शिवोपासक शैव भी इसी रात्रि को शिवलिंग की उपासना करते हैं। इससे भी ऋषभ और शिव एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

अष्टापद यानि कैलाश पर्वत[2]

प्राचीन समय से यह खोज अब तक हो रही है कि तीर्थ अष्टापद यानि कैलाश पर्वत हिमालय में कौनसी जगह है। ग्रंथों शास्त्रों में पूर्वाचार्यों ने ज्ञानरूपी विचारों से और जानकारों ने भी ऐसा

1. इन्द्र शब्द का नरेन्द्र-चक्रवर्ती और देवताओं का राजा देवेन्द्र इन दोनों के लिए प्रयोग होता है।

2. यह लेख और चित्र स्व. लाला सागरचन्द जैन सामाना वालो द्वारा लिखित उनके सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार मस्त के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

लिखा है कि यह कैलाश पर्वत हिमालय में है। जहाँ से गंगा आती है और भगवान शिव या शंकर कैलाशपति के स्थान की जगह है, जिसका पूरा पता नहीं लग सका। जैन ग्रंथों में इस पर्वत का स्थान अयोध्या की उत्तर दिशा में है जिसको हिम-प्रदेश बतलाया गया है। जैन ग्रंथों में इस पर्वत का नाम अष्टापद तीर्थ कहा गया है। मुनि श्री जयन्तविजय जी ने भी अपने एक गुजराती ग्रंथ में, जिसका नाम "पूर्व भारत नी जैन तीर्थ भूमियो" है बतलाया है कि प्राचीन जैन ग्रंथों में कैलाश के नाम से अष्टापद तीर्थ है।

अब इस पर्वत की खोज करने वाली पार्टी ने पता लगाया है कि यह पर्वत हिमालय के बीच शिखरमाला में स्थित है। उत्तर भारत के अलमोड़ा शहर से यह लगभग २५० मील दूर तिब्बत प्रदेश में है। भारत की सीमा इस पर्वत से लगभग ४०-४५ मील पर है। यह पर्वत प्राकृतिक नहीं है बल्कि किसी ने इसे काट कर तराश करके बनाया है—ऐसा मालूम पड़ता है। प्राकृतिक पर्वत उतराई-चढाई व ढलानो वाले होते है। जिनमें कुदर्ती लहरें आदि होती हैं। लेकिन यह पर्वत ऐसा नही है। अपनी शृंखला में सबसे ऊंचा है। यह कैलाश पर्वत दूर से देखने पर चारों दिशाओं से एक जैसा ही दिखाई देता है। इसके चारों ओर खदक है। पर्वत नीचे की तरफ़ चारो ओर की गोलाई में चौकोना सा और ऊपर का भाग गोल है। इस पर्वत की चोटी निचले भाग से चार, पांच हज़ार फुट ऊंची होगी। समुद्र तल से ऊंचाई २३ हज़ार फुट है।

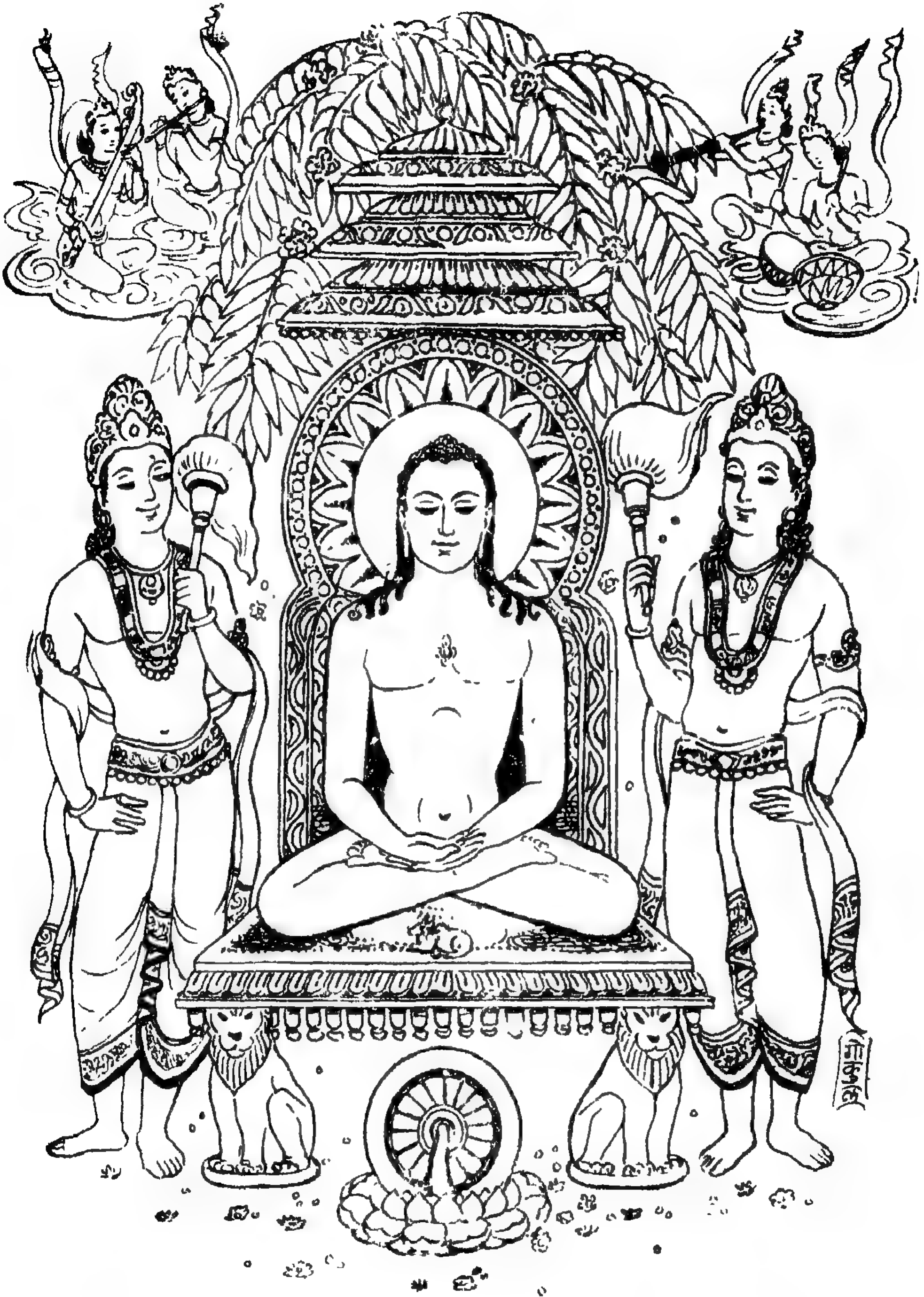
इस पर्वत की बना ट ऐसी लगती है जैसे समोसरण की रचना की हुई होती है। चारों ओर की खदक म चौबीसो घटे रुई की तरह बरफ गिरती रहती है। पर्वत चारो ओर बरफ से ढका हुआ है। पहाड़ो पर चढ़ने वाले लोग इसके नजदीक नही जा सकते। जो जाते है उन्हें चार मील दूर रुककर ही इस दृश्य को देखना पड़ता है। चढ़ना अत्यन्त कठिन है क्योकि चोटी गोल गुम्बद के समान है और हिमाच्छादित है।

शिखर के बीचोबीच कलश के समान बरफ़ मे ढका हुआ टीला सा दिखलाई देता है और अधिक ऊंचाई पर सुनहरी चमक-सी भी दिखलाई देती है। इसकी परिक्रमा ४० मील घेरे की है।

इस पर्वत को कोई कैलाश या शंकर जी का स्थान कहते है। तिब्बती लोग इसे कांगरिक पोच या बुद्ध का निर्वाण स्थान कहते है। इस पर्वत की दक्षिण दिशा में सोना व उत्तर दिशा में चांदी की खानें हैं। गर्म पानी के झरने भी काफ़ी हैं।

अलमोड़ा से पैदल चलना पड़ता है। पहुंचने में २५ दिन लगते हैं। इस पर्वत के २० मील दक्षिण में मानसरोवर झील है। इस झील की लम्बाई व चौड़ाई २०-२० मील है। थोड़ी ही दूरी पर "रक्ष" झील है जो उत्तर-दक्षिण २० मील व पूर्व-पश्चिम ६–७ मील है। मानसरोवर का पानी बहुत ही निर्मल है तथा ४०० फुट गहरा है। जब हवाओं की गति मध्यम होती है तथा लहरें उठनी बन्द हो जाती है तब झील के पानी में नीचे की जमीन का भाग दिखाई देता हैं। इस झील पर हंस आदि पक्षी काफ़ी संख्या में आते जाते रहते हैं। यहां जैन मुनि स्वामी प्रणवानन्द दो-दो साल तक रहकर आए थे, और उन्होंने अपनी पुस्तक "कैलाश एण्ड मानसरोवर" पृष्ठ १० पर इसका महात्म्य लिखा है। उसमें अष्टापद यानि कैलाश का फोटो भी साथ में दिखाया गया है।

कैलाश (अष्टापद) पर्वत तिब्बत की पहाड़ियों पर स्थित है। इसलिए लिंगपूजा का शब्द



चार मुष्टि लोच सहित केवलज्ञानी तीर्थंकर अर्हत् श्री ऋषभदेव



अष्टापद (कैलाश) पर्वत-अर्हत् ऋषभदेव निर्वाणक्षेत्र

तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ है। कैलाश (अष्टापद[1]) पर्वत की ढलान तिब्बत की तरफ है। आज भी तिब्बती लोग इस पर्वत की बड़ी श्रद्धा से पूजा करते हैं।

(२२) शिवलिंग का आकार—

जैन शास्त्रों में शिव मोक्ष को कहा गया है। लिंग का अर्थ इन्द्र द्वारा निर्मित क्षेत्र या तीर्थ है। इन्द्र द्वारा निर्मित तीर्थ के विषय में हम पहले लिख आए हैं। अब यहाँ क्षेत्र के विषय में प्रकाश डालेंगे। शिवलिंग का अर्थ 'मोक्षक्षेत्र' हुआ। जैन शास्त्रों में मोक्षक्षेत्र 'सिद्धशिला' को माना है। जो लोकाग्र भाग पर स्थित है। मुक्त जीवों का निवासस्थान इसी सिद्धशिला पर है। सिद्धशिला का आकार अर्द्धचन्द्राकार[2] अंकित किया जाता है और उस पर सिद्ध-मुक्त जीव का बिन्दु[3] का आकार अंकित किया जाता है। दोनों को मिलाकर चन्द्रबिन्दु[4] का आकार अंकित किया जाता है जैन लोग श्री जिनमन्दिर में जाकर तीर्थंकर की पूजा करते समय उनकी प्रतिमा के सामने अक्षतों (चावलों) से टिप्पणी नं० 5 में दिया हुआ आकार बनाते हैं। इस चन्द्रबिन्दु के नीचे इन तीन बिन्दुओं[6] का प्रयोजन रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का प्रतीक है। इस आकार के अंकन का प्रयोजन यह है कि सिद्धक्षेत्र (सिद्धशिला) पर विराजमान मुक्तजीव रत्नत्रय स्वरूप है। उनकी उपासना से पूजक को भी इस पद की प्राप्ति होती है। जब इस प्रतीक का अंकन प्रतिमा में किया गया तो पाषाण खण्ड में टिप्पणी नं० 7 मे दिया हुआ आकार बनाना पड़ा। कारण यह था कि बिन्दुरूप मुक्तजीवों के आकार को अर्द्धचन्द्राकार रूप सिद्धशिला मे बिना आधार के ऊचा रखना असम्भव था, और रत्नत्रय रूप तीन बिन्दु सिद्धशिला के आकारके नीचे अलग बनाना भी असम्भव होने से मुक्त जीवरूप लिंग पर ही तीन रेखाओं के रूप में अंकन करके शिवलिंग का रूप दे दिया गया। अब यह प्रश्न होता है कि अर्द्धचन्द्राकार पर बिन्दु न बनाकर लम्बूतरा आकार क्यो बनाया गया? इसका

---

1. ई० स० १९५१ से १९५६ के वर्षों मे नागपुर निवासी एक बोहरा जाति के जैन जो hills forest contractor थे। तिब्बत मे मानसरोवर तक गये थे। वहा पर जाकर उन्होने अष्टापद पर्वत के फोटो खींचे थे और एक परिपत्र मे वहा का अपनी आखो देखा विवरण इस असली फोटो के साथ प्रकाशित कर अनेक विद्वानो, जैनसघो को भेजा था और अनेक जैनपत्रो ने इसे प्रकाशित भी किया था। इस फोटो को देखते ही लगता था कि पर्वत वास्तव में ही जैन साहित्य मे वर्णित अष्टापद है। पहाड़ प्राकृतिक या नैसर्गिक नहीं है किन्तु मानवीय हाथों ने इसे घड़ा है ऐसा लगता है। चक्रवर्ती भरत द्वारा बनाई आठ सीढ़ियां और सगर चक्रवर्ती के बेटो द्वारा बनाई खाई भी विद्यमान है। उसने एक परिपत्र मे यह भी लिखा था कि सूर्य की धूप मे यह पहाड़ बरफ से ढका होने पर भी सुनहरी नजर आता है। तेज हवाओ के साथ बड़ी अजीब सी घटियो की आवाजें सुनाई पड़ती है। इन्ही परिपत्रा के आधार से स्व० लाला सागरचन्दजी जैन समाना वालों ने इस पर्वत के विषय मे उर्दू भाषा मे एक लेख लिखा था जिसका हिन्दी रूपातर उनके सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार जी मस्त के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। अत इसे यहा अक्षरश: दिया गया है।

2. 

3. 

4. 

5. 

6. 

7. 

कारण (समाधान) यह है, कि जीव को मानव शरीर से ही मुक्ति होती है और मानव का शरीर बिन्दु के समान गोलमटोल नहीं होता। वह ऊँचे लम्बूतरा आकार लिए होता है।

इस लिये ऐसा आकार बनाया जाता है। दूसरी बात यह है कि शिवलिंग का प्रतीक श्री ऋषभदेव का पद्मासन स्थित आकार अतदाकार स्थापना है (अतदाकार का अर्थ है-मानव की सांगोपांग आकृति से भिन्न आकार)। पद्मासनासीन मानव का शरीर गोलमटोल नही होता, किन्तु लंबूतरा होने से लिंग का आकार भी लम्बूतरा रखा गया है। तदाकार स्थापना तीर्थंकर की सांगोपांग मनुष्याकृति की प्रतिमा है। श्री ऋषभदेव का निर्वाण (मोक्ष) पद्मासन में बैठे हुए ध्यानावस्था में हुआ था। इस लिये इसी आकार से ऋषभदेव की मुक्तात्मा सिद्धशिला पर विराजमान होने से शिवलिंग का लंबूतरा आकार बनाया गया था। यह भी उल्लेख है कि सिद्धशिला के ऊपर सिद्ध का जीव अधर रहता है, साथ सट कर नही रहता। यही कारण है कि जिनमंदिर में पूजा करते समय चावलों का पृ. ४६ टिप्पणी 5 का आकार बनाकर सिद्ध जीव के प्रतीक रूप बिन्दु को अर्द्धचन्द्राकार सिद्धशिला से अधर बनाया जाता है। परन्तु पाषाण प्रतिमा में ऐसा सम्भव नही है। हम लिख आये हैं कि तिब्बती भाषा में **लिंगपूजा का अर्थ क्षेत्रपूजा है**। कैलाश तिब्बती क्षेत्र में है और श्री ऋषभदेव का निर्वाण भी तिब्बती पर्वत श्रृंखला की अति उत्तिंग चोटी (अष्टापद पर्वत) पर हुआ था। तिब्बती लोग कैलाश पर्वत को प्राचीन काल से ही अति पवित्र मानते आ रहे है। जिसे वे लिंग पूजा कहते हैं। शिव भक्त भी लिंग पूजा करते हैं। आर्यों के यहां आने से पहले लिंग पूजा से सिद्ध की पूजा का ही आशय[1] था किन्तु जब शैवधर्म तांत्रिकों के हाथो में पड़ गया तब लिंग 'क्षेत्र' के अर्थ में न रहकर पुरुष की जननेन्द्रीय के अर्थ में लिया जाने लगा। इतना ही नही किन्तु उन्होने पर्वत पर तपस्या के फल स्वरुप प्राप्त हुई आत्मसिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतत्र स्त्री के व्यक्तित्व का रूप दे दिया और उस स्त्री की जननेन्द्रीय में पुरुष जननेन्द्रीय को स्थापन करके इस नई आकृति को शिवलिंग की संज्ञा दे डाली। आत्मसिद्धि रूप द्वादशांग जिनवाणी से प्राप्त गणपति (गणधर) तथा षण्मुख (षड् द्रव्यात्मक) रूप जैनागमरूप संतति द्वय को क्रमश. हाथी की सूंड वाले लम्बोदर गणेश तथा छह मुह वाले कार्तिकेय की मानव आकृतियो का रूप देकर शिव और पार्वति की संतान रूप कल्पना कर डाली तथा संसारसंहारक शिव के शिवलिंग को जननेन्द्रीय रूप में कल्पणा करके संसार सर्जक बना डाला। ये सारी बातें शिव (ऋषभ) के चरित्र के विपरीत बनाकर शिव लिंग का स्वरूप विकृत बना दिया गया।[2]

(२३) शिवलिंग पर तीन रेखाएं —

श्री ऋषभदेव की आत्मा निर्वाण के पश्चात् सिद्धशिला पर सिद्धावस्था मे रत्नत्रय स्वरूप मे स्थित है। इस लिये सिद्धावस्था के प्रतीक रूप रत्नत्रय की तीन रेखाएं लिंग पर अंकित की जाती है। अतः शिवलिंग का आकार वास्तव में पृ० ४६ में टिप्पणी नं. 7 के समान था।

---

1. In fact Shiva and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long long before the Aryans came.

   (K. M. pannker A survey of Indian history P. 4)

2. शिवलिंग का वर्त्तमान स्वरूप संभोग का प्रतीक होने से जैन दृष्टि से पूजने योग्य नहीं है।

(२४) चतुर्मुख शिव—

शिवलिंग पर जटाजूटधारी शिव की चारमुख वाली मूर्तियां भी पुरातत्त्व संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ऐसी एक प्रतिमा लखनऊ के पुरातत्त्व संग्रहालय में भी सुरक्षित है। श्री ऋषभ देव आदि सब तीर्थंकर जब समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश देते हैं, उस समय उनके चारों तरफ एक-एक (चार) मुख दीख[1] पड़ते हैं।

(२५) शिव और मृगचर्म

शिव की कतिपय मूर्तियों और चित्रों में बायें कन्धे से लेकर कटि तक मृगचर्म भी अंकित होता है। श्री ऋषभदेव ने जब मुनि दीक्षा ग्रहण की थी तो प्राचीन जैनागमों के अनुसार लगभग १ वर्ष तक उनके बांयें कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र रहा था तत्पश्चात् वस्त्र न रहने से वे नग्न रहे। इस देवदूष्य वस्त्र ने शिवोपासना तांत्रिकों के हाथों पड़ जाने से शिव मूर्तियों पर मृगचर्म अंकन का स्थान प्राप्त कर लिया।

(२६) शिव और ऋषभ की पूजा विधि में एक रूपता—

अग्नि पुराण में शिव की पूजा का विधान इस प्रकार किया है—

पत्रैः पुष्पैः फलैर्वापि जलैर्वा विमलैः सदा।
कनवीरैः पूज्यमानः शंकरो वरदो भवेत्॥

अर्थात् पत्र, पुष्प, फल, निर्मल जल, सुगन्ध नैवेद्य आदि से शिव की पूजा करने से वरदाई होता है। इसी प्रकार श्री ऋषभादि अर्हंतों की पूजा भी जल, सुगंध, पुष्प, फल, नैवेद्य आदि अष्ट द्रव्यों से होती है।

(२७) ऋषि पंचमी, यह ऋषभ पंचमी होनी चाहिये

भादों सुदि पंचमी जैनेतरों में ऋषि पंचमी के रूप में सर्वमान्य है। जैन परंपरा में यह पंचमी सांवत्सरिक पर्व मानी जाती है। जैन परम्परा में यह पर्व सर्व पर्वों में उत्तम, उत्कृष्ट और आध्यात्मिक होने के कारण पर्वाधिराज माना जाता है। यही पर्व वैदिक ब्राह्मण परम्परा में ऋषि पंचमी के रूप में अति पवित्र माना जाता है। यह पंचमी किसी एक अथवा अनेक वैदिक परम्परा के ऋषियों की स्मृति रूप में मनाई जाती हो, इस का कोई विवरण (प्रमाण) उपलब्ध नहीं है। दूसरी तरफ जैन (आर्हत्) इसी पंचमी को सावत्सरिक पर्व मान कर इसे महापर्व से नामांकित करते हैं। इसदिन सर्वोत्तम आध्यात्मिक जीवन का अनुभव करने के लिये मुमुक्षु प्रयत्नशील रहते हैं। मुझे लगता है कि जैन और वैदिक परम्परा के जुदा-जुदा नाम के एक ही दिन में मनाये जाने वाले दोनों पर्व भादों सुदी पंचमी को मानने की मान्यता किसी समान तत्त्व में है और यह तत्त्व मेरी दृष्टि से ऋषभदेव के स्मरण के लिये है। एक अथवा दूसरे कारण से वैदिक आर्य जाति में ऋषभ-

1. जैन शास्त्रों में वर्णन है कि तीर्थंकर केवलज्ञान पा लेने पर स्वयं देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण (व्याख्यान मंच) पर पूर्व दिशा में मुख करके बैठते हैं तथा दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन दिशाओं में उस तीर्थंकर के देवता ऐसे प्रतिबिम्बों की रचना कर विराजमान कर देते हैं जो साक्षात् तीर्थंकर ही मालूम पड़ते हैं। तब प्रभु चतुर्मुख मालूम पड़ते हैं।

देव का स्मरण चालू था। इस लिये भादों सुदि पंचमी पर्व सामान्य रूप में इसे वैदिक आर्य जाति भी मानती थी। जैनागमों में वर्णन है कि इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम भादों सुदि पंचमी को आध्यात्मिक शुद्धि का रूप देकर इस दिन को सांवत्सरिक पर्व के रूप में चालू किया। वास्तव में इस ऋषि पंचमी के नाम में ही ऋषभ की ध्वनि समायी हुई है। ऋषभ पंचमी ही शुद्ध नाम होना चाहिये। और इसी का ही अपभ्रंश रूप ऋषि पंचमी नाम प्रसिद्ध है। यदि यह बात ठीक हो तो जैन-जैनतर दोनों वर्गों में प्राचीन काल से चली आने वाली ऋषभ की मान्यता की पुष्टि होती है।

इस प्रकार ऋषभ और शिव के रूप में जो अद्भुत समानता दिखलाई पड़ती है, वह संयोगमात्र अथवा आकस्मिक नहीं है, बल्कि लगता है कि दोनों व्यक्तित्व पृथक-पृथक नहीं हैं। इन्दौर आदि कई म्युजियमों में योगलीन शिवमूर्तियों को और ध्यानलीन ऋषभ की मूर्तियों को देखने से ऋषभ और शिव की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव का चारित्र जो ब्राह्मणीय पुराणों में अलंकारिक भाषा में वर्णित है, यदि इस परत को हटाकर चारित्र की तह में झांकें तो वे ऋषभदेव दिखलाई देने लगेंगे। अतः यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिव नाम मात्र से ही भिन्न है, वस्तुतः भिन्न नही है। इसी लिये शिव पुराण ७/२/९ में २८ योगावतारो में नवां अवतार ऋषभदेव को स्वीकार किया है।[1]

(२८) जैनागमों में ऋषभदेव का एक नाम ऋषभध्वज भी कहा है और वेदो में शिव का एक नाम ऋषभध्वज भी है।

यह कहना अनुचित न होगा कि ऋषभदेव को ही अर्हत् और शिव के रूप मे प्राग्वैदिक काल से ही भारतवासियों ने अपना आराध्यदेव स्वीकार करके ऋषभदेव की सांगोपांग पुरुषाकार की तदाकार स्थापना द्वारा तथा अतदाकार शिवलिंग पृ० ४९ की टिप्पणी न० 7 के आकार द्वारा उपासना का माध्यम बनाकर आत्मकल्याण की साधना की। शिवलिंग का वर्तमान प्रचलित स्वरूप स्त्री-पुरुष की जननेंन्द्रियो द्वारा सभोग का प्रतीक हो जाने से जैन दृष्टि से पूजनीक नहीं है। क्योंकि यह विकृत रूप है।

सारांश यह है कि यह बात निर्विवाद है—जैनधर्म जिसको ऋग्वेद में आर्हत् धर्म के नाम से-कहा है, भारतवर्ष की अपनी मूल और आस्तिक संस्कृति है। प्राग्वैदिक तथा प्रागैतिहासिक काल से भी अति प्राचीन है और इसका स्वतंत्र संस्कृति के रूप में प्रादुर्भाव हुआ है जिसकी कालगणना अंकों की सीमा से बाहर है। यह धर्म न तो विश्व की किसी सस्कृति के विरोध में अथवा किसी संस्कृति की शाखा रूप उत्पन्न हुआ है और न ही किसी का रूपांतर है। आर्हत् सस्कृति आध्यात्म प्रधान है और विश्व को भारत की देन है जो प्राग्वैदिक काल से विश्व ने अपनाई जिससे विश्व के सब देशों में इसका सर्वव्यापक प्रचार तथा प्रसार हुआ। जब वैदिक आर्य लोग भारत आये उस समय आर्हत् संस्कृति फल-फूल कर सर्वजनहिताय हो रही थी। इसलिये वेदो, स्मृतियों, पुराणो उपनिषदों में भी इस संस्कृति को सर्वोच्च स्थान मिला। विक्रम की सातवी शताब्दी तक आर्हत् संस्कृति सारे विश्व में प्रसारित रही।

शिव को शंभू भी कहते हैं। शंभू दो अक्षरों के मेल से बना है—शं+भू=शंभू। 'शं' का

1. पं० सुखलाल कृत दर्शन और चिंतन।

अर्थ है सुख के लिये। भू के अन्य पुरुष रूप भवति से होने वाले अर्थात् स्वभाव वाले। इस अर्थ को लेकर शंभू सुख के दाता हैं। शिव का नाम शंकर भी है। शं करोति इति शंकरः अर्थात् सुख को करने वाले शंकर। अतः शिव, महादेव, शंकर और जिनेश्वर ऋषभ सब एकार्थवाची हैं।

जैनधर्म की सर्वव्यापकता

जैनधर्म मात्र भारत में ही नहीं, किन्तु तुर्किस्तान, नेपाल, भूटान, ब्रह्मा, अफ़ग़ानिस्तान, चीन, महाचीन, ईराण, इराक, पर्शिया, कोचीन, तिब्बत, अरब, लंका, आस्ट्रेलिया, काबुल, कम्बोज (पामीर), कपिशा (बेग्राम), शकस्तान आदि अनेक विदेशों में भी इसके प्रसार के उल्लेख व स्मारक मिलते हैं। यहां पर कतिपय देशों में जैनधर्म के प्रसार का विवरण देते हैं। इससे हम जान पायेंगे कि प्राचीन समय में जैनधर्म का सारे विश्व में प्रसार व प्रभाव था।

(१) तुर्किस्तान (टर्की) में जैनधर्म—

इतिहासकारों का कथन है कि तुर्किस्तान में भारतवर्ष की सभ्यता के जो चिन्ह मिले हैं, उससे सूचित होता है कि किसी जमाने में यह देश विद्या वृद्धि में विशेष उन्नत था। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय सभ्यता के जितने पुराने चिन्ह तुर्किस्तान में मिले हैं उतने स्वयं भारत में भी अभी तक नहीं मिले। आज से लगभग १०० वर्ष पहले तुर्किस्तान के पूर्वी भाग के किसी स्थान पर जमीन खोदते समय वहां जमीन में पड़ी हुई एक पुस्तक मिली थी, वह वृक्ष की छाल पर लिखी हुई थी। अंग्रेज रेजिडेण्ट ने उस पुस्तक को मोल लेकर कलकत्ता भेज दिया था। हार्नल साहब ने उसे पढ़कर उसपर एक निबन्ध लिखा। इससे मालूम हुआ कि यह गुप्तकालीन देवनागरी लिपि में है। विषय उसका वैद्यक है। यह पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी है। कई स्थानों से भूमि को खोदने से हस्तलिखित ग्रंथ मिले हैं जो १७००, १८०० वर्ष पुराने है। प्राकृत संस्कृत के ग्रंथ ताड़पत्र, भोजपत्र, काष्ठ, चमड़े आदि पर लिखे हुए हैं। इनमें अधिकतर खोराष्टी लिपि तथा प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं। यह बात सर्व विदित है कि जैन शास्त्रों की रचना प्राचीनकाल से ही प्राकृत भाषा में होती रही है अतः यहां से प्राप्त ग्रंथ जैनधर्म सम्बन्धी ही होने चाहिये, विद्वानों के इनके शोध-खोज, पठन-पाठन से जैनधर्म के इतिहास पर सुन्दर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। इन ग्रंथो को जापानी, जर्मनी, फ्रांसीसी और अंग्रेज लोग जिसके हाथ जो पड़ा वह अपने-अपने देशों में ले गए। प्राकृत भाषा के ग्रंथ मिलने से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में इस देश में जैनधर्म का व्यापक अस्तित्व रहा होगा। किन्तु आज तो वहां जैनों का तथा जैन स्मारकों का सर्वथा अभाव है।

इस देश में इस्तम्बोल नगर से ५७० कोस की दूरी पर तारातम्बोल नामक एक बहुत बड़ा नगर था। वहां विक्रम की १७वीं शताब्दी तक बड़े-बड़े विशाल जैन मन्दिर, जैन पौषधशालाएं, उपाश्रय लाखों की संख्या में जैनधर्मानुयायी चतुर्विध श्रीसंघ तथा संघाधिपति जैनाचार्य अपने शिष्यों प्रशिष्यों के मुनि समुदाय के साथ विद्यमान थे। आचार्य श्री का नाम उदयप्रभ सूरि था, वे युग-प्रधान थे। वहां का राजा तथा सारी प्रजा जैनधर्मानुयायी थे। समय समय पर वहां अनेक देशों से जैन लोग यात्रा के लिये जाते थे। भारत से वहां जाने वाले अनेक यात्रियों के उनके यात्रा विवरण सम्बन्धी हस्तलिखित पत्र भारत के अनेक जैनशास्त्र भंडारों में सुरक्षित हैं। यहां पर ऐसे एक पत्र का संक्षिप्त विवरण देते हैं। उस समय भारत में मुग़ल सम्राट शाहजहां का राज्य था। विक्रम संवत्

१६८३ को तारातंबोल की यात्रा से वापिस लौटकर मुलतान (पंजाब) के जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक श्रावक ठाकुर बुलाकीदास ने अपनी यात्रा का संक्षिप्त विवरण किसी मित्र अथवा कुटुम्बियों को लिखा है। वह पत्र राजस्थानी भाषा में लिखा है। जो दिल्ली की रूपनगर कालोनी में स्थित जैन श्वेतांबर श्री शांतिनाथ जी के मन्दिर में विद्यमान हस्तलिखित शास्त्र भंडार में सुरक्षित है।[1] "तहां **इस्तम्बोल** नगर बसे छै, तिहां थी ५०० कोस **बब्बरकोट** छै, तिहां थी ७० कोस **तारातंबोल** छै। पिच्छिम दिस समिंदर कांठी नीड़ौ छै। तठे जैन **पड़ासाद** (प्रासाद-मन्दिर), **पौषधसाल** (उपाश्रय), **सुतपत्र** (शास्त्र भंडार) अनेक मंडन मांहें प्रथाव (विस्तार) छै। **श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी** अनेक मंडन (मकानों) मांहें छै। तिहां **उदयप्रभ सूरि युगप्रधान** जति (आचार्य) छै। "**तठे सब प्रजा-राजा जैन छै**।" (यति श्वेतांबर मूर्तिपूजक परम्परा के साधु का पर्यायवाची शब्द है)।

(२) ई. स. १९२६ (वि. स. १९८३) में श्रीयुत एन. सी. महता ने ""**स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग**" नाम की पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें उसने एक जर्मन पुस्तक के आधार पर लिखा है कि चीनी तुर्किस्तान में जो अनेक स्थानों में प्राचीन चित्र मिलते है उनमें जैनधर्म से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएं भी चित्रित है।[2] (वबियान बेली)

२. **अफ़ग़ानिस्तान में जैनधर्म**—अफगानिस्तान की सीमाएं—

उत्तर में रूस राज्य, पश्चिम में जुलपुकर, पूर्व मे लेक विक्टोरिया और यही इसका उत्तरी सीमांत है। पूर्वसीमात प्रदेश चित्राल मे लगा हुआ है और दक्षिण में बिलोचिस्तान है। अफ़ग़ानिस्तान मे कई पर्वत हैं, जिनमें हिन्दूकुश, कोहबाबा और सफेदकोह प्रधान है। आक्सस, हेलमन्द और काबुल नदियां अफगानिस्तान से होकर बहती है।

अफगानिस्तान में भी जैन मन्दिर तथा जैनधर्म को मानने वाले थे। इस बात की पुष्टि के लिए हम ऐतिहासिक प्रमाण भी देते हैं। प्राचीनकाल में अफगानिस्तान गांधार देश में ही सम्मिलित था। इसका प्राचीन नाम आश्वकायन भी उपलब्ध है। वहा सिरपर तीन छत्रों सहित ऋषभदेव की खड़ी मूर्ति जो १७५ फुट ऊची थी और उसके साथ २३ अन्य तीर्थंकरों की छोटी प्रतिमाएं पहाड़ को तराश कर बनाई गई थी। इन मन्दिरों मे आसपास के तथा दूर-दूर के लोग यहां यात्रा करने आते थे।

(३) बौद्ध चीनी यात्री हुएनसाग ने ईस्वी सन् ६८६ से ७१२ तक भारत में भ्रमण किया था। वह अपनी यात्रा विवरण में लिखता है[3] कि—"कपिश देश में १०० सघाराम हैं। उनमें ६००० बौद्ध भिक्षु निवास करते हैं। जो प्रायः महायान सम्प्रदाय के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। यहां **दस के करीब देवमन्दिर**[4] और एक हजार के करीब अन्य मतावलम्बियों के मन्दिर भी है। यहां निर्ग्रन्थ

1. हस्तलिखित प्रति नं० A. ५४/१४ पृष्ठ १४२
2. C. J. Shah Jainism in Northern India London. 1932 p. 194
3. Buddhist record of western world translated from the Chines of Hiuen Tsiang by Samual Beal. 2 Vols London 1884 Vol I.P.55.
4. हुएनसांग ने अपने यात्रा विवरण में सब जगह जैनमंदिरो का उल्लेख देवमंदिरों के नाम से किया है। इस बात की पुष्टि उसके "सिंहपुर के जैनमंदिर" के उल्लेख से होती है।

(जैन मुनि) भी मिलते हैं ।

कपिश देश अफगानिस्तान के अन्तर्गत है। इसकी राजधानी कपिशा थी । कपिशा को वर्तमान में बेग्राम भी कहते हैं । यह कम्बोज के दक्षिण दिशा में है । यहां कपिश नामांकित शिलालेख प्राप्त हुए हैं । कम्बोज को पामीर भी कहते है । यह भी उत्तरापथ में पड़ता है । जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र की नेमिचन्द्राचार्य कृत वृत्ति (११:१६ पत्र १६६/२) तथा राजप्रश्नीय सूत्र (कंडिका १६० पत्र ३०१) में कम्बोज का उल्लेख मिलता है । वैदिक इंडेक्स भाग एक में लिये गए नक्शे में कम्बोज को गांधार के उत्तर में दिखाया गया है । यह पामीर की मध्य ऐशिया स्थित अधित्यका है । कम्बोज के पूर्व तारिम नदी है, उसीके समीप कक्षार नदी है।

३. पर्शिया और मिस्र में जैनधर्म

प्राचीनकाल में यहां पर भी जैनधर्म का प्रसार था। प्रो० ए० चक्रवर्ती vol vii पृ. १२४, १२५ में लिखते हैं कि—

In Persia there were two ZOROASTERS. Former lived about 6000 B. C. and other about 500 B. C. Former represented the early Aryans in Central Asia. These proclaimed that it was necessory to propitiate God by sacrificing animals. But the second ZOROASTER proclaimed a bloodless alter and attempted to destroy the teaching of the first. this clearly proves that the second ZOROASTER was already under the influence of the cult of Ahimsa preached by the fallowers Parsava Mitras in persia also was associated with a bloodless alter. (Pro. A. Chakrawarti)

देश का नाम—Mystical group Israch were also Influence by the ascoties who were called GYMNOSOPHISTS who were preaching in Alexandria in Egypt. Encyclopedia Britanica vol 25. 11th Edn proves GYMNOSOPHISTS used already by Megasthenese applies, very apply to Nirgranthas Travellers (Jain Munies) must have travelled upto Egypt. Preaching Ahimsa, They must have influence these people because they considered abolition from meat eating and drinking wine as important eithical aspect of their religion (Pro. A. chakarwarti vol vii P. P. 124. 125)

The Egyptian philosophy do betroy Jain influence. (Confluence of opp.)

४. काबुल ईरान आदि देशों में भी जैनधर्म का प्रसार था । वर्तमान काल में भी वहां से अनेक बार जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं मिलती रहती हैं । हम आगे चलकर प्रसंगोपात इस पर प्रकाश डालते रहेंगे ।

५. लंका में जैनधर्म—यहां पर भी जैनधर्म का सर्वत्र प्रचार व प्रभाव था। आज भी यहां जैनधर्म के अवशेष, स्मारक, तथा तीर्थंकरों की प्रतिमाएं प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। विक्रम की १४ वीं शताब्दी में हो गये जैनाचार्य जिनप्रभ सूरि ने अपने चतुरशिति (८४) महातीर्थ नामक कल्प में यहां श्री शांतिनाथ तीर्थंकर के महातीर्थ का उल्लेख किया है । यथा—

"लंकायाँ, पाताल-लंकायां श्री शांतिनाथ: [1]"
अर्थात् लंका में, पाताललंका में श्री शांतिनाथ का महातीर्थ है।

The ruling monarch of Cylon built a Vihar and a monastray for Nirgranthas in 3rd century B. C. (On the Indian sect of Jain P. 15)

अर्थात्—ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लंका के राजा ने जैन मंदिर तथा निर्ग्रंथों (जैन साधुओं) के लिये धर्मशाला (उपाश्रय) बनाये थे।

इस से स्पष्ट है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लंका का राजा जैनधर्मी था।

६- भूटान, नेपाल, तिब्बत, तातार, हिमालय के आंचल में चीन आदि देशों में भी जैन धर्म का खूब विस्तार था। वहां पर जैनमंदिर, जैनतीर्थ, जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां, जैनस्मारक आदि; जैन राजा, जैन प्रजा, जैन साधु-साध्वियां बहुत संख्या में विद्यमान थे। समय समय पर इन स्थानों के तीर्थों, मंदिरों की यात्रार्थ भारत, भूटान आदि देशो से जैन लोग जाते आते रहे है।

वि० सं० १८०६ में दिगम्बर जैनी क्षत्रीय लामचीदास गोलालारे ब्रह्मचारी भूटान देश से जैन तीर्थों की यात्रा के लिये पैदल चला और यात्रा से वापिस लौटकर उसने अपनी यात्रा के विवरण में अपनी आंखों देखा हाल लिखकर उसकी १०८ प्रतियां भिन्न-भिन्न दिगम्बर जैन शास्त्र भंडारों में सुरक्षित की।[2]

इस पैदल यात्रा में जहां-जहां वह पहुच पाया और मंदिरों आदि के दर्शन किये-वहां वहां का आंखों देखा विवरण लिखा है जो इस प्रकार है—

७-कोचीन मुल्क की सीमा पर बहावल पहाड़ की घाटी पर कोस २५० गये। इस पहाड़ पर बाहुबली (प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र) की प्रतिमाएं खड़े योग (कायोत्सर्ग) मुद्रा में बड़ी बड़ी ऊंची जगह-जगह पर हैं। (बाहुबलि का राज इसी क्षेत्र में था जिस की राजधानी तक्षशिला थी)।

८-कोचीन मुल्क के बोवमदेश-होवो नगर-इस देश मे कई नगरों में आमेढना (जाति) के जैनी हैं। इनकी प्रतिमाएं सिद्ध (तीर्थंकर के निर्वाण कल्याणक) के आकार की हैं।

९-चीन मुल्क के गिरगमदेश,ढांकुल नगर मे यात्री गया। इस देश के राजा की राजधानी भी इसी नगर मे है। यहां के राजा तथा प्रजा सब जैन धर्मानुयायी हैं। ये सब लोग तीर्थंकर की अवधिज्ञान की प्रतिमाओ का पूजन करते हैं। इन्ही प्रतिमाओ की मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान की भी पूजा करते हैं। (च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान इन चार कल्याणकों की अथवा गृहस्थ, छद्मस्थ साधु तथा तीर्थंकर अवस्थाओं की पूजा करते हैं)।

१०-चीन मुल्क के पंकिन नगर में यात्री आया वह लिखता है कि इस राज्य के आधीन १-तातार, २- दोनों तिब्बत, ३-कोरिया, ४-महाचीन, ५-खास चीन, ६-कोचीन तथा ७-अनेक टापू हैं। यहां सैकड़ों विद्यामंदिर हैं। इस क्षेत्र में कहीं-कहीं जैनधर्मानुयायी भी आबाद है। यात्री इस क्षेत्र में एक वर्ष तक घूमा। इन सब देशों में आठ तरह के जैनी हैं। खास चीन में तुनावारे (जाति के) जैनी है।

1. सिंघी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित, जिनप्रभ सूरि कृत विविध तीर्थकल्प पृ० ८६।
2. तिजारा (राजस्थान) में जैनशास्त्र भंडार में सुरक्षित लामचीदास द्वारा लिखित विवरण वाली प्रति से यह विवरण दिया है।

११-कोरिया चीन में—(१) पातके (२) बघेलवाल (३) बाघानारे(जातियों के) जैनी हैं।

१२-तिब्बत में—सोनावारे (जाति के) जैनी हैं।

१३-महाचीन में—जांगड़ा (जाति के) जैनी हैं।

१४-कोचीन में—पमेकना (जाति के) जैनी हैं।

१५-पेकिन शहर में—तुनावारे (जाति के)जैनियों के ३०० जिनमंदिर हैं। ये सब मंदिर शिखरबंध हैं, सब जड़ाओ जड़े हैं। जिन प्रतिमाएं खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा पद्मासन में हैं। इन का एक हाथ सिर पर लोच कर रहा है (ये दीक्षा कल्याणक की प्रतिमाएं हैं)। मंदिरों में सोने के चित्राम हो रहे हैं। छत्र हरे-पन्ने, मोतियों के डिब्बेदार हैं। सोने चांदी के कल्पवृक्ष बन रहे हैं। मंदिरों में वन की रचना भी बहुत है। क्योंकि दीक्षा समय के सूचक हैं (तीर्थंकर सदा वन में जाकर दीक्षा ग्रहण करते है)। यहां के जैनियों के पास जो आगम है वे चीन की लिपि में हैं। खूब धर्म का उद्योत हो रहा है।

१६-तातार देश के सागर नगर में यात्री गया। यहा के जैनमंदिर पातके तथा बघेलवाल (जाति के) जैनियों के है। जिनबिम्ब बहुत ही मनोहर हैं। इन प्रतिमाओं का आकार ३॥ गज ऊंचा और १॥ गज चौड़ा है। सब जिनबिम्ब चौथेकाल (चौथे आरे) के अन्त समय के हैं। इन प्रतिमाओं के दोनों हाथ ऊंचे उठ रहे हैं। पातके जैनी तो यह कहते हैं कि ये (तीर्थंकर) उपदेश दे रहे हैं। दोनों हाथ उठाकर सदाकाल उपदेश दे रहे हैं। बघेलवाल जैनी कहते हैं कि ये तीन भवन के ईश्वर हैं। समवसरण में दोनों हाथ उठाकर भव्यजीवों को संबोधित करते हैं (केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद तीर्थंकर समवसरण में देशना देते हैं)।

१७- छोटे तिब्बत के मुंगार देश में बरजंगल नगर में यात्री गया। वहां बाघानारे (जाति के) जैनी हैं। इस नगर में जैनियों के ८००० घर हैं। तथा २००० बहुत सुन्दर जैनमंदिर बने हैं। मंदिरों के गुंबज कही तीन, कहीं पांच, कहीं सात हैं। एक एक मंदिर पर कलश सौ-सौ, दो-दो सौ विराजते हैं। इन मंदिरों में अरिहंत की माता अथवा श्री ऋषभदेव की माता मरूदेवी के बिम्ब विराजमान हैं। इन मंदिरों में रत्नों और पुष्पो के बरसने के चिन्ह छत्तों में अंकित हैं। तीर्थंकर के अपनी माता के गर्भ में आने के स्वप्नों के चित्राम भी हो रहे हैं। फूलों की शैया पर माता लेट रही है। ये लोग गर्भावस्था (च्यवन कल्याणक) की पूजा करते है।

१८-यात्री तिब्बत के एरूल नगर में गया। इस देश में जैनी राजा राज्य करता है। वहां के जैनी मावरे (जाति के) है। इस शहर में एक नदी के किनारे पर २०००० (बीस हजार) जैन मंदिर हैं। यहां जेठ बदि १३, १४ को[1] बड़ी- बड़ी दूर से यात्री यात्रा करने के लिये आते हैं। बड़ी धूमधाम होती है। इस नदी के किनारे पर संगमरमर पर सुनहरी काम वाले पत्थरों का मेरुपर्वत बना हुआ है। वह १५० गज ऊंचा महासुन्दर है तथा इसके चारों तरफ पूर्व पश्चिम के

1. सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ का जन्म जेठ वदि १३ को भारतवर्ष के कुरुक्षेत्र प्रदेश के हस्तिनापुर नगर में हुआ था। निर्वाण भी भारत के बिहार प्रात में सम्मेतशिखर (पार्श्वनाथ) पर्वत पर इसी तिथि को हुआ था। दीक्षा हस्तिनापुर में जेठ वदि १४ को हुई थी। जन्म दीक्षा और निर्वाण—इन तीनों कल्याणकों के अवसर पर ६४ इन्द्र अपने देव-देवियों के साथ १००८ जल से भरे कलशों से तीर्थंकर को अभिषेक कराते हैं। इसीके उपलक्ष में इस नगर के जैनी जेठ वदि १३, १४ को प्रभु की प्रतिमा को मेरू पर्वत पर ले जाकर महाभिषेक कराते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यहां मुख्य रूप से शांतिनाथ भगवान की मान्यता थी।

महाविदेह के सागर बने हुए हैं। इन विदेहों में बहुत ही सुन्दर बड़ी छोटी नदियां बन रही हैं। इन मंदिरों में जिन प्रतिमाएं जन्म समय की बहुत छोटी-छोटी हैं और मुट्ठियां बांधे हुए हैं। यहां के लोग जन्मावस्था (जन्म कल्याणक) की पूजा करते हैं। यहां मेले भी लगते हैं उन मेलों में भगवान की प्रतिमा को, आभूषण पहने हुए एक मनुष्य इन्द्र का रूप धारण करके मेरू पर्वत पर ले जाता है। उस मेरू पर बहुत से मनुष्य चढ़कर तीर्थंकर प्रभु की प्रतिमा को १००८ कलशों से न्हवन (प्रक्षाल-स्नान) कराकर सकल देश मिलकर पूजा करता है। फिर प्रभु की प्रतिमा रथ में विराजमान करके पांच दिनों तक बड़ी धूमधाम से अनेक प्रकार के बाजे- गाजों के साथ पांच कोस तक रथयात्रा करके संघ उत्सव करता है। पश्चात् नगर में वापिस आकर जिनप्रतिमा को मंदिर में विराजमान कर दिया जाता है। मात्र जन्म होने पर ही तीर्थंकर को इन्द्र मेरु पर ले जाकर जन्मोत्सव मनाते हैं।

१९-इसी देश में सोहना (जाति के) जैनी हैं। ये लोग तीर्थंकर की राज्य विभूति को वन्दन व पूजन करते हैं। इनकी प्रतिमाओं के सिर पर राज्य मुकुट विराजते है। ये राज्य विभूति और जन्म समय के विशेष भेद हैं। (जन्म कल्याणक तथा राज्य विभूति में तीर्थंकर मुकुट आदि अलंकारों से अलंकृत होते हैं इस लिये) दोनों में विरोध नहीं है। उत्सव दोनों के एक ही होते हैं। (कुंडल मुकुट आदि से अलंकृत जिन प्रतिमाएं जीवित स्वामी की प्रतिमाएं कहलाती हैं। जो श्वेताम्बर जैनों के अनेक मंदिरों में विद्यमान हैं)।

२०- **तिब्बत में ही** दक्षिण दिशा में ८० कोस की दूरी पर खिलवन नगर है। यहां अनेक वन और सरोवर है। यात्री यहा एक वर्ष रहा। इस नगर के जैनी जैनपंथी है। ये लोग (तीर्थंकर के दीक्षा) समय के पूजक है। यात्री ने इनके आगम सुनकर श्रावक की ११ प्रतिमाओ को धारण किया। इस नगर में १०४ शिखरबन्ध जैनमंदिर है। ये सब मदिर रत्न-जड़ित मनोज्ञ हैं। यहां के वनों में भी तीस हजार जैनमंदिर है इस लिये यहां के मंदिर वनस्थली के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में नंदीश्वर द्वीप की नकल के ५२ चैत्यालय भी हैं। यहां अट्ठाइयों में बहुत बड़े-बड़े मेले लगते हैं। इन मेलों में बड़ी-बड़ी दूर से यात्री आते हैं। परन्तु जंगली जानवरों का भय बहुत है। यात्री लिखता है कि मैं अपनी जान को जोखम में डालकर भी यहां की यात्रा करने गया। [वर्ष में छह अट्ठाइयां (आठ-आठ दिनो के छह पर्व) धर्माराधना के लिये प्राचीन (श्वेतांबर) जैन आगमों में वर्णित हैं। उनमें एक पर्यूषण पर्व की भी अट्ठाई है।]

२१-तिब्बत चीन की सीमा में दक्षिण दिशा की ओर हनुवर देश में दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह कोस पर जैनपंथियों के बहुत जैन नगर आये। जिन में बहुत जैन मंदिर हैं।

२२-हनुवर देश के उत्तर सिरे पर यात्री एक धर्माव नामक नगर में गया। यह नगर महा अद्भुत स्वर्ग समान है। इस नगर की उत्तर की ओर एक बहुत बड़ा वन है। इस वन में बहुत जैनमंदिर तीन-पंथियों, बीस-पंथियों, तेंतीस-पंथियों, ५३ पंथियो अथवा अनेक जैन पथियों के हैं। इस हनुवर देश के राजा-प्रजा सब जैनी हैं। इस देश की आबादी कई लाख की है। जैनमंदिरों की वेदियां स्वर्ण की रत्नों से जड़ित हैं। इस प्रदेश में जंगली जानवर बहुत हैं। इसलिये यहां के लोग वन जन्तुओं से भयभीत रहते है। सुरक्षा के लिये इन सब नगरों के कोट बने हुए है। जान-माल की सुरक्षा के लिये इन कोटों के द्वार एक प्रहर दिन रहते ही बन्द कर दिये जाते हैं।

२३- यात्री लिखता है कि वह वहां से ऋषभदेव की निर्वाण भूमि श्री कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर यात्रा करने के लिये चल पड़ा। मानसरोवर पर पहुंच कर तेले (तीन दिन का

उपवास) के तप के प्रभाव से देव की सहायता से उसने अष्टापद तीर्थ की यात्रा की।[1]

जहां-जहां यात्री यात्रार्थ गया वहाँ-वहाँ का आँखों देखा हाल उसने लिखा है। परन्तु जहां वह नहीं जा पाया वहां-वहाँ भी अनेक नगरों, स्थानों में जैन राजा, जैन प्रजा, जैनमंदिर आदि अवश्य होंगे। इससे यह प्रमाणित है कि जैनधर्म का सर्वव्यापक प्रसार था जिसके कई करोड़ों की संख्या में परिवार अनुयायी थे। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि जैनों का दिगम्बर पंथ मात्र तीर्थंकर की नंगी मूर्ति को मानता है और श्वेतांबर जैनी नग्न अनग्न सब प्रकार की तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को मानते हैं। इस उपर्युक्त विवरण से यह बात सर्वथा सत्य प्रमाणित हो जाती है कि इस सारे क्षेत्र के जैनमंदिर, श्रावक-श्राविकाएं साधु-साध्वियां (चतुर्विध) संघ तथा जैन राजा ये सब श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी थे। अतः इससे इस बात की पुष्टि भी होती है कि विश्व का जो धर्म आर्हत् अथवा निर्ग्रंथ धर्म के नाम से प्रसिद्ध था वह श्वेतांबर जैन धर्म ही है।

अनार्य देशों में जैन श्रमण-श्रमणियों का विहार

२४—इतिहास लेखक G. C. Moore का विश्वास है कि हज़रत ईसा-मसीह के जन्म से आठवीं शताब्दी पूर्व (भगवान पार्श्वनाथ के समय) ईराक, श्याम, फ़िलिस्तीन में सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में जैन मुनि सर्वत्र जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे।

२५—वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में से श्री ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर ने अनार्य देशों में भी विहार करके जैनधर्म का प्रसार किया था। इस की पुष्टि में साहित्य और पुरातत्व सामग्री से प्रमाण उपलब्ध है।

२६—अरब, ईरान, शकस्थान आदि अनेक अनार्य देशों में चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रपौत्र सम्राट सम्प्रति मौर्य ने जैनधर्म के प्रचारक तथा श्रमण भेजे थे।

२७-ईसा की सातवीं शताब्दी में चीनी बौद्ध यात्री हुएनसांग ने अफ़ग़ानिस्तान में बहुत जैनमंदिर, जैन-मुनि और जैन-परिवार देखे थे।

२८-सियादत नाम का एनासिर लिखता है कि इसलाम धर्म के कलंदरी सम्प्रदाय पर जैन धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। साधुता (फकीरी) शुद्धता (पवित्रता), सत्यता, अपरिग्रहवाद, और अहिंसा पर इस मत के अनुयायी अखंड विश्वास रखते थे।

२९-नेपाल में जैनधर्म—

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु, स्थूलिभद्र आदि साधुओं; सेना, वेना, रेना आदि साध्वियों के विहार, भद्रबाहु के महाप्राणायाम की साधना, स्थूलिभद्र के दृष्टिवाद (बारहवें अंग के चौदह पूर्वों) के अभ्यास का वर्णन नेपाल में करने का जैनागमों में मिलता है।

३०-भूटान में जैनधर्म—

उपर्युक्त विवरण में हम लिख आये हैं कि लामचीदास गोलालारे जाति के जैन ने भूटान से चलकर चीन आदि देशों के जैन तीर्थों की यात्रा की। अतः भूटान में भी जैनधर्म के प्रमाण उपलब्ध हैं।

---

1. यात्री ने यह यात्रा १८ वर्षों में पूरी की।

३१-स्वर्णभूमि (बरमा) में जैनधर्म—

ईसा से एक शताब्दी पूर्व जैनाचार्य कालिक तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों के बरमा में विहार के प्रमाण भी जैन साहित्य में मिलते हैं।

३२-मिस्र में जैन धर्म—

थीवर (स्थविर) शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया गया है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व शताब्दियों में मिस्र में जैन श्रमण-तपस्वियों को थेरापूते कहा जाता था। थेरापूते का अर्थ है—मौनी, अपरिग्रही। यथार्थ में थेर या थेरा अथवा थविर शब्द मूल स्थविर शब्द से निष्पन्न हुआ है। स्थविर शब्द का अर्थ है निर्ग्रंथ मुनि। स्थविर शब्द का प्रयोग जैनागमों में भगवान महावीर के पचमगणधर श्री सुधर्मास्वामी के गण के साधुओं के लिए प्रयोग किया मिलता है। सुधर्मास्वामी के गण (गच्छ) का नाम निर्ग्रंथ गच्छ था जो इन के आठव पाट तक चालू रहा। पश्चात् यही निर्ग्रंथ गच्छ कोटिक गण आदि अनेक नामों से प्रसिद्धि पाता गया। वि० सं० १३६ में निर्ग्रंथसघ से एकांत नग्नत्व के आग्रह को लेकर सहस्र मल-शिवभूति ने यापनीय पंथ की स्थापना की, पर प्राचीन जैनागम मान्य रखे। तथा महावीर का संघ जो उनके निवार्ण के बाद सुधर्मास्वामी के नेतृत्व से चला आ रहा था, श्वेतांबर (निर्ग्रंथ) संघ के नाम से प्रसिद्धि पाया। इन्ही साधुओं का एक नाम स्थविर भी है। कन्नड़ भाषा में थेर का अर्थ है तत्वज्ञानी। इसके अन्य अर्थ भी हैं रथ, ऊंचा। जैनागमो कल्पसूत्र आदि में स्थविर के लिये तथा जिन प्रतिमाओ के लेखों में भी थेर शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी स्थविर शब्द के लिये थेर का प्रयोग किया है। उनके—गुरु- आयरिय-उवज्झायाणं पव्वतित्थेर कुलयराणं णमंसामि ॥ (निषिद्धिकादण्डकम्) ॥ **पव्वतित्थेरकुलयराणं**—का अर्थ है कि प्रवर्तित स्थविर कुलकराणां। दक्षिण भारत में यापनीय पंथ से अलग होकर कुदकुंद ने एक नये दिगम्बर पंथ की स्थापना की। जिन साधुओं ने उसको सहयोग दिया उनको संगठित करके अपने संघ को मूलसंघ के नाम से स्थापित किया। इसने स्त्री मुक्ति, केवली भुक्ति आदि अनेक बातों का निषेध किया।

३३. आस्टरिया के बुढापेस्ट ग्राम के एक किसान के खेत में भूगर्भ से महावीर की प्रतिमा निकली थी जो वहाँ के म्युजियम में रखी है।

३४. विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे हो गये श्वेतांबर जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प नामक ग्रंथ में चौरासी जैन महातीर्थों के नामों में लिखा है कि—

कौंचद्वीपे सिंहलद्वीपे हंसद्वीपे श्री सुमतिनाथदेव पादुकाः।[1]

अर्थात् क्रौंचद्वीप में, ३५—सिंहलद्वीप में, ३६—हंसद्वीप में पाँचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ के चरणबिम्ब स्थापित हैं। (क्रौंचद्वीप-समरकन्द बुखारा नगर का नाम था)

३७—मंगोलिया के भूगर्भ से अनेक जैन स्मारक निकले हैं। एक भारतीय पुरातत्ववेत्ता ने पाश्चात्य देशों की यात्रा की थी। उसने अपनी आंखों देखा हाल बम्बई समाचार गुजराती पत्र ता० ४-८-१९३४ के अंक में मुद्रित करवाया था कि—"आज मंगोलिया में कई खंडित जैन-मूर्तियां और जैन-मन्दिरों के तोरण भूगर्भ से निकले हैं।"

३८—अमरीका के भूभाग से एक तांबे का बड़ा सिद्धचक्र का गट्टा मिला है।[2] ऋषभदेव का

1. विविध तीर्थकल्प सिंघी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित पृ० ८६।
2. यहा जिन स्थानो का वर्णन किया है इनके अतिरिक्त अन्य देशों में भी जैन स्मारक पाए गए हैं।

जन्म अयोध्या में हुआ, अयोध्या ही आपकी राजधानी थी और अयोध्या में ही आपने सन्यास (दीक्षा) ग्रहण किया। आपके साथ ४००० पुरुषों ने भी दीक्षा ग्रहण की। एक हजार वर्ष तक तप किया, पश्चात् पुरिमताल नगर में आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। तब अर्हत् [तीर्थंकर] बने। मुनि दीक्षा लेने से पहले आपने सौ पुत्रों को अपने विश्वव्यापी राज्य की सुव्यवस्था के लिए बांट दिया और उन्हें प्रदत्त अपने-अपने देशों के राज्य संचालन की घोषणा की। आपके प्रथम पुत्र भरत विश्व के प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए। आपने [ऋषभदेव ने] अर्हत् होने के बाद चतुर्विध संघ [साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका] की स्थापना की और विश्व में आर्हत् [जैन] धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। तब आपके शिष्यों-प्रशिष्यों ने पाद विहार कर सारे विश्व के कोने-कोने में आर्हत् धर्म का प्रचार व प्रसार किया। अतः उस समय जैनधर्म ही विश्व धर्म था। गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं ने अर्हत् ऋषभदेव की प्रतिमाओं का निर्माण करवा कर जिनमन्दिरो की स्थापनाएं कीं ताकि अपने उपास्य ऋषभदेव की उपासना भक्ति करके उनके बतलाये हुए मार्ग का चिन्तन-मनन करके आत्म-कल्याण की परम्परा की अक्षुण्णता कायम रहे। भक्त श्रावकों ने पर्वतों में गुफाओं का निर्माण करवा कर उनमें अर्हत् ऋषभ की प्रतिमाओ को अंकित किया ताकि उनमें एकांत बैठकर ऋषभ की कायोत्सर्ग अवस्था की प्रतिमाओं के सामने ध्यानारूढ़ होकर आत्मचिन्तन, योगाभ्यास से कर्मों को क्षय करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकें। ऋषभ के बाद महावीर तक क्रमशः तेईस तीर्थंकरों ने तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियो ने यत्र-तत्र-सर्वत्र पाद विहार करके जैन-धर्म का प्रचार व प्रसार किया। तथा उनके श्रावक-श्राविकाओं ने उन तीर्थंकरो की वन्दना, पूजा भक्ति के लिए उनकी प्रतिमाओं का निर्माण करा कर जैन तीर्थों, जैन मन्दिरो, जैन गुफाओ का निर्माण कराया। उनका हम प्रसगोपात आगे वर्णन करेगे।

पुरातन काल में विश्व के विशाल क्षेत्र में जैनधर्म का प्रभाव

इस बात के विश्वसनीय प्रमाण मिलते है कि भगवान ऋषभ की पूजा मान्यता का मध्य एशिया, मिस्र और यूनान (ग्रीस) मे प्रचार फिनीशियनो द्वारा हुआ था। वे नग्न योगी के रूप में बैल भगवान मानकर पूजे जाते थे। मिश्रियों के पूर्वज आदि भारतवासी ही थे। फिनीशियनो का भी भारत के साथ इतिहास क पूर्वकाल से ही सास्कृतिक और व्यापारिक सपर्क था। विदेशो मे ऋषभ मेडीटरेनियन-वासियों द्वारा अनेक नामो से जाने जाते थे, जैसे रेक्षेभ, अपोलो, टेशब, बली तथा बैल भगवान। फिनीशियन लोग ऋषभ की यूनानियो के अपोलो के नाम से पूजा करते थे। रेक्षेभ से तात्पर्य नाभि और मरुदेवी का पुत्र स्वीकार किया गया है। और नाभि चलडियन देवता नाबू तथा मरुदेवी मूरी या मूरू ही स्वीकार किए गये है। आरमीनिया निवासियो के ऋषभदेव निःसन्देह जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ ही थे।

सीरिया का एक नगर राषाफा है। सोवियत आरमीनिया में टेशावानी नाम का एक नगर था। बेबीलोन का नगर इसबेकजूर; रिषभ नगर शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। फिनीशियनों के अतिरिक्त अकेडिया, सुमेरिया और मेसोपोटेमिया का भी सिन्धु नदी के घाटी प्रदेश से सास्कृतिक और व्यापारिक सम्पर्क था और वहां के लोग ऋषभ का धर्म अपने देशों में ले गये।

इस बात के बहुत प्रमाण हैं कि यूनान और भारत में समुद्री सम्पर्क था। यूनानी लेखकों के अनुसार जब सिकन्दर भारत से यूनान लौटा था, तब तक्षशिला का एक मुनि कोलीनास या कल्याण

मुनि उसके साथ युनान गये और अनेक वर्षों तक वे एथन्स नगर में रहे। कल्याण एक जैन मुनि माने गये हैं। उन्होंने एथन्स में संलेखना की। उनका समाधि स्थान एथेन्स में पाया गया है।

A naked sraman-acharya (Jainacharya) went to greece as his smadhi spot was found marked at Athens. (J. H. Q. vol. II p. 293)

युनान के तत्त्वज्ञान पर जैन तत्त्वज्ञान का प्रभाव है यथा Greek philosophy do betray Jain influence (confluence of opposities).

महान युनानी तत्त्वज्ञानी पीरो ने जैन श्रमणों के पास रहकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास किया था। पश्चात् उसने अपने सिद्धान्तों का युनान में प्रचार किया था (Historical Gleaning p. 42)।

पुराने युनानियो को श्रमण मिले थे जो जैन धर्मानुयायी थे वे लोग एथोपिया और एबेसीनिया में विचरण (विहार) करते थे (Asiatic Researches vol. III p. 6)।

ईसा पूर्व १२ वीं शताब्दी की एक कासे की रेषेभ (रिषभ) की मूर्ति इनकापी के निकट अलासिया-साइप्रस में मिली थी। जो तीर्थंकर ऋषभ के समान ही थी। ऋषभ की मूर्तियां मलाशिया, बोधाजक्यूल में और इसबुकजूर की यादगारों मे हिट्टी देवताओं मे प्रमुख देवताओं के रूप में मिली है। सोवियत आरमेनिया की खुदाई मे एरीवान के निकट कारमीर ब्लूर टेशाबानी के पुरातन नगर यूराटियन में कुछ मूर्तिया मिली है जिनमें एक कासे की ऋषभ की मूर्ति भी है।

ऋषभदेव की तथा अन्य तीर्थंकरो की मूर्तिया दूसरे देशों में भी मिली है। जिनके विषय में सचित्र लेख कुछ भारतीय पत्र-पत्रिकाओ में भी छप चुके हैं। इन देशों में जैन सिद्धान्त और ब्राह्मी लिपि स्वीकार की गई है। सिन्धुघाटी की लिपि फिलिस्तीन के यहूदियो की प्राचीन लिपि थी। मिस्र की प्राचीन हीरोलिफिक्स, प्राचीन चीनी लिपि तथा सुमेरियन लिपि ब्राह्मी लिपि से मिलती-जुलती थी। अमेरिका की कोलम्बस के पूर्व की संस्कृति का प्रारम्भ भारत से ही हुआ था। जो पुरातन यूरोप की चार प्रमुख प्राचीन संस्कृतिया जैसे कि अमेरिका में, दक्षिण-पश्चिम के प्यूबलो में, घाटियों वाले अजटेक में, मवेशीको के ऊंचे भाग मे, वहा के यूकाटन प्राय. द्वीप की माया-संस्कृति और पीरू की संस्कृति ये सब प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया और सिन्धुघाटी की संस्कृतियों से समानता रखती थी।

टोकियो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नाकामूरा को चीनी भाषा मे एक जैन सूत्र मिला था। इससे प्रमाणित होता है कि शताब्दियों पहले चीन मे भी जैनधर्म प्रचलित था। (इसको विस्तार से हम पहले लिख आये हैं) भारतीय और युरोपीय धार्मिक इतिहास से इस बात के विश्वसनीय प्रमाण मिलने सम्भव है कि आर्हत् धर्म दुनियां के अनेक भागो में मानव समाज का प्रमुख धर्म था।

उपर्युक्त बातों के समर्थन में एक प्रसिद्ध पत्रकार और लेखक श्री चमनलाल की अनेक वर्षों की शोध-खोज के परिणाम स्वरूप संसार में भारतीय संस्कृति के प्रभाव पर ता० २० जुलाई १९७५ ईस्वी के हिन्दुस्तान टाइम्स देहली में लेख छपे जिनका सार नीचे दिया जाता है—

प्राचीन काल में भारत सदियों तक बहुत अच्छे प्रकार के जहाज बनाता था जो पेसीफिक आदि महासमुद्रों में चलाया करते थे और मेक्सिको, दक्षिण अमेरिका तथा दक्षिण पूर्व एशिया से भारत का सम्पर्क कराते थे। जिससे उन देशों पर भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। मेक्सिको में आज भी भारत की तरह चपाती, दाल और पेठे आदि साग खाए जाते हैं। भारतीय देवी-देव-

ताओं की अनेक मूर्तियां वहां मिलती हैं और भारत के मन्दिरों की तरह वहां भी मन्दिर हैं। वहां भी जन्म मरण पर भारत के रिवाजों के समान ही मृतक शरीर के अग्निदाह का रिवाज है।

श्री चमनलाल ने अपनी खोजखोज में वहां ३० वर्ष व्यतीत किए और भारतीयों के वहां बस जाने के प्रमाण एकत्रित किए। यद्यपि उस देश में हाथी और चीते नहीं हैं तो भी वहां पत्थर पर उन के चित्रों की खुदायी भारतीय प्रभाव की साक्षी है।

ईस्वी सन् ४०० में चीनी यात्री शोधक तथा विद्वान फाहीयान भारत आकर यहां से २०० यात्रियों के बैठाने की क्षमता वाली नाव में चीन वापिस गया था। भारत में बने हुए इतनी क्षमता के जहाज उन समुद्रों को पार करते थे जिनमें भयंकर तूफान आया करते थे। ऐसे जहाजों के लिए एक इतिहासविद के विचारों के अनुसार पेसीफिक महासागर पार करना और अमेरिका जाना असंभव नहीं माना जा सकता।

भारत के जहाज बनाने की क्षमता के विषय में सर जोहन मालकोम ने कहा है कि योरुप वाले विज्ञान में बढ़े हुए होने पर भी वे भारत आने-जाने के लिए इनकी बराबरी करने योग्य जहाज दो शताब्दियों तक नहीं बना सके।[1]

फ्रांस के म्यूजियम में श्री ऋषभदेव की मूर्ति

फ्रांस की राजधानी पेरिस के प्रसिद्ध म्यूजियम के संग्रहालय में एक सुन्दर कलाकृति की श्री ऋषभदेव की प्रतिमा सुरक्षित है। जिसमें पादपीठ पर तीन छत्र के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में वे खड़े है। (सं०नं० एम जी० ३६४४)। उनके सिर पर घघराले काले केश जटाजूट रूप में दोनो कन्धों पर लटकते हुए सुसज्जित है। जिस पादपीठ पर वे खड़े हैं वहां एक वृषभ की बैठी आकृति अंकित है। जिस से मूर्ति पहचानने में सहायता मिलती है। त्रिछत्र के ऊपर अशोकवृक्ष की पत्तियों का अंकन है, प्रतिमा के दोनो ओर अष्टमंगल तथा एक-एक मालाधारी देव का चित्रण है जो पुष्पवृष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। पैरों के निकट दोनो तरफ चामरधारी सेवक इन्द्र खड़े हैं। प्रतिमा के सिर के पीछे गोलाकार प्रभामंडल है। वृषभ की मूर्ति के एक ओर प्रतिमा के दान कर्त्ता (प्रतिष्ठापक) पति-पत्नी बैठे है तथा दूसरी ओर पूजा की सामग्री रखी है, ऐसा अंकन है। यह प्रतिमा नग्न है। यद्यपि यह ऋषदेव की प्रतिमा नग्न है तथापि यह श्वेताम्बर प्रतिमा है क्योंकि इसके सिरपर जटाजूट कन्धों तक लटकते केश है। यह प्रतिमा श्री सुपार्श्वनाथ के श्वेताम्बर स्तूप कंकाली टीले से प्राप्त केशों वाली ऋभदेव की मूर्तियों तथा श्री केशरियानाथ के मन्दिर में मूलनायक श्री ऋषभदेव की नग्न तथा केशों वाली प्रतिमाओं के साथ मिलती जुलती है।

बेबीलोन का शासक नेबुचन्द्रनेझार

ग्रीस, मिस्र और ईरान के प्राचीन लेखकों की कृतियों में पाये जाने वाले उल्लेखों, बेबीलोन चंपा (इण्डो चायना), कम्बोज (कम्बोडिया) के भूखनन तथा मध्य अफरीका, मध्य अमरीका के अवशेषों में बिखरी पड़ी जैन संस्कृति पर प्रकाश डालने अथवा शोध-खोज करने की तरफ न तो जैन समाज ने और न ही पुरातत्त्व वेत्ताओं ने श्रम किया है, सम्राट संप्रति के विश्व व्यापी जैनधर्म प्रचार तथा हमारे जैन चक्रवर्तियों के विजय मार्गों आदि को ऐतिहासिक रूप देने में हम लोगों ने अपने अभ्यास का उपयोग नहीं किया।

1. Jain Gernal July 1970 V. G. Nayar.

अतिप्राचीन काल के प्रसंगों की बात तो जाने दीजिए किन्तु श्रेणिक पुत्र अभयकुमार की प्रेरणा से प्रतिबोध पाकर भगवान महावीर की शरण में आनेवाला अनार्य-भूमि का राजकुमार आर्द्र कुमार कौन था, इसे जानने का भी हम लोगों ने प्रयास नहीं किया। कुछ वर्ष पहले डा० प्राणनाथ ने प्रभासपाटण के ताम्रपत्र को पढ़ने के बाद लिखा था[1] कि बेबीलोन के राजा नेबुचन्द्रनेझार ने रेवतगिरि (गिरनार) पर नाथ नेमि के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। यह बात पुरातत्त्ववेत्ताओं के समक्ष आने पर भी आजतक किसी भी तत्त्ववेत्ता, संशोधक, पुरातत्त्ववेत्ता अथवा जैनधर्मानुयायी ने इस विषय के संशोधन की तरफ ध्यान नहीं दिया।

ऐसा लगता है कि आर्द्र देश, आर्द्र नगर कहां हैं इसके संबन्ध में तो जैन संशोधकों ने शोध करने की जरूरत ही नहीं समझी।

पश्चिम एशिया में मेसोपोटेमिया देश अति प्राचीन काल में उत्तर, मध्य और दक्षिण ऐसे तीन विभागों में विभक्त था। उत्तर विभाग अपनी राजधानी असुर नाम के कारण एसीरिया के नाम से पहचाना जाता था। मध्यविभाग की प्राचीन राजधानी कीश थी किन्तु हमुराबी के समय में (ईसा पूर्व २१२३ से २०८१) बेबीलोन के विशेष विकास पर आ जाने से मध्य भाग की राजधानी बेबीलोन बनी और समय बीतने पर मध्यविभाग बेबीलोन के नाम से प्रसिद्धि पा गया। समुद्रतटवर्ती दक्षिण भाग की प्राचीन राजधानी एर्दु (Erideu) बंदरगाह थी। कुछ समय बाद बेबीलोन के शक्तिशाली राजाओं ने इन तीनों भागों पर अपना अधिकार जमा लिया और तीनो संयुक्त प्रदेशों की राजधानी बेबीलोन को बनाया।

जैन साहित्य में वर्णित आर्द्रनगर ही ऐर्दु नगर होने के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीनकाल में समृद्धिशील नगरों में आर्द्र के समान एक भी नगर नही था।

ऐर्दु बन्दर की जाहोजलाली ईसा पूर्व ५००० वर्ष से प्रारम्भ होती है। जल प्रलय के पूर्व के चार बन्दरो में से ऐर्दु भी एक बंदर था। समुद्र तटवर्ती युफ्रेटीस नदी के मुख (वहाने) पर होने के कारण इस बन्दरगाह का भारत के साथ सीधा जलमार्ग का संबंध था।

धीरे-धीरे नदी के कटाव के कारण बन्दरगाह भरने लगी और इसका महत्व घटता चला गया। आज इस नगर के खण्डहर उर से १२ मील दक्षिण-पश्चिम में फैले हुए हैं। बतरा से इराक जानेवाली रेलवे इन खडहरो से तेरह मील पूर्व से होकर जाती है।

ईसा पूर्व ६०४ में बेबीलोन की गद्दी पर जगप्रसिद्ध सम्राट नेबूचन्द्रनेझार बैठा उसके पिता नेबपोलशार ने उसे अपने विशाल राज्य का वारसा सौंपा। पर नेबुचन्द्रनेझार ने इस राज्य को चार चांद लगा दिये थे। अपने पिता की मौजूदगी में (ईसा पूर्व ६०५ में) इस ने एसीरिया को हराकर इसके सारे प्रदेश को बेबीलोन में मिला लिया था। बाद में वह दिग्विजय के लिए निकला। नेको को हराकर उसने एशिया से यूरोप और अफ्रीका की तरफ कूच किया तत्पश्चात् जिन-जिन राज्यों ने बेबीलोन राज्य की उसकी अशक्त अवस्था में क्षति पहुंचायी थी, उन सबको भी इसने जीतना शुरू किया।

जुड़ा के यहूदियों ने बेबीलोन की समृद्धि को लूटा और अपनी राजधानी यूरोशलिम में अपने इष्टदेव के मन्दिर का निर्माण उस की समृद्धि से किया। नेबुचन्द्रनेझार ने अपना बदला लेने के लिए इस देश को जीतकर लूटा। पश्चात् दयालु भाव से वहां के राजा को उस का राज्य वापिस सौंप

1. The Times of India 19-3-1935

दिया जब यह राजा अपने राज्य की व्यवस्था न कर पाया तब इस ने उस राजा को बदल कर दूसरे राजाको सिंहासनारूढ किया।

टायर के बलवे को भी इसने सख्ती के साथ कुचल डाला इस प्रकार नेबूचन्द्रनेभ्कार पश्चिम एशिया का यशस्वी सम्राट बन गया।

बेबीलोन में इसने अनेक देवमन्दिरों का निर्माण कराया था। इसने नगर की रक्षा के लिए नगर को चारों तरफ से घेरती हुई भव्य ऊँची दीवाल का निर्माण कराया था। हीराडोटस के कथनानुसार इस नगर का घेराव ५६ मील का था तथा यह दीवाल इस नगर का चारों तरफ से लोहे की ढाल के समान संरक्षण करती थी। चीन की दीवाल पर आज सारा जगत विस्मित है। वह दीवाल भी नेबुचन्द्रनेभ्कार की इस दीवाल के आधार पर ही बनाई गई है। इसने बेबीलोन में अपने लिए स्वर्गीय महलों का निर्माण भी कराया, बाद में इसने इन महलों की ममता वश इन्हे झूलते बागों (Hanging gardens) की उपमा भी दे डाली थी। इसने अपने निवास के लिए ईसा पूर्व ५६१ में एक भव्य महल का निर्माण कराया था जो अद्वितीय कहलाया। यह महल पन्द्रह दिनों में बनकर तैयार हुआ था किन्तु इसकी जाहोजलाली सदियों तक उतनी ही अनुपम कायम रही। ईसा पूर्व ३२६ में भारत से वापिस लौटते हुए यूनानी सिकन्दर इस महल पर अत्यन्त मुग्ध हो गया था और इसी महल में उसने अपना बसेरा रखा और कई दिनों तक रंगरलियां मनाईं। तथा इसी महल में उस की हत्या भी हुई। नेबुचन्द्रनेभ्कार ने शिल्प, स्थापत्य, कला और संस्कार के एक साथ विकास में जो योगदान इस महल को बनाने में दिया है वह मात्र विश्व के प्राचीन इतिहास में ही नहीं परन्तु अर्वाचीन इतिहास में भी अद्वितीय है।

नेबुचन्द्रनेभ्कार सारे मेसोपोटेमिया का सम्राट था, इस लिए स्वाभाविक है कि वह ऐर्द्य का भी स्वामी था। बेबीलोन के भूखनन से प्राप्त प्राचीन अवशेषों में बेबीलोन नाम नही पाया जाता। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह राज्य ऐर्द्य के प्राचीन नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा, ऐसी संभावना है। यदि यह ठीक हो तो नेबुचन्द्रनेभ्कार आर्द्रपति सिद्ध होता है। ऐसा मानने के और भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

वह नेबुचन्द्रनेभ्कार भगवान महावीर तथा मगधपति श्रेणिक का समकालीन था। मगधपति श्रेणिक ने आर्द्रराज नेबुचन्द्रनेभ्कार को भेंट भेजी और इसके पुत्र अभयकुमार ने नेबुचन्द्रनेभ्कार के राजकुमार आर्द्रकुमार को अपनी तरफ से जिन प्रतिमा की भेंट भेजी जिसको देखने पर आर्द्रकुमार प्रतिबोध पा कर भारतवर्ष में आया।

उस समय के विश्व के इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि भारत के बाहर बेबीलोन राज्य के सिवाय दूसरा ऐसा एक भी साम्राज्य नहीं था कि जिसे मगधाधिपति भेंट भेजता।

प्रभास पाटण के ताम्रपत्र से यह प्रमाणित हुआ है कि नेबुचन्द्रनेभ्कार ने गिरिनार पर भगवान नेमिनाथ के मंदिर का जिर्णोद्धार कराया और उसके निर्वाह के लिए अमुक रकम वार्षिक रूप में भेंट की। इससे यह संभव है कि जब इस का पुत्र आर्द्रकुमार भारत चला आया और उसकी सारसंभाल के लिए उसके पीछे पांचसौ सैनिक भी इसने भेजे। बाद में संभवतः जब वे सैनिक उसे छोड़कर भाग निकले तब नेबुचन्द्रनेभ्कार अपने पुत्र की खोज में सौराष्ट्र स्वयं आया हो तब सम्भवतः उसपर जैनधर्म का प्रभाव पड़ने से इसने जैनधर्म को अपना लिया हो।

उत्तरावस्था में नेबुचन्द्रनेझार कौन से धर्म का अनुयायी था। इस का अभी निर्णय नहीं हो पाया। सायरस के शिलालेखों से जो प्रमाण मिलते हैं कि बेबीलोन में वंश परम्परागत चली आती मर्डूक की पूजा और बलिदान की प्रथा इसने बन्द कराई थी। उत्तरावस्था के इसके शिलालेखों से पता चलता है। इस विषय में प्रजा की सूचनार्थ ढिंढोरा पिटवाया था, उस में इसने कहा था कि मर्डूक इत्यादि को जिन्हें तुम लोग अपना इष्टदेव मानते हो, वहां बलिदान बन्द किया जाता है तथा बाईबल के पुराने करार में नेबुचन्द्रनेझार के राजकीय प्रभुता को स्वीकार करने पर भी उसके वारसों का भयंकर नास्तिकों के रूप में उल्लेख किया है। जब नेबुचन्द्रनेझार ने जेरोशलिम को लूटा था तब वहां काफी क्षति पहुँचायी थी। यह देखते हुए यह यहूदी धर्म का भी नहीं हो सकता। प्रारम्भ में इसके मर्डूक के बनाये हुए भव्य मन्दिर से यह तो निश्चित है कि पूर्वावस्था में यह मर्डूक पुजारी था। पर उत्तरावस्था में पुत्र की दीक्षा के बाद भारत आने पर इसका जैनधर्म स्वीकार करना विशेष संभव है।

उत्तर-वय में इसने बेबीलोन में जो नौ फुट ऊँची तथा नौ फुट चौड़ी एक स्वर्ण प्रतिमा का निर्माण कराया था और उसी समय अपने बनाये हुए इस मुख्य पूजन मन्दिर में एक मूर्ति के समीप सर्प तथा दूसरी के समीप सिंह का बिम्ब बनाया था। तथा इसके द्वारा निर्माण कराये हुए इस्टार के दरवाजे का कुछ भाग टूट जाने से जिसके टुकड़े बर्लिन और कोन्स्टेटीनोपाल के म्यूजियमों में सुरक्षित रखे हुए हैं उनका जो भाग अब भी वहां मौजूद है उस पर वृषभ (बैल), गेंडा, सूअर, साँप, सिंह, बाज[1] इत्यादि खुदे हुए दिखलाई देते है। जो जैन तीर्थंकरों के प्रतीक चिन्ह है, लांछन हैं।

बाज मन्दिर[2] की मूर्तियां बेबीलोन के पुराणों में अथवा पुरानी बाईबल में वर्णित देवों में से कोई भी मेल नहीं खाती। परन्तु उनकी परख खोदकाम के संशोधक अभी तक भी नहीं कर सके। यह वस्तुस्थिति यदि नेबुचन्द्रनेझार ने जैनधर्म को स्वीकार किया हो तो इस की पुष्टि के साथ ही जैन संशोधकों के लिए अभ्यास के क्षेत्र को खुला करती है। बेबीलोन के महाकाव्य 'Epic of creation में बेबीलोन का एक राजकुमार अपने एक मित्र के सहयोग से स्वर्ग में पहुंचने का प्रयास करता है किन्तु वह आधबीच में ही सरक पड़ता है ऐसा वर्णन मिलता है। यह रूपक जैन वाङ्मय में अभय कुमार की प्रेरणा से आर्यावर्त (भारत) में पहुँचकर दीक्षा लेने की आर्द्रकुमार की भावना तथा बाद में दीक्षा त्याग करने के कथानक से मेल खाता है।

बेबीलोन का भारत के साथ सांस्कृतिक सबन्ध तो ईसा पूर्व पच्चीस सौ वर्षों से था ऐसा इतिहासकार स्वीकार करते हैं। हमुराबी के कानूनी ग्रंथ पर भी भारती न्याय प्रथा का सम्पूर्ण प्रभाव है। स्त्री पर व्यभिचार का आरोप आने पर यदि स्त्री उस आरोप को झूठा सिद्ध न कर सके तो उसे यूफ्रेटिस नदी में डूबो दिया जाता था। तथापि यदि वह नदी उसे जीवित बाहर निकाल दे तो माना जाता था कि स्त्री पवित्र है। यह प्रथा स्त्री की पवित्रता, कड़ी सजा तथा कुदरती चमत्कार से निर्दोषता सिद्ध करने की भारतीय न्यायशास्त्र की प्रणाली की आभारी है। तदोपरांत प्राचीन प्रवासियों के लेखों के आधार से भी जान सकते हैं कि भरुच खंभात और सोपारा की बन्दरगाहों

1. वृषभ-ऋषभदेव का, गेंडा-श्रेयासनाथ का, सूअर-विमलनाथ का, बाज-अनन्तनाथ का, सांप-पार्श्वनाथ का और सिंह-महावीर का प्रतीक-लांछन है। ये क्रमशः जैनो के न० १,११,१३,१४,२३,२४वे तीर्थंकरों के लांछन हैं।

2. यह बाज मंदिर जैनों के १४ वे तीर्थंकर अनन्तनाथ का होना चाहिये। क्योंकि बाज अनन्तनाथ का लांछन है।

के द्वारा बेबीलोन भारत के साथ खूब व्यापार करता था। बेबीलोन के शिल्पस्थापत्य पर भी भारतीय शिल्पस्थापत्य का प्रभाव है।

इस प्रकार आर्द्र देश, आर्द्र नगर, आर्द्र राज तथा आर्द्र कुमार के ऐतिहासिक स्वरूप का विचार करने से पर्याप्त प्रमाण में सामग्री उपलब्ध है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक साहित्य ग्रंथों के अनेक विधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला जा सकता है। इस प्रकार की सामग्री हम खोज सकते हैं और दूसरे धर्मों के समान जैनधर्म की भी जगत व्यापी महिमा सिद्ध करने में हम अपने अभ्यास और बुद्धि का उपभोग कर सकते हैं।[1]

जैन प्रतीकों का परिचय

जैन मन्दिरों में प्राय: निम्नलिखित प्रतीक मिलते है—

१. आयागपट्ट, २. स्तूप, ३. धर्मचक्र, ४. स्वस्तिक, ५. नंद्यावर्त, ६. चैत्यस्तंभ, ७. चैत्यवृक्ष, ८. श्रीवत्स, ९. सहस्रकूट, १०. चैत्य, ११. सर्वतोभद्रिका, १२. त्रिरत्न, १३. अष्टमंगल १४. अष्टप्रातिहार्य, १५. चौदहस्वप्न, १६. नवनिधि, १७. नवग्रह, १८. मकरमुख, १९. शार्दूल, २०. कीर्तिमुख, २१. कीचक २२. गंगा-सिन्धु, २३. नाग-नागिन, २४. चरण, २५. पूर्णघट, २६. शरावसंपुट, २७. पुष्पमाला, २८. आम्रगुच्छक, २९. सर्प, ३०. जटा, ३१. लांछन, ३२, यक्ष-यक्षी, ३३. पद्मासन, ३४. खड्गासन, ३५. एक तीर्थंकर की प्रतिमा से चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा तक, ३६. चौबीस से अधिक जिन प्रतिमाओं के पट्ट। इत्यादि

१ आयाग पट्ट—वर्गाकार या आयताकार एक शिलापट्ट होता है जो पूजा के उद्देश्य से स्थापित किया जाता है इस पर कुछ जैन प्रतीक उत्कीर्ण होते है। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर की मूर्ति भी होती है। बुलहर के अनुसार अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को आयागपट्ट कहते हैं। ये स्तूप के चारों द्वारों में से प्रत्येक के सामने स्थापित किए जाते थे।

२. स्तूप –यह लम्बोतरी आकृति का होता है। इसके चार वेदिकायें होती हैं।

३. धर्मचक्र —गोल फलक में बना हुआ चक्र होता है। इस के बारह या चौबीस अरे होते हैं। कोई धर्मचक्र १००० अरों का भी होता है। जिनमूर्तियों की चरण चौकी पर इसका अंकन होता है।

---

1. यह लेख श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई के रजतमहोत्सव ग्रंथ पृ०८१-८४ गुजराती से साभार हिन्दी रूपान्तर करके उद्धृत किया है। इस लेख के लेखक हैं-चिमनलाल मनसुखलाल संघवी। लेखक ने इस लेख की तैयारी में जिन ग्रंथों तथा पत्रों का आधार लिया है वे ये है–

A History of Sumer and Akkad. 2. A History of Babilon. 3. A History of Assyria—by L. W. King. 4. Seven great Monarchy of the East. by Raweinson. 5. Historians History of the world मानो बेबीलोन विभाग। 6. Ur of the Chaldees by Leonard woolley. 7. Cambridge Ancient History VoL.I. 8. Ancient Geography. 9. Jews and jerusalam. 10. Encyclopedia Britannica में से लेख में प्रयोग किये शब्दों का भाग। 11. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०। 12. The Times of India 19.3.1935. 13. Old Testament.

४. **स्वस्तिक**—एक दूसरी को काटती हुई सीधी रेखाएँ जो सिरों से मुड़ी होती हैं। इसका प्रयोग स्वतन्त्र भी होता है और अष्टमंगल में भी होता है।

५. **नन्द्यावर्त**—नन्द्य का अर्थ सुखद है या मांगलिक है और आवर्त्त का अर्थ घेरा है। इसका रूप स्वस्तिक जैसा होता है किन्तु इसके सिरे एकदम घुमावदार होते हैं जब कि स्वस्तिक का मोड़ सीधा होता है।

६. **चैत्यस्तम्भ**—एक चकोर स्तम्भ होता है जिसकी चारों दिशाओं में तीर्थंकर प्रतिमाएँ होती हैं और स्तम्भ के शिखर पर लघुशिखा होती है।

७. **चैत्यवृक्ष**- तीर्थंकर को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान होता है वह चैत्यवृक्ष कहलाता है किन्तु कला में प्रायः अशोकवृक्ष का ही चैत्यवृक्ष के रूप में अंकन हुआ है। बहुधा वृक्ष के ऊपरी भाग में तीर्थंकर प्रतिमा का भी अंकन होता है।

८. **श्रीवत्स**—तीर्थंकर की छाती पर एक कमलाकार चिन्ह होता है।

९. **सहस्र कूट**—एक चकोर पाषाण स्तम्भ में १००८ तीर्थंकर मूर्तियां अंकित होती हैं।

१०. **चैत्य**—तीर्थंकर प्रतिमा या जिनमन्दिर।

११: **सर्वतोभद्रिका**—एक चकोर पाषाण स्तम्भ में चारों दिशाओं में एक-एक तीर्थंकर प्रतिमा होती है। ये चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थंकर की अथवा भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की होती है। ककालीटीला मथुरा से ऐसी प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इसमें १—एक प्रतिमा के कन्धों तक केशों की जटाएँ लटक रही हैं यह प्रतिमा प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव की है। २. दूसरी प्रतिमा के सिर पर सातमुखवाला सर्पफण है यह तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। ३. तीसरी प्रतिमा के चरणों के समीप एक स्त्री दो बच्चों के साथ बैठी है, यह श्री अंबिका देवी की मूर्ति है। यह देवी बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) की शासन-देवी है। अतः यह प्रतिमा श्री नेमिनाथ की है। ४. चौथी प्रतिमा के चरणों के नीचे के पादपीठ पर दो सिंहों की तथा दोनों सिंहों के मध्य में धर्मचक्र की आकृति है। अतः यह प्रतिमा चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी की है। ये चारों प्रतिमाएँ खड्गासन में खड़ी और नग्न हैं। मथुरा के देवनिर्मित सुपार्श्वनाथ के स्तूप मन्दिर में श्वेतांबर आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी। आजकल मथुरा तथा लखनऊ के पुरातत्त्व म्युजियमों में सुरक्षित है।

१२ **त्रिरत्न**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न कहे जाते है जिन्हे त्रिरत्न रत्नत्रय भी कहते हैं। इनके प्रतीक रूप में एक फलक में एक ऊपर तथा दो नीचे छेद कर दिये जाते हैं। ऐसे प्रतीक मथुरा के कंकालीटीले से बहुत मिले है। मौर्यकाल के सिक्कों पर भी रत्नत्रय के चिन्ह मिले हैं।

१३. **अष्टमंगल**—स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीन-युगल, पद्म और दर्पण अष्टमंगलिक कहलाते हैं।

१४—**अष्ट प्रातिहार्य**—अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुंदुभि, सिंहासन, दिव्यध्वनि, छत्र त्रय, चामर, और भामंडल ये तीर्थंकरों के आठ प्रातिहार्य होते हैं। तीर्थंकर की प्रतिमाओं पर इन का अंकन मिलता है।

१५—**चौदह स्वप्न**—हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, पद्म-सरोवर, क्षीरसमुद्र, देवविमान अथवा भवन, रत्नराशी, निर्धूम-अग्नि ये चौदह स्वप्न तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता ऐसे पुत्र के गर्भ में आने पर देखती है।

१६—**नवनिधि**—काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, नानारत्न;

(तिलोय पण्णत्ति महाधिकार ४,१३८४)

१७—**नवग्रह**—रवि, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, राहू, केतु। इनका अंकन द्वारों, तीर्थंकर मूर्तियों, देव-देवियों की मूर्तियों के साथ भी हुआ है और स्वतन्त्र भी हुआ है।

१८—**मकरमुख**—मंदिरों के द्वार, देहरियों के मध्य में तथा स्तंभों पर मिलते हैं।

१९—**शार्दूल**—शार्दूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्य दिखलाई पड़ता है और शार्दूल की पीठ पर आयुध लिये हुए कोई मनुष्य बैठा रहता है।

२०—**कीर्तिमुख**—इस का अंकन प्रायः स्तम्भों, तोरणों और कोष्ठकों आदि में होता है। इस की मालाएं, लड़ियां और शृंखलाएं लटकती दिखलाई पड़ती हैं।

२१—**कीचक**—स्तम्भ के शीर्षों पर बैठा मनुष्य छत का भारवहन करता है।

नं० २२ से ३६ तक के प्रतीक स्पष्ट हैं अतः उन की व्याख्या नहीं दी जाती।

तीर्थंकर और प्रतीक पूजा

प्रतीक दो प्रकार के होते हैं —(१) अतदाकार तथा (२) तदाकार। ये दोनों तीर्थंकरों की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते है। और जनमानस में तीर्थंकरों के आदर्श की प्रेरणा जाग्रत करते हैं।

१. **अतदाकार प्रतीक**— (अ) इन में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष; पूर्णघट, श्रावसंपुट, पुष्प, पुष्पपडलक आदि मुख्य हैं।

(आ) अष्टमंगल, तथा तीर्थंकरों के लाछन भी अतदाकार प्रतीकों में माने गये हैं।

(इ) अष्टप्रातिहार्य और आयागपट्ट भी महत्वपूर्ण प्रतीक माने गये हैं।

(ई) कला के प्रारंभिक काल में इन अतदाकार प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

२—**तदाकार प्रतीक**—तीर्थंकरों की अनेक प्रकार की प्रतिमाएं।

प्रागैतिहासिक काल से पूर्व के पाषाण युग में मोहन-जो-दड़ो आदि सिंधुघाटी से प्राप्त नग्न तथा अनग्न ध्यानस्थ प्रतिमाओं की प्राप्ति से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व तीन हज़ार वर्ष की तदाकार प्रतिमाएं भी उपलब्ध हैं। इस से यह भी स्पष्ट है कि जैनों में जिनप्रतिमा पूजन की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है।

मृण्मय मूर्तियां—हरप्पा, कौशांबी, मथुरा आदि के उत्खनन से बहुत संख्या में मिट्टी की मूर्तियां भी मिलती है। इन के अधिक चिरस्थाई न रहने के कारण इन्हें अग्नि से पकाया जाने लगा था। और इन का अधिक समय तक स्थायित्व न रहने के कारण पाषाणमय प्रतिमाएं भी बनने लगीं।

देवमूर्तियों का निर्माण सर्वप्रथम जैनों ने ही किया। तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख, हरिनैगमेषी, सरस्वती, सर्वतोभद्र-प्रतिमा, मांगलिक चिन्ह, धर्मचक्र, चैत्यवृक्ष आदि जैनकला की विविध आकृतियों का भी निर्माण हुआ।

तीर्थंकर प्रतिमाओं के बाजू-बाजू खड़े दाता, उपासक, उनकी पत्नी, साधु और साध्वियों का अंकन भी मिलता है।

मंदिरों का निर्माण—प्राचीनकाल के गुफामंदिर आज भी मिलते हैं। मथुरा आदि के मंदिरों के खंडहर भी प्राचीन काल के उपलब्ध हैं।

अत्यन्त प्राचीनकाल में मूर्तियों पर प्रायः लांछन और लेख उत्कीर्ण करने की प्रथा नहीं थी।

धर्मचक्र—मंदिरों में, वेदी पर, तीर्थंकर के सिंहासन पर धर्मचक्र उत्कीर्ण किया जाता है। कहीं-कहीं स्वतन्त्ररूप से भी धर्मचक्र की रचना मिलती है। पाषाण स्तंभों, द्वार के तोरण और चैत्यों पर भी धर्मचक्र अंकित मिलते हैं। विश्वमैत्री, अहिंसा और जगत्कल्याण के प्रतीक धर्मचक्र को तीर्थंकरों की आध्यात्मिक विजय का प्रतीक माना गया है। धर्मचक्र संसार से पाप विजय और कषायों के विनाश के प्रतीक रूप तीर्थंकरों के आगे-आगे चलता है। इसका आशय और प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर का जहां जहां भी विचरण होता है वहां वहां तीर्थंकर के पहुंचने से पूर्व ही ऐसा आध्यात्मिक वातावरण पैदा हो जाता है कि जिस से वहां के मनुष्यों, तीर्थंचों के मनों से द्वेष, हिंसा, और अनाचार के भाव दूर होने लगते हैं। उन्हें अन्तर से शांति का अनुभव होने लगता है। धर्मचक्र १२,२४ अथवा १००० अरों वाला होता है।

जैनधर्म का महत्व

मात्र प्राचीन होने से ही कोई धर्म श्रेष्ठ मान लिया जाए, ऐसा नहीं है किन्तु जिसके आचार (आचरण) विचार (सिद्धान्त) सदा-सर्वदा सर्व-प्राणि-हिताय हो वही श्रेष्ठ धर्म है। और ये सब लक्षण जैनधर्म में ही पाये जाते हैं जिस का श्रेय ऋषभदेव से वर्धमान तक अर्हतों को ही है।

अर्हत् महावीर का त्यागमय जीवन

क्षत्रीयकुण्ड (बिहार) के महाराजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला के पुत्र राजकुमार वर्धमान-महावीर स्वभाव से ही वैराग्यशील एव एकान्तप्रिय थे। उनके माता-पिता तथा सारा परिवार भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। उन्होंने माता-पिता के आग्रह से गृहवास स्वीकार किया। राजकुमारी यशोदा से विवाह भी किया उससे उनकी एक पुत्री थी जिसके दो नाम थे अणुज्जा और प्रियदर्शना। पुत्री का विवाह जमाली से हुआ था।

यहाँ पर इनका संक्षिप्त परिचय देते हैं—

जब महावीर २८ वर्ष के हुए और उनके माता-पिता का देहात हो गया तब उनका मन दीक्षा लेने (साधु होने) के लिए उत्कण्ठित हो गया। परन्तु बड़े भाई नन्दिवर्धन तथा अन्य स्वजन वर्ग के आग्रह में उन्होंने दो वर्षों के लिए और घर ठहरना स्वीकार कर लिया। किन्तु उसमे शर्त यह थी कि "आज से मेरे निमित्त कुछ भी आरम्भ-समारम्भ न करना होगा।" अब वर्धमान गृहस्थ वेष में रहते हुए भी त्यागी जीवन बिताने लगे। अपने लिए बने हुए भोजन, पेय तथा अन्य भोग सामग्री का बिलकुल उपयोग (इस्तेमाल) न करते हुए वे साधारण भोजनादि से अपना निर्वाह करने लगे। ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित तैल-फुलैल, माल्य-विलेपन, और अन्य शृंगार साधनों को उन्होंने पहले ही छोड़ दिया था। गृहस्थ होकर भी वे सादगी और संयम के आदर्श बने हुए शांतिमय और त्यागमय जीवन बिताते थे।

भगवान् महावीर स्वामी ने तीस वर्ष की आयु में सुख-वैभव तथा गृहस्थाश्रम का त्याग कर एकाकी 'जिन दीक्षा' ग्रहण की। आपने सब प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग किया। वस्त्र, पात्र अलंकार आदि सब का त्याग कर साढ़े बारह वर्ष (१२ वर्ष, ६ महीने, १५ दिन) तक घोर तप किया। इतने समय में आपने केवल ३४९ दिन आहार किया, वह भी दिन में मात्र एक ही बार। इतना समय तप करने के बाद छद्मस्थावस्था को दूर कर केवलज्ञान—केवलदर्शन को प्राप्त किया। इस साधनावस्था में प्रभु महावीर ने बड़े-बड़े घोर परिषह और उपसर्गों को सहन किया था।

बड़ी शान्ति और धैर्य से महान कष्टों को सहन करके पूर्व-संचित कर्मों को भोग लिया, जिससे आपके सब घातिया कर्म क्षय हो गये। यदि प्रभु महावीर ऐसे उपसर्गों तथा परिषहों को शान्ति तथा धैर्य के साथ सहन न करते और कठोर तप न करते तो पूर्वोपार्जित पापकर्म क्षय न होते और न ही वे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करते; तथा न ही अन्त में वे सर्व कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते।

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत, जिन, केवली रूप हो गए। विश्व के सब चराचर पदार्थों का साक्षात्कार उन्हें इस प्रकार हो गया जैसे हाथों की अंगुलियां।

भगवान् महावीर को बौद्ध ग्रन्थों में 'निगण्ठ नाथपुत्त' के नाम से सम्बोधित किया है। बौद्धों के 'सुत्तपिटक' नामक ग्रन्थ से निर्ग्रन्थों (जैनों) के मत की काफी जानकारी मिलती है। इन्हीं के "मज्झिमनिकाय के चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त" नामक ग्रन्थ में वर्णन है कि राजगृह में निर्ग्रन्थ खड़े-खड़े तपश्चर्या करते थे। निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। चलते हुए या खड़े रहते हुए, सोते हुए या जागते हुए, हर स्थिति में उनकी ज्ञानदृष्टि कायम रहती थी।

भगवान् महावीर का आचार—

भगवान् महावीर पांच महाव्रत (चरित्र) धारी तथा रात्रि भोजन के सर्वथा त्यागी थे। इन व्रतों का स्वरूप जैन श्रमण के आचार में कहेंगे।

भगवान् महावीर दीक्षा (सन्यास) लेने के बाद एक वर्ष तक मात्र एक देवदूष्य वस्त्र सहित रहे, तत्पश्चात् सर्वथा नग्न रहते थे। हाथों की हथेलियों में भिक्षा ग्रहण करते थे। उनके लिए तैयार किए हुए अन्नादि आहार को वे स्वीकार नहीं करते थे और न ही किसी के निमन्त्रण को स्वीकार करते थे। मत्स्य, मांस, मदिरा, मादक पदार्थ, कन्द-मूल आदि अभक्ष्य वस्तुओं को कदापि ग्रहण नहीं करते थे। प्रायः तपस्या तथा ध्यान में ही रहते थे। छः छः मास तक निर्जल उपवास (सब प्रकार की खाने पीने की वस्तुओं का त्याग) करते थे। सिर दाढ़ी मूछ के बाल उखाड़ कर केशलोच करते थे। स्नानादि के सर्वथा त्यागी थे। छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न हो जाय इसके लिए वे बहुत सतर्कता पूर्वक सावधानी रखते थे। वे बड़ी सावधानी से चलते-फिरते, उठते बैठते थे। पानी की बूंदों पर भी तीव्र दया रहती थी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव का भी नाश न हो जाय इसके लिए बहुत सावधानी रखते थे। भयावने जंगलों में, अटवियों आदि निर्जन जगहों में ध्यानारूढ़ रहते थे। वे स्थान इतने भयंकर होते थे कि यदि कोई सांसारिक मनुष्य वहां प्रवेश करता तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते। जाड़ों में हिमपात की भयानक सर्दी में भी अग्नि की आतापना नहीं लेते थे। सख्त गर्मी के मौसम में भी पंखे आदि से हवा नहीं करते थे। पृथिवी पर चलते समय बनस्पति तथा पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना न हो जाय इसकी पूरी-पूरी सावधानी रखते हुए विहार करते थे।

ऐसा आचरण सभी जैन तीर्थंकरों का होता है। आज भी तपश्चर्या तथा पांच महाव्रतों के अभ्यास से कर्म क्षय किये जा सकते हैं। यह परम्परा आज भी जैनों में कायम है।

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महावीर प्रभु विश्व में दुःख संतप्त प्राणियों के उद्धार के लिए सतत सर्वत्र घूमकर कल्याणकारी उपदेश देते रहे और ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने पावापुरी (बिहार) में निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

श्रमण भगवान् महावीर का तत्त्वज्ञान

किसी भी महापुरुष के जीवन का वास्तविक रहस्य जानने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है :—(१) उस महापुरुष के जीवन की बाह्य घटनाएँ और (२) उनके द्वारा प्रचारित उपदेश। बाह्य घटनाओं से आन्तरिक जीवन का यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता। आन्तरिक जीवन को समझने के लिए उनके विचार ही अभ्रान्त कसौटी का काम दे सकते हैं। उपदेश, उपदेष्टा के मानस का सार, उनकी आभ्यन्तरिक भावनाओं का प्रत्यक्ष चित्रण है। तात्पर्य यह है कि उपदेष्टा की जैसी मनोवृत्ति होगी वैसा ही उसका उपदेश होगा। यह कसौटी प्रत्येक मनुष्य की महत्ता का माप करने के लिए उपयोगी हो सकती है; क्योंकि विचारों का मनुष्य के आचार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए एक को समझे बिना दूसरे को नहीं समझा जा सकता। श्रमण भगवान महावीर के उपदेशों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) विचार यानी तत्त्वज्ञान (२) आचार यानी आचरण अथवा चरित्र। यहां पर उनके विचार अथवा तत्त्वज्ञान का संक्षिप्त परिचय देंगे। केवलज्ञान पाने के बाद भगवान् ने कहा—(१) यह लोक है, इस विश्व में जीव और जड़ दो पदार्थ हैं, इनके अतिरिक्त और तीसरी मौलिक वस्तु है ही नहीं। इसलिए यह कह सकते है कि जीव और जड़ के समूह को ही लोक कहते है। (२) प्रत्येक पदार्थ मूल द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-अन्तवान है। (३) लोकालोक अनन्त है। (४) जीव और शरीर भिन्न हैं। जीव शरीर नहीं, शरीर जीव नहीं। (५) जीवात्मा अनादिकाल से कर्म से बद्ध है इसलिये यह पुनः पुनः जन्म धारण करती है। (६) जीवात्मा कर्म रहित होकर मुक्त होती है। (७) जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है तो भी अहिंसा संयम तथा तपश्चरण द्वारा कर्मों को सर्वथा अलग किया जा सकता है। (८) आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है तथा अरूपी व स्वदेहप्रमाण है। (९) जीवात्मा-ज्ञान-दर्शन-मय स्वतन्त्र पदार्थ है। (१०) विश्व छः द्रव्यात्मक है:—जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। इनमें जीव चैतन्य है, बाकी पाँच द्रव्य जड़ है, पुद्गल रूपी है, बाकी पाच द्रव्य अरूपी है। (११) विश्व के सब पदार्थ उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक नित्यानित्य है। (१२) जीव कर्म करने और भोगने मे स्वतन्त्र है तथा अपने पुरुषार्थ बल से कर्मों का सर्वथा क्षय करके सिद्ध और मुक्त होकर शाश्वत आनन्द का उपभोक्ता बनता है। (१३) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वय धर्ममय बन जाता है। (१४) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनों की परिपूर्णता से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करती है। (१५) मुक्तावस्था में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। (१६) अपने भाग्य का निर्माता जीव स्वयं है। (१७) जीवात्मा मुक्त होने के बाद पुनः अवतार नहीं लेती। (१८) तत्त्व नव है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष। (१९) मानव शरीर से जीवात्मा सब कर्मों को क्षय करके ईश्वर बनती है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। (२०) जीवात्मा राग-द्वेष (मोहनीय कर्म) के क्षय से वीतरागता को प्राप्त करती है। यह ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनती है। (२१) ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है; जगत् तो अनादिकाल से प्रवाह रूप से अनादि और अनन्त है। इस प्रकार लोक जीव, अजीव, ईश्वर आदि के स्वरूप का विस्तार पूर्वक विवेचन कर अपनी सर्वज्ञता का परि-

कथन किया है।

सारांश यह है कि प्रभु महावीर के परम पवित्र प्रवचन (उपदेश) का आधार मन:कल्पना और अनुमान की भूमिका पर नहीं था, परन्तु उनके प्रवचन में केवलज्ञान द्वारा हाथ में रखे हुए आँवले के समान समस्त विश्व के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानकर लोकालोक के मूल-तत्वभूत द्रव्य-गुण-पर्याय के त्रिकालवर्ती भावों का दिग्दर्शन था अथवा आधुनिक परिभाषा में कहा जाए तो उसमें विराट विश्व या अखिल ब्रह्माण्ड (Whole Cosmos) की विधि विहित घटनाएं (Natural phenomena) उनके द्वारा होती हुई व्यवस्था (Organisation), विधि का विधान और नियम (Law and order) का प्रतिपादन तथा प्रकाशन था।

श्रमण भगवान महावीर तथा अहिंसा

साढ़े बारह वर्ष की कठिन तपस्या और घोर योगचर्या के पश्चात् भगवान् महावीर-वर्धमान को केवलज्ञान—केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी जीवन-मुक्त परमात्मा हुए। अब तीर्थंकर कर्म प्रकृति का पूर्ण विकास उनके महान व्यक्तित्व में हुआ। केवलज्ञान की प्राप्ति से भगवान महावीर सारे विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को हाथ की अंगुलियों के समान प्रत्यक्ष जानने लगे। उस समय वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के जीवित पुञ्ज थे। जैनागमों में सर्वत्र भगवान् महावीर को सर्वज्ञ सर्वदर्शी माना है। ज्ञातृपुत्र महावीर के समकालीन बौद्धों के पिटकों में भी भगवान महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार किया है। बौद्धों के 'अंगुत्तरनिकाय' नामक ग्रंथ में लिखा है कि ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनन्त थी। वे चलते, बैठते, सोते, जागते हर समय सर्वज्ञ थे।[1] 'मज्झिम निकाय' में उल्लेख है कि ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञ है।[2] वे जानते हैं कि किस किसने किस प्रकार का पाप किया है और किसने नहीं किया है।

भगवान् महावीर अहिंसा तत्त्व की साधना करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने संयम और तप ये दो साधन पसन्द किए। उन्होंने यह विचार किया कि मनुष्य अपनी सुख प्राप्ति की लालसा से प्रेरित होकर ही अपने से निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देता है और इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के कारण व्यक्तियों और समूहो में द्वेष बढ़ाता है, शत्रुता की नींव डालता है और इसके फलस्वरूप पीड़ित एवं पददलित जीव बलवान होकर बदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते हैं और बदला लेते भी है। इस तरह हिंसा और प्रतिहिंसा का ऐसा विषचक्र तैयार हो जाता है कि लोग संसार के सुख को स्वयं ही नरक बना देते हैं। हिंसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसातत्त्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों का और प्राणिमात्र की शान्ति का मूल देखा। यह विचार कर उन्होंने वैरभाव को तथा कायिक और मानसिक दोषों से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये तप और संयम का अवलम्बन लिया।

संयम का सम्बन्ध मुख्यत: मन और वचन के साथ होने के कारण उन्होंने ध्यान और मौन को स्वीकार किया भगवान् महावीर के साधक-जीवन में संयम और तप यही दो बातें मुख्य हैं

1. अं० नि० १-२२०.
2. म० नि० २-२१४-२८.

और उन्हें सिद्ध करने के लिए उन्होंने साढ़े बारह वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता और अप्रमाद का परिचय दिया वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने किया हो वह दिखलाई नहीं देता। गौतम बुद्ध आदि ने महावीर के तप को देह-दुःख और देहदमन कह कर उसकी अवहेलना की है। परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिए भगवान् महावीर के जीवन पर तटस्थता से विचार करते तो उन्हें यह मालूम हुए बिना कदापि नहीं रहता कि भगवान् महावीर का तप शुष्क देहदमन नहीं था। वे संयम और तप दोनों पर समान रूप से जोर देते थे। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुखसुविधा की आहुति दे र अपनी सुखसुविधा बढ़ाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पाएग इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी पराधीन प्राणी पर अनिच्छा पूर्वक आ पड़े देह कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसातत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुंचते गए त्यों त्यों उनकी गम्भीर शान्ति बढ़ने लगी। जिसके प्रभाव से उन्होंने राग-द्वेष को सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति कर सर्वज्ञत्व प्राप्त किया।

भगवान् महावीर के समकालीन अनेको धर्मप्रवर्तक थे उनमें से १. तथागत गौतमबुद्ध २. पूर्णकश्यप, ३. संजय बेलट्ठिपुत्त, ४. पकुधकच्चायन, ५. अजितकेस कम्बलि और ६. मंखली गोशालक के नाम मिलते है। (भगवान् महावीर इनके अलावा थे)।

उस समय के सर्व धर्म-प्रवर्तकों से भगवान महावीर के तप त्याग संयम तथा अहिंसा की जनता के मानस पर बहुत गहरी छाप पड़ी थी, क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिससे वे वीतराग बने थे। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग में न हो सके वह अहिंसा, तप तथा त्याग कैसा ही क्यो न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। अतः प्रभु महावीर ने राग-द्वेष की विजय पर ही मुख्यतया भार दिया था और अपने आचरण में आत्मसात् कर उन्होंने अपनी काया, वाणी तथा मन पर काबू पाया था अर्थात् अपने दैहिक और मानसिक सब प्रकार के ममत्व का त्याग कर राग-द्वेष को सर्वथा जीतने से समदृष्टि बने थे। इसी दृष्टि के कारण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैनधर्म का बाह्य और आभ्यन्तर, स्थूल अथवा सूक्ष्म सब प्रकार का आचार साम्यदृष्टि-मूलक, अहिंसा की भित्ति पर ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न हो सके ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नही रखती।

यद्यपि अन्य सब धार्मिक परम्पराओं ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है पर जैन परम्परा ने इस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्मपरम्रा में देखी नही जाती। जैनधर्म ने मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वनस्पति ही नहीं किन्तु पार्थिव, जलीय, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा है। अहिंसा के इस उपर्युक्त विवेचन से भगवान् महावीर के आदर्श अहिंसामय जीवन का और उनके द्वारा प्रदत्त अहिंसा के उपदेश का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने स्थान-स्थान पर तथा समय-समय पर अपनी अहिंसक वृत्ति का अपने

जीवन में अनेक बार परिचय दिया है । १. जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे तब एक प्रचण्ड विषधर (चण्डकौशिक) ने उन्हें डस लिया उस समय वे न केवल ध्यान में अचल रहे परन्तु उन्होंने मैत्री भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह सदा के लिए उपशांत हो गया। वैर से होने वाली हिंसा को रोकने का भरसक प्रयत्न तो वे आजन्म करते ही रहे। इसलिए तो उन्होंने अहिंसा को जैनश्रमणों तथा जैन श्राविकों के व्रतों में सर्वप्रथम स्थान दिया है :—

"तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।। (द० अ० ६ गा० ६)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई कंचणं ।
अहिंसा संयमं चेव, एतावंतं विजाणिया ।। (सू० श्रु० १ अ० ११ गा० १०)

अर्थात् अहिंसा को प्रभु महावीर ने (साधु और श्रावक के व्रतों में) सर्वप्रथम रखा है। अहिंसा को उन्होंने कल्याणकारी ही देखा है। सर्वजीवो के प्रति संयमपूर्ण जीवनव्यवहार ही उत्तम अहिंसा है।

ज्ञानियों के वचनों का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाये। अहिंसा के द्वारा प्राणियों पर समभाव ही धर्म समझना चाहिए।

सारांश यह है कि जैन तीर्थंकर अहिंसा की सुरक्षा के लिए आजन्म कटिबद्ध रहे और अनेक कठिनाइयों के बीच भी इन्होंने अपने आदर्शों द्वारा विश्व को मैत्री तथा करुणा का पाठ पढ़ाया है। उनके ऐसे ही आदर्शों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती आयी है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण भगवान् महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। उनके आचार और विचार यहां तक पवित्र थे कि जब वे अजीव पदार्थों का भी इस्तेमाल (उपयोग) करते थे तो इस बात की पूरी सावधानी रखते थे—"मेरे द्वारा किसी छोटे से छोटे प्राणी को भी कष्ट न पहुंचे।"

इस विश्वविभूति ने जगत के प्राणियो को जिस अहिसा के महान् पवित्र सिद्धान्त का उपदेश दिया था। अर्थात् जो कुछ वे जगत के प्राणियों को आचरण करने के लिए उपदेश देते थे उसको वे स्वयं भी पालन करते थे। उनके रोम-रोम और शब्द-शब्द से विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति वात्सल्य भाव प्रगट होता था। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद सर्वप्रथम यही उपदेश दिया था— "मा हण-मा हण (मत मारो-मत मारो)" अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो और इसी उपदेश के अनुसार ही जो उनके धर्ममार्ग को स्वीकार करता था, उसे वे सर्वप्रथम जीव-हिंसा का त्याग रूप "प्राणातिपात विरमण व्रत" धारण कराते थे। फिर वह चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक इसका विवेचन हम पहले कर आए है।

श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा के विषय में भारत के महान धाराशास्त्री सर अल्लाड़ी कृष्णा स्वामी अय्यर ने एक तार्किक दलील दी थी। उन्होंने कहा था कि मैं धारा शास्त्र का अभ्यासी होने से धार्मिक तत्त्वज्ञान में विशेष अध्ययन का लाभ नहीं उठा सका। परन्तु Logically (तार्किक

ढंग से) कहना पड़ता है कि मृग और गाय आदि प्राणी जो तृण भक्षण से अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे यदि मांस भक्षण के विमुख बनें तो उसमें विशेषता ही क्या है? तत्त्व तो वहां है कि सिंह का बच्चा मांस का विरोध करे। यानि उनके कहने का अभिप्राय यह है कि धन-सोना, ऋद्धि-सिद्धि और एश्वर्य के झूले में झूला हुआ और खूनी संस्कृति से भरे हुए क्षत्रिय कुल के वातावरण में चमकती हुई तलवार के तेज में तल्लीन होता हुआ बालक, कुल परम्परा की कुल देवी समान खूनी खंजर के विरुद्ध महान आन्दोलन करने के लिए सारी ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति को मिट्टी के समान मान कर और भोग को रोग तुल्य समझ कर योग की भूमिका में खूनी वातावरण को शान्तिमय और अहिंसक बनाने के लिए वनखण्ड और पर्वतों की कदराओं में निस्पृही बन कर ज्ञातृ-पुत्र वर्धमान (महावीर) सारा जीवन व्यतीत करे। मात्र दिनों तक ही नहीं किन्तु महीनों एवं वर्षों तक भूपति दीर्घ-तपस्वी बन कर भटकता फिरे। साढ़े बारह वर्ष की घोर संयम यात्रा में अंगुलियों पर गिने जाने वाले नाम मात्र के दिनों में पारणे रूखे-सूखे टुकड़ों से करे और सारा काल अहिंसा के आदर्श सिद्धान्त के पालन करने और कराने में निमग्न रहे। संयम की सर्वोत्कृष्ट साधना करने में तीव्रातितीव्र तप की ज्वालाओं से अपनी आत्मा को कंचन समान निर्दोष बनाने में तल्लीन रहे उनकी इस घोर तपस्या-सयम आदि अमूल्य जीवन-यात्रा के पर्दे मे बड़ा भारी रहस्य था कि जिसमें मात्र मानव-समाज ही का नही, परन्तु प्राणी मात्र के परम श्रेय का लक्ष्य था।

मुझे तो यह तार्किक अनुमान बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। दया के परम्परागत संस्कारों वाले कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति दया का पालन करे और उसकी पुष्टि के लिए बातें करे यह तो स्वाभाविक है तथा भोग सामग्री के अभाव में वैराग्य के वातावरण का असर अनेकों पर होना संभव है किन्तु राजकुल की ऋद्धि और ऐश्वर्य के सागर मे से बाहर कूद कर त्याग भूमि पर आने वाले तो कोई अलौकिक व्यक्ति ही नजर आते है।

भगवान् महावीर ने जो उपसर्ग तथा परिषह सहन किए उनका वर्णन करते हुए हृदय कांप उठता है। धन्य है उस महाप्रभु महावीर को जिनके हृदय में मित्रों के श्रेय के समान शत्रुओं के श्रेय का भी स्थान था।

जैनागमो में कहा है कि वे मात्र क्षमा में ही वीर न थे किन्तु दानवीर दयावीर, शीलवीर, त्यागवीर, तपोवीर, धर्मवीर, कर्मवीर और ज्ञानवीर आदि सर्व गुणों में वीर शिरोमणि होने से उनका वर्धमान नाम गौन होकर महावीर नाम विख्यात हुआ।

भगवान ने कहा किसी देश राष्ट्र और जगत को जीत कर वश में करने वाला सच्चा विजेता नहीं, किन्तु जिसने अपनी आत्मा को जीता (self conqueror) है वही सच्चा विजेता है।

उनका दर्शाया हुआ अहिंसावाद, कर्मवाद, तत्त्ववाद, स्याद्वाद, सृष्टिवाद, आत्मवाद, परमाणुवाद, और विज्ञानवाद इत्यादि प्रत्येक विषय इतना विशाल और गम्भीर है जिनका अभ्यास करने से उनकी सर्वज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है।

उन्होंने सर्वसाधारण जनता को मानव संस्कृति विज्ञान (Science of Human culture) के विकास की पराकाष्ठा पर पहुंचने के लिए मुक्ति महातीर्थ का राजमार्ग (Royal road) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र (Right faith, Right knowledge and Right conduct) रूप अपूर्व साधन द्वारा पद्धतिसर दर्शाया। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाये।

संसार में तीर्थंकर पद सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि और सर्वपूज्य होने के कारण उस काल में बौद्ध-धर्मादि भिन्न-भिन्न धर्मों के संस्थापक और संचालक अपने आपको तीर्थंकर कहलाने में उत्सुकता पूर्वक प्रतिस्पर्द्धा की दौड़धूप मचा रहे थे। अर्थात् *उस समय मत-प्रतिस्पर्द्धा* (Religious rivalry) की होड़ा-होड़ मच रही थी। जैसे कि आज सत्ता और प्रसिद्धि (Power and popularity) प्राप्त करने के लिए होड़ मच रही है। परन्तु कहावत है कि "All that glitters is not gold" (प्रत्येक चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती)। इस उक्ति के अनुसार श्रुति युक्ति और अनुभूति द्वारा सुज्ञ और विज्ञजन (People of Culture and common sense) के लिए यह समझना कोई कठिन बात नहीं है कि तीर्थंकर होने के लिए जिस योग्यता का होना आवश्यक है वह भगवान महावीर के सिवाय उनके समकालीन अन्य किसी भी धर्म प्रवर्तक में नहीं थी।

भगवान् महावीर के परम पवित्र प्रवचन का आधार मनः कल्पना और अनुमान की भूमिका पर तो था ही नही। उनका तत्त्वज्ञान वास्तविकता पर अवलम्बित है। ऐसा कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि उनका पदार्थ-विज्ञान और परमाणुवाद आधुनिक विज्ञानवे (Atomic and moleculer theories) अणुवाद की मान्यता से तो क्या परन्तु डाक्टर एन्स्टीन, एडिंगटन, स्पेन्सर, डेल्टन और न्युटन की (theories) मान्यताओं को भी मात करता है। भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक विद्वानों ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

जर्मन विद्वान डा० हर्मन जेकोबी कहते है कि:—

अन्त में मुझे अपना निश्चित विचार प्रकट करने दो, मैं कहूंगा कि जैनधर्म के सिद्धान्त मूल सिद्धान्त है। वह धर्म स्वतन्त्र और अन्य धर्मो से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धार्मिकजीवन का अभ्यास करने के लिए यह बहुत उत्तम है।

बुद्ध ने केवल अहिसा का उपदेश दिया था परन्तु भगवान् महावीर ने अहिंसा को मूल सिद्धान्त का दर्जा देकर चारित्र व्रत में सर्वप्रथम सम्मिलित किया। बौद्ध मत की अहिंसा थोथा उपदेश बनकर ही रह गयी। क्योकि तथागत गौतम बुद्ध उसे अपने आचार और व्यवहार में उतार न सके। यदि उन्होंने अपने आचार और व्यवहार में उतारा होता तो बौद्ध जगत् कदापि मांसाहारी न होता। इससे स्पष्ट है कि वह अहिंसा धर्म के मर्म को समझ ही न पाये। भगवान् महावीर ने अपने आचरण और उपदेश से जगत के सामने अहिंसा का इतना सुन्दर स्वरूप रखा कि आज भी जैन समाज पूर्ववत कट्टर निरामषाहारी है। उन्होंने फरमाया कि किसी के अस्तित्व को न मिटाओ जिस प्रकार प्राणि हिंसा दुर्गति का कारण है उसी प्रकार मांसभक्षण भी दुर्गति का कारण है। आप ने ऐसे धर्म को धर्म कहा जो सब प्राणियों का रक्षक हो और ऐसे धर्म को निर्वाण का राज-मार्ग कहा।

१. प्रो० डी० सी० शर्मा अपनी पुस्तक 'हिन्दुइजम में लिखते हैं :—

Buddhism only teaches the doctrine of the sanctity of animal life, but Jainism not only taught it, but also put it into practice. A Buddhist may not kill or do injury to any creature himself, but apparently he is allowed to purch-

ase meat from a butcher. A Jain on the other hand is bound to be a strict Vegetarian."

अर्थात्—बुद्धधर्म केवल पशु के जीवन की रक्षा का ही उपदेश देता है जैनधर्म ने केवल उपदेश ही नहीं दिया परन्तु उपदेश के साथ आचरण में भी उतारा है। एक बौद्ध किसी पशु का स्वयं वध अथवा हिंसा चाहे न करे परन्तु उसे निःसंकोच कसाई की दुकान से मांस खरीदने की आज्ञा है। दूसरी ओर एक जैन निश्चयरूपेण दृढ़ शाकाहारी है।

मांस भक्षण से मात्र जैन ही अलिप्त रहे हैं

प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० तिरुकुरल" पुस्तक पृ० ३०-३१ में लिखते हैं कि :—

जिन मांस भक्षण, मदिरापान तथा व्यभिचार को जैनों ने निन्द्य मान कर त्याग किया था, उन्हें कापालिकों ने श्रद्धा से मूल सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया था। यानी उन्होंने मांसाहार, मदिरापान तथा व्यभिचार सेवन को धर्म रूप स्वीकार किया था।

बौद्धो ने वेदो को तो प्रामाणिक नही माना किन्तु मांस भक्षण का त्याग नहीं किया। बौद्ध गृहस्थ अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी मांसाहारी थे और हैं। वे अहिंसा को इस रूप से मानते थे कि पशुओं की स्वयं हत्या न करना। परन्तु उन्हें कसाई के वहां से ऐसा मांस खरीदने में कोई आपत्ति नही थी, जिसे उन्होने स्वय न मारा हो; बौद्ध ग्रन्थो से हम ऐसा जान सकते हैं। जब तथागत गौतम बुद्ध स्वयं विद्यमान थे तब भी यह प्रथा प्रचलित थी। जब बौद्ध भिक्षु इस प्रकार (बे रोक-टोक) मांसाहार करते थे तब बौद्ध गृहस्थों को भी मांसभक्षण का कोई प्रतिबन्ध नही था। यदि बौद्धों से जैनो की कोई मौलिक विशेषता खोजने जावें तो हमें यह निःसंदेह कहना पड़ेगा कि जैन कट्टर शाकाहारी है।

हम वैदिक धर्मानुयायी मनु, बोधायन तथा उनके बाद के वैदिक सिद्धान्त निर्माताओं के धर्मशास्त्रो में से नीचे लिखे विचार पाते है :—

मधुपर्क में बोधायन ने २५ या २६ ऐसे पशुओं की सूची दी है, जो कि (मांसाहार के लिए) वध करने योग्य हैं।

वैदिक धर्मशास्त्रों में एक और विशेष बात यह भी पायी जाती है कि उन्होंने खेती-बाड़ी को एक निकृष्ट कार्य मानकर उसे चौथे वर्ण यानी शूद्रों के करने के योग्य बतलाया है। द्विजों ने खेती-बाड़ी के धन्धे को स्वीकार करना अपनी हीनता माना है। मात्र इतना ही नही परन्तु ऊंचे वर्णों के धर्म प्रचारकों ने तो हल छूने तक का विचार मात्र करना भी नितान्त अनुचित माना है।

साराश यह है कि वैदिक धर्मानुयायी मांसभक्षण को उत्तम मानते थे तथा खेती-बाड़ी को निकृष्ट। जैनों ने मांस भक्षण को एकदम त्याज्य माना और खेती बाड़ी को जैन श्रमणोपासकों (श्रावको) के लिए त्याज्य नहीं माना। उपासकदशांग जैनागम में भगवान् महावीर के जिन दस श्रावकों का चरित्रचित्रण किया गया है, उनका मुख्य व्यवसाय प्राय: खेती-बाड़ी ही था।

निर्ग्रन्थ श्रमण (जैन साधु-साध्वी) का आचार

जैनागमों में त्यागमय जीवन अङ्गीकार करनेवाले व्यक्ति की योग्यता का विस्तृत वर्णन किया है। आयु का कोई प्रतिबन्ध न होने पर भी जिसे शुभ तत्त्व-दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा-

अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है जो भोग को रोग और इन्द्रियों के विषयों को विष समझ चुका है तथा जिसके मानस-सर में वैराग्य की उर्मियां लहराने लगी हैं वही त्यागी निर्ग्रंथ बनने के योग्य है। पूर्ण विरक्त होकर शरीर सम्बन्धी ममत्व का भी त्याग करके जो आत्म-आराधना में संलग्न रहना चाहता है वह मुनिधर्म अर्थात् जैन दीक्षा ग्रहण करता है।

उसे घर-बार, धन-दौलत, स्त्री-परिवार, माता-पिता, खेत-जमीन आदि पदार्थों का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। सच्चा श्रमण वही है जो अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है, वह अपनी पीड़ा को वरदान मानकर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है,मगर पर-पीड़ा उसके लिए असह्य होती है। जैन साधु वह नौका है जो स्वयं तैरती है तथा दूसरों को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते हैं— साधुओ ! श्रमण निर्ग्रंथों के लिए लाघव कम से कम साधनों से निर्वाह करना, निरीहता— निष्काम वृत्ति, अमूर्च्छा—अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता, शान्ति, नम्रता, सरलता निर्लोभता ही प्रशस्त है।

जैन भिक्षु के लिए पांच महाव्रत अनिवार्य हैं। उन्हें रात्रि भोजन का भी सर्वथा त्याग होता है। इन महाव्रतो का भलीभांति पालन किए बिना कोई साधु नही कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार हैं :—

"पाणिवह—मुसावाया-अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राइभोयण विरओ, जीवो भवइ अणासवो।"

१. **अहिंसा महाव्रत**—जीवन पर्यन्त त्रस (हलन-चलन की सामर्थ्य वाले) और स्थावर (एक स्थान पर स्थिर रहने वाले) सभी जीवों की मन, वचन काया से हिंसा न करना, दूसरो से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना —अहिंसा महाव्रत है।

साधु प्राणिमात्र पर करुणा की दृष्टि रखता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है। अग्निकाय के जीवो की हिंसा से बचने के लिए अग्नि का उपयोग नही करता पंखा आदि हिलाकर वायु की उदीरना नही करता। पृथ्वीकाय के जीवों की रक्षा के लिए जमीन खोदने आदि की क्रियाएँ नही करता। वह अचित्त-जीवरहित आहार को ही ग्रहण करता है। मांसाहार सर्वदा सजीव होने से उसका सर्वथा त्यागी होता है। महाव्रतधारी जैन साधु स्थावर और चलते फिरते त्रस जीवो की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है।

जैन मुनि रात्रि भोजन का भी त्यागी होता है, क्योकि रात्रि-भोजन में आसक्ति और राग की तीव्रता होती है तथा जीव जन्तु आदि के गिर जाने से हिंसा एव मांसाहार के दोष का लगना भी संभव है।

श्रमण भगवान् महावीर फरमाते है कि :—

सूर्य के उदय से पहले तथा सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रंथ मुनिको सभी प्रकार के भोजन पान आदि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिए। क्योंकि संसार मे बहुत से त्रस जीव (चलने फिरने, उड़ते वाले) और स्थावर (एक स्थान पर रहने वाले) प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं।

जमीन पर कही पानी पड़ा होता है, कही बीज बिखरे होते हैं और कही पर सूक्ष्म कीड़े मकौड़े आदि जीव होते हैं। दिन में उन्हें देखभाल कर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि को उन्हें बचाकर भोजन करना संभव नही है। रात्रि को भोजन आदि में त्रस जीवों का पड़ जाना प्रायः

संभव होने से हिंसा एवं मांसाहार के दोष से प्रायः बचा नहीं जा सकता। इस प्रकार सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने कहा है कि "निर्ग्रंथ मुनि रात्रि को किसी भी प्रकार से भोजन न करे।"

अन्नादि चारों ही प्रकार के आहार(१. अशन—वह खुराक जिससे भूख मिटे, २. पान-वह आहार जिससे प्यास आदि मिटे, ३. खाद्य-यह आहार जिससे थोड़ी तृप्ति हो, जैसे फलादि, ४. स्वाद्य—इलायची सुपारी आदि) का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अतः अहिंसा महाव्रतधारी श्रमण रात्रिभोजन का सर्वथा त्यागी होता है।

२. **सत्य महाव्रत**—मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना, और काय से सत्य का आचरण करना तथा सूक्ष्म असत्य का भी प्रयोग न करना, सत्य महाव्रत है।

जैन साधु मन वचन तथा काया से कदापि असत्य का सेवन नहीं करता। उसे मौन रहना प्रियकर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। वह बिना सोचे विचारे नही बोलता। हिंसा को उत्तेजन देने वाला वचन मुख से नही निकालता। हँसी, मजाक आदि बातो से, जिनके कारण असत्य भाषण की संभावना रहती है, उससे दूर रहता है।

२. **अचौर्य महाव्रत**—मुनि संसार की कोई भी वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण नही करता, चाहे वह शिष्यादि हो, चाहे निर्जीव घासादि हो। दांत साफ करने के लिए तिनका जैसी तुच्छ वस्तु भी मालिक की आज्ञा बिना नहीं लेता।

४. **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—जैन मुनि काम वृत्ति और वासना का नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिए अनेक नियमों का कठोरता से उसे पालन करना पड़ता है। उन में से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) जिस मकान में स्त्री,[1] पशु, नपुंसक का निवास हो उसमें न रहना।
(ख) स्त्री अथवा पुरुष के हाव-भाव विलास आदि का वर्णन न करना।
(ग) स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना।
(घ) स्त्री अथवा पुरुष के अंगोपांगों को राग दृष्टि से न देखना।
(ङ) स्त्री पुरुषों के कामुकता पूर्ण शब्द न सुनना और न बोलना।
(च) अपने गृहस्थावस्था के पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है।
(छ) सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना।
(ज) मर्यादा से अधिक आहार नहीं करना। अधिक से अधिक बत्तीस[2] छोटे कौर(कवल) भोजन करना।
(झ) स्नान, मंजन, शृंगार आदि करके आकर्षक रूप न बनाना।

---

1. ब्रह्मचर्य पालन के इन नौ नियमो मे साधु के लिए जहां स्त्री के लिए उल्लेख किया है। वहां साध्वी के लिए पुरुष का त्याग समझें। ब्रह्मचर्य पालन के लिए इन नौ नियमों का नौ बाड़ों के नाम से जैन शास्त्रों में वर्णन है।

2. साध्वी २८ कौर से अधिक भोजन न करें।

५. अपरिग्रह महाव्रत—साधु परिग्रह मात्र का त्यागी होता है, फिर भले ही वह घर हो खेत हो, धन-धान्य हो, या द्विपद-चतुष्पद हो, अथवा अन्य भी कोई पदार्थ हो। वह सदा के लिए मन वचन-काया से समस्त परिग्रह को छोड़ देता है। पूर्ण असंग, अनासक्त, अपरिग्रही और सब प्रकार के ममत्व से रहित होकर विचरण करता है। साधुधर्म का पालन करने के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है उनके प्रति भी उसे ममत्व नही होता।

यद्यपि मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थों के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थों का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

जैन साधु किसी प्राणी अथवा वाहन की सवारी नही करता। वह सदा नंगे पांव नंगे सिर सर्वत्र पाद विहार द्वारा घूम फिरकर सब जीवों को आत्म-साधक बनाने के प्रयत्न में संलग्न रहता है। सर्दी-गर्मी,भूख-प्यास, वर्षा-धूप की भी परवाह न करके वह सतत ध्यान, तप तथा प्राणियों के उपकार के लिए पर्यटक बना रहता है। सब प्रकार के परिषहो और उपसर्गों को सहर्ष सहन करते हुए भी अपने जीवनलक्ष्य का त्याग नही करता। किसी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी की भी हिंसा उससे न हो जाय इसके लिए वह सदा सावधान रहता है और इस दोष से बचने के लिए वह अपने पास सदा रजोहरण[1] रखता है तथा सचित कच्चा, पक्का अथवा दोष वाला ऐसा वनस्पति का आहार भी कभी ग्रहण नही करता। वस्तु के निकम्मे भाग को डालने से किसी एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा न हो जाय इसकी पूरी सावधानी रखकर स्थान को देखभाल कर तथा पूंज-प्रमार्जन करके डालता है।

जैन साधु-साध्वी अलग-अलग स्थानों में रहते है। इनका न कोई मठ-मकान आदि होता है और न ही एक स्थान पर अधिक समय निवास करते हैं। वर्षाकाल के श्रावण से कार्तिक—चार मास किसी ग्राम या नगर में एक स्थान पर निवास करते है तथा वर्षा के बाद आठ महीने विचरण करके स्व-पर कल्याण करते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रंथ श्रमण-जैन साधु एकेन्द्रीय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा से बचने के लिए सदा जागरूक रहता है।

जैन तीर्थंकरों ने पुरुष तथा स्त्री दोनों को पांच महाव्रतधारी और निर्वाण-मोक्ष का अधिकारी बतलाया है। अतः साधु के समान ही साध्वी का आचार भी समझ लेना चाहिए।[2]

जैन श्रावक-श्राविका (गृहस्थ) का धर्म

अर्हतों ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभिक ही था कि उसे स्थाई और व्यापक रूप देने के लिए संघ की स्थापना करते। क्योंकि संघ के बिना धर्म सिद्धांत चिरस्थाई नही रह पाते।

जैनसंघ चार श्रेणियों में विभक्त है, इसलिए इसे चतुर्विध संघ कहते हैं—१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका।

इसमें साधु (मुनि) साध्वी (आर्यिका) का आचार एक जैसा है और श्रावक श्राविका का आचार एक-सा है। साधु-साध्वी का आचार हम लिख आये हैं। अब श्रावक-श्राविका के आचार का वर्णन करते हैं।—कहा भी है कि—

जो चेव जिणवरेहिं जाइ-जरा-मरण-विप्पमुक्केहिं।
लोगम्मि पहा भणिया सुसमण सुसावगो वा वि॥

---

1. एक ऊनादि नरम वस्तु का गुच्छा, जिससे स्थान साफ करने पर जीवादि की हिंसा का बचाव होता है।
2. दिगम्बर भाई मनुष्य स्त्री को न तो पांच महाव्रतधारिणी साध्वी मानते हैं और न ही उसमें सर्वकर्म क्षय करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। उसके निर्वाण के वे एकदम निषेधक हैं। जो कि तीर्थंकरो के सिद्धांत के एकदम विपरीत है।

अर्थात्—जन्म, जरा, मरण से मुक्त जिनेश्वर प्रभु ने इस लोक में दो ही मार्ग बतलाये हैं—एक है उत्तम श्रमण-श्रमणियों का और दूसरा है उत्तम श्रावक-श्राविकाओं का।

गृहस्थों में पुरुष को श्रावक कहते हैं तथा स्त्री को श्राविका कहते हैं। श्रावक-श्राविका का भी आर्हत् शासन में महत्वपूर्ण स्थान है।

श्रावक का आचार मुनिधर्म के लिये नींव के समान है इसीके ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

श्रावक पद का अधिकारी

श्रावक-श्राविका होने के लिए भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं। प्रत्येक गृहस्थ भाव श्रावक नहीं कहला सकता किन्तु विशिष्ट व्रतों को अंगीकार करने वाला गृहस्थ पुरुष या स्त्री ही श्रावक-श्राविका कहलाने का अधिकारी है।

जो व्यक्ति प्रव्रजित होकर अणगार धर्म (साधुधर्म) स्वीकार नही कर सकता, वह जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित श्रावक धर्म के बारह व्रतों को अंगीकार कर आगार (गृहस्थ) धर्म का पालन करता है।

श्रावक धर्म की पूर्वभूमिका—

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक-श्राविका बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिये निम्न-लिखित सात दुर्व्यसनो का त्याग करना आवश्यक है। यथा—

१—जुआ खेलना, २—मांसाहार, ३—मदिरा पान, ४— वैश्यागमन, ५— शिकार, ६—चोरी, ७—पर-स्त्री-गमन (स्त्री के लिये पर-पुरुष गमन)।

ये सातों दुर्व्यसन जीवन को अध.पतन की ओर ले जाते हैं। इनमें से किसी भी व्यसन मे फंसा हुआ अभागा मानव प्रायः सभी व्यसनों का शिकार बन जाता है। इन सातो का त्याग करने वाला ही श्रावक-श्राविका बनने का पात्र है।

श्रावक-श्राविका बनने के लिये

उपर्युक्त सात व्यसनों के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहियें। जैन परिभाषा में उन्हें मार्गानुसारी गुण कहते हैं। इन गुणो मे से कुछ ये है—

नीतिपूर्वक धन उपार्जन करना, शिष्टाचार का प्रशसक होना, गुणवान पुरुषो का आदर तथा संगति करना, मधुरभाषी, लज्जाशील, शीलवान होना, उचित आचरण— माता, पिता, स्वामी, उपकारी, भाई-बहनो, अपने से बड़ों, विद्यागुरु, धर्मगुरु, पति-पत्नी, सन्तान, रिश्तेदारो का भक्त एवं सेवक होना। धर्मविरुद्ध, कुलविरुद्ध, देशविरुद्ध कार्य न करना, आमदनी से अधिक खर्च न करना, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनना, धर्मग्रंथों का स्वाध्याय करना, देव (तीर्थंकर) गुरु (पांच महाव्रतधारी साधु-साध्वी) की भक्ति करना, नियमित समय पर परिमित-सात्विक भोजन करना, अतिथि दीन-हीन जनों का एवं साधु-संतों का यथोचित सत्कार करना, गुणों का पक्ष-पाती होना, अपने आश्रित जनों का पालन-पोषण करना, आगा-पीछा सोचकर काम करना, परोपकार परायण होना, काम क्रोधादिक आन्तिरिक शत्रुओं को दमन करने के लिये उद्यत रहना, इंद्रियों पर काबू रखना, इत्यादि। इन गुणों से युक्त गृहस्थ, श्रावक धर्म का अधिकारी है।

तथा प्रत्येक तत्त्व के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने की अभिरुचि से तत्त्वों के

वास्तविक स्वरूप को जानते हुए सत्-श्रद्धा-वाला (सम्यक्त्ववान) गृहस्थ ही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

श्रावक किसे कहते हैं—

संपत्त-दंसणाई पइदियहं जइजणा सुणेईय ।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं बिंति ॥

अर्थात्—जो सम्यग्दर्शन प्राप्त कर प्रतिदिन साधुजनों की परम सामाचारी (आचार विषयक उपदेश) का श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

श्रावक-श्राविका का धर्म

जैनागम का विधान है—"**चारित्तं धम्मो**" अर्थात् चरित्र ही धर्म है। चरित्र क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि—

"असुहाओ विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ॥"

अर्थात्—अशुभ का त्याग करना तथा शुभ का आचरण करना चारित्र कहलाता है।

वस्तुतः सम्यक् चारित्र या सदाचार ही मानव की मानवता है। सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है। श्रावक-श्राविका के चारित्र (धर्म) में बारह व्रतों का समावेश है।

श्रावक-श्राविका के १२ व्रतों के नाम

पांच अणुव्रत—१-स्थूल प्राणातिपात विरमण (अहिंसा) अणुव्रत, २-सत्याणुव्रत, ३-अचौर्याणुव्रत, ४-ब्रह्मचर्याणुव्रत, ५-परिग्रह परिमाणाणुव्रत।

तीन गुणव्रत—६-दिग्परिमाणव्रत, ७-भोगोपभोग परिमाण व्रत, ८-अनर्थदंड विरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत—९-सामायिक व्रत, १०-देशावकाशिक व्रत, ११-पौषधोपवास व्रत, १२-अतिथि—संविभाग व्रत।

(१) अहिंसा अणुव्रत

पहला व्रत—'स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत है। अर्थात् जीवों की हिंसा से विरत होना। संसार में दो प्रकार के जीव हैं—स्थावर और त्रस। जो जीव अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने में असमर्थ हैं वे स्थावर कहलाते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के स्थावर जीव हैं। इन प्राणियों के मात्र स्पर्शनेन्द्रिय होती हैं। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं।

जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी इच्छा के अनुसार आते जाते हैं, जो चलते, फिरते और बोलते हैं वे त्रस हैं। इन त्रस जीवों में कोई दो इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं। संसार में समस्त जीव स्थावर और त्रस विभागों में समावेश पा जाते हैं।

साधु-साध्वी दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का पूर्णरूप से त्याग करते हैं। परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते। अतएव उनके लिये स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है। निरापराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है।

जैन शास्त्रों में हिंसा चार प्रकार की बतलाई गई है—

१-आरंभी हिंसा, २-उद्योगी हिंसा, ३-विरोधी हिंसा और संकल्पी हिंसा।[1]

१-आरंभी हिंसा—जीवन निर्वाह के लिए, आवश्यक भोजन पान के लिए, और परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा-आरंभी हिंसा है।

२-उद्योगी हिंसा—गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिए कृषि, गोपालन, व्यापार आदि, कल-कारखाने लगाता है और उन उद्योगों में हिंसा की भावना न होने पर भी हिंसा होती है। वह उद्योगी हिंसा है।

३-विरोधी हिंसा—अपने प्राणों की रक्षा के लिए, कुटुम्ब परिवार की रक्षा के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं से देशादि की रक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा—विरोधी हिंसा है।

४-संकल्पी हिंसा—किसी निरापराधी प्राणी को जान बूझकर मारने की भावना से हिंसा करना—संकल्पी हिंसा है।

उपर्युक्त चार प्रकार की हिंसा से गृहस्थ पहले व्रत से संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। और शेष तीन प्रकार की हिंसा में से यथाशक्ति त्याग करके—अहिंसा का पालन करता है।

अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए इन पांच दोषों से बचना चाहिए—[2]

१—किसी जीव को मारना, पीटना, त्रास देना।

२—किसी का अंग-भंग करना, किसी को अपंग बनाना, विरूप करना।

३—किसी को बन्धन में डालना, यथा तोते-मैना आदि पक्षियों को पिंजरे में बन्द रखना। कुत्ते आदि को रस्सी से बांध रखना। ऐसा करने से उन प्राणियों की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हें व्यथा पहुंचती है।

४—घोड़े, बैल, खच्चर, ऊंट, भैंसे, गधे आदि जानवरों पर उनके सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकरों से अधिक काम लेना।

५—अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन पानी न देना।

गृहस्थ की अहिंसा के लिए कहा है कि—

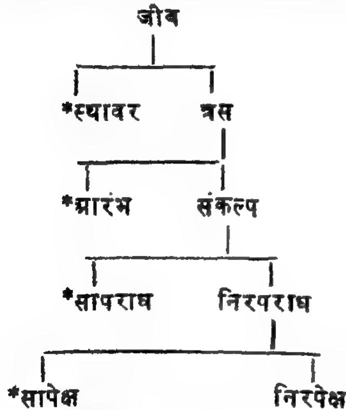
"जीवा सुहुमा थूला, संकप्पारंभओ भवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, साविक्खा चेव निरविक्खा"।

अर्थात्—जगत में जीव दो प्रकार के हैं; स्थावर और त्रस। स्थावर दो प्रकार के है सूक्ष्म और बादर। इनमें से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती नहीं, क्योंकि अतिसूक्ष्म जीवों के शरीर को बाह्य शस्त्र का घाव नहीं लगता। परन्तु यहाँ तो बादर स्थूल पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय स्थावर जीवों से प्रयोजन है। गृहस्थ से इसकी अहिंसा पलती नहीं। क्योंकि सचित आहार आदि तथा अन्य काम काज करते हुए इनकी अवश्य हिंसा होती है। इसलिए स्थावर की हिंसा का त्याग गृहस्थ के लिये असंभव है। अब त्रस जीव रहा। इसकी हिंसा के भी दो भेद हैं—संकल्प से तथा आरम्भ से। इसमें आरंभ हिंसा का श्रावक को त्याग असंभव है क्यों कि गृहस्थ को मकान, दुकान आदि के निर्माण आदि कार्यों में हिंसा होती है। अब संकल्प की हिंसा

1. प्रश्नव्याकरणसूत्र-आश्रव द्वार
2. उपासकदशांग सूत्र अ० १

रही । इसमें भी दो भेद हैं सापराध-निरपराध । इसमें जो निरपराध जीव हैं उनकी हिंसा नहीं करना और सापराध जीव को हनने की जयणा करना । क्योंकि सापराध जीव की अहिंसा श्रावक से नहीं पलती । कारण यह है कि घर में चोर चोरी करने आवे, अथवा स्त्री से कोई बलात्कार करे अथवा अपहरण करने आवे तो उसे मारना पड़े । सिंह आदि हिंसक प्राणी घात करने आवे तो उसे मारना पड़े । शत्रु आक्रमण करने आवे तो अपनी, मुहल्ले, की नगर की, देश की सुरक्षा के लिये शत्रु को मारना पड़े । ऐसी अवस्था में संकल्प (इरादे) से भी हिंसा का त्याग नहीं हो सकता । अतः निरपराध हिंसा के भी दो भेद हैं—सापेक्ष-निरपेक्ष । गृहस्थ सापेक्ष हिंसा का भी त्याग नहीं कर पाता । कारण यह है कि श्रावक जब स्वयं घोड़ा गाड़ी, रथ बैल, टांगा आदि की सवारी करता है तो उसे चाबुक आदि भी मारनी पड़ती है । यहाँ घोड़े, बैल आदि ने उसका कुछ अपराध नहीं किया होता, तो भी उसे चलाने के लिये ऐसा करना पड़ता है । इस लिये श्रावक से जो जीव दृष्टि गोचर आवे उन निरपेक्ष-निरपराध संकल्पपूर्वक त्रस जीव की हिंसा का त्याग करना संभव हैं । अतः श्रावक को ऐसी अहिंसा का पालन अवश्य करना चाहिये ।

इसे सरलता से समझने के लिये यहाँ नीचे का चार्ट देते हैं ।



साधु के अहिंसा व्रत का सोलहवाँ भाग ही श्रावक पालन कर सकता है । जैसे कि स्थावर और त्रस में से स्थावर की हिंसा का त्याग न होने से सोलह में से आठ भाग रह गये । आरंभी हिंसा का त्याग न होने से चार भाग रह गये । सापराधी हिंसा का त्याग न होने से दो भाग रह गये । सापेक्ष हिंसा का त्याग न होने से एक भाग रहा ।

अतः साधु-साध्वी को स्थावर-त्रस, सापराध-निरपराध, संकल्प-आरंभ, सापेक्ष-निरपेक्ष सब प्रकार की त्रिविध-त्रिविध हिंसा का त्याग होता है । श्रावक तो साधु से १/१६ अहिंसा का ही पालन कर पाता है । कहने का सारांश यह है कि निष्प्रयोजन निरपराध संकल्प से त्रस जीवों की हिंसा न करूँ; इस प्रतिज्ञा का श्रावक-श्राविका अवश्य पालन करें । निध्वंसपना न रखे । मन में सदा ऐसी भावना रखे कि मेरे से कोई जीव न मर जाए ।

अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान होने से इसका प्रथम स्थान है । खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है वैसे ही अन्य सब व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये हैं । इसी से अहिंसा की प्रधानता मानी गयी है ।

हम लिख आए हैं कि अशुभ का त्याग और शुभ का आचरण—व्रत के ये दो पहलू हैं । इन दोनों के होने से ही वह पूर्ण बनता है । शुभ (सत्कार्य) में प्रवृत्त होने का अर्थ है कि उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त होना । यह अपने आप प्राप्त होता है । इस तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने का मतलब यह है कि उस के विरोधी सत्कार्यों की मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करना । यह भी स्वतः प्राप्त है । अहिंसा को भली-भांति समझने तथा उसे जीवन में उतारने

*इस निशान वाली हिंसा का त्याग श्रावक-श्राविका से संभव नहीं है ।

के लिये विरोधी दोषों का स्वरूप यथार्थ रूप से समझना भी जरूरी है। अहिंसा सत्कार्य है और इसका विरोधी हिंसा असत्कार्य है। हिंसा का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र ८)

अर्थात्—प्रमत्तयोग से होने वाला प्राणवध—यह हिंसा है। यहाँ हिंसा की व्याख्या दो अंशों में की गई है। पहला अंश है—**प्रमत्तयोग** अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक किंवा असावधान प्रवृत्ति। तथा दूसरा अंश है—**प्राणवध**। पहला अंश कारण रूप है तथा दूसरा कार्य रूप है। इससे फलितार्थ यह हुआ कि जो **प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है**। प्रमादयोग के बिना प्राणवध हिंसा की कोटी में नहीं आता। अतः शास्त्रकार ने जिसको हिंसा कहा है उससे निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह श्रावक श्राविका का पहला स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत है।

(२) **सत्याणुव्रत**—

दूसरा है स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—अर्थात् स्थूल झूठ का त्याग। असत् चिंतन, असत् भाषण और असत् आचरण ये सभी झूठ (असत्य) दोष में आ जाते हैं।

अर्थात् असत्य शब्द के संक्षेप में दो अर्थ करने से यहाँ काम चल जाता है—

१—जो वस्तु अस्तित्व रखती हो उसका बिल्कुल निषेध करना। अथवा निषेध न भी करें लेकिन जिस रूप में वस्तु हो उसे उस रूप में न कह कर अन्यथा कथन करना—वह असत्य है।

२—**गर्हित-असत्**—अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुंचावे, ऐसे दुर्भावयुक्त कथन कहना वह भी असत्य है।

सत्य का पालन करने के लिये पांच दोषों से बचना चाहिये—

१—**मिथ्या उपदेश**—घर, दुकान, खेत आदि जमीन के सम्बन्ध में, पशु-पक्षियो के संबंध में, वर-कन्या के सम्बन्ध में असत्य बोलना। श्री वीतराग केवली भगवन्तो के सिद्धान्तो को उनके कथन के विपरीत कहना। दूसरों को दुःखी करने के लिये उन्मार्ग का प्रतिपादन करना। अनाचार-कदचार के साधनों तथा प्रचार का उपदेश करना। सत्य जानने पर भी असत्य कहना या कहलाना। असत्य उपदेश देना। इत्यादि।

२—**न्यासापहार**—किसी व्यक्ति की अमानत रखी हुई वस्तु को उसे वापिस देने से इनकार करना अथवा समय पर न देना, स्वयं उपयोग कर लेना, गायब कर देना, बदल देना। व्याज पर रखी हुई वस्तु की रकम पा लेने पर भी उसे देने से इनकार करना इत्यादि।

३—**रहस्याभ्याख्यान**—रहस्य का कथन—

भाई, बहन, माता, पिता, पत्नी-पति, स्वजन, सम्बन्धी आदि की गुप्त बात को प्रगट करना। ऐसा करने से कभी-कभी तो उसे भारी आघात पहुंचता है और उस व्यक्ति को आत्महत्या करने का प्रसंग भी आ जाता है।

४—**झूठी साक्षी-झूठा लेख**—

आगम विरुद्ध कहना अथवा लिखना, किसी के नाम झूठा पत्र लिखना, झूठे बही-खाते बना लेना, झूठी मोहर छाप बना लेना, कम ज्यादा लिख लेना, अंकों को तोड़-मरोड़-खुरचकर बदल देना तथा झूठी साक्षी देना।

५—सहसाभ्याख्यान—किसी को असत् दोष-कलंक देना—

उपर्युक्त पाँचों प्रकार के दोषों का समावेश मिथ्या भाषण अथवा अहित असत्य में हो जाता है। अतः इस व्रत में उपर्युक्त पाँचों दोषों से श्रावक-श्राविका को बचना चाहिए। यह श्रावक-श्राविका का दूसरा स्थूलमृषावाद विरमण व्रत है।

(३) अचौर्याणुव्रत—

तीसरा व्रत है—स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत—अर्थात् स्थूल चोरी का त्याग।

यहाँ पर अदत्तादान शब्द का प्रयोग हुआ है। अ+दत्त+आदान इन तीन शब्दों के मेल से यह शब्द बना है। अ-अर्थात् नहीं; दत्त-अर्थात् दिया हुआ; आदान-अर्थात् लेना। यानी वस्तु के मालिक द्वारा न दिया हुआ लेना चोरी है। हर लेने की बुद्धि से दूसरे की वस्तु को लेने को चोरी कहते हैं। गृहस्थ को स्थूल चोरी अवश्य छोड़नी चाहिये।

किसी को लूटना, सेंध लगाना, ताला तोड़ना, जेब काटना, कम देना, अधिक लेना, मार्ग में किसी अन्य की पड़ी वस्तु को पास रख लेने की नियत से उठा लेना, चोरी का माल लेना, चोर की मदद करना, चोरी करने का तरीका बताना, चोरी करने की अनुमति देना, बढ़िया वस्तु दिखला-कर घटिया वस्तु देना, वस्तु में मिलावट करना, नकली वस्तु को असली करके देना, अपने राजा अथवा राष्ट्र के प्रतिद्वंद्वी राष्ट्र में राज्य की सीमा का उलंघन करके प्रवेश करना इत्यादि चोरी है। श्रावक-श्राविका को इसका त्याग करना चाहिये।

"चोरश्चोरापको मंत्री भेदज्ञः काणक—क्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः।।"

अर्थात्—चोर, चोरी कराने वाला, चोरी की व्यवस्था करने वाला, चोर के भेद को जान कर छिपाने वाला अथवा उसका सहयोग करने वाला, चोरी की वस्तु खरीदने अथवा बेचने वाला, चोर को अन्न अथवा द्रव्य आदि देने वाला, स्थान निश्चय करने वाला—ये सात प्रकार के चोर कहे गये है। अतः ऐसा कोई भी कार्य नही करना चाहिये जिससे चोर कहलावे।

घर की चोरी—घर की सब वस्तुओं के मालिक माता-पिता होते है। उनको पूछे बिना अथवा उनकी इच्छा के बिना लेना भी चोरी है। उधार लेकर मुकर जाना अथवा वापिस न लौटाना भी चोरी है। बन्धु, रिश्तेदार, सम्बन्धी के घर में आने-जाने का और खाने-पीने का व्यव-हार हो यदि उसका दिल दुःखे तो बिना पूछे कोई वस्तु लेना चोरी है। श्रावक-श्राविका इसका भी त्याग करे। यह श्रावक-श्राविका का तीसरा स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—

मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते है। और मैथुन प्रवृत्ति अब्रह्म है। मैथुन का अर्थ है मिथुन की प्रवृत्ति। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से 'स्त्री-पुरुष का जोड़ा' इस अर्थ में प्रसिद्ध है। फिर भी इसका अर्थ जरा विस्तृत करने की जरूरत है। जोड़ा अर्थात् स्त्री-पुरुष का, पुरुष-पुरुष का, या स्त्री-स्त्री का अथवा नपुंसक पुरुष का हो सकता है। और वह भी सजातीय मनुष्यादि एक जाति का अथवा विजातीय मनुष्य, देवता, पशु आदि भिन्न-भिन्न जाति का समझना चाहिए। ऐसे जोड़े की काम राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक, किंवा कायिका कोई भी प्रवृत्ति यह मैथुन अर्थात् अब्रह्म कहलाता है।

जहाँ पर जोड़ा न हो, केवल स्त्री या पुरुष कोई एक व्यक्ति कामराग के आवेश में आकर जड़ वस्तु के आलंबन से अथवा अपने हस्तादि अवयवों द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे ऐसी चेष्टा को भी मैथुन कहते हैं। क्योंकि मैथुन का असली भावार्थ तो कामराग जनित कोई भी चेष्टा ही है। यह अर्थ किसी एक व्यक्ति की ऐसी कुचेष्टाओं में भी लागू हो सकता है। अतः इस में भी मैथुन दोष ही है।

श्रावक के **ब्रह्मचर्याणुव्रत** का नाम—**स्वदारा संतोष—परस्त्रीगमन विरमण व्रत है।** अर्थात् विवाहित स्त्री-पुरुष, आपस में संतुष्ट रहें अपने विवाहित पति-पत्नी के अतिरिक्त परस्त्री, परपुरुष, वैश्या, विधवा, रखैल, कुंवारा-कुंवारी, देव-देवांगना, तिर्यंच-तिर्यंची—आदि अन्य भी सब प्रकार के स्त्री-पुरुष; परस्त्री परपुरुष हैं। श्रावक-श्राविका उन सब का त्याग करे। स्वयं दूसरा विवाह करना, दूसरों का विवाह कराना इसे पर-विवाह करना कहते है। ऐसा करने से भी इस व्रत में दोष लगता है।

तथा स्वदारा संतोष का आशय यह भी है कि अपनी स्त्री से भी मर्यादित रहे। यानि दिन में, पर्वों में, रजस्वला, रुग्न गर्भावस्था में पति-पत्नी मैथुन का त्याग करें अन्य अवस्था और दिनों में बीच-बीच में अथवा जब तक बच्चा मां का दूध पीता हो तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करें।

अनंगक्रीड़ा—यानी कामाग के बिना ही अन्य किसी प्रकार से हस्तमैथुन, गुदामैथुन, पशु मैथुन, अप्राकृतिक मैथुन अथवा लिंग या योनि के सिवाय अन्य अंगों अथवा वस्तुओ द्वारा काम क्रीड़ा करना। इसका भी सर्वथा त्याग करना। गृहस्थ का यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

(५) **स्थूल परिग्रह परिमाणव्रत**—

पाँचवां व्रत है—वासना—इच्छाओं को सीमित करना, संग्रह वृत्ति को अंकुश में लाना। इस व्रत का नाम "**परिग्रह परिमाण व्रत**" है। मूर्च्छा-आसक्ति को परिग्रह कहा है। वस्तु छोटी बड़ी, जड़-चेतन, बाह्य-आंतरिक चाहे जो भी हो उस में बन्ध जाना या तो उसकी लगन में ही विवेक खो बैठना—यही परिग्रह है। गृहस्थ को अपनी जरूरत से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना तथा उन्हें प्राप्त करने, रक्षण करने के लिये अनेक प्रकार के क्लेश करना अथवा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरे प्राणियों को कष्ट देकर धनादि का संचय करना—इस प्रकार के पाप परिग्रह से बचना चाहिए इस पाप से बचने के लिये अपनी जरूरत के माफ़िक ही वस्तुएँ रखने का नियम करे। यह व्रत नौ प्रकार का है।

१—**धन परिमाण**—यह चार प्रकार का है। (१) जो गिना जाए-रुपया आदि। (२) जो तोला जाय—गुड़ आदि; (३) सोना-चाँदी-जवाहरात जो परिक्षा करके लिया जावे, (४) जो नापकर खरीदा बेचा जाए—कपड़ा, दूधादि; इन सब का परिमाण करना।

२—**धान्य परिमाण**—चावल, गेहूँ आदि सब प्रकार का अनाज, मसाले, औषधी, साग-सब्जियाँ आदि का परिमाण करना।

३—**क्षेत्र परिमाण**—खेत, बगीचा, भूमि आदि का परिमाण करना।

४—**वास्तु परिमाण**—मकान, दुकान, मार्कीट, हवेली आदि का परिमाण करना।

५—**रूप्य परिमाण**—सिक्के बिना की चांदी उसके तोल का परिमाण करना।

६—**स्वर्ण परिमाण**—सिक्के बिना का सोना इसके तोल का परिमाण करना।

७—कुप्य परिमाण—सोने-चाँदी के सिवाए बाकी धातुओं के बरतनों का परिमाण करना।

८—द्विपद परिमाण—नौकर-चाकर, दास-दासी, वेतन पाने वाला गुमास्ता आदि रखने का परिमाण करना।

९—चतुष्पद परिमाण—गाय, भैंस आदि चौपाये पशु, मोटर-गाड़ी सवारी आदि का परिमाण करना।

परिग्रह से मोह कम करने के लिये, लोभ की वृत्तियों को काबू में लाने के लिए, असंतोष और इच्छाओं को अंकुश में लाने के लिये यह पांचवां अणुव्रत है।

कहा भी है कि अपरिमित परिग्रह अनन्त तृषणा का कारण है, वह बहुत दोष युक्त है तथा नरक गति का मार्ग है।

अतः परिग्रह परिमाण व्रती गृहस्थ को क्षेत्र, मकान, सोना, चांदी, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, तथा भण्डार (संग्रह) आदि परिग्रह के अंगीकृत परिमाण का अतिक्रम नहीं करना चाहिए।

उसे संतोष रखना चाहिए, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि आगे आवश्यक होने पर पुनः बढ़ा लूंगा। यह गृहस्थ का पांचवां स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत है।

तीन गुणव्रत —

साधु के व्रत संपूर्ण रूप से होने से उन में तारतम्य नहीं है। इसलिए उन्हें महाव्रत कहा गया है। परन्तु श्रावक के व्रत अल्पांश होने से उन व्रतों की विविधता के कारण उनकी प्रतिज्ञा भी अनेक रूप से अलग अलग की जाती है। ये पाँच अणुव्रत मूलभूत अर्थात त्याग के प्रथम पाया रूप होने से मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं। इन मूल व्रतो की रक्षा, पुष्टि, वृद्धि किंवा शुद्धि के लिए गृहस्थ दूसरे भी कितने व्रत स्वीकारता है। जो उत्तर गुण या उत्तर व्रत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तर व्रत सात हैं—तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। श्रावक के तीन गुणव्रतों का स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम जो पाँच अणुव्रत बतलाये हैं उन व्रतों को जो व्रत-गुण, पुष्टि, वृद्धि करें वे गुणव्रत कहलाते हैं। गुण का अर्थ है—पुष्टि-वृद्धि। ये तीन व्रत हैं—(६) दिग्परिमाण व्रत, (७) भोगोपभोग परिमाण व्रत, (८) अनर्थदंड विरमण व्रत।

(६) दिग् परिमाण व्रत – दसों दिशाओं का परिमाण करना।

व्यापारादि क्षेत्र को परिमित करने के अभिप्राय से चारो दिशाएं, चारों विदिशाएं, ऊपर, नीचे दसों दिशाओं में गमनागमन या सम्पर्क आदि की सीमा बांधना। अर्थात् निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन करके सावद्य कार्यों के न करने की प्रतिज्ञा गृहस्थ का छठा व्रत-दिग् परिमाण नामक प्रथम गुणव्रत है।

इस व्रत का उद्देश्य लोभ वृत्तियों पर अंकुश करना, धर्म की वृद्धि एवं पुष्टि करना, हिंसादि पापों को रोकना है।

(७) भोगोपभोग परिमाणव्रत—

भोगोपभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है— १-भोजनादि रूप और २-कर्म या व्यापार रूप। १—कन्दमूल, अनन्तकायिक बनस्पति, २२ अभक्ष्य, पाँच उदुम्बर फल का त्याग या परिमाण तथा मद्य-मांसादि का सर्वथा त्याग करना—भोजनादि विषयक भोगोपभोग परिमाण व्रत है। २—हिंसापरक आजीविका आदि का त्याग—व्यापार विषयक भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

१—एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनः पुनः भोगा जा सके ऐसे वस्त्र, पात्र, मकान, पत्नी-पति आदि उपभोग कहलाते हैं। यानी—व्रत के पहले विभाग में विधान है कि भक्ष्य (मानव के खाने-पीने योग्य) भोजन पदार्थों तथा उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा अथवा त्याग करना और अभक्ष्य (मानव के न खाने-पीने योग्य—मांस-मदिरा आदि) पदार्थों का सर्वथा त्याग करना। रात्रि भोजन का त्याग करना आदि।

२—दूसरे विभाग में व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने से पाप पूर्ण व्यवसाय का त्याग हो जाता है। यह सातवां व्रत-दूसरा गुणव्रत है।

(८) **अनर्थदंड विरमण व्रत**—प्रयोजन विहीन कार्य करना या किसी को सताना अनर्थदंड कहलाता है; इस व्रत में ऐसे कार्यों का त्याग होता है। अनर्थदंड करने वाले विवेक शून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार के व्यर्थ पापों को उपार्जन करती है।

१—**अपध्यान**—अपने तथा दूसरों का बुरा विचारना।

२—**प्रमादाचरण**—जाति कुल आदि का मद तथा विषय-कषाय करना, मद्य आदि नशीले पदार्थों का सेवन करना, अति निद्रा, विकथा, निन्दा आदि करना।

३—**हिंस्र प्रदान**—हिंसा के साधन—तलवार, बन्दूक, तोप, बम आदि का निर्माण करके, अथवा खरीद कर या अपने पास से दूसरों को देना, संहारक शस्त्रों का आविष्कार करना।

४—**पापोपदेश**—पापजनक कार्यों का उपदेश देना।

इस व्रत को अंगीकार करने वाले श्रावक-श्राविका उपर्युक्त सब कार्यों का त्याग करते हैं। काम-वासना-वर्धक वार्तालाप, हास्यपूर्ण अशिष्ट-अशलील वचन का प्रयोग नहीं करते। कामोत्तेजक शारीरिक कुचेष्टाएँ नहीं करते, असभ्य फूहड़ वचनों का प्रयोग नहीं करते, हिंसा जनक शस्त्रों का संयोजन, निर्माण, विक्रयादि की मर्यादा का अतिरेक नही करते और भाग भी नहीं लेते, भोगोपभोग के योग्य पदार्थों में अधिक आसक्त नहीं होते। यह गृहस्थ का **आठवां— तीसरा गुणव्रत है।**

चार शिक्षाव्रत—(९) सामायिक, (१०) देशावकाशिक, (११) पौषधोपवास तथा (१२) अतिथि संविभाग।

शिक्षाव्रतों से अणुव्रतों व गुणव्रतो में विशुद्धता, निर्मलता आती है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है कि—**साधु धर्माभ्यासः शिक्षा** अर्थात् जिससे श्रेष्ठ धर्म (नियमों) का योग्य अभ्यास हो वह शिक्षा कहलाती है। अतः इन सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों से अणुव्रतों, गुणव्रतों का योग्य अभ्यास होता है। जिससे व्रतों में पुष्टि, वृद्धि और शुद्धि का विकास होता रहता है। प्रतिदिन अभ्यास करने योग्य नियम शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

(९)—**सामायिक व्रत**—समता को प्राप्त करना। यह श्रावक-श्राविका का पहला शिक्षा व्रत है। श्रावक-श्राविका के लिए प्रतिदिन कम से कम दो घड़ी (४८ मिनट) तक मन, वाणी और शरीर से होने वाले पापकारी व्यापारों को त्याग करके समभाव में रहना सामायिक है। राग-द्वेष बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों का त्याग कर मोह माया के संकल्प-विकल्पों को हटाना सामायिक का मुख्य उद्देश्य है।

सामायिक व्रत का स्वरूप—१-सब जीवों पर समता (समभाव), पांच इन्द्रियों पर नियंत्रण, हृदय में शुभ भावना रखना। आर्त्त-रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग, धर्मध्यान, शुक्लध्यान का चिन्तन

सामायिक व्रत है। २—जीवित-मृत्यु, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में समता रखना सामायिक व्रत है। ३—राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति को समता कहते हैं। राग-द्वेष का त्याग होने से समरसी भाव में अपने स्वरूप में लीन होना सामायिक है।

सामायिक की शुद्धता (सफलता)—१-जो साधक सभी जीवों पर समभाव रखता है उसी की सामायिक शुद्ध होती है जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न हो जाती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है। ३—चाहे तिनका हो चाहे सोना हो, चाहे शत्रु हो चाहे मित्र हो, सर्वत्र अपने मन को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित और शांत रखना तथा पाप रहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना सामायिक है। क्योंकि समभाव ही तो सामायिक है। ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

सामायिक का महत्त्व—सामायिक मोक्ष प्राप्ति का मुख्य अंग है। जब तक हृदय में समभाव का उदय नहीं होगा तब तक कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सामायिक में समभाव-समता मुख्य है।

समता क्या है? आत्म स्थिरता—आत्म-भाव में रहना ही चरित्र है। आत्म-भाव में स्थिर होने वाले चरित्र से ही मोक्ष मिलता है। मात्र इतना ही नहीं आत्म स्थिरता रूप चरित्र तो सिद्धों में भी होता है इससे स्पष्ट है कि सामायिक का कितना महत्व है। अतः प्रतिदिन सामायिक अवश्य करणीय है। यह गृहस्थ का नवां व्रत—पहला सामायिक शिक्षाव्रत है।

१०—**देशावकाशिक व्रत**—यह दूसरा शिक्षा व्रत है।

छठे व्रत में जो दसों दिशाओं का परिमाण किया है वह आजीवन है। उसमें क्षेत्र बहुत अधिक रखा है। इतने क्षेत्र में रोज आने-जाने का काम तो पड़ता नहीं। इसलिए छठे व्रत में रखे हुए क्षेत्र में यथाशक्य एक दिन के लिए अथवा अधिक समय के लिए संक्षेप करना होता है। इसी प्रकार दूसरे व्रतों में भी रखी हुई छूट का कुछ समय के लिए संक्षेप करना इस व्रत का उद्देश्य है। यह गृहस्थ का दसवां व्रत है।

पोषधोपवास व्रत—यह तीसरा शिक्षा व्रत है।

आत्म जागृति की विशेष वृद्धि के लिए चार प्रहर (बारह घंटे) या आठ प्रहर (दिन-रात) तक धर्म ध्यान में दृढ़ रहने का नियम लेकर सामायिक में रहना चाहिए। आत्म भाव को विशेष रूप से बढ़ाने के लिए उतने समय में आहार त्याग रूप उपवास करना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालना, घर आदि के व्यापार का त्याग करना, शरीर के ममत्व को हटाना, उसकी शोभा-भूषा का त्याग करना, इसे **पोषधोपवास व्रत** कहते हैं। इसमें श्रावक-श्राविका साधु वृत्ति का पालन करते हैं। यह गृहस्थ का ग्यारहवां व्रत है।

१२—**अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत**—यह चौथा शिक्षाव्रत है।

न्यायोपर्जित लक्ष्मी में साधु जीवन व्यतीत करने वाले साधु-संतों को उनके योग्य आहार देने तथा श्रावक-श्राविकाओं का आपत्ति तथा कष्टों से उद्धार करने के लिये तन, मन, धन से सहयोग देने का श्रावक-श्राविका को नियम लेना होता है। इस व्रत का उद्देश्य त्यागमार्ग में चलने वाले ज्ञानी मानवों का पोषण हो जिससे उन की सेवा भक्ति द्वारा अपना भी उद्धार हो और वे भी अपनी आत्मा के कल्याण साधना में सक्षम बने रहें। यह गृहस्थ का बारहवां व्रत है।

जैनधर्म के प्रत्येक आचार-विचार की कसौटी अहिंसा ही है। जैनधर्म की इसी विशेषता के कारण विश्व का अन्य कोई भी धर्म इसकी समानता नहीं कर सकता। आज भी जैनों के अहिंसा, संयम, तप का पालन तथा मदिरा-मांसादि का त्याग सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। इसीलिये यह धर्म "दया-धर्म" के नाम से आज भी जगद्विख्यात है। इसकी अलौकिक अहिंसा को देखकर आज के विचक्षण विद्वान् मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। डा० राधा विनोद पाल Ex-judge, International Tribunal for trying the Japanese War Criminals, ने अपने अभिप्राय में कहा है कि :—

If any body has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifists' Conference, it is the Jain Community. The principle of Ahimsa, which alone can secure World Peace, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanatha and Lord Mahavira ?

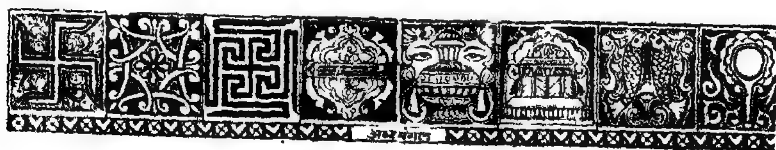
—(Dr. Radha Vinod Paul)

अर्थात्—विश्वशान्ति संस्थापक सभा के प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनों को ही है, क्योंकि अहिंसा ही विश्वशान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और ऐसी अनोखी अहिंसा की भेंट जगत् को जैनधर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरों ने ही की है। इसलिये विश्वशांति की आवाज प्रभु श्री पार्श्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ?

सारांश यह है कि जैनधर्म का पालन करने वाले व्यक्ति का जीवन कितना आदर्श होता है इस का परिचय पा लेने के पश्चात् पाठक स्वयं विचार कर सकते है कि यदि इन सिद्धान्तों को मानव समाज आचरण में लावे तो विश्व मे शाश्वत शान्ति कायम हो सकती है।

इसलिए जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म होने के साथ सर्व-जन-हिताय भी है। जिसकी अन्य कोई भी सिद्धान्त-धर्म बराबरी नहीं कर सकता। यह धर्म सदा-सर्वदा जनकल्याणकारी रहा है, और रहेगा। इसमें संदेह नही है। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि यदि विश्व आज भी इन सिद्धान्तों को आचरण करने के लिए कटिबद्ध हो जावे तो आज का मानव विश्वव्यापक संहारकारक वातावरण से निजात पा सकता है।

हमारे इस मत की पुष्टि इस अध्याय में दिये गये लोकमत संग्रह से शत प्रतिशत पूर्णतः हो जाती है। सुज्ञेषु किं बहुनः।



अध्याय दो

पंजाब में जैनधर्म

भरत और भारत

यह बात सहज सिद्ध है कि भारत में तीन भरत प्रसिद्ध हुए हैं। एक ऋषभ के पुत्र भरत, दूसरे दुष्यन्त के पुत्र भरत, तीसरे राम के भाई भरत। राम के भाई भरत कभी राज्य गद्दी पर नहीं बैठे, इसलिए इस देश का नामकरण उनके नाम से सम्बन्धित नहीं हो सकता। कतिपय विद्वानों का मत है कि दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। इस का कारण यह है कि सायण ऋग्वेद संहिता के भाष्य में यही भूल की गई है। दूसरा कारण यह है कि कवि कालीदास के शकुन्तलम् नाटक की विश्वव्यापी ख्याति ने दौष्यन्ति भरत को जनमानस में प्रतिष्ठित कर दिया। उसी भरत को लोग इस देश के भारत नाम का मूल्यांकन मान बैठे। परन्तु प्राचीन साहित्य इस बात की साक्षी नहीं देता। उसके अनुसार तो ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ही भारत नाम के आधार हैं। इस बात की पुष्टि वेद, पुराण आदि ब्राह्मणीय साहित्य तथा जैनो का साहित्य भी करते है।

जरा-मृत्यु-भयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्।
ना धर्मं माध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभात् भरतोऽभवत्।
ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिंगतः॥
भरताद् भारतवर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्॥ (अग्निपुराणे १०।१०-११)

(१) अर्थात्—उस हिमवत प्रदेश (भारवर्ष को पहले हिमवत प्रदेश कहते थे) में जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु का भय नही था। धर्म और अर्धम भी नही थे। उनमें माध्यम समभाव था। वहां नाभि राजा से मरुदेवी ने ऋषभ को जन्म दिया। ऋषभ से भरत हुए। ऋषभ ने भरत को राज्य प्रदान कर सन्यास ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। भरत का पुत्र सुमति था।

इसी आशय के उल्लेख- (२) मारकण्डेय पुराण ५०।३९-४२; (३) ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व खण्ड २।१४; (४) वायुपुराण ३०।५०-५३; (५) बृहद नारदपुराण पूर्व खण्ड ४८।५-६; (६) लिंगपुराण ४८।१९-२३; (७) स्कन्धपुराण ३७।५७; (८) मराठी सार्थ एकनाथी भागवत २८।४४-४५; (९) शिवपुराण ३७।५७ आदि में पाये जाते है।

दिगम्बर जैन ग्रंथ—प्रमोद भरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता तदा।
तमाह्वयद् भरतं भावि समस्त भरताधिपम्॥
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम्॥

अर्थात्—समस्त भरतक्षेत्र के उस भावि अधिपति को आनन्द की अतिशयता से प्रगाढ़ स्नेह करने वाले बन्धु समूह ने 'भरत' ऐसा कह कर संबोधन किया। उस भरत के नाम से हिमालय से समुद्र पर्यन्त यह चक्रवर्तियों का क्षेत्र भारतवर्ष नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

(महापुराण भगवज्जिनसेनाचार्य कृत १५/१५८-१५६)

इसी आशय के उल्लेख दिगम्बर महापुराण १७।७६; तथा पुरूदेव चम्पू ६।३२ आदि ग्रन्थों में भी हैं।

श्वेतांबर जैन ग्रंथ—वसुदेव हिण्डी प्रथम खण्ड पृष्ठ १८६ में लिखा है कि—

"इह सुरासुरेन्द्र वंदिय चलनारविंदो उसभो नाम पढमो राया। जगप्पियामहो आसि। तस्स पुत्त सयं। दुवे पहाणा भरहो बाहुबलि य। उसभ सिरी पुत्त-सयस्स पुर-सयं च दाऊण पव्वइणो। तत्थ भरहो भरहवासचूड़ामणि, तस्सेव नामेण इह भारहवासं त्ति पव्वुच्चति।"

अर्थात्—यहाँ जगत्पिता ऋषभदेव प्रथम राजा हुए। सुर और असुर दोनों के ही इन्द्र उनके चरण कमलों की वंदना करते थे। उनके सौ पुत्र थे, उनमें दो प्रधान थे। भरत और बाहुबली। ऋषभ देव ने सौ पुत्रों को राज्य बांट दिया और स्वयं प्रव्रजित हो गये। भरत को भारतवर्ष का राज दिया (भारतवर्ष का चूड़ामणि-शिरोमुकुट भरत हुआ)। उसी नाम से इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।

इसी प्रकार जंबुदीप-पण्णति नामक जैनागम आदि में भी वर्णन मिलते है। अतः यह बात सर्वथा सत्य है कि हिमालय के दक्षिण से लेकर समुद्र तक के क्षेत्र का नाम भारतवर्ष चक्रवर्ती भरत के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। जो जैनों के प्रथम तीर्थंकर अर्हत् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे।

अब बात रह जाती है कि राजा तो बहुत हुए, प्रतापशाली और यशस्वी भी हुए किन्तु उन के नाम पर इतने बड़े देश का नामकरण क्यो न हुआ ? यह देश जो पहले आर्यावर्त या हेमवत कहलाता था और किन्ही ब्राह्मण पुराणों के मत से ऋषभदेव के पिता नाभि कुलकर के नाम से अजनाभ भी कहलाता था वह भरत के उपरांत भारतवर्ष हो गया, और आज तक है। इस से प्रमाणित है कि भरत भारतीय सम्राटो की मौक्तिक-माला मे इन्द्रमणि थे। इसका एकमात्र कारण था कि यदि उनमें शारीरिक बल था तो आध्यात्मिक शक्ति भी थी। भरत दोनो के समन्वय स्थल पर मानस्तभ की भाति खड़े थे। उन का मन-वचन-काया एक थे। उन्हो ने वात्सल्यता से प्रजा का पालन किया और उन्हें समुन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। उन्होंने इस से भी बड़ा काम यह किया कि सासारिक व्यवहार-व्यापार करते हुए भी उन सब में अनासक्त रहे। यही कारण था कि उन्हें शीशमहल में अंगुली से अंगूठी गिरने पर अनित्य भावना में तल्लीन हो जाने के कारण गृहस्थ वेष में ही केवलज्ञान हो गया। वे राज्य भोगते हुए और सब प्रकार के सांसारिक सुख उपलब्ध रहने पर भी आसक्त नही थे। पश्चात् इन्द्र ने आकर उन्हे मुनिवेश दिया।

इस बात की पुष्टि ब्राह्मणीय पुराण तथा जैनवाङ्मय से होती है। जिसके एकाद उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

भागवत पुराण में एक स्थान पर लिखा है कि—

आर्षभस्य राजर्षेमनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्माहंति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः॥
यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहो युवैव मलवदुत्तमश्लोक लालसः॥ (भागवत ५।१४।४२-४३)

अर्थात—हे राजन् ! राजर्षि भरत के विषय में पंडित जन कहते हैं कि जैसे गरुड़ की बराबरी कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी तरह महात्मा भरत के मार्ग का अनुसरण कोई नहीं कर सकता। अर्थात् उन्होंने जिस तरह शासन किया वैसा अन्य कोई नहीं कर सकता। उन उत्तम श्लोक भरत ने दुस्त्यज स्त्रियां, पुत्र, मित्र, और राज्य की लालसाओं को मलवत् त्याग दिया था।

श्री वाग्देव्यं कुप्यति वाग्देवी द्वेष्टि सततं लक्ष्म्यैं।
भरतमनुगम्य साम्प्रतमनयोरात्यान्तिक प्रेम॥
(जैनाचार्य हेमचन्द्र कृत त्रि० श० १।२।६६०)

अर्थात्—भरत के चारित्र ने लोगों के हृदयों में अलौकिक भावनाओं को जन्म दिया था। लोगों के मन में यह धारणा जम गई थी कि भरत के चरित्र को सुनने या सुनाने मात्र से कामनायें स्वत: पूर्ण हो जाती हैं। वे भरत को साधारण जन नही मानते थे, अपितु अतिमानव तदनुरूप वे थे भी।

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडस: ।
जयार्थांशचक्री मुहूर्तेन मुक्तोय केस्तुला व्रजेत॥
(दि० गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण ४७।४६ पृ०४४६)

अर्थात्—यह भरत भगवान आदिनाथ का ज्येष्ठ पुत्र था, सोलहवां मनु था, प्रथम चक्रवर्ती था और एक मुहूर्त में ही[1] मुक्त हो गया था। इसलिए यह किसके साथ सादृश्य को प्राप्त हो सकता था? किसी के साथ नहीं, यह तो सर्वथा अनुपम था।

भरत विश्व के सर्वप्रथम चक्रवर्ती थे। उन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी को जीता था और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एकराट सम्राट बने। प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता थी। उन्होंने अपने पितामह और पिता के समान ही वात्सल्यभावों से सब कुछ किया। वे महान् थे— वीर्यवान, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता दृढव्रती, शास्त्र और शस्त्र विद्याओं के पारगामी, निग्रह और अनुग्रह के समर्थ तथा सर्व प्राणियों के हितैषी थे। वे वैभव सम्पन्न होते हुए भी वैरागी थे। उनका मन संसार से विरक्त था। अन्त में शीशमहल में गृहस्थ राजा के वेष में ही मूर्च्छा से विरक्त होते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। उन्होंने एक साथ राग और विराग, भोग और योग, संसार और मोक्ष का जैसा आदर्श उपस्थित किया, फिर इस धरा पर कोई न कर सका। वे अद्वितीय थे। यही कारण है कि उन्ही के नाम से इस देश का नाम आर्यखंड-हिमवत् प्रदेश के स्थान पर भारतवर्ष हुआ।

भारतवर्ष में जैनधर्म

भारतवर्ष में जैनधर्म का प्रादुर्भाव हुआ, फला और फूला। इसके प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर भारत में ही जन्मे और यहीं निर्वाण पाये। इसलिए सारे भारत में आदिनाथ (ऋषभ) के समय से लेकर आज तक इस का प्रचार और प्रसार रहा। इस देश में सर्वत्र जैनमंदिर, जैनतीर्थ तथा जैन स्मारक विद्यमान है। आज भी हजारों की संख्या में जैन श्रमण-श्रमणियां तथा लाखों की संख्या में जैन परिवार विद्यमान हैं। इसका विवरण देना इस ग्रंथ की सीमा से बाहर है क्योंकि पेशावर से लेकर दिल्ली की पंजाब, हरियाणा की सीमा तक तथा सिंध प्रदेश तक ही जैनधर्म के इतिहास पर प्रकाश डालने का इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

---

1. दिगम्बर भी मानते हैं कि भरत को शीशमहल में ही मुहूर्त मात्र में केवल ज्ञान हो गया था।

जैनधर्म के प्रचार का मुख्याधार

जैनधर्म के प्रचार का मुख्याधार श्रमण-श्रमणियों पर आधारित रहा हुआ है। जैन साधु-साध्वियां सदा पैदल चलकर विचरते हैं। वे किसी भी प्रकार की सवारी नही करते। द्रव्य, धन-दौलत के व्यवहार से दूर रहते हैं। भिक्षावृत्ति से जो कुछ भी रूखा-सूखा भोजन मिल जाता है उसी से निर्वाह कर लेते हैं। इन्द्रियों का निग्रह करते हैं, संसारी प्रलोभनों से दूर रहते हैं। श्रमणियां (साध्वियां) पुरुषों के संसर्ग से तथा श्रमण (साधु) स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहते हैं। रात्रि भोजन तथा अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के सर्वथा त्यागी होते हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। अपने निवास के लिए कोई मठ अथवा आश्रम नहीं बनाते। सदा गांवों और नगरों में घूम-फिर कर जन-जन को सत्पथ-गामी बनाते है। जिस नगर अथवा गाव में कुछ दिन स्थिरता करनी होती है वहां किसी गृहस्थ से निवास स्थान मांग कर ठहरते हैं। प्राचीन समय में मार्ग में भयानक जंगल पड़ते थे जो हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण थे। रास्ते में बड़े-बड़े नदी नालों को लांघकर जाना पड़ता था। चोर डाकुओं के उपद्रव और राज्योपद्रव भी कम नहीं थे। वस्ति (ठहरने की जगह) की दुष्प्राप्ति तथा दुर्भिक्षजनित उपद्रवों की भी कमी नहीं थी। विकट और भयंकर जंगलों, बिहड-बनो, पहाड़ों, रेगिस्तानों, रणो आदि को लांगते हुए दूर-दूर के देशो तक स्व-पर कल्याण के लिए नंगे सिर, नगे पांव जाड़ों की कड़कती सर्दी में तथा भीषण गर्मी से गर्म तवे के समान तपती धरती पर घूम-फिर कर आंधी और तूफानों को बरदाश्त करते हुए और अनेक प्रकार के परिषहों, उपसर्गों को सहन करते हुए सदा मुसाफरी करते आ रहे है। एवं जनता जनार्दन के कल्याण के लिए सद्धर्म का प्रचार प्रसार करते आ रहे हैं।

वर्तमान काल में प्राचीन इतिहास की दुर्लभता का कारण

वर्तमान काल में जैनधर्म के भूतकालीन एवं प्राचीन इतिहास के न मिलने का प्रश्न सब जनता द्वारा हो रहा है। इसका उत्तर लिखने से पहले हमें यह कह देना चाहिए कि १-एक तो भूतकाल में भारत में जनसंहारक भीषण दुष्काल पडते रहे और वह भी एक दो वर्ष नही किन्तु कोई-कोई अकाल तो १२-१२ वर्षों तक चालू ही रहे कि जिनकी भीषण यंत्रणाओ से अनेको नगर और ग्राम श्मशान तुल्य बन गए थे। जब कि उस समय जन-जीवन अस्त-व्यस्त ो रहा था, जनता जनार्दन अपने जीवन को टिकाए रखने की समस्याओं में उलझा हुआ था, ऐसे कटो-कटी के समय में नवीन साहित्य का निर्माण करना तो एक ओर रहा परन्तु पुराने की रक्षा भी असंभव हो रही थी। इसलिए शास्त्र भडार जहां रखे थे, उनका बहुत भाग वही रखा रखाया नष्ट हो गया।

२—दूसरा कारण विदेशी आक्रमणकारियों के लगातार और एक के बाद दूसरे आक्रमणों का होना, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामों नगरों को जनसंहार एव अग्निदाह द्वारा शून्य अरण्यवत बना दिया गया। अर्थात् इन आक्रमणकारियों ने प्रमुख साहित्य भंडार, ऐतिहासिक साधन, प्राचीन नगर-ग्राम, देवस्थान भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिए। फिर भी जो कुछ पुराना साहित्य तथा देवस्थान स्मारक आदि बच पाये अथवा नए निर्माण किए गए उनको भी जैनधर्म के विरोधियों, अन्यधर्मांधों, शैवों, हिन्दूओं, बौद्धों आदि ने या तो अपने सम्प्रदाय के रूप में बदल लिया अथवा उन्हें क्षति पहुंचाई। एवं धर्मांध मुसलमानों के आक्रमणो से बर्बाद कर दिये गए। करोड़ो मनुष्यों को तलवार के ज़ोर से मुसलमान बना लिया गया। इतने से ही संतोष नहीं हो पाया अपितु मंदिरों, मूर्तियों, स्तूपों आदि

स्मारकों को तोड़-फोड़ कर धराशायी कर दिया गया। अनेक जैनमंदिरों, धर्मस्थानों को मस्जिदों के रूप में बदल दिया गया। ज्ञान-भण्डारों, साहित्य-संग्रहालयों को जलाकर भस्मीभूत कर दिया गया। तथ्य है कि अलाउद्दीन खिलजी के अत्याचारों ने तो छः मास तक नित्यप्रति भारतीय साहित्य को भट्टी में जलाकर हमाम गर्म किए थे। अर्थात् इनको आग में जला कर नहाने के लिए पानी गर्म किया जाता रहा। मात्र इतना ही नहीं परन्तु इन अमूल्य साहित्य रत्नों से कई वर्षों तक हिन्दुओं की होली जलाई गयी।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय से पहले, भारत में कितना विशाल साहित्य होगा? जिसे द्वेषियों ने क्रूरता के साथ भस्मीभूत कर दिया। हम जानते हैं कि उड़ीसा में खारवेल के समय, पटना में श्रुतकेवली भद्रबाहु-स्थूलीभद्र के समय, मथुरा में आचार्य नागार्जुन के समय और अन्त में विक्रम की छठी शताब्दी के प्रथमचरण में जैनाचार्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के समय में सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी में श्रमणसंघों की क्रमशः विराट सभाओं का आयोजन करके प्राचीन जैनागमों-शास्त्रों का संकलन करके ताड़पत्रों पर लिख लिखवा कर सुरक्षित रखने के बृहत्प्रयास किये थे। पर वर्तमान काल में बहुत खोज करने पर भी वल्लभी की लिपि तक के अथवा उसके आस-पास के सौ-दो सौ वर्षों के बाद तक के लिपि किए गए साहित्य का एक पत्र भी प्राप्त नहीं हुआ। जिस साहित्य समूह को सैकड़ों हजारों मुनियों ने अपने हाथों से तथा अनेक वैतनिक विद्वान लेखकों ने संकलन किया तत्पश्चात् यह कार्य इतना व्यापक हो गया कि उनके शिष्यों-प्रशिष्यों को अभ्यास कराने के लिए एक-एक ग्रन्थ की कई-कई प्रतियां लिखने की आवश्यकता पड़ती रही। आगे चलकर जिसने जो कोई नवीन रचना की वह तत्काल ही लिख ली गई। इस में थोड़ा भी सन्देह नहीं कि जैन श्रमणो ने हजारों ही नही लाखों ग्रंथ लिखे और लिखवाये। इतना ही नहीं इन महात्यागियों ने अपने पठन-पाठन के लिए अनेक जैनेतर साहित्य की भी प्रतिलिपियां कर-करवा कर उन के अभ्यास के पश्चात् ग्रंथभंडारों में सुरक्षित किया। जैन श्रावकों ने भी विद्वतापूर्ण अनेक ग्रंथों की रचनाएं कीं। ऐसे प्राचीन साहित्य के उपलब्ध न होने से ऐसा अनुमान निःसंदेह होता है कि धर्म द्वेषियों आतताइयों द्वारा इस साहित्य को बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। अन्यथा इतनी बृहत्संख्या में वल्लभी तक के लिखे गए ग्रंथों का कुछ भाग तो मिलता! संभव है कि कुछ ग्रंथभंडार ऐसे भी होंगे जो दुष्टों से बचाने के लिये कहीं गुप्त रूप से सुरक्षित किये गये हों परन्तु पीछे के लोगों को ज्ञात न होने से कहीं पड़े हों और कुछ वहीं पड़े-पड़े नष्ट हो गये हो।

जैसा हाल जैन-साहित्य का है। वैसा ही अन्य मतावलंबियों के साहित्य का भी है। आज भारत के बाहर विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के बाद का भारतीय साहित्य तो मिल जाता है पर भारत में जो कुछ साहित्य मिलता है वह विक्रम की आठवी नवीं शताब्दी के पहले का लिपि किया नहीं मिलता है। कहने का आशय यह है कि—भारत के ऋषि मुनियों ने साहित्य सर्जन में कभी कमी नहीं रखी। गृहस्थ विद्वानों ने भी अनेक प्रकार के साहित्य की रचना की। श्रद्धालु और भगत गृहस्थों ने भी उन त्यागमूर्ति आचार्यों की साहित्य रचना की सफलता के लिए अपने अथक परिश्रम से न्यायोपार्जित लक्ष्मी को लगाकर मानव भव को सफल बनाने में कमी नहीं रखी। कारण यह था कि इस कलिकाल में सर्वज्ञों, तीर्थंकरों के अभाव में जिनमन्दिर-मूर्ति एवं आगम ही जैनशासन को चिरस्थाई जीवित रखने के आधार हैं। इन मन्दिरों, मूर्तियों, आगमों के प्रचार और प्रसार में आज तक जैन श्रमणों का पुरुषार्थ चालू है। यही कारण है कि विश्व का सबसे प्राचीन आर्हत (जैन) धर्म आज तक

जीवित है। दूसरा कारण यह भी था कि जब कोई आचार्य किसी आगम की वाचना प्रारंभ करते तो गृहस्थ लोग इसका महोत्सव करज्ञान पूजा किया करते थे। सब आगमों में भगवती सूत्र का विशेष महत्व है। ऐसे बहुत से उदाहरण जैन साहित्य में मिलते हैं कि अमुक भक्त ने श्री भगवती सूत्र आचार्य श्री से वंचवाया था, जिसकी हीरों, पन्नों, माणिक्यों अथवा सच्चे मोतियों से पूजा की और ३६००० प्रश्नों की ३६००० स्वर्णमुद्राओं आदि से पूजा की। इस भक्ति से आए हुए द्रव्य से पुनः आगम-शास्त्र आदि साहित्य लिखवाया जाता रहा। इस साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए करोड़ों के धन खर्च से जैन लोग ज्ञान-ग्रंथ भंडारों की स्थापना करते आये हैं। इस से पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय जैन समाज को आगम शास्त्र आदि पर कितनी श्रद्धा-भक्ति और पूज्यभाव था। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि साहित्य सर्जन और इसे लिखवाने में जितना हिस्सा जैनो का था उतना दूसरों का शायद ही हो। आततायियो द्वारा नष्ट किए जाने पर भी बचा हुआ साहित्य कम न था। किन्तु वह अवशेष साहित्य ऐसे लोगों के हाथों में पड़ गया कि जो प्रायः अपढ, अविवेकी और लक्ष्मी के दास थे। इन लोगों ने अपनी विषयवासना की पूर्ति के लिए अथवा सारसंभाल की क्षमता न होने से या उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझ कर उस अमूल्य साहित्य-निधि को पानी के मूल्य में विदेशियों के हाथों बेच दिया जो आज भी उन लोगों के पुस्तकालयों में विद्यमाद है। उदाहरण के तौर पर विदेशों के कुछ पुस्तकालयों का व्योरा यहा लिख दिया जाता है, जहां भारतीय साहित्य विद्यमान है।

विदेशों में जैन साहित्य

(१) लंदन में करीब हजारों पुस्तकालय हैं, जिनमें से एक पुस्तकालय में कोई १५०० हस्तलिखित भारतीय ग्रंथ हैं। उन में अधिकतर ग्रंथ प्राकृत-संस्कृत भाषा में हैं।

(२) जर्मनी में लगभग ५००० पुस्तकालय हैं जिनमें बर्लिन में ही बहुत से पुस्तकालय हैं एवं इनमें से एक पुस्तकालय में १२००० (बारह हजार) भारतीय हस्तलिखित ग्रंथ हैं। तब वहां के सब पुस्तकालयों में कितने ग्रंथ होंगे, इसका अन्दाजा लगाइए।

(३) अमेरिका के वाशिंगटन व बोस्टन नगर में ही ५०० से अधिक पुस्तकालय हैं इन में से एक पुस्तकालय ये ४०००००० (चालीस लाख) हस्तलिखित पुस्तकें हैं उस में भी २०००० पुस्तकें संस्कृत-प्राकृत भाषा की हैं जो भारत से गई हुई हैं। विचार करिए कि भारत से गई हुई सब पुस्तकालयों में कितनी पुस्तकें होंगी ?

(४) फ्रांस में ११११ बड़े पुस्तकालय हैं जिनमें पैरिस के एक बिबलियोथिक नामक पुस्तकालय में ४०००००० (चालीस लाख) पुस्तकें हैं उसमें बारह हजार पुस्तकें संस्कृत-प्राकृत भाषा की भारत से गई हुई हैं।

(५) रूस में १५०० बड़े पुस्तकालय हैं, उनमें एक राष्ट्रीय पुस्तकालय भी है जिसमें ४०००००० पुस्तकें हैं उनमें २२००० पुस्तकें संस्कृत-प्राकृत की हैं जो भारत से गई हुई है।

(६) इटली में कोई ४५०० पुस्तकालय हैं उन में भी प्रत्येक में लाखों पुस्तकों का संग्रह है कोई ६०००० पुस्तकें प्राकृत-संस्कृत की हैं जो प्रायः भारत से गई हुई हैं -

यह तो मात्र विश्व के छह पुस्तकालयों का परिचय दिया है, इससे अन्दाजा लगाइए कि सारे विश्व के पुस्तकालयों में इस अनुपात से कितने हस्तलिखित ग्रंथ होंगे जो भारत से वहां गए होंगे।

(७) भारत से विदेशों में ग्रंथ ले जाने की प्रवृत्ति कोई अंग्रेजों के काल से ही प्रारम्भ नहीं हुई किन्तु इससे हजारों वर्ष पूर्व भी अपने देश की इस अमूल्य निधि को विदेशी लोग अपने-अपने देशों में ले जाते रहे हैं। उदाहरण के तौर पर देखिए विक्रम की पांचवी शताब्दी में चीनी यात्री फ़ाही-

यान भारत में आया था और यहां से ताड़पत्रों पर लिखी हुई १५२० पुस्तकें चीन ले में गया था।

(ब) विक्रम की ७ वीं शताब्दी में चीनी यात्री हुएनसांग भारत में आया था वह भी अपने साथ पहली बार १५५०, दूसरी बार २१७५ और ईस्वी सन् ७६४ के आसपास २५५० ताड़पत्रों पर लिखे हुए ग्रन्थ अपने साथ चीन ले गया। इस प्रकार विदेशों से कितने ही यात्री आते रहे और वे अपने साथ भारतीय साहित्य ले जाते रहे। वे लोग भारत से कितने ग्रंथ ले गए उनकी संख्या का अनुमान कौन लगा सकता है?

फिर भी हमें इस बात की खुशी है कि जिन म्लेच्छों, आततायियों, धर्मद्वेषियों, ने हमारे असंख्य साहित्य को जला कर भस्मीभूत कर दिया और सदा के लिए उसका अस्तित्व मिटा दिया उनकी अपेक्षा जो विदेशी यहां से ले गए वह अच्छा ही रहा। कारण यह है कि वहां हमारा साहित्य अच्छी तरह सुरक्षित ही है और उनका अच्छे से अच्छा लाभ उठाया जा रहा है।

जैन ऋषि-मुनियों और विद्वान गृहस्थों ने ऐसा कोई भी विषय अछूता नहीं रहने दिया कि जिस पर कलम न उठाई हो। जैसे आत्मवाद, अध्यात्मवाद, कर्मवाद, परमाणुवाद, नीति, काव्य, कथा, अलंकार-छन्दशास्त्र, व्याकरण, निमित्त, कला, संगीत, जीव-अजीव विज्ञान, राजनीति, लोकाचार, ज्योतिष, वैद्यक, खगोल, भूगोल, गणित, फलित, दर्शन-धर्मशास्त्र इत्यादि। मात्र इतना ही नहीं किन्तु भाषा विज्ञान, मानसविज्ञान, शिल्पविज्ञान, पशु-पक्षी विज्ञान को भी अछूता नहीं छोड़ा। हंसदेव नाम के जैन मुनि ने मृग-पक्षी शास्त्र नाम का ग्रंथ लिखा था जिसमें ३६ सर्ग और १६०० श्लोक हैं, इसमें २२५ पशु-पक्षियों की भाषा का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रंथ को जैनों ने ही नहीं जैनेतर विद्वानों ने भी मुद्रित करा दिया है और पठन-पाठन द्वारा अच्छा लाभ भी उठाया है।[1]

आज भी जैनशास्त्र भंडारों में ऐसे अलौकिक ग्रंथ विद्यमान हैं जो ऐसे स्वार्थी, अनभिज्ञ, धन के मद से मदोन्मत्त तथा समाज के नेता होने से अभिमान की पराकाष्ठा तक पहुंचे हुए लोगों के हाथ में है कि जिनकी असावधानी से क्षुद्र कीटाणुओं (दीमक) की खुराक बन रहे हैं और कोई भी विद्वान उनसे लाभ नहीं उठा सकता। जनकल्याण के लिए निर्माण किया हुआ साहित्य आज अविवेकी, स्वार्थी लोगों की सम्पत्ति बन गया है। अथवा मूर्ख यति-शिष्य उन्हें कोड़ियों के दामों में बेच-खा जा रहे हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक साधनों का विनाश, अभाव और मिलने की दुर्लभता के ये सबसे महत्वपूर्ण कारण बतलाये है कि विधर्मी आततायियों के द्वारा साहित्य का नष्ट किया जाना, विदेशियों द्वारा विदेश में ले जाना, और शेष बचे हुए हमारे ही देश में स्वार्थी लोगों के अधिकार में रह जाने से अप्राप्य हो जाने के कारण इतिहास अनुपलब्ध हो रहा है। यह साहित्य इतिहास लिखने में सर्वप्रथम साधन कहा जा सकता है।

२—ऐतिहासिक साधनों में दूसरा नम्बर मंदिर, मूर्तियां, स्तूप, स्मारक आदि का है। भारत में प्राचीनकाल से जिसे हम ऐतिहासिक काल से पूर्वकाल भी कह सकते हैं मूर्तियों आदि का मानना साबित है। विद्वानों का भी मत है कि मूर्ति मान्यता का प्रचलन सर्वप्रथम जैनों से ही हुआ है। जैन शास्त्रों के आधार से तो मूर्ति की मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा आदि सिन्धुघाटी सभ्यता की खुदायी से प्राप्त सामग्री जो ईसा पूर्व ३००० वर्ष पुरानी पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने मानी है, उसमें से भी ऋषभ, सुपार्श्व आदि जैन तीर्थंकरों से सम्बन्धित प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।

---

1. देखें ईस्वी सन् १६४१ अक्तूबर की मासिक पत्रिका हिन्दी सरस्वती।

जैसे जैनसाहित्य पर रोमांचकारी अत्याचार गुजरे हैं, वैसे ही जैन मंदिरों, मूर्तियों, स्मारकों, स्तूपों आदि पर भी कम जुलम नहीं ढाये गये। बड़े-बड़े जैनतीर्थ, मंदिर, स्मारक, स्तूप आदि मूर्ति भंजकों ने धराशायी कर दिए। जैन मूर्तियों के टूक-टूक कर दिए, उनपर अंकित लेखों (शिलालेखों) का भी सफाया कर दिया गया। स्तूपों और स्मारकों को तहस-नहस कर दिया, अनेक जैनमन्दिरों को हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों में परिवर्तित कर लिया गया। हजारों मन्दिरों को तोड़-फोड़ कर मस्जिदों में परिवर्तित कर लिया गया। दिल्ली की कुतुबमीनार, अजमेर का ढाई दिन का झोपड़ा आदि अनगिनत मुस्लिम ईमारतें और मस्जिदें जैनमन्दिरों के अवशेषों से ही निर्मित हैं। अनेक जैनमूर्तियों, मन्दिरों, गुफाओं, स्मारकों, शिलालेखों को बौद्धों का कह दिया गया। जो कुछ बच पाए उनका जीर्णोद्धार करते समय असावधानी, अविवेक और अज्ञानता के कारण उनके शिलालेखों, मूर्तिलेखों को चूना मिट्टी आदि से मिटा दिया गया। अनेक खंडित-अखंडित मूर्तियो को नदियों, कुओं, समुद्रों में डाल देने से हमारी ही नासमझी से प्राचीन सामग्री को हमारे ही हाथों से हानि पहुंचायी गयी। पूजा करनेवाले अविवेकी लोगों के हाथों ही प्रतिमाओं को प्रक्षालादि कराते समय बालाकूची से बेतहाशा रगड़ने से अनेक मूर्तिलेख घिस गए अनेक जैनमन्दिर, मूर्तियां अन्यमतियों के हाथों में चलेजाने से अथवा अन्य देवी-देवताओं के रूप में पूजे जाने के करण जैन इतिहास को बहुत क्षति पहुंची है। जैन समाज में ही मूर्तिपूजा विरोधी संप्रदायों द्वारा जैन तीर्थों, मन्दिरों, मूर्तियों, को हानि पहुंचाने के कारण जैन इतिहास को कोई कम क्षति नहीं उठानी पड़ी। मात्र इतना ही नही श्वेताम्बर दिगम्बर मान्यता के भेद ने भी जैन इतिहास को धुंधला बनाया है। पुरातत्व वेत्ताओं की अल्पज्ञता, पक्षपात, तथा उपेक्षा के कारण भी जैन पुरातत्व सामग्री को अन्यमतानुयायियो की मान कर जैन इतिहास से खिलवाड़ की गई है। विसेन्ट ए० स्मिथ एम० ए० का कहना है कि फिर भी निरन्तर शोध-खोज से आज भू-गर्भ से तथा इधर-उधर बिखरे पड़े थोड़े बहुत जो प्रमाण मिलते है, इन की खोज से इन में १५० वर्षों के इतिहास में ज्ञान की जितनी वृद्धि हुई है उस से जैनधर्म के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ा है।

३—प्राचीन इतिहास जानने के साधन

१—पुरातत्व खोज के अनुसार लिखित कथाओं और मौखिक कथाओं के प्रमाणो की मर्यादा भी निश्चित की गई है। उस की सहायता से विद्वान प्राचीन भारत का कथामय इतिहास लिखने को समर्थ हुए है।

२. जैन मंदिर-मूर्तियां-स्तूप-स्मारक आदि जैन इतिहास को जानने के अमोघ साधन हैं। मूर्तियों पर अंकित लेख, शिलालेख प्राचीन इतिहास की उपलब्धि के अकाट्य प्रमाण हैं।

३, जैनागम, उन पर चूर्णि, निर्युक्ति, टीका, भाष्य आदि साहित्य भी इतिहास के मुख्य अंग हैं।

४. जमीन खोदने से जो सिक्के, ताम्रपत्र, शिलालेख, इमारतें, धर्मपुस्तकें, चित्र और बहुत तरह की मुफ़तरिक बची खुची चीजें मिली हैं उनकी सहायता से हमने प्राचीन ग्रन्थों मे लिखे हुए भारतीय इतिहास के ढांचे की पूर्ति की है। अपना ज्ञान जो पहले से अस्पष्ट था उसे शुद्ध बनाया है और काल-क्रम की मजबूत पद्धति की नींव डाली है।

जैनों के अधिकार में बहुत बड़े-बड़े शास्त्र-भंडार, पुस्तकालय हैं, जिनकी रक्षा के लिये वे

बड़ा परिश्रम और खर्चा भी करते हैं। मैं कुछ ऐसे सुझाव देता हूँ कि जिसके अनुसार चलने से बहुत सी बहुमूल्य बातें हाथ लग सकेंगी। जैन लोग पुरातत्त्व की खोज की ओर ध्यान दें और इस काम को अपने हाथ में लेकर धर्म और इतिहास की खोज की ओर विशेष लक्ष्य रखते हुए धन खर्च करें। आज तक जो इस विषय में उपेक्षावृत्ति जैनों की तरफ से रही है, इसी के कारण जैन इतिहास अपने असली स्वरूप में प्रकाश में नहीं लाया जा सका। यह कम खेद की बात नहीं है। पुरातत्त्वान्वेषक अधिकारी प्रायः जैनेतर हैं इस लिये उन्हें जैन इतिहास को प्रकाश में लाने में कोई दिलचस्पी नहीं है; यह बात स्वाभाविक है। अतः जैन समाज को इस कार्य के लिए स्वयं सजग होने की आवश्यकता है।

५. इस विषय में पांचवा नम्बर है पट्टावलियों का। पट्टावलियों में अधिकतर इतिहास जैनाचार्यों, उनके शिष्यों प्रशिष्यों का मिलता है। शायद कहीं कही उन श्रमणों के साथ सम्बन्ध रखने वाले गृहस्थों का इतिहास भी मिल जाता है किन्तु वह बहुत थोड़े प्रमाण में। फिर भी इतिहास के लिए पट्टावलियां बहुत उपयोगी साधन है। इन पट्टावलियों के अतिरिक्त कई आचार्यों के लिखे ग्रंथ भी इतिहास के उपयोगी साधन हैं। जैसे कि आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र और परिशिष्ट पर्व; आचार्य प्रभाचन्द्र सूरि कृत प्रभावक चरित्र, आचार्य मेरुतुंग सूरि कृत प्रबन्ध चिंतामणि, जिनप्रभ सूरि कृत विविध तीर्थ-कल्प, आचार्य कक्क सूरिकृत अभिनन्दन जीर्णोद्धार और उपकेशगच्छ चारित्र इत्यादि।

६. इतिहास के साधन के विषय में छठा नम्बर वंशावलियों का है। वंशावलिया जैनधर्म का, गृहस्थों और साधुओं का इतिहास जानने के लिये एक बहुत उपयोगी साधन है। कारण कि जैन गृहस्थों का मुख्य रूप से तथा जैनधर्म और जैन साधुओं का गौण रूप से इतिहास जितना जैन वंशावलियों में मिलता है उतना अन्य कही उपलब्ध नही हैं।

७. सांतवां साधन संघ की तीर्थयात्राओ तथा व्यक्तिगत तीर्थयात्राओं के विवरणों के पत्र तथा विज्ञप्तियां हैं। इनसे तीर्थों, मंदिरों, जैनों के निवासस्थानों, व्यवसाय आदि का परिचय और इतिहास उपलब्ध होता हैं।

८. इसके सिवाय रासा, ढालें, चौपाइयां, सिलोको आदि अपभ्रंश तथा गुजराती, हिन्दी आदि भाषा का साहित्य है। जिनमें प्राचीन अर्वाचीन महापुरुषों की जीवन घटनाओं आदि का वर्णन मिलता है.

९. तथा राजा, महाराजा, बादशाहों आदि के दिये हुए फ़रमान (आज्ञापत्र), ताम्रपत्र, सनदें (प्रमाणपत्र) भी इतिहास के साधन हैं।

१०. साहित्य ग्रंथों के रचयिताओं की, लिपिकाओं आदि की प्रशस्तियां तथा चिट्ठी-पत्री और प्राचीन लिपियों, अनेक प्राचीन-अर्वाचीन देशी-विदेशी भाषाओं का ज्ञान एवं जैनागमों का गहन मार्मिक ज्ञान विशेष रूप से इतिहास की उपलब्धि के अचूक साधन हैं।

इसलिये उपर्युक्त सामग्री जो जैनों के पास बची-खुची है, उसकी रक्षा करना यदि जैनसमाज सीख जाय तो उससे इतिहास के बहुत से अंगों की पूर्ति हो सकती है। यदि जैनसमाज इस बची-खुची सामग्री को भी अविवेक, स्वार्थ अथवा लापरवाही से खो बैठा तो इसका भयंकर परिणाम यह होगा कि जैनसमाज का भी संसार के इतिहास में केवल नाममात्र ही रह जायेगा। जो विद्वान जैन इतिहास की खोज अथवा लेखन कार्य कर रहे हैं अथवा करने का सामर्थ्य रखते हैं उनको तन-मन-

धन का उदारता पूर्वक सहयोग देने से यह कार्य सहज साध्य होगा। खेद तो इस बात का है कि इस ओर त्यागी और गृहस्थवर्ग का दुर्लक्ष्य ही प्रायः है।

११. उपलब्ध साधन सामग्री का जैन समाज स्वयं संरक्षण, व्यवस्था और उपयोग करना सीखे। इसे विद्वानों के सहयोग से प्रकाशित कर और करवा कर प्रचार और प्रसार करे यही आज के समय की मांग है।

पंजाब में जैनधर्म के ऐतिहासिक साधनों के अभाव का कारण

पंजाब में सैकड़ों नहीं, हज़ारों-हज़ारों कीर्तिस्तम्भ काल की कुक्षी में चले गये। उनका अब कहीं पता नहीं। पुराने खण्डहर खोदने से यदि उनका कोई भग्नांश निकल आता है तो पुरातत्त्व वेत्ता यहां की सभ्यता के बहुत पुराने होने के प्रमाण पा जाते हैं। यहां के अनेक मन्दिर, महल, स्तूप और गढ़ आदि तो काल खा गया। धर्मान्धों और बर्बर विदेशियों ने भारत में प्रवेश करने पर सर्व प्रथम पंजाब की धरती पर कदम रखे और धर्मान्धता अथवा उत्पीड़न की प्रेरणा से ही उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उनका असमय में विनाश का विचार करके कलेजा मुंह को आता है। प्राचीन काल में तक्षशिला, काश्मीर, कांगड़ा-कुलु (हिमाचल प्रदेश) पंजौर, सिंहपुर, सिंध, हस्तिनापुर आदि अनेकानेक स्थान जैन संस्कृति के रूप में बड़ी उन्नत अवस्था में थे। वे लक्ष्मी की लीला भूमियां थीं। देवमंदिरों में शंखध्वनियों और भक्तजनों के दिव्यनादों से गगन गूंज उठता था। विद्वानों, निर्ग्रंथों (जैन श्रमणों) के विहार स्थल और बड़े-बड़े प्रतापी जैन राजों-महाराजों की, धन-कुबेर श्रेष्ठियों की प्रभुता की पंजाब की धरा निकेतन थी। पंजाब के उन जैन महातीर्थों को, जैनों से विस्तृत आबादी वाले नगरों और गावों को; जिनका आयात बहुत विस्तृत था विदेशियों और धर्मान्धों ने धराशायी कर दिया। इसलिए उनमें से अनेकों त्रिकाल काल के ग्रास बन चुके हैं। अनेकों जैनमंदिरों को हिन्दू और बौद्धमन्दिरों में बदल लिया गया। जैनमूर्तियों को अन्यमतियों ने अपने-अपने इष्ट-देवों के रूप में बदल दिया और मुसलमानों ने मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर लिया। अनेक मंदिरों से जैन मूर्तियों को उठाकर नदियों, कुओं आदि में फेंककर उन मंदिरों को अपने अपने धर्म-स्थानों के रूप में अधिकार जमा लिया। जैन शास्त्रों की होली जलाई गई। इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।

जैनों ने स्वभावतः स्तूप भी बनाये थे और अपनी पवित्र इमारतों की चारों ओर पत्थर के घेरे भी लगाये थे। जैनसाहित्य में अनेक जैनस्तूपों के होने के उल्लेख मिलते हैं जैनाचार्य जिनदत्त सूरि के जैन स्तूपों में सुरक्षित जैन शास्त्र भंडारों में से कुछ जैनग्रंथ पाने का भी उल्लेख मिलता है। जैन साहित्य में तक्षशिला, अष्टापद, हस्तिनापुर, सिंहपुर, काश्मीर आदि में भी जैन स्तूपों का वर्णन मिलता है। सम्राट सम्प्रति ने अपने पिता कुणाल के लिए तक्षशिला में एक जैन स्तूप का निर्माण कराया था। मथुरा का जैन-स्तूप तो विश्व विख्यात था। चीनी बौद्ध यात्रियों फाहियान, हुएनसांग आदि ने अपनी यात्राओं के विवरण में उनके समय में भारत व्यापी इन जैनधर्म के स्तूपों को धर्मान्धता के कारण अथवा अज्ञानता के कारण अशोक अथवा बौद्ध स्तूप लिख दिया। उन यात्रियों के सारे यात्रा विवरणों में एक भी जैन-स्तूप का उल्लेख नहीं मिलता। जहां जहां इन चीनी यात्रियों ने जैन निर्ग्रंथ श्रमणों की अधिकता बतलाई है और उन निर्ग्रंथों का जिन-स्तूपों तथा गुफाओं में उपासना करने का वर्णन किया है उन्हें भी जैनों का होने का उल्लेख नहीं किया। यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि जिन स्तूपों तथा गुफाओं में जैन निर्ग्रंथ श्रमण निवास करते थे वे अवश्य जैनस्तूप और

जैन गुफाएं होनी चाहिये।

सत्य-प्रतिज्ञ अशोक महान[1], चन्द्रगुप्त मौर्य, संप्रति, खारवेल नव नन्द, कांगड़ा नरेश आदि अनेक प्रतापी जैनमहाराजा,सम्राट हुए हैं जिनके समय में अनेक जैन गुफाओं, मंदिरों, तीर्थों और स्तूपों के निर्माण कराने करवाने के उल्लेख साहित्य और शिलालेखों में भरे पड़े हैं। तो भी इन बौद्ध यात्रियों ने किसी भी जैन-स्तूप अथवा जैन-गुफा आदि का उल्लेख नहीं किया। कवि कल्हण कृत काश्मीर का इतिहास राजतरंगिनी में भी वहां के जैन नरेशों द्वारा अनेक जैनस्तूपों के निर्माण का वर्णन मिलता है तो भी आज तक किसी पुरातत्त्ववेत्ता ने अपनी योग्यता का प्रदर्शन नहीं किया जो बौद्ध और जैन स्तूपों की अलग स्पष्ट पहचान कर पाये। यद्यपि जैन आगमों-जैन शास्त्रों में जैन-स्तूपों के निर्माण करने के उल्लेख ऋषभदेव के काल से लेकर आज तक विद्यमान हैं तो भी पुरातत्त्ववेत्ता आज तक इससे अनभिज्ञ हैं यह आश्चर्य की बात है।

पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ताओं कनिंघम आदि ने भी ऐसे घेरों को हमेशा बौद्ध घेरे कहा है। और जहां कहीं भी उनको टूटे-फूटे स्तूप मिले तब यही समझा कि इस स्थान का सम्बन्ध बौद्धों से है। ई. स. १८९७ में बुल्हर साहब के मथुरा के श्वेतांबर जैन स्तूप का पता लगा लेने के पश्चात् जब तक एक कथा शीर्षक अपना निबन्ध प्रकाशित नहीं किया था तब तक ऐसी ही भ्रांति चलती रही। जब यह कथा ई.स. १९०१ में प्रकाशित हुई तब से इतिहास के विद्यार्थियों को मालूम हुआ कि बौद्धों के समान बौद्ध काल के पहले से ही जैनों के स्तूप और घेरे बहुलता से मौजूद थे। परन्तु खेद का विषय है कि जमीन के ऊपर के स्तूपों में से आज तक देशी अथवा विदेशी, जैन अथवा जैनेतर किसी भी विद्वान ने जैन स्तूपों के विषय में शोध-खोज करने का साहस नहीं किया।

स्तूप के विषय में कुछ विचार

स्तूप उल्टे कटोरे के आकार का होता है। यह किसी महापुरुष के दाह संस्कार[2] के स्थान पर बनाया जाता था या सिद्धों अथवा तीर्थंकरों की मूर्तियों और चरणबिम्बों सहित उस आराध्य देव विशेष की पूजा आराधना के लिए निर्मित किया जाता था। स्तूप में तीर्थंकर और सिद्ध की प्रतिमा होने का स्पष्ट उल्लेख जैन ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में है। यथा—

"भवन खिदि-प्पणिधीसु वीहिं पडि होंति णव-णवा थूहा।
जिण सिद्ध पडिमाहिं अप्पडिमाहिं समाइण्णा ॥"

अर्थात्-भवन भूमि के पार्श्व भागों में प्रत्येक विथी के मध्य जिनों और सिद्धों की अनुपम प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं।[3]

इन स्तूपों की पूजा भी होती थी। जैनग्रंथों में कितने ही स्थलों पर तीर्थंकरदेवों की पूजा सम्बन्धी वर्णन आते हैं[4]। उन में एक उत्सव-थूभमह भी आया है। इस शब्द के संबंध में राजेन्द्राभिधान कोष' में लिखा है कि—

---

1. सत्य प्रतिज्ञ अशोक महान बड़ा प्रतापी जैन राजा काश्मीर में पार्श्वनाथ के काल से पहले हो गया है इस का परिचय हम काश्मीर में जैनधर्म के इतिहास में देंगे।
2. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति स्टीक पूर्व भाग १५८।१ पृष्ठ में उल्लेख है कि भरत ने ऋषभदेव भगवान की चिता भूमि पर अष्टापद पर्वत की चोटी पर स्तूप का निर्माण कराया। "चेइय थूमे करेह।"
3. तिलोयपण्णत्ति सानुवाद चउत्थो महाधियारो गाथा ८४४ पृष्ठ २५४
4. ज्ञाताधर्मकथांग, भगवती सूत्र, निशीथ चूर्णि इत्यादि।

"महपूजायामिति धातोः स्थापि महः।" (राजेन्द्र० भाग ६ पृ० १७०)

आचारांग सूत्र की टीका में लिखा है कि-: "पूजा विशिष्टे काले क्रियते।"
इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्तूपों में मूर्तियां होती थीं और उनकी पूजा भी होती थी। मेरी यह स्थापना शास्त्र प्रमाणों के अतिरिक्त पुरातत्त्व ने भी प्रमाणित कर दी है। यह दुर्भाग्य है कि जैनों से सम्बन्धित खुदाई का और उसके शिलालेखों आदि के वांचन का काम भारत में नहीं के बराबर हुआ है। पर मथुरा के कंकाली टीले का एक ज्वलंत प्रमाण जैनस्तूप सम्बन्धी प्राप्त है उसमें कितनी ही जैन मूर्तियां प्राप्त हुई है।[1] जो ईसा पूर्व काल में श्वेतांबर जैनों ने स्थापित की थीं।

जैन स्मारकों के बौद्ध होने का भ्रम

कई उदाहरण इस बात के मिलते हैं कि वे स्मारक, मूर्तियाँ, मंदिर आदि जो असल में जैनों के हैं वे बौद्धों आदि के मान लिए गये हैं। एक कथा के अनुसार —आज से लगभग अठारह सौ वर्ष हुए कि महाराजा कनिष्क ने एक बार एक जैनस्तूप को भूल से बौद्ध स्तूप समझ लिया था। उस समय भी जब ऐसी भूल कर बैठते थे तब कुछ आश्चर्य नही कि आजकल के पुरातत्त्ववेत्ता भी जैन इमारतों के निर्णय का यश कभी-कभी बौद्धो को दे देते हैं। मेरे विचार से सर कनिंघम ने कभी नही जाना कि बौद्धों से पहले अथवा बौद्धो के समय ही स्वभावतः जैनो ने भी स्तूप बनाये थे।

जैन इतिहास की अच्छी तरह खोज के लिये पुरातत्त्ववेत्ताओं को चाहिए कि वे पहले जैन स्तूपों, स्मारकों आदि का गंभीर-तलस्पर्शी ज्ञान करें। हिन्दू अवतारो, बौद्धो की मूर्तियों, जैन तीर्थंकरों की श्वेतांबर-दिगम्बर मान्यता में मूर्ति आदि कला में अन्तर, यक्षो-यक्षियो, देवी-देवताओं के स्वरूप,आकार का जैन हिन्दू और बौद्धो की मान्यता में अपनी-अपनी विशेषताओं का सांगोपांग ज्ञान प्राप्त करें। इन मूर्तियों में क्या समानता है और क्या अन्तर है इसका भी बड़ी सूक्ष्मता से जानकारी प्राप्त करें।[2] तभी ये लोग जैन इतिहास की सत्य खोज कर पाएंगे। अब भी बहुत सी जैन इमारतें, मूर्तियाँ, शिलालेख धरती में दबे हुए है। एवं इधर-उधर बिखरे पड़े हैं जिनकी तरफ

---

1. विशेष विवरण के लिये देखिये 'जैना स्तूप एण्ड अधर ऐंटीक्वीटीज आफ मथुरा। वीसेंट ए. स्मिथ (आर्किआलोजिकल सर्वे आफ इंडिया न्यू इम्पिरियल सीरीज वाल्यूम २०)।
अहिछत्रा में भी जैन स्तूप मिला है और उस में जैनमूर्तियां भी मिली हैं। इसी प्रकार मध्यप्रदेश में भी ईसा पूर्व ६०० वर्ष प्राचीन जैनमूर्तियां तथा जैनस्तूप मिले हैं। देखें (दी संडे स्टैंडर्ड हैद्राबाद एडीशन ता. १८. २, १९७९)
Some of the ruined remains belong to the sixth century B. C. Idols of Hindu, Jain and Buddhist religions clearly marked for stupas have been found near about the monasteris and viharas. (S. S. 18-2-1979)
2. मथुरा के श्वेताम्बर जैन स्तूप जो सुपार्श्वनाथ के स्तूप के नाम से प्रख्याति प्राप्त था और जिसके अवशेष कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए है। उन्हें पुरातत्त्व विभाग ने मथुरा, लखनऊ आदि अनेक पुरातत्त्व संग्रहालयो में सुरक्षित किया हुआ है। वहां ऐतिहासिक खोज के लिए अनेक बार हमें जाना पड़ा है। पर खेद का विषय है कि वहां के अधिकारी डायरेक्टरों आदि को भी इस विषय की विशेष जानकारी नही है कि वे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का संतोष कारक समाधान कर सकें। वे तो हमारे जैसों से समाधान पाने की ताक में रहते हैं। उन्हें यह भी मालूम नही है कि इस स्तूप तथा आस-पास के क्षेत्र से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री में अंकित लेखों में वर्णित जैनाचार्य आदि किस परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं।

खोज का ध्यान ही नहीं दिया गया। खेद का विषय तो यह है कि पंजाब में भी अनेक स्थानों से प्राप्त प्राचीन जैनमूर्तियों के लेखों और शिलालेखों को आजतक पुरातत्त्वज्ञों ने पढ़ने का श्रेय प्राप्त नहीं किया। अतः पंजाब में जैनधर्म के इतिहास की जानकारी के लिये उनका पढ़ा जाना भी जरूरी है।

आजकल जैनों की आबादी अधिकतर गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान, पश्चिमी भारत तथा दक्षिणी भारत में है और भारत के अन्य प्रान्तों में भी जैन लोग अल्प संख्या में आबाद हैं। परन्तु हमेशा ऐसी बात नहीं रही। हम जैनधर्म की प्राचीनता के अध्याय में लिख आये हैं कि ऋषभदेव से लेकर महावीर आदि अर्हतों (तीर्थंकरों) का धर्म सारे भारत में तथा इसके बाहर भी विश्व के दूर-दूर देशों तक फैला हुआ था। एक उदाहरण लीजिये—

बंगाल, बिहार, उड़ीसा, भूटान, नेपाल, काश्मीर, बरमा, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, काबुल, चीन, ईरान, ईराक, शकस्तान, तिब्बत, तुर्किस्तान, लंका आदि देशों में प्राचीनकाल में सर्वत्र जैनधर्म का बोलबाला था, आज वहाँ पर जैनधर्म का नाम लेवा एक भी व्यक्ति वहां का मूल निवासी नहीं रहा। वहां न तो कोई जैन इमारत, स्मारक आज विद्यमान है न जैनों की आबादी। जब कि विक्रम की सातवी शताब्दी में जैनों की संख्या उन देशों में बहुत ज्यादा थी। विक्रम की १६ वीं, १७ वीं शताब्दी में भी तुर्किस्तान, चीन आदि देशों में जैन यात्री भारत से यात्रा करने के लिए जाते थे, जिनका वर्णन हम पहले कर आये हैं। ये सब स्थान विदेशियों की बर्बरता और धर्मान्धता के शिकार हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त—

जैन साहित्य अर्द्धमागधी भाषा में लिपिबद्ध है। उस लिपि को भी बंगालियों ने बंगला लिपि में परिवर्तित करके जैनवांगमय को बहुत क्षति पहुंचाई है। जैनधर्म का उद्‌गम स्थान मुख्य रूप से बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश रहा है अतः इन सब देशों में जैनधर्म का अति प्राचीन काल से प्रचार प्रभाव और प्रसार रहा है। इस देश की प्राचीन मातृभाषा अर्द्धमागधी थी। बंगालियों ने आज से हजार वर्ष पूर्व उस लिपिका रूपांतर किया पश्चात् उन नवीन लिपियों का शिक्षण और प्रसार हो जाने से जैन श्रमण श्रमणियों के विहार के अभाव से, जैनधर्म का उपदेश न मिलने से अन्य प्रांतों के जैनसंघों के साथ सम्पर्क छूट जाने से एवं जैनेतर विद्वानों का जैनधर्म के विरुद्ध और अपने सिद्धान्तों का जोरशोर से प्रचार और प्रसार पा जाने के कारण इन क्षेत्रों से जैनधर्म एकदम लुप्त हो गया।

पंजाब तो विदेशियो के आक्रमणों, तोड़-फोड़ और लूट-मार का सदा शिकार होता रहा; इस लिये यहां का प्राचीन इतिहास लिखने के साधनों का अभाव सा ही है। यही कारण है कि आज-तक पंजाब का सांगोपांग इतिहास किसी ने लिखा हो हमारे देखने में नहीं आया। और यह बात भी सर्वथा सत्य है कि पंजाब के जैनधर्म का इतिहास आज तक लिखा ही नहीं गया। फिर भी हमने इस दुसाध्य दुरुह कार्य को पूरा करने का संकल्प किया है। जहाँ तक हमारी सामर्थ्य और योग्यता है इसे अधिक से अधिक प्रामाणिक और प्रौढ़ बनाने का प्रयास किया है। पंजाब में ध्वंसकारी घटनाओं का आगे प्रसंगोपात प्रकाश डालते रहेंगे।

पंजाब में जैनधर्म

पंजाब का नामकरण तथा सीमा

भारत में मुसलमानी शासन से पहले के किसी भी इतिहास तथा साहित्य में इस जनपद का नाम पंजाब नहीं पाया जाता। न ही मुग़ल सम्राटों से पहले पंजाब नाम का कोई सूबा (प्रांत) था। अकबर के समय में लाहौर, मुलतान, सरहंद, बठिंडा ये चार सूबे थे। बाद में जब अकबर ने अपने राज्य का विस्तार किया तब इसके अधिकार का क्षेत्र और भी अधिक हो गया। पंजाब शब्द से भी ज्ञात होता है कि इस प्रदेश का पंजाब नामकरण मुसलमानों के काल में ही हुआ है। पंजाब शब्द फ़ारसी और उर्दू भाषा के पंज+आब इन दो शब्दो से बना है। फ़ारसी और उर्दू मुसलमानो की भाषा है। पंज का अर्थ है पांच और आब का अर्थ है पानी (नदियां)। यानी जिस भूभाग (क्षेत्र) को पांच नदियो (जेहलम, चनाब, रावी, ब्यास और सतलुज) का पानी सिंचन करता है उसे पंजाब के नाम से संबोधित किया जाने लगा। अंग्रेजों के राज्यकाल में रावलपिंडी से लेकर दिल्ली की सीमा तक और काश्मीर से कराची तक पंजाब और सिंध का विस्तार था। रावलपिंडी की उत्तर दिशा में लंडीकोतल तक पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत का विस्तार था। यद्यपि जम्मू से लेकर तिब्बत की सीमा तक काश्मीर एक स्वतंत्र रयासत थी जो कि अंग्रेजों के ही आधीन थी।

प्राचीन साहित्य में इस प्रदेश का नाम वाहिक भी पाया जाता है। तक्षशिला भी वाहिक देश में था। महाभारत के कर्ण पर्व में अ. ४४ श्लोक ७ पृष्ठ ३८१३ (गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित) में लिखा है कि—

"पंचानां सिन्धु षष्ठनां नदीनां ये अन्तराश्रितः वाहिकानाम देशः"

(जेहलम, चनाब, रावी, ब्यास और सतलुज) पांचो नदियों तथा छठी सिन्धु नदी, इन छह नदियों के अन्दर आश्रित देश वाहिक नाम का देश है। इसके अन्दर १. गांधार, २. पुण्ड्र, ३. भद्र, जम्मू, पूंछ, स्यालकोट तथा इसका समीपवर्ती देश और ४. उशीनीर, ५. त्रिगर्त (जालंधर-कांगड़ा प्रदेश) ६. पार्वतिका, ७. कुलू अचल (सहारनपुर से अम्बाला जिला तक) ८. सौवीर (जेहलम चनाब नदियों के संगम से ५० मील अधोभाग तक) ९. सिन्धु (सिन्धु नदी के पश्चित-पूर्व क्षेत्र के अधोभाग से कराची तक) १०. हरियाणा (पानीपत, सोनीपत, करनाल, कैथल, हिसार आदि से अंबाला तक का क्षेत्र), ११. काश्मीर (जम्मू पूछ की उत्तर दिशा से तिब्बत की सीमा तक) उपर्युक्त छह नदियों और यमुना (इन सात नदियो) के अन्तर्गत (दिल्ली तक की सीमा वाले) क्षेत्र को अर्थात्-गांधार (पेशावर से लेकर) काश्मीर, सिन्धु, सौवीर, तथा वर्तमान मेरठ ज़िला तक के विस्तृत क्षेत्र को हम पंजाब देश मानकर - **पंजाब में जैनधर्म के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे।** पाठक इस बात को अवश्य ध्यान में रखें। अतः पंजाब में पश्चिम पाकिस्तान (सिंध- पंजाब, सूबा सरहदी) काश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कुरुक्षेत्र प्रदेशों का समावेश है।

कारण यह है कि पंजाब जनपद की सीमाएँ सदा एक जैसी नहीं रही। समय-समय पर बदलती रही हैं। इसलिये हमें इस देश की किसी एक सीमा को निर्धारण करना ही पड़ेगा। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हमने उपर्युक्त (वाहिक देश की) सीमा को स्वीकार किया है और इसी को लक्ष्य में रखकर लिखने का श्री-गणेश कर रहे हैं।

श्रमण भगवान महावीर के समय में मगधदेश में जिसकी राजधानी राजगृह थी वहां शिशुनागवंशी राजा श्रेणिक (बिम्बसार-भिंभीसार) राज्य करता था। ईसा से ६४२ वर्ष पहले शिशुनाग ने इस राज्य की स्थापना की थी। श्रेणिक इस वंश का पांचवां राजा था। ईसा से ५८२ वर्ष पहले यह राजगद्दी पर बैठा। २८ वर्ष राज्य किया और अंगदेश को जीतकर अपने राज्य में मिलाया। श्रेणिक के द्वारा इसके राज्य में जैनधर्म का बड़ा भारी प्रचार हुआ। यह णायपुत्त (ज्ञातपुत्र) भगवान महावीर का परमभक्त था और उनके प्रवचनों को सुननेवाला मुख्य श्रोता था। हिन्दु पुराणों में इसे शिशुनागवंशी कहा है। बौद्धग्रंथों में इसे हर्यकुल का कहा है। जैनग्रंथों में इसे वाहिकवासी कहा है। अर्थात् ज्ञातपुत्र महावीर और तथागत गौतम बुद्ध का समकालीन श्रेणिक राजा शिशुनागवंशी हर्यककुल का था, और वाहिक (पंजाब) देश निवासी था। इसके पूर्वज पंजाब से मगध में कब गये, यह इतिहास की खोज का विषय है। यही कारण था कि श्रेणिक के मांगने पर भी राजा चेड़ा (चेटक-भगवान महावीर के मामा) ने अपनी पुत्री चेलना को देने से यह कह कर इन्कार कर दिया था कि तुम वाहिकवासी हो, इस लिये मेरी पुत्री का रिश्ता तुमसे नहीं हो सकता। पश्चात् चेलना की अनुमति से उसका विवाह श्रेणिक से हो गया।

पंजाब में जैनधर्म

हम लिख आये हैं कि कुछ वर्ष पहले यह समझा जाता था कि भारतवर्ष की सबसे पुरानी संस्कृति वैदिक है किन्तु ईस्वी सन् १९२२-२३ की खोज ने भारत के इतिहास को कुछ और अधिक प्राचीनता प्रदान की है। उस वर्ष सिन्ध के लार्काना जिले में मोहन-जो-दड़ो स्थित एक टीले की खुदाई हुई। इस खुदाई से जो सामान प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर पूर्व स्थित एक के बाद दूसरे कई एक शहरों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है। जिनकी संस्कृति की ऐतिहासिकता ईसा से ३००० वर्ष पहले की बतलाई है। बाद में पश्चिमी पजाब के माउंटगुमरी नामक नगर के समीप हड़प्पा नामक स्थान पर खुदाई हुई। उनके आधार पर पूर्व स्थित एक के बाद दूसरे कई एक शहरों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। इस प्रकार सिंध, बिलोचिस्तान, पश्चिमी पंजाब, कच्छ, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, अफ़ग़ानिस्तान, सौराष्ट्र, राजपुताना आदि प्रदेशों में—चन्दु-दड़ो, लोहुंज दड़ो, कोहिरो, अम्री, नाल, रोपड़, पीलीबंगा, अलीमुराद, सक्कर-जो-दड़ो, काहू जो-दड़ो, आदि साठ स्थलों में मात्र सिन्धु नदी के किनारों के प्रदेशों में ही ऐसा नहीं है किन्तु बियासा और जेहलम नदी के विस्तृत प्रदेशों तक विस्तृत की गई खुदाई से भी उस काल की प्राचीन संस्कृति की सामग्री प्राप्त हुई है। इसलिए इस संस्कृति को पुरातत्त्वज्ञों ने सिन्धु-घाटी की संस्कृति का नाम दिया है। पश्चिम में मकरात, दक्षिण में सौराष्ट्र, उत्तर में हिमालय पर्वत की शिवालक पर्वतमालाओं तक सिंधु-घाटी की संस्कृति की पुष्कल सामग्री प्राप्त हुई है। जिसके आधार पर एक पुरानी संस्कृति की जानकारी मिली है। इससे भारतवर्ष के इतिहास को ईसा से ३००० वर्ष पूर्व तक का प्राचीन माना जाने लगा है। मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी की सीलों (मुद्राओं) पर एक तरफ खड़े आकार में भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्ग मुद्रा में मूर्ति बनी हुई है, दूसरी तरफ बैल का चिह्न बना है। भगवान् ऋषभदेव जैनों (आर्हतों) के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम अर्हत् (तीर्थंकर) हैं और उनका लांछन बैल है। हम लिख आये हैं कि—मोहन-जो-दड़ो की ऐतिहासिक खोज के लिए जो रायबहादुर

प्रो० श्री रामप्रसादजी चन्दा के नेतृत्व में यहां पृथ्वी की खुदाई हुई थी उससे प्राप्त सीलों के बारे में लिखते हैं कि—

(१) "मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन से एक खड़ी मूर्ति ऋषभ जिन की कायोत्सर्ग मुद्रा में मिली है जिस पर ऐसी चार मूर्तियां अंकित हैं जो कि (मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त) ईसा की दूसरी शताब्दी की ऋषभ जिन की नं० १२ की प्रतिमा से मिलती है।"

(२) हड़प्पा की खुदाई से ऋषभदेव की नग्न मूर्ति का धड़ (गर्दन से कमर के कुछ नीचे के भाग तक) मिला है। इसके सम्बन्ध में काशीप्रसाद जायसवाल तथा ए० बनर्जी शास्त्री का कहना है कि यह धड़ उन नग्न मूर्तियों के धड़ के समान है जो पटना के समीप लोहानीपुर की खुदाई से मिली है जो तीर्थंकरों की ही मूर्तियां हैं।

(३) हम यह भी लिख आये हैं कि हड़प्पा की एक सील का चित्र लाहौर के स्व० डा० बनारसीदास जैन द्वारा संपादित 'जैन विद्या' नामक त्रैमासिक पत्र के मुख्य पृष्ठ पर छपा था इस अवशेष पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए एक योगी की मूर्ति है जिसके सिर पर सांप के पांच फण हैं। जैनों के सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर सांप के पांच फण होते हैं। इस प्रतिमा के पांच फण कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त बैठी हुई सुपार्श्वनाथ मूर्ति के सिर पर पाच फणों से मिलते हैं जो मथुरा के कर्जन म्युजियम में सुरक्षित है। पांचफण वाली सुपार्श्वनाथ की मूर्ति राजस्थान में राणकपुर के जैन श्वेतांबर मन्दिर में भी है।

(४) हड़प्पा की खुदाई से कुछ खंडित मूर्तियां भी प्राप्त हुई है। उन सबका अध्ययन करके भारतीय पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर जनरल श्री टी. एन. रामचन्द्रन लिखते हैं कि—

"इन दोनों धड़ों से इस बात की सत्यता पर रोशनी पडती है कि ये हड़प्पा-काल की जैन तीर्थंकर की मूर्तियां जैनधर्म में वर्णित कायोत्सर्ग मुद्रा की ही प्रतीक है।"

(५) सिंहपुर - ईसा की सातवी शताब्दी मे बौद्ध धर्मानुयायी चीनी यात्री हुएनसांग सिंहपुर मे आया। वह उसके वर्णन में लिखता है कि "वहां अशोक राजा के स्तूप[1] के पास एक स्थान है जहां श्वेतपटधारी पाखंडियों के आदि उपदेशक ने बोधि प्राप्त की थी। इस घटना का सूचक यहां पर एक शिलालेख भी है। पास ही एक **देवमंदिर**[2] भी है जो लोग यहां दर्शनार्थ जाते हैं वे घोर तपस्या करते हैं और अपने धर्म में सदा अप्रमत्त रहते हैं।......उनके चारित्र सम्बन्धी आचार अपने-अपने दर्जे के अनुसार ही होते है। बड़ों को भिक्षु तथा छोटों को श्रामणेतर कहते है"।[3]

यात्री ने जिन श्वेतपटधारियों तथा देवमंदिर का उल्लेख किया है, वे श्वेतांबर जैन श्रमण और श्रावक थे और जो स्तूप और देवमंदिर थे वे श्वेतांबर जैनों द्वारा निर्मित स्तूप तथा बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि आदि के जैन-मंदिर थे। इसकी पुष्टी श्री जिनप्रभ सूरि के निम्नलिखित उल्लेखों से होती हैं। उन्होंने अपने चतुशीति जैन महातीर्थ नामक कल्प में उल्लेख किया है कि—

"श्री सिंहपुरे शिंगाभिध: श्री नेमिनाथ:"......श्री सिंहपुरे च विमलनाथ: ॥[4]

अर्थात्—इन्द्र द्वारा निर्मित श्री नेमिनाथ का तथा विमलनाथ का श्री सिंहपुर में जैन महा-

1. जैन धर्मानुयायियों का यह स्थान महातीर्थ होने के कारण यह स्तूप और देवमंदिर श्वेताम्बर जैनों द्वारा ही निर्मित किए गए थे। जिसको बौद्ध यात्री ने धर्मांधता या अज्ञानतावश अशोक का स्तूप लिखा है।
2. चीनी यात्री ने जैन मंदिरो का सर्वत्र देवमंदिर के नाम से उल्लेख किया है।
3. Buddhist Records of the western. Vol I p. p. 43-45
4. सिंघी जैन विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित-जिनप्रभ सूरि कृत विविध तीर्थकल्प।

तीर्थ है। (नेमिनाथ बाईसवें तथा विमलनाथ १३ वें तीर्थंकर हैं।

'सिंहपुरे पाताल लिंगाभिध: श्री नेमिनाथ:"[1]॥

अर्थात्-सिंहपुर में पाताल लिंग नामक (इन्द्र द्वारा निर्मित) श्री नेमिनाथ का महान् जैन तीर्थ है।

एलेग्जेंडर कनिंघम इस परिणाम पर पहुंचा था कि यह सिंहपुर आजकल कटास अथवा कटाक्ष[2] जो जिला जेहलम में जेहलम नदी के किनारे पर है और सिक्खों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान भी है उसके निकट होना चाहिए।

डा० बूल्हर की प्रेरणा से डा० स्टाईन ने सिंहपुर के उन जैन-मंदिरों का पता लगा लिया। डा० महोदय को मालूम हुआ कि कटाक्ष के दो मील के अन्तर पर मूर्ति नामक गांव में इन मन्दिरों के खण्डहर विद्यमान हैं। तब उसने वहां पहुंचकर झट खुदायी शुरु कर दी। बहुत सी जैन मूर्तियां और जैन मन्दिरों तथा स्तूपों के पत्थर प्राप्त हुए जो २६ ऊँटों पर लाद कर लाहौर लाए गए और वहां के सरकारी म्युजियम में सुरक्षित कर दिए गए।

हम लिख आए हैं कि लिंग शब्द का अर्थ इन्द्र द्वारा निर्मित क्षेत्र अथवा तीर्थ है। इसलिए यहाँ इस तीर्थ का निर्माण प्रागैतिहासिक काल से होना निश्चित है। इसीलिए श्री जिनप्रभ सूरि ने इसे लिंग शब्द से संबोधित करते हुए यह संकेत किया है[3] कि यह महातीर्थ अतिप्राचीन होने से लोगों में यह धारणा थी कि यह स्तूप और मन्दिर देवेन्द्रों द्वारा निर्माण किया गया है। श्री जिनप्रभ सूरि का स्वर्गवास विक्रम की १४ वीं शती का अंतिम चरण (वि० सं० १३६०)[4] में हुआ था। इससे स्पष्ट है कि जैनों का यह महातीर्थ विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी तक विद्यमान था। इस तीर्थ को ध्वंस कब और किसने किया इस के विषय में अनुमान होता है कि महात्याचारी मुसलमान सुलतान सिकन्दर बुतशिकन (मूर्तिभंजक) ने किया होगा। जिसका समय विक्रम सं० १३९३-१४१६ का है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि इस धर्मांध अत्याचारी ने अफग़ानिस्तान से लेकर काश्मीर तक तथा सारे पंजाब में देव-मन्दिरों का ध्वंस किया था और तलवार के जोर से यहाँ के निवासियों को मुसलमान बनाया था।[5]

सिंहपुर के इस जैनतीर्थ का वर्णन करते हुए हुएनसांग[6] लिखता है कि इसके उपासक लोग भिन्न भिन्न दर्जे के हैं और इनके चरित्र सम्बन्धी नियम अपने अपने दर्जे के अनुसार होते हैं। उनके

1. अध्याय एक की टिप्पणी में हम लिंग शब्द के अर्थ के इन्द्र निर्मित तीर्थ क्षेत्र का खुलासा कर आए हैं।
2. Gazetter of the Jehlum District Lahore 1904 p.p. 43-45
3. तीर्थंकल्प ४६ पृ० ८५-८६
4. जिन-शासन प्रभावक जिन-प्रभ और उनका साहित्य पृ० ६१
5. काश्मीर के इतिहास में इस अत्याचारी के विषय में विशेष वर्णन करेंगे।
6. हुएनसांग २६ वर्ष की आयु में ई० स० ६३० में भारत भ्रमण के लिए चीन से आया। उस समय भारत में हर्ष का राज्य था। यह गांधार-देश की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में आया। वहां से तक्षशिला गया। वहां से काश्मीर, पुंछ, टक होता हुआ चन्द्रभागा (चनाब नदी) को पार कर जयपुर (जम्मू) में पहुंचा। वहां से वह साकल-नगर (स्यालकोट) गया। टक की पूर्वी सीमा पर एक बड़े नगर में पहुंचा। वहां अधिकतर नास्तिक रहते थे। जालंधर से जगरधन में वाली चार मास ठहरा। वहां से कुलूरह (कुलू) होता हुआ हुट सुताद्र नामक देश में गया। (हुएनसांग की भारत यात्रा नामक पुस्तक)।

धार्मिक कृत्य तथा जीवनचर्या बौद्ध भिक्षुओं से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। भेद केवल इतना ही है कि उनके सिर पर छोटा सा बालों का जूड़ा होता है और वे प्रायः नग्न रहते हैं। जब कभी वे कपड़ा धारण करते हैं तो सफेद कपड़ा लेते हैं। उनको अन्य लोगों से पृथक करने के लिए यही छोटी-छोटी विशेषताएं हैं। उनके धर्म प्रवर्तक की प्रतिमा तथागत की प्रतिमा से मिलती-जुलती है। विशेषता मात्र इतनी ही है कि वे इसे कपड़े पहनाते (आंगी पूजा करते) हैं दूसरे लक्षण सब एक ही हैं। यहां जिन श्रमणों, श्रावकों तथा देवमन्दिरों मूर्तियों का यात्री ने वर्णन किया है वे श्वेताम्बर जैन परम्परा से मेल खाते हैं। जिस स्थान में इन मंदिरों के अवशेष मिले थे उस स्थान का नाम पाकिस्तान बनने से पहले[1] मूर्ति ग्राम था।[2]

इसी सिंहपुर में एक क्षीणकुल गोत्र क्षत्रीय रहता था। दरिद्रता के कारण वह गौएं चरा कर कठिनता से परिवार का पालन पोषण कर पाता था। एकदा जैन मुनि के उपदेश से उस ने प्रति दिन नवकार मन्त्र और भक्तामर स्तोत्र के पाठ करने की प्रतिज्ञा ली। एक बार उसे स्वप्न में अष्ट-प्रातिहार्य सहित युगादिदेव श्री ऋषभदेव की प्रतिमा के दर्शन हुए। प्रातःकाल जब वह गौएं चराने नदी किनारे गया तो वर्षा होने से धरती में से अष्टप्रातिहार्य सहित श्री ऋषभदेव प्रभु की प्रतिमा प्रगट हुई। उसने जहलम नदी के किनारे एक झोंपड़ी बनाकर प्रतिमा को स्थापित कर दिया और भक्ति से उसकी पूजा करने लगा। नवकार मंत्र तथा भक्तामर का जाप भी प्रतिदिन करता रहा। इस प्रकार छह मास बीत गए। एक दिन भक्तामर के ३१ वें श्लोक का जाप करते हुए ऋषभदेव की शासनदेवी चक्रेश्वरी ने प्रकट होकर इसे राज्य पाने का वरदान दिया। यहां के राजा की मृत्यु के बाद यह दारिद्र क्षत्रीय सिंहपुर का राजा बना। जीवन पर्यंत जिनप्रतिमा की पूजा करते हुए आत्म कल्याण किया।[3]

इससे यह स्पष्ट है कि पंजाब में जैनों के प्रथम तीर्थंकर की मान्यता और उपासना प्राग्वैदिक काल से ही रही है। अर्हत् ऋषभदेव ने स्वयं पंजाब में भी विचरण किया था इस के प्रमाण उपलब्ध हैं यथा—

(६) श्री ऋषभदेव ने अपने द्वितीय पुत्र बाहुबली को बहली-गांधार का राज्य दिया था इसकी राजधानी तक्षशिला थी। गांधार देश की सीमा उस समय कहां तक थी इसको जानने के साधन उपलब्ध नहीं है। जैन वांगमय के अनुसार बाहुबली के समय एकदा छद्मस्थावस्था में भगवान ऋषभदेव तक्षशिला पधारे थे तथा इससे पहले बाहुबली के पुत्र सोमयश के राज्यकाल में हस्तिनापुर में भी पधारे थे, वहां आपने वर्षीतप का पारणा किया था। इन दोनों घटनाओं का विवरण क्रमशः तक्ष-

---

1. सिंहपुर के खंडहरों में अधिक मूर्तियां होने के कारण इसका नाम मूर्ति ग्राम प्रसिद्ध हो गया होगा।
2. Sinhapur near morden katasraj Jehlum District Sir Aural Stien and then the principal Oriental College Lahore, personally visited the place in 1889 A. D. and discvered the remain of Sinhapur Jain Temple buried near Murti a village two miles from Katas and collected from excavation a huge mass of idols which were brought to Lahore in 26 camal loads and were depiuted in punjab control musium. (Jain Journel April 1969 p. 163)
3. भक्तामर श्लोक ३१ पर १६वी कथा आचार्य गुणाकर सूरि कृत विवृत्ति।

शिला और हस्तिनापुर के विवरण में लिखेंगे। अतः पंजाब में अर्हत् ऋषभदेव का आगमन अनेक बार हुआ होगा। केवलज्ञान के बाद भी यहां उन्हों ने आर्हत् (जैन) धर्म का प्रचार व प्रसार किया था।

(७) सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, सत्तरहवें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ, अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ का च्यवन, जन्म, चक्रवर्ती पद से राज्य, दीक्षा, तप तथा केवलज्ञान, चतुर्विधसंघ की स्थापना, गणधरों और गणों की स्थापना आदि सब कार्य हस्तिनापुर में हुए और इन तीनों ने निर्वाण प्राप्ति से पहले तक सर्वत्र धर्मप्रचार करते हुए पंजाब में भी विचरण किया इसका विवरण भी हम हस्तिनापुर के प्रसंग पर करेंगे।

(८) उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ, बीसवें तीर्थंकर श्री मुनि सुव्रतस्वामी, बाईसवें श्री अरिष्ट नेमि, तेइसवें श्री पार्श्वनाथ तथा महावीर प्रभु के पंजाब में धर्मप्रचार के लिए आने के उल्लेख मिलते हैं। एवं इन के पश्चात् आज तक भी जैन श्रमण, श्रमणियां सतत् जैनधर्म के प्रचार व प्रसार के लिए पंजाब को पावन करते आ रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि पंजाब में वैदिक आर्यो के आने से पहले प्राग्वैदिक काल से श्री ऋषभदेव के समय से लेकर आज तक जैनधर्म विद्यमान चला आ रहा है। अब प्रदेशवार परिचय देते हैं।

१—गांधार और पुण्ड्र जनपद

सिन्धु नदी और काबुल नदी के बीच का भूभाग गांधार (गंधार) देश के नाम से प्रख्यात था। गांधार का उल्लेख 'आदि पूर्व महाभारत में' एक देश के लिए तथा "नीलमत पुराण" में भी आता है।

१. गांधार, २. कपिशा, ३. वालहीक, एवं ४. कम्बोज महाजन-पद पाणिनी काल में भारत के उत्तर-पश्चिम में थे। १. कम्बोज काशगर के दक्षिण का प्रदेश था। २. हिन्दूकुश के दक्षिणपूर्व में गांधार प्रदेश था। ३. दक्षिण-पश्चिम में कपिशा था। ४. उत्तर-पश्चिम में वालहिक तथा उत्तर पूर्व में कम्बोज जनपद था।

१—गांधार जनपद—समय-समय पर इस की राजधानियां और सीमाए बदलती रहीं। गांधार जनपद को यूनानियों ने गेंडराई नाम दिया है। उस समय यह जनपद तक्षशिला से कूमड़ नदी तक विस्तृत था। पश्चिमी गांधार की राजधानी पुष्कलावती (पेशावर) थी। जैन शास्त्रों में इस जनपद का नाम बहली भी कहा है।

बौद्ध ग्रंथो में भी गाधार देश का विशेष उल्लेख मिलता है।

(१) एक समय सिंधु नदी से काबुल नदी तक का क्षेत्र, मुलतान और पेशावर इस गांधार मंडल में सम्मिलित थे। (महाभारत की नामानुक्रमणिका के अनुसार)।

(२) फिर कम्बोज, भद्र, पश्चिमोत्तरीय प्रदेश, पेशावर, रावलपिंडी का जिला, तथा उत्तर पश्चिमी पंजाब का अंचल गांधार नाम से अभिहित होता था।

(३) कनिष्क काश्मीर और गांधार दोनों में राज्य करता था। अतः उस समय इन दोनों देशों का निकट सम्बन्ध था।

(४) काश्मीर निवासी कवि कल्हण की राजतरंगिनी ऐतिहासिक ग्रंथ में गांधार निवासी ब्राह्मणों की गणना अवमानित वर्ग में की है।

(५) गांधार में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफ़गानिस्तान सम्मिलित थे। इसकी सीमा प्राचीन

काल में काबुल नदी स्वात से लेकर जेहलम नदी के उत्तर दिशा के किनारे तक थी। यह उत्तरापथ का प्रथम जनपद था। प्राचीन काल में अर्हत् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र बाहुबली के राज्यकाल में इस जनपद की राजधानी तक्षशिला थी। वर्तमान पाकिस्तान के अधीन पंजाब की राजधानी इसलामाबाद (रावलपिंडी के निकट) की उत्तर दिशा में बीस मील की दूरी पर इस नगर के ध्वंसावशेष (खण्डहर) विद्यमान हैं। तक्षशिला को बहलिक (बहली) की राजधानी भी कहा है। गांधार में बाहुबली का राज्य होने से इस जनपद का नाम बहली भी था। जैनशास्त्रों में इसकी राजधानी पुण्ड्रवर्धन भी बतलाई है जो आजकल पेशावर के नाम से पहचाना जाता है इसकी पैहिचान चारसद्दा से भी की जाती है। इस उपर्युक्त विवरण से मालूम होता है कि गांधार की सीमाएं सदा बदलती रही है।

कम्बोज और गांधार राष्ट्र

यह राज्य अति विस्तार वाला था और भारत के वायव्य कोण में था।

सीमा, राजधानी और भाषा

सीमा—१-काश्मीर, २-चित्राल, ३-अफ़ग़ानिस्तान तथा सारा पंजाब इस राष्ट्र में समा जाता था।

या यों कहो कि सतलुज नदी का सारा प्रवाह इस साम्राज्य की पूर्व और दक्षिण दिशा की हद थी। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

राजधानी—इस साम्राज्य के बीचो-बीच महासिन्धु नदी उत्तर से दक्षिण को बहती होने से इसके दो भाग हो गए हैं। इसके पश्चिम भाग को कम्बोज और पूर्वी भाग को गांधार कहते थे। कम्बोज की राजधानी पुरुषपुर-पुष्कलावती (पेशावर) थी। गांधार की राजधानी तक्षशिला थी।

भाषा—कम्बोज की खोराष्टी भाषा थी और गांधार की ब्राह्मी भाषा थी और बोलचाल की भाषा दोनों भाषाओं से मिश्रित थी। कारण यह था कि दोनों देश समीपवर्ती थे और दोनों का आपस में सगी बहिनों की तरह सम्बन्ध था तथा दोनों देशों की जनता का आना जाना था।

गांधार जनपद-राजधानी तक्षशिला

१. तक्षशिला, २. उद्यान, ३, बोलोर, ४. सिंहपुर, ५. उरष ६. काश्मीर, ७. पुंछ, ८. राजपुरी ९. ढक्क (वाहिक), १०. छिन्नपति ११. जालंधर, १२. कुल्लट, १३. शताद्रु, १४. पर्वत, १५. पारियात्र इन सबका गांधार जनपद में समावेश था। या यों कहो कि ये सब प्रदेश गांधार जनपद में सम्मिलित थे।

१. **तक्षशिला**—शाह की ढेरी गांव की वायव्य (पश्चिमोत्तर) कोण में आठ मील की दूरी पर हसन-अब्दल नाम का गांव।

२. **उद्यान**—स्वात नदी तटवर्ती पेशावर शहर से उत्तर दिशा में; इसमें चित्राल देश और हिन्दूकुश पर्वत का दक्षिण का सर्व पार्वतीय देश समा जाता था।

३. **बोलोर**—इसमें बाल्टी और बतिस्तान (काश्मीर का कुछ भाग) आ जाता था।

४. **सिंहपुर**—कटास-जेहलम नदी का दक्षिण तटवर्ती भाग।

५. **उरष**—सिन्धु और जेहलम नदी का मध्यवर्ती भाग।

६. **कश्मीर**—यह बहुत विस्तृत देश है और आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्राचीन नाम काश्यपपुर था।

७. **पुंछ**—यह छोटा सा प्रदेश है। पश्चिम में जेहलम नदी, उत्तर में पीरपांजाल की पर्वत मालाएं, दक्षिण और अग्निकोण में राजौरी का प्रदेश।

८. **राजपुरी**—राजौरी का प्रदेश यह काश्मीर की दक्षिण तथा पुनाक (Punach) की अग्निकोण में है।

९. **टक्क**—यह वाहिक प्रदेश कहलाता था। एक समय यह गुर्जर प्रजा के राज्य का एक भाग था। टक्क लोग महाबलवान प्रजा थी। इनका निवास चनाब (चंद्रभागा) नदी के समीप था। मगधदेश का राजा श्रेणिक (बिंबसार) वाहिक था।

१०. **छिन्नर्पात**—रावी से सतलुज नदी के बीच का प्रदेश। कनिंघम इसकी राजधानी चिने (Chine) अथवा चिनीगरी (Chinigarı) बतलाता है। जिसका स्थान अमृतसर से उत्तर दिशा मे ११ मील की दूरी पर था। (देखें Arch Servey Vol XIV)

११. **जालंधर**—जालधर, कांगड़ा प्रदेश।

१२. **कूल्लट**—कुलु का देश व्यास नदी के उत्तर भाग में। इस प्रदेश को काल्ट अथवा कोलक भी कहते थे।

१३. **शताद्रु**—कनिघम के मत से लाड़काना जिला है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४०० माइल का था।

१४. **पर्वत**—पाणिनी के मत से जम्मू-स्यालकोट का पार्वतीय प्रदेश था। यह प्रदेश पंजाब देश में तक्षशिला आदि समूह का एक पार्वतीय भाग था (इ० ए टी० Vol.I.P.P. 22)।

१५ **पारियात्र**—सतलुज (शताद्रु) की नैऋत्य कोण में ८०० ली दूर का प्रदेश। बठिंडा, रिवाड़ी आदि का प्रदेश। उस समय गाधार जनपद मे सम्राट पुतुसाकी का राज था।

इस प्रकार समय-समय पर गाधार जनपद की सीमाएं और राजधानियाँ भी बदलती रही हैं। प्राचीन साहित्य में इसकी राजधानियो के आठ नाम मिलते है।

१. पुष्कलावती, २. तक्षशिला, ३. पुरुषपुर, ४. पुक्खली, ५. पुण्ड्रवर्धन, ६. पण्हवाहण, ७. प्रश्नवाहन और ८. शाकम्भरी।

१. **पुष्कलावती** की पहचान 'चारसद्दा' से की जाती है।

(ए. गाइड टू स्कल्पचर्स इन इडियन म्युजियम भाग ११ पृष्ठ १०४)।

२. **पुरुषपुर**—वर्तमान मे पेशावर के नाम से पहचाना जाता है (वही पृष्ठ १०४)

३. **पुंड्रवर्धन**—भगवान महावीर के समय में पुण्ड्र जनपद का जैन राजा नग्गति नाम का था, उसकी राजधानी पुण्ड्रवर्धन थी। ऐसा वर्णन जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका अध्ययन ६ पत्र १४१ में आया है। पुण्ड्रजनपद का नाम जैनागम भगवती सूत्र १५:३६ व समराइच्च-कहा ४:२७५ में भी आया है।

यह भी वस्तुत: पुष्कलावती का दूसरा नाम है। पुक्कुसाती गांधार देश का राजा मगधराज बिम्बसार (श्रेणिक) का समकालीन था। ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी का नाम पुक्खली था।

४—जैनशास्त्रों में पुक्खली शब्द का प्रयोग हुआ है। (दशवैकालिक चूर्णि पत्र २१२-१३)

यह पुक्खली भी वस्तुतः पुष्कलावती का दूसरा नाम है। आईने अकबरी में भी पुक्खली नाम आया है। पेश की भूल से यदुनाथ सरकार ने अपने अनुवाद खण्ड २ पृष्ठ ३९७ में इसे पक्खली लिखा है। इसकी सीमा आईने अकबरी में इस प्रकार बतलाई है—'पूर्व में काश्मीर, उत्तर में कठोर, दक्षिण में गक्खर और पश्चिम में अटक-बनास।

अतः उपर्युक्त १. पुष्कलावती, २. पुरुषपुर, ३. पुंड्रवर्धन और ४. पुक्खली ये सब नाम वर्तमान पेशावर के ही हैं।

५-६. पण्हवाहण—संस्कृत में इसे प्रश्नवाहन कहते हैं अर्थात् दोनों नाम समानार्थक हैं। ये भी पेशावर के नाम थे और इस राजधानी के अन्तर्गत सारे जनपद को इस नाम से पहचाना जाता था। इसका पुण्ड्र जनपद के नाम से भगवती सूत्र और समराइच्च कहा में उल्लेख हुआ है।

७-८—शाकम्भरी तक्षशिला का दूसरा नाम है। तक्षशिला के आठ नाम मिलते हैं।

(१) शाकम्भरी, (२) तक्षशिला, (३) टेक्सिला, (४) कुणाल देश, (५) गज़नी, (६) शाह की ढेरी, (७) धर्मचक्रभूमिका और (८) छेदीमस्तक।

१—इसका प्राचीनतम नाम तक्षशिला है, उसके बाद इस का नाम २—शाकम्भरी पड़ा।

३—सम्राट सम्प्रति मौर्य ने अपने अन्ध पिता कुणाल के निवास के लिए तक्षशिला में व्यवस्था की थी। वहाँ सम्प्रति ने कुणाल की धर्मोपासना के लिए एक जैनस्तूप का निर्माण भी करवाया था कुणाल के यहाँ निवास करने से इसका नाम कुणाल देश पड़ा। इसकी पुष्टि के लिए पार्श्वनाथ संतानीय उपकेश गच्छीय जैनाचार्य श्री कक्क सूरि के चरित्र से होती है। उसमें वर्णन है कि कुणाल देश के लोहाकोट (लाहौर) नगर में आप पधारे थे। उस समय यहा का मन्त्री नागसेन था। उसने १५ अन्य नर-नारियों के साथ आचार्य कक्क सूरि के पास दीक्षा ली। यहां कुणाल देश में लाहौर कहा है जो पाकिस्तान बनने से पहले पंजाब की राजधानी थी। स्पष्ट है कि कुणाल देश तक्षशिला का ही नाम था।

४. टेक्सिला—अंग्रेजों के राज्य में तक्षशिला को इस नाम से संबोधित किया जाता था। बौद्धों ने भी इसे गाँधार की राजधानी माना है।

५. गज़नी—महमूद गज़नी के समय में इसका नाम गज़नी पड़ा।

६. शाह की ढेरी—तक्षशिला के खंडहरों की खुदायी होने से पहले इस क्षेत्र की जनता इसे शाह की ढेरी के नाम से पहचानती थी। ओसवाल श्वेतांबर जैन प्राचीनकाल से शाह की उपाधि से विभूषित थे।

७—प्रभु ऋषभदेव के पधारने पर बाहुबली ने यहाँ विश्व के सर्वप्रथम धर्मचक्र तीर्थ की स्थापना की थी। इसलिए इस का नाम धर्मचक्र भूमिका पड़ा। अतः धर्मचक्र प्रवर्तन सर्वप्रथम जैन धर्म के उपासकों द्वारा हुआ।

८—चीन देश की भाषा में इसका नाम छेदीमस्तक है।

तक्षशिला और पुण्ड्रवर्धन (पेशावर)

प्राचीन काल में तक्षशिला बहुत प्रसिद्ध एवं जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। भगवान ऋषभदेव ने अपने द्वितीय पुत्र बाहुबली को तक्षशिला का राज्य दिया था।

१. एकदा छद्मस्थावस्था (दीक्षा लेकर केवलज्ञान होने से पहले की अवस्था) में विहार करते हुए (पैदल चलते हुए) अर्हत् ऋषभ तक्षशिला में पधारे। बाहुबली को रात के समय प्रभु के पधारने के समाचार मिले। उसने सोचा कि कल प्रातःकाल होते ही मैं प्रभु को वंदन करने के लिए उद्यान में

आऊंगा, जहाँ प्रभु आकर ठहरे हैं। प्रातःकाल होते ही जब बाहुबली अपने परिवार और समस्त मन्त्री-सामंत आदि के साथ उद्यान में पहुंचा तब प्रभु अन्यत्र विहार कर गए थे। बाहुबली को प्रभु के दर्शन न होने से असह्य दुःख हुआ और उसे अपने प्रमाद के लिए बहुत पश्चाताप हुआ। जिस स्थान पर प्रभु रात्रि के समय कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानरूढ़ खड़े रहे थे, वहां उनके दोनों चरणों के निशान पड़े थे। अंकित चरण चिन्हों पर बाहुबली ने प्रभु के चरणबिम्ब स्थापित कर पाठपीठ बनायी उस पर धर्मचक्र की स्थापना करके धर्मचक्र तीर्थ को स्थापित किया।[1] विश्व में तक्षशिला में सर्वप्रथम धर्मचक्र-तीर्थ प्रकाश में आया।

२. तक्षशिला में राज्यसत्ता के लिए भरत और बाहुबली दोनों भाईयों में घोर युद्ध हुआ इस प्रसंग का वर्णन करते हुए आचार्य विमल सूरि अपने पउम चरियं ग्रंथ में लिखते हैं कि—

"उसभ-जिणस्स भगवओ पुत्त-सयं चन्द-सूर-सरिसाणं।
समणत्त पडिवन्नं सए य देहे निरावक्खं ॥ ३७ ॥
तक्खसिलाए महप्प, बाहुबली तस्स निच्च पडिकूलो।
भरह-नरिंदस्स सया न कुणइ आणा-पणामं सो ॥ ३८ ॥
अह रुट्ठो चक्कहरो, तस्सुवरिं सयल साहण समग्गो।
नयरस्स तुरिय चलो, विणिग्गओ सयल-बल-सहिओ ॥३९॥
पत्तो तक्खसिलपुरं जय सद्दुग्घट्ठ कलयल रावो।
जुज्झस्स कारणत्थं सन्नद्धो तक्खणं भरहो ॥४०॥
बाहुबली वि महप्पा भरह नरिंद समागमं सोउं।
भडचड गरेण महया तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥ ४१ ॥
पउमचरियं ४।३७-४१ (इस ग्रंथ का रचनाकाल दिगम्बरमत उत्पत्ति से पूर्व है)

अर्थात्-ऋषभ-जिन के सूर्य-चन्द्र समान सौ पुत्रों ने श्रमणत्व धारण किया। वे सभी देह से निर-पेक्ष (अनासक्त) थे। (दीक्षा लेने से पहले) तक्षशिला में महात्मा बाहुबली रहते थे। वे सदा भरत के प्रतिकूल थे, चक्रवर्ती भरत की आज्ञा कदापि न मानते थे। इस से चक्रवर्ती ने रुष्ट होकर सकल सामग्री से सम्पन्न सेना को लेकर युद्ध के लिये अभियान किया। वे तक्षशिला पहुंचे। उस समय जयघोष का कलकल शोर सर्वत्र फैल गया। भरत तत्क्षण युद्धार्थ सन्नद्ध हो गये। उस समय महात्मा बाहुबली भी भारी सुभट सेना के साथ भरत के साथ युद्ध करने के लिये तक्षशिला से निकल पड़े।

घनघोर युद्ध में बाहुबली विजयी हुआ। पर बड़े भाई का सम्मान करते हुए अपना राज्य भरत को दे दिया और स्वयं आर्हती श्रमण की दीक्षा ग्रहण कर ली। सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग कर अनगार हो गये। भरत ने भी तक्षशिला का राज्य अपने अधीन कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया और बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ (सोमयश) को गांधार (तक्षशिला) और कुरुक्षेत्र (हस्तिनापुर) जनपदों का अधिकारी बना कर सिंहासनारूढ़ किया। स्वयं अपनी राजधानी अयोध्या को लौट गया। महात्मा बाहुबली भी दीक्षा लेकर वहीं खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानारूढ़ हो गये और एक वर्ष तक बिना कुछ खाये-पिये उसी अवस्था में खड़े रहे[2]।

1. त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र पर्व १ तथा जिनप्रभ सूरि कृत विविध तीर्थ कल्प पृ० ८५—तक्षशिलायां बाहु-बलि-विनिर्मित धर्मचक्रम् इति।
2. त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र पर्व १ (आचार्य हेमचन्द्र कृत)

३-मुनि बाहुबली चाहते थे कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो जावे, पश्चात् वह भगवान ऋषभदेव के समवसरण में जावेंगे। किन्तु संज्वलन मान के सद्भाव के कारण एक वर्ष तक कठोर तप करने पर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। अंत में श्री ऋषभदेव की प्रेरणा से ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो साध्वियों ने (जो ऋषभ की पुत्रियाँ और बाहुबली की बहनें थीं) जहां बाहुबली कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे, वहां आयीं और उन्होंने बाहुबली मुनि को वन्दना करके हाथ जोड़कर विनम्रभाव से कहा "भाई! जब तक आप मानरूपी हाथी पर आरूढ़ हैं तब तक आप को केवलज्ञान की प्राप्ति असंभव है। जब तक संज्वलन मान कषाय का भी त्याग नहीं करोगे तब तक आप की सर्व धर्मकरनी निष्फल है। अतः मान कषाय का भी त्याग करो।" बाहुबली ने अपनी भूल को समझा और मान कषाय का भी सर्वथा त्याग करके अपने से पहले दीक्षित हुए ९८ छोटे भाईयों को वन्दन करने के लिये कायोत्सर्ग को पार कर चलने के लिये कदम उठाया और प्रभु के समवसरण में जाने को तैयार हो गये। संज्वलन कषाय के त्याग करते ही शुक्ल ध्यानारूढ हो गये और तुरन्त तक्षशिला में ही केवलज्ञान हो गया।[1] पश्चात् सतत विचरण करते हुए सारे पंजाब तथा भारत में जैनधर्म का प्रचार किया। इस से स्पष्ट है कि श्री ऋषभदेव के समय में स्वयं ऋषभदेव तथा इन के श्रमण-श्रमणियों ने सारे पंजाब जनपद में भी जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया।

४—यद्यपि इन के बाद के जैन तीर्थंकरो के विहार के स्थलों का विवरण उपलब्ध नहीं है तथापि सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ, सत्रहवें श्री कुंथुनाथ, अठारहवें श्री अरनाथ के जन्म, दीक्षा केवलज्ञान आदि हस्तिनापुर में होने से, बाईसवें तीर्थकर श्री अरिष्टनेमि की सर्वत्र पंजाब में मान्यता होने से एवं उन्नीसवें मल्लिनाथ, बीसवें मुनिसुव्रत स्वामी, तेईसवें श्री पार्श्वनाथ, चौबीसवें श्री महावीर स्वामी आदि अनेक तीर्थंकरों तथा उनके श्रमण-श्रमणियों के (दिल्ली से लेकर काश्मीर-पेशावर, तक्षशिला, सिंध आदि) सारे पंजाब में भी विहार तथा धर्मप्रचार के संकेत मिलते है इस का खुलासा हम प्रसंगोपात आगे करते रहेंगे। भगवान महावीर के समय और उस के बाद के समय का संक्षिप्त विवरण देंगे।

५—प्रभु महावीर के समय में पुण्ड्र जनपद की राजधानी पुण्ड्रवर्धन (वर्तमान पेशावर पाकिस्तान में) थी। भगवान महावीर के समय मे वहां 'सिंहरथ' नाम का राजा राज्य करता था। एकदा उत्तरापथ के किसी राजा ने सिंहरथ को दो घोड़े भेंट किये। उनमें से एक घोड़ा उल्टी शिक्षा पाये हुए था। राजा सिंहरथ उस वक्र शिक्षा वाले घोड़े पर बैठा और अपने पुत्र तथा सेना के साथ नगर से बाहर क्रीड़ा करने के लिए निकला। घोड़े की चाल तेज करने के लिए चाबुक मारी। चाबुक लगते ही घोड़ा बेतहाशा दौड़ा। राजा घोड़े को रोकने के लिये रास को जितना खेंचता है, घोड़ा उतना ही तेज दौड़ता चला जा रहा है, रुकने का नाम ही नही लेता। इस प्रकार घोड़ा दौड़ता हुआ राजधानी से १२ योजन[2] दूर एक भयावने जंगल में पहुच गया। रास खेंचते-खेंचते थक जाने के कारण

1. दिगम्बर साहित्य बाहुबली की राजधानी पोदनपुर (महाराष्ट्र दक्षिण भारत में मानता है। इस मत के अनुसार ऋषभ, बाहुबली, भरतादि का संबंध पंजाब से न होकर दक्षिण भारत के साथ माना जाता है। यही कारण है कि दिगम्बरों ने बाहुबली की अनेक बड़ी-बड़ी खड़ी प्रतिमायें दक्षिण भारत मे स्थापित की हैं। दिगम्बर साहित्य तथा शिलालेखों में दिगम्बर पंथ का सबन्ध पंजाब के साथ कदापि रहा हो ऐसा कोई उल्लेख अथवा संकेत नहीं मिलता।

2. योजन चार कोस का है। कोस दो हजार धनुष का है। धनुष दो गज (६फुट) का है अतः ४×२०००×२=१६०००गज का एक योजन और १२ योजन १९२००० गज लगभग १७३ किलोमीटर का हुआ।

राजा ने घोड़े की रास ढीली कर दी। रास ढीली होते ही घोड़ा एक दम रुक गया। इस प्रकार घोड़े के रुकजाने से राजा को ज्ञात हुआ कि घोड़ा उल्टी शिक्षा पाये हुए है। राजा ने घोड़े को एक वृक्ष के नीचे बांध दिया और विश्राम करके फलादि खाकर पेट भरा। पश्चात् रात बिताने के लिए राजा समीपवर्ती पहाड़ पर चढ़ा। इस पहाड़ का नाम था **पुण्ड्रवर्धन**। ज्ञात होता है कि इसी पर्वत के कारण इसके आसपास के क्षेत्र में आबाद इस नगर का नाम पुण्ड्रवर्धन पड़ा होगा और पर्वत श्रेणियों से घिरे हुए होने के कारण राज्य सुरक्षा हेतु सिंहरथ ने इसे अपनी राजधानी बनाया होगा। सम्भवतः इसी पर्वत के नाम से ही इस सारे क्षेत्र का नाम पुण्ड्र जनपद प्रसिद्धि पाया होगा। पुण्ड्रवर्धन का नाम आजकल पेशावर प्रसिद्ध है। पेशावर तक्षशिला की उत्तर दिशा में है। वहां उसने सात मंज़िले ऊँचे मकान को देखा और वह उस महल में प्रवेश कर गया। प्रवेश करते ही राजा ने वहां एक सुन्दर युवती देखी। राजा को देखते ही वह कन्या उठ कर खड़ी हो गई और राजा को बैठने के लिए उच्चासन दिया। एक दूसरे को देखते ही दोनों में प्रेम हो गया। वहा कुछ देर बैठने के बाद राजा ने उस सुन्दरी से उसका परिचय पूछा और इस एकान्त वन मे अकेले ही पर्वत पर इस महल में निवास करने का कारण भी पूछा। सुन्दरी ने उत्तर दिया - पहले मेरे साथ विवाह करो फिर मैं आपको सभी बातें बताऊंगी। यह सुनकर राजा उस भवन में विद्यमान श्री ऋषभदेव के जैनमंदिर मे गया। उसके निकट ही एक सुन्दर वेदिका थी। राजा ने बड़ी भक्ति पूर्वक प्रभु की वन्दना और स्तुति की। जिनेश्वर प्रभु के दर्शन करके वापिस आकर राजा ने इस सुन्दरी के साथ गांधर्व विवाह करके उसे अपनी रानी बनाया। ज्ञात होता है कि इस जनपद में ऋषभदेव आदि के अनेक जैनमंदिर होंगे। क्योंकि श्री जिनप्रभ सूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प के ४५ वें कल्प में ८४ जैन महातीर्थों का वर्णन किया है उसमे लिखा है कि—"**पुण्ड्रपर्वते श्री वीरः**" अर्थात् पुण्ड्रपर्वत पर श्री महावीर प्रभु का जैन महातीर्थ है।

राजा सिंहरथ ने विवाह कर लेने के बाद अपनी इस नवविवाहिता पत्नी के पास रात्री बिताई। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री जिनेन्द्रदेव की वन्दना करके राजा उस भवन के मंडप में स्थित सिंहासन पर बैठा और रानी उसके निकट बैठ गई। फिर उसने अपनी कथा प्रारंभ कर सारा वृतांत राजा को कह सुनाया। उस राजकन्या का नाम कनकमाला था। राजा सिंहरथ कुछ दिन कनकमाला के पास रहकर अपनी राजधानी को लौट गया। रानी कनकमाला के वहां उस पर्वत पर स्थित महल में राजा आया जाया करता था। अतः अधिकतर पर्वत पर रहने के कारण सिंहरथ राजा का नाम नग्गति हो गया।[1] नग का अर्थ पर्वत भी होता है।

कार्तिक मास की पूर्णिमा के दिन राजाससैन्य भ्रमण करने के लिए निकला। वहां उस ने नगर के बाहर एक आम का वृक्ष देखा। राजा ने उसमें से एक मंजरी तोड़ ली। उसके पीछे आते हुए लोगों ने भी उस पेड़ से मंजरी पल्लव आदि तोड़े। लौट कर आते हुए राजा ने उस पेड़ को देखा कि वह एक ठूंठ[2] मात्र रह गया है। कारण जानने पर राजा को विचार आया कि—"**अहो लक्ष्मी कितनी चंचल है**"। ऐसा विचार आने पर उसे संसार से वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्र को

---

1. तओ कालेण जम्हा नगे हुईइ तम्हा 'नग्गइ एस ति' पइट्ठियं नामं लोएण राइणो।
(उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्र कृत टीका पृष्ठ १४४२)

2. बौद्धग्रंथ कुंभकार जातक में इस के प्रतिबोध का कारण कंकन की ध्वनि होना लिखा है।

राज्य देकर स्वयं प्रतिबोध पाकर "प्रत्येकबुद्ध"[1] होकर जैन श्रमण की दीक्षा ग्रहण की और घाती कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् पृथ्वीतल पर विहार कर स्व-पर कल्याण-करते हुए अन्त में सर्व कर्मों को क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। यह राजर्षि उज्जयनी के राजा चंड-प्रद्योत का तथा भगवान महावीर का समकालीन था।

६, मौर्यकाल में सम्राट सम्प्रति के समय में जैनाचार्य आर्य सुहस्ति उनके शिष्य पट्टधर जैनाचार्य आर्य सुस्थित व आर्य सुप्रतिबद्ध और इनके शिष्य आर्य इन्द्रदिन्न विद्यमान थे। सम्प्रति का राज्याभिषेक वीर निर्वाण संवत् २४४(ईसा पूर्व २८३) में हुआ। दो वर्ष बाद आर्य सुहस्ति से प्रति-बोध पाकर इसने श्रावक के सम्यक्त्व मूल बारह व्रत ग्रहण किये और परमार्हत् बना। यद्यपि इसका पितृवंश जैनधर्मानुयायी था इस लिये इसको जन्म से ही जैनधर्म के संस्कार प्राप्त थे तथापि इसके पूर्वजन्म के भिखारी अवस्था से आर्य सुहस्ति उद्धारक थे, इसलिए उनसे विधिवत् बारह व्रत धारण कर उसने उन्हे अपना धर्मगुरु स्वीकार किया। इसने ५४ वर्ष मतांतर से ५० वर्ष तक राज्य किया। वीर संवत् २९८ में इसकी मृत्यु हो गई। इसके गुरु आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास वीर संवत् २९१ में यानी सम्प्रति से ७ वर्ष पहले हुआ था आर्य सुहस्ति से श्रावक के १२ व्रत स्वीकार करने के बाद सम्प्रति ५२ वर्ष तक जीवित रहा।

आर्य सुहस्ति के पट्टधर शिष्य आर्य सुस्थित सूरि तथा आर्य सुप्रतिबद्ध सूरि दो गुरु भाई थे। आर्य सुस्थित ने वीर संवत् २७४ में दीक्षा ग्रहण की थी। आर्य सुप्रतिबद्ध ने भी थोड़े-बहुत आगे पीछे दीक्षा ग्रहण की होगी। क्योंकि पट्टावलिकार लिखते हैं कि इनके जीवन सम्बन्धी विवरण ज्ञात नही होने से दीक्षा का समय लिख नही सके। किंतु यह बात तो निश्चित है कि आर्य सुप्रसिद्ध आर्य सुहस्ति के शिष्य होने के कारण सम्प्रति के समय में ही युगप्रधान पद प्राप्त कर चुके होंगे। आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास वीर सवत् २९१ मे होने से आर्य सुप्रतिबद्ध उनके पश्चात् युगप्रधान हुए। उस समय सम्प्रति जीवित था। आर्य सुप्रतिबद्ध के शिष्य पट्टधर आर्य इन्द्रदिन्न सूरि ने भी दीक्षा सम्प्रति के जीवनकाल में ही ले ली होगी ऐसी धारणा अनुचित नही है। क्योंकि सम्प्रति की मृत्यु वीर निर्वाण संवत् २९८ में हुई थी ऐसा पहले हम लिख चुके है।

पट्टावलियो में महावीर के नवें पाट पर आर्य सुप्रतिबद्ध से लेकर बारहवें पट्टधर आर्य सिह सूरि(चार पट्टधरों)तक का कुछ भी जीवन वृतात नही मिलता और न इनके जीवन वृतांत अन्यत्र ही देखने में आये हैं। इसलिये ज्ञात होता है कि इन चारों पट्टधरों का विहार अपने शिष्य परिवार के साथ पंजाब में हुआ होगा। इसी कारण से पट्टावलियों के लेखक श्रमण पुगव गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान तथा मथुरा आदि प्रदेशों में विचरण करने वाले होने से पंजाब में विचरणे वाले मुनियों के विषय की जानकारी से अनभिज्ञ थे, इसलिये उनके जीवन परिचय देने में असमर्थ रहे। ऐसा ज्ञात होता है।

---

1. प्रत्येक बुद्ध-जो किसी बाहरी एक वस्तु को देखकर वैराग्यवान होते हैं। जैन दीक्षा लेकर साधु के समान विहार करते हैं, परन्तु गच्छ में नही रहते। सन्ध्या समय के बादल जिस प्रकार रंग बदलते हैं, उसी प्रकार ससार में पौद्गलिक वस्तु क्षणभंगुर है, ऐसा विचार आने पर वे किसी प्रकार वैराग्य जनक निमित्त को पाकर निर्ग्रंथ श्रमण की दीक्षा लेते हैं और केवलज्ञान पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं। उन्हें गुरु के उपदेश की अपेक्षा नहीं होती।

ऐसा ज्ञात पड़ता है कि आर्य सुहस्ति ने अपने शिष्यों प्रशिष्यों को सम्प्रति की प्रेरणा से पंजाब में भी जैनधर्म के प्रचार के लिये भेजा होगा। अतः उपर्युक्त चारों पट्टधर अपने शिष्य परिवार के साथ तथा उनके बाद भी शिष्यों प्रशिष्यों के साथ गांधार से लेकर सारे पंजाब में विचरे होंगे। इस बात की पुष्टि के प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

हम लिख आये हैं कि गांधार की राजधानी प्रश्नवाहन (पण्हवाहण—पेशावर) भी रही है। श्री कल्पसूत्र की स्थविरावली से ज्ञात होता है कि आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबद्ध की शिष्य परम्परा से चार कुल निकले :—

१ बंभलिज्ज, २—वत्थलिज्ज, ३—वाणिज्ज और ४— पण्हवाहणय (प्रश्नवाहनक)[1]

आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबद्ध (दोनो गुरुभाइयो) का साधु अवस्था का समय वीर निर्वाण संवत् २७४ से ३३६ (वि० पू० १९६ से १३१ अथवा ई० पू० २५३ से १८८) का है। अतः ये कुल वीर संवत् की तीसरी चौथी शताब्दी अथवा ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के मध्य काल में निकले हैं, यह बात निश्चित है।

उपर्युक्त तीन कुलो का नाम पड़ने का क्या आधार है यह ऐतिहासज्ञों की खोज का विषय है। किन्तु प्रश्नवाहनक कुल की उत्पत्ति गाधार जनपद की राजधानी प्रश्नवाहन (पेशावर) के नाम से हुई है जो उपर्युक्त आचार्यों के शिष्य-प्रशिष्यों के इस क्षेत्र में रहने के कारण इस क्षेत्र के नाम से प्रसिद्धि पाया।

यहाँ पर प्रश्नवाहनक कुल के विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता है। हम लिख आए हैं कि प्रश्नवाहन—पेशावर भी गांधार की राजधानी थी। तथा गांधार के समीप के जनपद का नाम पुण्ड्र था। इसकी राजधानी भी पुण्ड्रवर्धन के नाम से पेशावर रही है। पेशावर भारत की पश्चिमोत्तर दिशा में तक्षशिला की उत्तर दिशा में अवस्थित है।

कुल का एक अर्थ जनपद भी है। यथा—

"कुलं जनपदे गोत्रे सजातीय गणेऽपि।" (अमरकोश निर्णयसागर प्रेस ई० स० १९२९ पृ० २५०)

कुल शब्द का अर्थ जनपद, गोत्र तथा सजातीय गण भी होता है। अतः प्रश्नवाहनक कुल का अर्थ यह हुआ कि प्रश्नवाहन जिसकी राजधानी है ऐसे जनपद में विचरणे वाले जैन श्रमणों का सजातीय गण (एक गुरुपरम्परा का समुदाय)।

१—हम लिख आये है कि तक्षशिला, पुण्ड्रवर्धन, प्रश्नवाहन (पण्हवाहण) ये सब वाहिक जनपद में थे जो पंजाब का प्राचीन नाम था। प्राचीन काल में तक्षशिला और प्रश्नवाहन पंजाब के प्रसिद्ध नगर थे और जैनधर्म के केन्द्र थे। श्वेतांबर जैनो के चोरासी गच्छों में एक गांधारा गच्छ का नाम भी आता है। गांधार जनपद में विचरणे वाले जैन श्रमण-श्रमणियाँ गांधारा गच्छ के नाम से प्रख्यात हुए। यह गच्छ विक्रम की १४वी शताब्दी तक विद्यमान था।[2]

२—ऐसा ज्ञात होता है कि तक्षशिला ध्वंस कर देने के बाद इसके निकटस्थ उच्चनगर नामक नगर ने इसका स्थान ले लिया था। उच्चनगर तक्षशिला के समीपवर्ती पर्वत प्रदेश में सिन्धु

1—कल्पसूत्र स्थविरावली व्याख्यान ८।

2—जैन साहित्य संशोधक त्रैमासिक खंड ३ अंक १ पृष्ठ ३२ गच्छ नं० ६४।

नदी के तटवर्ती प्रसिद्ध नगर था। आर्य इन्द्रदिन्न सूरि के पट्टधर शिष्य आर्य दिन्न सूरि का समय लगभग मौर्यकाल से एक शताब्दी बाद का है। वे सम्प्रति के समकालीन आर्य सुप्रतिबद्ध के प्रशिष्य थे। इनके शिष्य आचार्य शांतिश्रेणिक से निर्ग्रंथ गच्छ (श्वेतांबर जैन श्रमणों) की उच्चनागरी शाखा निकली।[1]

३—कम्बोज—इसका दूसरा नाम पामीर भी था। यह प्रश्नवाहन से उत्तर की तरफ था। हम लिख आए हैं कि यहाँ पर भी जैनधर्म का विस्तार था। इस जनपद में विचरणे वाले श्रमण संघ श्वेतांबर जैनों के चौरासी गच्छों में से एक गच्छ कम्बोजा अथवा कम्बोजी के नाम से भी प्रसिद्ध था।[2]

गांधारा गच्छ और कम्बोजी गच्छ विक्रम की १७वीं शताब्दी तक विद्यमान थे। क्योंकि जिन पट्टावलियो में इनके नाम आए हैं उनमें बारह मतों में लुंकामत का भी नाम आया है। लुंकामत विक्रम की १६वी शताब्दी में स्थापन हुआ और ८४ गच्छों और १२ मतो की पट्टावली जिनमें इन गच्छों और मतों के नामो का उल्लेख है वि० सं० १८३१ में लिखी गई है। अतः विक्रम की १६वी और १८वीं शताब्दी के मध्य काल मे ये दोनों गच्छ विद्यमान थे।[3]

इससे स्पष्ट है कि प्रश्नवाहनक कुल, उच्चनागरी शाखा, कम्बोजा एवं गांधारा गच्छ इन चारों का प्रादुर्भाव पंजाब मे मौर्यकाल मे हुआ जिनकी शिष्य परम्परा लगभग दो हजार वर्षों तक पंजाब में सर्वत्र विद्यमान रही। उनका यहाँ आवागमन तथा स्थिरता भी रही और सारे पंजाब जनपद में विचरण करके जैनधर्म को समृद्ध बनाते रहे। इन गच्छों के अतिरिक्त पंजाब के अनेक विभागों के नाम से भी अनेक गच्छ विद्यमान थे, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जब ई० स० १९२३ (वि० सं० १९८०) में अंग्रेज सरकार के पुरातत्व विभाग ने शाह की ढेरी (तक्षशिला) के खण्डहरों की खुदाई का काम प्रारंभ किया। उस समय सर जान मार्शल ने अपने संस्कृत के विद्वान मित्रों से प्राचीन साहित्य में आये हुए तक्षशिला सम्बन्धी उल्लेखों का संग्रह कराया। उन पर विचार करते हुए वह लिखता है कि—"इन उल्लेखों में जो उल्लेख जैनशास्त्रों से लिये गये है वे सब से अधिक ध्यान देने योग्य हैं। इनमें म्लेच्छों और यवनो का जिक्र है; तुरुष्कों द्वारा तक्षशिला के उजाड़े जाने का तथा उनके भय से पाषाण और धातुमयी प्रतिमाओं की रक्षा के लिए भूमिगृहों में बन्द करने का जिक्र है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने धर्मराजिका स्तूप का विध्वंस किया तो बौद्धों ने भी अपनी मूर्तियाँ पृथ्वी में गाड़ दी थीं। जैन उल्लेखों से यह भी सिद्ध होता है कि तक्षशिला में बहुत से जैनमन्दिर व स्तूप थे जिनमें से कई तो निःसंदेह अति विशाल और सुन्दर होंगे। अब मेरा विश्वास है कि सिरकप के "एफ" और "जी" ब्लॉक के छोटे मन्दिर उन्हीं में से हैं। पहले मैं इन मन्दिरों को बौद्ध मन्दिर समझता था। परन्तु अब एक तो इनकी रचना मथुरा से निकले हुए आयागपट्टों पर उत्कीर्ण जैन मन्दिरों से मिलती है। दूसरे इनमें और तक्षशिला से निकले हुए बौद्ध मन्दिरों में काफी भिन्नता है। इन कारणों से अब मैं इन मन्दिरों को बौद्ध की अपेक्षा जैनमन्दिर ख्याल

1—कल्पसूत्र स्थविरावली व्याख्यान ८।
2—जैन साहित्य संशोधक त्रैमासिक पत्रिका वर्ष ३ अं० १ गच्छ नं० ७३, ७४ पृष्ठ ३३।
3—जैन साहित्य संशोधक त्रैमासिक पत्रिका खण्ड ३ अंक १।

करता हूँ।[1]

४—इस नगर ध्वंस का अनुमान जैन श्वेतांबर आचार्य श्री मानदेव सूरि द्वारा रचित प्रबन्ध पर आधारित है। जो इस प्रकार है—

"सपादलक्ष नामक देश में कोरंटक[2] नाम का नगर था, जहाँ भगवान महावीर स्वामी का मन्दिर था। वहाँ उपाध्याय देवचन्द्र रहते थे। फिरते-फिरते वह एक बार काशी में आये, वहाँ उन्हें आचार्य पद मिला और वे देवसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। जब इनका शत्रुंजय तीर्थ पर स्वर्गवास हो गया तब उनके पट्ट पर प्रद्योतन सूरि प्रतिष्ठित हुए। (श्लोक ४—१६)। विहार करते हुए प्रद्योतन सूरि नड्डुल में आये। वहाँ के श्रावक जिनदत्त के पुत्र मानदेव ने इनके पास दीक्षा ली और चन्द्रगच्छ के आचार्य बने। जया और विजया नाम की दो देवियाँ मानदेव (सूरि) की सेविकाएँ हो गईं (श्लोक १७-२५)।

अब ऐसा हुआ कि तक्षशिला नगरी में जहाँ पाँच सौ जैन मन्दिर थे, उस समय वहाँ अचानक बीमारी (महामारी) फैल गयी और लोग धड़ाधड़ मरने लगे। बहुत उपाय करने पर भी महामारी की शांति नहीं हुई। यह देखकर शासनदेवी ने प्रकट होकर कहा कि म्लेच्छों के अत्याचार से सब देवी-देवता यहाँ से चले गये हैं और आज से तीसरे वर्ष तुरुष्कों द्वारा तक्षशिला का ध्वंस हो जावेगा। इसका उपाय यही है कि तुम सब लोग तक्षशिला छोड़कर दूसरे स्थानों में चले जाओ। दूसरा उपाय पूछने पर देवी ने कहा कि नड्डूल (नाडोल नगर राजस्थान) में गुरु मानदेव सूरि विराजमान हैं उनके चरणों का प्रक्षाल जल (चरणों को धोकर प्राप्त किया हुआ जल) लाकर अपने-अपने घरों में छिड़क दो, महामारी मिट जाएगी (श्लोक ३१-४३)। तक्षशिला के जैनसंघ ने वीरदत्त श्रावक को वि० सं० २८० (ई० स० २२३) में आचार्य श्री के पास नाडोल भेजा। उसकी विनती पर आचार्य श्री मानदेव सूरि ने लघुशांति स्तव की (संस्कृत में) रचना करके उसे दी। तक्षशिला के श्रीसंघ ने उस शांति स्तव का घर-घर में जाप किया और इससे जल मंत्रित करके अपने-अपने घरों में छिड़का, जिससे महामारी रोग की शांति हुई (श्लोक ४५-७५)। तीन वर्षों के बाद तुरुष्कों ने इस प्राचीन महानगरी का विध्वंस किया। बड़े-बूढ़ों से सुना है कि वहाँ जो पाषाण और धातुमयी मूर्तियां थीं वे सब अब तक भूमिगृहों में विद्यमान हैं।

(श्लोक ७६-७७)।

५—श्री धनेश्वर सूरिकृत शत्रुंजय महात्म्य में वर्णन है कि सेठ भावड़ शाह के पुत्र जावड़ शाह ने वि० सं० १८७ (ई० स० १३०) में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया। उस समय उसने तक्षशिला से भगवान श्री ऋषभदेव की मूर्ति ले जाकर शत्रुंजय गिरि पर स्थापित की। उस समय तक्षशिला में जगमल राजा का राज्य था।

हम यहाँ पर श्री कल्पसूत्र में दी गई निर्ग्रंथ गच्छ (गण) की स्थविरावली का उल्लेख करते हैं ताकि हमें भगवान महावीर के बाद के जैन इतिहास को जानने में सुविधा रहे।

1—Sir Johan Marshall; Archaeological Annual 1914-15 तथा प्रभाचन्द्र सूरि कृत प्रभावक चारित्र बम्बई से प्रकाशित १९०९ में। मानदेव सूरि प्रबन्ध १९२-११८।

2—श्वेताम्बर जैनों के ८४ गच्छों में से कोरंटिया गच्छ इसी नाम से विख्यात हुआ प्रतीत होता है। (जैन साहित्य संशोधक वर्ष २ अंक १ पृ० ३१ में गच्छ नं० ६)।

(१) प्रभु महावीर के निर्वाण (ईसा पूर्व ५२७) के बाद उनके ११ गणधरों में से एक मात्र उनके पांचवें गणधर श्री सुधर्मास्वामी छद्मस्थ थे जो वीर शासन के उत्तराधिकारी बने। क्योंकि प्रभु के संघ को निर्ग्रंथ (परिग्रह की गांठ से रहित) कहा है। इस लिये सुधर्मास्वामी की निश्रा में रहने वाला मुनिसंघ निर्ग्रंथ गण (गच्छ) के नाम से प्रसिद्धि पाया। भगवान महावीर के (१) प्रथम पट्टधर सुधर्मास्वामी हुए, (२) इनके पट्टधर जम्बूस्वामी हुए (इन दोनों ने केवलज्ञान पाकर निर्वाण प्राप्त किया)। जम्बूस्वामी का निर्वाण भगवान महावीर के ६४ वर्ष बाद राजगृही में हुआ। आपके बाद दस बातों का विच्छेद (अभाव) हो गया १— मन.पर्यव ज्ञान, २—परमावधि ज्ञान, ३—पुलाक्लब्धि, ४ आहारक शरीर, ५—क्षपक श्रेणि, ६—उपशम श्रेणि, ७—जिनकल्प, ८—तीन चारित्र (परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात) ९—केवलज्ञान, १०—सिद्धपद। जम्बूस्वामी के (३)—पट्टधर श्री प्रभवस्वामी, इनके पट्टधर (४)—श्री शय्यंभव सूरि, इनके पट्टधर (५)—श्री यशोभद्र, इनके पट्टधर (६) -श्री संभूति विजय और भद्रबाहु,[1] इनके पट्टधर (७)—आर्य स्थूलिभद्र, इनके पट्टधर (८)— आर्य महागिरि तथा आर्य

1—(१)संभूति विजय जी के १२ शिष्य थे—(१) नन्दनभद्र, (२) उपनन्द, (३) तिष्यभद्र,(४) यशोभद्र, (५) सुमनोभद्र, (६) मणिभद्र, (७) पूर्णभद्र, (८) स्थूलीभद्र, (९) ऋजुमति (१०) जम्बू, (११) दीर्घभद्र, (१२) पाडुभद्र।

२—भद्रबाहु के चार शिष्य थे—(१) स्थविर गोदास, (२) स्थविर अग्निदत्त (३) स्थविर यज्ञदत्त, (४) स्थविर सोमदत्त।

(अ) स्थविर गोदास से गोदास गण निकला। इस गण से चार शाखाएं निकलीं :—

(१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटिवर्षिका, (३) पुण्ड्रवर्धनिका, (४) दासी खबटिका। ये चारों शाखाएं पूर्वी भारत में मगध देश के नगरों के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस से ज्ञात होता है कि भद्रबाहु स्वामी तथा उनके शिष्यों का मुख्य विहार क्षेत्र अधिकतर मगध रहा होगा और भद्रबाहु श्रुतकेवली का स्वर्गवास भी उसी जनपद में हुआ होगा।

३—(१) श्री प्रभवस्वामी, (२) श्री शय्यंभव सूरि, (३) श्री यशोभद्र सूरि, (४) श्री संभूतिविजय, (५) श्री भद्रबाहु और (६) श्री स्थूलिभद्र; ये छः श्रुतकेवली (चौदह पूर्वी) पट्टधर हुए। यहाँ तक ११ अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रमण विद्यमान रहे।

४—आर्य महागिरि के ८ शिष्य थे—(१)स्थविर उत्तर, (२)स्थविर बलिस्सह,(३)स्थविर धनाढ्य, (४) स्थविर श्रीभद्र, (५) स्थविर कौडिन्य (६) स्थविर नाग, (७) स्थविर नागमित्र (८) स्थविर रोहगुप्त।

(१) स्थविर रोहगुप्त ने अपना नया पंथ त्रैराशिक मत निकाला जो जैनधर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। इसलिये रोहगुप्त को आगम में निन्हव कहा है।

(२) आर्य महागिरि ने जिनकल्प की तुलना का आचार स्वीकार किया।

(३) आर्य सुहस्ति ने सम्राट सम्प्रति मौर्य की सलाह से अपने शिष्यों प्रशिष्यों को सारे भारत के आर्य-अनार्य देशों में तथा भारत के बाहर भी जैनधर्म के प्रचार के लिये भेजा।

५—आर्य सुहस्ति के १२ शिष्य थे—(१) आर्य सुस्थित, (२) आर्य सुप्रतिबद्ध, (३) आर्य रोहण, (४) आर्य भद्रयश, (५) आर्य मेघ, (६) आर्य कामर्द्धि, (७) आर्य रक्षित

सुहस्ति हुए। आर्य सुहस्ति ने मौर्य सम्राट अशोक के पौत्र सम्राट सम्प्रति मौर्य को प्रतिबोधित कर बारहव्रती श्रावक बनाया। अतः परमार्हत् सम्राट सम्प्रति के आप धर्मगुरु थे। ६—आर्य सुहस्ति के पट्टधर—आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबद्ध थे। १०—इनके पट्टधर आर्य इन्द्रदिन्न सूरि, इनके पट्टधर ११—आर्य दिन्न सूरि, इनके पट्टधर १२—आर्य सिंह सूरि, इनके पट्टधर १३—आर्य वज्रस्वामी और इनके पट्टधर १४—आर्य वज्रसेन हुए।

---

(८) आर्य रोहगुप्त, (९) आर्य ऋषिगुप्त, (१०) आर्य श्रीगुप्त, (११) आर्य ब्रह्म और (१२) आर्य सोम।

(१) आर्य सुस्थित से निर्ग्रंथ गच्छ का नाम कोटिय गण प्रसिद्धि पाया।

(२) आर्य सुप्रतिबद्ध से निर्ग्रंथ गण का नाम काकंदिय गण प्रसिद्ध हुआ।

(३) आर्य रोहण से उदेह गण हुआ।

(४) आर्य भद्रयश से उडवाटिय गण हुआ।

(५) आर्य कामर्द्धि से वेसवाटिक गण, (६) ऋषिगुप्त से माणक गण, (७) श्रीगुप्त से चारण गण निकला।

६—आर्य सुहस्ति के ७ शिष्यों के अलग-अलग सात गण स्थापित हुए जिसका विवरण नं० ५ में दिया है। उनके बाद उनके शिष्यों प्रशिष्यों का विहार क्षेत्र दूर-दूर देशांतरों में बट जाने से उनके अनेक गण और कुल अलग-अलग नामों से विख्यात होते गये जिसका विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा रचित सूरि मंत्र का आर्य सुस्थित ने एक करोड़ बार जाप किया इसलिए इनसे निर्ग्रंथ गण का नाम कोटिय गण प्रसिद्ध हो गया।

इस गण से चार शाखाएं निकलीं—(१) उच्चनागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और (४) माध्यमिका एवं चार कुल निकले—(१) वज्रलिप्त, (२) वस्त्रलिप्त, (३) वाणिज्य, और (४) प्रश्नवाहनक।

(२) आर्य सुस्थित के पांच शिष्य थे। (१) आर्य इन्द्रदिन्न, (२) स्थविर प्रियग्रंथ, (३) स्थविर विद्याधर गोपालक, (४) स्थविर ऋषिदत्त, (५) स्थविर अरिहदत्त।

स्थविर प्रियग्रंथ से १—मध्यमा शाखा निकली। २-स्थविर विद्याधर गोपालक से विद्याधरी शाखा निकली।

(१) आर्य इन्द्रदिन्न के आर्य दिन्न शिष्य थे। (२) आर्य दिन्न के दो शिष्य थे १—आर्य सिंहगिरि और २—आर्य शांतिश्रेणिक।

आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चनगर (पंजाब के एक नगर) में उच्चनागरी शाखा निकली।

(३) आर्य सिंहगिरि के चार शिष्य थे—(१) स्थविर धनगिरि, (२) स्थविर आर्य समित, (३) स्थविर आर्य वज्र और (४) स्थविर आर्य अर्हद्दिन्न।

१—आर्य समित से ब्रह्मदीपिका शाखा निकली और २—आर्य वज्र से वज्री (वयरी) शाखा निकली। इन्हीं शाखाओं के शिष्य-प्रशिष्यों से वाणिज्य, प्रश्नवाहनक (पेशावर पंजाब से), वत्थलिज्ज और वंभलिज्ज ये चार कुल निकले।

उच्चानगर

यह पंजाब की पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश की एक प्रसिद्ध नगरी थी। यहाँ पर भी जैनधर्म

७—आर्य सुप्रतिबद्ध का जीवन विवरण पट्टावलीकारों को ज्ञात नहीं है, इसलिए इनके विषय में वे मौन हैं। सम्भवतः ये पंजाब आदि जनपदों में विचरण किये होंगे। पुनः अन्य प्रदेशों में नहीं गये होंगे ? यही कारण है कि इनके जीवन प्रसंगों से पट्टावलीकार अनभिज्ञ रहे होंगे। हो सकता है कि इस परम्परा सम्बन्धी पट्टावलियों तथा जीवन प्रसंगों का इनके शिष्यों प्रशिष्यों ने संकलन किया हो, लिखा भी हो; किन्तु पंजाब में लिखा गया साहित्य विक्रम की १६वीं शताब्दी से पहले का लिपिबद्ध किया हुआ उपलब्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि सर्व प्रथम धर्मान्ध विदेशियों ने सदा भारत में पंजाब की धरती पर पदार्पण करके इसके साहित्य, स्मारकों, मंदिरों, मूर्तियों आदि को नष्ट-भ्रष्ट किया।

(१) आर्य सुहस्ति के शिष्य रोहण से उद्देह गण निकला। उनके शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा चार शाखाएं और छः कुल निकले। (१) उडुबरिका, (२) मासपूरिका, (३) मातपत्रिका, (४) पूर्णपत्रिका ये चार शाखाएं तथा (१) नागभूत, (२) सोमभूत, (३) उल्लगच्छ, (६) हस्तलिप्त, (५) नंदिज्ज, (६) पारिहासिक ये छः कुल निकले।

(२) आर्य सुहस्ति के शिष्य आर्य भद्रयश से उडुवाटिक गण निकला। उनके शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा चार शाखाएं और तीन कुल निकले। (१) चंपिज्जिया, (२) भद्दिज्जिया, (३) काकंदिका, (४) मेघलिज्जिया ते चार शाखाएं और (१) भद्रयशिक, (२) भद्रगुप्तिक, (२) यशोभद्र ये तीन कुल निकले।

(३) आर्य सुहस्ति के शिष्य आर्य कामार्द्धि से वेसवाटिक गण निकला। उन के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा चार शाखाएं और चार कुल निकले (१) श्रावस्तिका, (२) राज्यपालिका, (३) अन्तरिज्जिया, और (४) सेमलिज्जिया ये चार शाखाएं तथा (१) गणिक, (२) मेघिक, (३) कामर्दिक, (४) इन्द्रपूरक ये चार कुल निकले।

(४) आर्य सुहस्ति के शिष्य आर्य ऋषिगुप्त से माणक गण निकला, उनके शिष्यों प्रशिष्यो द्वारा चार शाखाएं और तीन कुल निकले—(१) काश्यपिका, (२) गोतमिका, (३) वाशिष्टिका, (४) सौराष्ट्रिका ये चार शाखाएं तथा (१) ऋषिगुप्तक, ऋषिदत्तक, (३) अभिजयन्त ये तीन कुल निकले।

(५) आर्य सुहस्ति के शिष्य—श्रीगुप्त से चारण गण निकला। इनके शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा चार शाखाएं और सात कुल निकले। (१) हरितमालगिरि, (२) संकासिका, (३) गवेधुका, (४) वज्रनागरी ये चार शाखाएं और (१) वत्सलिज्ज, (२) प्रीतिधर्मिक, (३) हालिज्ज, (४) पुष्पमित्रिक, (५) मालिज्ज, (६) आर्यवेडक, (७) कृष्णसख; ये सात कुल निकले।

८—उच्चनागरी शाखा संस्थापक आर्य शांतिश्रेणिक के चार शिष्य थे। उनसे चार शाखाएं निकली। (१) आर्य सेनिक से सेनिका शाखा, (२) आर्य तापस से तापसी शाखा, (३) आर्य कुबेर से कुबेरी शाखा और (४) ऋषिपालित से आर्य ऋषिपालित शाखा निकली।

९—वज्रस्वामी के तीन शिष्य थे, उनसे तीन शाखाएं निकलीं (१) आर्य पद्म से आर्यपद्म शाखा (२) आर्य रथ से जयन्ति शाखा, (३) आर्य वज्रसेन से आर्यनागिला शाखा निकली।

का बड़ा प्रभाव था। यह नगर कहाँ पर अवस्थित था, इसका भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर जो वर्णन मिलता है, उनके आधार पर हम यहाँ पर कुछ विचार करेंगे।

१०—आर्य वज्रसेन के चार शिष्य थे, उनसे चार शाखाएं निकलीं। (१) आर्य नागिल से आर्य नागिला, (२) आर्य पोमिल से आर्य पोमिला, (३) आर्य जयन्त से आर्य जयन्ति, (४) आर्य तापस से आर्य तापसी शाखा निकली।

११—स्थविर उत्तर बलिस्सह से उत्तर बलिस्सह गण निकला। उनके शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा चार शाखाएं निकलीं। (१) कोशांबिका, (२) कोटुंबिनी, (३) सौरितिकी, (४) चन्द्र-नागरी। अनेक गण, कुल, शाखाओं का स्थविरावलीकार को स्मरण नहीं रहा इस लिये उनका उल्लेख नहीं हुआ।

उपर्युक्त सब गण, शाखाएं, कुल सम्राट सम्प्रति मौर्य के धर्मगुरु आर्य सुहस्ति (वि० पू० तीसरी शताब्दी) से लेकर विक्रम की दूसरी शताब्दी श्री वज्रसेन सूरि वि० सं० १५० तक बन चुके थे। दिगम्बर मत वि० सं० १३६ में निकला (विशेषावश्यक भाष्य)।

इस स्थविरावली से स्पष्ट है कि भगवान महावीर के बाद आठवें पाठ पर आर्य सुहस्ति तक जैन श्रमण संघ का निर्ग्रंथ गण ही चालू रहा। इसीलिए अशोक और सम्प्रति के स्तूप लेखों पर जैन साधुओं की इन्हीं परम्परा के लिए निर्ग्रंथ शब्द का उल्लेख किया गया है। किन्तु वर्तमान दिगम्बर मत के नंगे साधुओं के लिये नहीं। दिगम्बर पंथ की स्थापना तब तक हुई ही नहीं थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तथा उसके बाद में पंजाब में विचरण वाले जिन जैन श्रमणों, निर्ग्रंथों, वण-वासी ऋषियों आदि का उल्लेख किया है। वे सब इसी परम्परा के थे जो इस समय श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक संघ के नाम से प्रसिद्ध है।

ज्ञात होता है कि परमार्हत् सम्राट सम्प्रति मौर्य तथा उसके धर्माचार्य आर्य सुहस्ति ने भारत तथा भारत से बाहर आर्य अनार्य देशों में जैनधर्म के सर्वव्यापक प्रचार के लिए जो योजना बनाई होगी उसकी सफलता के लिए दूर-दूर तक विहार के कारण उस-उस समय के युगप्रधान आचार्यों ने अलग-अलग गीतार्थ मुनियों की निश्रा में उनके गणों, शाखाओं, कुलों के रूप में विहार की व्यव-स्थित योजना बनाई होगी ताकि वे अपने-अपने नेता की आज्ञा से सुनियोजित कार्यक्रम के अनु-सार अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें एवं गीतार्थ गुरुओं की आज्ञा में रहते हुए निरातिचार चारित्र का पालन करते हुए निर्ग्रंथ साधु की चर्या में भी दृढ़ रहें।

इन गणों, शाखाओं, कुलों में परस्पर न तो कोई सामाचारी का भेद था और न ही कोई विरोध था। वे सब गण, शाखाएं और कुल श्री सुधर्मास्वामी गणधर के निर्ग्रंथ गण के ही थे जो आज-कल श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक संघ के नाम से सारे भारत में विद्यमान हैं।

उपर्युक्त स्थविरावली को देखने से यह भी स्पष्ट है कि इसमें दिये गये गणों, गच्छों, शाखाओं, कुलों के नाम भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के नाम में सारे भारतवर्ष का समावेश हो जाता है। उन-उन क्षेत्रों में विचरणे के कारण ही प्रायः स्थानों के नाम से उनके गण आदि प्रसिद्ध हो गए थे अथवा मुख्य आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे।

१२—आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ति, गुणसुन्दर सूरि, श्यामाचार्य, स्कंदलाचार्य, रेवतीमित्र, श्रीधर्म, भद्रगुप्त, वज्र, श्रीगुप्त तक दसपूर्वी हुए। यानि विक्रम की दूसरी शताब्दी तक तीर्थं-

हम लिख आये हैं कि निर्ग्रंथ गण के आर्य¹ सुहस्ति (जो मौर्य सम्राट सम्प्रति के धर्मगुरु थे) के शिष्य कोटिक गण के आचार्य सुप्रतिबद्ध के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा प्रश्नवाहनक कुल, उच्च-नागरी शाखा का पंजाब में प्रादुर्भाव हुआ। उच्चनागरी शाखा कोटिक गण से निकले हुए प्रश्नवाहनक आदि ४ कुलों से निकलने वाली शाखाओं में से एक थी। यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से लगभग वीर निर्वाण संवत् ४२० (विक्रम पूर्व ५० वर्ष तथा ईसा पूर्व १०७ वर्ष) में उच्चनगर में निकली थी। आर्य शांतिश्रेणिक आर्य सिंहगिरि के गुरु भाई थे।² इसकी पुष्टि मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त प्रतिमाओं के लेखों से भी होती है।³

कर की द्वादशांग के सम्पूर्ण से मात्र चार पूर्व ज्ञान कम के ज्ञाता श्रमण विद्यमान थे। (११ अंग और १० पूर्वों के ज्ञाता थे)—इस समय तक दिगम्बर मत की उत्पत्ति नहीं हुई थी।

१—युनानियों ने पंजाब में जिन ओरेटाई और वरेटाई (आर्य और व्रात्य) जैन साधुओं का उल्लेख किया है वे श्वेताम्बर जैन साधुओं की इसी आर्य परम्परा के थे जो महाव्रतधारी तथा विशिष्ट ज्ञानवान थे, निस्पृह, अपरिग्रही, शाकाहारी, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी भी थे। श्वेताम्बर जैन साधुओं का वनवासी गच्छ भी था जो पाणितल भोजी और उपर्युक्त गुणों से अलंकृत था।

२—कल्पसूत्र स्थविरावली व्याख्यान ८

2—कंकाली टीले मथुरा से प्राप्त चौमुखी जिन-प्रतिमाओं पर उच्चनागरी शाखा के लेख :—

(१) B/70 पाषाण प्रतिमा १०॥ इंच लम्बी चौमुखी नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। एक ही पाषाण में चारों तरफ एक-एक तीर्थंकर की प्रतिमा है। ऐसी प्रतिमाएं सर्वतो-भद्र कहलाती है। एक के सिर पर सर्प के सातफण हैं, यह पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। प्रत्येक की छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह है। सिंहासन के चारों तरफ प्रतिमा को दान करने वालों की दो-दो मूर्तियां बनी है। इस प्रतिमा के ऊपरी भाग में छेद है। प्रतिमा पर लेख इस प्रकार खुदा है :

"सिद्धं [सं०] ३५ हे० १ दि० १२ अस्य पूर्वाये कोटियतो [गणतो] ब्रह्मदासिका (वभलिज्ज) [कुल] तो उच्चनागरीतो शाखातो............[शा] नी [या]:......बोधिलाभाय विष्णु देवा ॥

इस प्रतिमा के लेख से स्पष्ट है कि कोटिक गण से निकले हुए वभलिज्ज कुल की उच्चनागरी शाखा के किसी आचार्य द्वारा इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई।

(२) B/71 पाषाण प्रतिमा खड़ी नग्न १० इंच; चारो तरफ खड़ी चार तीर्थंकरो की प्रतिमाएं हैं। तीन प्रतिमाओं पर कोई चिन्ह नही है। एक पर नाग का चिन्ह है। छातियों पर श्रीवत्स का चिन्ह है। इसके चारों तरफ लेख खुदा हुआ है—

सिद्ध [सं०] ५ हे० ४ दि० २० अस्य पूर्वाये क [टोयतो गणतो] उच्चनागरीतो शाखातो वाहादा...

इस प्रतिमा पर भी कोटिक गण की उच्चनागरी शाखा के किसी आचार्य द्वारा प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है।ऐसी चौमुख प्रतिमा पर प्रायः चार १—श्री ऋषभदेव, २—श्री नेमिनाथ, ३—श्री पार्श्वनाथ, ४—श्री महावीर इन चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएं होती हैं.

कोटिक गण, वंभलिज्ज कुल, उच्चनागरी शाखा ये सब श्रमण श्वेताम्बर जैनधर्म के अनुयायी थे। (देखें कल्पसूत्र स्थविरावली व्याख्यान ८)।

इस से यह भी स्पष्ट है कि श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमाओं को भी मानते हैं और पूजा-उपासना के लिए इन को मन्दिरों में स्थापित भी करते आ रहे हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता श्री उमास्वाति जी इस उच्चनागरी शाखा के वाचक (उपाध्याय) पदवीधर श्वेतांबर जैन श्रमण थे। उन्होंने अपने द्वारा रची हुई तत्त्वार्थ सूत्र की प्रशस्ति में अपने आप को उच्चनागरी शाखा का बताया है।[1]

चीनी बौद्ध यात्री फ़ाहियान ईस्वी ४०० में भारत आया। वह तक्षशिला से १६ मील हीलो नगर में पहुंचा। यह नगरक्षेत्र की सीमा में स्थित था। यहाँ से एक योजन (बौद्ध मान्यता के अनुसार ७॥ मील) दूर उच्चक्षेत्र की राजधानी थी। इसी क्षेत्र में एक नगर महानगरी का नाम भी आता है। महान का पर्यायवाची उच्च भी है। उच्चनगर सिंधु नदी के तीर पर कहा गया है। अतः उच्चनगर सिन्धु नदी के निकटवर्ती पार्वतीय प्रदेश में अवस्थित था। पं० कल्याण विजय जी का मत है कि यह नगर तक्षशिला के निकटवर्ती था।

श्री जिनप्रभ सूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प-कल्प नं० ४५ में चौरासी महातीर्थों का उल्लेख किया है। उसमें—

"नगरमहास्थाने श्री भरतेश्वर कारितः। श्री युगादिदेवः।"

तथा—"महानगर्यां उद्दण्ड विहारे श्री आदिनाथः॥"

अर्थात—महानगर (उच्चनगर) स्थान में चक्रवर्ती भरत के द्वारा निर्माण कराया हुआ युगादिदेव (श्री ऋषभदेव) का महातीर्थ है। तथा—

महानगरी (उच्चनगरी) के उद्दंड महाविहार (विशाल जैनमन्दिर) में श्री आदिनाथ(श्री ऋषभदेव) की प्रतिमा विराजमान है।

(१) विक्रम संवत् १२८० में जिनचन्द्र सूरि ने उच्चनगर में कई स्त्री-पुरुषों को दीक्षाएँ दी थी। इस प्रसंग पर भी उच्चनगर का उल्लेख सिन्धु प्रदेश मे आया है।

(२) विक्रम संवत् १२८२ में आचार्य सिद्धि सूरि ने उच्चनगर में शाह लाधा द्वारा बनाए हुए जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा करायी थी। उस समय यहाँ ७०० घर जैनों के थे। यह वर्णन भी उनके सिन्ध में विहार का है।

1— न्यग्रोधिका प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुम नाम्नि।
कौभीषणिना स्वाति—तनयेन वात्सी—सुतेना र्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्त्तं च दुरागमविहतमति लोकमावलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागर वाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

अर्थात्—जो गोत्र से कौभिषिणी थे और जो स्वाति पिता और वात्सी माता के पुत्र थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिका नगर में हुआ था, जो उच्चनागरी शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक (उपाध्याय) ने गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ अर्हत् उपदेश को भली प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोगों के दुःख के परिताप की अनुकम्पा से प्रेरित होकर विहार करते हुए यह तत्त्वार्थ सूत्र स्पष्ट शास्त्र कुसुमपुर श्रेष्ठ नगर में रचा। (उमास्वाती आचार्य पदवी धारक नहीं थे, वे वाचक (उपाध्याय) पदवी धारी थे इसीलिये आचार्यों की पट्टावलियों अथवा नामावलियों में उन का उल्लेख नहीं है)।

(३) वि० सं० १६६७ में वाचक समयसुन्दर जी ने उच्चनगर में श्रावक-आराधना नामक ग्रंथ बनाया था। (यहाँ भी उच्चनगर का सिन्ध देश में वर्णन है)

(४) मुनि विद्याविजय जी (काशीवाले श्री विजयधर्म सूरि जी के शिष्य) ने "मारी सिन्ध यात्रा,' नामक पुस्तक में लिखा है कि उच्चनगर सिन्ध में था। सिन्ध की सीमाएँ बदलती रहती हैं। एक बार इसकी सीमा तक्षशिला तक भी थी। ऐसा ऐतिहासकार मानते हैं।

अतः इससे भी उच्चनगर के तक्षशिला के समीपवर्ती होने की पुष्टि होती है।

(५) उच्चनगर से जैनों का अति प्राचीनकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है तथा तक्षशिला के समान ही यह जैनों का केन्द्र स्थल रहा है। इसी उच्चनगर में शाह ईश्वरचन्द्र जी दूगड़ विक्रम की तेरहवी शताब्दी में मेवाड़ में उदयपुर के निकटस्थ आघाटपुर नगर से सपरिवार आकर आबाद हुए थे। यह दूगड परिवार सर्वप्रथम पंजाब में आया था। यथा—

"ईश्वर [चन्द्रः] स० ईश्वरो राज्य-विरुद्ध-भयात् पश्चिमोत्तर देशे उच्चनगरे समागतः[1] ॥ (ये ईश्वरचन्द्र जी दूगड वंश संस्थापक शाह दूगड़ जी की ६वी पीढ़ी में हुए हैं)

अर्थात्— श्री दूगड जी की नवी पीढी में श्री ईश्वरचन्द्र हुए। वे राज्य विरुद्ध के भय से भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त देश के उच्चनगर में आये। उस समय वहाँ ओसवाल श्वेतांबर जैनों के ७०० घर थे।

ओसवाल जैनो की वंशावलियों में विक्रम की १८वी शताब्दी तक उच्चनगर में ओसवाल जैनों की आबादी का उल्लेख है। उनमें ओसवालो के अनेक गोत्रों तथा परिवारों के उल्लेख है।

अतः तक्षशिला, पुण्ड्रवर्धन, उच्चनगर आदि प्राचीन काल में बड़े महत्वपूर्ण नगर रहे है। इन नगरों में हज़ारों की संख्या में जैन परिवार आबाद थे। इस क्षेत्र में श्री ऋषभदेव से लेकर विक्रम की १७वी शताब्दी तक जैन साधु-साध्वियों के आवागमन के प्रमाण उपलब्ध हैं।

इस क्षेत्र में संस्कृत में लघुशान्ति स्तोत्र के कर्ता आचार्य मानदेव सूरि भी पधारे थे, उस समय उन्होने उच्चनगर आदि नगरों में अनेक जैनेतर परिवारों को जैनधर्मानुयायी बनाया था। (पं० कल्याण विजय)। विक्रम की १६वी शताब्दी तक श्वेतांबर जैन मुनियों ने अनेक श्रावक-श्राविकाओं को दीक्षाएँ भी दी।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

प्राचीनकाल में यहाँ एक विश्वविद्यालय भी था। इस विश्वविद्यालय में अनेक संसार प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देते थे। बड़ी-बड़ी दूर से यहाँ विद्यार्थी लोग शिक्षा पाने आते थे। मात्र भारत से ही नही अपितु विदेशों के विद्यार्थी भी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करने में अपना गौरव समझते थे। बौद्ध जातक साहित्य से इस विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात होती हैं उन्हें हम संक्षेप से यहाँ उल्लिखित करते हैं।

१—इस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु १६ वर्ष की[2] थी। इससे पूर्व

1—देखें इसी ग्रंथकर्ता द्वारा लिखित—सद्धर्मसंरक्षक श्री बूटेराय जी का जीवन चरित्र पृष्ठ १६०।

2—The Jatka edited by prof E. B. Cowell Vol I p. 126 Vol II p. 193 Vol V p. 66. etc.

विद्यार्थी लोग अपने-अपने नगरों में ही शिक्षा पाते थे। पीछे उच्चशिक्षा पाने के लिये यहाँ आया करते थे। समझा यह जाता था कि तक्षशिला में पारंगत होने को जाना है।[1] शिक्षा अपने यहाँ पर भी मिल सकती थी। पर राजा तथा अन्य धनी लोग भी अपने लड़कों को दूर देशों से शिक्षा के लिये यहाँ भेजना उपयोगी समझते थे।

शिक्षा प्रबन्ध—(१) शिक्षा पाने की फीस एक हजार कार्षापण थी।[2] (२) जो विद्यार्थी फीस नहीं दे पाते थे वे आचार्य के घर पर दिन में काम करते थे और रात को उनके पास शिक्षा पाते थे। (३) एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी जो न तो आवश्यक फीस दे पाते थे और न ही आचार्य के घर पर काम करते थे। वे वादा करते थे कि हम पढ़ाई समाप्त करने पर कुछ समय बाद निश्चित फीस एक हजार कार्षापण दे देंगे। उन पर विश्वास कर लिया जाता था और उन्हें शिक्षा भी फीस देने वाले विद्यार्थियों के समान ही दी जाती थी। विद्यार्थी भी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद थोड़े समय के अन्दर ही फीस दे जाते थे।[3] (४) तक्षशिला में संसार प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देने का कार्य करते थे। उन आचार्यों के साथ लगाये गये विशेषणों से ज्ञात होता है[4] कि उस समय तक्षशिला विश्वविद्यालय अपनी विद्या के लिये अद्वितीय था। जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।[5] ऐसे संसार प्रसिद्ध आचार्यों की संख्या कम न थी।[6]

संभवतः यह कल्पना अनुचित न होगी कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में अनेक कालेज थे। जिनमें प्रत्येक में ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। और उन कालेजों के प्रत्येक प्रधानाध्यापक को आचार्य कहा जाता था। वर्तमान परिभाषा में यही वर्णन तक्षशिला विश्वविद्यालय के वास्तविक रूप को प्रकट कर सकता है।

(५) तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी लोग शिल्प, व्यवसाय तथा जनता आदि से क्रियात्मक अनुशीलन करने के लिए तथा देश-देशान्तर के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए अनेक ग्रामों नगरों का भ्रमण किया करते थे। इस सम्बन्ध में जातकों में अनेक निर्देश पाये जाते हैं।

(६) तक्षशिला विश्वविद्यालय इतना प्रसिद्ध था कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा, जमींदार, मंत्री, क्षत्रीय लोग अपने-अपने लड़कों को यहाँ पढ़ने के लिए भेजते थे। जातक साहित्य में अनेक राजकुमारों के यहाँ शिक्षा पाने के विवरण मिलते हैं। :—

१—वाराणसी (काशी) का राजकुमार ब्रह्मदत्त।[7]

२—मगधराज का लड़का अरिदमन।[8]

1—The Jatka Vol IV p. 24.

2—The Jatka edited by prof E. B. Cowell Vol V p. 246; Vol I p. 148 Vol IV p. 182. etc.

3—The Jatka (Cowell) Vol IV p. 140

4—Abid Vol V p. 66, 67, Vol II p. p. 193. Vol III p. 173 etc.

5—Abid Vol III p. 154, Vol IV p. 32, Vol V p. 67, Vol I p. 183.

6—Abid Vol II p. 194.

7—Abid Vol V p. 66 etc.

8—Abid Vol V p. 127.

३—कुरुदेश का राजकुमार सुतसोम ।[1]

४—मिथिला का राजकुमार कुमार विदेह ।[2]

५—इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का राजकुमार धनञ्जय ।[3]

६—कम्पलक देश का राजकुमार ।[4]

७—मिथिला का राजकुमार सुरुचि ।[5]

८—चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री चाणक्य ब्राह्मण ।

इस तरह अन्य भी अनेक राजकुमारों आदि के निर्देश जातकों में पाये जाते हैं ।

(७) भारत के अन्य राजकुमार भी जिनकी संख्या उस समय १०१ थी, उसी आचार्य से शिक्षा पा रहे थे । शिक्षा पा चुकने के बाद वे अपने राज्यों में वापिस जाकर वहाँ के शासक राजा बनते थे ।

इससे स्पष्ट है कि एक आचार्य के पास १०१ राजकुमार शिक्षा पाते थे । जिसे हम राजकुमार कालेज कह सकते हैं ।

तक्षशिला नगर का स्थान—पाकिस्तान में रावलपिंडी से २० मील की दूरी पर जो सरायकाला का रेलवे स्टेशन है उससे थोड़ी दूरी पर उत्तर पूर्व की ओर १२ मील के घेरे में तक्षशिला के खंडहर और स्तूप फैले हुए है । यह नगर जिस स्थान पर बसा हुआ था पहाड़ की एक बहुत रमणीक तराई है । इस तराई में हरो नदी तथा अन्य छोटी-छोटी नदियाँ बहती हैं जिससे यह स्थान और भी हराभरा और रमणीय हो गया है । इसके चारों ओर पहाड़ों की शृंखलायें हैं, उत्तर-पूर्व की ओर हजारा और मरी के बरफ़ वाले पहाड़ है तथा दक्षिण पश्चिम में मर्गला की घाटी और कई छोटे-छोटे पहाड है । इसके अलावा यह नगर उस सड़क पर बसा हुआ था जो भारत से सीधी मध्य एशिया (Central Asia) तथा पश्चिम एशिया (Western Asia) को जाती है । इसी सड़क के माध्यम से मध्य तथा पश्चिमी एशिया और भारत के बीच प्राचीन समय में व्यापार होता था । इन्ही सब बातो के कारण कोई आश्चर्य नही है कि यह नगर प्राचीन समय में इतने महत्व का समझा जाता रहा है । एरियन नाम का एक ग्रीक इतिहास लेखक ईस्वी सन की दूसरी शताब्दी में हो गया है । उसने भारतवर्ष और सिकन्दर के इतिहास की सामग्री इस वर्णन में खूब दी है । वह लिखता है कि सिकन्दर के समय में तक्षशिला बहुत बड़ा और ऐश्वर्यशाली नगर था । इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु और जेहलम नदियों के बीच जितने नगर थे उनमें यह नगर सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्व का समझा जाता था । ईसा की सातवीं शताब्दी में चीनी बौद्ध यात्री हुएनसांग भारत में भ्रमण के लिए आया था । वह भी तक्षशिला की उपजाऊ भूमि तथा हरियाली की प्रशसा कर गया है ।

खण्डहर और स्तूप—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि तक्षशिला के खण्डहर तथा स्तूप १२ मील के घेरे में फैले हुए हैं । पुरातत्त्व विभाग ने इसकी खुदाई करवाई है । यह इस परिणाम पर

1—Abid Vol I p. 146.
2—Abid Vol II p. 27.
3—Abid Vol II p. 251
4—Ahid Vol III p. 52.
5—Abid Vol IV p. 198.

पहुंचा है कि ये खण्डहर तीन भिन्न नगरों के अंश हैं। एक नगर जब उजड़ा तो थोड़ी दूर हट कर दूसरा नगर बसाया गया। जब वह भी उजड़ा तब थोड़ी दूर हट कर तीसरा नगर बसाया गया। इनमें से सब से पुराना स्थान भीड़ टीला (Bhir Mound) है। यह स्थान मौर्यकाल से पूर्व बसा हुआ था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में यह नगर उजड़ गया। यहाँ से हटाकर ग्रीक लोगों ने ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में तक्षशिला नगर को जिसे आज सिरकप के नाम से पहचाना जाता है वहाँ बसाया। यह स्थान भीड़ टीले से आधा मील की दूरी पर है। तक्षशिला का तीसरा नगर सिर-सुख है। यह सिरकप के उजड़ जाने के बाद बसाया गया था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने आक्रमण किया और इसे भी ध्वंस कर दिया। अन्त में महमूद ग़जनवी के आक्रमण के बाद यह सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। इन तीन नगरियों के सिवाय और भी कई टीले तथा खण्ड-हर हैं। इनमें चीरटोप और झंडियाला टीला मुख्य हैं।

सिकन्दर के साथ आनेवाले इतिहासकारों ने लिखा है कि तक्षशिला बहुत ही धनी और रौनकदार आबाद नगर था। इसका राज्यशासन बहुत अच्छी तरह होता था। लोग बड़े प्रसन्न, सुखी और चिन्तारहित मालूम होते थे। तक्षशिला का राज्य विस्तार सिन्धु नदी से जेहलम नदी तक था। ई० पू० ३२३ में सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने ग्रीकों को पंजाब से निकाल बाहर किया और तक्षशिला तथा पंजाब के अन्य राज्यों को मगध राज्य में मिला कर अपने अधिकार में कर लिया था। तक्षशिला चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी उत्तर भारत की राज-धानी रही। इसका पौत्र अशोक और अशोक का पुत्र कुणाल राज्य के प्रतिनिधि और युवराज हो कर कई वर्षों तक यहाँ रहे। कुणाल के पुत्र सम्प्रति के अधिकार में भी तक्षशिला रहा। हुएन-सांग ने लिखा है कि तक्षशिला राज्य का क्षेत्रफल आठ हजार वर्ग कोस है और राजधानी तक्ष-शिला का विस्तार ४० वर्ग कोस का है।

गांधार-तक्षशिला में सर्वप्रथम बुद्धधर्म के प्रचार और प्रवेश का श्रेय अशोक मौर्य के व्यक्तिगत प्रभाव को ही है अर्थात् अशोक के प्रभाव से ही इस क्षेत्र में बुद्धधर्म का प्रवेश, प्रचार व प्रसार हुआ।

तक्षशिला का सारा क्षेत्र खण्डहर हो जाने के बाद शाह की ढेरी के नाम से प्रसिद्ध था। सिकन्दर के समय में यहाँ के राजा आंभी ने सिकन्दर से संधि कर ली थी। सिकन्दर ने पौरस को भी युद्ध में हराया था। पौरस का राज्य विस्तार जेहलम और चनाब दोनों नदियों के बीच तक था। सब राजाओं पर विजय प्राप्त करते हुए सिकन्दर व्यास नदी तक आ पहुंचा। इसकी सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। इसलिए लाचार होकर इसे वापिस लौटना पड़ा तथा पश्चिम पंजाब सिन्ध को जीतते हुए वापिस फ़ारिस लौट गया। इस समय तक्षशिला गांधार देश की राज-धानी थी। उस समय गांधार जनपद का विस्तार वर्त्तमान के पेशावर जिला, काबुल की तराई, स्वात्, बुनेट, सिन्धु और जेहलम नदियों के बीच का सारा प्रदेश था। तक्षशिला उस समय गांधार के नाम से प्रसिद्ध था।

काश्मीर में जैनधर्म

१—काश्मीर के तीन नाम हैं—(१) हिमाद्रिकुक्षी, (२) सतिसर तथा (३) काश्मीर।

(१) हिमाद्री कुक्षी का अर्थ है—हिमालय पर्वत की गोद में अवस्थित जनपद।

(नीरमार्त पुराण तथा राजतरंगिणी)।

(२-३) सतिसर और काश्मीरपुर को नाम—

१—सतिसरासारं शारिका शैल भूषितम् ।

२—श्री जैन नगरादस्माकानोपवन-विभूषितम् ॥२॥

३—अस्ति त्रिभुवन्नारण्यमुत्तमं भूषणं भुवे ।

श्री काश्मीरपुर—रम्यं नानोपवन शोभितम् ॥३॥

सतिसर में—१-शारिका पर्वत, २-जैननगर तथा ३-काश्मीरपुर का उल्लेख आया है। द्वीप की तरह इसका शिखर दिखलाई देता है। इसके जल की गहराई ३००-४०० फुट तक थी। (इतिहासकारों का मत है कि जैननगर का नाम मुसलमान जेनुलहक्क के नाम से पड़ा)।

२-हिमालय के प्राचीन नाम—(१) हिमवान, (२) हिमाचल, (३) हिमवन्त, (४) हैमवन्त (५) हिमशैल, (६) पर्वतराज, (७) गिरिराज तथा (८) गिराधिराज।

काश्मीर के इतिहास पर लिखी गई पन्द्रह राजतरंगिणियों का उल्लेख मुसलमान जेनुल आदि ने किया है। परन्तु उन में से आज एक भी उपलब्ध नहीं है और न ही उनके नामों का पता है। पर आज तो मात्र चार राजतरंगिनियाँ उपलब्ध हैं जो उनके बाद की लिखी हुई हैं। (१) कवि कल्हण कृत राजतरंगिणी (ईस्वी सन् ११४८-४९) (२) जोनराज कृत राजतरंगिणी (ई० स० १४४६-५९); (३)श्रीधर कृत राजतरंगिणी (ई० स० १४५९-८६); (४) शुक कृत राजतरंगिणी (ई० स० १५१३-१४)।

इन चारों नूतन राजतरंगिणियों में से प्रथम राजतरंगिणी के लेखक कवि कल्हण ने इस तरंगिणी की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि—

दृष्टं दृष्टं नृपोदितं बद्धवा प्रमयमि यूषाम् ।

अर्वाकाल भवेर्वार्ता तत्प्रबन्धेषु पूर्यत् ॥१:९॥

दाक्ष्य कियदिदं तस्मादस्मिन् भूतार्थ वर्णने ।

सर्व—प्रकारं स्खलिते ये जिनाय ममाधमः ॥१:१०॥

अर्थात्—जिन लेखकों ने अपने समय के नृपों का इतिहास लिपिबद्ध किया है उनके पश्चात् अर्वाचीन काल के लिए और क्या बात बाकी रह जाती है जो आप के इस नूतन प्रबन्ध में पूर्वकारों से विशेष है? इस बात के समाधान में कवि कहता है कि—यह प्रबन्ध लिखने की मेरी योजना यह है कि मैं पूर्ण सर्वांगीन क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित करूं जो पुरातन इतिहास की स्खलना से विशृंखलित है। (१:९-१०)

सारांश यह है कि—यदि कल्हण के शब्दों में कहा जावे तो यह राजतरंगिणी काश्मीर के इतिहास को क्रमबद्ध प्रामाणिक रूप से उपस्थित करती है। अतः हम भी इसीके आधार पर यहाँ काश्मीर के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

१—जैनों की मान्यता है कि सरस्वती का मूलस्थान काश्मीर में है, उसका उल्लेख राजतरंगिणियों में इस प्रकार है—

मेदगिरेः शृंगे गंगोद भेद शुची स्वयम् ।

सरोऽन्तर्हृश्यते यं च हंस-रूपो सरस्वती ॥ (कल्हण राजतरंगिणी-३५)

अर्थात्—गंगा स्रोत से पावन मेदगिरि के शिखर पर स्थित सरोवर में देवी सरस्वती हंस रूप में दिखलाई देती है।

२—आइने अकबरी में अबुलफ़ज़ल लिखता है कि—

यह शारदा मंदिर शुक्लपक्ष की अष्टमी को पूरा हिलने लगता है।

३—शारदा तीर्थ (देवस्थान) कृष्णगंगा तथा मधुमती के संगम पर है। यह एक पहाड़ी पर स्थित है।

काश्मीर में जैनधर्म की विद्यमानता का काल

काश्मीर में बहुत प्राचीन काल से जैनधर्म की विद्यमानता के प्रमाण उपलब्ध हैं।

काश्मीर में शत्रुंजयावतार तीर्थ

जैनाचार्य श्री रत्नशेखरसूरि श्राद्धविधि प्रकरण में लिखते हैं कि—

शत्रुंजय (विमलाचल) की यात्रा काश्मीर देश में अनेक राजाओं आदि ने की जिस का विवरण इस प्रकार है—यह घटना पाँचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ से पहले की है।

(१) मलयदेश के राजा जितारि के मन में शंखपुर से विमलाद्री नामक महातीर्थ की यात्रा के लिये निकले हुए संघ में सम्मिलित श्रुतसागर आचार्य के मुख से इस तीर्थ का माहात्म्य सुनने पर इस तीर्थ की छरी-पालित यात्रा करने की उत्कट भावना हुई। इसने मंत्रियों को आज्ञा दी कि वे शीघ्र ही विमलगिरि महातीर्थ की यात्रा की तैयारी करें। यह कह कर इसने ऐसी प्रतिज्ञा की कि जबतक मैं पैदल चलकर छरी पालन[1] करते हुए संघ के साथ विमलाचल तीर्थ पर पहुँचकर श्री ऋषभदेव की वन्दना नहीं करूंगा तब तक अन्न-जल पान नहीं करूंगा। हंसी, सारसी नामक इस की दोनों रानियों तथा अन्य लोगों ने भी ऐसा ही अभिग्रह किया। राजा सकुटुम्ब, मंत्रियों तथा अनेक परिवारों के साथ यात्रा के लिये आचार्य श्रुतसागर के साथ चल पड़ा। शीघ्रता से मार्ग काटते हुए संघ काश्मीर देश के एक वन में पहुँचा। उस समय भूख-प्यास, पैदल चलने से थकावट इत्यादि कारणों से राजा और दोनों रानियां व्याकुल हो गये।

तब सिंह नामक मंत्री और आचार्य श्रुतसागर जी ने पच्चक्खाण दण्डक में आगारों को बतलाते हुए राजा को अभिग्रह का त्याग करके अन्न-जल लेने का आग्रह किया।

राजा जितारि तथा रानियां यद्यपि शरीर से व्याकुल थे, तथापि दृढ निश्चयी थे, उन्होंने कहा कि प्राण जाएं तो चिन्ता नहीं है, पर हम अपना अभिग्रह भंग नहीं करेंगे।

इतने में विमलाद्री के अधिष्ठायक देव ने स्वप्न में प्रकट होकर राजा आदि से कहा कि—मैं राजा जितारि के अभिग्रह से सन्तुष्ट होकर अपनी दिव्यशक्ति से विमलाचल तीर्थ को यहीं पर ले आता हूँ। जब प्रातःकाल में तुम लोग प्रयाण करोगे वैसे ही तुम को यहाँ पर इस तीर्थ के दर्शन होंगे। यहाँ श्री ऋषभदेव के दर्शन करके अपना अभिग्रह पूरा करना। प्रातःकाल जब संघ ने प्रयाण शुरू किया, उसी समय यक्ष ने क्षणमात्र में काश्मीर देश के उस वन में पर्वत पर नये विमलाचल तीर्थ को बनाकर स्थापित कर दिया।

प्रातः काल होते ही श्री श्रुतसागर सूरिजी, राजा जितारि, सिंह मंत्री, रानियां संघ के साथ

१—(१) एकाहारी—प्रतिदिन एकासना करना। (२) सचित परिहारी—सचित वस्तु का त्याग करना। (३) ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य का पालन करना। (४) पादचारी—पैदल चलना। (५) गुरुसहचारी—गुरु के साथ चलना। (६) भूमि संथारि—भूमि पर बिछौना बिछा कर सोना।

जिस यात्रासंघ में यात्री उपर्युक्त छः प्रकार के नियमों का पालन करें, उसका नाम छः री पालित यात्रा संघ है।

सब लोगों ने ऋषभदेव भगवान की वन्दना की। राजा और रानियों का अभिग्रह पूरा हुआ। इस समय श्री भगवान के दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष से उनका शरीर पुलकित हो गया। तत्पश्चात् सबने स्नात्र पूजा की, ध्वजा चढ़ाई, माला पहिराई तथा अन्य धर्मकृत्य करके संघ वहाँ से वापिस विदा हुआ। राजा सात बार मार्ग चला और उसने सात बार पुनः पुनः लौटकर इस तीर्थ की यात्रा की।

बार-बार ऐसा करने पर सिंह मंत्री ने जितारि राजा से इसका कारण पूछा। राजा ने कहा कि—बालक जिस तरह माता को नहीं छोड़ सकता, वैसे ही मैं इस तीर्थराज को अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकता, अतएव मेरे यहीं रहने के लिये एक उत्तम नगर की रचना करो। बुद्धिमान मंत्री ने अपने मालिक की आज्ञा पाते ही वास्तु शास्त्र में वर्णित रीति के अनुसार काश्मीर देश में इस तीर्थ की तलहटी में विमलपुर नाम का एक नगर बसाया। राजा जितारि वहीं रहकर प्रतिदिन इस महातीर्थ की वन्दना-पूजा करने लगा। इसी ने इस तीर्थ का नाम शत्रुंजय रखा।

(२) काश्मीर देश के अन्दर विमलाचल के पास एक आश्रम में गांगलि नामक ऋषि का आश्रम, विमलाचल तीर्थ की रक्षा के लिए चक्रेश्वरी देवी का काश्मीर में आगमन, काश्मीर देश में यक्ष के स्थापित किये हुए विमलाचल तीर्थ का जिक्र, हंस पक्षी द्वारा अपनी चोंच में फूलों को लेकर उनसे इसी तीर्थ पर भगवान ऋषभदेव की पूजा करना। शुकराज का विमान में बैठ कर काश्मीर में विमलाचल की यात्रा करने आना इत्यादि, (श्राद्धविधि प्रकरण इससे स्पष्ट है कि काश्मीर में पांचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ के समय से भी पहले जैनधर्म विद्यमान था। इस तीर्थ को हमने विमलाचल—शत्रुंजयावतार के नाम से सम्बोधित इस लिये किया है कि यह तीर्थ राजा जितारि का अभिग्रह पूरा करने के लिए यक्ष द्वारा निर्मित किया गया था।

(३) कवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिनी में लिखा है कि शकुनि का प्रपौत्र सत्य-प्रतिज्ञ अशोक महान कलयुग सवत् १३५५ (ईसा पूर्व १४४५) में काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठा और उसने जिनशासन (जैनधर्म) को स्वीकार किया। यह समय लगभग महावीर के निर्वाण से ८१८ वर्ष पूर्व और पार्श्वनाथ के निर्वाण से ५६८ वर्ष पूर्व का है। कवि कल्हण के मत से सत्यप्रतिज्ञ-अशोक का समय पार्श्वनाथ के निर्वाण से ५१७ वर्ष पूर्व का[1] है। अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ अशोक का समय जैनों के बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के तथा पार्श्वनाथ के मध्य काल का है।

"प्रपौत्र शकुनेस्तस्य भूपते. प्रपितृव्यजः ।
अथ वृहवशोकाख्यः सत्यसंधो वसुधराम् ॥ १:१०१ ॥
यः शांतवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम् ।
शुष्कलेत्र वितस्तात्रो विस्तार स्तूपमंडलैः ॥ १:१०२॥
धर्मारण्य विहारान्तर्वितस्तात्र पुरे अभवत् ।
यत्कृतं चैत्यमुत्सावधि प्राप्त्येक्षय क्षणम् ॥ १:१०३ ॥

अर्थात्—तत्पश्चात् (निःसंतान राजा शचीनर के बाद) राजा शकुनी के प्रपौत्र सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान् ने (काश्मीर की) वसुन्धरा (पृथ्वी) पर राज्य किया जब उसने जिनशासन (जैनधर्म) को स्वीकार किया था तब इसके पाप शांत हो गए थे। शुष्कलेत्र तथा वितस्तात्र इन दोनों नगरों को इसने जैन स्तूप मंडलों (समूह) से आच्छादित कर दिया था। अनेक जैनमंदिरों तथा नगरों का भी निर्माण किया था। जिन में से विस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में इतना ऊंचा जैनमन्दिर बनवाया था कि जिस की ऊंचाई को आंखें देखने से असमर्थ हो जाती थी ॥ १:१०१-१०३ ॥

1—संभव है कि यह पा. नि. पू० ५६८ में सिंहासनारूढ़ होकर ५१ वर्ष राज्यपालन करके पार्श्व निर्माण पूर्व ५१६ में मृत्यु पाया होगा।

एक दूसरे विशाल जैनमन्दिर का भी निर्माण कराया था। जिसमें जैनतीर्थंकरों की स्वर्ण-मयी प्रतिमाओं को बहुत संख्या में स्थापित किया। इस मन्दिर का नाम 'अशोकेश्वर' रखा था। जिसका अर्थ सत्यप्रतिज्ञ अशोक-महान के इष्टदेव जिनेन्द्रप्रभु का मन्दिर होता है॥ १:१०६॥

सत्यप्रतिज्ञ अशोक-महान का समय[1]

कवि कल्हण अपनी राजतरंगिणी में लिखता है कि "अशोक एक राजा का नाम है, जिस के लव आदि पूर्वजों का पूर्व में वराहमिहिर ने वर्णन किया है। (१:२०) इतिहासकार मुसलमान हसन लिखता है कि वह अशोक कलयुग संवत् १६५५ (ई० पू० १४४५) में अपनी इच्छानुसार काश्मीर के राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। उस के पश्चात् उसने भारत के परगना खादर में एक आलीशान नगर बसाया। उसमें बड़े-बड़े सुन्दर हाटों बाजारों का निर्माण कराया तथा बहुत मजबूत और सुंदर भवनों का भी निर्माण कराया। प्राचीन समय के लेखक इन भवनों की संख्या छह लाख बतलाते हैं। इस नगर को घेरती हुई एक बहुत ऊंची दीवाल बनाई। पनगलवा और पतेख नामक गांव आबाद करके ब्राह्मणों को भेंट किये और अपने लिये जैनधर्म पसन्द किया। उस धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये दिलोजान से कोशिश की। उसने सारे काश्मीर देश की प्रजा को जैनधर्म के अनुकूल आचरण के लिये नियम बनाए। कसबा बिजबारह में इसने अपने जैनधर्म के बहुत ही आलीशान और मजबूत मंदिर बनवाये। इसके पुत्र का नाम जलौक था। बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी पुस्तक इतिहास समुच्चय में लिखा है कि काश्मीर के राजवंश में ४७ वां राज्य अशोक का हुआ। इसने ६२ वर्ष तक राज किया। श्रीनगर इसी ने बसाया और जैनमत का प्रचार किया। राजा शचिनर का यह भतीजा था। मुसलमान इतिहासकारों ने इसे शुकराज या शकुनि का बेटा कहा है। इस के समय में श्रीनगर में छह लाख मनुष्यों की आबादी थी। इसका सत्ता समय ई. स. पूर्व १३८४ का है। संभवतः यह समय इसकी मृत्यु का होगा। (इतिहास समुचय पृष्ठ १८)।

(४) **राजा जलौक**-अपने पिता सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान की मृत्यु के बाद ४८ वां शासक जलौक काश्मीर की राजगद्दी पर बैठा। यह भी अपने पिता के समान दृढ़ जैनधर्मी था। इसने अपने राज्य में जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के लिये बहुत कार्य किया। कुछ लेखकों ने इसे बौद्धधर्मी होने का उल्लेख किया है। परन्तु उनकी यह मान्यता निराधार है, साधार नहीं है। इस विषय में १-पहली बात तो यह है कि यह राजा ईसा पूर्व १४वी शताब्दी में हुआ है और बुद्धधर्म की स्थापना शाक्य मुनि गौतम ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में की। तथागत गौतमबुद्ध निग्रंथ महावीर के समकालीन थे। अतः सत्यप्रतिज्ञ जलौक महान के समय बुद्धधर्म इस विश्व में पैदा ही नहीं हुआ था। २-यद्यपि इसे बौद्ध-धर्मानुयायी बतलाने के लिये किसी लेखक ने असफल प्रयास किया है और उसने जलौक को एक स्त्री द्वारा बोधिसत्व की उपमा देते हुए संबोधित करने का उल्लेख किया है तथापि उसकी संगति बैठती

---

1. सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान का समय भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व छठी शताब्दी यानी ईसा पूर्व १४४५ वर्ष का है तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के पोते अशोक का राज्यारूढ़ होने का समय ईसा पूर्व २७४ का है। इस अशोक मौर्य की मृत्यु ईसा पूर्व २३२ में हुई। इन दोनों अशोकों के राज्या-रोहण के समय में ११७१ वर्षों का अन्तर है। यानी १२ शताब्दियों का अन्तर है। आज तक के सब इतिहासकार इन दोनों को एक मानकर द्वितीय अशोक को जैनधर्मानुयायी सिद्ध करने की चेष्टा में भूल के पात्र बन रहे हैं। अतः इतिहासकारों को इस भूल का अवश्य सुधार करना चाहिए।

नहीं है। स्त्री ने जब जलौक को बोधिसत्व के नाम से संबोधित किया तब जलौक ने उस स्त्री से पूछा कि 'बोधिसत्व किसे कहते हैं ?' इससे स्पष्ट है कि जलौक बोधिसत्व के नाम से ही अपरिचित था, उसे यह भी पता नहीं था कि बोधिसत्व कौन है ? अतः उसे बुद्धधर्म का अनुयायी मानना नितान्त भूल है। ३-उस समय तो बुद्धधर्म का अस्तित्व ही नहीं था और न ही इस विषय की उसे जानकारी थी। अतः यह स्पष्ट है कि जलौक अपने पिता के समान ही दृढ़ जैनधर्मी था। तथा इसने जैनधर्म के प्रसार के लिए अनेक जैनमंदिरों का निर्माण और जैनधर्म का प्रचार किया।

(५) **राजा जैनेन्द्र**—यह सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान का भतीजा था। यह भी अपने चाचा के समान दृढ़ जैनधर्मी था और अपने पूर्वजों के समान ही इसने भी जैनधर्म को पुष्ट किया।

(६) **राजा ललितादित्य**—इसका समय लगभग बुद्ध और महावीर का है। यह भी जैन धर्म का अनुयायी था। इसने भी अनेक जैनमंदिरों का निर्माण कराया था।

चक्रे बृहच्चतुःशाला बृहच्चैत्य बृहज्जिनैः।
राजा राजविहार सतिरजाः सततो जिनम् ॥ ४:२०० ॥

अर्थात्—इस निराभिमानी राजा ने बड़े-बड़े चौमहले (चारमंज़िले) भवनों (मकानों) का निर्माण कराया। विशाल चैत्यों(जिनमंदिरों) एवं विशाल जिनमूर्तियों युक्त राजविहार का निर्माण कराया। इस मंदिर के निर्माण में इस ने चौरासी हज़ार (८४०००) तोले सोने का उपयोग किया था। (कल्हण राजतरंगिणी ४:२००)

इस के अतिरिक्त उस उदार जैन राजा ने (१) रुद्र-शिव का पाषाण मंदिर, (२) मार्तण्ड (सूर्य) भगवान की स्थापना, (३) विष्णु भगवान की स्थापना (४) परिहास केशवनाथ की सप्तमुखी प्रतिमा की स्थापना, (५) ५४ हाथ (८१फुट) ऊंचा जैनस्तूप निर्माण करवा कर उस पर गरुड़ की स्थापना की (गरुड़ जैनों के प्रथम तीर्थंकर की शासनदेवी चक्रेश्वरी की सवारी है। तरंग ४-कल्हण राजतरंगिणी)

"तोलकानां सहस्राणि चतुर्भ्याधिकानि सः।
अशीति विधवे हेम्नो मुक्ता केशव विग्रहे ॥ (४:२०२) ॥
रिति प्रस्थ सहस्रैस्तु तेन तायाद भैरवः सः।
व्योम-व्यापिस्तु श्री मन्बृहद् बुद्धो व्याचियेत् ॥ ४: २०३ ॥

अर्थात्—(१) चौरासी हज़ार तोले के सोने और मोतियों की कृष्ण की मूर्ति (२) चौरासी हज़ार प्रस्थ वज़न कासे की बुद्ध की मूर्ति को गगनचुम्बी मंदिर बनाकर उस में स्थापित किया।

उपर्युक्त विवरण में दो बातो का मुख्य रूप से उल्लेख है। (१) राजा ललितादित्य ने जिन प्रतिमाओं सहित अनेक जैनमंदिरों का निर्माण काश्मीर में करवाया तथा स्वर्णमयी जिनप्रतिमाओं से युक्त एक विशाल राजविहार का निर्माण कराया जिस पर चौरासी हज़ार तोला सोना खर्च हुआ। (२) राजकोष से उसने पौराणिक ब्राह्मणो की मान्यता के छह मंदिरों तथा एक विशाल बौद्ध मंदिर का भी निर्माण कराकर उन-उन मतानुयायियों को सौंप दिये।

राजविहार के नाम से निर्मित जैनमंदिर का अर्थ है कि राजा के अपने मान्य इष्टदेव जैन तीर्थंकरों का मंदिर (जैनमंदिर)। इस से यह स्पष्ट है कि यह राजा स्वयं जैनधर्मानुयायी होते हुए भी इतना उदार था कि पौराणिक ब्राह्मणों तथा बौद्धों के मंदिरों का भी निर्माण करवा कर उन की मान्यता वालों को सौंप दिये। (३) इसके जैन होने का दूसरा प्रमाण यह है कि इसके आदेश से

चङ्कुण नामक तुखार निवासी मंत्री ने तुखार में एक विशाल जैनस्तूप का निर्माण कराया था जिस का उल्लेख हम यहां करते हैं।

(७) चङ्कुण मंत्री—यह भी जैनधर्मानुयायी था। इसने तुखारमें जैनमंदिर बनवाया था।

तुःखाराश्चंकुण चक्रे, स चंकुणविहारं कृतः।
भूपवित्तोन्नतं स्तूपं जिनाग्रे समबास्तथा ॥ ४:२११ ॥

अर्थात्—तुखार निवासी चंकुण नाम के मंत्री ने चंकुणविहार का निर्माण कराया। उस में अपने (स्वामी राजा ललितादित्य) भूप की इच्छानुकूल एक उन्नत जैनस्तूप का निर्माण कराकर उस में जिनेन्द्र भगवान की स्वर्णमयी प्रतिमाओं की स्थापना की।

(८) राजा कय्य—श्री कय्य राजा भी जैनधर्मानुयायी था।

श्रीमान् कय्य—विहारोऽपि तेनैव विदधेऽद्भुतम्।
भिक्षुः सर्वज्ञमित्रो, ऽभूत कमाद्यत्र जिनोपमः ॥४:२१०॥

अर्थात्—(लाड देश के मांडलीक राजा) श्रीमान् कय्य राजा ने कय्यस्वामी का एक अद्भुत जैनमंदिर बनवाया, उस में जिनेन्द्रप्रभु के समान तेजस्वी सर्वज्ञमित्र नाम का एक जैनभिक्षु रहता था। (यहां कय्यस्वामी यानी राजा कय्य के इष्टदेव जिनेन्द्रप्रभु का राज्य-मंदिर) इस से स्पष्ट है कि यह भी जैनी था।

(९) हम आगे लिखेंगे कि चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर उसकी पांचवी पीढ़ी के सम्राट संप्रति मौर्य (ईस्वी पूर्व ४ थी शताब्दी से ईस्वी पूर्व २ री शताब्दी) तक सब का राज्य प्रायः सारे भारत में था तथा भारत की सीमाओं से बाहर के देशों में भी था। काश्मीर का भी बहुत भाग उन्हीं के अधिकार में था। ये सब सम्राट भी जैनधर्मानुयायी थे। इन्हो ने अपने-अपने राज्यकाल में काश्मीर में भी जैनमंदिरों का निर्माण तथा जैनधर्म का प्रचार किया था।

(१०) भगवान पार्श्वनाथ का विहार भी काश्मीर तक हुआ था। मेजर जनरल फार्लांग का मत है कि पार्श्वनाथ काश्मीर में पधारे थे।

(११) भगवान महावीर का काश्मीर में आगमन (श्रीमाल पुराण अ०७३ श्लो० २७-३०)

महावीरो तपो तिष्ठत् बहुकाले गते सति।
निराहारो जितात्मा च सर्वं वस्त्रं त्यजेन्नृपः ॥२७॥
स्त्री-पुं भेदादि रहितो परमरूपो भवेत्तदा।
एवं च महावीरो महोग्रं करो तपः ॥२८॥
तस्य तप प्रभावेन किंचित् जैनं प्रवर्तते।
महावीरो यदा जातो, देशे काश्मीरके यदा ॥२९॥
ततः प्रभृती मारभ्य, जैनधर्मः प्रवर्तते।
इदृशं जैनधर्मं च वर्तते स्वल्प मात्रकम् ॥३०॥

अर्थात्—भगवान महावीर (दीक्षा लेकर) बहुत काल तक निराहार तप करते रहे फिर सब वस्त्रों का त्याग कर दिया। उस समय वह स्त्री-पुरुष के भेद से रहित होकर विचरने लगे। इस प्रकार महा उग्रतप करते हुए जैनधर्म के प्रभाव को बढ़ाया। जब महावीर काश्मीर देश में गए तब वहां भी जैनधर्म का प्रवर्तन हुआ। इस प्रकार यहां जैनधर्म का विशेष रूप से प्रसार हुआ। (भगवान महावीर दीक्षा लेने के बहुत काल बाद उनके वस्त्रों का त्याग करने का इस श्रीमाल पुराण के

लेख से यह बात भी पुष्ट हो जाती है कि भगवान महावीर ने निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण करने के बाद वस्त्र (देवदूष्य) रखा था और बाद में उसका त्याग किया था। इस मत से प्राचीन जैनागमों में वर्णित महावीर चरित्र की वास्तविकता प्रमाणित हो जाती है।

(१२) कलिंगाधिपति परमार्हत् चक्रवर्ती खारवेल महामेघवाहन

यह राजा उड़ीसा के चेदी वंश के राजा क्षेमराज का पौत्र तथा वृद्धिराज का पुत्र था। इसका पितामह, पिता तथा स्वयं सब जैनधर्मानुयायी थे। इसका जन्म उड़ीसा में ईसा पूर्व १९७ में हुआ था। इसने १५ वर्ष की आयु तक जैनधर्म के सिद्धांतों का अभ्यास किया तथा राज्यशासन चलाने की कलाओं का विधिवत अभ्यास किया था। पश्चात् इसी अल्पायु में युवराज पद प्राप्त किया। ९ वर्ष तक पिता के साथ राज्य संचालन में हाथ बटाया। पिता की मृत्यु के बाद (ईसा पूर्व १७३) २४ वर्ष की आयु में यह राज्यगद्दी पर बैठा। चेदी वंश का उल्लेख वेदों में भी आता है।

मगध देश के राजा प्रथम नन्द ने ई० पू० ४५७(वीर निर्वाण सं० ७०)में उड़ीसा पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। यहां से वह बहुत धन लूटकर ले गया। साथ में यहां के राजमंदिर से प्रथम तीर्थंकर श्री आदि-जिन (श्री ऋषभदेव प्रभु) की प्रतिमा को भी उठाकर ले गया। इस नन्द की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) में थी। इसने वहां जैनमंदिर का निर्माण कराकर उसमें इस प्रतिमा को स्थापित किया। यह प्रतिमा वहां पर कलिंग-जिन के नाम से प्रसिद्ध हुई। इससे स्पष्ट है कि नन्द-राजा भी जैनधर्मानुयायी था। यदि वह जैन न होता तो कलिंग-जिन[1] को मंदिर में विराजमान न करता। यह घटना भगवान महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष बाद की है। इसी वर्ष श्री पार्श्वनाथ

1. कलिंग-जिन की इस प्रतिमा की घटना से स्पष्ट है कि भगवान महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष बाद इसे पटना में लेजाया गया। यह प्रतिमा इस काल से कितनी प्राचीन होगी इसका कोई पता नहीं है। भगवान महावीर के ६४ वर्ष बाद अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ। ये भगवान महावीर के पांचवें गणधर तथा प्रथम पट्टधर श्री सुधर्मास्वामी के शिष्य और पट्टधर थे। जम्बूस्वामी के निर्वाण के ६ वर्ष बाद यह प्रतिमा पटना में लेजाई गई। ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा प्रभु महावीर के निर्वाण से पहले ही उड़ीसा में विद्यमान थी। भगवान महावीर स्वयं उड़ीसा में पधारे थे। अतः उस समय उड़ीसा में भी जैनधर्म का बहुत प्रभाव था।

नन्द राजा का उड़ीसा से भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा को ले जाना तथा राजा खारवेल द्वारा पुनः वापिस उड़ीसा में ले आना यह एक सत्य प्रामाणिक व ऐतिहासिक घटना है। उड़ीसा की उदयगिरि व खण्डगिरि की गुफाएं तथा इन गुफाओं में आज से बीस शताब्दियों की पूर्व की इस घटना को शिल्प में चित्रित किया गया है। ये गुफाएं ईसा पूर्व पहली, दूसरी सदी की बनी हुई हैं। भगवान महावीर के काल से यह जिनप्रतिमा की मान्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जिनप्रतिमा पूजन के विरोधी जो अपने आपको जैन होने का गौरव मानते हैं। वे लोग एड़ी से चोटी तक दावा करते हैं कि जिनप्रतिमा की मान्यता अर्वाचीन है, प्रतिमा पूजन में हिंसा है, कर्मबन्ध है, जैनागमों में जिनप्रतिमा पूजन का कोई उल्लेख नहीं है इत्यादि। इससे यह मान्यता सर्वथा अनर्गल सिद्ध हो जाती है। जैनागम तथा इतिहास से एवं उपलब्ध पुरातत्त्व सामग्री से जिनप्रतिमा की मान्यता वेदकाल से भी प्राचीन सिद्ध हो जाती है।

(तेईसवें तीर्थंकर) सन्तानीय श्री रत्नप्रभ सूरि ने उपकेशपुर (ओसिया नगरी) में वहां के राजा, मंत्री, राजपुत्रों तथा धनी-मानी सेठ-साहूकारों को जैनधर्मी बनाकर महाजन (ओसवाल) वंश की स्थापना की थी।

शताब्दियों बाद चेदीवंश के खारवेल मेघवाहन ने अपने पूर्वजों के पराजय का बदला लेने के लिए पूर्वजों के इष्टदेव कलिंग-जिन को वापिस लाकर पुनः अपने यहां स्थापन करने के लिए ईसा पूर्व १६५ में मगध पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और बहुत धन-माल के साथ कलिंग-जिन की प्रतिमा को वहां से लाकर एक विशाल मन्दिर में विराजमान किया। यह स्वयं प्रतिदिन इस श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) की प्रतिमा का पूजन करके आत्मकल्याण की साधना करता था। यह मन्दिर राजमन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था।

इसने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में कुमारी पर्वत पर जहां (जैनधर्म) का विजयचक्र प्रवृत्त है वहां "अर्हीन संस्कृति काय निषदी" (जैन गुफा) का निर्माण कराया। जिनपूजा में रक्त खारवेल ने जीव और शरीर की परीक्षा कर ली (जीव और शरीर के भेद को जान लिया)। भारत की चारों दिशाओं में दूर-दूर तक अपने राज्य का विस्तार किया। अपने राज्य के बारहवें वर्ष में महामेघवाहन खारवेल ने उत्तरापथ (उत्तर दिशा में अवस्थित काश्मीर आदि जनपदों) पर आक्रमण करके उनपर विजय पाई।

(१३) परमार्हत् महामेघवाहन खारवेल तथा इसके वंशजों की काश्मीर में राजसत्ता

उड़ीसा की खण्डगिरि उदयगिरि से प्राप्त महामेघवाहन खारवेल के विषय में शिलालेख में इसके राज्यकाल के तेरहवें वर्ष (ई० पू० १६०) तक का वर्णन पाया जाता है। परन्तु इससे आगे के जीवन का कोई विवरण अभी तक प्रकाश में नहीं आया। इसके राज्य के तेरहवें वर्ष के आगे के जीवन काल का परिचय काश्मीर के इतिहास लेखक कवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में किया है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु इसके प्रपौत्र प्रवरसेन तक चार पीढ़ियों का वर्णन भी दिया है। काश्मीर का राजा प्रवरसेन उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का समकालीन था।

(परिशिष्ट अशोक ले० १८६२ के राधाकृष्ण मुकर्जि)

इस राजतरंगिणी में कवि कल्हण ने मेघवाहन का वर्णन इस प्रकार किया है :

१. हम लिख आए हैं कि १-खारवेल महामेघवाहन का उड़ीसा में ई० पू० १९७ में जन्म हुआ और ई० पू० १७३ में वह राजगद्दी पर बैठा, पश्चात् २४ वर्ष राज्य करके परलोक सिधारा। ई० पू० १६१ में इसने उत्तरापथ में काश्मीर आदि पर विजय पाकर वहां भी अपनी राज्यसत्ता स्थापित की। उसकी मृत्यु ई० पू० १४८ में हुई।

२. इसके बाद उसका पुत्र श्रेष्ठसेन राजगद्दी पर बैठा। इसका दूसरा नाम तुंगीन प्रसिद्ध था।

३. इसका पुत्र हिरण्य, दूसरा नाम तोरमाण राजा हुआ। इस चेदी वंश के राजा तोरमाण का विवाह इक्ष्वाकु वंश के राजा वजेन्द्र की पुत्री अंजना से हुआ था (राजतरंगिणी ३:१०५)। यह अंजना अपने पति के साथ कारागार में रही। वहां रहते हुए वह गर्भवती हुई। कारावास से छूटकर उसने एक कुम्हार के घर में एक पुत्र को जन्म दिया। इस बालक का नाम प्रवरसेन रखा (३:१०६)। प्रवरसेन माता को साथ लेकर तीर्थ यात्रा के लिए गया (३:२६५) महामेघवाहन ने काश्मीर तथा

गांधार पर भी राज्य किया था। यह परम अहिंसक था। पशुबलि एवं नरबलि का सख्त विरोधी था। इसने सारे भारत में तथा समुद्र पार के द्वीपों में भी राज्य स्थापित कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। यज्ञों तथा देवी-बलि के प्रतिकार के लिए इसने अनेक बार अपने शरीर तक को भी अर्पण करने की उदारता की थी। साक्षात् जिनदेव के समान इस अहिंसक राजा ने अपने राज्य में जो लोग यज्ञों में अथवा देवी के लिए बलि के लिए पशुओं को हनन करना अपना पैत्रिक धर्म छोड़ने को तैयार नहीं हुए, उनके यज्ञो में घृत-पशु (घी से बनी हुई पशुओं की आकृतियों) और पृष्ट-पशु (दाल की पीठी से बने हुए पशुओं के आकारों) की बलि से काम चलाने के लिए प्रेरित किया। ॥३:७॥ परन्तु इस दयालु राजा ने पशुबलि और नरबलि के पक्षपाति लोगों पर कठोरतापूर्वक राजदंड से काम नहीं लिया। काश्मीर और गांधार में भी इसने अनेक जैनमंदिरों का निर्माण कराया। इसकी मृत्यु ईसा पूर्व १४८ (वि० पू० ९१) में हुई। अतः इसकी आयु लगभग ५० वर्ष की थी। इसके बाद इसके पुत्र श्रेष्ठसेन ने ईसा पूर्व ६१ तक ३० वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् इसके पुत्र तोरमाण तथा उसके पुत्र प्रवरसेन ने काश्मीर और गाधार पर राज्य किया। कल्हण ने प्रवरसेन का समय विक्रम का समकालीन लिखा है। इन दोनों का राज्यकाल लगभग ७० वर्ष रहा होगा। कल्हण ने यह भी लिखा है कि मेघवाहन का पौत्र तोरमाण चेदी वंश का था। इस प्रकार लगभग १७५ वर्षों तक चेदीवंश के खारवेल महामेघवाहन से लेकर उसके प्रपौत्र प्रवरसेन ने चार पीढ़ियों तक जैन राजाओं ने लगातार काश्मीर-गाधार में भी राज्य किया।

इस प्रकार काश्मीर के इतिहासकार कवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में ईस्वी सन् से पूर्व १४४५ वर्ष से सत्यप्रतिज्ञ अशोक महान के राज्यारूढ होने से लेकर विक्रम राजा के काल तक काश्मीर में जैनधर्म संबंधी इतिहास का उल्लेख किया है तथा जैनाचार्य रत्नशेखर सूरि ने अपने श्राद्धविधि प्रकरण में तो प्राग्वैदिक काल में पाचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ से भी पहले यहां पर जैनधर्म का उल्लेख किया है। जिसका उल्लेख हम विमलाद्री-शत्रुंजयावतार के प्रसंग पर कर चुके हैं तथा इसी काल में सेठ भावड़ नामक जैनश्रावक ने १९ लाख स्वर्ण मुद्राएं खर्च करके काश्मीर देश में श्री ऋषभदेव, श्री पुंडरिक गणधर और चक्रेश्वरी देवी की तीन प्रतिमाएं जैनमंदिर का निर्माण कर प्रतिष्ठित कराईं। वहां से उसने शत्रुंजय तीर्थपर जाकर वहां लेप्यमय प्रतिमाओं को बदलकर मम्माणी (रत्न विशेष) की जिनप्रतिमाएं स्थापित कीं। (श्राद्धविधि)

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इसके मध्यकाल में यहां जैनधर्म का अस्तित्व नहीं था अथवा इसके बाद जैनधर्म का यहां अस्तित्व नहीं था। इन कालों में भी यहां पर जैनधर्म का अवश्य प्रसार रहा है। जिसका उल्लेख हम प्रसंगानुसार आगे करेंगे।

भगवान महावीर के बाद मौर्य राजाओं का राज्य भी काश्मीर-गांधार आदि जनपदों में रहा। ये सब सम्राट जैनधर्मानुयायी थे। इनके समय में भी यहां जैनधर्म का खूब प्रभाव रहा। इसका वर्णन हम मौर्य साम्राज्य के विवरण में करेंगे।

(१४) परमार्हत महाराजा कुमारपाल सोलंकी

विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में परमार्हत कुमारपाल सोलंकी जैनधर्मी नरेश था। इसके धर्मगुरु जैनाचार्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि थे। इसकी राजधानी गुजरात प्रदेश में पाटण थी। इसका राज्य विस्तार १८ देशों में था। इनके नाम इस प्रकार हैं : १. गुर्जर (गुजरात), २. लाट ३. सौराष्ट्र, ४. सिंधु-सौवीर, ५. मरुधर (राजस्थान), ६. मेदपाट, ७. मालवा, ८. सपादलक्ष, ९.

अरुखेरी, १०. कच्छ, ११. उच्चानगर (तक्षशिला-गांधार-पुण्ड्र आदि प्रदेश), १२. काश्मीर १३. जालंधर (कांगड़ा आदि त्रिगर्त प्रदेश), १४. काशी, १५. आभीर, १६. महाराष्ट्र, १७. कोंकण, १८. करणाटदेश।

इससे यह स्पष्ट है कि इसका राज्य विस्तार काश्मीर, गांधार, सिन्धु-सौवीर, जालन्धर अर्थात् सारे पंजाब में भी था। पंजाब के बाहर तुर्किस्तान तक भी विस्तृत था। इसकी राज्य सीमा, उत्तर में काश्मीर और तुर्किस्तान, पश्चिम में कुरु, दक्षिण में लंका और पूर्व में मगध तक थी।

कुमारपाल ने श्वे० आचार्य हेमचन्द्र से वि० सं० १२१६ मे सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों को ग्रहण किया और जैनधर्मी श्रावक बना। परमार्हत विरद प्राप्त कर चरित्रवान और एक पत्नीव्रत का पालन करने वाला बना तथा रानी भोपल की मृत्यु के बाद आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। इसने राज्य विस्तार के बाद युद्धों से विराम लिया। राज्य मे पशु हिंसा, पशुबलि, शिकार, मद्यपान, जुआ, वेश्या व्यसन आदि का राज्याज्ञा से निषेध किया। मृत्युदंड बन्द कर दिया। सारे राज्य में अमारी (अ+मारी यानी जीवो को न मारने, अहिंसा पालन) की घोषणा कर दी। ऐसी आज्ञा से इस धंधाधारियो को राज्यकोश से सहायता देकर अन्य अहिंसक धंधो मे लगा दिया। दीन दुखियो को, साधनहीन विधवाओ को निर्वाह की व्यवस्था कर उनके सत्व की रक्षा की। निःसन्तानी के धन का त्याग, यज्ञो में पशु तथा नरबलि के स्थान पर अन्न के हवन का प्रचलन कराया।

(१) कुमारपाल प्रजा का पालन पुत्रवत करता था। अपने राज्य मे एक भी प्राणी को दुखी न रखने का मनोरथ रखता था। प्रजा की अवस्था जानने के लिए गुप्तवेश में नगरों में भ्रमण करता था। तब भ्रमण के समय उसे कोई दुखी दिखाई पड़ता तो उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करता था।

आचार्य हेमचन्द्र द्वाश्रय काव्य के अन्तिम २०वें सर्ग मे महाराजा के चरित्र का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि कुमारपाल एक दिन मार्ग मे एक गरीब मनुष्य को पीडित और जमीन पर घसीटते हुए पाच सात बकरो को ले जाते हुए देखा। वह इन बकरो को कसाई के यहाँ बेचने के लिए ले जा रहा था। महाराजा के पूछने पर उसने कहा कि मैं इन्हे कसाई के वहा बेचकर अपना और बालबच्चों का उदर निर्वाह करूगा। यह सुन कर राजा को लगा कि मेरे अविवेक से ही ये लोग हिंसा में प्रवृत्त होते है। इसलिए मेरे प्रजापति नाम को धिक्कार है। राजभवन में आकर उसने अधिकारियो को सख्त आज्ञा दी कि—१- जो झूठी प्रतिज्ञा करे उसे शिक्षा (दण्ड) दी जावेगी। २ जो परस्त्री—लम्पट होगा उसे विशेष शिक्षा दी जावेगी। ३-जो जीवहिंसा करेगा उसे सबसे अधिक कठोर दंड दिया जावेगा। इस प्रकार के आज्ञापत्र सारे राज्य मे अपने अधिकारियों द्वारा भेजकर सारी प्रजा को सावधान कर दिया। इससे सारे महान राज्य में त्रिकूटाचल (लंका तक अमारी का प्रवर्तन किया।

संघपति बनकर चतुर्विध संघ के साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि अनेक तीर्थों की यात्राएं अनेक बार की। सारे राज्य में १४४० नये जैनमंदिरो का निर्माण कराया और उन पर स्वर्ण कलश चढ़ाये। १६०० पुराने जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार (मुरम्मत) कराया। अपनी राजधानी पाटण में अनेक जैन मंदिर बनवाये जिन में सर्वोपरि त्रिभुवनपाल विहार था। विद्वानों की संगत तथा धर्मचर्चा में बहुत रुचि रखता था। आचार्य हेमचन्द्र के मार्गदर्शन से स्वयं राजकार्य तथा सांस्कृतिक कार्यों का संचालन करता था। आचार्य श्री हेमचन्द्र तथा इनके शिष्य मंडल ने कुमारपाल के सहयोग से प्रभूत साहित्य की

रचना की, ग्रंथलेखन और उनकी प्रतिलिपि करने-कराने की शालायें स्थापित कीं। इक्कीस शास्त्र-भंडारों की स्थापना की। अनेक कवि, चारण, पंडित और विद्वान, साधु, तपस्वी महाराजा कुमारपाल की राजसभा की शोभा बढ़ाते थे। ब्राह्मण विद्वानों, कवियों तथा आधुनिक साहित्यकारों ने भी इस आदर्श एवं सर्वतः सफल चरित्रवान जैनराजा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किसी ने इसे राजर्षि कहा है तो किसी ने अशोक मौर्य से तुलना की है उन्होंने श्रेणिक, संप्रति, महामेघवाहन खारवेल, सत्य प्रतिज्ञ अशोक महान, जैसे महान जैन सम्राटों के समकक्ष इसे स्थान दिया है। इस की समस्त दिन-चर्या ही अतिधार्मिक तथा श्रमणोपासक एवं आदर्श नरेश के उपयुक्त थी। मात्र जैनमंदिर बनवा कर ही संतोष नहीं किया किन्तु स्वयं श्रद्धालु बन कर निरन्तर जिनपूजा भी करता था। मात्र इतना ही नहीं अपितु जैनधर्म की महिमा के प्रसार के लिये अष्टाह्निका (अट्ठाई) महोत्सव आदि भी बड़े उत्साह और ठाठ से करता था। ये महोत्सव प्रतिवर्ष चैत्र और आश्विन मास के शुक्ल पक्ष के अंतिम आठ दिनों तक स्वयं अपनी राजधानी पाटण के मुख्य प्रसिद्ध **कुमारविहार** नामक मंदिर में करता था। चैत्र और आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन सायं रथयात्रा का वरघोड़ा आडम्बर सहित स्वयं राजकर्मचारियों, मंत्रियों, व्यापारियों, प्रजाजनों सहित निकालता था। इसी महाराजा की आज्ञा से इस के आधीन १८ देशों के मांडलिक राजाओं तथा सामन्त राजाओं ने भी अपने-अपने राज्यों में **कुमारविहार** नाम के जैनमंदिरों का निर्माण कराया और उन सब मंदिरों में भी ऐसे महोत्सव हमेशा करवाता था। अपने आधीन सारे राज्यों में जीवहिंसा भी बन्द करवाई। मात्र गुजरात में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में जैनसम्राट सोलंकी कुमारपाल का विशिष्ट स्थान है। धार्मिक सहिष्णुता भी इस में ऐसी थी कि यदि वह जैनतीर्थ शत्रुंजय आदि का संरक्षक था तो हिन्दू तीर्थ सोमनाथ को भी विस्मरण नहीं किया, उसका भी जीर्णोद्धार कराया। यदि अपनी राजधानी अणहिलपुर पाटण मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कुमारविहार जिनालय बनाया तो उस के निकट शम्भु का कुमारपालेश्वर शिवालय का भी निर्माण कराया।

प्रो० मणिलाल नभुभाई द्विवेदी लिखता है कि गुजरात अथवा अणहिलवाड़ की राज्य सीमा बहुत विशाल मालूम पड़ती है। दक्षिण में ठेठ कोल्हापुर का राज्य कुमारपाल की आज्ञा मानता था और भेंट भेजता था। उत्तर मे काश्मीर से भी भेंट आती थी। पूर्व में चेदी देश तथा यमुनापार एवं गंगापार के मगधदेश तक इसकी आज्ञा का पालन होता था। पश्चिम में सौराष्ट्र, सिन्धु तथा पंजाब का भी कितना एक भाग गुजरात के आधीन था।

आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर चरित्र में लिखा है कि कुमारपाल की आज्ञा का पालन उत्तर दिशा में तुर्किस्तान, पूर्व में गंगा नदी, दक्षिण में विन्ध्याचल और पश्चिम में समुद्रपर्यन्त देशों तक होता है।

इससे स्पष्ट है कि परमार्हत् महाराजा कुमारपाल का राज्य काश्मीर पंजाब आदि में भी था और इन जनपदों में जैनमन्दिरों का निर्माण तथा जैनधर्म का प्रचार और प्रसार भी कराया था।

अशोक मौर्य और कुमारपाल सोलंकी की तुलना

कुमारपाल सोलंकी का राज-जीवन कई बातों में सम्राट अशोक मौर्य से मिलता-जलता है। राजगद्दी पर आरूढ़ होने पर जिस प्रकार सम्राट अशोक को अनिच्छा से प्रतिपक्षी राजाओं के साथ लड़ना पड़ा, उसी प्रकार कुमारपाल को भी प्रतिपक्षी राजाओं के साथ लड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा। राज-सिंहासनारोहण के बाद तीन साल तक अशोक का शासन अस्त-व्यस्त रहा, यही हाल कुमारपाल का भी था। जिस प्रकार अशोक ७-८ वर्ष तक शत्रुओं को जीतने में व्यस्त रहा, उसी प्रकार कुमारपाल को भी उतने ही समय तक शत्रुओं के साथ जूझना पड़ा। इस प्रकार आठ-दस

वर्ष के युद्ध के उपरांत जीवन के शेष भाग में जिस प्रकार अशोक ने प्रजा की नैतिक और सामाजिक उन्नति के लिये कई राजाज्ञायें निकालीं तथा राज्य में सुव्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिये प्रयत्न किये उसी प्रकार कुमारपाल ने भी किया। जिस प्रकार अशोक पहले अन्यधर्मी था, फिर वह बौद्ध हो गया था, उसी प्रकार कुमारपाल भी शैव धर्मानुयायी था, फिर जैन हो गया था। अशोक ने जो कुछ बौद्धधर्म के प्रचार केलिये किया कुमारपाल ने भी जैनधर्म के प्रचार व प्रसार केलिये अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओ और उच्चधार्मिक नियमों को स्वीकार कर परमसुगतोपासक की पदवी धारण की थी उसी प्रकार कुमारपाल ने भी जैनधर्म में प्रतिपादित गृहस्थ जीवन को आदर्श बनाने वाले श्रावक के बारह व्रतों को श्रद्धा पूर्वक स्वीकार करके 'परमार्हत' पद पाया था। अशोक के समान ही इस ने भी प्रजा को दुर्व्यसनो से हटाने के लिये कई राजाज्ञाएं निकाली थीं। अशोक के स्तूपों की भांति कुमारपाल ने भी कई जैनविहारों का निर्माण कराया था।

(५) पेथड़शाह—

विक्रम सवत् १३२० के लगभग मांडवगढ़ के जैन श्रावक मंत्री पेथड़कुमार (पृथ्वीधर) ने अपने धर्मगुरु तपागच्छीय जैन श्वेतांबर आचार्य श्री धर्मघोष सूरि के उपदेश से भारतवर्ष के ८४ नगरों में जैनमंदिरों का निर्माण कराया और इन मंदिरों की प्रतिष्ठाएं भी इन्हीं आचार्य से करवाई थी। भारत के विभिन्न जनपदों के जैनतीर्थों के यात्रासंघ भी आचार्य श्री के नेतृत्व में निकाले। इतिहासकार लिखते हैं कि पेथड़शाह जहां-जहां यात्रा करने गया वहां-वहां जैनमंदिरों का निर्माण करता गया। तथा उन मंदिरों की प्रतिष्ठाएं अपने धर्मगुरु आचार्य धर्मघोष द्वारा कराईं। उन मंदिरों में से १-पारकर (सिन्धु जनपद) में कच्छ से उत्तर में, २-जालंधर (त्रिगर्त कांगड़ा जनपद), ३-हस्तिनापुर (कुरुक्षेत्र), ४-देपालपुर (सिन्ध) ५-काश्मीर, ६-वीरपुर (सिन्ध) ७-उच्चनगर, ८-पाशुनगर (पेशावर), ९-जोगिनीपुर (दिल्ली) आदि पंजाब के अनेक नगरों में भी जैन मंदिरों का निर्माण कराया। पेथड़शाह के साथ आचार्य धर्मघोष सूरि भी अपने शिष्यों-प्रशिष्यों के साथ पधारे थे और कई वर्षों तक इस जनपद में जैनधर्म का प्रचार किया था।

(३) कवि कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में अन्य अनेक लोगों के नाम भी दिये हैं जो पशु-बलि, नरबलि, प्राणिवध तथा हिंसा के सख्त विरोधी थे और परम अहिंसक थे। इस से भी ज्ञात होता है कि वे भी जैन धर्मानुयायी थे। उन में से कतिपय के नाम यहाँ दिये जाते हैं।

१—अनंगपाल (७:१४७), २-अनन्तदेव (७:२०१), अमृतप्रभा (२:१४८,३:६) अनन्तीवर्मा (५:३२-३४) आदि ने पशुबलि और हिंसा बन्द करवाई। ५-इन्दुराज यह एक व्यक्ति का नाम है (७:२६३) जिस के पुत्र और पौत्र के नाम क्रमशः ६-बुद्धराज और ७-सिद्धराज हैं। ये नाम भी उन के जैन होने का संकेत करते हैं। ८-उदयराज ने राजा हर्ष के समय में मंदिरों से धातुनिर्मित मूर्तियों और वस्तुओं को निकाल कर सुरक्षित रखने के लिये देवोत्थान नामक निगम बनाया (७:१०९१), इन्द्रचन्द्र जालंधर जनपद (कांगड़ा राजधानी) का जैन राजा था (७:१५०) वह कटोच वंशी त्रिगर्त जिनपद का निवासी था। आदि सब जैनी थे।

(४) इस जनपद में एक उच्चजाति महाजन नाम से है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक सारे भारत में श्वेतांबर जैनों की एक वृहज्जाति ओसवाल नामक भी विद्यमान है। इस जाति को राजस्थान में महाजन कहते हैं। जम्मू काश्मीर जनपदों में जो महाजन लोग विद्यमान

है, ज्ञात होता है कि ये लोग ओसवाल जाति का ही एक अंश होंगे। इस क्षेत्र में जैन साधुओं के विहार के अभाव के कारण ये लोग अपने पुरखाओं के जैनधर्म को भूल गये होंगे और पौराणिक ब्राह्मण पंडितों के प्रभाव में आकर पौराणिक धर्मों के अनुयायी बन गये होंगे।

(५) जब चीनी यात्री हुएनसांग काश्मीर में आया था तब उस समय के इस जनपद का वर्णन करते हुए लिखता है कि जनता की किसी विशेष धर्म की ओर आस्था नहीं है। इस से भी स्पष्ट है कि उस समय काश्मीर में जैन, बौद्ध और पौराणिक आदि सब धर्मों का विस्तार था और उनकी धर्मोपासना के लिये उनके इष्टदेवों के मंदिर तथा स्मारक आदि भी मौजूद थे।

काश्मीर में जैनमंदिरो, जैनतीर्थों की यात्रा करने के लिये भारत के अनेक नगरों से यात्री संघों के आने के उल्लेख भी मिलते है। यथा

(६) विक्रम सवत् ९७२ में रणथंभोर से ओसवाल जाति के संचेती गोत्रीय शाह चन्द्रभान छरी पलाता पैदल यात्रासंघ लेकर भारत के अनेक जैनतीर्थों की यात्रा करने के लिये निकला। इस का वर्णन पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास नामक ग्रंथ में आचार्य श्री देवगुप्त (ज्ञानसुन्दर) सूरि ने इस प्रकार किया है।

"नवसौ ने बाड़ोतरे (९७२) गढ़ चट कोई न आयो गाज।
विषमी वाट संचेती वदिया हाण्यो ने फाव्यो हरराज॥
मारवाड़ मेवाड सिन्धधरा सोरठ सारी।
काश्मीर कागरू (कांगडा), गवाड़ गिरनार गांधारी॥
अलवर-धरा आगरा छोडयो न [कोई] तीर्थ थान।
पूरब-पश्चिम उत्तर दक्षिण पृथ्वी प्रगटयो भान॥
नरलोक कोई पूज्यो नहीं संचेती थारे सारखो।
चन्द्रभान नाम युग-युग अचल पहपलटे धन पारखो॥

अर्थात्—विक्रम संवत् ९७२ में श्वेतांबर जैन श्रावक ओसवाल वंश में संचेती गोत्रीय चन्द्रभान ने रणथंभोर से एक बहुत बड़ा संघ जैनतीर्थों की यात्रा करने लिये निकाला। संघ ने अनेक जैनतीर्थों की यात्रा करते हुए पंजाब में भी सिन्ध, कांगड़ा, काश्मीर, गांधार (तक्षशिला उच्चनगर आदि अनेक जैनतीर्थों की यात्राएं की।

(७) काश्मीर में जैनधर्म और संस्कृति का कितना प्रभाव था उसके लिये हम एक और प्रमाण देते है। यद्यपि हिन्दू परम्परा में गणपति का स्वरूप हाथी के मुखवाले पुरुष विशेष का है और उसे शिव का पुत्र माना जाता है। किन्तु जैनधर्म में गणपति का अर्थ गण+पति यानी गणों का अध्यक्ष-गणधर किया जाता है। हम लिख आये है कि शिव अर्हत् ऋषभदेव का दूसरा नाम है। गणपति शिव का बड़ा पुत्र था, गणधर तीर्थंकर का बड़ा मुख्य शिष्य होता है। तीर्थंकर अथवा साधु उन का शिष्य पुत्र कहा जाता है। जैन श्रमण ब्रह्मचारी होता है अतः उस की इस अवस्था में पत्नी नहीं होती। अर्हत् के शिष्यों को ही उस की संतान कहा जाता है। गणधर तीर्थंकर के मुख्य श्रमण शिष्य होते है तथा केवलज्ञानी होने के बाद वे सारे विश्व के स्वरूप को हस्तामलक वत जानते हैं। कवि कल्हण अपनी राजतरंगिणी में लिखता है कि काश्मीर में गणपति का स्वरूप ऐसा ही माना जाता था और इस की पुष्टि ऋग्वेद आदि से भी होती है।

१—"गणानां त्वा गणपति" (ऋग्वेद २:२३:१)

अर्थात्—गणपति अथवा गणेश शब्द का अर्थ गणों का अध्यक्ष अथवा लोकतंत्र का राष्ट्रपति लगाया जाता है।

"श्लाघ्यः स एव गणवान—राग-द्वेष बहिष्कृतः।
भूतार्थं कथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥"

अर्थात्—वही गणवान (गणपति) श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेष का बहिष्कार करनेवाली तथा वह एक न्यायमूर्ति के समान भूतकालीन घटनाओं को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करता हो।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर में जैनधर्म का मात्र प्रभाव ही नहीं था किन्तु उसकी संस्कृति पर भी जैनधर्म की ही छाप थी। जिसके परिणामस्वरूप वहां पर गणपति आदि शब्दों के अर्थ वही किये जाते थे जो जैनधर्म को मान्य थे।

उपर्युक्त विवरण से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि पांचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ से लेकर ईसा पूर्व १५वीं शताब्दी तथा उसके बाद ईसा की १५वीं शताब्दी तक काश्मीर में जैनधर्म की प्रधानता थी।

काश्मीर में जैनधर्म का ह्रास—

विक्रम की ११वीं शताब्दी में महमूद गजनवी से लेकर विक्रम की १५वीं शताब्दी तक मुसलमान सिकन्दर लोदी जो बुतशिकन (मूर्तिभंजक) के नाम से कुख्यात था; इन पांच शताब्दियों में अनेक मुसलमान बादशाहों ने भारत में अनेक बार आक्रमण किये एवं मुग़ल बादशाह औरंगजेब के समय तक यहां के हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों के मंदिरों-शास्त्रों को ध्वंस किया गया। नष्ट-भ्रष्ट करके आग लगाकर उनका नामोनिशान मिटा दिया। चांदी, सोने, मणियों, मोतियों, जवाहरातों, रत्नों तथा सप्तधातु आदि से निर्मित मूर्तियों[1] एवं अखूट धन-दौलत को लूटकर अपने साथ ले

1. यहां पर प्रसगवश मूर्तिपूजा और उसके लिए ऐसे अनिष्ट आक्रमणों के विषय में कुछ विचारणीय बातों पर थोड़ी उहापोह करने की इच्छा होती है। विचारशील जैनों के लिए इन विचारों पर मनन चिंतन करके समझने की आवश्यकता है।

मूर्तिपूजा की भावनाओं ने भारत में बड़े-बड़े उत्कर्ष तथा अपकर्ष दोनों ही किए हैं। मूर्तिपूजा के निमित्त देश में लाखों मंदिर बने, शिल्पकला का खूब विकास हुआ। मूर्तिपूजा ने लोगों में विस्तृत धर्म भावना उत्पन्न की और उसके निमित्त लोगों को अपनी सम्पत्ति विनिमय करने का अवसर प्राप्त हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप त्याग और उदारता के उच्चगुणों का विकास हुआ। मूर्तिपूजा ने गांव-गांव, नगर-नगर में सार्वजनिक स्थानों की सृष्टि की और उसके योग से सब समान धर्मियों को बिना संकोच और बिना भेदभाव के आमंत्रित किए बिना एक स्थान में सदा एकत्रित होने का एवं उनके द्वारा अपनी विविध जीवन प्रवृत्तियों को व्यवस्थित बनाने का उत्तम तथा सरल साधन मिला। मूर्तिपूजा के कारण भक्तिभाव का अभिष्ट आविर्भाव हुआ और उसके लिये साहित्य तथा संगीत का अनेक अंशों में उच्च विकास हुआ। मूर्तिपूजा ने निराधारों को आधार दिलाकर, अनाथों को सनाथ बनाकर, पापियों को पुण्यात्मा बनाकर मानव जाति को बहुत शांति दी है और विशेषकर जैनों की मूर्तिपूजा से तो तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, तप, विहार, केवलज्ञान, निर्वाण आदि के वास्तविक स्थानों को संरक्षण प्राप्त हुआ है। जो दूसरों को नसीब नहीं है। मूर्तिपूजा ने प्राचीन और नवीन साहित्य की शृंखला को जोड़कर चिरस्थाई रखने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। मूर्तिपूजा ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता,

गये। यहां की प्रजा को तलवार की नोक से, ज़ोर-ज़ुलम से मुसलमान बना लिया गया। जो लोग अपने धर्म पर दृढ़ रहे उन्हें मौत की घाट उतार दिया गया और उनके बच्चों को काबुल में ले जाकर मुसलमानों के मदरसों (पाठशालाओं) में उनके धार्मिक कुरान आदि ग्रंथों का एवं भारतीय संस्कृति को काफ़िरों की संस्कृति बतलाकर उन्हें कट्टर मुसलमान बना लिया गया। आज भी काबुल के मुसलमानों में एक ओसवाल-भावड़ा-पठान नाम की जाति है। वे लोग यह तो नहीं जानते कि उनके पूर्वज कभी जैनधर्मी थे। ओसवाल जाति श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी है। इस जाति को पंजाब में भावड़ा कहते हैं इसमें एक गोत्र पठान भी है। गांधार, काश्मीर, सिंध, पंजाब आदि में जैन लोग भावड़ा नाम से ही प्रख्याति प्राप्त थे। (ओसवालों में पठान गोत्र का उल्लेख खरतरगच्छीय यति श्रीपाल जी ने अपनी जैनसंप्रदाय शिक्षा नामक पुस्तक के पृष्ठ ६५६ में गोत्रों की तालिका में गोत्र नं० ३१६ संख्या में किया है।)

सुलतान सिकन्दर लोदी बुतशिकन (मूर्तिभंजक)

इतिहासकार लिखते हैं कि ईस्वी सन् १३६३ से १४१६ (वि० सं० १४५० से १४७३) के समय में सुलतान सिन्दर लोदी ने जैनों, हिन्दुओं और बौद्धों के जितने भी ग्रंथ मिले सब अग्नि की भेंट कर दिये। बचे-खुचे ग्रंथों को जलसमाधि दे दी गई अथवा किसी भी प्रकार से नष्ट कर दिये

इतिहास तथा मानव के आदर्शों को चित्रित करके अक्षुण्ण रखा है। मूर्तिपूजा में तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन सम्बन्धि अनेक घटनाओं की भक्ति और उनके संरक्षण का समावेश है। स्नात्र, अष्टप्रकारी, सत्तरहभेदी, निनानवे प्रकारी, अलंकार-आंगी पूजाएं भी आगम विहित होने के कारण निर्दोष भक्ति का कारण हैं। इनमें आडम्बर, हिंसा, परिग्रह आदि की गंध तक नहीं है। (देखें इस ग्रंथ के लेखक द्वारा लिखी हुई—जिनप्रतिमा पूजन रहस्य तथा स्थापनाचार्य की अनिवार्यता नामक पुस्तक)। इस प्रकार मूर्ति आलम्बन रूप है, इसके द्वारा उपासक एकाग्रता प्राप्तकर उपास्य को पा सकता है। यह साक्षात् रूप से निमित्त मात्र है। इसे सर्व शक्तिमान ईश्वर मानकर अपने भाग्य को उसी के भरोसे छोड़कर जब मानव अकर्मन्य बनने लगा तब ऐसी अवस्था में मूर्तिपूजा ने जहां उत्कर्ष किया उसके बदले दूसरी तरफ अपकर्ष भी किया है। उदाहरण रूप से—

मूर्तिपूजा के कारण देश को जो बड़े-बड़े देवस्थान प्राप्त हुए उन्होंने कालान्तर में कई लोगों में कलह के बीज बोए और कलह के बड़े-बड़े साधन उपस्थित किये। कई देवमंदिरों के निमित्त हजारों लड़ाई-झगड़े हुए। इन झगड़ों में लाखों-करोड़ों रुपये स्वाहा किये गये और लड़ाइयों में कइयों की जानें भी गई। साधर्मी संघों, भिन्न-भिन्न पथों सम्प्रदायों में जन समूहों में प्राणघातक वैरभाव उत्पन्न हुआ। अज्ञानवश मूर्तिपूजा के बहाने दंभ और अनाचार को पोषण मिला। तथा मूर्तिपूजा के आचरण के पीछे स्वार्थ और अहंकार को बढ़ावा मिला। मूर्ति के काल्पनिक महात्म्य के कारण आलस्य और अकर्मण्यता को उत्तेजन मिला। विदेशियों तथा अन्य सम्प्रदायों को इन मंदिरों की अमूल्य निधि सोना, चांदी, जवाहरातों, मणियों, रत्नों तथा इनसे निर्मित प्रतिमाओं को लूटने के लिए देश पर आक्रमणों तथा उन मन्दिरों, मूर्तियों, स्तूपों, स्मारकों को तोड़ने-फोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने का भी अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रकार मूर्तिपूजा के विषय में उत्कर्ष और अपकर्ष के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

मूर्तिपूजा के विषय में किस समय देश और जातियों पर कैसी-कैसी आपत्तियां आई हैं और आ सकती हैं तथा ऐसे समय में कल्पित मूर्ति सामर्थ्य प्रजा को कैसा सामर्थ्य शून्य बना देता है; इसके उल्लेख इतिहास में बहुत उपलब्ध हैं।

सोमनाथ और महमूद गज़नवी के आक्रमण के विषय में ऐसे विचार इतिहासकारों को उपलब्ध हैं और ये विद्वानों के लिए चर्चा का विषय बन जाते हैं। श्री चिंतामणि वैद्य महाशय अपने 'मध्ययुगीन भारत' मराठी भाषा के ऐतिहासिक ग्रंथ भाग ३ में 'हिन्दुओं की मूर्तिपूजा' नामक स्वतंत्र प्रकरण रूप में

गये। काश्मीर के मुसलमान जैनुलाब्दी ने १५ राजतरंगिणियों का पता लगाया था। जिनमें काश्मीर का इतिहास लिखा गया था। उनमें से आज एक भी उपलब्ध नहीं है और न ही उनके नामों तथा लेखकों का पता मिलता है। ईस्वी सन् १३९९ से १४१६ तक १७ वर्षों का समय काश्मीर के लिए इतिहास का भयंकर काल था। लगभग सभी मंदिर तथा मूर्तियां नष्ट कर दी गई थीं। एवं स्तूप-स्मारक धराशायी कर दिये गये थे। मंदिरों में से अखूट सोना, चांदी, जवाहरात, धन-दौलत लूट ली गई थी (लूट का कुछ विवरण आगे कांगड़ा के इतिहास में देंगे) सारे काश्मीर में ११ ब्राह्मण घरों के अतिरिक्त सभी को मुसलमान बना लिया गया था। इसलिये इस जनपद की कुछ भी प्राचीन इतिहास सामग्री उपलब्ध नहीं है।

परिशिष्ट लिखा है और उसमें जो उद्गार उन्होंने प्रकट किये हैं, वह विषय खास मनन योग्य होने से यहां उद्धृत करते हैं :

वैद्य महोदय लिखते हैं कि, "सोमनाथ संबंधी मूर्तिभंग और लूट के प्रसंग पर से हिंदुओं की मूर्तिपूजा के विषय में सूझ गए कुछ विचार· · हम यहां परिशिष्ट रूप में देते हैं। ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में मूर्तिपूजा के विषय में लोगों मे बहुत ही भोलापन प्रसार पा चुका था। इसलिए मुसलमान आक्रमणकारियों को अपना फायदा करने के लिए साधन मिले थे। महमूद के मूर्तिभंजक आक्रमण हिन्दुओं की भोलेपन से भरी आंखों को खोलने के लिए ही हुए थे, ऐसा कह सकते हैं। पर इन आक्रमणों से निकलने वाले बोध को दुर्भाग्यवश आज तक भी हिन्दुओं ने ग्रहण नही किया ऐसा कहना अनुचित न होगा। मूर्तिपूजा वेदों में कही है या नही ? यह धार्मिक प्रश्न मैं यहां चर्चित करना नही चाहता। वर्तमान में हिन्दूधर्म में मूर्तिपूजा प्रत्यक्ष मान्य है और ईश्वर प्रणिधान की दृष्टि से वह योग्य रूप से मान्य है ऐसा कह सकते हैं। पर मूर्तिपूजा के विषय में अनेक भ्रांत मान्यताएं मनुष्य के मन मे घर कर लेती है। विशेषकर १. **इस मूर्ति में ही इस देवता की शक्ति रही हुई है ऐसी भ्रांत भूलभरी मान्यता घर कर बैठी है** यह मान्यता मात्र हिन्दुओं को ही लागू पड़ती हो ऐसी बात नही है, किन्तु इससे भी प्राचीनकाल से जहां-जहां मूर्तिपूजा चालू थी, वहां-वहां यह बात तो थी ही। बौद्धधर्म ने प्रारंभ में तो ईश्वर का अस्तित्व है अथवा नहीं इस विषय में सर्वथा मौन साधा था। पर बाद में वह मूतिपूजा मानने वाला बना और चारों तरफ बुद्ध की ही मूर्तियां पूजी जाने लगीं। हुएनसांग चाहे कितना ही विद्वान तथा तत्त्वज्ञानी था पर उसकी बुद्ध के शरीरावशेषों में चमत्कारी सामर्थ्य था ऐसी मान्यता जानकर आश्चर्य होता है।· · मूर्ति में रहा हुआ अद्भुत सामर्थ्य ऐसी भ्रांत-अनर्गल कल्पना इतनी अधिक बढ गई थी कि कनौज का प्रतिहार सम्राट मुसलमानो से मुलतान छीन लेने के लिए समर्थवान होता हुआ भी जब-जब वह मुसलमानो को जीतने के लिए आता था तब-तब वहां के मुसलमान अधिकारी **"यदि तुम आगे बढ़ोगे तो यहां की जो सूर्य की प्रसिद्ध मूर्ति है उसे हम तोड़ देंगे।"** ऐसी धमकियां देते और वह पीछे चला जाता। पश्चिम के देशों में रोमन और ग्रीक लोग दूसरे लोगों की अपेक्षा तत्त्वज्ञान में बढ़े-चढ़े थे तथापि उनका भी कई मूर्तियों में अद्भुत विश्वास था। ईसाई धर्म में शुरूआत में निराकार ईश्वर का उपदेश दिया गया था। परन्तु आगे चलकर इसका प्रसार मूर्तिपूजक रोमन और ग्रीक लोगो में जो हुआ वह मूर्ति में कोई चमत्कार अथवा सामर्थ्य नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए हुआ। **"सोमनाथ के पुजारियो की मूर्तिभंजक महमूद गजनवी को नष्ट करने के लिए सोमनाथ की मूर्ति के आगे निरर्थक गिड़-गिड़ाहटपूर्वक की गई प्रार्थना को पढ़कर उनके भोलेपन और अबोधता के लिए कलेजा मुंह को आता है।"** यह पूर्वकाल में छह सौ वर्ष पहले हो गए अलेक्जेंड्रिया की सिरसिप की विख्यात मूर्ति तोड़ दी गई, उस समय की घटना का वर्णन करते हुए गिबन लिखता है कि : **"अलेक्जेंड्रिया शहर सिरसिप की मूर्ति के संरक्षण में सुरक्षित है; वहां के लोगों के मन में यह धारणा दृढ़ हो चुकी थी कि जो कोई इस मूर्ति को हानि पहुंचाएगा तो तत्काल आकाश और**

भयंकर भूकम्प

इस विनाश में प्रकृति ने भी सहयोग देने में कमी नहीं रखी। काश्मीर में ईस्वी सन् १५५२, १६८०, १८२८, १८८५ में भयंकर भूकम्प आये। सन् १८८५ के भूकम्प से एक लाख तीस हजार वर्गमील क्षेत्र प्रभावित हुआ। लगभग ५०० वर्गमील क्षेत्र तो विशेष रूप से क्षतिग्रस्त हुआ था। लगभग तीस हजार मकान, तीस हजार पशु-पक्षी और तीन हजार मनुष्य मारे गये थे। इससे बारहमूला क्षेत्र सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुआ था। वहां एक किला, यात्री निवासस्थान, शहर का लगभग तीन चौथाई भाग नष्ट हो गया था।

औरंगज़ेब

मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब जो इतिहास प्रसिद्ध कट्टर मुसलमान था, उसने यहां के मंदिरों, मूर्तियों, धर्मग्रंथों को नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया गया

हिन्दू आदि सब अमुसलिमों को मुसलमान लोग काफ़िर के नाम से सदा घृणापूर्वक सबोधित करते आये हैं और भारत को काफ़िरिस्तान कहते चले आ रहे हैं। इन लोगों ने सदा काफ़िरों को तलवार की घाट उतारने में स्वाब (पुण्य) माना है।

काश्मीर आदि काफरिस्तान जनपदों पर कालांतर में अफ़ग़ानिस्तान के मुसलमान अमीर अब्दुलरहमान का अधिकार हो गया। यहां के लोगों को बलात्कार से मुसलमान धर्म में प्रवर्तित कर लिया गया। उनके बच्चों को काबुल आदि में लेजा कर इसलाम धर्म की शिक्षा के लिए अपने मदरसों (स्कूलों) में भरती करके कुरान आदि पढ़ाये गये। जिन्होंने इसलाम धर्म स्वीकार नहीं किया उनकी हत्या कर दी गई (बाबू क्रिश्चियन लोस्सन लिपज़िग रा० ६६, १८७४; अस्तर्बुम्स कुणे भाग २ पृष्ठ २८५)।

इस प्रकार काश्मीर में हमारे देवमंदिरों, देवमूर्तियों, धर्मग्रंथों तथा जैनधर्मानुयायियों का सफ़ाया कर दिया गया।

आजकल सारे काश्मीर जनपद में जैनों के बहुत थोड़े परिवार जो अन्य जनपदों से जाकर वहां बस गये हुए हैं विद्यमान हैं।

हमने जम्मू, पूंछ आदि क्षेत्र को काश्मीर जनपद में नहीं लिया, क्योंकि प्राचीन काल में इस

पृथ्वी फटकर प्रलय हो जाएगा।" एकदा एक मजबूछाती वाला सिपाही कुल्हाड़ी लेकर आगे बढ़ा और मूर्ति के गाल पर ऐसे जोर से कुल्हाड़ी मारी कि वह टुकड़े-टुकड़े होकर धराशायी हो गई। न फूटा आकाश और न ही फूटी पृथ्वी। वे तो पूर्ववत् अपने असली रूप में ही विद्यमान रहे। कुछ भी न हुआ।

गिबन ने यह बतलाया है कि मूर्ति के अद्भुत सामर्थ्य पर सत्यासत्यता की मान्यता कितनी है। मूर्ति लकड़ी, पत्थर, धातु आदि की बनाई जाती है उसमें दैवम्यमय अद्भुत सामर्थ्य होना कैसे सम्भव हो सकता है? ऐसा सामर्थ्य तो अपनी भक्ति में ही रहा हुआ है।

मानो इस प्रकार की मूर्तिपूजा के विषय में भोलेपन की मान्यताओं को दूर करने के लिए मुसलमान महमूद ग़ज़नवी आदि लोगों ने मन्दिरों और मूर्तियों को बेहिसाब सोने-चांदी से लादना चोरों, डाकुओं और लुटेरों को निमन्त्रण देना है। इसी चिनौती के लिए आक्रमण किए गए थे।

क्षेत्र की परिगणना "भद्र जनपद" में की जाती थी। अतः इसका हम पव्वइया (पार्वतिक) प्रदेश (जिसमें स्यालकोट, जम्मू, पुंछ, भद्रवाह तथा हिमालय पर्वत की तलहटी के निकटवर्ती लम्बे प्रदेश के अनेक नगरों आदि क्षेत्रों का समावेश है) के विवरण में प्रकाश डालेंगे।

भारत में अंग्रेजों के राज्यकाल में काश्मीर के राजा प्रतापसिंह के दीवान (मंत्री) ओसवाल कुलभूषण दूगड़ गोत्रीय जैनधर्मानुयायी लाला विशनदास जी थे। जिनके वंशज वर्तमान में जम्मूतवी (काश्मीर) में विद्यमान हैं।

तथा इन्हीं के राज्यकाल में लाला हरभगवानदासजी जैनधर्मानुयायी ओसवाल कुलभूषण दूगड़ गोत्रीय गुजरांवाला-पंजाब निवासी राजा प्रतापसिंहजी के तोषाखाना के उच्चाधिकारी थे।

एवं राजा प्रतापसिंह जी के उत्तराधिकारी राजा हरिसिंह के समय में सहारनपुर निवासी श्रीमालकुलभूषण श्री फूलचंदजी मोगा जम्मू-काश्मीर स्टेट में बड़े उच्च पद पर आसीन थे। आपका परिवार सहारनपुर में निवास करता है। सनखतरा (पंजाब) निवासी लाला उदयचन्दजी जैन श्वेतांबर खंडेलवाल ज्ञातीय इसी समय में जम्मू में पुलिस सुपरिटेंडेंट थे। आपका परिवार जम्मू में निवास करता है।

उपर्युक्त चारों महानुभाव श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी थे।

भद्रजनपद में जैनधर्म

इस जनपद की राजधानी कभी साकल (स्यालकोट) और कभी पव्वइया (पार्वतिक—जम्मू के समीपवर्ती चिनाब नदी के तटपर अवस्थित नगर) रहे हैं। इस क्षेत्र में भी प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रसार रहा है। विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी में हो गये अपने पूर्वज आचार्यों सम्बन्धी विक्रम की नवीं शताब्दी की आदि में **कुवलयमाला** नामक ग्रंथ के कर्त्ता श्वेतांबर जैनधर्माचार्य श्री **उद्योतन सूरि** अपनी प्रशस्ति में लिखते हैं कि :

"उत्तरापथ में चन्द्रभागा (चिनाब) नदी जहां बहती है, वह **पव्वइया** (पार्वतिका) पुरी नामक समृद्धिशाली नगरी **तोरमाण** नामक राजा की राजधानी थी। तोरमाण राजा के गुरु **गुप्त-वंशीय हरिगुप्त जैनाचार्य** वहां निवास करते थे। उनके शिष्य **महाकवि देवगुप्त**, उनके शिष्य महत्तर पदधारक **शिवचन्द्र** ने जिनवन्दन (जैन तीर्थों की यात्रा) करते हुए घूमते-फिरते भिन्नमाल (श्रीमाल नगर, राजस्थान) में आकर स्थिरता की। उनके शिष्य **यक्षदत्त गणि** नामक क्षमाश्रमण महात्मा यशःशाली हुए। उनके बहुत शिष्य तप-वीर्य-वचनलब्धि सम्पन्न हुए। जिन्होंने गुर्जर (गुजरात) देश को देवगृहों (जिनमंदिरों) से रम्य बनाया। उनमें से नाग, वृन्द, मम्मट, दुर्ग, आचार्य अग्निशर्मा और बटेश्वर ये छह शिष्य मुख्य थे। बटेश्वर ने **आकाशवप्र** (सिन्ध जनपद में अमरकोट) नामक नगर में एक भव्य जैनमंदिर बनवाया। जिस मंदिर की मुख्य प्रतिमा के दर्शन से क्रोधातुर व्यक्ति भी शांत हो जाता था। उनके अन्तिम शिष्य तत्त्वाचार्य तप-शील आदि की शुद्ध आचरणा के कारण यथार्थ गुण वाले थे और उनके शिष्य दाक्षिण्यचिह्न [उपनामवाले] **उद्योतन सूरि** ने **ह्री देवी के दिये** हुए दर्शन के प्रभाव से विलसित भाव होकर **कुवलयमाला कथा** की रचना की। आचार्य वीरभद्र और हरिभद्र इनके विद्यागुरु थे।

तोरमाण—तोरराय हूणों का प्रबल नेता था जिसने गुप्त साम्राज्य को तोड़ा और मालवा भूमि को भी जीता। तोरमाण की राजधानी पव्वइया (संस्कृत में पार्वतिका अथवा पार्वती) हिमालय

पर्वत में जम्मू नगर के निकटवर्ती थी। इसके पुत्र मिहिरकुल ने वि० सं०५६६ में अपने पिता की मृत्यु के बाद अपनी राजधानी साकल (स्यालकोट-पंजाब) नगर को बनाया था।

कुवलयमाला में उद्योतन सूरि की प्रशस्ति

जैनाचार्य हरिगुप्त सूरि गुप्तवंश के थे। वह गुप्त सम्राट को पदच्युत करनेवाले हूण सम्राट तोरमाण के धर्मगुरु थे।[1] तोरमाण विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ। कुवलयमाला के कर्ता जैन श्वेतांबर आचार्य चन्द्रकुल के उद्योतनसूरि ने अपने इस ग्रंथ में लिखा है कि एक देवगुप्त नाम के आचार्य भी हुए हैं। कुवलयमाला के कर्त्ता ने बतलाया है कि गुप्तवंशीय राजर्षि देवगुप्त त्रिपुरुष चारित्र के कर्त्ता हैं। यह संभवत: उपर्युक्त हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त होंगे। आचार्य श्री हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणि पंजाब से गुजरात गये थे।

पुरातत्त्वज्ञों का मत है कि हूण सम्राट तोरमाण ने कन्धार, सौराष्ट्र या आनर्त, मत्स्य, मध्यदेश को जीतकर ईस्वी सन् ४८४ (वि० सं० ५४१) में एरण जीता। फिर बुंदेलखण्ड और मालवा को भी जीता। यह हूण लगभग ई० स० ५०० में समस्त उत्तर भारत का सम्राट बन गया था। भारत की सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर सीमा, पंजाब से मथुरा पर्यन्त उत्तरप्रदेश और मध्यभारत में ग्वालियर एरण आदि प्रदेशों पर इसका अधिकार था। इसके सिंहासन पर इसका पुत्र मिहिरकुल बैठा। वह बहुत बहादुर था। इसने काश्मीर जीता। ई० स० ५१७ में सिन्ध तथा उसके आस-पास का प्रदेश भी जीत लिया। ई. स. ५४० में इसकी मृत्यु हुई। इसके बाद हूण सत्ता का अन्त हुआ। वीर संवत् ६५० (ई. स. ४२३) के बाद तुरमणी नगरी तोरमाण के हाथ आई थी। तुरमणी का असली नाम पव्वइया नगरी है। तोरमाण ने यहां अपनी राजधानी स्थापित की थी इसलिए पव्वइया नगरी का नाम तुरमणी नगरी पड़ गया होगा। तोरमाण ने यहां प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का जैनमंदिर बनवाकर अपनी जिनभक्ति और जैनधर्मी होने का परिचय दिया था। उद्योतन सूरि ने पव्वइया नगरी को बहुत समृद्धिशाली लिखा है।

पव्वइया नगरी कहां पर थी और उसका वर्तमानकाल में क्या नाम है? उसका इस समय अस्तित्व भी है या नहीं? इसकी खोज करने के लिए विद्वानों ने प्रयास किये हैं। सर कनिंघम पव्वइया को झंग अथवा शोरकोट (पाकिस्तान के) नगरों से तुलना करता है। ये दोनों नगर पंजाब में हैं। (ए. कनिंघम लिखित एन्श्येंट ज्योग्राफ़ी आफ़ इंडिया नवी आवृत्ति पृष्ठ २३३-३४)। वीसेन्ट ए. स्मिथ काश्मीर राज्य का उपनगर जम्मू कहता है। (वार्टस 'यवनचग भाग २ पृष्ठ ३४२), डा० फ़्लीट हरप्पा (मौटगुमरी पजाब-पाकिस्तान के समीप वाले) खण्डहरों को पव्वइया कहता है।

---

1. कनिंघम साहब को सन् १८८४ ईस्वी में अहिछत्रा से एक तांबे का सिक्का मिला था। जिसकी एक तरफ पुष्प सहित कलश है और दूसरी तरफ श्री महाराज हरिगुप्तस्य ऐसा वाक्य लिखा हुआ है। इसका समय विक्रम की छठी शताब्दी ठहरता है। अक्षरों की आकृति पर से और नाम की तुलना से यह सिक्का किसी गुप्तवंशीय राजा का ही होना चाहिए। इस सिक्के की पिछली तरफ की आकृति इस राजा के धार्मिक विश्वास पर प्रकाश डालती है।

याज्ञिक वैदिक धर्मानुयायी राजाओं के सिक्कों पर यज्ञीय अश्व की, विष्णुभक्त के सिक्कों पर लक्ष्मी की, शिवभक्त के सिक्कों पर वृषभ की, बौद्ध राजाओं के सिक्कों पर चैत्य की आकृतियां होती हैं। जैनधर्म के अनुयायियों की धर्म भावना को बतलाने वाली जो आकृतियां अंकित की जाती हैं उनमें से एक पुष्पसहित कलश की भी आकृति है। इसका कारण यह है कि पुष्पसहित कलश जैनों में सुप्रसिद्ध कुंभकलश होने की संभावना है। जैनों ने कुम्भकलश को एक मांगलिक वस्तु मानी है और प्रत्येक मंगल कार्य में शुभचिन्ह मानकर उसका मुख्य रूप से आलेखन करते हैं। अथवा कलश में जल अथवा अक्षत भरकर उसके मुख को नारियल पुष्पादि से ढांक और सजाकर मंगल रूप में स्थापित करते हैं। मथुरा के कंकाली टीले से कुषाणकालीन जैन स्थापत्यों में से इस कुम्भकलश की आकृतियां भी मिली हैं। तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियों में भी अनेक तरह के कुंभकलश के चित्र उपलब्ध होते हैं। (श्री जिनविजय का कुवलयमाला संबंधी लेख)

(जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०७ पृष्ठ ६५०)। चाहे जो हो पर कुवलयमाला के उल्लेख से हम इतना तो जान पाये हैं कि तोरमाण की राजधानी पव्वइया नाम की नगरी थी और वह पंजाब की चन्द्रभागा (चिनाब) नदी के किनारे बसी हुई थी। प्राकृत भाषा का पव्वइया का संस्कृत रूप पार्वतिका होता है। जिससे यह स्पष्ट है कि वह नगर पर्वत पर चिनाब नदी के किनारे पर अवस्थित था। अतः झंग, शोरकोट, हड़प्पा, मौंटगुमरी आदि नगर मैदानी प्रदेश में हैं, पर्वत पर नहीं हैं। कई विद्वानों ने स्यालकोट को पव्वइया कहा है। परन्तु स्यालकोट न तो चिनाब के किनारे पर है और न ही पर्वत पर अवस्थित है। यह नगरी जम्मू के पश्चिम की ओर हिमालय की तलहटी से लगभग २० मील की दूरी पर मैदानी इलाके में ऐक नाले के किनारे पर अवस्थित है। दूसरी बात यह है कि कुवलयमालाकार ने लिखा है कि तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल की राजधानी सालपुर (स्यालकोट) थी और यह भी लिखा है कि मिहिरकुल ने अपनी राजधानी सालपुर में बनाई। इससे भी यह स्पष्ट है कि पव्वइया और सालपुर अलग-अलग हैं, एक नहीं। अर्थात् तोरमाण की राजधानी पव्वइया थी और उसकी मृत्यु के बाद इसके पुत्र मिहिरकुल ने अपनी राजधानी पव्वइया से सालपुर में स्थानान्तर की। जम्मू नगर है तो पर्वत पर किन्तु चिनाब नदी के किनारे पर नहीं है। यह तो रावी नदी के किनारे पर आबाद है। हम लिख आये है कि भद्र जनपद का विस्तार जम्मू, पुंछ, स्यालकोट तथा हिमालय की तलहटी तक के दूर नगरों तक था। जम्मू और पुंछ भी क्रमशः इस जनपद की राजधानियां रही हैं। अतः इसी क्षेत्र में चिनाव नदी के किनारे पर पव्वइया नगरी अवस्थित थी। यानी तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी, जम्मू के निकटवर्ती और चिनाब नदी के तट पर अवस्थित होनी चाहिए।

अहिच्छत्रा नगर के राजा हरिगुप्त ने जैनसाधु की दीक्षा लेकर पार्वतिपुर और स्यालकोट राजधानियों के आधीन इसी क्षेत्र मे अखण्ड ज्ञान ज्योति जलाई थी और घोर तप की साधना भी की थी। सागल (स्यालकोट) का युनानी राजा मिनेंडा भी जैन धर्मानुयायी था। पार्वतिका के लिये हमारे इस मत की पुष्टि पाणिनी के मत से भी होती है वह लिखता है कि—पर्वत का प्रदेश पंजाब देश में तक्षशिला आदि समूह का एक भाग है। (IV २, १४३)[1]

जैनाचार्य आर्य हरिगुप्त सूरि ने हूण सम्राट तोरमाण को पव्वइयांपुरी राजधानी में धर्मोपदेश दे कर जैनधर्मी बनाया था। इस सम्राट की प्रार्थना पर कई वर्षों तक आचार्य श्री अपने शिष्यों प्रशिष्यों सहित यहाँ रहे भी थे। इस नगर में तोरमाण ने श्री ऋषभदेव का जैनमंदिर भी बनवाया था। तथा तोरमाण के आधीन इस सारे जनपद में जैनधर्म का खूब विस्तार भी किया था। ये सब विक्रम की पांचवीं-छटी शताब्दी में हुए हैं।

पश्चात् तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने राजगद्दी पर बैठते ही स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया। इस ने राजगद्दी पर बैठते ही जैनों पर अत्याचार करने शुरू कर दिये। इसलिये जैनों को विवश होकर पव्वइया और भद्र जनपद छोड़ने पड़े। जान-परिवार, माल और धर्म की रक्षा के लिये जैन लोग अपनी मातृभूमि को छोड़कर जैनाचार्य आर्य देवगुप्त के शिष्य आचार्य शिवचन्द्र के साथ लाट (गुजरात) देश की तरफ़ जाने को विवश हो गये और भिन्नमाल में आकर बस गये।

साकलपुर के लिए महाभारत में (सभापर्व अ० ३२, श्लो० १४) 'पुटभेदन' शब्द का प्रयोग हुआ है। पुटभेदन शब्द की व्याख्या करते हुए बृहत्कल्पसूत्र भाष्य स्टीक (खंड २ गाथा १०९३)

---

1. इ. एंटी. भा. १ पृष्ठ २२

में कहा है कि जिस के बाज़ारों में विविध प्रकार की सामग्री बिक्री के लिए आवे और उसकी गांठें खुलें उसे पुटभेदन कहते हैं।

स्यालकोट में पर्वत की चाटियों की तरह सेंकड़ों और हज़ारों ऊँचे भवन थे। हाथी घोड़े रथ और पैदल चलने वाले लोगों से वहाँ चहल-पहल रहती थी। झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष घूमते फिरते थे। यह नगर सभी प्रकार के मनुष्यों से गुलज़ार था। क्षत्रीय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र, गणाचार्य (जैनाचार्य), श्रमण (जैनसाधु), ब्राह्मण (धर्मोपदेशक ब्राह्मण) सभी प्रकार के लोग रहते थे। यहाँ बड़े-बड़े विद्वानों के केन्द्र थे। काशी, कोटूम्बर आदि स्थानों के बने कपड़ों की बड़ी-बड़ी दुकानें थीं। अभिलषित रत्न भरे पड़े थे। सभी प्रकार के फूलों और सुगंधित द्रव्यों की दुकानें थीं। कार्षापन, चांदी, कांसा आदि की वस्तुएँ और कीमती पत्थरों तथा रत्नों, जवाहरातों से परिपूर्ण नगर मानों बहुमूल्य रत्नों का एक चमकता खज़ाना था। सभी प्रकार के धन-धान्यों और उपकरणों के भंडार एवं कोष भरपूर थे। वहाँ अनेक प्रकार के खाद्य, भोज्य और पेय थे। उत्तरकुरु की नांई उपजाऊ और अलकानन्द देवकुरु की नांई शोभायमान वह नगर था। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने भी इस नगरी का वर्णन किया है। कुमारभृत्य की तक्षशिला से मथुरा तक की यात्रा के वर्णन में कहा गया है कि वह तक्षशिला से भद्रंकर, उदुम्बर, रोहितक होता हुआ मथुरा पहुंचा। श्री प्रिजुलस्की ने भद्रंकर की पहचान साकल से की है। साकल नगर जम्मू की पहाड़ियों का उतार समाप्त होते ही सपाट मैदान पर ऐक नामक एक छोटे से नाले के किनारे पर आबाद है। यह नाला रावी नदी में जाकर मिल जाता है। इस नगर का आधुनिक नाम स्यालकोट है। इसका किला सामान्य ऊँची टेकरी पर बना हुआ है। प्राचीन काल में इस नगर में अनेक जैनमंदिर थे। उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यति श्री हंसराज ने विक्रम संवत १७०६ में यहां के एक जैनमंदिर के मूलनायक के स्तवन की रचना की थी। पाकिस्तान बनने से पहले यहाँ ओसवाल श्रावकों के ५०० घर थे। तपागच्छीय आचार्य श्री मद्विजय वल्लभ सूरि ने यहाँ पर विक्रम संवत् २००३ में एक विशाल जैनमंदिर का श्रावकों को उपदेश देकर निर्माण करवाया था और उसमें चार शाश्वत तीर्थंकरो की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी की थी।

शुंगराज पुष्यमित्र को पाटलीपुत्र (पटना) से चक्रवर्ती खारवेल ने मार भगाया था। वह वहाँ से स्यालकोट में चला आया था। उस समय भी यहाँ अनेक जैनमदिर थे। प्राचीन साहित्य में इस नगर का नाम साकला, सागला भी था।

जम्मू

जम्मू की पहाड़ियों का वर्णन सबसे पहले युनानी लेखकों ने किया है। उन्होंने दो प्रदेशों का उल्लेख किया है। १—अभिसार (Abhisar) और २—कथिओई (Kathaui) अभिसार को आज पुंछ कहते हैं। कथिओई को आज कठुआ कहते हैं यह रावी नदी के किनारे पर आबाद था। कठुआ आजकल जम्मू ज़िले में है इस की राजधानी भी साकल (स्यालकोट) थी। स्टरहो ने इसे एक बड़ा गणतंत्र राज्य कहा है। जो दामने कोह (पर्वत की तलहटी) में दूर-दूर तक रावी नदी के किनारे-किनारे फैला हुआ था। चिनाब और जेहलम नदियों के मध्य वर्तमान जम्मू और काश्मीर का भाग भी था। अभिसार, तक्षशिला और पोरस की सेनाएँ भी युनानी सिकन्दर महान के कमान में थीं। त्रिगर्त-शष्टा (Trigartta) यह जम्मू और कांगड़ा के साथ-साथ फैला हुआ था। जम्मू में वर्तमान काल में ओसवाल श्वेतांबर जैनों के लगभग एक सौ परिवार आबाद हैं। यहाँ पर एक महावीर स्वामी का श्वेतांबर जैनमंदिर है तथा अनेक जैन संस्थाएं भी हैं।

३—त्रिगर्त (जालंधर-कांगड़ा) क्षेत्र

त्रिगर्त देश—जो भूमि रावी, व्यास, सतलुज इन तीन नदियों द्वारा सिंचित होती है वह क्षेत्र त्रिगर्त देश के नाम से प्रसिद्ध था। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि ने जालंधर और त्रिगर्त को एक माना है। राजतरंगिणी (काश्मीर इतिहास) के लेखक कवि श्रीधर ने लिखा है कि—Jalandhras Trigartah syuh "Jalandhra ie. Trigartah. जालंधर का दूसरा नाम त्रिगर्त था। जो आजकल अपर दवाब के नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें रावी, व्यास और सतलुज इन तीन नदियों के पानी से सिंचित होने वाले सारे प्रदेश का समावेश हो जाता है।

जालंधर देश—यह एक समृद्धिशाली देश था। इसमें सारे अपरदवाब का क्षेत्र समा जाता था। इस देश की राजधानी जालंधर नगर थी। कोट कांगड़ा अथवा नगरकोट का सुदृढ़ किला मुसीबत के समय इस देश की सुरक्षा के लिए निर्माण किया गया था। इस देश का नाम प्रसिद्ध जालंधर दैत्य के नाम से पड़ा था जो गंगा का पुत्र था। गंगा नदी सब नदियों से पवित्र मानी जाती है। इस दैत्य की कथा विस्तार से पद्मपुराण में आती है।

मैदानी इलाके के प्राचीन जालंधर अथवा त्रिगर्त प्रदेश में जालंधर शहर, पठानकोट का किला, नूरपुर का किला, पहाड़ी इलाके का धर्मेरी का जिला, कांगड़े का किला, बैजनाथ का मंदिर, और ज्वालामुखी का मंदिर नामांकित प्रसिद्ध स्थान हैं। कुछ प्राचीन शिलालेखों वाले पत्थर जालंधर के आस-पास पाये गये हैं। परन्तु अभी तक वे पढ़े नहीं गये। इसलिए यहां का प्राचीन इतिहास आज तक प्रच्छन्न ही रहा है। (सर कनिंघम की आर्किआलोजिकल रिपोर्ट १८७२-७३ वा० ५)। जालंधर शहर में वर्तमान में एक श्वेतांबर जैनमंदिर है जिसका निर्माण विक्रम की बीसवीं शताब्दी में होशियारपुर निवासी लाला नत्थुमल फत्तूमल गद्दिया बीसा ओसवाल (भावड़ा) ने कराया था।

कांगड़ा ज़िला (किला नगरकोट)

कोट कांगड़ा अथवा नगरकोट का प्रसिद्ध किला जिसका मुसलमान इतिहासकारों ने अक्सर वर्णन किया है कि यह किला महाभारत के युद्ध के समाप्त होने के बाद तुरंत कटोचवंशीय राजा सुशर्मचंद्र ने बनाया था। मांझी और बानगंगा के संगम पर आज भी यह किला सुदृढ़ता पूर्वक विद्यमान है जो कि इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करता है। किन्तु वर्तमान में यहां ईसा की नवीं दसवीं शताब्दी से पहले का कोई चिन्ह नहीं पाया जाता।

महमूद गज़नवी से (ईस्वी सन् १००९ से) पहले का इस किले का तिहास उपलब्ध नहीं है। फिर भी महमूद इस किले पर चढ़ाई करके यहां से अखूट धन-दौलत लूटकर अनगिनत ऊँटों पर लादकर गज़नी ले गया। इतिहासकार लिखता है कि इस बेशुमार धन-दौलत को ऊँटों की पीठें उठाने में असमर्थ हो गईं। बड़े-बड़े बर्तन भी उसे पूरा भर लेने में असमर्थ हो गए। लेखकों के पास इस संख्या को लिखने में लेखनी असमर्थ हो गई और गणित के सारे अंक भी इस की संख्या लिखने में असमर्थ रहे। फिर भी जो कुछ थोड़ा बहुत लिखा जा सकता है उसे लिखने का दुसाहस मात्र किया जाता है।

सत्तर हज़ार (७००००) स्वर्ण मुद्राएं काबुल के हिन्दू राजाओं की छापवाली प्रत्येक का तोल लगभग ५० ग्रेन। सोने और चांदी की सिल्लियां सत्तर करोड़ मन जिनके मूल्य का आंकन करना मानव के सामर्थ्य से बाहर है। मात्र सोने और चांदी के सिक्के जो ऊंटों पर लादकर ले गया था उनका मूल्य उस समय १७५०००० पौंड (२६२५०००० रुपये) से अधिक था। संख्यातीत सोने चांदी की मूर्तियां लूट ले गया। [जवाहरातों, रत्नों के भंडार तथा मूर्तियां भी ले गया] मुसलमान इतिहासकार अबुरहीम लिखता है कि काबुल के इंडो सेंथियन राजाओं का साठ पीढ़ियों तक कांगड़ा के किले पर अधिकार रहा। इस आधार से यह कहा जा सकता है कि कांगड़ा किले पर काबुल के राजाओं का महमूद ग़ज़नवी के समय तक राज्य रहा होगा। यह बात तो निश्चित है कि कांगड़ा किले पर काबुल के हिन्दू राजाओं का अधिकार था। काबुल के राजाओं के हज़ारों सिक्के सारे पंजाब में मिलते रहते हैं परन्तु इन राजाओं का एक भी सोने का सिक्का आजतक नहीं मिला। हां इनके चांदी के सिक्के अवश्य मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि नगरकोट का किला उस समय भीम का किला कहलाता था। पर मुसलमान उत्तवी और फरिश्ता इसे भीमनगर कहते हैं।

कांगड़ा पर महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण से पहले इतिहास में इसका नाम कांगड़ा कहीं नहीं पाया जाता। पर काश्मीर के इतिहास (ई० स० ४७०) में इसका नाम त्रिगर्त कई बार पाया जाता है। इससे महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण से ६०० वर्ष पूर्व के इतिहास में इसका नाम त्रिगर्त उपलब्ध है। (सर ए० कनिंघम की आर्किआलोजिकल रिपोर्ट ई० स० १८७२-७३ वा ५)

कांगड़ा ज़िला वर्तमान मे हिमाचल प्रदेश में है। प्राचीन उल्लेखों में कांगड़ा जालंधर जनपद में था ऐसा वर्णन मिलता है। परन्तु अब जालंधर जनपद का अस्तित्व न रहकर उसका कुछ भाग वर्तमान पंजाब प्रदेश मे और कुछ भाग हिमाचल प्रदेश में शामिल कर लिया गया है। हिमाचल हिमालय पर्वत का दूसरा नाम है। खरतरगच्छीय जैन श्वेतांबर आचार्य श्री जिनप्रभ सूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प के चौरासी महातीर्थ कल्प में लिखा है कि—

"हिमाचले छाया—पार्श्वो मंत्राधिराजः श्री स्फुलिंग"

अर्थात्—हिमाचल में छायापार्श्व मंत्राधिराज श्री स्फुलिंग नाम का जैन महातीर्थ है। यह तीर्थ हिमाचल के किस नगर में था इसकी खोज अवश्य होनी चाहिये।

नगरकोट को आजकल कांगड़ा या कोट कांगड़ा कहते हैं। इसका आधुनिक हाल बाबु साधुचरणप्रसाद ने अपने 'भारत भ्रमण' पुस्तक के द्वितीय खण्ड पृ० ४७६ में संक्षेप से इस प्रकार कहा है—

"पंजाब के जालंधर विभाग के कांगड़ा ज़िले में (३२ अंश ५ कला १४ विकला उत्तर अक्षांक; ७६ अंश १७ कला ४६ विकला पूर्व देशांतर में) कांगड़ा कसबा है। जिसे लोग पहले नगरकोट कहते थे।"

यह कसबा एक पहाड़ी के दोनों ढालों पर बसा है, वहाँ से बाणगंगा दीख पड़ती है। दक्षिणी ढाल पर कसबे का पुराना भाग है। उत्तरीय ढाल पर भवन की शहर तली और महामाया देवी का प्रसिद्ध मंदिर है तथा खड़े चट्टान के सिर पर किला है। कांगड़ा में महामाया देवी

का मंदिर अति प्राचीन और बहुत प्रसिद्ध है, जहाँ दूर-दूर के यात्रीगण विशेषकरके नवरात्रों में देवी के दर्शन के लिए आते हैं।

कांगड़ा जिला—इसके पूर्वोत्तर में हिमालय का सिलसिला, जो तिब्बत देश से इसे अलग करता है, दक्षिण पूर्व में बसहर और बिलासपुर, दक्षिण पश्चिम में चक्की नामक छोटी नदी, बाद में गुरदासपुर जिले का पहाड़ी भाग और चंबा की सीमा है। कांगड़ा जिला का क्षेत्रफल ६०६६ वर्गमील है। जिले में मैदानी और पहाड़ी देश दोनों हैं। कांगड़ा जिले में होकर चिनाब (चन्द्र-भागा), रावी और ब्यास (विपाशा) नदियां निकलती हैं। ब्यास कूलु के उत्तर रोहतंग पहाड़ियों से निकलकर लगभग ५० मील दक्षिण-पश्चिम में बहने के बाद मंडी राज्य में प्रवेश करके उसे लांघती हैं। पश्चात् कांगड़ा की सम्पूर्ण घाटियों में बहती हुई पंजाब के मैदान में जाती हैं।

कांगड़ा का पूर्व इतिहास भी इस पुस्तक में संक्षिप्त रूप से इस प्रकार लिखा है—

"कांगड़ा कस्बा—पूर्वकाल में कटौच राज्य की राजधानी था। कटौच राजकुमार ऐतिहासिक काल से लेकर अंग्रेजों के भारत आने के समय तक कांगड़ा की घाटी पर हकूमत करते रहे हैं। सन् ईस्वी १००६ में गज़नी के महमूद ने हिन्दुओं को पेशावर से परास्त करके नगर-कोट का किला ले लिया और वहाँ के मंदिरों में से बहुत सोना, चांदी और रत्नों को लूटकर अपने साथ गज़नी ले गया। परन्तु ३५ वर्ष बाद पहाड़ी लोगों ने दिल्ली के राजा की सहायता से मुसलमानों से किला छीन लिया। ईस्वी सन् १३६० में फ़िरोज़शाह तुगलक ने कांगड़ा पर चढ़ाई की। राजा रूपचन्द्र ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली और अपने राज्य पर पूर्ववत कायम रहा। परन्तु मुसलमानों ने फिर एक बार मंदिरों का धन लूटा। सन् ईस्वी १५५६ को मुग़ल बादशाह अकबर ने कांगड़ा किले को ले लिया। उस समय के राजा धर्मचन्द्र ने अकबर को कर देना स्वीकार कर लिया और अपने राज्य पर कायम रहा। मुग़ल बादशाहों के समय में कांगड़ा की जनसंख्या बहुत अधिक थी। सन् ईस्वी १७७४ में सिख प्रधान जयसिंह ने छल से कांगड़े किले को ले लिया और सन् ईस्वी १७८५ में कांगड़ा के राजा ससारचन्द्र [द्वितीय] को किला वापिस लौटा दिया। ईस्वी सन् १८०५ के पश्चात् तीन वर्ष तक गोरखों की लूट से देश में अराजकता फैली रही, पश्चात् सन् ईस्वी १८०६ में लाहौर के राजा शेरे पंजाब रणजीतसिंह ने गोरखों को परास्त कर संसार चन्द्र [द्वितीय] को पुनः राज्यधिकारी बनाया। सन् ईस्वी १८२४ में संसारचन्द्र की मृत्यु हो गई। पश्चात् उसका पुत्र अनरुद्धचन्द्र राज्य का अधिकारी बना। चार वर्ष पीछे अनरुद्ध उदास होकर अपना राज्य सिंहासन छोड़कर हरिद्वार चला गया। तब रणजीतसिंह ने आक्रमण करके राज्य का एक भाग ले लिया। किले पर अनरुद्ध के पुत्र रणवीर का राज्य रहा। सन् १८२६ में रणजीत सिंह ने किले पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार कांगड़ा में कटौच वंश के राज्य का अन्त हो गया।

सर ए० कनिंघम ने अपनी आर्किआलोजिकल रिपोर्ट सन् १८७२-७३ वा० ५ में कांगड़ा के कटौच जाति के राजपूत राजाओं की राजवंशावली इस प्रकार दी है—

कांगड़ा के कटोचवंशी राजाओं की राजवंशावली तथा समय

क्रम	ई० स०	वि० सं०	राजा का नाम	विवरण
१	१३१५	१३७२	जयसिंह	इस वंशावली में कनिंघम ने राजाओं का समय अंदाजन दिया है।
२	१३३०	१३८७	पृथ्वीचन्द्र	
३	१३४५	१४०२	पूरबचन्द्र	
४	१३६०	१४१७	रूपचन्द्र	१. फिरोजशाह तुगलक की आधीनता स्वीकारी २. किले में आदीश्वर जैनमंदिर का मालिक। ३. महावीर की स्वर्णप्रतिमा तथा चौबीस तीर्थंकरों की जवाहरातों की प्रतिमाओं वाले मंदिर को कांगड़ा किले में निर्माण कराया।
५	१३७५	१४३२	शृंगारचन्द्र	
६	१३९०	१४४७	मेघचन्द्र	
७	१४०५	१४६२	हरिश्चन्द्र प्रथम	ये दोनों भाई थे।
८	१४२०	१४७७	कर्मचन्द्र	
९	१४३५	१४९२	संसारचन्द्र प्रथम (कर्मचन्द्र का पुत्र)	दिल्ली शासक मुहम्मदसैयद का समकालीन
१०	१४५०	१५०७	दीवानचन्द्र (दीवानगा)	
११	१४६५	१५२२	नरेन्द्रचन्द्र	विज्ञप्ति त्रिवेणी से इसका समय वि० १४८४ का है इस समय यहाँ संघ यात्रा करने आया था।
१२	१४८०	१५३७	सुवीरचन्द्र	
१३	१४९५	१५५२	पराजचन्द्र (पराजगा)	
१४	१५१०	१५६७	रामचन्द्र	
१५	१५२८	१५८५	धर्मचन्द्र	(मृत्यु वि० सं० १५८५)
१६	१५६३	१६२०	माणिक्यचन्द्र	ये चारों दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के आधीन थे और उनको कर देते थे।
१७	१५७०	१६२७	जयचन्द्र	
१८	१५८५	१६४२	विरधिचंद्र (विधिचंद्र)	
१९	१६१०	१६६७	त्रिलोकचन्द्र	जहांगीर से राजद्रोह किया।
२०	१६३०	१६८७	हरिश्चन्द्र (द्वितीय)	
२१	१६५०	१७०७	चन्द्रभान	औरंगजेब से राजद्रोह किया।
२२	१६७०	१७२७	विजयराज	मृत्यु १६८७ ईस्वी सन्
२३	१६८७	१७४४	भीमराज	१६९७ ईस्वी तक राज किया।
२४	१६९७	१७५४	आलमचन्द्र	
२५	१७००	१७५७	हमीरचन्द्र	
२६	१७४७	१८०४	अभयचन्द्र	
२७	१७६१	१८१८	घमंडराज	
२८	१७७३	१८३०	तेगराज	इससे सिख सरदार जयसिंह ने सन् ईस्वी १९७८ में किला छीन लिया।
२९	१७७६	१८३३	संसारचन्द्र (द्वितीय)	ईस्वी सन् १७८५ में जयसिंह ने किला लौटा दिया। बाद में गोरखों की लूट-मार से ३ वर्ष तक अराजकता रही।
३०	१८२४	१८८१	अनरुद्धचन्द्र	रणजीतसिंह ने गोरखों को हरा कर अनरुद्ध को राज दे दिया।
३१	१८२९	१८८६	रणवीरसिंह	शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह ने कांगड़ा राज्य पर पूर्ण अधिकार कर लिया।

विज्ञप्ति त्रिवेणी (कांगड़ा तीर्थ के यात्री संघ की यात्रा के वर्णन का पत्र) आदि अनेक विवरणों से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में विद्यमान जैनमंदिरों की यात्रा के लिये भारत के अनेक नगरों से पैदल यात्रा संघ समय-समय पर आते रहे। उनके समय में यहां के राजा और राजवंश जैनधर्म पर आस्था रखते थे। उस समय उन राजाओं के बनाये हुए जैनमंदिर बहुत विख्यात थे। इनके राजमहलों और किले में विद्यमान जैनमंदिर जो रायवसही, सोवनवसही के नाम से विख्यात थे उनमें स्वर्ण और रत्नों की जिनमूर्तियां थीं। जिनको यह राजपरम्परा अपना इष्टदेव मानती थी। यह राजवंश अंबिकादेवी (बाइसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि की शासनदेवी) को अपनी कुलदेवी मानता था। इन राजाओं का वंश कटोचक्षत्रीय था और आदिनाथ (जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव) को अपना इष्टदेव मानता था। इसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।

हम लिख आये हैं कि कांगड़ा जिला पूर्वकाल में जालंधर या त्रिगर्तदेश के अन्तर्गत था। विज्ञप्ति त्रिवेणी में भी ऐसा ही उल्लेख है। नगरकोट का दूसरा नाम सुशर्मपुर भी था (वि० त्रि० पृष्ठ २३ व ४०)। कीरग्राम (पपरोला-बैजनाथ) जो कांगड़ा से २५ मील की दूरी पर ईशानकोण में अवस्थित है वहां के शिव बैजनाथ के प्रसिद्ध मंदिर की प्रशस्ति में भी सुशर्मपुर नाम पाया जाता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि शहर का नाम नगरकोट या सुशर्मपुर था और किले का नाम कङ्गदक दुर्ग था। इसी "कंगदक' का रूपांतर वर्त्तमान में 'कांगड़ा' के नाम में परिणत हो गया है। कांगड़ा का किला पहले बड़ी रौनक पर था। कटोच जाति के राजपूत जो कि असली सोमवंशी क्षत्रीय थे, चिरकाल से इस किले पर अपना अधिकार रखते थे। कहा जाता है कि महाभारत के विराट पर्व के ३०वें अध्याय में दुर्योधन की ओर से विराट नगर पर चढ़ाई ले जाने वाले त्रिगर्त देश के जिस सुशर्म नामक राजा का ज़िक्र है, उसी ने इस नगर को बसाया था और अपने नाम की स्मृति के लिये इसका नाम सुशर्मपुर रखा था।[2] कटोच राजपूत इसी राजा के वंशज हैं। आजकल भी इस जाति के राजपूत विद्यमान हैं। ये लोग आज भी अंबिकादेवी को अपनी कुलदेवी मानते हैं। पर जैनधर्म को भूलकर अन्यमती बन चुके हैं। म्लेच्छों-मुसलमानों के अत्याचारी आक्रमणों के कारण यह नगर अनेक बार ध्वंस हुआ और फिर बसा, परन्तु अंग्रेज़ी राज्य के प्रारंभ बाद यह स्थान सदा के लिये गौरव शून्य हो गया। वर्त्तमान काल में कांगड़े का एक भी व्यक्ति जैनधर्मी नहीं है। ठीक-ठीक हालत में कोई जैनमन्दिर भी नहीं है। वर्त्तमान जैनसमाज में से कुछ वर्ष पहले यह कोई जानता भी नहीं था कि पूर्वकाल में यह स्थान श्वेतांबर जैनों का एक प्रसिद्ध और बड़ा भारी महातीर्थ था। सारे कांगड़ा-कुलु क्षेत्र में जैनों की घनी बस्ती थी।

---

1. देखो—Epigraphia Indica Vol. I, XVI.

2. विज्ञप्ति त्रिवेणी के पृष्ठ ४२ पर नगरकोट की आदिनाथ भगवान की मूर्ति का जो ऐतिहासिक वृतांत कहा है उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है। क्योंकि वहां भी लिखा है कि अरिष्टनेमि तीर्थंकर के समय सुशर्म नाम के राजा ने इस मूर्ति की स्थापना की थी। संभव है कि इस नगर की और इस प्रतिमा की एक साथ ही स्थापनाएं हुई हों। विज्ञप्ति त्रिवेणी के सिवाय भी इस मूर्ति की स्थापना का उल्लेख मिलता है कि अंबिकादेवी द्वारा यह प्रतिमा लायी गयी थी जिसे यहाँ स्थापित किया गया था। इसका विवरण हम आगे करेंगे।

धनाढ्य समृद्धिशाली श्रेष्ठियों का यह निवास स्थान था। जैन साधु-साध्वियों का यह विस्तृत विहार क्षेत्र था। दूर-दूर का जैनसमाज इन तीर्थों की यात्रा करने के लिये यहां आया करता था। कांगड़ा सैकड़ों जैन परिवारों का निवास स्थान था। कांगड़ा रूपचन्द्र जैसे राजा के पूर्वजों के बनाये हुए जिनभवनों से अलंकृत था और नरेन्द्रचन्द्र जैसा राजा विक्रम की १५वीं शताब्दी में जैनधर्म के प्रति निष्ठावान-श्रद्धावान था, तथा उन जैनमंदिरों में जिनप्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन और पूजन किया करता था। न जानें हमारे ऐसे कितने कीर्तिचिन्हों पर अंधकार और विस्मरण के थर पर थर जमे हुए हैं। पट पर पट चढ़े हुए हैं।

इस त्रिवेणी से तथा अन्य चैत्यपरिपाटियों, स्तवनों, स्तुतियों से ज्ञात होता है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्त तक यहाँ कांगड़ा में श्वेतांबर जैनधर्म के अनुयायियों के कई बड़े-बड़े विशाल मंदिर विद्यमान थे। संभव है कि यहाँ बादशाही ज़माने में कोई दिगंबर जैनमंदिर भी बना हो। क्योंकि जनरल ए० कनिंघम के कथनानुसार जाना जाता है कि बादशाही जमाने में यहाँ का दीवान दिगम्बर जैन धर्मानुयायी था।

तथा उपर्युक्त त्रिवेणी, स्तवन, स्तुतियों आदि से यह भी ज्ञात होता है कि कांगड़ा और कुलु प्रदेश में बहुत संख्या में श्वेतांबर जैनमदिर थे और श्वेतांबर जैनों की आबादी भी हजारों परिवारों की थी। परन्तु खेद का विषय है कि उनमें से मात्र कांगड़ा किले में विराजमान श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) की एक प्रतिमा के सिवाय न तो कोई जैनमंदिर सही हालत में है, न ही जिनप्रतिमा और जैनधर्मानुयायी विद्यमान रहा है। कुछ प्राचीन खंडित-अखंडित जैनमूर्तियां आज भी इस पूर्वकालीन वृतांत की सत्यता को प्रमाणित कर रही हैं। सरकारी पुरातत्त्व विभाग की कृपा से हमें हमारे इन अवशिष्ट कीर्तिचिन्हों का थोड़ा बहुत पता लगता है। आज भी इस क्षेत्र में कहीं कही पर जैनमूर्तियां हिन्दू देवी-देवताओं के रूप में पूजी जाती है।

अब इस विषय में जनरल ए० कनिंघम क्या कहता है इसे भी देख लिया जावे।

"ईस्वी सन् १००९ में महमूद ग़ज़नवी के कांगड़ा पर आक्रमण से पहले इतिहास में कांगड़ा का नाम देखने को नहीं मिलता और न ही कोई प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे पहले इसका नाम त्रिगर्त्त का उल्लेख मिलता है। सबसे पहले काश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है कि ई० सन् ४७० में द्रवरसेन (शिव) ने त्रिगर्तल नाम का पत्थर रखा और त्रिगर्तल भूमि को सुरक्षित किया। दूसरा प्रमाण यह मिलता है कि ईस्वी सन् ५२० में द्रवरसेन प्रथम के पौत्र द्रवरसेन द्वितीय ने त्रिगर्तल देश को विजय किया। अंतिम तीसरा प्रमाण यह मिलता है कि ई० सन् ६०० में त्रिगर्तल के राजा पृथ्वीचन्द्र ने शंकरवर्मा के सामने हथियार डाले। इससे यह ज्ञात होता है कि महमूद ग़ज़नवी से पहले छह शताब्दियों तक त्रिगर्तल पर कई अलग-अलग जातियों के राजाओं ने राज्य किया तथा इसके पश्चात् भी कई बार इस पर आक्रमण होते रहे। त्रिगर्तल कभी मुसलमान बादशाहों के हाथ में गया और पुनः-पुनः कटोचवंशी राजाओं के हाथ में आता रहा। इसकी कई बार तोड़-फोड़ हुई और कई बार मुरम्मत तथा निर्माण होते रहे। अत्याचारी

विजेताओं ने इसके धन-माल और मंदिरों को खब लूटा और जो कुछ हाथ लगा अपने साथ ले गये। हम लिख आये हैं कि काबुल के हिन्दू राजाओं ने तो कई पीढ़ियों तक इस पर अपनी सत्ता जमाये रखी। आगे चलकर त्रिगर्तल का नाम अपभ्रष्ट होकर त्रिगर्त हो गया।

कांगड़ा

भारत के प्राचीन जैनतीर्थों में पंजाब (वर्तमान में हिमाचल प्रदेश) में कांगड़ा एक अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण तीर्थ है। जिसकी यात्रा करने के लिए अनेक स्थानों से जैनसंघ आते रहे हैं तथा अनेक जैनसाधु, जैनाचार्य, जैनगृहस्थ तथा जैनपरिवार भी सदा यहाँ यात्रा के लिए आते रहे हैं। इनके द्वारा की गई यात्राओं के लिखित विवरणों में से तथा उनके द्वारा रचित इस क्षेत्र के तीर्थों के स्तवनों, विनतियों, चैत्यपरिपाटियों, स्तुतियों आदि से इस तीर्थ के इतिहास पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

वर्तमान में हिमाचल प्रदेश की पर्वतीय श्रेणियों में कांगड़ा अपने जिले का विशेष रमणीय क्षेत्र है जिसमें नगरकोट-कांगड़ा नामक एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। नगर के दक्षिण की ओर पर्वत की रमणीय चोटी पर एक प्राचीन विशाल किला है। इसके दोनों ओर बाणगंगा और मांझी नाम की दो नदियां बहती हैं। यह नगर किला (गढ़) और इसके समीप या सुदूरवर्ती अनेक ग्राम-नगरों वाला प्रदेश प्राचीन समय में जैनधर्म का केन्द्र था। यहाँ के राजाओं का मुख्य धर्म जैनधर्म होने के कारण उस समय यहाँ का राजधर्म तथा राष्ट्रधर्म, जैनधर्म था।

यह बात जन और जैन अनुश्रुतियों से स्पष्ट है कि जैन तीर्थंकर भगवान श्री नेमिनाथ (२२ वें तीर्थंकर) के समय में कृष्ण के समकालीन महाभारत युग में चंद्रवंशी (सोमवंशी) कटोचकुल के राजा सुशर्मचन्द्र के करकमलों से इस नगर तथा कोट का निर्माण हुआ और उसी समय यहां के किले में सुशर्मचन्द्र राजा द्वारा ही अंबिकादेवी की सहायता से श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) जी के मंदिर का निर्माण होकर इस महातीर्थ की स्थापना हुई (अंबिकादेवी जैनों के बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ की शासनदेवी है)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कटौचवंशी राजाओं का श्री नेमिनाथ के साथ सीधा संबंध है। जिन्होंने इस महातीर्थ की स्थापना की थी। यहाँ एक प्रश्न अवश्य होता है कि यदि अंबिकादेवी और नेमिनाथ के साथ सुशर्मचन्द्र का निकट सम्बन्ध था और वह नेमिनाथ का समकालीन भी था तो उसने नेमिनाथ का मंदिर स्थापित न करके श्री आदिनाथ का मंदिर स्थापित क्यों किया? इसका समाधान विज्ञप्ति त्रिवेणी के सम-कालीन श्रावकों तथा जनश्रुति से हो जाता है, जो इस प्रकार है—

"राजा सुशर्मचन्द्र के मन में शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा करने का विचार हुआ। उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक तीर्थ की यात्रा न कर पाऊंगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा। पर यहाँ से शत्रुंजय तीर्थ बहुत दूर होने से उसकी भावना थोड़े दिनों में पूरी होना संभव नहीं थी। राजा को कई उपवास हो गये। तब अंबिकादेवी ने उसे स्वप्न में दर्शन दिये और कहा कि प्रातः होते ही तुमको युगादिदेव श्री ऋषभदेव के यहीं दर्शन हो जावेंगे, कोई चिन्ता मत करो। तब अंबिकादेवी हिमगिरि से श्री आदिनाथ की कान्तिमय मूर्ति रातोरात कांगड़ा किला में ले आई सुशर्मचन्द्र राजा ने प्रभु श्री युगादिदेव ऋषभदेव का दर्शन करके अपनी कामना को प्राप्त किया और

वहाँ पर विशाल जैनमन्दिर का निर्माण करवा कर श्री युगादिदेव ऋषभदेव की इस प्रतिमा को मूलगंभारे में विराजमान करके स्थिर प्रतिष्ठा कराई। इस मंदिर की बांई ओर एक मंदिर में अंबिकादेवी की प्रतिमा भी विराजमान की। यह भी जनश्रुति है कि यह मंदिर अंबिकादेवी ने अपनी शक्ति से स्वयं निर्माण किया था। इसलिए यह तीर्थ शत्रुंजय के समान ही माना जाता था। इस तीर्थ की यात्रा करने से शत्रुंजय की यात्रा के समान ही लाभ होता है। ऐसी मान्यता थी।"

"बारह नेमीसर तणए. थापिम राय सुसरंमि।
आदिनाह् अंबिका सहिय कंगड़कोट सिहरंमि" ॥३॥

(नगरकोट विनति वि० सं० १४८८)

अर्थात्—श्री नेमिनाथ प्रभु के समय में राजा सुशर्मचन्द्र ने कांगड़ा कोट के शिखर पर श्री आदिनाथ प्रभु को अंबिकादेवी के साथ प्रतिष्ठित किया।

कांगड़ा की पर्वत श्रेणियों का नाम प्राचीन काल में सपादलक्ष, सवालक्ष और शिवालक था। अब इस पर्वत श्रेणियों को भी कांगड़ा पहाड़ के नाम से पुकारा जाता है।

विक्रम की १५ वीं शताब्दी में इस मंदिर के विषय में यह जनश्रुति थी कि राजा रूपचन्द्र को गुरु ने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा का माहात्म्य सुनाया तब उस राजा की भावना शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा करने की हुई। इसने शत्रुंजय तीर्थ की वन्दना करके ही अन्न-जल करने का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) किया। जिनशासनोन्नति के लाभ और भावोल्लास के कारण गुरु ने अंबिकादेवी का ध्यान करके उसे अपने समीप बुलाया। अंबिकादेवी ने गुरु से बुलाने का कारण पूछा। सारी बात को गुरु के मुख से सुनकर देवी ने धवलगिरि से श्री आदिनाथ की प्रतिमा लाकर रातोरात जिन मंदिर का निर्माण करके इस प्रतिमा की स्थिर स्थापना की। स्वप्न में अंबिकादेवी ने राजा रूपचन्द्र को दर्शन दिए और कहा—"उठो! आदीश्वर दादा प्रसन्न हुए हैं, पूजा वन्दना करके पारणा करो। राजा रूपचन्द्र ने प्रातःकाल उठकर आदीश्वर प्रभु की पूजा कर अपना अभिग्रह पूरा किया और पारणा किया। सर्वत्र जय-जयकार हुआ।

(कनकसोम रचित नगरकोट आदीश्वर स्तोत्र वि० सं० १६३४)

लगता है कि सुशर्मचन्द्र के समय का मंदिर ध्वंस कर दिया हो अथवा जीर्णशीर्ण हो गया हो और उसका जीर्णोद्धार राजा रूपचन्द्र ने करवाया हो तथा आगे चलकर अंबिकादेवी द्वारा तीर्थ की स्थापना की जनश्रुति रूपचन्द्र के नाम के साथ जोड़ दी गई हो।

इस किले के विषय में सर ए० कनिंघम अपनी आर्किआलोजिकल रिपोर्ट में लिखता है कि—

From the suburb of Bhawan. The highest point is occupied by the palace below which is a courtyard containing the small stone temple of Lakshmi Narain, Ambika Devi and a Jain temple with a large figure of Adinath The courtyard of the temples is closed by a gate called the Darshni Darwaza or "Gate of worshipping" and the gate leading from it to the palace is called the Mahlon Ka-Darwaza or "Palace Gate."

अर्थात् (अंबिकादेवी के) भवन के बाहरी भाग में किले की सबसे ऊंची चोटी पर राजमहल है और नीचे के आंगन में एक छोटा-सा पत्थर का मंदिर लक्ष्मीनारायण का, एक अंबिकादेवी का और एक जैनमंदिर जिसमें एक आदिनाथ की बड़ी प्रतिमा विराजमान है। मंदिरों वाला आंगन दर्शनी दरवाज़े अथवा पूजा के दरवाज़े से बन्द होता है और जो दरवाज़ा राजमहल का नेतृत्व (सुरक्षा) करता है उसे महलों का दरवाज़ा अथवा राजमहल दरवाज़ा कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि ई० स० १८७२-७३ में किले के अन्दर श्री आदिनाथ का मंदिर तथा अंबिकादेवी के ये दो जैनमंदिर मौजूद थे। किले के आदिनाथ के मंदिर की अधिष्ठात्री अंबिकादेवी के प्रभाव से यह तीर्थ बहुत चमत्कारी हुआ तथा प्राचीनकाल से ही श्री आदिनाथ प्रभु इष्टदेव के रूप में और अंबिकादेवी की कुलदेवी के रूप में कचौट राजवंश में मानता चली आ रही थी। कहा जाता है कि बाद में अंबिकादेवी की मूर्ति को किसी ने यहां से ग़ायब कर दिया।

आज भी श्री आदिनाथ की प्रतिमा जहां विराजमान है। उसकी बग़ल की दिवार के पीछे श्री नेमिनाथ भगवान के शासनदेव तीन मुखवाले गोमेध नामक यक्ष की मूर्ति तथा क्षेत्रपाल मणिभद्र आदि की मूर्तियां लगी हुई विद्यमान हैं।

श्री नेमिनाथ के समय से लेकर कांगड़ा में तथा सारे जालंधर—त्रिगर्त जनपद में अर्थात् सारे कांगड़ा-कुलु और जालंधर क्षेत्र के अनेक नगरों और ग्रामों में समय-समय पर जैनमंदिरों का निर्माण होता रहा। बीच-बीच में अनेक आक्रमणों से इनका ध्वंस भी होता रहा। अनेक जैन मंदिरों को जैनेतरों ने अपने मंदिरों के रूप में परिवर्तित भी कर लिया और मसजिदों में भी बदल लिया। विक्रम की १७ वीं शताब्दी तक इन जैनमंदिरों और जैनतीर्थों की यात्रा करने के लिए जैनसंघ आदि समय-समय पर आते रहे। परन्तु खेद का विषय है कि इसके बाद का इतिहास जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है और न ही जैनों का इस तरफ़ लक्ष्य ही रहा है।

विक्रम की १४ वीं शताब्दी से लेकर १७ वीं शताब्दी तक लगभग चार सौ वर्षों में जो अनेक जैनयात्री और यात्रीसंघ इन तीर्थों की यात्राएं करने आते रहे हैं उनके द्वारा लिखित कतिपय उपलब्ध विज्ञप्तियों, चैत्यपरिपाटियों, स्तवनों, स्तुतियों, विनतियों के आधार से जो कुछ प्रकाश पड़ता है,* उसका संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है।

"उत्तरदिशा में त्रिगर्त नाम का देश है। जिसमें अनेक अच्छे-अच्छे तीर्थ स्थान हैं। उनमें सुशर्मपुर नाम के नगर में श्री आदिनाथ भगवान का जो तीर्थ है वह सबसे अधिक पवित्र, महान और चमत्कारी है। वह धाम अनादि है। इस वर्तमान काल में जबकि सब देशों में म्लेच्छों-मुसलमानों के अत्याचारों से मंदिर और तीर्थ नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं तब यह तीर्थ आज भी अपने गौरव को कायम रखे हुए है। जिसने इस तीर्थ के दर्शन कर लिए फिर उसे औरों के दर्शन करने की ज़रूरत नहीं है। ऐसा यात्री के मुख से सुनकर"—

विक्रम संवत् १४८४ (ईस्वी सन् १४२७) को सिंधदेश के फ़रीदपुर (पाकपटन) नामक नगर (वर्तमान में पाकिस्तान के पंजाब प्रदेश में) से श्वेताम्बर जैन खरतरगच्छीय मुनि जय-

सागरोपाध्याय अपने मुनिमंडल और अनेक श्रावक-श्राविकाओं के साथ इस कांगड़ा क्षेत्र की यात्रा करने के लिये आये थे। यात्रा करके वापिस फ़रीदपुर लौट जाने के बाद उपाध्याय जी ने अपने आचार्य जिनभद्र सूरि को अपनी इस यात्रा के विवरण रूप वि०सं० १४८४ में एक विस्तार पूर्वक पत्र लिखा था। जिसका नाम विज्ञप्ति त्रिवेणी है और जिसे श्री जिनविजय जी ने आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से ई० स० १९१६ (वि० सं० १९७३) में प्रकाशित करवाया। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

"आचार्य जिनभद्र की आज्ञा लेकर १-श्री जयसागरोपाध्याय, २-मेघराजगणि, ३-सत्यरुचि गणि, ४-मतिशील गणि, ५-हेमकुंजर मुनि आदि अनेक शिष्यों प्रशिष्यों के साथ सिंध देश में विचरणे के लिए आये। वि० सं० १४८३ का चौमासा मम्मनवाहन में करके फ़रीदपुर नगर (अजधन-वर्तमान में पाकपटन) में पहुंचे। शुभ मुहूर्त में सा० सोमा के संघ के साथ नगरकोट (कांगड़ा) की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। फ़रीदपुर से थोड़ी ही दूर पर विपाशा (ब्यास) नदी थी। जिसके किनारे-किनारे चलते हुए एक रेती (बालू) के मैदान में संघ ने पहला पड़ाव किया। दूसरे दिन नदी पार कर के जालंधर की ओर संघ चला। रास्ते में आने वाले गाँवों-नगरों को लांघता हुआ संघ **निश्चिन्दी पुर**[1] (घास का मैदान व झीलों) के पास मैदान में एक सरोवर के किनारे आकर ठहरा। संघ यहाँ से प्रस्थान कर क्रम से **तलपाटक**[2] (वर्तमान में तलवाड़ा-देवालपुर) के निकट पहुंचा। यहाँ पर **देपाल पुर** (वर्तमान में देवालपुर) का संघ मुनियों को वन्दन करने के लिए आया। इस संघ ने यात्रासंघ और मुनियों को देपालपुर चलने के लिये बहुत आग्रह किया। पर संघ ने वहाँ जाने के लिये मना कर दिया। संघ ने यहाँ से आगे प्रयाण किया। ब्यास नदी के किनारे होता हुआ क्रम से मध्यदेश में पहुंचा। संघ जगह-जगह ठहरता हुआ इस प्रदेश को पार कर रहा था कि इतने में मुसलमान सिकन्दर बुतशिकन और पोषरेश यशोरथ की सेनाओं में परस्पर आक्रमण के समाचार पाकर संघ अपने बचाव के लिये पीछे लौट गया और व्यास नदी के कु गुद (कंगनपुर) नाम के घाट से होकर नदी को वापिस पार करके (मध्यदेश, जांगल, जालंधर और काश्मीर इन चार देशों की सीमाओं के मध्य रहे हुए) हिरियाणा (हरिकापत्तन—कानुकायक) को निरुपद्रव स्थान जानकर वहाँ पर **कानुक यक्ष के मंदिर के नजदीक** संघ ने डेरे डाल दिये। यहाँ पर सा० सोमा को संघपति की पदवी दी गई तथा अन्य भी कइयो को अलग-अलग पदवियां दी गई, और इस नगर के संघ की भी भक्ति आदि की। संघ को यहाँ पांच दिन ठहरना पड़ा। छठे दिन सवेरे ही संघ ने यहां से कूच कर दिया। सपादलक्ष (कांगड़ा) पर्वत की तग घाटियों को लांघता हुआ संघ फिर विपाशा नदी के तट पर पहुंचा। नदी को सुखपूर्वक पार करके अनेक ग्रामों और बड़े-बड़े नगरों में होता हुआ संघ ने दूर से सोने के कलशों वाले प्रासादों (जैनमंदिरो) की पंक्तिवाले नगरकोट जिसका दूसरा नाम सुशर्मपुर (वर्तमान में कांगड़ा) है, उसे देखा। नगरकोट के नीचे बाणगंगा नदी बहती है उसे पार करके संघ नगर में जाने के लिए तैयारी कर ही रहा था तब संघ का आगमन सुनकर नगरकोट का जैनसमुदाय स्वागत के लिए सामने आया और नाना प्रकार के बाजों तथा जय-जयकार की उच्च ध्वनियों के साथ संघ का नगर प्रवेश कराया। संघ नगर के प्रसिद्ध-

1. निश्चिन्दीपुर। घास का मैदान व झीलो वाला क्षेत्र।
2. हिरियाणा। यहां मध्यप्रदेश, जांगल, जालंधर और काश्मीर की सीमायें मिलती थी।

प्रसिद्ध मुहल्लों और बाजारों में घूमता हुआ—(१) साधु क्षेमसिंह (श्रावक) के पिता साहू बिमलचन्द्र के बनाए हुए श्री शांतिनाथ के मंदिर[1] में पहुंचा। वहाँ खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि द्वारा (प्रह्लादनपुर में बि० सं० १३०९ माघ सुदि १० को) की हुई प्रतिष्ठित प्रतिमा के दर्शन किये। यह मंदिर खरतरवसही के नाम से प्रसिद्ध था।

(२) फिर संघ राजा नरेन्द्रचन्द्र के बनाये हुए जैनमंदिर में गया। इस मंदिर में श्री महावीर स्वामी की स्वर्णमयी प्रतिमा के दर्शन किये। यह मन्दिर रायविहार (राजविहार), सोवनवसही (स्वर्णवस्ति) कहलाता था। जिसका अर्थ होता है राजा द्वारा निर्मित स्वर्णमन्दिर।

(३) फिर रास्ते में संघ ने युगादिदेव (श्री आदिनाथ-ऋषभदेव) के विशाल और सुन्दर मन्दिर के दर्शन किये। यह मन्दिर वि० सं० १३२५ में मांडवगढ़ के पेथड़शाह[2] ने निर्माण कराया था। इसने भारत के भिन्न-भिन्न नगरों मे ८४ जैनमन्दिरों का निर्माण कराकर प्रतिष्ठाएं कराई थी। उन में से एक मन्दिर यह भी था। इस मन्दिर का नाम पेथड़वसही था। जिसका अर्थ होता है पेथड़शाह द्वारा निर्मित मन्दिर।

इस प्रकार नगर के तीन मन्दिरों के दर्शन करके संघ ने इस दिन विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातःकाल नगर के पास पहाड़ी पर कङ्गदक (कागड़ा) नाम का जो किला है, वहाँ के लिये राजमहलों के बीच मे होकर जाना पड़ता था। इस समय यहां के राजा नरेन्द्रचन्द्र ने अपने आत्मीय 'हरंब' नाम के नौकर को किले का मार्ग बतलाने के लिये भेजा। संघ राजभवनों के मध्य में होता हुआ किले के सात दरवाजों को लाँघता हुआ किले के अन्दर पहुंचा।

(४) संघ ने वहाँ पर सुशर्मचन्द्र राजा के बनाये हुए आदियुगीन अतिप्रभावशाली श्री आदिनाथ भगवान के प्राचीन सुन्दर और विशाल मन्दिर के दर्शन किये। प्रभु के सन्मुख वन्दना और स्तवना की। श्रावक-श्राविकाओं ने केसर-चदन, फलों-फूलो आदि अष्टद्रव्यों से द्रव्यपूजा करके बन्दना और स्तवना से भावपूजा भी की और साधुओं ने वन्दना-स्तवना से मात्र भाव पूजा की।

---

1. नगरकोट के साहु क्षेमसिंह खतरगच्छ विधि चैत्य-शातिनाथ के मदिर की प्रतिष्ठा जिनश्वर सूरि ने बि० सं० १३०९ में की। श्रीप्रह्लादनपुरे मार्गशीर्ष सुदी १२ समाधिशेखर, गुणशेखर, देवशेखर साधुभक्त-वीरवल्लभ मुनिनां तथा मुक्तिसुन्दरी साध्वी दीक्षा। तस्मिन्नैव वर्षे माघ सुदी १० श्रीशान्तिनाथ-अजितनाथ-धर्मनाथ-वासुपूज्य-मुनिसुव्रत-सीमधर स्वामी-पद्मनाभ प्रतिमाय' प्रतिष्ठा कारिता च सा. विमलचन्द्र-हीरादि समुदायेन। तथाहि साधु विमलचन्द्रेण श्रीशातिनाथो नगरकोट प्रासादस्थो महाद्रव्य-व्ययेन प्रतिष्ठापित.। (अगरचन्द नाहटा)

2. मांडवगढ (गुजरात) के सेठ पेथड़शाह (पृथ्वीधर) ने तपागच्छीय आचार्य श्री धर्मघोष सूरि के उपदेश से [illegible] संघ निकाले। इसने पजाब के तीर्थों की यात्रायें भी की थी। भारत मे ८४ जैनमन्दिर बनवाये थे, जिनमें हस्तिनापूर, जालधर (कागड़ा), काश्मीर, पेशावर, वीरपुर, उच्चनगर, दिल्ली आदि के भी शामिल हैं। इस धनकुबेर ने अपने जीवनकाल मे अखूट धन खर्च करके जैनधर्म की प्रभावना के बहुत काम किये। इसका पुत्र झांझन नाम का था। इसका विवाह दिल्ली के भीम की पुत्री सौभाग्यदेवी से हुआ था। झांझन भी अपने पिता के समान दृढ़ जैनधर्मी था और जैनधर्म की प्रभावना के लिए बहुत कार्य किये थे। इस प्रकार इस परिवार का पारिवारिक संबन्ध दिल्ली तक था।

इस मन्दिर का नाम गिरिराजवसही[1] था। जिसका अर्थ होता है कि पर्वत पर राजा द्वारा निर्मित जैनमंदिर।

(५) संघ को राजा नरेन्द्रचन्द्र ने अपना निजी देवागार (जैनमन्दिर) दिखलाया जिसमें मणियों, रत्नों तथा स्फटिक आदि की चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां थीं। इस मन्दिर के दर्शन करके संघ बहुत हर्षित हुआ। यह मन्दिर आलिगवस्ती के नाम से प्रसिद्ध था। (इस मन्दिर का निर्माण राजा रूपचन्द्र ने ईसा की १४ वीं शताब्दी में कराया था)

तीसरे दिन संघ ने शहर के तीनों और किले के युगादिदेव[1] के जैनमन्दिरों में बड़े ठाठ-बाट से पूजाएं रचाईं। नगरकोट में संघ १० दिन रहा। पश्चात् संघ ने अपने नगर को वापिस जाने के लिये प्रयाण किया। रास्ते में जो-जो जैनमन्दिर और तीर्थ आये उनकी यात्रा करते हुए आगे बढ़ा।

(६) संघ **गोपाचलपुर** (वर्तमान में गुलेर) तीर्थ में पहुंचा। यहाँ पर सं० घिरिराज के बनाये हुए विशाल और उच्च मन्दिर में विराजमान **श्री शांतिनाथ** भगवान के दर्शन किये। संघ पांच दिन यहाँ ठहरा। यहां से चलकर व्यास नदी के तट पर बसे हुए नन्दनवनपुर में संघ पहुंचा।

(७) **नन्दनवनपुर** (वर्तमान में नन्दपुर) में संघ ने श्री **महावीर भगवान** के सुन्दर मन्दिर के दर्शन किये। यहाँ से चलकर संघ कोटिलग्राम में पहुंचा।

(८) **कोटिलग्राम**[2] में संघ ने श्री **पार्श्वनाथ भगवान** की यात्रा की। यहाँ से संघ कोठीपुर पहुंचा।

(९) **कोठीपुर** (पहाड़ों से घिरा स्थान) में संघ ने श्री **महावीरदेव** के दर्शन किये। यहाँ के संघ के आग्रह से यात्रीसंघ १० दिन ठहरा। यहां पर श्रावकों के परिवारों की बहुत संख्या थी। यहाँ पर साधर्मीवात्सल्य भी हुए। यहाँ के महावीर के मन्दिर की विक्रम की आठवीं शताब्दी में उपकेशगच्छीय आचार्य कक्क सूरि ६ वें ने प्रतिष्ठा कराई थी।

पश्चात् संघ ने यहाँ से प्रयाण किया। कुछ दिनों बाद संघ सप्तरुद्र जो भारी प्रवाहवाला जलाशय है उसके निकट पहुंचा (इस तालाब के नजदीक कालेश्वर महादेव का मन्दिर है)।

वहाँ से संघ नावों में बैठकर ४० कोस लम्बा जलमार्ग पार करके सुखपूर्वक आगे बढ़ता हुआ।

(१०) **देपालपुर पत्तन**[3] में पहुंचा। यहाँ के जैनसमुदाय ने भारी समारोह के साथ संघ का नगरप्रवेश कराया। यहां पर भी कोठीपुर की तरह साधर्मी-वात्सल्य, संघसत्कार आदि प्रेम

---

1. इस यात्रासंघ को यहाँ के बड़े-बूढ़े पुरुषों ने तीर्थ के चमत्कारों तथा महिमा का इस प्रकार वर्णन किया—
"यह महातीर्थ श्री नेमिनाथ के समय में सुशर्मनामक राजा ने अंबिकादेवी की सहायता से निर्माण कराया था। इस मन्दिर में विराजमान जो आदिनाथ भगवान की मूर्ति है वह किसी की घड़ी (बनाई) हुई नहीं है। स्वयंभू अर्थात् अनादि है। इसका बड़ा भारी अतिशय (चमत्कार) है जो आज भी प्रत्यक्ष है। भगवान के चरणों की सेवाकरने वाली जो अंबिकादेवी है, उसके प्रक्षाल का पानी और भगवान के प्रक्षाल का पानी दोनों निकट में रहने पर भी आपस में कभी नहीं मिलते। मंदिर के मूलगंभारे में चाहे कितना स्नान-जल क्यों न हो, वह क्षणभर में सूख जाता है। यद्यपि इसको निकलने का मार्ग नहीं है।
2. वर्तमान में कोटला।
3. वर्तमान में देपालपुर।

और उत्साहपूर्वक हुए। जिनमन्दिरों में विविध प्रकार के महोत्सव और पूजा आदि कार्यों में संघ ने १० दिन व्यतीत किये। पश्चात् संघ यहाँ से फरीदपुर के लिए रवाना हो गया। रास्ते में अनेक नगरों और ग्रामों को लांघता हुआ संघ सकुशल वापिस फरीदपुर पहुंच गया।

इस उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि जालंधर-त्रिगर्त के सारे जनपद में अनेक गांवों और नगरों में जैनमंदिर तथा तीर्थ थे एवं इनको माननेवाले भी बहुत संख्या में जैनपरिवार आबाद थे।

यात्रासंघ ने मात्र उन्हीं मंदिरों और तीर्थों की यात्रा की, जो उसके मार्ग में पड़ते थे। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस क्षेत्र के अन्य नगरों और गांवों में जैनमंदिर नहीं थे। रास्ते में अनेक छोटे बड़े जैनमंदिरों के दर्शन भी अवश्य किये होंगे। इस बात की पुष्टि हम आगे लिखेंगे।

इस यात्रासंघ के कांगड़ा के पांच[1] मदिरों तथा अन्य पांच तीर्थों[2] (पंचतीर्थी) की यात्रा का विवारण दिया है।

जयसागरोपाध्याय ने विक्रम संवत् १४८३ का चौमासा सिंध के मम्मनवाहन नगर में किया। चौमासे बाद संघपति सोमा के पुत्र अभयचंद्र ने मरुकोट (वर्तमान मरोट नगर पाकिस्तान में) महातीर्थ की यात्रा के लिए संघ निकाला। उपाध्याय जयसागर जी भी अपने मुनिमंडल के साथ इस संघ से शामिल थे। संघ यात्रा करके वापिस मम्मनवाहन में आया। इस यात्रा के बाद उपाध्याय जी अपने मुनिमंडल के साथ फरीदपुर गये। वहां से मुबारखपुर गये (वर्तमान में मुबारकपुर) जहाँ जैन श्रावकों के १०० घर थे। सा० शिवराज नामक श्रावक ने अपने पिता हरिशचन्द्र सेठ के साथ मिलकर बड़ा संघवात्सल्य किया और बड़े भारी ठाठ-बाठ के साथ आदि जिन (श्री ऋषभदेव) की प्रतिमा की प्रतिष्ठा जयसागरोपाध्याय से करवाई। उपाध्याय जी मलिकवाहन भी पधारे वहाँ भी श्रावकों ने बड़ी सेवाभक्ति की।[3]

वि० स० १३४५ में उच्चनगर (सीमाप्रांत) से श्री दूगड़ जी की चौदहवीं पीढ़ी के श्री हरिश्चन्द्र ने कांगड़ा की यात्रा की।

अन्य दो चार संघों सहित कांगड़ा की यात्राओं का परिचय दिया जाता है। जिससे अनेक मंदिरों के विषय में भी कुछ प्रकाश पड़ेगा।

(१) नगरकोट चैत्यपरिपाटी वि० सं० १४६७, (२) श्री नगरकोट तीर्थ विनती वि० सं० १४००; (३) नयचन्द्र सूरि कृत विनती वि० सं० १४२२-४०, (४) अभयचन्द्र गणि कृत नगरकोट की विनती वि० १७ वी शताब्दी इत्यादि में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

1. (1) खरतरवसही, (2) पेथड़वसही, (3) रायविहार (सोवनवसही), (4) आलिगवसही, (5) गिरिराजवसही, (6) अंबिकादेवी का मंदिर थे। जिनकी यात्रा संघ ने कांगड़ा में की।
2. (1) गोपीचलपुर, (2) नन्दनवनपुर, (3) कोटिलग्राम (4) कोठीपुर और (5) देपालपुर इस पंचतीर्थी की यात्रा भी संघ ने की।
3. यह विज्ञप्ति त्रिवेणी का सार (संक्षिप्त वर्णन) है।

(१) गोपीचलपुर में शांतिनाथ का मंदिर तथा श्री नेमिनाथ का मंदिर।

(२) कांगड़ा किले में सुशर्मचन्द्र राजा द्वारा निर्मित युगादिदेव श्री ऋषभदेव का मंदिर।

(३) कांगड़ा में राजा का देवागार मंदिर जिस में मणियों, रत्नों, स्फटिक आदि की चौबीस तीर्थंकरों की तथा सीमंधर स्वामी की स्फटिक की प्रतिमाएं थी।

(४) कांगड़ा किला में-रायविहार-सोवनवसही मंदिर में श्री महावीर प्रभु की सोने की प्रतिमा वाला मंदिर जो राजा रूपचन्द्र ने बनाया था।

(५) पेथड़वसही—कांगड़ा शहर में श्री आदिनाथ जैनमंदिर तथा चक्रेश्वरीदेवी मंदिर।

(६) श्रावक कवक द्वारा निर्मित जैनमंदिर जिसका वि० सं० ९१८ में जीर्णोद्धार हुआ था। यह मंदिर भी कांगड़ा नगर में था।

(७) कांगड़ा शहर में खरतरवसही में श्री शांतिनाथ प्रभु का मंदिर।

(८) कांगड़ा शहर में श्रीमाल आरिया का बनाया हुआ पार्श्वनाथ का मंदिर।

(९) वि० सं० १५६० में सदारंग दुगड़ ने जैनमंदिर का निर्माण कराया था।

(१०) अंबिकादेवी का मंदिर कांगड़ा किले में। (तथा दीवाल में श्री नेमिनाथ भगवान के शासनदेव तीन मुखवाले गोमेध नामक यक्ष और मणिभद्र क्षेत्रपाल की मूर्तिया भी हैं)।

(११) कांगड़ा में बावन—जिनालय (बड़गच्छीय यति माल ने उल्लेख किया है)।

(१२) घटियाला के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वि० सं० ९११ में कांगड़ा में जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई थी।

(१३) कांगड़ा मे इन्द्रेश्वर (राजा इन्द्रचन्द्र द्वारा बनाया हुआ) विक्रम की ११ वीं शताब्दी का जैनमंदिर जिसको शिवलिंग स्थापित करके शिवमंदिर के रूप मे परिवर्तित कर लिया गया है।

(१४) नन्दनवनपुर में श्री महावीर प्रभु का तथा श्री शांतिनाथ का मंदिर।

(१५) कोठीपुर नगर में श्री महावीर प्रभु का तथा श्री पार्श्वनाथ का मंदिर।

(१६) इन्द्रापुर में श्री पार्श्वनाथ का मंदिर।

(१७) नन्दपुर में श्री शांतिनाथ का मंदिर।

(१८) सिंहनद में श्री पार्श्वनाथ का मंदिर।

(१९) तलपाटक मे श्री पार्श्वनाथ का मंदिर।

(२०) कोटिलग्राम में श्री पार्श्वनाथ का मंदिर।

(२१) देपालपुर में माडवगढ़ के पेथड़कुमार का बनाया हुआ जैनमंदिर।

(२२) लाहड़कोट मे जिनमंदिर।

(२३) कीरग्राम (वैजनाथ पपरोला—कांगड़ा से लगभग ३५ मील) में महावीर मंदिर।

(२४) किला नूरपुर—किले के अंदर विशाल जैनमंदिर जो आजकल ध्वंस पड़ा है (यह किला पठानकोट से कांगड़ा जानेवाली सड़क पर पठानकोट से ६ मील की दूरी पर है।)

(२५) ढोलबाहा जिनौड़ी—होशियारपुर के निकट यहाँ पर बहुत जैनमंदिर थे। जिनके खंडहर पड़े थे सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ से अनेक तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त की हैं। जो होशियारपुर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान में सुरक्षित की गई हैं। जहाँ से ये मूर्तियाँ निकली हैं उस स्थान का नाम वर्तमान में जिनौड़ी है। जिसका अर्थ होता है जैनमंदिर।

यहाँ पर उन्हीं जैनमंदिरों जैनतीर्थों का उल्लेख किया है जो पाँच सात यात्रा विवरणों से ज्ञात हो सका है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस क्षेत्र में इतने ही जैनमंदिर थे। प्राचीन काल में इस क्षेत्र में जैनमदिरों और जैनतीर्थों का खूब ही विस्तार था। परन्तु यातायात के साधन न होने के बराबर होने से तथा पहाड़ों के मार्ग दुर्गम होने से सब स्थानों पर यात्री लोग पहुँच भी नहीं पाते थे। इसलिए कतिपय स्थानों में ही बहुत थोड़े लोग पहुँच पाते थे।

खेद का विषय है कि इन मंदिरों में से आज एक भी विद्यमान नहीं है। इन मंदिरों का विनाश कब कब और किस-किस आततायी ने किया, इसका पता नहीं। तथा यहाँ के जैन परिवारों का क्या हुआ, वे कहाँ चले गये, समाप्त हो गये अथवा उनका धर्मपरिवर्तित कर लिया गया, इसका भी कुछ पता नहीं।

मालूम होता है कि इन मंदिरों का विनाश विक्रम की १७ वीं १८ वीं शताब्दी में औरंगजेब के राज्यकाल में हुआ होगा इससे पहले नहीं। क्योंकि कनकसोम रचित नगरकोट आदीश्वर स्तोत्र (वि० सं० १६३४) के अनुसार यहां के जैनमंदिर विद्यमान होने चाहियें। वि० सं० १८७४ चैत्र सुदि ७ को श्री ज्ञानसार जी रचित 'जिनप्रतिमा स्थापन' ग्रंथ के अनुसार उस समय से पूर्व ही कांगड़ा की जैनप्रतिमा क्षेत्रपाल के रूप में पूजी जाने लगी थी। यथा—

"जिस उत्तरदिशा में तीर्थ छे······[जैन] प्रतिमा ने क्षेत्रपाल करी पूजे छे ते जैनी ने वांदवा पूजवो नहीं।"

"तथा अष्टभुजा (श्री आदिनाथ भगवान की शासनदेवी चक्रेश्वरी) महिसासुर के नाम से पूजी जाने लगी थी।"

तथापि इन मंदिरों के स्मृति चिन्ह इस क्षेत्र में कुछ-कुछ अब भी विद्यमान है। कुछ प्राचीन जैन मूर्तियां आज भी इस पूर्वकालीन वृतांत की सत्यता को स्पष्ट प्रकट कर रही है। जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे।

(२६) खरतरगच्छीय श्री जिनपति सूरि की आज्ञा से जिनपाल उपाध्याय ने विक्रम संवत् १२७३ बृहद्द्वार में नगरकोटीय राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र की सभा में काश्मीरी पंडित मनोदानन्द के साथ शास्त्रार्थ करके उसे पराजित किया था। राजा पृथ्वीचन्द्र ने उपाध्याय जी को जयपत्र प्रदान किया था।

कांगड़ा ज़िला तथा आस-पास का क्षेत्र

कांगड़ा ज़िला होशियारपुर ज़िले के साथ मिलता है। इस ज़िले में तथा आस-पास के प्रदेश में उपलब्ध जैन पुरातत्त्व सामग्री का यहां संक्षिप्त विवरण देते हैं—

(१) कांगड़ा के किले का प्रांगन

(१) दर्शनी ड्योढ़ी अथवा मंदिर का क्षेत्र (temple area) में एक मंदिर में विद्यमान भूरे लाल वर्णके रेतीले पाषाण की श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) की एक विशाल मूर्ति है। जो राजा संसारचन्द्र प्रथम के समय में वि० संवत् १५२३ में प्रतिष्ठित हुई थी।

(२) एक छोटा-सा मंदिर जिसके द्वार पर पद्मासन में विराजमान २४ तीर्थंकरों के चिन्ह दिखलाई देते हैं।

(३) नं० २ में वर्णित मंदिर के बगल के मंदिर में उसी माप का दूसरा जैनमंदिर है जिसके द्वार की चौखट पर एक जिनप्रतिमा बनी हुई है।

(४) इन दोनों मंदिरों की पीठ की ओर एक पाषाणपट्ट में तीन छोटी-छोटी जिन प्रतिमाएं अंकित हैं।

(५) नं० १ के जैनमंदिर की पीठ की ओर एक विशाल शिलापट्ट पर जैनतीर्थंकर की मूर्ति का बड़ा आकार दिखाई पड़ता है। मालूम होता है कि यह एक विशाल जैनमंदिर था जो अब भंग हो चुका है। उसके ऊपरी भाग से यह शिलापट्ट सम्बन्ध रखता है।

(६) इस बड़े मंदिर के रंगमंडप में खुलनेवाला अंबिकादेवी[1] का मंदिर है जहाँ इस

1. अंबिका (अंबा) देवी जैनो के बाइसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि की शासनदेवी है। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के ताऊ (पिता के बड़े भाई) समुद्रविजय के पुत्र थे जैन अनुश्रुति के अनुसार इनका निर्वाण का समय चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर से ८४००० वर्ष पूर्व है (आज से ८६५०० वर्ष पहले का है)। वर्तमान इतिहासकारो का मत है कि श्री कृष्ण का समय ईसापूर्व ३००० वर्ष है, इस हिसाब से नेमिनाथ का समय भी आज से ५००० वर्ष पूर्व का ठहरता है। जो हो। कांगड़ा किला दो मील के विस्तार मे है जिस पहाड़ की चोटी पर श्री आदिनाथ का मंदिर है किले का यह भाग जैन मान्यता के अनुसार वास्तव मे कटोचवंशीय सुशर्मचन्द्र राजा द्वारा निर्माण कराया हुआ एक बावन—जिनालय (जैनमंदिर) है। इस बात की पुष्टि इस किले मे दर्शनी दरवाजे के नाम से भी होती है। अंबिकादेवी की मदद से इस जैन राजा ने अपने इष्टदेव श्री आदिनाथ की प्रतिमा को मूलनायक रूप मे स्थापन करके चारो तरफ जैनमंदिरो मे अंबिकादेवी तथा अन्य तीर्थंकरो की प्रतिमाओ को प्रतिष्ठित किया। जो बाद मे इस भाग को भी किले के रूप मे काम में लिया जाने लगा होगा। ऐसा संभव है।

अंबिकादेवी का परिचय और प्रभाव—



अंबिका देवी

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस देवी के पांच नाम हैं। अंबा, अंबिका, अंबिणी, कुष्माण्डी, और कोहण्डी।

"अंबिका देवी, कनकवर्णा, सिंहवाहणा, चतुर्भुजा मातुलिंगपाशयुक्त-दक्षिणकरां पुत्राकुशान्वितवामकरा चेति। अर्थात्—(प्रभु नेमिनाथ के तीर्थ मे) अंबिका नाम की देवी तप्त स्वर्णवर्ण वाली, सिंह की सवारी करने वाली, चार भुजाओ वाली, दाहिने दो हाथो मे बिजोरा और पाश (मतांतर से बिजोरा के बदले आम्रलुंब कहा है), और बायें दो हाथो मे अंकुश और पुत्र को धारण करने वाली है। एवं मुकुट, मोतियो का हार कंकण, नूपुर आदि अलंकारों से अलंकृत है।

चरित्र व प्रभाव—सौराष्ट्र जनपदमे कोडीनगर नामक नगर मे सोमदेव नाम का एक वेदवेदांग ज्ञान का पारंगत धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम अंबिणी था। इनके सिद्ध और बुद्ध दो पुत्र थे। एकदा इनके

समय कोई प्रतिमा नहीं है, परन्तु पाषाण निर्मित सिंहासन विद्यमान है जिस पर कभी तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान रही होगी।

(७) मंदिर नं० २ के सामने की दीवाल में सात-आठ देवता-देवियों की प्रतिमाएँ हैं। जिनमें एक प्रतिमा श्री नेमिनाथ के तीनमुखवाले गोमेध नामक शासनदेव की है, एक प्रतिमा जैन क्षेत्रपाल माणिभद्र की भी है।

(८) कांगड़ा शहर में दो जैनमंदिरों के खंडहर हैं। इन्हें यहाँ के लोग लक्ष्मीनारायण का मंदिर मानते हैं।

(६) एक अत्यन्त प्राचीन घिसा हुआ पत्थर जिसे ध्यानपूर्वक देखने से श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्पष्ट प्रतीत होती है। यह प्रतिमा अब भी किले के बाहर पुरातत्त्व विभाग के संग्रहालय में सुरक्षित है।

(१०) कुछ वर्ष पहले दीवान श्री नरेन्द्रनाथ सी० ए० ने इस किले में खुदाई कराई थी। उस समय यहाँ से एक गोल पाषाण मिला था। उस पर प्राचीन लिपि में लेख खुदा हुआ है, उसमें

घर एक जैनसाधु जिनकी मासखमण (एक महीने) की तपस्या थी पारणे के लिए पधारे। अंबिणी ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उन्हें आहार-पानी दिया। सासू स्नान कर रही थी। उसने जब बाहर आकर देखा कि बहु ने जैनसाधु को आहार दिया है तब उसे बहुत डांटा और कहा कि कुलदेवता की पूजा करने से पहले साधु को आहार क्यों दिया है ? सोमदेव भट्ट को भी बहुत भड़काया और बहु अंबिणी को घर से बाहर निकाल दिया। बहु बेचारी दोनो बच्चो को साथ लेकर, छोटे को गोदी में और बड़े को हाथ की अंगुली पकड़ाकर घर से चल पड़ी। बहुत दूर निकल गई, भूखे-प्यासे बच्चे मां से भोजन और पानी मागने लगे। बड़ी तलाश के बाद उसे एक सूखा तालाब दिखाई पड़ा। अंबिका के शील संतोष और साधु भक्ति के प्रभाव से जलाशय स्वच्छ जल से भर गया तथा एक सूखे हुए आम के वृक्ष पर तुरन्त पके हुए हरे-भरे आम्रफल लग गये। आम्रफल खाने तथा पानी पीने से मा-बच्चो ने भूख प्यास मिटाई।

अबिका के घर से निकल जाने के बाद जब उसकी सासु घर के अन्दर गई तो क्या देखती है कि जिन बर्तनो में से मुनि महाराज को आहार दिया था वे सब सोने के हो गये हैं और जो उन पात्रो में आहार बच गया था वे सब कण मोती बन गये हैं।

ऐसा चमत्कार देखकर सासू के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और अपने बेटे सोमदेव को कहा कि जाओ बहु को खोज कर वापिस घर पर ले आओ। उसके शील-सतोष और मुनिभक्ति के प्रभाव से पात्र स्वर्णमय और अन्न के कण मोती बन गये हैं। अबिका सर्वथा निर्दोष है। हम ने उसे निकाल कर बड़ी भारी भूल की है। सोमदेव भट्ट घर से चल पड़ा और अबिका के पदचिन्हो को देखते हुए जगल में उस के निकट पहुचने ही वाला था कि अंबिका उसे देखते ही भयभीत हो गई। उस ने सोचा कि मेरा पति मेरी हत्या करने के लिये चला आ रहा है। जब से घर से निकली थी तभी से वह प्रभु नेमिनाथ के ध्यान में मग्न थी। उसने आव देखा न ताव पति के भय से कूए में बच्चों समेत कूद गयी और मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक के कोहड विमान में अबिका नाम की बहुत ऋद्धिवाली देवी हुई। उत्पन्न होने वाले विमान के नाम से कोहंडीदेवी के नाम से भी प्रसिद्ध हुई। सोमदेव भी पास के कुंए में कूदकर मर गया और उसी विमान से देव रूप में सिंह रुप में अबिकादेवी की सवारी (वाहन) बना। इन्द्र ने अंबिका को नेमिनाथ की शासनदेवी स्थापित किया।

इस की आराधना करने से सम्यग्दृष्टि प्राणियों के मनोरथों की पूर्ण करती है और विघ्न बाधाओं का निवारण करती है तथा अनेक प्रकार की ऋद्धि, समृद्धि, और सिद्धियों को देती है। भूत-प्रेत-पिशाच-राक्षस-, शाकिनी आदि के उपद्रव शांत हो जाते हैं और नये होते भी नहीं हैं। पुत्रकलत्र, मित्र, धन, धान्य, राजलक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है।

'जिन' शब्द पढ़ा जाता है। पुरातत्त्व विभाग ने इस लेख को पढ़ने के लिये देहरादून में भेज दिया था। जिसका विवरण पुरातत्त्व विभाग ने आज तक प्रकाशित किया हो, हमारे देखने में नहीं आया।

२—कांगड़ा नगर के स्मारक

(१) कांगड़ा के बाजार में आजकल जो शिवमंदिर कहलाता है उसके सामने आज भी दो जैनप्रतिमाएँ लगाई गई मौजूद हैं। एक प्रतिमा पर खंडित लेख उत्कीर्ण है जो लगभग एक हजार वर्ष पुराना है।

(२) इसी शिवमंदिर की पीठ के पीछे कुछ खण्डित मूर्तियाँ पड़ी हैं, उनमें एक प्रतिमा जैनतीर्थंकर की भी है। जिसका धड़ तो पद्मासनासीन है परन्तु सिर नहीं है।

(३) श्री श्रुतिकुमार जी के मकान के बाहर एक कुआ है, जिसकी दीवार पर एक पाषाण में जैनप्रतिमा खुदी हुई है।

(४) इसी कुँए के समीप भूमि पर एक पत्थर पड़ा था, उसे उठाकर देखा तो उसके मध्य में एक तीर्थंकर की खंडित प्रतिमा है। इसके दोनों तरफ नृत्य करती हुई देवियाँ अंकित हैं। यह विशाल पाषाण खंड कांगड़ा जैन यात्रासंघ के कांगड़ा के स्टोर में सुरक्षित है।

(५) श्री श्रुतिकुमार जी के मकान के पीछे भी तीन जैनप्रतिमाएँ थी जो अब वहाँ नहीं है।

(६) कांगड़ा के पुराने बाजार की मोड़ पर एक कुँए के समीप एक टूटी-फूटी प्राचीन धर्मशाला है। नगरपालिका के मंत्री महोदय ने बताया कि यह कांगड़ा के राजा के मोदियों (कोठारियों) द्वारा निर्माण कराई गई थी और वह जैन धर्मशाला के नाम से प्रसिद्ध थी।

(७) इन मोदियो का यहाँ पर एक बाग भी था जो आज नही है।

(८) कांगड़ा के बाहर जो टोल-टेक्स (कर) की चुगी है उसके समीप कांगड़ा नगर को आने वाली सड़क के किनारे की पहाड़ी पर तीन गुफ़ाएं थी। कहते है कि ये तीनो गुफाएं जैनों की थीं, जहाँ जैन साधु ध्यान-समाधि के लिए आते रहते थे।

(९) कांगड़ा की पुरानी नगरी के एक मुहल्ले में एक विशाल कुआ है जिसकी मेड़ पर दो गृहस्थ श्रावकों की मूर्तियाँ अंकित हैं, जो गले मे दुपट्टा डाले हुए हैं। यह भावड़या का कुआ कहलाता था। पंजाब में श्वेतांबर जैन ओसवालों को भावड़ा कहते थे।[1]

(१०) प्राचीन कांगड़ा नगर के एक बाजार में जो वर्त्तमान में इस नगर में सबसे प्राचीन मंदिर इन्द्रेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। वह कांगड़ा के राजा इन्द्रचन्द्र का बनवाया हुआ है। यह राजा काश्मीर के राजा अनन्तदेव का समकालीन था। इसलिये यह ई० सं० १०२८ से १०३१ तक विद्यमान था। इस मंदिर के दरवाजे के आगे एक कमान है। मंदिर के मध्य एक सामान्य शिवलिंग स्थापित है। किन्तु कमान के बाहरी भाग में अनगिनत मूर्तियाँ पंक्तिबद्ध स्थापित कर रखी थीं। इनमें से दो मूर्तियाँ जैनों की हैं और बहुत ही प्राचीन है। इनमें से एक मूर्ति बैठी हुई

---

1. उपर्युक्त विवरण श्री शांतिलाल जैन नाहर होशियारपुर वालों के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

पुरुषाकृति की है जिसके दोनों हाथ खोले में रखे हुए हैं। उसके सिंहासन पर बैल की प्राकृति खदी हुई है जो श्री ऋषभदेव का चिन्ह मानी जाती है। नीचे के भाग में आठ पंक्तियों में लेख है जिसके प्रारंभ में 'ॐ संवत् ३० गच्छे राजकुले सूरि' ये शब्द अंकित हैं।

इस प्रतिमा के लेख की नकल

(१) ओम् संवत् ३० गच्छे राजकुले सूरिभू च (द)—
(२) भयचन्द्रः [।] तच्छिष्यो [ऽ] मलचन्द्राख्य [स्त]—
(३) स्यांग (द्रां) भोजषट्पदः [।।] सिद्धराजस्ततः ढङ्ग—
(४) ढङ्गादजनि [च] ष्टकः। रल्हेतिगृ [हण] ी [त—]—
(५) [स्य] पा—धर्म—परायिणी। अजनिष्ठां सुतौ।
(६) [तस्य] ां [जैन] धर्मप (प) रायणौ। ज्येष्ठः कुंडलको
(७) [भ्र] ा [ता] कनिष्ठः कुमाराभिधः। प्रतिमेयं [च]
(८) —जिना···ी···नुज्ञया। कारिता···
·················[।।]

भाषांतर

ओम् संवत् ३०वें वर्ष में—

राजकुल गच्छ में अभयचन्द्र नाम के आचार्य थे जिनके शिष्य अमलचन्द्र हुए। उनके चरण-कमलों में भ्रमर के समान सिद्धराज था। उसका पुत्र ढंग हुआ। ढंग से चष्टक का जन्म हुआ। इसकी स्त्री राल्ही थी···उसके धर्मपरायण ऐसे दो पुत्र हुए। जिनमें से बड़े का नाम कुंडलक था और छोटे का नाम कुमार।···की आज्ञा से यह प्रतिमा बनायी गयी।[1]

इस लेख की लिपि प्राचीन शारदा लिपि है और (कीरग्राम) बैजनाथ की प्रशस्ति से बिलकुल मिलती है। इसलिए इसमें बतलाया गया लौकिक संवत् ३० कदाचित ई. स. ८५४ हो सकता है। गच्छ शब्द पर से जाना जाता है कि अभयचन्द्राचार्य श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी थे।

घटियाला के ई. स. ८६१ के शिलालेख से भी प्रतीत होता है कि मिहिरभोज गुर्जर प्रतिहार वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्व महान नरेश था। इसके पूर्वज कक्कुक द्वारा निर्मापित जिनालय में कुछ संवर्धन (वृद्धि) हुआ था। कांगड़ा में ई. स. ८५४ में किसी जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई थी।[2]

सुप्रसिद्ध जैन तर्क ग्रंथ "सम्मतितर्क" के प्रसिद्ध टीकाकार तर्क पचानन श्रीमद् अभयदेव सूरि राजगच्छ के ही आचार्य थे। क्या यही अभयदेवसूरि इस लेखवाले अभयचन्द्राचार्य न हों? विद्वानों को चाहिए कि इस विषय में विशेष खोज करें।

दूसरी जो प्रतिमा है वह इसी प्रतिमा के पास में रखी थी (विज्ञप्ति त्रिवेणी की प्रस्तावना जिनविजय) और वह बैठी हुई स्त्री की आकृति जैसी थी। इसके भी दोनों हाथ खोले में रखे हुए हैं

---

1. डा० बुल्हर ने एपिग्राफिका इंडिका के प्रथम भाग में संक्षिप्त नोट के साथ यह लेख प्रगट किया है।
2. सन् ईस्वी १३१५ जयसिंह (कांगड़ा के राजा) से पहले के यहां के राजाओं का विवरण प्राप्त नहीं है अतः इस समय यहाँ पर किसका राज्य था कह नहीं सकते।

और गद्दी पर दो हाथवाली स्त्री की आकृति खुदा हुई है, जिसकी दक्षिण दिशा की तरफ़ एक हाथी खड़ा है।

ये दोनों मूर्तियां इन्द्रेश्वर[1] के मंदिर की कमान की दीवालों में बड़ी मजबूती के साथ लगा दी हैं।

(११) कांगड़ा के कालीमंदिर में भी पहले एक लेख था। सर ए. कनिंघहम अपनी रिपोर्ट में लिखता है कि—"मैंने जब इस मंदिर की मुलाकात ली तब यह लेख नहीं मिल सका। यहां पर लोगों से पूछने पर इसके विषय में किसी ने मुझसे कोई हाल ही नहीं कहा। सौभाग्य से इस लेख की दो नकलें मेरे पास हैं जो सन् ईस्वी १८४६ में मैंने अपने हाथ से लिख ली थीं। इसकी मिति है वि. सं. १५६६ और शक संवत् १४३१ जो दोनों ईस्वी सन् १५०९ के बराबर होती है इस लेख के प्रारंभ में—**नमो स्वस्ति जिनाय**। इस प्रकार जिन को नमस्कार किया गया है।[2]

(१२) श्री अभयदेव सूरि नवांगी टीकाकार के समकालीन आचार्य गुणचन्द्र सूरि जो वज्री शाखा के चन्द्रगच्छ के आचार्य श्री अभयदेव सूरि के शिष्य थे और विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हो गये हैं। उन्होंने जालंधर कांगड़ा प्रदेश में विचरण कर अनेक वादियों को जीता था और जैनधर्म का प्रचार-प्रसार भी किया था जिसका वर्णन इस प्रकार है—

"श्रीमान् श्रीवज्रमूलः प्रबलतर महोत्तुगशाखा शताढ्या सतेजः।
साधु-संघाविपबलपटलोघौर कीर्ति प्रसूनः॥
शश्वद्वांछातिरक्तं फल निवयमलं पुण्यभाजां।
प्रयच्छतु गच्छे स चन्द्रगच्छेरख्ये जगति विजयते कल्पवृक्षः॥१॥
तस्मिन्प्रभुः श्री गणचन्द्रनामः सूरीश्वरः संयमिनां धुरिणः।
बभूव जालंधरपत्तनेपि यो वादिवृंदं निखिलं जिगाया॥२॥

३—ज्वालामुखी में जैनप्रतिमा—

अन्य सभी स्थानो में पाषाण निर्मित प्रतिमाएं मिलती हैं परन्तु ज्वालामुखी मदिर से दो-ढाई मील की दूरी पर नागार्जुन (प्रसिद्ध जैनाचार्य पादलिप्त सूरि के शिष्य के नाम से) नामक प्रसिद्ध स्थान है। वहां पर कुछ वर्ष पहले धातु की दो जैन प्रतिमाएं विद्यमान थीं। इनमें से एक छोटी सी तीर्थंकर की प्रतिमा थी और एक तांबे का गोलाकार यंत्र था। जिस पर २४ तीर्थंकरों के नाम खुदे हुए थे। परन्तु वे दोनो प्रतिमाएं आज वहां नही है। ज्वालामुखी मदिर के पास कई खण्डहर हैं जिनमें से जैनमूर्तियों के प्राप्त होने के समाचार मिलते रहते हैं। ज्ञात होता है कि ये जैनमंदिरों के खण्डहर होंगे।

इसकी पुष्टि जयसागरोपाध्याय द्वारा रचित नगरकोट की चैत्यपरिपाटी से भी होती है उन्होंने लिखा है कि—

1. यह राजा इन्द्रचन्द्र का निर्माण कराया हुआ जैनमंदिर था। संभवतः जैनों के यहां न रहने पर यहां के हिन्दुओ ने इसमें से जैनमूर्तियो को हटाकर शिवलिंग स्थापित करके शिवमंदिर में बदल लिया होगा।

2. Archaeological Survey of India Report 1972-73 vol II. Sir A. Cunnigham.

इय नगरकोट पमुक्ख ठाणिहिं चेय जिण मइ वंदिया ।
ते वीर-लउंकड देवी-जालमुखिय मन्नइ वंदिया ॥१७॥

अर्थात्—ये नगरकोट प्रमुख स्थानों में मैंने जो जिनेश्वर भगवन्तों को वन्दन किया है। वहां वीर लौंकड़िया तथा देवी ज्वालामुखी की मान्यता भी अनुभव की है।

४—कीरग्राम (बैजनाथ पपरोला) में श्री महावीर का जैनमंदिर—

कांगड़ा जिला में बैजनाथ पपरौला जिसे प्राचीन समय में कीरग्राम कहते थे उसमें एक प्रसिद्ध विशाल शिवमंदिर है उसमें अब भी दो छोटे मंदिरों में जैनप्रतिमाएं विद्यमान हैं। एक मूर्ति तो वेदी के नीचे के भाग में लगी हुई है। यहां पाषाण की एक चौमुख जैनप्रतिमा भी थी जो अब यहां नहीं है। बड़े मंदिर के बाहरी भाग में खड़े एक खम्भे पर छोटे से जिनबिम्ब का आकार अंकित है।

यह प्राचीन मंदिर शिव वैद्यनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। आज कल हिन्दुओं का यह मुख्यधाम है। यह मंदिर महावीर प्रभु का जैनमंदिर था। यहां भगवान महावीर की एक जैनप्रतिमा के सिंहासन पर एक लेख खुदा हुआ है। यह लेख एपिग्राफ़िया इंडिका के भाग १ पृष्ठ ११८ डा० जी बुल्हर ने संक्षिप्त विवेचन के साथ प्रकाशित किया है। उसका उपयोगी भाग यहां दिया जाता है।

१—ओम् संवत् १२९६ वर्षे फाल्गुण वदि ५ रवौ कीरग्रामे ब्रह्मक्षत्र गोत्रोत्पन्न व्यव० मानू पुत्राभ्यां व्य० दोल्हण-आल्हणाभ्यां स्वकारित श्री मन्महावीर जैनचैत्ये—

२—श्री महावीर जिन मूलबिंबं आत्मश्रेयो [र्थ] कारितं। प्रतिष्ठितं च श्री जिनवल्लभ सूरि संतानीय रुद्रपल्लीय **श्री मदभयदेव सूरि शिष्यैः श्री देवभद्र सूरिभिः।**

भाषांतर

ॐ [लौकिक वि. सं.] वर्ष १२९६ फाल्गुण वदि ५ के [दिन] कीरग्राम में ब्रह्मक्षत्र गोत्र के व्यापारी मानू के दो पुत्रों व्यापारी दोल्हण और आल्हण ने स्वयं के बनाये हुए श्रीमन् महावीरदेव के मंदिर में श्री महावीर जिन की मूल (मुख्य-मूलनायक) प्रतिमा अपने कल्याण के लिए करायी जिसकी प्रतिष्ठा श्री जिनवल्लभ सूरि के सन्तानीय रुद्रपल्लीय श्रीमत्सूरि अभयदेव के शिष्य देवभद्र सूरि ने की।

यह लेख (भगवान महावीर की प्रतिमा के) सिंहासन पर जैन नागरी अक्षरों में दो पंक्तियों में है। ये पंक्तियां सिंहासन के तीन तरफ़ चार बड़े और छोटे भागों में उत्कीर्ण है। लेख लगभग अच्छी अवस्था में है।

इससे यह स्पष्ट है कि यह शिवमंदिर भी पहले महावीर का जैनमंदिर था पश्चात् किसी समय शिवमंदिर के रूप में परिवर्तित हो गया है।

५—नूरपुर किले में जैनमंदिर—

पठानकोट से कांगड़ा की तरफ़ जाते हुए ९ मील दूर **नूरपुर का विशाल किला है** इस किले के बड़े खुले मैदान में प्राचीन कला और कौशलयुक्त विशाल जैनमंदिर था जो आज खण्डहर के रूप में परिवर्तित हो चुका है। कुछ सीढ़ियां चढ़कर मंदिर के मूलगंभारे का भाग है जिसमें तीन प्रतिमाओं के विद्यमान होने के चिह्न है। इसके प्रांगन (रंगमंडप) की धरती पर मंदिर की भमती (फेरी) है।

उसमें अनेक चित्र खुदे हुए हैं। यहां सीढ़ियों के समीप कुछ चित्र जैन तीर्थंकरों के आकार के पद्मासना-सीन हैं जिनको आततायियों ने तोड़ने-फोड़ने की पूरी कोशिश की थी ऐसा प्रतीत होता है। इसका ऊपरी भाग तो एकदम नष्ट हो चुका है। किले के अन्दर इस विशाल जैनमंदिर के होने से साफ़ प्रकट होता है कि यहां का राज्य परिवार के जैनधर्म से निकट सम्बन्ध था।

६—रयासत गुलेर में जैनमंदिरों के भग्नावशेष—

(१) ज़िला कांगड़ा में गुलेर एक प्रसिद्ध नगर है। यहां भी नौ दस जैनमंदिरों के खंडहर हैं। इनमें कोई भी प्रतिमा विराजमान नहीं हैं। सब मंदिर खाली पड़े हैं। एक मंदिर के द्वार पर एक घिसी हुई जिनप्रतिमा दिखलाई पड़ती है।

(२) गुलेर से कोई ६ मील की दूरी पर जंगल में एक विशाल बड़ा महत्वशाली मंदिर है जो पहाड़ी को खोदकर बनाया गया है। इसकी कला से ज्ञात होता है कि यह भी जैनमंदिर था। इसे आजकल मसरूर का मंदिर कहते है।

(३) मालूम हुआ है कि सुजानपुर टीरी के समीप एक प्राचीन मंदिर में एक विशाल पाषाण प्रतिमा है जो कागड़ा किला में विद्यमान जैनमंदिर की श्री आदिनाथ की प्रतिमा से मिलती-जुलती है।

ढोलबाहा ज़िला होशियारपुर

होशियारपुर से हरियाणा ६ मील उत्तर की तरफ़ है और हरियाणा से ८ मील उत्तर-पूर्व की दूरी पर ढोलबाहा नामक स्थान है। यहा से दो मील की दूरी पर **जिनौड़ी** नामक स्थान है। यहां से अनेक खंडित जैनमूर्तियां प्राप्त हुई हैं। सरकारी पुरातत्त्व विभाग पंजाब ने इन प्रतिमाओं को होशियारपुर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान में ले जाकर वहा के संग्रहालय में सुरक्षित कर दिया है। इस स्थान के नाम **जिनौड़ी** से स्पष्ट है कि यहां अनेक जैनमंदिर थे और इनको मानने-पूजने वाले बहुत संख्या मे जैन परिवार भी विद्यमान थे। जिनौड़ी शब्द जैन नाम का ही सूचक है।

अंग्रेजी के दैनिक समाचार पत्र ट्रीब्यून ता० १८-१०-१९६७ पृष्ठ ३ में एक लेख—Punjab State Archives शीर्षक प्रकाशित हुआ था—वह लिखता है—

"The Archaeological organization of Punjab state Archives has locellated nearly 400 sculptures and good collection of the fossils of sea animals in DHOLBAHA···The fossils found are of the period when whole area was undei water, the fossjls are of animals which are generlly in ocean. The age may be estimated 20 LAKH YEARS. Sculptures and broken architectural pieces and all along been scattered of 283 miles. These sculptures are mostly related Shivism and Jainism. Many of these sculptures are of very high Artistic order. Many more may be found if proper excavation is done.(Tribune Dated 18·10.1967 p.3)

अर्थात्—पंजाब पुरातत्त्व विभाग ने समुद्री जानवरो के अस्थिपिंजर जिन का बीस लाख वर्ष पुराने होने का अनुमान है ढोलबाहा की खुदाई से प्राप्त किये हैं। ये अस्थिपिंजर उस समय के हैं जब कि यह सारा क्षेत्र समुद्र था तथा अतिप्राचीन काल की मूर्तियां और इनके पत्थरों के टुकड़े (खंडित

मूर्तियां) जो लगभग ४०० के करीब हैं खुदाई से प्राप्त हुई हैं। ये खण्डहर और मूर्तियां २८३ मील लम्बे क्षेत्र में फैले हुए हैं। यदि इस सारे क्षेत्र की खुदाई की जावे तो बहुत अधिक मूर्तियां तथा इनके टुकड़े पाये जा सकते हैं। प्राप्त मूर्तियां अधिकतर शिवधर्म और जैनधर्म[1] की हैं। इनमें कई तो बहुत ऊंची कलापूर्ण हैं।

सरकारी पुरातत्त्व विभाग चंडीगढ़ से भी मालूम हुआ है कि इस क्षेत्र में जैनतीर्थंकरों की बहुत मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं।[2]

संघोल (Sanghol)—उच्चापिंड के नाम से प्रसिद्ध है। यह समराला तहसील में है। चंडीगढ़, समराला लुधियाना रोड पर एक ऊंचे टीले पर बसा है। यह टीला ७०,८० फुट का है। इसीलिए इसका नाम उच्चापिंड प्रसिद्ध हो गया है।

यहाँ की खुदाई से हाथीखाना, राजमहल तथा जैन श्वेतांबर प्रतिमाएं और सिक्के निकले हैं। संघोल को प्राचीनकाल में संगलदीप कहते थे। शतसंग की राजधानी होने से संग के नाम से संगलदीप नाम पड़ा।

८—नगरकोटिया गच्छ और कोठीपुरा गच्छ

जैन साहित्य संशोधक त्रैमासिक पत्रिका श्री जिनविजय जी द्वारा संपादित में प्रकाशित जो "वि. सवत् १८३१ वर्षे मिति द्वि०वै० ३०दिन को लिखी गई है वहां ८४ गच्छों की नामावली से ज्ञात होता है कि श्वेताबर जैन साधुओं के चौरासी गच्छो में १—**नगरकोटिया गच्छ** तथा २—कोठीपुरा गच्छ[3] भी थे। इससे यह ज्ञात होता है कि नगरकोट (कागड़ा) और कोठीपुर नाम का एक नगर जो पहाड़ की चोटियो से घिरा हुआ था के क्षेत्रों में जैनों की और जैनमंदिरों की बहुत बड़ी संख्या थी और इन क्षेत्रों में जैन श्वेतांबर साधु-साध्वियां भी सदा आते-जाते रहते थे तथा निवास करते थे। अतः कांगडा क्षेत्र में विचरणे वाला श्रमणसंघ नगरकोटीया गच्छ के नाम से और कोठीपुरा क्षेत्र में विचरणे वाला श्रमणसंघ कोठीपुरा गच्छ के नाम से प्रसिद्धि पा गये थे। अब तो ये दोनों गच्छ विद्यमान नही हैं। न तो इन गच्छो के आचार्यों, मुनियों आदि के नामों तथा कार्यकलाप के विषय में जानकारी प्राप्त है एवं न ही इस गच्छवालों द्वारा रचित साहित्य तथा प्रतिमाओं, मंदिरों की प्रतिष्ठाओं का कोई विवरण पाया गया है। न जाने ये गच्छ कब बने और कब समाप्त हो गये। अथवा किस गच्छ में शामिल हो गये।

नगरकोट (कांगड़ा) तीर्थ की यात्रा करने वाले ऊदा जो तोला के पुत्र थे साहित्य, कवि, और इतिहास के प्रेमी थे। उन्होंने अपनी यात्रा का उल्लेख करके ज्वालामुखी प्रासाद का भी उल्लेख किया है वि. सं. १५७० फाल्गुण सुदी ४ के दिन मंगलवार अश्विनी नक्षत्र में नगरकोट तीर्थ के

1. हम लिख आये हैं कि शिव और ऋषभ भारत में प्राग्वैदिक काल के उपास्य देव हैं। ये दोनों अर्हत् ऋषभ के ही रूप है। हमारी इस मान्यता की पुष्टि इस लेख से भी हो जाती है। तथा २८३ मील क्षेत्र में प्राचीन जैनमूर्तियो के अवशेष पाये जाने से यह भी निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म विश्व में सबसे प्राचीन है, तथा पंजाब मे भी और सर्वत्र प्राग्वैदिक काल से ही यह मूर्तिपूजा की मान्यता चला आ रहा है।
2. इन सब स्मारको के विषय में शोधखोज की आवश्यकता है। सरकार और जैनसमाज को इस ओर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।
3. जैन साहित्य संशोधक खंड ३ अंक १ पृष्ठ ३२ गच्छ सख्या ६७ और ४४

आदिनाथ और अंबिकादेवी के मंदिर की यात्रा की थी। राजगच्छ के यतियों और आचार्यों का विहार नगरकोट के आसपास होता रहा है और वहां अनेक स्थानों में जैनों के बहुत से घर थे। अगरचन्द नाहटा को एक अति प्राचीन हस्तलिखित गुटका मिला है जिस में यहां के राजाओं की वंशावली पद्य में लिखी हुई है। उनमें से कई राजा जैनी थे तथा कुछ जैनधर्म के प्रति सदभाव रखने वाले थे।

हर्ष का विषय है कि वर्त्तमान में कांगड़ा के किले में जो एक मात्र श्वेतांबर जैनों की श्री आदिनाथ भगवान को भूरे (ग्रे कलर) की पाषाण की विशाल प्रतिमा जिसके कंधों पर केश लटकते हुए अंकित हैं किले सहित (जो वास्तव में बावन जिनालय था) पंजाब (हिमाचल) सरकार के पुरातत्त्व विभाग के अधिकार में है। उस प्रतिमा को किले के एक मंदिर को मरम्मत कराकर विराजमान कर दिया है और वि. सं. २०३५ में कांगड़ा में तपागच्छीय श्वेतांबर जैन परम्परा के आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की आज्ञावर्ती कांगड़ा तीर्थोद्धारिका, महत्तरा साध्वी श्री मृगावती ने अपनी तीन शिष्याओं के साथ चतुर्मास किया और उन के सद्प्रयत्नों से पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों तथा हिमाचल की सरकार से प्रतिदिन इसकी पूजा-प्रक्षाल तथा आरती उतारने का अधिकार श्वेतांबर जैनों को प्राप्त हो गया है। मंदिर पर ध्वजा चढ़ाने की अनुमति भी मिल गई है। कई वर्षों से इस प्राचीन तीर्थ की विशेष रूप से पूजा, सेवा यात्रा, भक्ति के लिए होली के अवसर पर मिति फाल्गुण सुदि १३,१४. १५ को वहाँ मेला भरता है। यहाँ किले के समीप जैन धर्मशाला का तथा नवीन जैनमंदिर का निर्माण भी चालू है।

६—नन्दनवनपुर (नादौन) में रचित जैन विधि-विधान का ग्रंथ—

खरतरगच्छीय रुद्रपल्लीय शाखा के आचार्य श्री वर्धमान सूरि ने नन्दनवनपुर में राजा अनन्तपाल के राज्य में वि. सं. १४६८ में दीवाली के दिन जैन-विधि-विधान के सब से बड़े ग्रंथ **"आचार दिनकर"** की रचना सम्पूर्ण की थी। ग्रंथकार इसका स्वय अपनी प्रशस्ति में परिचय देते हैं।—

पुरे नन्दनवनाख्ये, श्री जालंधर भूषणे ।
अनन्तपाल भूपाल राज्ये कल्पद्रुमोपमे ॥ २७ ॥
श्री मद्विक्रम भूपालाद् अष्टषण्मनु (१४६८) सम्यके ।
वर्षे कार्तिकायां ग्रंथोऽयं पूर्तिमाययौ ॥ २८ ॥

यह ग्रंथ लगभग ७५०० श्लोक का संस्कृत भाषा में है। कुल ४१ अधिकारों में यह ग्रंथ समाप्त हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सारे हिमाचलप्रदेश में जैनमंदिरों और जैनतीर्थों का जाल-सा बिछा हुआ था। आज भी इस पर्वतीय क्षेत्र में जैनमंदिरों के खंडहर तथा जैन तीर्थंकरों, जैनशासन-देवी-देवताओं, जैनमंदिरों के क्षेत्रपाल-देवों की खंडित अखंडित मूर्तियां सर्वत्र पाई जाती हैं। यह भी स्पष्ट है कि सारे क्षेत्र में प्राचीन काल से ही जैनधर्म का प्रसार और प्रभाव था। जैनमूर्तियां इस क्षेत्र में आज जैनेतर लोगों द्वारा अपने उपास्य देवी-देवताओं के रूप में पूजी जा रही हैं। कहीं-कहीं पर तो पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर फण होने से इन्हें नाग देवता के रूप में पूजा जाता है। इस क्षेत्र में प्राचीनकाल में जैनों की घनी आबादी थी। श्रमण-श्रमणियां इस क्षेत्र में सदा विचरते रहते थे जिससे जैनधर्म खूब फलता और फूलता रहा। आज तो अनेक स्थानों पर इन मूर्तियों को जैनेतर लोग अपने देवी-देवताओं के रूप में मान कर इनके सामने पशुओं की बलि भी देते हैं।

कुलु क्षेत्र में भी सर्वत्र जैनमंदिरों के खंडहरों तथा मूर्तियों के लिए कहा है कि—

Kulu is the valley of Gods. There are many temples with cilm place full National council of Educational researoh and training (New Delhi)

१०—पंजौर (चंडीगढ़ के निकट)

वर्तमान हरियाणा सरकार ने पंजौर में मुग़ल सम्राट के बनाये हुए बाग़ को सुधारने और सजाने में स्तुत्य कार्य किया है। यह बाग़ सात मंजिला है। इसमें पानी के रंग-बिरंगे फव्वारे, रंग-बिरंगे फूलों की फुलवाड़ियां, चारों तरफ़ हरियाली ही हरियाली और बीच में पक्की सुन्दर नहर ने इस बाग़ की सुन्दरता को चारचांद लगा दिये हैं। इस बाग़ की सुन्दरता काश्मीर के बाग़ों को भी मात दे रही है। सारे पंजाब (हरियाणा, पंजाब, हिमाचल, सिंध) में इसकी जोड़ी का कोई बाग़-बगीचा-उपवन नहीं है। चंडीगढ़ और शिमला जाने वाले लोग इस बाग़ को देखने और सैर करने के लिए सदा लालायित रहते हैं। गर्मियों के मौसम में पर्यटकों की यहां बहुत चहल-पहल रहती है। निकटवर्ती लोग यहां पिकनिक के लिए आते रहते हैं। ऐसा यह सुन्दर दर्शनीय स्थान सबके मन को मोह लेता है।

इस बाग़ की खुदाई से प्राप्त और बाग़ के एक तालाब के किनारे पर पड़ी हुई जैनतीर्थंकरों की खंडित प्राचीन मूर्तियों को सरकारी पुरातत्त्व विभाग ने प्राप्त किया है, जो कुछ वर्ष पहले कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में हरियाणा सरकार ने सुरक्षित कर दी हैं। ये मूर्तियां विक्रम की ९वीं १०वीं शताब्दी की है। सरकारी पुरातत्त्व विभाग का कहना है कि पंजोर के आस-पास के क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर जैनमंदिरों-स्मारकों के खण्डहर तथा जैनमूर्तियां बिखरे पड़े हैं। आज से ३०० वर्ष पूर्व पंजौर में जैन श्वेतांबर ५२ जिनालय (विशाल जैनमंदिर) भी विद्यमान था। इस समय इस बाग़ के आस-पास एक भी जैनस्मारक विद्यमान नहीं है। पंजौर का पुराना नाम पंचपुर, पंचउर जैनग्रंथों में मिलता है। जैन कवि (मुनि माल) ने वि. की १७वीं शताब्दी में यहां चतुर्मास किया था। इस चतुर्मास में एक ग्रंथ की रचना प्रारंभ की और समाप्ति में उसे पूरा किया।

४ सिन्धु-सौवीर में जैनधर्म

Shri P. C. Dass Gupta Director of Archaeology West Bengal Indicating sound reasons in Jain Journal of July 1971 p.p. 8 to 13 has Proved existence of Jainism in Sindhu Desu, Multan and Punjab and established(First Tirthankra) Rishabhanath Journey to Texila. Shri U. P. Shah also supports the view of his studies in Jain Art. Marshal has also suggested in his "A Guied to Texila, Cambridge 1960 P. P. 8 that a few stupas at Texila could be Jaina. Hiuen Tsang also gave such accounts of Sinhpur District Jehlum which indicate that there were Swetambras practising their religion (Jainism) in the area. Among the monuments of Texila to be noted in conection with the propogation of early Jainism in North Western frontiers. most important is—"Shrine of the double-headed Eagle" which was described as probably of Jaina a origin by marshal in "A Guied of Texila. Calcutta 1918 P. 72." Significance of Eagle here may be

recognised a farmalished cognisance of 14th Tirthankra Anantnath for detect. (Jain Journal July, 1971 P. 9)।

अर्थात्—श्री पी. सी. दास गुप्ता डायरेक्टर पुरातत्त्व विभाग पश्चिमी बंगाल ने अपने-उपर्युक्त अंग्रेजी लेख में जो जैन जरनल मासिक पत्र १९७१ पृष्ठ ८ से १३ में छपा है; लिखा है कि जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ ने तक्षशिला की मुसाफ़री की थी, श्री यू. पी शाह ने अपनी 'जैन आर्ट' नामक पुस्तक में इसकी पुष्टि की है। मार्शल ने भी अपनी पुस्तक 'ए गाईड टू टेक्सिला केम्ब्रिज १९६० पृष्ठ ८ में लिखा है कि तक्षशिला में प्राप्त होनेवाले स्तूपों में से कुछ स्तूप अवश्य जैनों के हैं। हुएनसांग ने भी लिखा है कि सिंहपुर (जेहलम) में एक स्तूप के समीप श्वेतांबर जैनी अपने धर्म की उपासना करते थे। तक्षशिला से प्राप्त स्मारकों में से दो सिरोंवाले बाज (Eagle) पक्षी के चिन्ह वाले मंदिर से ज्ञात होता है कि भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में प्राचीनकाल से जैनधर्म विद्यमान था। इसकी पुष्टि के लिए मार्शल ने अपनी पुस्तक ए गाईड आफ़ टेक्सिला कलकत्ता १९१८ पृ० ७२' में लिखा है कि बाज पक्षी जैनों के चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ का लांछन (चिन्ह) था, इसलिए यह प्रमाणित होता है कि दो सिरों वाले बाज पक्षी वाला मंदिर जैनो का था।

भारतवर्ष की दो बड़ी नदिया हैं, गंगा और सिन्धु। इन दोनों नदियों को जैन शास्त्रों में शाश्वत कहा है। सिन्धु नदी से प्रसिद्धि पाया हुआ प्रदेश सिन्धु (सिंध) देश कहलाता था। हिमालय पर्वत से निकलकर १८०० मील की लम्बाई वाली सिन्धु महानदी अपने उत्तर और दक्षिण तटों से इस प्रदेश को पूर्व-पश्चिम दो विभागों में विभाजित कर देती है। एक समय था जब सिंध की सीमा आज के सिन्ध से बहुत-बहुत विशाल थी। अफगानिस्तान,बिलोचिस्तान,वर्तमान भारत(पाकिस्तान) की पश्चिमोत्तर सरहद, पंजाब (पाकिस्तान) और उत्तरीभाग, वर्त्तमान सिंध (पाकिस्तान का एक प्रांत), भावलपुर राजपुताना जेसलमेर का कुछ भाग प्राचीन सिंध में समा जाते थे। इसमें गाधार, काश्मीर, तक्षशिला और पेशावर का भी समावेश था। प्राचीन काल में इस सिन्ध जनपद का भारत-वर्ष में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। पंजाब का दक्षिणी भाग सौवीर कहलाता था जो कच्छ के रण और अरब समुद्र तक व्याप्त था और पश्चिम में हाला पर्वत इस प्रदेश को घेरे हुए था। भारत में तीन जनपद अति विशाल थे; मगध, गांधार, सिन्धु-सौवीर। सिंधु-सौवीर मगध से चार-पांच गुना बड़ा था।

विदेशी आक्रमणकारियों के लिए भारत में आने के लिए एक मात्र उत्तर का मार्ग ही खुला था। विदेशी सेनाओं ने यहां से ही प्रवेश करके सर्व प्रथम इसी प्रदेश पर आक्रमण किये थे। यदि भारत के किसी भी जनपद को विदेशियों के आक्रमणों से क्षतिग्रस्त होना पड़ा हो—सामना करना पड़ा हो तो यही जनपद है। ग्रीक आक्रमणकारियों ने तो पूरे भारत को ही इस नदी के नामानुसार पुकारना प्रारंभ किया था। सिंधु के 'सि' के स्थान पर 'हि से हिन्दू' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ और सारे भारत देश को 'हिन्दुस्तान' के नाम से पुकारा जाने लगा। तथा इस देश के वासी 'हिन्दू कहलाये। ईरानी, अरबी तथा युनानी बोल-चाल में स 'को ह' बोला जाता है। सप्तम व सप्ताह फ़ारसी व अरबी भाषाओं में 'हफ्तम व हफ़्ता' हो गये हैं।

सिन्ध का इतिहास बहुत ही पुराना है। प्राचीन काल से २५०० वर्ष पहले से भी इसे जैनधर्म की दृष्टि से आर्यदेश माना जाता था।

जैन शास्त्र बृहत्कल्प भाष्य के जनपद परीक्षा प्रकरण में बतलाया गया है कि आर्य जनपदों में

विहार करने से साधुओं के दर्शन (सम्यक्त्व) की शुद्धि होती है। महानाचार्यों आदि की संगति से वे अपने आपको धर्म में स्थिर रख सकते हैं तथा विद्यामंत्रादि की प्राप्ति कर सकते हैं। शुद्ध वसित (निवासस्थान) व शुद्ध आहार-पानी की सुविधाए प्राप्त हो सकती हैं। यहां तक बतलाया गया है कि निर्ग्रंथ-निर्ग्रंणियों को नाना देशों की भाषाओं में कुशल होना चाहिये। जिससे वे प्रत्येक देश के लोगों को उनकी भाषा में उपदेश देकर सन्मार्ग में अग्रसर कर सकें। प्राचीनकाल से ही जैन साधु-साध्वियां (निर्ग्रंथ-निर्ग्रंणियां) सर्वत्र घूमते रहते हैं। ये अपना कोई मठादि स्थापित नहीं करते। फलतः उन्हें देश के कोने-कोने से साक्षात् परिचय बना रहता है। उनकी पट्टावलियां, विविध-प्रशस्तियां आदि प्राचीन तथा नवीन सच्चे इतिहास के सर्जन के अचूक साधन हैं। हम लिख आये हैं कि जैन श्रमण-श्रमणियों ने अपनी जान को हथेली में रखकर भी सद्धर्म का सर्वत्रिक प्रचार व प्रसार किया है।

जैन शास्त्रों में भारत में २५॥ आर्य देशों (जनपदों) का वर्णन मिलता है। जिनका विवरण इस प्रकार है।

जनपद	राजधानी	जनपद	राजधानी
१. मगध	राजगृह	१४. शाडिल्य	नन्दीपुर
२. अंग	चम्पा	१५. मलय	भद्दिलपुर
३. बंग	ताम्रलिप्ति	१६. मत्स्य	वैराट
४. कलिंग	काचनपुर	१७. अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
५. काशी	वाराणसी	१८. दशार्ण	मृतिकावती
६. कोशल	साकेत	१९. चेदी	शुक्तिमति
७. कुरु	गजपुर (हस्तिनापुर)	२०. सिन्धु सौवीर	वीतभयपत्तन
८. कुशावर्त	शौरीपुर	२१. शूरसेन	मथुरा
९. पांचाल	काम्पल्यपुर	२२. भंगि	पावा
१०. जांगल	अहिछत्रा	२३. वट्टा (वर्त्त)	मासपुरी
११, सौराष्ट्र	द्वारवती (द्वारिका)	२४. कुणाल	श्रावस्ति
१२. विदेह	मिथिला	२५. लाढ़	कोटिवर्ष
१३. वत्स	कौशाम्बी	२५॥. केकयार्द्ध (पंजाब)	श्वेतंबिका (स्यालकोट)

सम्राट सम्प्रति मौर्य के समय तक ये २५॥ आर्यदेश माने जाते थे। जहां जैनसाधु साध्वियों के लिए विहार सुलभ था।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि (१) कुरुक्षेत्र जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी, (२) सिन्धु-सौवीर जिसकी राजधानी वीतभयपत्तन थी (गांधार जिसकी राजधानी क्रमशः तक्षशिला अथवा पेशावर थी तथा काश्मीर जो उस समय गांधार का ही एक भाग था इन सब का समावेश सिंधु देश में था) भी आर्यदेश थे। एवं (३) केकय (पंजाब) जिसकी राजधानी श्वेतबिका (स्यालकोट) थी। यह भी आधा आर्यदेश कहलाता था।

इन जनपदों का विवरण इस प्रकार है—

१. गांधार और काश्मीर इनका परिचय विस्तार पूर्वक हम पहले लिख आये हैं।

२. **कुरु जनपद**—सरस्वती और दृशद्वती नामक नदियों के मध्य का प्रदेश कुरु या कुरुक्षेत्र कहा जाता था (महाभारत वन पर्व तथा जैनागम ज्ञाताधर्मकथांग अ० ८)

वर्त्तमान 'घग्घर नदी को कइयों ने प्राचीन सरस्वती अथवा उसकी ही शाखा माना है। यह चंडीगढ़ से अम्बाला, सामाना, सिरसा, हनुमानगढ़ (मरुकोट) होकर सिन्धु नदी के साथ अरब सागर में आकर गिरती थी। अब भी वर्षा ऋतु में इसका यही मार्ग है। यदि कुरु जनपद की उत्तरी-सीमा इस नदी को माना जाए तो वर्त्तमान में लगभग समस्त हरियाणा तथा दिल्ली आदि का समावेश कुरुक्षेत्र जनपद में हो जाता है। जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। इस मत की पुष्टि दो बातों से भी हो जाती है। १—सिरसा नगर घग्घर नदी के किनारे पर आबाद है। सिरसा को जैनसाहित्य में **'सरस्वती पत्तन'** भी कहा है। जिसका अर्थ होता है—'सरस्वती नदी तटवर्ती नगर।' वर्त्तमान में **'कुरुक्षेत्र'** नगर हरियाणा प्रांत में है। प्राचीन काल में यह नगर कुरुक्षेत्र जनपद का मुख्य नगर था। अतः उपर्युक्त सारा क्षेत्र कुरुक्षेत्र में ही था, ऐसा मानना अनुचित नहीं है।

कुरु जनपद की राजधानी **हस्तिनापुर** है (ज्ञाता० अ० ८)

कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर है (महाभारत आदि पर्व)

आधुनिक विद्वान मेरठ से २२ मील उत्तर पूर्व में और बिजनौर के दक्षिण-पश्चिम में इसकी स्थिति मानते हैं। यह गंगा नदी के तट पर आबाद था। आज गंगा नदी यहां से कई मील पूर्व की ओर पीछे हट गई है (विविध तीर्थकल्प जिनप्रभ सूरि कृत मे इसे गगा नदी के किनारे कहा है।)

हस्तिनापुर का ही दूसरा नाम **गजपुर** है (जैनागम प्रज्ञापणा प० १)

३. **सिंधु-सौवीर जनपद**—यह दो जनपदों का संयुक्त नाम है (देखिए पाणि० पृ० २७)

(अ) सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे की तरफ़ पजाब में फैला हुआ प्राचीन सिन्धु जनपद था।

(आ) वर्त्तमान सिन्धु प्रात (जो पाकिस्तान में है) का पुराना नाम सौवीर जनपद है (पाणि० पृ० ५०)

(इ) जनपदो की सीमाए सदा बदलती रहती हैं। इस संयुक्त जनपद की अतिविस्तृत सीमा भी थी जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं।

वीतभयपत्तन—सिन्धु और सौवीर जनपदो की उदायन के समय संयुक्त राजधानी थी।

केकयार्द्ध—केकय जनपद का उपनिवेश था। केकय जनपद जेहलम, शाहपुर और गुजरात (पंजाब में एक जिला) प्रदेश का पुराना नाम है (देखिये पाणि० पृ० ६७)

केकय जनपद—व्यास और सतलुज के बीच का भूभाग है (देखिये महाभारत भीष्म पर्व)

इस प्रकार केकय जनपद के लिए दो मत हैं। हो सकता है कि इसकी सीमाएं बदलती रही हों। किन्तु दोनों मतों से यह तो स्पष्ट है कि केकय जनपद पंजाब का ही भूभाग था।

श्वेतंबिका—यह सावत्थी के समीप थी। यह सावत्थी कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ति से भिन्न थी। सावत्थी पंजाब के स्यालकोट का प्राचीन नाम है। अर्थात् श्वेतबिका राजधानी स्यालकोट (पंजाब) के निकटवर्ती (वर्त्तमान में पाकिस्तान में) थी।

पांचाल देश को भी अनेक विद्वान वर्त्तमान पंजाब को मानते है। इसकी राजधानी काम्पिल्य थी। हो सकता है कि सतलुज नदी से आगे के पंजाब के शेष भाग का पांचाल जनपद में समावेश

हो जाता हो और इसकी राजधानी कम्पिला हो। इसलिए यह शोध का विषय है। क्योंकि प्राचीन काल में थानेश्वर तथा हिसार के क्षेत्र को भी पांचाल देश में माना है।

१—सिन्धु-सौवीर का राजा उदायण

भगवान महावीर का समकालीन सिन्धु-सौवीर जनपद का राजा उद्रायण (उदायन)[1] था इसकी राजधानी **वीतभयपत्तन** थी। यह शब्द तीन शब्दों के मेल से निष्पन्न हुआ है। वीत+भय+पत्तन। वीत का अर्थ है **'दूर हो गया है'**, भय का अर्थ है **'डर'** और पत्तन का अर्थ है **'नदी तटवर्ती नगर'**। मतलब यह है कि सिन्धु-सौवीर जनपद की राजधानी **वीतभयपत्तन**[2] [सिन्धु] नदी के तट पर आबाद एक ऐसा महान नगर था जहां का राजा धर्मपरायण, प्रजावत्सल और महान शूरवीर था। इसकी शूरवीरता के कारण शत्रु राजा इस देश पर आक्रमण करने का साहस भी नहीं करते थे। राजा के धार्मिक और प्रजावत्सल होने के कारण प्रजा का उत्पीड़न भी नहीं होता था। प्रजा को न तो स्वचक्र का और परचक्र का भय था और न ही राजा द्वारा शोषित और पीड़ित होने का डर था। अतः सारे राज्य की प्रजा सर्वथा निर्भय होकर सुख और शांति से निवास करती थी। यही कारण था कि इसका नाम वीतभयपत्तन[3] सार्थक था। **"यथा राजा तथा प्रजा"** की उक्ति को सत्य सिद्ध करने के लिए यहां की प्रजा भी धार्मिक-पवित्र विचारों तथा निर्दोष आचरण वाली थी। उस समय यहां का मुख्य धर्म जैनधर्म था।

इस राजधानी के आधीन ३६३ नगर ६८५०० ग्राम,[3] अनेक खानें और सोलह देश थे। महाराजा उदायन की सेवा में महासेन (चंडप्रद्योत) आदि १० महाप्राक्रमी मुकटधारी राजा रहते थे। वीतभयपत्तन व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस नगर का विस्तार कई मीलों में था।

उदायन की पटरानी का नाम प्रभावती था। यह गणतंत्रनायक महाराजा चेटक की सबसे बडी पुत्री थी।[4] चेटक भगवान महावीर के मामा[5] तथा त्रिशला (महावीर की माता) के सगे

---

1. जैनागम पंचमांग भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशा ६
2. (१) पत्तन (२) नगर (३) पुर (४) क्षेत्र, इन चार शब्दों का प्रयोग इस प्रकार है—(१) **पत्तन**— नदी अथवा समुद्री तट पर अवस्थित शहर को पत्तन कहा जाता था। बंदरगाहों के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता था। पत्तन शब्द के लिए चाणक्य लिखता है कि **"वारिस्थल पथ पत्तनानि निवेशयत**(अध्यक्ष प्रचार द्वितीय अधिकरण) (२) **नगर** शहरी शब्द का द्योतक है। (३) **पुर** किसी व्यक्ति के नाम से बसाये गये नगर के पीछे जोड़ दिया जाता था। जैसे जोधाजी द्वारा बसाया गया जोधपुर, उदयसिंह से उदयपुर इत्यादि। (४) **क्षेत्र** इस शब्द का अपभ्रंश खेत शब्द है। अन्नोत्पादक भूमि, उत्पत्तिस्थान, प्रदेश, तथा तीर्थस्थान के लिए क्षेत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। क्षेत्र भूखण्ड विशेष की निरधारित सीमा के लिए भी आता है। क्षेत्र के अन्तर्गत नगर, पुर, पत्तन ग्राम आदि सब आ जाते हैं।
3. से णं उदायणे राया सिंधु-सौवीर प्पमोखाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीतीभयपमोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं नगरागार सयाणं महसेणप्पमोक्खाणं दसहणं राइणं बद्ध मउडाणं (भगवती सूत्र शतक १३ उ० ६) ऐसा ही उल्लेख उत्तराध्ययन नेमिचन्द्राचार्य की टीका सहित पत्र २५२।१ में भी है।
4. (अ) तस्य प्रभावती राज्ञी जज्ञे चेटकराट् सुता। विशुद्धि शीलसे जैन—
   (आ) उदायणस्स रण्णो महादेवी चेडगरायधूया समणोवासगा पभावई। (उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्र टीका पत्र २५३/१
   (इ) प्रभावतीदेवी समणोवासिया। (आवश्यक चूर्णि पूर्वार्द्ध पत्र ३९९)
5. उत्तराध्ययन सूत्र भावविजय की टीका अध्यायन १८ श्लोक ६।

भाई थे। उदायन के प्रभावती से अभीची नाम का एक पुत्र था। उदायन की बहन का एक लड़का (भानजा) था, उस का नाम केशी था। प्रभावती रानी जैनश्राविका थी पर उदायन तापसों का भक्त था।[1] उदायन का परिवार तो इससे बड़ा था, परन्तु यहां पर इन्हीं के विषय में विवरण आवश्यक होने से मात्र इन्हीं के नामों का उल्लेखन पर्याप्त है।

महारानी प्रभावती के महल में गोशीर्षचन्दन काष्ठ की महावीर स्वामी की एक अत्यन्त सुन्दर और महाचमत्कारी प्रभावित प्रतिमा विद्युन्मालीदेव द्वारा निर्मित तथा कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठित थी। इस प्रतिमा पर कुंडल, मुकुट, गले में लटकते हार, बाजूबन्द आदि अनेक प्रकार के अलंकार अंकित थे। गले में देव द्वारा प्रदत्त फूलों की माला भी थी जो कभी कुम्हलाती नहीं थी और जिस की सुगंध से दसों दिशाएं महक उठती थी। इस की महक से आकर्षित भंवरे इस पर सदा मुंडलाते थे। यह प्रतिमा महावीर की गृहस्थावस्था की कायोत्सर्ग मुद्रा में थी। प्रभावती ने इसे अपने महल में घर चैत्यालय का निर्माण कराकर मूलनायक रूप में विराजमान किया हुआ था।[2] जैनागमों में ऐसी प्रतिमा को जीवितस्वामी की प्रतिमा कहा है।[3]

महारानी प्रभावती इस प्रतिमा की त्रिकाल (प्रातः मध्याह्न, साय) पूजा, वन्दना, आरती आदि किया करती थी।[4] इस मंदिर की व्यवस्था और पूजा के लिये महारानी ने स्वर्णगुलिका नाम की एक दासी भी रखी हुई थी। जो युवा और अत्यन्त रूपवती थी। राजा उदायण भी प्रभावती की प्रेरणा से इस मंदिर में दर्शनादि करने कभी-कभी आया करता था।

रानी प्रभावती ने यहां पर विराजमान जैनाचार्य से साध्वी की दीक्षा ग्रहण की और साध्वी मंडल के साथ स्व पर आत्मकल्याण के लिये अपना जीवन निर्यापन करते हुए इसी जनपद में विचरणे लगी। अब दासी स्वर्णगुलिका भी जीवतस्वामी की महारानी के समान ही त्रिसन्ध्या श्रद्धा और भक्ति से पूजा वन्दना करने लगी। एकदा उज्जयनी का राजा चडप्रद्योत दासी और इस प्रतिमा का अपहरण करके उज्जयनी ले गया। इस प्रतिमा के बदले वैसे ही चन्दन और हूबहू वैसी ही आकृति की मूर्ति बनवाकर रातोरात यहां विराजमान कर गया। प्रातः काल जब उदायन मंदिर में गया तो उसने देखा कि प्रतिमा के गले में जो फूलों की माला है वह कुम्हलाई हुई है उसे लगा कि यह असली प्रतिमा नहीं है, उस के बदले में कोई दूसरी ही है। वहां दासी भी नहीं थी। संदेह हुआ कि दासी समेत प्रतिमा का कोई अपहरण करके ले गया है। खोज करने पर ज्ञात हुआ है कि उज्जयनी का राजा चंडप्रद्योत प्रतिमा और दासी का अपहरण करके ले गया है। उदायन ने उज्जयनी में युद्ध करके चंडप्रद्योत को हराया और उसे बन्दी बनाकर अपने साथ लेकर वापिस लौटा। उसके माथे पर दासीपति की छाप लगाई, प्रतिमा और दासी उज्जयनी से वापिस नहीं लाये। देवता के कहने से वहीं रहने दी।

उदायन की रानी प्रभावती साध्वी की दीक्षा लेने के बाद आयु पूरी करके देवता हुई। इस देवता की प्रेरणा से राजा उदायन दृढ़ जैनधर्मी बना।[5]

---

1. उदायण राया तावसभत्तो (आवश्यक चूर्णि पत्र ३९९)।
2. उत्तराध्ययन सूत्र भावविजय टीका अध्याय १८ श्लोक ८४ पत्र १८३/१
3. कल्पसूत्र
4. उत्तराध्ययन सूत्र भा० अ० १८ श्लोक २५

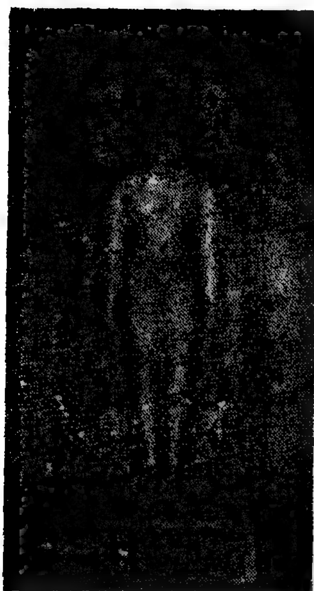
श्वेताम्बर जैनों द्वारा मान्य जिन ईसा पूर्व की प्रतिमायें



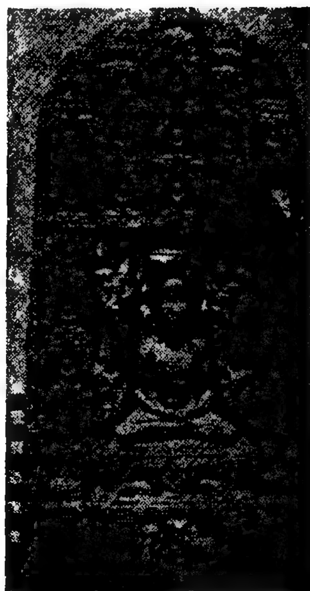
महावीर की प्रतिमा जीवितस्वामी



श्री ऋषभदेव चारमुष्टि लोच वाली प्रतिमा



तीर्थंकर की कछोटवाली प्रतिमा



श्री ऋषभदेव अन्य
२३ तीर्थंकरों के साथ



श्री ऋषभदेव की नग्न प्रतिमा



श्री ऋषभदेव पचमुष्टि लोच निर्वाण-प्राप्ति के समय



श्री वर्धमान महावीर

एकदा राजा उदायन ने पौषधशाला में पौषध किया। रात्री के समय धर्मजागरण करते हुए मन में विचार किया कि यदि प्रभु महावीर यहां पधारें तो मैं श्रमण की दीक्षा ले लूंगा। उसके मनोगत भावों को केवलज्ञानी प्रभु महावीर जानकर चंपापुरी से चल पड़े। रास्ते में सख्त गरमी के कारण साथी शिष्य साधुओं को विहार में बहुत कष्ट सहने पड़े।[1] कोसों तक बस्ति न मिलती। उस समय अपने भूखे-प्यासे शिष्यों के साथ जब भगवान महावीर चले आ रहे थे। तब रास्ते में उन्हें तिलों से लदी हुई बैलगाड़ियां मिलीं। साधु समुदाय को देखकर तिलों के मालिक ने उन्हें तिल लेने के लिये प्रार्थना की, जिन्हें खाकर वे अपनी क्षुधा शांत कर सकें। परन्तु भगवान ने अपने साधुओं को तिल लेने की आज्ञा नहीं दी। यद्यपि भगवान जानते थे कि ये तिल अचित है तथापि सचित-अचित के भेद को न जानने वाले ये साधु तो अपरिचित थे। अतः संभावना इस बात की थी कि यदि ये तिल खाने की आज्ञा दी जाती है तो कालांतर में छद्मस्थ साधु सचित तिल भी खाने लग जाएंगे।

इसी विहार में प्यास से व्याकुल साधुओ को तालाब दिखलायी दिया। उसका जल अचित था। पर भगवान ने इस ह्रद(तालाब)का जल भी पीने की आज्ञा अपने साथी साधुओं को नहीं दी। क्योंकि इससे भी संभव था कि सचित-अचित जल का भेद न जानने वाले छद्मस्थ साधुओं में तालाब का पानी पीने की प्रथा चालू हो जाएगी।[2]

भगवान महावीर १७ वां चौमासा राजगृही में करके चंपापुरी आये और यहां से विहार करते हुए इंद्रभूति गौतम आदि साधु समुदाय के साथ विक्रम पूर्व ४६६-६५ में ४७ वर्ष की आयु में सिन्धु-सौवीर जनपद की राजधानी वीतभयपत्तन में पधारे।[3] इस नगर की उत्तर-पूर्व दिशा में मृगवन नाम के उद्यान में आकर ठहरे[4] प्रभु का आगमन सुनकर उदायन उन्हें वन्दना करने के लिये गया। पश्चात् उसने भगवान से विनती की—"प्रभो! जब तक मैं अपने पुत्र को राज्यसत्ता सौंप कर आप के पास वापिस न आऊं, तब तक आप यहां से न जाइये"। प्रभु ने कहा-"पर इस ओर प्रमाद मत करना।"

लौट कर राजा घर आया तो उसे विचार हुआ कि—"यदि मैं अपने पुत्र को राज्य दूंगा तो वह राज्य में फसा रह जायेगा,चिरकाल तक भव भ्रमण करता रहेगा। इस विचार से उसने अपने भानेज केशी को राज्य दे दिया और स्वयं उत्साह पूर्वक भगवान महावीर से भागवती दीक्षा ग्रहण करली। दीक्षा देकर महावीर वापिस लौट गये और राजर्षि उदायन इसी क्षेत्र में विचरणे लगे। एक उपवास से लेकर एक महीने के लगातार उपवासों तक कठिन तप करने लगे।[5]

रूखा-सूखा, बचा-खुचा आहार करने से राजर्षि बीमार हो गये। उस समय वैद्यों ने उन्हें दही खाने की सलाह दी। एक बार विहार करते हुए राजर्षि वीतभयपत्तन में पधारे। मंत्रियों ने केशी राजा को बहकाया। कहा कि उदायन तुमसे राज्य छीनने आया है। इसी आशंका से केशी राजर्षि को दही में विष दिलाकर हत्या करने की सोचने लगा। मौका पाकर राजर्षि को विष मिश्रित दही दिया गया और वे अनजाने में उसे खा गये। उन्हें क्या पता था कि वह दही विष मिश्रित

1. आवश्यक चूर्णि पूर्वार्ध पत्र ३९९।
2. बृहत्कल्प सूत्र सभाष्य वृत्ति सहित विभाग २ गाथा ९९७-९९९।
3. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग १७ श्लोक ६१२-६२६।
4. जैनागम पंचमांग विवाहपण्णत्ति (भगवती सूत्र) श० १३ उ० ६।
5. चउत्थ-छट्ठ-अट्ठम-दसम-दुवालस-मासद्ध-मासाइणि। तवो कम्माणि कुव्वमाणे विहरइ।

है। मालूम होने से समताभाव से राजर्षि ने एक मास का अनशन किया और केवलज्ञान पाकर मोक्ष प्राप्त किया। प्रभावतीदेव ने राजर्षि उदायन की हत्या के कारण को जान कर प्रकोप से वीतभय-पत्तन को धूल वृष्टि से ध्वंस कर दिया। उस में चंडप्रद्योत द्वारा स्थापित महावीर स्वामी की जीवित-स्वामी की चन्दन की प्रतिमा भी दब गयी वह प्रतिमा आज तक भूखनन करने पर भी कहीं प्राप्त नहीं हुई।

राजा उदायन				महारानी प्रभावती			
१. जन्म	ई० पू०	६०० वर्ष	आयु०	१. जन्म	ई० पू०	५६४ वर्ष	आयु०
२. विवाह	,, ,,	५८० ,,	२० वर्ष	२. विवाह	,, ,,	५८० ,,	१४ वर्ष
३. राज्यारोहण	,, ,,	५८० ,,	२० वर्ष	३. राज्यारोहण	,, ,,	,, ,,	,, ,,
४. पुत्र केशव का जन्म	,, ,,	५७५ ,,	२५ वर्ष	४. पुत्र केशव जन्म	,, ,,	५७५ ,,	१६ ,,
५. अवंति पर चढ़ाई	,, ,,	५६१ ,,	३६ ,,	५.	×	×	×
६. दीक्षा	,, ,,	५४६ ,,	५४ ,,	६. दीक्षा	,, ,,	५६६ ,,	२५ ,,
७. वीतभय का दट्टन	,, ,,	५३५ ,,	६५ ,,	७.	×	×	×
८. मृत्यु	,, ,,	,, ,,	,, ,,	८. मृत्यु	,, ,,	५६७ ,,	२७ ,,

देवता विद्युन्माली प्रदत्त प्रतिमा तथा चंडप्रद्योत द्वारा निर्मित दोनों प्रतिमाएं ऐसी थीं जिन पर कुंडल, मुकुट, मालाएं, बाजुबन्द आदि अनेक प्रकार के अलंकार अंकित थे और पद्मासनासीन कायोत्सर्ग मुद्रा में थी। इसका वर्णन कल्पसूत्रादि जैनागमों में पाया जाता है। ये दोनों प्रतिमाएं भगवान महावीर के दीक्षा लेने से पहले की गृहस्थावस्था की थी। ऐसी जीवितस्वामी की अलंकार मडित प्रतिमाएं सब तीर्थंकरों की प्राचीनकाल से ही पूजी जाती आरही हैं। ये प्रतिमाएं खड्गासन तथा पद्मासन में ध्यानस्थ मुद्रा में धातु, पाषाण, काष्ठादि की होती हैं। आज भी भूमिखनन से ऐसी प्रतिमाएं अनेक स्थानों से प्राप्त होती रहती है। तथा अनेक श्वेतांबर जैनमंदिरों के विद्यमान भी हैं।

एक ऐसी प्रतिमा धातु की खड्गासन में अकोटा से प्राप्त हुई है जो बड़ोदा म्युजियम में सुर-क्षित है। इस प्रतिमा के नीचे का भाग खंडित हो जाने से लेख नष्ट हो गया है।

वर्तमान सिन्धुप्रदेश (पाकिस्तान) में अनेक प्राचीन स्थान ऐसे हैं जो पुरातत्त्व दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

(१) **मोहन-जो-दड़ो**—यह सिन्धु में सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में एक ढेर के रूप में विद्यमान था। पुरातत्त्व विभाग ने इस का उत्खनन किया। इसमें ईसा से पूर्व ३००० वर्ष पुराने अनेक अवशेष मिले हैं। जिन में अर्हंत् ऋषभ, सुपार्श्वनाथ आदि तथा शिव की सीलें मिली हैं जो बड़े महत्व की है। इस का विवरण हम पहले कर आये हैं।

सिन्धु के एक इतिहासकार प्रो० भेरोमल ने 'मोहन-जो-दड़ो सम्बन्धी अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है, उस में मोहन-जो-दड़ो का अर्थ **मुर्दों का ढेर**' किया है। प्रो० भेरोमल इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी लिखता है कि यह नगर श्राप से रसातल में धंस गया था और वहां मुर्दों के ढेर लग गये थे। यह कथा प्रभावतीदेव द्वारा इस नगर को ध्वंस किये जाने की घटना के साथ कुछ रूपांतर से मिलती जुलती है विद्वानों का मत है कि यह स्थान प्राचीन काल का वीतभयपत्तन है।

लरकाना जिला में , डाकराणी स्टेशन से लगभग २५ मील की दूरी पर मोहन-जो-डरो नामक जो स्थान है उसकी खुदाई होने से एक पुराना शहर खण्डहर रूप में मिला है। जमीन में से निकले हुए मकान तथा इमारतें बहुत आश्चर्य उत्पन्न करने वाले हैं। इस नगर में से जवाह-रात, मिट्टी और धातु के बरतन, मूर्तियां आदि अनेक पुरानी चीजें निकली हैं। जब से इसकी खुदाई हुई है तब से पुरातत्त्व के अभ्यासियों में खूब जिज्ञासा जागी है। इस शोध-खोज ने तो जगत के शोधकों को भारतवर्ष की संस्कृति की अत्यंत प्राचीनता पर मोहर छाप लगा दी है।

(२) सक्कर-जो-डरो—यह दूसरा स्थान भी लरकाना जिला में ही है। यहाँ से भी बहुत प्राचीन सिक्के मिले हैं।

(३) इनके अतिरिक्त ठट्ठा, साधबेला का मंदिर और इनके सिवाय ऐसे अनेक स्थान हैं कि जहाँ अति प्राचीन अवशेष मालूम पड़ते हैं।

(४) काहू-जो-डरो—यह स्थान मीरपुर खास के निकट मिला है। ब्राह्मण वंश के दूसरे राजा चंदार के इस स्थान पर बनाए हुए बौद्ध संघाराम (मंदिर) निकला है। जैनमूर्तियां भी निकली हैं।

(५) हरप्पा—यह स्थान माउंटगुमरी नगर के निकट है। इसकी खुदाई से भी प्राचीन मूर्तियां, सिक्के, बरतन आदि अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है। पुरातत्त्वज्ञ इस सामग्री को सिन्धुघाटी की सभ्यता का नाम देते हैं और इसे ईसा से ३००० वर्ष प्राचीन मानते हैं। इस सभ्यता को भारत में वैदिक आर्य सभ्यता से पहले की मानते हैं इसके अतिरिक्त—

(६) कालीबंगा के उत्खनन से यह रहस्य अधिक स्पष्ट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में भी जैनधर्म का प्रचार और प्रसार उत्तर-पश्चिम भारत में रहा था। यहाँ से उपलब्ध जैन मूर्तियां ईसा पूर्व ३०० वर्ष की कही जाती हैं। मौर्य-काल की कुछ मूर्तियां पटना (बिहार) म्यूजि-यम में भी सुरक्षित हैं। इसी प्रकार लगभग ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की जैन-चित्रकला से भी स्पष्ट है। पुरातन लिपि में वीर संवत् ८४ का सबसे प्राचीन शिलालेख मिला है। मथुरा के जैन मूर्तिलेख तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन लेखों से तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान महावीर की परम्परा के अखंड अनुयायी श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक ही है। यही महावीर की निर्ग्रंथ परम्परा के वास्तविक वारसादार हैं। वि० सं० १३६ में दिगम्बर पंथ की स्थापना होने के पश्चात् महावीर का निर्ग्रंथ संघ श्वेतांबर जैनसंघ के नाम से प्रसिद्धि पाया, वि० स० १५३१ में लुंकामत और १७०६ में ढूढक मत निकलने के बाद महावीर का निर्ग्रंथ संघ श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक संघ के नाम से प्रसिद्धि पाया।

(७) कदाचित किसी को खबर न हो कि आज जो गौड़ी जी पार्श्वनाथ[1] के नाम से प्रसिद्ध है। यह गौड़ी पार्श्वनाथ जी का मूलस्थान सिन्ध में ही था और पाकिस्तान बनने से पहले तक विद्यमान था। नगर पारकर से लगभग ५० मील दूर तथा गडरा रोड (बाड़मेर) से लगभग ७०-८० मील दूर गौड़ीमंदिर नामका एक गांव है। आस-पास में यहां भीलों की बस्ती है। शिखर-बद्ध गौड़ी पार्श्वनाथ जी का मंदिर है पर इस समय वहाँ मूर्ति आदि कुछ नहीं है। मंदिर जीर्ण-

1. मारी सिंध यात्रा गुजराती-मुनि विद्याविजय जी ईस्वी सन् १९३६ पृ० १०-११

जीर्ण हो गया है। अंग्रेजी सरकार ने इसकी मुरम्मत कराई थी। मंदिर के निकट एक भोयरा भी है। उसमें उतरने की खाज से लगभग ६० वर्ष पहले नगरठट्ठा के असिस्टेण्ट इन्जीनियर श्रीयुत फतेहचन्द जी बी० इदनाणी ने कोशिश की थी, पर वहाँ के भीलों के भय बतलाने से वह यहाँ उतर नहीं पाया। गौड़ी जी के मंदिर के कोट वगैरह के पत्थर उमरकोट के एक सरकारी बंगले के बरांडे आदि में लगे हुए हैं। विक्रम की १७ वीं शताब्दी में बने हुए एक स्तवन में सूरत से एक संघ के निकलने का वर्णन है। संघ अहमदाबाद, आबू, संखेश्वर, राधनपुर होता हुआ सोई जो सिंध में जाने के लिए गुजरात की सीमा पर अंतिम बांध है, वहाँ से रण पार कर सिंध की तरफ गया था। परन्तु वहाँ से आगे बढ़ने के लिए बहुत ही कठिन लगने से वहाँ ही गौड़ी पार्श्वनाथ की भावपूर्वक स्तुति की। गौड़ी पार्श्वनाथ ने वहाँ दर्शन दिये। संघ खुश हुआ, उसने वहाँ चार दिन स्थिरता की और उत्सव किया। पीलु के वृक्ष के नीचे गौड़ी पार्श्वनाथ के चरणबिंब स्थापित किये। तत्पश्चात् संघ वहाँ से राधनपुर चला गया। सिंध के नगर पारकर तथा गौड़ी आदि गुजरात की कच्छ सीमा के बहुत निकट हैं। इसके सिवाय प्राचीन तीर्थमाला में भी गौड़ी जी का मुख्य स्थान सिंध ही कहा है। ई० सं० १९७१ में ये स्थान एक वर्ष तक भारत के अधीन रहे थे। धर्मयुगादि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इन नगरों के जैनमंदिरो के चित्र भी छपे थे। (धर्मयुग जनवरी से मई सन् १९७२ ईस्वी)। आज तो गौड़ी पार्श्वनाथ जी की मूर्तियाँ अनेक नगरों के जैनमंदिरों में विराजमान हैं।

प्राचीन पट्टावलियों और प्रशस्तियों में जैनसाधुओं के सिंध में विहार करने के पुष्कल उल्लेख मिलते हैं।

सिंधु नदी के दूसरी पार मारीइंडस है वहाँ पर नागरगाजन (नागार्जुन) नामक पहाड़ है। उस पहाड़ की एक टेकरी पर गुफा की धरती में से अतिप्राचीन महाचमत्कारी एक प्रतिमा प्राप्त हुई थी, वहाँ पर जैन श्वेतांबर मंदिर का निर्माण हुआ। जब वह देश एकदम म्लेच्छों के हाथ में चला गया तब उस प्रतिमा को पद्मावती देवी खंभात ले गई थी।

सिंध में जैनाचार्यों और जैनमुनियों आदि के विहार

(१) तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर सिंध में वीतभयपत्तन आदि में भी विचरे थे।

(२) लगभग चार सौ वर्ष विक्रम पूर्व श्री रत्नप्रभ सूरि के शिष्य श्री यक्षदेव सूरि सिन्ध में आये। शिवनगर में चौमासा किया। आपके उपदेश से यहाँ के राजा ने एक आलीशान जैन मंदिर बनवाया जिसमें भगवान महावीर की प्रतिमा विराजमान की। इसकी प्रतिष्ठा भी आचार्य श्री ने कराई। चतुर्मास के बाद यहाँ के राजा रुद्राट तथा उसके छोटे पुत्र कक्कव राजकुमार ने लगभग १५० नरनारियों के साथ दीक्षा ली। यक्षदेव सूरि ने इस जनपद में अनेक मंदिरों की प्रतिष्ठाएँ करवाईं। यहाँ से शत्रुंजय का छरी पालता संघ निकाला। कक्कव राजकुमार ने दीक्षा ली उसका नाम कक्क रखा गया और आचार्य पद देकर उन्हें अपना पट्टधर बनाया। नाम कक्क सूरि रखा।

(३) यही कक्क सूरि पुनः शिवपुर अपने ५०० शिष्यों के साथ पधारे। आचार्य रत्नप्रभ सूरि (द्वितीय) ने विक्रम पूर्व २१३ में पंजाब के लाहौर नगर में चौमासा किया और धनपाल के

बनाए हुए जैनमंदिर की प्रतिष्ठा कराई। मरोटकोट (मरुकोट)[1] जिला फ़िरोज़पुर पंजाब के किले की खुदाई करते हुए नेमिनाथ भगवान की मूर्ति निकली थी। उस समय यहाँ का राजा काकू था। उसने श्रावकों को बुलाकर मूर्ति दे दी। यहाँ के श्रावकों ने एक सुन्दर मन्दिर बनवाया और कक्क सूरि द्वारा उसकी प्रतिष्ठा कराई। कक्क सूरि पार्श्वनाथ की परम्परा के आठवें आचार्य थे। वर्तमान पाकिस्तान के नगर मुलतान तथा बहावलपुर से भी मरुकोट (मरोटकोट) पास ही पड़ता है।

(४) विक्रम राजा के गद्दी पर आने से पहले की एक घटना इस प्रकार है—

मालवे की राजधानी उज्जयनी का राजा गर्द्दभिल्ल महा-अत्याचारी था। वह जैन साध्वी का अपहरण करके अपने महलों में ले गया। यहाँ के जैनसंघ ने गर्द्दभिल्ल को बहुत समझाया लेकिन वह माना नहीं। उस समय के महान् जैनाचार्य कालिकाचार्य ने भी उसे बहुत समझाया कि वह उसे छोड़ दे, पर वह हरगिज नहीं माना। सरस्वती साध्वी कालिकाचार्य की बहन तथा उन्हीं की शिष्या थी। आखिर में कालिकाचार्य ने दृढ़ प्रतिज्ञा की और कहा कि—राजन ! जब तक तुम्हें पदच्युत न कर दूंगा तब तक चैन से न बैठूंगा। जैनाचार्य प्रजा के पितृ तुल्य होते हैं इसलिए राजा का यह अत्याचार सहन नहीं कर सके। राजा की पाशविकता से प्रजा की बहन बेटियों की पवित्रता कलंकित होती देखकर वे चुप कैसे बैठ सकते थे ? उन्होंने उज्जयनी को छोड़ा और अनेक परिषहों को सहते हुए सिंध-पंजाब में आए। सिन्धु नदी को पार करके वे शकस्तान में पहुँचे और वहां शक राजा से मिले। ये राजा साखी 'सिथियन' नाम से प्रसिद्ध थे। सिकन्दर के बाद सिथिअन लोगों ने सिंध जीता था। कालिकाचार्य भिन्न-भिन्न स्थानों के ९६ साखी (शक) राजाओं से मिले और उन्हें मालवा तथा दूसरे प्रांतादि दिलाने की शर्त पर सौराष्ट्र होते हुए मालवा में ले आए। साखी राजाओं की सेना ने कालिकाचार्य की अध्यक्षता में गर्द्दभिल्ल से युद्ध किया और उसे पराजित कर उसके राज्य पर साखी राजाओं का अधिकार स्थापित किया और जैन साध्वी को मुक्त कराया। स्वयं प्रायश्चित लेकर साधुचर्या को निरातिचार पालने में दृढ़ बने रहे।

ये कालिकाचार्य श्वेताम्बर जैनाचार्य थे। इस अवसर पर उनके पंजाब, सिंध, ईरान आदि आने से पहले से ही इन जनपदों में बहुत संख्या में ओसवाल आदि श्वेताम्बर जैन महाजन सर्वत्र आबाद थे। कालिकाचार्य का गच्छ भावड़ार अथवा भावड़ा था। कहा जाता है कि वीर निर्वाण संवत् ७० (विक्रम संवत् से ४०० वर्ष पहले) राजस्थान में जोधपुर के समीप उपकेशपुर (ओसिया) में राजपूतों को पार्श्वनाथ संतानीय श्री रत्नप्रभ सूरि ने जैनधर्मी बनाकर श्रावक-श्राविकाएं बनाया था परन्तु ओसवाल समाज का कहाँ और कब निर्माण हुआ इसका इतिहास उपलब्ध नहीं है। मानदेव सूरि तथा अनेक अन्य जैनाचार्यों ने पंजाब और सिंध में भी ओसवाल बनाये थे इसके समर्थन में अनेक प्रमाण मिलते हैं।

(अ) पार्श्वनाथ संतानीय अनेक आचार्यों ने पंजाब-सिंध में जैन बनाये और उन्हें अलग-अलग गोत्र दिये। आज भी वे सब गोत्र ओसवाल जातियों में विद्यमान हैं।

(आ) भगवान महावीर के १९वें पाट पर लघुशांति के कर्ता श्री मानदेव सूरि ने उच्चनगर तक्षशिला आदि में ओसवाल जैन बनाये। इस प्रकार अनेक आचार्यों ने भगवान महावीर से पहले

1. फिरोजपुर जिले के दो वर्तमान नगर मलोट तथा हिन्दू मलकोट नगरों में से कोई एक।

तथा बाद में जैन बनाकर अलग-अलग गोत्र दिये। यह बात अनेक पट्टावलियों से ज्ञात होती है।

कालिकाचार्य निमित्तशास्त्र के बड़े पंडित थे, वे बड़े ग्रंथ कर्त्ता भी थे, महाप्रभावक, महा-समर्थवान, उच्च आचार और विचार सम्पन्न थे। इसलिये आपका भावडार अथवा भावड़ा गच्छ होने से इस जनपद का ओसवाल समाज भावड़ा कहलाया। कालिकाचार्य का भावड़ा गच्छ होने के प्रमाण अनेक प्रतिमा—लेखों में उपलब्ध है। यथा—

१—सं० १५०३ वर्षे मार्ग वदि २ शनौ श्री भावडार गच्छे श्री कालिकाचार्य संताने श्री—श्रीमाल सा० हमीर दे पुत्र आका भार्या कोई पु० कर्मण धीरा उधरण नरभय छांछां स्वपुण्यार्थं श्री वास (सु) पूज्य बिंब कारित श्री वीरसूरिभिः। (प्राचीन लेखसंग्रह लेख नं० १९२)

२—सं० १५३९ वर्षे आषाढ़ सुदि ६ भावडार गच्छे प्राग्वाट तीनावी गोत्रे मं० माकड़ भा० धीरो पु० राघव भा० पूरी पु० धारणा भा० जेठी पु० सहसकिरण भांगा भा० पुतलीमती पुण्यार्थं श्री सुमतिनाथ बिंब का० प्र० कालिकाचार्य संताने श्री भावदेव सूरिभिः (लेख नं० ५७३-प्राचीन लेखसंग्रह भाग १ सं० विजयधर्म सूरि)

भावड़ा गच्छ विक्रम की १७वीं शताब्दी तक विद्यमान था ऐसा प्रतिमालेखों से प्रमाणित होता है। उपर्युक्त लेखों में कालिकाचार्य का भावडार-भावड़ा गच्छ कहा है।

(४) राजस्थान में भी वि० १२ वीं शताब्दी से भिन्न-भिन्न श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने ओसवाल आदि जैन बनाये ऐसे प्रमाण पट्टावलियों और वंशावलियों में मिलते हैं। एवं भिन्न-भिन्न अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रदेशों और नगरों में राजपूत (क्षत्रीय) ब्राह्मण, वैश्य जातियों को प्रतिबोध देकर जैनी बनाया और उनके अलग-अलग गोत्र देकर सब को एक समाज के रूप में संगठित किया, जिसकी संज्ञा महाजन दी। महाजन का अर्थ है महान जन अर्थात् जिस जाति के आचार और विचार महान हैं ऐसे जन-मनुष्य महाजन के नाम से प्रख्यात हुए। पीछे जाकर ये ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाल, श्रीश्रीमाल आदि अनेक जैन जातियों के नाम से प्रसिद्धि पाये।

(५) उमरकोट एक समय जैनों का मुख्य केन्द्रस्थान था। पाकिस्तान बनने से पहले तक यहाँ एक श्वेताम्बर जैनमन्दिर और १५-२० घर जैनों के थे।

(६) मारवाड़ की हकूमत में गिना जाने वाला जूना (पुराना) बाड़मेर और नया बाड़मेर पहले सिंध में थे। ये भी एक समय जैनधर्म की जाहोजलाली वाले स्थान थे। ऐसा वहाँ के मन्दिर और प्राचीन शिलालेख प्रत्यक्ष बतला रहे हैं।

(७) आचार्य रत्नप्रभ सूरि द्वितीय ने वि० पू० २१२ में लोहाकोट (लाहौर) में चौमासा किया।

(८) आचार्य रत्नप्रभ सूरि तृतीय ने पंजाब में स्यालकोट, तक्षशिला, शालीपुर में विचरण किया। यहाँ के महादेव मंत्री ने वि० सं० ११५ में सम्मेतशिखर का संघ निकाला। वीरपुर के राजकुमार ने दीक्षा ग्रहण की, इनका नाम आचार्य पदवी के बाद यक्षदेव सूरि हुआ।

(९) आचार्य यक्षदेव सूरि तृतीय ने वि० सं० १५० में उच्चनगर में राव मालदे के बनाये हुए श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की और शिवनगर में चौमासा किया। राजकुमार

कक्क को दीक्षा दी इसके साथ १५ नर-नारियों ने भी दीक्षा ली। कक्क को आचार्य पदवी दी और नाम कक्क सूरि रखा।

(१०) आचार्य कक्क सूरि तृतीय (वि० सं० १५७ से १७४) ने लोहाकोट (लाहौर) में चतुर्मास किया। यहाँ ११ दीक्षाएं हुईं और सुपार्श्वनाथ के मन्दिर की भी प्रतिष्ठा की। तक्षशिला पधारे। यहाँ आपके गुरु यक्षदेव तृतीय का स्वर्गवास हुआ। वीरपुर में श्रावक पेथा को दीक्षा दी, शिवपुर में क्षत्रीय दाहड़ को दीक्षा दी और लोहाकोट (लाहौर) में शिव को दीक्षा दी।

(११) आचार्य सिद्ध सूरि तृतीय (वि० सं० १७७ से १९९) ने पोमा नगर में पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। मरुकोट (मरोट) में उपाध्याय मंगलकलश के उपदेश से शत्रुंजय का संघ निकला। तक्षशिला और वीरपुर में दीक्षाएं दीं।

(१२) आचार्य रत्नप्रभ सूरि चतुर्थ (वि० सं० १९९ से २१८) में सिंहपुर (जेहलम नदी के तटवर्ती जैन महातीर्थ), कुणालदेश (तक्षशिला) सावत्थी (स्यालकोट) लोहाकोट (लाहौर) नगरों में पधारे। तक्षशिला में चतुर्मास किया। यहां पाँच सौ जैनमन्दिर थे और जैनों की घनी आबादी थी। गोसलपुर में गोसल को दीक्षा दी। लाहौर में मन्दिर की प्रतिष्ठा की। स्यालकोट में ओंकार श्रावक को दीक्षा दी। गोसलपुर से शत्रुंजय का संघ निकाला। सिंध के वडियार, मलकापुर, रेणुकोट, सोलोर, आलोर, डबरेल, सिनपुर, नगरकोट, नारायणपुर, समसौल, देपालकोट, वीरपुर, झीझाटे, तलपाटक, कटिपुरा, कणजोश, सीतपुर, सींहपुर, थनोद, चंडोली, चुड़ा, छिछोली, कोरपुर आदि नगरों में विचरे।

(१३) आचार्य कक्क सूरि (वि० सं० २३२ से २६०) कुणालदेश (तक्षशिला) में पधारे। दीक्षाएं हुईं। लोहाकोट (लाहौर) में मन्त्री नागसेन को दीक्षा दी। स्यालकोट में दीक्षाएं हुईं। वीरपुर में पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। उच्चनगर में रणदेव के बनाये हुए पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। वीरपुर से वीरम ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(१४) महावीर की पट्टपरम्परा में १९वें पट्टपर आचार्य श्री मानदेवसूरि ने तक्षशिला उच्चनगर, देराउल आदि नगरों में बहुत क्षत्रियों को प्रतिबोध देकर ओसवाल जैन बनाया स्व० पंन्यास कल्याणविजयजी का मत है कि इससे मालूम होता है कि ओसवाल जाति पंजाब से पश्चिम दिशा (राजस्थान आदि) में गई होगी। नाडुलाई (राजस्थान) के चतुर्मास में तक्षशिला में महामारी रोग फूट जाने के कारण तक्षशिला के संघ की प्रार्थना पर आपने वि० सं० २८० में लघुशान्ति स्तव संस्कृत भाषा में बनाकर वहाँ भेजा, जिसके जाप से जलमंत्रित करके छिड़कने से वहाँ महामारी का उपद्रव शांत हुआ।

(१५) आचार्य यक्षदेव सूरि पाँचवां (वि० सं० ३१० से ३३६) ने वीरपुर नगर के राजा और मन्त्री को दीक्षा दी, अन्य दीक्षाएं भी दीं, चतुर्मास किया तथा पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(१६) आचार्य कक्क सूरि पाँचवां (वि० सं० ३३६ से ३५७) ने वीरपुर में दीक्षाएं दीं। मालाशाह ने शत्रुंजय का संघ निकाला। लाहौर से रणवीर ने सम्मेतशिखर का संघ निकाला तक्षशिला से करणाट गोत्रीय रावल ने शत्रुंजय का संघ निकाला। मरोट में महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(१७) आचार्य सिद्ध सूरि पाँचवाँ (वि० स० ३७० से ४००) ने वीरपुर में चतुर्मास किया। मरुकोट (मरोट) में शांतिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(१८) आचार्य रत्नप्रभ सूरि (वि० सं० ४०० से ४२४) ने सिंध के डमरेल नगर में चौमासा किया। यहाँ सन्यासी से शास्त्रार्थ करके विजय पाई और उसे शिष्यों सहित जैन साधुओं की दीक्षाएं दीं। वीरपुर में चौमासा किया, मूला श्रावक को दीक्षा दी। यहाँ के शार्दूल श्रावक ने पूजा में प्रत्येक श्रावक-श्राविका को प्रभावना में लड्डू में पाँच-पाँच सोना मोहरें और पहरामनी (पोशाक) दी।

(१९) आचार्य यक्षदेव छठा (वि० सं० ४२४ से ४४०) ने सिंध के डमरेल नगर में श्रावक रूपा को दीक्षा दी। वीरपुर से पार्श्वशाह ने शत्रुंजय का संघ निकाला। मरोटकोट में पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(२०) आचार्य कक्क सूरि छठा (वि० सं० ४४० से ४८० में)—आपकी निश्रा में वीरपुर के श्रावक नारायण ने शत्रुंजय का संघ निकाला। नारायणपुर में महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(२१) आचार्य देवगुप्त सूरि छठा (वि० सं० ४८० से ५२०) ने वीरपुर में श्रावक डालहण को दीक्षा दी। मरोटकोट में भूता ने दीक्षा ली। वीरपुर से शाह मुकन्द ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(२२) आचार्य सिद्ध सूरि छठा (वि० स० ५२० से ५५८) ने लोहाकोट (लाहौर) में वीरदेव को दीक्षा दी और चतुर्मास किया। डमरेल में चतुर्मास किया, यहाँ सात महिलाओं को दीक्षा दी, अनेकों को जैन बनाया, कई पुरुषों की दीक्षाएं भी हुईं। शालीपुर, वीरपुर, शिवनगर में आपने दीक्षाएँ दीं। वीरपुर से साँकला श्रावक ने शत्रुंजय का संघ निकाला। मरुकोट में महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

(२३) विक्रम की दूसरी शताब्दी में जैनधर्म के कार्य करने वाले राजाओं के नाम—

१—राजा वीरधवल के बड़े राजकुमार वीरसेन ने दीक्षा ली।

२—राजा देवसेन ने जैनमंदिर बनवाया और प्रतिष्ठा कराई।

३— राजा केतूसेन के पुत्र हालु ने मुनि वीरसेन से दीक्षा ली।

४—राजा रायसेन ने जैनतीर्थों का संघ निकाला।

५—राजा वीरसेन ने वीरपुर में महावीर का मन्दिर बनवाया और प्रतिष्ठा कराई।

(२४) आचार्य कक्क सूरि सातवाँ (वि० स० ५५८ से ६०१) ने वीरपुर में दीक्षाएं दीं। डमरेल में दीक्षाएं दीं। देशल के मन्त्री राजसी ने शत्रुंजय का संघ निकाला। वीरपुर के राजा ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(२५) आचार्य देवगुप्त सूरि सातवाँ (वि० सं० ६०१ से ६३१) ने डमरेल में पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। स्यालकोट में रांका गोत्रीय खेता के मल्लिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। वीरपुर में प्राग्वाट पद्मा ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(२६) आचार्य सिद्ध सूरि सातवें (वि० सं० ६३१ से ६६१) तथा देवगुप्त सूरि सातवें डमरेल होते हुए मालपुर पधारे। श्रावक आसल ने नौ लाख रुपया खर्च करके आचार्य श्री का

नगर प्रवेश कराया। इस अवसर पर इसने सार्धमियों को पहरामणी भी दी और याचकों को दान दिया। आपने यहीं चतुर्मास किया, ४२ नर-नारियों को दीक्षाएं दीं, मन्दिर की प्रतिष्ठा की। शत्रुंजय, गिरिनार का संघ निकाला, आसल को दीक्षा दी और आचार्य पद देकर सिद्ध सूरि नाम रखा। सिद्ध सूरि से वीरपुर में देसल ने दीक्षा ली, आबू के ऋषभदेव के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। लोहाकोट (लाहौर) के मंत्री ठाकुरसी ने यात्रा संघ निकाला।

(२७) आचार्य देवगुप्त सूरि आठवां (वि० सं० ६८० से ७२४)—सिंध प्रांत में राव गोसल ने वि० सं० ६८४ में अपने नाम से गोसलपुर नगर बसाया। देवगुप्त सूरि ने इसे उपदेश देकर जैनधर्मी बनाया। इसकी वंश परम्परा सिंध में विक्रम की १४वीं शताब्दी तक रही। आखिर इसका वंशज लुणाशाह नामक गृहस्थ हुआ जो राजस्थान में चला गया। वहां उसका कुल लुणावत नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(२८) आचार्य सिद्ध सूरि आठवां (वि० सं० ७२४ से ७७८)—पंजाब में सावत्थी (स्यालकोट) में चतुर्मास किया और साधुओं को पदवियां प्रदान कीं। गोसलपुर पधारे वहां राव गोसल के पुत्र राव आसल आदि ने आचार्य श्री का बड़ी धूमधाम से प्रवेश कराया। चतुर्मास यहीं किया और दीक्षाएं भी दीं। डमरेल, वीरपुर और उच्चनगर में एक-एक चौमासा किया। साधुओं को पदवियाँ दीं। उच्चकोट, शिवनगर, मालपुरा, नारायणपुर तथा आसलपुर में पार्श्वनाथ के मन्दिरों की प्रतिष्ठाएं कराईं। लोहाकोट (लाहौर) से भैरोंशाह ने सम्मेतशिखर का संघ निकाला।

(२९) आचार्य कक्क सूरि नवां (वि० सं० ७७८ से ८३७) आचार्य सिद्ध सूरि आठवें ने गोसलपुर में कज्जल को दीक्षा दी और आचार्य पदवी देकर कक्क सूरि नाम रखा। पंजाब में दो चौमासे किये। हस्तिनापुर की यात्रा की। कोठीपुर (कांगड़ा) में महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। सिंध मे नगरकोट, शिवपुर में महावीर के मन्दिरों की प्रतिष्ठाएं कराईं।

(३०) भगवान महावीर की पट्टपरम्परा के वादिदेव सूरि ने काश्मीर में वादिसागर ब्राह्मण को वाद में पराजित किया।

(३१) आचार्य देवगुप्त सूरि नवां (वि० सं० ८३७ से ८९२)—सिंध जनपद में विचरण करते समय यक्ष ने आप की सेवा में रहने का वचन दिया। सन्यासी को प्रतिबोध देकर शिष्यों सहित जैनधर्मी बनाया। पश्चात् वीरपुर के राव सोनग ने आप श्री का आडंबर पूर्वक नगर प्रवेश कराया। चतुर्मास यहीं पर किया। राव सोनग द्वारा बनवाये हुए महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। गोसलपुर में चतुर्मास किया। वीरपुर डमरेल में अनेकों ने दीक्षाएं ग्रहण कीं। डमरेलपुर में श्रीमाल देवल ने वीर विहरमान (जीवत स्वामी) के मन्दिर का निर्माण कराया और प्रतिष्ठा कराई। शिवनगर के मन्त्री कोरपाल ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(३२) आचार्य सिद्ध सूरि नवां (वि० सं० ८९२ से ९५२) ने वीरपुर पधार कर दीक्षाएं दीं और महावीर के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई।

(३३) आचार्य कक्क सूरि दसवां (वि० सं० ९५२ से १०११) ने वीरपुर में दीक्षाएं दीं वीसलपुर में महावीर तथा आदीश्वर भगवान् के मंदिरों की प्रतिष्ठाएं कराईं। डमरेल से अर्जुन ने शत्रुंजय का संघ निकाला।

(३४) आचार्य देवगुप्त सूरि दसवाँ (वि० सं० १०११ से १०३३) ने वीरपुर, डमरेल में अनेक नर-नारियों को दीक्षाएं दीं। वीरपुर में सुमतिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई और यहाँ से शत्रुंजय का संघ निकाला।

(३५) आचार्य सिद्ध सूरि दसवाँ (वि० सं० १०३३ से १०७४) ने वीरपुर में आदिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

३६) आचार्य कक्क सूरि ग्यारहवाँ (वि० सं० १०७४ से ११०८) ने वीरपुर मे सीमंधर स्वामी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की। आर्य साहू ने यहाँ से शत्रुंजय का संघ निकाला। डमरेलपुर में ४२ नर-नारियों को दीक्षाएं दीं।

(३७) आचार्य देवगुप्त सूरि ग्यारहवाँ (वि० सं० ११०८ से १२२९) ने वीरपुर में अनेक नर-नारियों को दीक्षाएं दी। शिवपुर में श्रीमाल शूरा ने सात साधर्मी वात्सल्य किये। संघपूजा करके प्रत्येक को स्वर्णथाली प्रभावना में दी। मरोटकोट के जाइया क्षत्रीय वंश के काम नामक मांडलिक राजा को किले की नीव खोदते हुए श्री नेमिनाथ की विशाल मूर्ति मिली। उसने जैनधर्म को स्वीकार किया और मन्दिर बनवा कर श्री नेमिनाथ को मूलनायक स्थापित करके प्रतिष्ठा कराई। रेणुकोट में राजा के बनाये हुए जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा की। चौमासा डमरेल में किया।

(३८) आचार्य जिनवल्लभ सूरि (वि० सं० ११३० लगभग) ने मरुकोट (मरोट) में एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की और उपदेश माला की एक गाथा पर छह महीने तक व्याख्यान दिया।

(३९) इसी शताब्दी मे जिनभद्र उपाध्याय के शिष्य वाचक पद्मप्रभ भी त्रिपुरादेवी की आराधना करने के लिए सिंध आये थे। वे डमरेलपुर गये वहाँ जसा नाम के एक दानी श्रावक ने बड़ा भारी उत्सव किया। यहाँ श्रावकों ने एक मन्दिर बनवाया था, वाचक पद्मप्रभ ने उसकी प्रतिष्ठा की।

(४०) आचार्य सिद्ध सूरि ग्यारहवाँ (वि० सं० ११२८ से ११७४) ने डमरेल, वीरपुर, रेणुकोट आदि नगरो में अनेक नर-नारियो को दीक्षाएं दी। तक्षशिला मे झांझन पारख के धर्मनाथ के जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा कराई। स्यालकोट में श्रावक नाड़ा-गोत्र डिढू के विमलनाथ के जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा कराई।

जैन महाजनों के भारत में महान आदर्श कार्यों के कारण बड़े-बड़े राजाओं-महराजाओं ने उन्हें शाह की पदवी से विभूषित किया।

शाहों की ७४॥ ख्याती हैं अर्थात्:७४-७५ शाहो ने ऐसे आदर्श कार्य किये हैं जिनके उदाहरण खोजने से भी नही मिलते। इनमें से हम यहाँ सिंध-पंजाब में होने वाले कुछ शाहों का विवरण देते हैं—

१—वि० सं० ३७२ में धवल पि० गोसल सा गोत्र भूरि ने वीरपुर से श्री शत्रुंजय का संघ निकाला। सकल संघ की पूजा करके प्रत्येक व्यक्ति को सोने की सुपारियों की प्रभावना दी।

२—वि० सं० ४७० में गोकुल सा के पुत्र सोमा-गोत्र चोरड़िया ने मरोटकोट से शत्रुंजय आदि तीर्थों का सघ निकला। भगवान ऋषभदेव के मन्दिर में चन्दनहार अर्पण किया।

३—वि० सं० ५५२ में सा गांधी के पुत्र देपाल ने दिल्ली में सात साधर्मीवात्सल्य किये संघ को घर पर बुलाकर प्रत्येक व्यक्ति की एक-एक सोने की मोहर से संघपूजा की।

४—वि० सं० ६१३ में मोपत सा के पुत्र अमरो- गोत्र गोलेच्छा ने जोगनीपुर (दिल्ली) से शत्रुंजय आदि तीर्थों का संघ निकाला। दिल्ली से शत्रुंजय तक आते हुए प्रत्येक गांव और नगर के प्रत्येक साधर्मी को एक-एक सोनामोहर प्रभावना में दी।

५—सं० ८६१ में सा भानुजी के पुत्र काबड़-गोत्र आर्य ने गोसलपुर में ८४ न्यातों का चार-बार जीमनवार किया। पांच साधर्मीवात्सल्य किये। संघपूजा में सोने की एक-एक मोहर दी।

६—वि० सं० ६७४ में देदा सा के पुत्र कल्याण ने वीरपुर से शत्रुंजय आदि तीर्थों का संघ निकाला। शत्रुंजय तीर्थ पर बहत्तर लाख (७२०००००) सोना मोहरों की बोली लेकर ध्वजा चढ़ाई। संघपूजा में प्रत्येक व्यक्ति को पांच-पांच सोना मोहरे और पोशाक दी।

७—वि० सं० १३१२-१५ में सारे देश में महाभयंकर दुष्काल पड़ा उस समय ओसवाल महाजनों ने सारे देश में अन्न-चारा आदि देशवासियों को दान में दिया। सिंध के राव पमीर को ८००० मूढ़ा धान दिया। दिल्ली के बादशाह को २१००० मूढ़ा धान दिया। कंदहार (गांधार) के राजा को १२००० मूढ़ा धान दिया। शेष जनता को ८०००० मूढ़ा धान दिया।

८—वि० सं० १५८२ में सा गोरख के पुत्र साधू—गोत्र पालेचा ने दिल्ली से संघ निकाल कर भारत की सब यात्राएं कीं। तीर्थ पर नौ लाख मूल्य का हार चढ़ाया।

६—वि० सं० १६७० में सा गोकुल के पुत्र सा हेमराज ने दिल्ली में म्लेच्छों (मुसलमानों) द्वारा कैद किये गये हिन्दुओं को करोड़ों द्रव्य देकर छुड़ाया। बावन जिनालय मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठा कराई। संघपूजा करके पांच-पांच सोना मोहरें प्रत्येक को प्रभावना में दीं।

विशेष घटनाएं

१—आचार्य यक्षदेव ने सिंध के शिवनगर के मांडलिक राजा रूद्राट के बनाए हुए महावीर के जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा कराई।

२—वि० सं० ६० में मांडलिक राव के राजकुंवर कक्कव ने दीक्षा ली और आचार्य पदवी पाकर कक्क सूरि बने।

३—वि० १०७ में तक्षशिला में जगमल राजा राज करता था। श्रावक जावड़ने श्री ऋषभदेव की प्रतिमा शत्रुंजय पर्वत पर यहां से ले जाकर स्थापित कर तीर्थ का उद्धार किया।

४—वि० सं० १६८ में राजा कनकसेन ने सिंध में वीरपुर नगर बसाया।

५—वि० सं० २८० में मानदेव सूरि ने नारदपुरी (नाडोल-राजस्थान) में संस्कृत में लघु शान्ति स्तव बनाकर तक्षशिला के श्रावक के साथ तक्षशिला में भेजा और उसके पाठ द्वारा मन्त्रित जल को घरों में छिड़कने से महामारी का निवारण हुआ।

६—वि० सं० ६६४ में हर्षवर्धन का राज्याभिषेक हुआ।

७—विक्रम की ११ वीं शताब्दी में महमूद गज़नवी ने तक्षशिला को जीता और उस का नाम गज़नी रखा।

पंजाब में उपकेश गच्छ में दीक्षा लेनेवाले आचार्य

१—भगवान पार्श्वनाथ के आठवें पट्टधर कक्क सूरि का सिंध में शिवपुर में सूरिपद वीरात् १२८ तथा स्वर्गवास वीरात् १८२ में हुआ।

२—बारहवें पट्टधर यक्षदेव सूरि का पंजाब में लोहाकोट (लहौर) में वीरात् २८८ में सूरिपद तथा स्वर्गवास वीरात् ३३४ में हुआ।

३—सत्तरहवें पट्टधर यक्षदेव सूरि का सिंध के वीरपुर में विक्रम संवत् ११५ में सूरि पद तथा स्वर्गवास वि० सं १५७ में हुआ।

४—तेइसवें पट्टधर कक्क सूरि का पजाब में लोहाकोट (लाहौर) में वि० सं० २३५ में सूरिपद तथा वि० सं० २६० में स्वर्गवास हुआ।

५—सत्ताइसवें पट्टधर यक्षदेव सूरि का सिंध के वीरपुर में वि० सं० ३१० में सूरिपद तथा वि० सं० ३३६ में स्वर्गवास हुआ।

६—बयालीसवें पट्टधर कक्क सूरि का वि० स० ७७८ में सूरिपद सिंध के गोसलपुर नगर में तथा स्वर्गवास वि० सं० ८३७ में हुआ।

७—चवालीसवें पट्टधर सिद्ध सूरि का सिंध के डीडूपुर में वि० सं० ८६२ में सूरिपद तथा वि० सं० ९५२ मे स्वर्गवास हुआ।

८—पैंतालीसवें पट्टधर कक्क सूरि का सिंध के गोसलपुर में वि० सं० ९५२ में सूरिपद तथा वि० सं० १०११ में स्वर्गवास हुआ।

९—उनपचासवें पट्टधर देवगुप्त सूरि का सिंध के डमरेलपुर में वि० सं० ११०८ में सूरिपद तथा वि० सं० ११२८ में स्वर्गवास हुआ।

हम लिख आये हैं कि सिंध मे अनेक जैनराजा हुए हैं और सर्वत्र जैनधर्मानुयायी गृहस्थ और साधु बड़ी सख्या मे विद्यमान थे। मुसलमानों के सिंध पर पहली बार के आक्रमण के समय भी यहाँ पर जैनों की बहुत आबादी थी और यहाँ का राजा भी जैनी था। इसकी पुष्टि नीचे लिखे विवरण से भी हो जाती है—

Elliot History of India Vol I में लिखा है कि—

Muslims first attacked Sindh and found it full of people called 'Sramanas'. (p. p. 146-158). The ruler of Sindh of that time was also a follower of Sramanas who observed the vow of Ahimsa minutly and had great confidence in their archacological predication (p. p. 158-161).

The term Saman or Shramana stands for Jain asceties Indipendent evidence also proves excistence of Jainism in Sindh (Jina Vijay विज्ञप्ति त्रिवेणी प्रस्तावना)।

अर्थात्—एलिअोट हिस्ट्री आफ इंडिया वाल्युम एक में लिखा है कि जब मुसलमानों ने सिंध पर पहला आक्रमण किया और इसे ऐसे लोगों से भरपूर पाया जो श्रमण [तथा श्रमणोपासक] कहलाते थे (पृष्ठ १४६-१५८)। उस समय सिन्ध का राजा भी श्रमणोपासक था। जो सावधानीपूर्वक अहिंसा के पालन करने-कराने का पक्षपाती था और वह पुरातत्त्व (मूर्ति-मंदिर आदि) की पूजा आदि पर बहुत विश्वास रखता था। (पृष्ठ १५८-१६१)।

समन अथवा श्रमण जैन तपस्वियों को कहा जाता था। अर्थात् अहिंसा का पालन, मूर्ति-मंदिर आदि पर श्रद्धा तथा तपस्या ये सब बातें इस बात के स्वतंत्र प्रमाण हैं कि उस समय सिंध में सर्वत्र जैन लोग ही सर्वाधिक संख्या में आबाद थे। (जिनविजय जी की विज्ञप्तित्रिवेणी की प्रस्तावना)।

सामाजिक शिक्षा भाग ३ पृष्ठ २१ में लिखा है कि—

सिन्ध का राजा वाहिर जैन था, जिस ने मुसलमान आक्रमणकारियों को बुरी तरह से खदेड़ डाला था, और वे भारत से वापिस अपने वतन को लौट गये थे।

तत्पश्चात् भी सिंध में जैनधर्म का सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार और प्रभाव रहा। यथा—

(४१) वि० सं० १२१८ में जिनचन्द्र सूरि ने उच्चनगर में कुछ नर-नारियों को दीक्षाएं दीं थीं।

(४२) वि० सं० १२२७ में मरुकोट में (वर्तमान में मरोट-पाकिस्तान में) जिनपति सूरि ने तीन आदमियों को दीक्षाएं दीं थीं। विज्ञप्ति त्रिवेणी में मरुकोट को महातीर्थ के नाम से संबोधित किया है।

(४३) वि० सं० १२८२ में आचार्य सिद्ध सूरि बारहवें ने उच्चनगर में शाह लाखा के बनाये हुए जैनमंदिर की प्रतिष्ठा कराई। उस समय यहाँ ७०० घर जैनों के थे।

(४४) वि० स० १२९३ मे आचार्य कक्क सूरि बारहवें का चतुर्मास मरुकोट (मरोट) में हुआ था। चोरड़िया गोत्र के शाह काना और माना ने सात लाख का द्रव्य खर्च करके सिद्धाचल जी का संघ निकाला था।

(४५) वि० १३२० तक पेथड़शाह ने भारत के ८४ प्रमुख नगरों में ८४ जैनमंदिरों का निर्माण कराया था। जिन में से जालंधर (कांगड़ा), पाशुनगर (पेशावर), हस्तिनापुर, वीरपुर (सिंध), योगिनीपुर (दिल्ली), उच्चनगर (भारत का उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत), काश्मीर आदि पंजाब के अनेक नगरों में भी एक-एक जैनमंदिर निर्माण कराया था। यह पेथड़शाह श्वेतांबर जैनधर्मानुयायी था और मांडवगढ़ का निवासी था।

(४६) वि० सं० १३१७ में आचार्य देवगुप्त सूरि बारहवें सिंध में आये और रेणुकोट मे चतुर्मास किया। तीन सौ परिवारों को जैनधर्मी बनाया और महावीरस्वामी के मंदिर की प्रतिष्ठा कराई। वि० सं० १३९ में निर्ग्रंथ संघ में से दिगम्बर पंथ निकला उसके बाद निर्ग्रंथ गच्छ (गण) श्वेतांबर जैनसंघ के नाम से प्रसिद्धि पाया। इसके ८४ गच्छ, हैं इन में से एक बड़गच्छ भी है। इस की स्थापना वि० सं० ९९४ में भगवान महावीर के ३५ वें पट्टधर आचार्य श्री उद्योतन सूरि से हुई थी। यह निर्ग्रंथ गण का पांचवां नाम प्रसिद्ध हुआ।

(४७) विक्रम की १४ वी शताब्दी में बड़गच्छ के भटनेर (वर्तमान में हनुमानगढ़) शाखा में मुनिशेखर सूरि नाम के प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं, उनके सम्बन्ध में बृहद्गच्छ (बड़गच्छ) गुरवावली में निम्नोक्त तीन पंक्तियां पाई जाती हैं—

"येषां युगप्रधानानां अद्यापि कायोत्सर्गो विधीयते।
यैः पूर्वभट्टोपुरस्थैर्व्याख्यानावसरे मुदा ॥
श्री शत्रुंजयगिरेरग्निर्हस्ताभ्यामुपशामितः ॥१॥"

इस से उनके विशिष्ट प्रभाव और लब्धि सम्पन्नता का पता चल जाता है।

चौकी पर बैठ कर व्याख्यान करते हुए शत्रुंजय तीर्थ पर लगी हुई अग्नि को आपने उपशमित कर (बुझा) दिया था। बावन वीर और चौसठ योगिनियाँ आप की हाजरी में रहते थे। इस चमत्कार के कारण बड़गच्छ में आज तक आपका कायोत्सर्ग किया जाता है।

इस तरह नित्य-निरन्तर आप की शिष्य परम्परा ने आप की स्मृति बनाये रखी है। आप बड़गच्छ के दादा के नाम से प्रसिद्ध हैं। मुनिशेखर सूरि मुनि (मणि) रत्न सूरि के शिष्य थे और पट्टधर भी थे। संसारावस्था में आप श्री मणिरत्न सूरि के वंशज भी थे।

मुनिशेखर सूरि का जन्म दूगड़ वंश (गोत्र) के आदि पुरुष श्री दूगड़ जी की दसवीं पीढ़ी में हुआ था। आप का जन्म उच्चनगर (पंजाब) में हुआ था। आप का वंश परिचय इस प्रकार है—

"श्री दूगड़ जी की आठवीं पीढ़ी में श्री जसदेवजी आघाट (राजस्थान) में हुए, इनके पुत्र श्री ईश्वरचन्द्र जी विक्रम की १३वीं शताब्दी में अपने परिवार को साथ में लेकर उच्चनगर में आकर बस गये। ईश्वरचन्द्र जी की पत्नी ईश्वर दे की कुक्षी से दो पुत्रों का जन्म हुआ। १—थिरदेव और २—शेखर। शेखर ने आचार्य मुनिरत्न सूरि से उच्चनगर में दीक्षा ली। आचार्य पदवी प्राप्त करने पर आपका नाम मुनिशेखर सूरि हुआ। आप बाल ब्रह्मचारी थे।[1] वि० सं० १३४५ में इनके भाई थिरदेव ने शत्रुंजय आदि तीर्थों का संघ निकाला और संघवी का पद प्राप्त किया। मुनि (मणि) रत्न सूरि तथा इनके पट्टधर शिष्य मुनिशेखर सूरि भी अपने शिष्यों प्रशिष्यों सहित इस संघ के साथ थे। मुनिरत्न सूरि तपागच्छ संस्थापक आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि के संसारावस्था के सगे भाई थे। मुनि अवस्था में मुनिरत्न सूरि गुरु और जगच्चन्द्र सूरि उनके शिष्य थे। ये दोनों श्री दूगड़ जी की सातवी पीढ़ी में हुए हैं। मुनिशेखर सूरि श्री जगच्चन्द्र सूरि के संसारावस्था के प्रपौत्र थे। मुनिशेखर सूरि की प्रतिमा भट्टनेर में पूजी जाती थी।

(४८) मुनिशेखर सूरि के पट्टधर श्री तिलक सूरि थे। श्रीपूज्य भावदेव सूरि भी इसी गच्छ में बड़े प्रभावशाली और चमत्कारी जैनाचार्य हुए हैं। इनके शिष्य यति कवि माल ने हिन्दी और राजस्थानी भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचनाएं की हैं जो भाषा, कविता तथा प्रस्तुत विषयों की प्रौढ़ता के बोलते संदर्भ हैं। कवि माल का समय विक्रम की १७ वीं शताब्दी है। इन की गद्दी सिरसा ज़िला हिसार में भी थी। मुनिशेखर सूरि की कितनी पीढ़ी के बाद कौन से साधु गद्दीधर यति बने यह ज्ञात नहीं है।

(४९) वि० सं १३४५ में आचार्य सिद्ध सूरि के आज्ञाकारी मुनि श्री जयकलश उपाध्याय ने सिंध में विहार करके जैनधर्म की प्रभावना के बहुत शुभ कार्य किये थे।

(५०) वि० सं० १३७४ में देवराजपुर में राजेन्द्रचन्द्र का आचार्य पद हुआ और उन्होंने अनेक नर-नारियों को दीक्षाएं दीं।

(५१) गणधरसार्द्ध शतक (वि० सं० १२९५) की बृहद्वृत्ति में उल्लेख आचार्य श्री जिनवल्लभ सूरि तथा इन के शिष्य आचार्य श्री जिनदत्त सूरि का अपने शिष्यों प्रशिष्यों साधुओं के साथ सिन्ध में आगमन हुआ और मरोट, उच्चनगर, मुलतान में चतुर्मास किये। नारनौल में आये, भट्टनेर भी गये तथा सिंध देश में पाँच पीरों को साधा।

1. देखे इस ग्रन्थ के लेखक द्वारा लिखित "सद्धर्म संरक्षक" नामक पुस्तक।

(५२) खरतरगच्छीय श्री जिनपति सूरि ने हिसार के समीप आसीनगर में जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। (हिसार जिले का आसीनगर वर्तमान में हांसी नगर अथवा रोहतक के पास अस्थलबोहर गाँव जहां ई० स० १९७५-७६ में भूखनन से जैन श्वेतांबर प्रतिमाएं मिली हैं)

(५३) वि० सं० १३८४ में जिनकुशल सूरि सिंध में उच्चनगर, देराउर, क्यासपुर, बहुरामपुर, मलिकपुर आदि अनेक नगरों में विचरे। नौ साधुओं और साध्वियों को दीक्षाएं दीं। क्यासपुर और रेणुकोट में जैनमंदिरों की प्रतिष्ठाएं भी कीं। आप वि० सं० १३८४ से १३८९ तक सिंध में विचरे। आप का स्वर्गवास देरावर (सिंध) में वि० सं० १३८९ फाल्गुण वदि पंचमी को हुआ। आप के अग्नि संस्कार के स्थान पर एक स्तूप का निर्माण किया गया।

(५४) वि० सं० १३८९ जेठ सुदि ९ को हरिपाल श्रावक कारित श्री आदिनाथ की प्रतिमा, देरावर में जिनकुशल सूरि का स्तूप, जेसलमेर और क्यासपुर के लिये श्री जिन-कुशल सूरि की ३ प्रतिमाओं का प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ।

(५५) जिनचन्द्र सूरि के गुरु जिनमणिक्य सूरि देराउल (देरावर) में श्री जिनकुशल सूरि की समाधि के दर्शन करने आये थे। वहां से जेसलमेर जाते हुए पानी के अभाव से वि० सं० १६११ में रास्ते में ही स्वर्गवासी हुए।

(५६) वि० सं० १४६० में भुवनरत्नाचार्य ने द्रोहदट्टा में चतुर्मास किया।

(५७) हम कांगड़ा के प्रकरण में लिख आये हैं कि—विक्रम सं० १४८३ में जयसागरो-पाध्याय सिंध में मुबारकपुर में आये उस समय वहाँ जैनों के १०० घर थे। उन्होंने मम्मनवाहन में चौमासा किया था। वे संघ के साथ मरुकोट (मरोट) महातीर्थ की यात्रा करने भी गये थे। तथा वि० सं० १४८४ में आप ने मलिकवाहनपुर में चौमासा किया। तत्पश्चात् संघ के साथ कांगड़ा तीर्थ की यात्रा करने गये थे। (मलिकवाहनपुर का नाम मूलस्थान, मुलतान के नाम से सम्बंधित प्रतीत होता है।

(५८) विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में जिनचन्द्र सूरि के शिष्य जिनसमुद्र सूरि ने सिंध में पंचनद की साधना की थी।

(५९) वि० सं० १२७५ से १३०३ में परमार्हत जैन धर्मानुयायी महामात्य वस्तुपाल व तेजपाल दोनों भाइयों ने सारे भारत में देश, समाज, राज्य, धर्म के लिए अरबों खरबों रुपया खर्च करके अनेक महान कार्य किये थे इस का परिचय हम आगे लिखेंगे। उन्होंने सिंध-पंजाब, काश्मीर में भी बड़े-बड़े जनोपयोगी कार्य किये। इस क्षेत्र में जैनमंदिरों आदि का निर्माण तथा जीर्णोद्धार भी कराया। मात्र इतना ही नहीं परन्तु जैनेतर मंदिरों का निर्माण और जीर्णोद्धार भी कराया था। पंजाब में मूलस्थान (मुलतान) में हिन्दुओं का महाप्रसिद्ध एक सूर्यमंदिर था जिसके लिये लोगों की यह धारणा थी कि इस मंदिर का अद्भुत सामर्थ्य है। इस मंदिर को मुसलमानों ने भंग कर दिया था। महामात्य वस्तुपाल तेजपाल ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार करवा दिया था। (दर्भावती की मेघनाथ प्रशस्ति श्लोक ९२ से १११)। इस प्रकार पंजाब आदि जन-पदों में भी इन के पुण्यकार्यों की कमी नहीं थी।

(६०) मुहम्मद गौरी के स्वदेश लौट आने के बाद वास्तव में भारत में मुसलमानी शासन की दृढ़ नींव कुतुबुद्दीन एबक द्वारा डाली गई। यह इसलाम का कट्टर अनुयायी था। इस ने अपनी

धर्मान्धता से अनेकों जैन और हिन्दू मंदिरों को ध्वंस किया। राजा अनंगपाल तृतीय के राज्य में मंत्री नट्टल द्वारा बनाये हुए विशाल जैनमंदिर को भी तोड़कर उसे कुव्वतुल इसलाम (मुसलमानों की शक्ति) नामक मस्जिद में परिवर्तित किया। जनरल ए० कनिंघम को दिल्ली की इस मस्जिद की एक दीवार पर अंकित एक शिलालेख मिला था, जिसमें लिखा था कि इस मस्जिद की निर्माण सामग्री प्राप्त करने के लिये २७ मंदिरों को नष्ट किया गया है।

उक्त प्रकार के कार्य सामान्यतः अधिकांश मुसलमान बादशाहों के शासनकाल में होते रहे। किन्तु इस वातावरण में भी जैनसाधुओं और श्रावकों ने अपने धर्म पर आरूढ़ रह कर तथा समुचित कर्तव्यों को निभाकर अपने साहस व धैर्य के अनूठे उदाहरण उपस्थित किये हैं।

(६१) ईस्वी सन् १२७२ (वि० सं० १३२६) में जब कि दिल्ली में गुलामवंश के ग्यासुद्दीन बलबन का शासनकाल था उस समय श्वेतांबर जैनधर्मानुयायी प्राग्वाट ठक्कुर फेरू शाही खजानची (राज्य कोषाध्यक्ष) थे, वे बहुत बड़े विद्वान भी थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना भी की। वे रत्नपरीक्षक तथा टकसाल के कार्य में दक्ष थे। उन्होंने करनाल में वास्तुसार नामक ग्रंथ की रचना भी की थी। जिसमें जैनमंदिरों, जैनमूर्तियो के निर्माण तथा स्वरूप का सुन्दर वर्णन है एवं इन की प्रतिष्ठा आदि संबन्धी विषयों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

(६२) इसी के राज्यकाल में जैनश्वेतांबर धर्मानुयायी प्राग्वाट (पोरवाल) कुल के सुर और वीर नाम के दो वीरों को इस ने अपने राज्य मंत्री बनाये थे।

(६३) ईस्वी सन् १३१६ (वि० सं० १३७३) में जैन श्वेतांबर श्रावक देवराज ने दिल्ली से शत्रुंजय तीर्थ का संघ निकाला था।

(६४) तुगलक वंश के सर्वप्रथम शासक ग्यासुद्दीन के शासनकाल में वि० सं० १३८० में दिल्ली निवासी श्वेतांबर जैनधर्मानुयायी श्रीमाल ज्ञातीय सेठ हरू के पुत्र श्रावक रयपति ने तीर्थ यात्रा के लिये शाही फ़रमान प्राप्त किया और पांच मास की लम्बी यात्रा के बाद दिल्ली वापिस पहुंचा।

(६५) मुबारिकशाह के शासनकाल में (वि० सं० १४७८-८०) शाह हेमराज जैनमंत्री ने दिल्ली में एक जैनमंदिर बनवाया था। बाद में राज्य भी किया जो हेमू के नाम से प्रसिद्ध था। दिल्ली के राजसिंहासन पर वह इस काल का प्रथम जैन राजा था।

(६६) आचार्य जिनप्रभ सूरि ने मुहम्मद तुग़लक के राज्यकाल में ही अपना विविध तीर्थकल्प नामक ग्रंथ दिल्ली में सम्पूर्ण किया। हस्तिनापुर आदि पंजाब के अनेक तीर्थों की यात्राएं भी की। हस्तिनापुर तीर्थ के स्तवन और कल्प की रचना भी की।

(६७) चमत्कारी श्रीपूज्य भावदेव सूरि ने वि० सं० १६०४ में श्रीपूज्य पदवी पाई जिनकी भट्टनेर में गद्दी थी। बहुत प्रभावक और चमत्कारी हुए हैं सिंध और पंजाब में भी इन्होंने जैनधर्म की बहुत प्रभावना की। इन का विशेष परिचय हम आगे देंगे।

(६८) जगद्गुरु हीरविजय सूरि वि० सं० १६३६ से मुग़ल सम्राट अकबर पर जैन धर्म का प्रभाव डालकर अनेक प्रकार के फ़रमान प्राप्त किये तथा इनके शिष्यों प्रशिष्यों ने भी अकबर की तीन पीढ़ियों तक इनके सानिध्य में रहकर इन पर अनेक उपकार किये जिसके परिणामस्वरूप जैनधर्म की प्रभावना, जैनतीर्थों का संरक्षण हुआ और इन बादशाहों को अपने प्रभाव में लाकर उन्हें मानवता सिखलाई। इस का विशेष विवरण हम आगे करेंगे।

(६९) वि० सं० १६४६ में खरतरगच्छीय जिनचन्द्र सूरि ने लाहौर में सम्राट अकबर से भेंट की और चतुर्मास करके बादशाह से फ़रमान प्राप्त किया। इसका विवरण भी हम आगे देंगे और वि० सं० १६५२ में वे पंजाब से लौटते हुए पंचनद की साधना करने के लिए देराउलनगर में गये वहां जिनकुशल सूरि के चरणबिम्ब (पगलों) के दर्शन किये।

(७०) वि० सं० १६६७ में श्री समयसुन्दर वाचक ने उच्चनगर में श्रावक आराधना नाम के ग्रंथ की रचना की थी।

(७१) हिसार का सारा क्षेत्र उस समय श्वेतांबर जैनधर्म का केन्द्र था। इस क्षेत्र में अनेक जैनमंदिर थे और श्रावकों की बहुत संख्या थी। इस क्षेत्र में जो जैनसाधु मुनिराज निवास करते थे वे हिसारिया गच्छ के नाम से पहचाने जाते थे। श्वेतांबर जैनों के ८४ गच्छों में एक हिसारिया गच्छ का नाम भी आया है।[1]

इसके अतिरिक्त मुलतान, खोजावाहन, परशुरोडकोट, तलपाटक, मलकवाहनपुर, हाजी खां डेरा, इसमाइलखां डेरा, गाजीखां डेरा, भट्टनेरा, खारवारा, दुनियापुर, सक्कीनगर, प्रावट्टा, नयानगर, नवरंग, लोदीपुर आदि अनेक ऐसे नगर और गांव हैं जहां अनेकानेक जैन घटनाओं के होने के उल्लेख पट्टावलियों, वंशावलियों, शिलालेखों, प्रशस्तियों और अन्य अनेक साधनों आदि से उपलब्ध हैं।

इस पर से यह बात निःसन्देह है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी तक (औरंगजेब के काल से पहले तक) सिंधादि पंजाब के सारे जनपद में बहुत बड़ी तादाद में जैनधर्म का बोलबाला था। सारे जनपद में श्वेतांबर जैन श्रमण-श्रमणियों का सतत आवागमन रहा। सारे जनपद में जैनों की बहुत संख्या थी। तथा उपासना अर्चा के लिये स्थान-स्थान पर जैनमंदिरों का जाल बिछा हुआ था। जैनधर्म की प्रभावना-प्रचार और प्रसार के लिये अनेक कार्य होते रहे। दीक्षाएं, जैन मंदिरों का निर्माण तथा प्रतिष्ठाएं होती रही हैं।

यहाँ पर एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि सिंधु-सौवीर जनपद के उपर्युक्त जिन-जिन नगरों और गांवों में जैन साधुओं के आने-जाने तथा अन्य विवरणों का उल्लेख है वे सभी गांव-नगर अभी सिन्ध में विद्यमान हैं; ऐसा नहीं है। इनमें से बहुत से नगरों और गांवों का तो पता ही नहीं। कुछ नगर बहावलपुर स्टेट में, कुछ राजस्थान में, कुछ पंजाब में और कुछ तो ठेठ भारत की सरहद के ऊपर हैं ऐसा होने का एक ही कारण है कि सिंध की सीमा आजकल जहां तक मानी जाती है इतनी पहले नहीं थी। (सारा सिंध इस समय पश्चिमी पाकिस्तान में है)

पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान, भारत की पश्चिमोत्तरी सरहद, बलोचिस्तान, काबुल, बहावलपुर स्टेट, राजपूताना और जेसलमेर इन का बड़ा भाग सिंध में ही था, इसलिये हमने इन सब नगरों और गांवों का सिंध में ही समावेश किया है। इस का मुख्य कारण यह भी है कि प्राचीन जैन वाङ्मय में इस सारे क्षेत्र का सिन्धु-सौवीर देश के अन्तर्गत ही उल्लेख किया है।

हम उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट जान पाये हैं कि तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के पहले से लेकर विक्रम की १७वीं शताब्दी तक सिंधु सौवीर पंजाब जनपद[2] में श्वेतांबर जैन श्रमण-

1. त्रैमासिक जैन साहित्य संशोधक तृतीय खंड अंक १ पृ० ३२ गच्छ नं० ६८

2. बौद्ध ग्रंथों ने इस जनपद की चर्चा नहीं की इस से पाया जाता है कि यहां बुद्धधर्म का प्रवेश ही नहीं हो पाया था।

श्रमणियों ने सदा-सर्वदा जैनधर्म को पल्लवित किया। इस के बाद का यहाँ का इतिहास उपलब्ध नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में जब तक अन्य प्रमाण न मिलें तब तक हम यह मान सकते हैं कि लगभग ३०० वर्षों तक इस जनपद में श्वेतांबर जैनश्रमणों का आवागमन बन्द रहा होगा, जिससे जैनधर्म का प्रचार रुक जाने से तथा दूसरे कारणों से ह्रास होना प्रारंभ हो गया। हाँ विक्रम की बीसवीं शताब्दी में सद्धर्मसंरक्षक सत्यवीर मुनि श्री बुद्धिविजय जी (बूटेरायजी) तथा नवयुग निर्माता, न्यायांबोनिधि, जैन श्वेतांबर तपागच्छीय आचार्य श्री मद्विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी ने इस जनपद में तीर्थंकर भगवन्तों के विस्मृत सत्यधर्म की पुनः ज्योति प्रगटाई। इस विषय में इन महापुरुषों की जीवनी पर आगे प्रकाश डालेंगे। इस बीच में ढूंढिया मत जो आजकल स्थानकवासी मत के नाम से प्रसिद्ध है, (जिस मत के साधु-साध्वियाँ दीक्षा लेने के समय से लेकर जीवन के अंतिम श्वासों तक अपने मुख पर कपड़े की मुंहपत्ति में डोरा डालकर बांधे रहते हैं) इस जनपद में प्रसार पा गया। यह मत जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं तथा मंदिरों को नहीं मानता परन्तु अपने साधुओं के चित्रों तथा उनके देहांत के बाद उनकी चिता स्थानों पर उनकी समाधियाँ बनाकर श्रद्धा और भक्ति पूर्वक पूजा-भक्ति करता है। जिनप्रतिमा की पूजा, उपासना तथा जैनतीर्थों की यात्रा आदि का निषेध करता है। इस मत के अनुयायी सारे जनपद में बहुत संख्या में विद्यमान हैं।

ईसा पर जैनधर्म का प्रभाव

Jesus Christ (ईसा) के विषय से उसकी १३ से ३० वर्ष की मध्यावधि के इस १८ वर्षों की आयु के विषय में बाईबल सर्वथा मौन है। किसी को भी ज्ञात नहीं कि इतने वर्षों तक ईसा कहा रहा और उसने अपना यह जीवन कैसे व्यतीत किया। ईस्वी १९ वीं सदी के अंतिम चरण मे रूसी यात्री निकोलाई नोटाविच (Nicolai Notavich) को काश्मीर-तिब्बत की सीमा पर लद्दाख के बौद्ध लामाओं से सुरक्षित हस्तलिखित कुछ ऐसी दस्तावेज़ें मिली थीं जिनमें ईसा के इन १८ वर्षों के निवास तथा कार्यकलाप का विवरण मिला है। उसने लिखा है कि इस अवधि में ईसा भारत आया और यहाँ उसने जैन, वैदिक तथा बौद्ध साहित्य का अभ्यास उन-उन धर्मानुयायियों गुरुओं के पास रह कर किया। तत्पश्चात् उसने अपने सिद्धांतों का भारत में तथा इसके बाहर इस्राईल आदि में प्रचार प्रारंभ किया।

निकोलाई नोटाविच के ग्रंथ के आधार से A. Faber Kaiser ने Jesus died in Kashmir (ईसा की मृत्यु काश्मीर में हुई) नामक पुस्तक में (जिसे Sphere book Ltd. London ने प्रकाशित किया है और इस पुस्तक का विक्रेता Indian book house है।) इन १८ वर्षों के ईसा के जीवन वृतांत का विवरण दिया है।

इस साहित्य के आधार से अंग्रेजी मासिक Mirror (मीरर) अंक दिसम्बर १९७८ में एक लेख पृष्ठ १०१ से १०७ में Jesus died in Kashmir (ईसा की मृत्यु काश्मीर में हुई) प्रकाशित हुआ है। जिसमें ईसा के जीवन के इन १८ वर्षों के कार्यकलाप का परिचय दिया है। उसमें लिखा है कि ये १८ वर्ष ईसा ने भारत में बिताये तत्पश्चात् इस्राईल आदि गया वहाँ उसने ईसाई मत का प्रचार प्रारंभ किया और अन्तिम समय उसकी काश्मीर में मृत्यु हुई तथा उसे वहीं दफ़ना दिया गया। लिखा है—

Jesus first trip to India

The manuscript its narration of the life of Jesus by saying that at the age of 13 he crossed Sind and established himself in the chosen land of God. His fame spread rapidly throughout the region north of Sind and, when he traversed the Ainjab (Punjab) the land of the five rivers the devotees of the *God Jaina* implored him the stay with them. But he left them and walked towards Jagannath in the land of Orissa where the remains of Vyasa-Krish were. There he was received with great joy by the priests of Barhma who taught him to read and understand the Vedas, to redeem himself through prayer, to explain the Holy Scriptures to the people and to expel the spirit of evil from the human body and return it to human form. Jesus lived *six years* in Jagannath Rajagriha, Benares and other holy cities, every-body liked him and lived in peace with the Vaishyas and Shudras, to whom he taught and Holy Scriptures.

——Jesus made his first enemies when he talked about the equality of men. The Brahmins insisted him to abandon the company of the Shudras and to embrace the Brahmin religion, but Jesus refused and went to preach to the Shudras against the Brahmins and Kashatriyas. He gravely condemned the doctrine that gives men the power to rob other men of their human rights, and taught that God had not established differences between his sons, all of whom he loved equally. The Brahmin priests hated him for this and with the intention of capturing him and putting him to death sent their servants in search of him. But Jesus was warned of danger by the Shudras. He left Jagannath by night reached the mountains and established himself in the land of the Gautamites, ... Having perfectly mastered the Pali language, he devoted himself to the study of the sacred serolls of the Sutras and within *six years* was qulified to explain them. He then left Nepal and the Himalayan mountains............

उपर्युक्त लेख में ईसा १३ वर्ष की आयु में भारत के सिंध देश में आया और वहाँ जैन गीतार्थ मुनिराजों (जो ईश्वर स्वरूप माने जाते थे) की निश्रा में रहा उनके पास जैन आचार-विचार और सिद्धांत का विधिवत अभ्यास किया और जैनधर्म की उस पर गहरी छाप पड़ी। जैन श्रमणों ने उसे अपने पास सदा रहने के लिये कहा परन्तु उसने इनकार कर दिया और छह वर्षों के बाद वह वहाँ से चला गया। फिर उड़ीसा में जगन्नाथ में जाकर ब्राह्मण विद्वानों से वेदों का अभ्यास किया। जगन्नाथ, राजगृही, बनारस आदि अनेक पवित्र नगरियों में कुल मिलाकर छह वर्ष व्यतीत किए। यहाँ इसने वैश्यों और शुद्रो में धर्म का प्रचार प्रारंभ किया, उन्हें धर्मशास्त्र पढाने और सुनाने शुरू किये और मानव-मानव सब समान है इनमे कोई ऊँच-नीच नही है। ईश्वर ने सब मानवों को समान बनाया है उनमे कोई छोटा-बडा नही है। ईश्वर अपने सब बन्दों को समान रूप से प्यार करता है। ऐसा प्रचार करते हुए वह शूद्रों में बडी शान्तिपूर्वक रहने लगा।

ईसा के इस प्रचार से वेदधर्मानुयायी ब्राह्मण क्षुब्ध हो गये और वे इसके कट्टर शत्रु बन गये उन्होंने उसे चुनौती दी। कि वह शूद्रों का साथ छोड़ दे और ब्राह्मण धर्म को पूर्ण रूप से मान ले, वरना अच्छा न होगा। परन्तु ईसा ने इस बात को अस्वीकार कर दिया और जोर-शोर से

शूद्रों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया। उसने कहा कि ऐसा सिद्धांत जो मानव और मानव के बीच खाई पैदा करता है, ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहित करता है- मानव को ईश्वर भक्ति और धर्मशास्त्रों के पढ़ने-सुनने से वंचित रखता है वह धर्म नहीं है वह तो मानव को गुमराह करने वाला सिद्धांत ऐसा पूरे वेग से प्रचार शुरु कर दिया।

इस प्रचार से ब्राह्मण आगबबूला हो गये। उन्होंने उसकी हत्या करने के लिये षड्यंत्र की तैयारियां शुरू कर दीं और नौकरों को उसे खोजकर पकड़ लाने के लिए चारों तरफ़ भेज दिया। ईसा को शूद्रों द्वारा पहले से ही पता लग चुका था कि उसकी हत्या कर दी जावेगी। वह चुपचाप रात के समय वहाँ से भाग निकला। इस प्रकार २४ वर्ष की आयु में १२ वर्ष के बाद वह हिमालय की पहाड़ियों पर बौद्ध लामाओं के वहाँ पहुँचा वहां उसने छह वर्ष तक पाली भाषा के बौद्ध ग्रंथों का अभ्यास किया। इस प्रकार १३ वर्ष की आयु से लेकर ३० वर्ष की आयु तक १८ वर्षों में छह वर्ष जैनों के पास, छह वर्ष ब्राह्मणों और छह वर्ष बौद्धों के बीच में रहकर जैन, वैदिक तथा बौद्ध सिद्धांतों का ईसा ने परिचय पाया और पश्चात् ३० वर्ष की आयु में भारत से बाहर अपने ईसाई मत का स्वतंत्र रूप से पचार प्रारंभ किया।

सारांश

(१) यद्यपि लेखक ने ईसा के सिंध में रहकर जैन महर्षियों के पास रहने और अभ्यास करने के समय का उल्लेख नहीं किया। परन्तु जैनों के वहाँ से जाने के बाद ब्राह्मणों तथा बौद्धों के वहाँ उसने १२ वर्ष व्यतीत किये, इस बात का उल्लेख किया है। ईसा ने १३ वर्ष की आयु से लेकर ३० वर्ष की आयु तक १८ वर्ष भारत में व्यतीत किये इससे स्पष्ट है कि उसने सर्वप्रथम छह वर्ष जैनों के पास रहकर जैनधर्म के आचार और सिद्धान्तों का अभ्यास किया।

(२) पश्चात् ब्राह्मणों के वहाँ अभ्यास करने पर उसे लगा कि जो जैनधर्म में उदारता और समानता की भावनाएँ निहित हैं वे इस मत में नहीं है इसलिये उसने खुलम-खुल्ला उस मत के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया। इससे यह स्पष्ट है कि ईसा पर जैनधर्म की गहरी और अमिट छाप पड़ चुकी थी और उसी के अनुसार उसने अपनी जान को जोखम में डालकर भी शूद्रों को गले लगाया तथा नर-नारी को समान रूप से धर्म का अधिकारी बतलाया। जैसा कि तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने किया था।

(३) बुद्धधर्म का अभ्यास उसने दोनों सिद्धान्तों के पश्चात् किया और वहाँ से वह तुरंत इस्राईल चला गया। इससे भी यह स्पष्ट है कि इस उदारता और समानता के आन्दोलन में उस समय उस पर बौद्धधर्म का कोई सम्पर्क और प्रभाव नही था।

(४) इससे यह भी पता चलता है कि सिंध-पंजाब में सर्वत्र जैनधर्म का ही प्रभाव था परन्तु ब्राह्मणों और बौद्धों का इन जनपदों में कोई वर्चस्व नहीं था। यदि इन दोनों का भी यहाँ वर्चस्व होता तो, ईसा इसी जनपद में वैदिक ब्राह्मणों तथा बौद्धों के वहाँ रहकर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, उसे जगन्नाथ, राजगृही, बनारस आदि में ब्राह्मणों के वहाँ तथा हिमालय की पहाड़ियों में लद्दाख आदि नगरों में जाकर बौद्ध लामाओं के वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है।

(५) यह बात निःसंदेह है कि ईसा पर जैनधर्म का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था और इसी के सिद्धान्तों के संबल से इसने मानव समाज में बिना किसी भेदभाव के अपने नये ईसाई मत का प्रचार व प्रसार किया था। मानव मानव में समानता, प्राणी मात्र से सम्भाव, नर-नारी के समानाधिकार, ब्राह्मण-क्षत्रियों के समान ही वैश्यों और शूद्रों को धर्माधिकारी बनाना, अहिंसा, समता तथा उदारतामय जीवन निर्माण करने-कराने का पाठ जैन-महर्षियों ने ही उसे दिया था और इन्हीं सिद्धांतों के प्रचार तथा प्रसार करने के कारण ईसा विश्व में अमर हो गया।

बौद्धधर्म और पंजाब

तथागत गौतम बुद्ध ने मात्र मध्यम देश में ही विचरण करके बौद्धधर्म का उपदेश दिया था। तथागत बुद्ध पदचारिका करते हुए पश्चिम में मथुरा (अंगुत्तर निकाय ५.२ १०, इस सूत्र में मथुरा नगर के पाँच दोष दिखलाये गये हैं) और कुरु के थुल्लकोट्ठित नगर (२.३.३२-दिल्ली के आस-पास का कोई तत्कालीन नगर) से आगे नहीं बढ़े थे। पूर्व में कजंगला निगम मुखेलुवन (मज्झिम निकाय ३.५.१७-कंकजोल संथाल परगना, बिहार), पूर्व-दक्षिण की सलिलवती नदी (वर्तमान सिलई नदी, हजारीबाग और वीरभूम) के तीर को पार नहीं किया था। दक्षिण में सुसुमारगिरि (चुनार जिला मिर्जापुर) आदि विंध्याचल के आस-पास वाले निगमों तक ही गये थे। उत्तर में हिमालय की तलहटी के सापुग निगम (अंगुत्तर निकाय ४.४.५.४) और उसीरध्वज पर्वत (हरिद्वार के पास कोई पर्वत) के ऊपर नहीं गये थे। विनय पिटक में मध्यम देश की सीमा इस प्रकार बतलाई गई है।

"१—पूरब में कजंगला निगम······। २—पूर्व दक्षिण में सलिलवती नदी ३—दक्षिण में सेतकण्णिक निगम (हजारी बाग जिले में कोई स्थान······। ४—पश्चिम दिशा में थूण (आधुनिक थेनेश्वर) नामक ब्राह्मणों का ग्राम ···। ५—उत्तर दिशा में उसीरध्वज पर्वत (विनय-पिटक ५ ३.२)।

मध्यम देश ३०० योजन लंबा और २५० योजन चौड़ा था। इसका परिमंडल ९०० योजन था। यह जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) का एक बृहद भाग था। तत्कालीन १६ जनपदों में १४ जनपद इसी में थे। यथा—१-काशी, २-कोशल, ३-अंग, ४-मगध, ५-वज्जी, ६-मल्ल, ७-चेदी, ८-वत्स, ९-कुरु, १०-पांचाल, ११-मत्स्य, १२-शूरसेन, १३-अश्वक, १४-अवन्ती। शेष दो जनपद १५-गांधार और १६-कम्बोज उत्तरापथ में पड़ते थे। गांधार की राजधानी तक्षशिला थी। बौद्धों ने इन्हीं १६ जनपदों को आर्य देश माना है। बाकी के सब जनपदों को अनार्य माना है।

१. गौतम बुद्ध के बाद सम्राट अशोक आदि के समय में काश्मीर, गांधार (तक्षशिला) और कम्बोज (अफ़ग़ानिस्तान) जनपदों तक ही बुद्धधर्म का प्रसार हो पाया था। इसके आगे पंजाब, सिंधु-सौवीर, कुरुक्षेत्र आदि जनपदों में इस धर्म के प्रसार के विषय में इतिहास तथा बौद्ध वाङ्मय एकदम मौन है।

२. उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सिंधु-सौवीर, पंजाब आदि जनपदों को बौद्धों और वैदिक आर्यों ने अनार्य देश कहा है। जबकि जैनधर्म इन्हें आर्य देशों में ही मानता है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही, सिंधु-सौवीर आदि जनपदों में जैनधर्म का प्रभाव ही मुख्यरूप से रहा है।

३. इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मोहन-जो-दड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, रोपड़, ढोलबाहा आदि के उत्खनन से न तो बौद्धों का कोई अवशेष मिला है और न ही वैदिक सभ्यता का कोई चिन्ह मिला है।

४. एवं फ़ाहियान, हुएनसांग आदि चीनी बौद्ध यात्री जो भारत आये थे, उन्होंने भी पंजाब और सिंधु जनपदों में बौद्ध भिक्षुओं, बौद्ध संघारामों अथवा बुद्धधर्म के प्रभाव का कोई उल्लेख नहीं किया। इससे भी यही फलित होता है कि बौद्ध और वैदिक संस्कृति का इन जनपदों में कोई विशेष प्रभाव नहीं था।

५. मोहन-जो-दड़ो आदि सिन्धुघाटी सभ्यता के उत्खनन से अर्हत् ऋषभ तथा शिव की योगमुद्रा वाली मूर्तियाँ-सोले अवश्य मिली हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में ऋषभ के समान ही शिव की मान्यता-उपासना वैदिक आर्यों के भारत में आने से पहले से ही अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। अत. शिव वैदिक आर्य सभ्यता के प्रतीक नहीं हैं। यदि पंजाब, सिंध-सौवीर आदि जनपदों में कोई प्राचीन स्मारकों के अवशेष मिलते है तो वे सब जैनों के ही हैं। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि शिव ऋषभ का ही दूसरा नाम था।

६ पंजाब, सिन्धु-सौवीर आदि जनपदो मे यदि कोई प्राचीन स्तूप आदि विद्यमान है अथवा उन के अवशेष भी यदि कोई विद्यमान है, तो वे भी जैनों के ही होने चाहियें, वैदिक तथा बौद्धो के नही। यदि इन स्तूपो आदि को कोई पुरातत्ववेत्ता बौद्धों का मान लेता है तो यह उस की अनभिज्ञता का ही सूचक है।

७. यद्यपि हुएनसांग ने सिंहपुर में जैनश्रमणों को जिस स्तूप के समीप नाना प्रकार के तप करते हुए देखा था उसे अशोक स्तूप लिखा है परन्तु यह उस की अज्ञता अथवा अपने सम्प्रदाय का मिथ्या व्यामोह ही प्रतीत होता है। कारण यह कि १. बौद्ध स्तूप के निकट जैनों की उपासना का कोई प्रयोजन नही था और न ही कोई मेल खाता है। २ तथा इस प्रसंग का जहा इस ने उल्लेख किया है, वहाँ बौद्ध भिक्षुओं, उपासको का कोई उल्लेख नहीं किया। अतः वहाँ बौद्धों का सर्वथा अभाव था यही सिद्ध होता है। ३. इसी स्थान से जैनमंदिरो, स्तूपो के अवशेष मिले हैं किन्तु बौद्धो का कोई अवशेष नही मिला।

८. अर्हत् ऋषभ ही शिव के रूप में भारतवर्ष के उपास्य थे। इस का स्पष्टीकरण हम पहले कर आये हैं।

वैदिकधर्म और पंजाब

हम लिख आये हैं कि गांधार, सिन्धु-सौवीर, कुरुक्षेत्र तथा केकय (पंजाब) जनपदो को जैनागमों में आर्य देश कहा है। वैदिक धर्म के सैद्धान्तिक ग्रन्थ बोधायन में सिन्धु-सौवीर को अस्पृष्ट देश कहा है और वहाँ जाने वाले ब्राह्मणों को फिर संस्कार योग्य बतलाया है। इस उक्ति की पुष्टि के लिये हम यहाँ देवल स्मृति का भी उद्धरण देते है। यथा -

'सिन्धु-सौवीर-सौराष्ट्रास्तथा प्रत्यन्तरवासिनः।
अंग-बंग-कलिंगाश्च गत्वा संस्कारमर्हति: ॥१॥

अर्थात्—यदि कोई (वैदिक धर्मानुयायी) सिंधु-सौवीर सौराष्ट्र, अंग, बंग, और कलिंग इन अनार्य देशों में जावेगा उसे वापिस लौटने पर संस्कारित होना पड़ेगा।

वैदिक आर्य लोग जैनों को व्रात्य, अनार्य, दस्यु, दास आदि नामों से हीन संबोधित करते थे तथा इस प्राचीनतम जैन संस्कृति को अनार्य संस्कृति कहते थे। इस संस्कृति के प्रभाववाले जनपदों को अनार्य जनपद कहते थे।

जैनधर्म के सिद्धान्त (विचार) और आचार (चरित्र) अत्यन्त उत्कृष्ट थे। वैदिकधर्म भोग प्रधान होने के कारण उन पर जैनधर्म की छाप पड़ना अनिवार्य था। अतः अपने बचाव के लिये उन्हें ऐसी व्यवस्थाएं देनी पड़ीं। इससे भी इस जनपद में जैनधर्म के प्रभाव की पुष्टि होती है।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक सिंध-पंजाब जनपद में चैत्यवासी यति भी विद्यान थे। यहाँ ये लोग 'पूज्य जी' के नाम से पहचाने जाते थे और इन के आचार्य 'श्रीपूज्य' जी कहलाते थे। इन लोगों ने इस जनपद में किसी न किसी रूप में प्राचीनतम श्वेतांबर जैनधर्म को एक दम लुप्त होने से बचाये रखा। परिणामस्वरूप संवेगी (श्वेतांबर) साधुओं का आवागमन न होने से और म्लेच्छ आततायियों जैसे धर्मान्ध बादशाहों के राज्यकाल में विकट परिस्थिति में भी इन यतियों (पूज्यों) के प्रताप से जैनमंदिरो का निर्माण तथा थोड़ा बहुत संरक्षण भी अवश्य होता रहा।

हिसार, सरसा, पानीपत, करनाल, कुरुक्षेत्र, अम्बाला, लुधियाना, जालंधर, नकोदर, साढौरा, सुनाम, फगवाड़ा, पट्टी, अमृतसर, जंडियाला गुरु, लाहौर, मुलतान, बन्नु, कालाबाग, गुजरांवला, स्यालकोट, समाना, फ़रीदकोट, भटनेर आदि प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरो में इन पूज्यों की गद्दियाँ थी और इनके जैनमंदिर भी थे। इनके अपने आचार्य होते थे उन्हें श्रीपूज्य अथवा भट्टारक कहते थे। ये लोग जैनश्रमण की दीक्षा लेकर साधु के वेश को धारण भी करते थे, पर साधु के आचार का पूरी तरह पालन नहीं करते थे। परिग्रह धारी ये यति अवस्था में पूर्ण ब्रह्मचारी और पुरे आत्मसाधक थे। स्वयं अध्ययन-स्वाध्याय करने, शास्त्रों के गंभीर अर्थ को समझने के लिये, तत्त्वज्ञान की गहराइयों तक पहुंचने के लिये व्याकरण, न्याय, सिद्धांत के बड़े-बड़े गहन ग्रंथो का गुरु की निश्रा में रहकर तलस्पर्शी अभ्यास-स्वाध्याय करते और फिर साहित्य सृजन मे जुट जाते थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि देसी भाषाओं में भी सब विषयो के उच्चकोटि के ग्रंथों की रचनायें करते थे। जैन आगम और सिद्धान्त के प्रौढ़ विद्वान, चिकित्सा विज्ञान के मर्मज्ञ, ज्योतिष तथा मंत्र विद्या के पारंगत होते थे। तपस्वी जीवन, निर्मल आचरण, योगाभ्यास में दक्ष होते थे। धर्मानुष्ठान, धार्मिक क्रिया कांड, मन्दिरों-मूर्तियों के संस्थापक व प्रतिष्ठाओं के कार्य में भी प्रवीण थे। जिनमन्दिरों की स्थापनाएं तथा प्रतिष्ठाएं स्वयं अपने नीजी द्रव्य से भी करते थे और श्रावक-श्राविकाओं को उपदेश देकर भी कराते थे। सम्पूर्ण जीवन धर्म-समाज और संस्कृति के उत्कर्ष के लिए लगा देते थे। सरकार की ओर से भी उचित सम्मान मिलता था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी इनके परमभक्त बन जाते थे और इन्हें राजगुरु मानते थे। जैनसमाज तो इनके विहार मे पलक-पावड़े बिछाती थी, अपने नगर में जब ये लोग पधारते थे तो बड़े आडम्बर और ठाठ-बाठ के साथ इनका नगर प्रवेश कराते थे। धर्मोपदेश, धर्मशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक विधि-विधानों का भी श्रावक-श्राविकाओं को अभ्यास करा कर उन्हें धर्म में चुस्त और दृढ़ बनाते थे। इसलिये इनके प्रतिष्ठा-

मान-सम्मान आदि जन समाज में बड़े उच्च कोटि के थे। घर गृहस्थी के त्यागी होते हुए भी चल-अचल सम्पत्ति के स्वामी थे और नर-नारियों को दीक्षा देकर अपने शिष्य-शिष्यायें बनाते थे। इन के देहांत के बाद मुख्य शिष्य उनकी गद्दी तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। इन्हीं के सद्-प्रयासों तथा प्रभाव के कारण ही इस जनपद में ऐसे विकट समय में भी जैनधर्म लुप्त होने से बचा रहा तथापि वर्तमान में इनके अनुयायी अत्यन्त अल्प संख्या में रह गये थे।

सिन्ध-पंजाब जनपद में जैनधर्म के ह्रास के मुख्य कारण

इस जनपद में एक तो मुसलमानों के उपरोपरि आक्रमण, जिनमन्दिरों तथा प्रतिमाओं का ध्वंस, जैनों में ही जिनप्रतिमा विरोधी सम्प्रदाय तथा आर्यसमाज के प्रसार द्वारा जैनधर्म-सिद्धान्त, मन्दिरों आदि के विरुद्ध जबर्दस्त प्रचार एवं संवेगी श्वेतांबर जैन साधु-साध्वियों का आवागमन एक दम बन्द हो जाने के कारण यहाँ के निवासी जैनधर्म के सत्य स्वरूप को भूलने लगे, मन्दिर की पूजा उपासना को त्याग कर पथभ्रष्ट हो गये। विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी तक तो उनकी संतानें जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप से एक दम अनभिज्ञ हो चुकी थी। जिनमन्दिरों द्वारा उपासना करने वालों का प्रायः अभाव हो चुका था। जिनप्रतिमा विरोधी संप्रदायों के प्रचार और प्रसार से जैन लोगो ने मंदिरों से सम्बन्ध छोड़ दिया था। दूसरी तरफ म्लेच्छ(मुसलमान) इन्हें ध्वंस करते रहे, जैनसमाज के प्रतिमा, विरोधी सम्प्रदायों ने भी जैनमन्दिरों से मूर्तियां हटाकर अपने-अपने धर्म स्थानों के रूप में परिवर्तित कर लिया अथवा जैनेतर मूर्तिपूजक सम्प्रदायों ने इन मन्दिरों से जैन मूर्तियों को हटाकर अपनी मान्यता के देव-देवियों की मूर्तियां स्थापित कर अपने धर्मस्थानों के रूप में परिवर्तन कर लिया अथवा जैनप्रतिमाओं को ही अपने देवी-देवताओं, अवतारों के रूप में अपनाकर जैनमन्दिरों पर अधिकार जमा लिया। अनेक मन्दिरों को ध्वंस करके मस्जिदों के रूप में बदल लिया अथवा जिनमूर्तियों को समाप्त ही कर दिया। इन अनेक कारणों से इस जनपदों में प्राचीन जैनमन्दिरों का लगभग अभाव सा हो गया तथापि यति (पूज्य) लोगों ने अपने गद्दियों और प्रभाववाले नगरों में जिनमन्दिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण, स्थापनाएं, प्रतिष्ठाएं, पूजा-उपासना उनका संरक्षण आदि सब चालू रखे तथा अपनी योग्यता के अनुसार सद्धर्म का प्रचार और प्रसार भी करते रहे जिसके कारण जैनधर्म की ज्योति अखंड प्रज्वलित रही। आगे चलकर यति लोग भी शिथिल हो गये, अन्त में इनकी शिष्य परम्परा भी समाप्त हो गई। आज पंजाब में एक भी यति विद्यमान नहीं है।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिनप्रतिमा विरोधी लोंकागच्छीय यतियों ने भी जिन प्रतिमा और मन्दिर की मान्यता को कायम रखकर अनेक जैनमन्दिरों का निर्माण कराया तथा संरक्षण किया और उनकी पूजा-उपासना स्वयं भी करते और अपने उपासकों को भी करने का उपदेश तथा प्रेरणा करते थे। यद्यपि इस मत के प्रवर्तक लोंकाशाह (वि० सं० १५३१) ने तथा उनके पश्चात् होने वाले लवजी स्वामी (वि० स० १७०९) ने और इनके अनुयायियों ने जिन मन्दिरों की मान्यता के विरोध में एडी से चोटी तक पूरे जोर-शोर के साथ कोई कमी उठा नहीं रखी। आज भी इस मत के अनुयायी जिनमन्दिरों और जिनमन्दिरों द्वारा उपासना करने को मिथ्यात्व मानते है। इस मत की उत्पत्ति का वर्णन आगे करेंगे।

इस पंजाब जनपद में ओसवाल, खंडेलवाल और अग्रवाल ये तीन जातियां मुख्यरूप से जैनधर्मानुयायी हैं। ओसवाल श्रीमाल खंडेलवाल मुख्य रूप से श्वेतांबर तथा ढूंढक मत के अनुयायी हैं और ये लोग इस जनपद में भावड़ा कहलाते थे। तथा अग्रवाल मुख्य रूप से दिगम्बर तथा तेरापंथ, ढूंढिया मतों को मानने वाले हैं। परन्तु अधिकतर वैष्णव, सनातनी तथा आर्य समाजी हैं। श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी बहुत कम हैं। ये लोग बनिये अथवा बानिये कहलाते हैं।

श्वेतांबर जैनधर्म पंजाब का अति प्राचीन मूल धर्म है। ढूंढिया मत का प्रचार प्रारंभ विक्रम संवत १७३१ में इस जनपद में हुआ। दिगम्बर पंथी हरियाणा प्रदेश में मुसलमान बादशाहों के समय में आबाद हुए। पंजाब प्रदेश में ब्रिटिश राज्य में कतिपय नगरों में अंग्रेजों की छावनियों में अतिअल्प संख्या मे आकर आबाद हुए। सिंध में कराची के सिवाय कही भी इनकी आबादी अथवा मन्दिर नही थे।

पंजाब प्रदेश में पाकिस्तान बनने से पहले रावलपिंडी छावनी, स्यालकोट छावनी, लाहौर छावनी, लाहौर शहर, फिरोजपुर छावनी, अम्बाला छावनी, अम्बाला नगर, मुलतान, जगाधरी, साढौरा में दिगम्बर पंथिनों के मन्दिर तथा कतिपय परिवार थे। स्व० डा० बनारसीदास अग्रवाल जैन एम० ए० पी० एच० डी प्रध्यापक पजाब विश्वविद्यालय का मत भी यही है कि दिगम्बर लोग ब्रिटिश राज्य में आकर पंजाब में आबाद हुए हैं। इस की पुष्टि इस पंथ के मन्दिर ब्रिटिश काल में निर्मित तथा आबादी छावनियों में होने से भी होती है। ये लोग उत्तरप्रदेश से आये और ब्रिटिश मिल्ट्री को आवश्यक सामान की सप्लाई करते थे। पाकिस्तान बनने से पहले ये लोग व्यापार करते थे।

हरियाणा प्रांत मे अनेक नगरों और गावों में दिगम्बर पंथियों का आगमन उत्तरप्रदेश से मुसलमान बादशाहों के समय मे हुआ। जहां-जहां ये लोग आबाद हैं वहां-वहां इनके मन्दिर भी मुसलमान काल के विद्यमान है। इस प्रदेश में इन की आबादी अच्छी संख्या में है। संभवतः मुलतान में भी दो-चार परिवार मुसलमान बादशाहों के समय में आकर आबाद हो गये होंगे। इन के सम्पर्क से कुछ ओसवाल परिवार भी दिगम्बर पंथी हो गये थे। वहां इनके मन्दिर का निर्माण तो ईसा की २१वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही हुआ था।

पाकिस्तान बन जाने पर वहां के सब हिन्दू, सिख, जैन भारत चले आए। अब वहां कोई भी जैन धर्मानुयायी नही रहा।

६-हस्तिनापुर में जैनधर्म

प्रथम तीर्थंकर अर्हत् ऋषभदेव का जन्म, दीक्षा आदि अयोध्या में हुए। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम ऋषभदेव ही आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अनगार बने। चैत्र वदि ९ को दीक्षा लेकर आप ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। अधिक समय ध्यान, कायोत्सर्ग तथा तपस्या में व्यतीत करते थे। उस समय भरतक्षेत्र को श्री ऋषभदेव ने ही भोगभूमि से कर्मभूमि बनाया था। इसलिए जैन साधु के आचार व्यवहार से उस समय की जनता एकदम अनभिज्ञ थी। मुनि के योग्य निर्दोष आहार देने की विधि तो वे जानते ही नहीं थे। जहां प्रभु जाते वहां के लोग उनको घोड़ा-हाथी, वस्त्र-अलंकार तथा मुनि के अयोग्य खान-पान की सामग्री को बड़ी श्रद्धा और भक्ति से लेने की प्रार्थना करते थे।

कारण यह था कि वे लोग उन्हें अब भी अपना राजा ही समझते थे और उनके पास भोग उपभोग की वस्तुओं का अभाव देखकर शरीर ढांपने, स्वारी करने, स्वादिष्ट भोजन सामग्री आदि की वस्तुएं लेने की साग्रह विनम्र प्रार्थना करते थे। इससे पहले अपरिग्रही मुनि को कभी उन्होंने देखा-सुना भी न था। परन्तु जैनमुनि के लिये ये सब वस्तुएं अनुपयोगी होने से प्रभु स्वीकार नहीं करते थे। इसलिये सारी प्रजा हतप्रभ तथा किंकर्तव्यविमूढ़ थी और सब कहते थे कि प्रभु कुछ नहीं लेते-प्रभु कुछ नहीं लेते, अब हम क्या करें!

इस प्रकार चैत्र वदि नौमी से लेकर दूसरे वर्ष के वैसाख सुदि २ तक निर्दोष आहार पानी न मिलने से १ वर्ष १ मास और १० दिन अन्न-जल लिये बिना ४०० दिनों तक प्रभु ने चौविहार (निराहार-निर्जल) उपवास का तप किया। यह तप ऋषभ का वर्षीय तप के नाम से विश्वविख्यात है। सतत विहार करते हुए आप वैसाख सुदि ३ को प्रातःकाल हस्तिनापुर पधारे।

उस समय हस्तिनापुर कुरुक्षेत्र जनपद की राजधानी थी (वर्तमान में यह नगर उत्तर प्रदेशान्तर्गत मेरठ जिले में मेरठनगर से २६ मील की दूरी पर है)। उस समय यहां आप के द्वितीय पुत्र बाहुबली के पुत्र सोमयश (सोमप्रभ) का राज था। इसका पुत्र राजकुमार श्रेयांसकुमार ऋषभदेव का प्रपौत्र था। जो इसके बाद यहां की राज्यगद्दी का अधिकारी था।

(१) ऋषभदेव के हस्तिनापुर पधारने पर सब लोग अपने साथ प्रभु को देने के लिए कुछ न कुछ लेकर अवश्य जाते, पर प्रभु के स्वीकार न करने पर लोग यह कहते हुए कि प्रभु कुछ नही लेते, कुछ नही लेते, उनके पीछे हो लिए और श्रेयांसकुमार को जब यह पता लगा कि प्रभु हस्तिनापुर पधारे है तब प्रभु के दर्शन करते ही उसे जातिस्मरण (पिछले जन्मों का) ज्ञान हो गया। उन जन्मो में वह जिस प्रकार जैनमुनि को आहार दिया करता था, उस विधि को जातिस्मरण ज्ञान से जाना। इतने में कुछ लोग इक्षुरस (गन्ने के रस) से भरे हुए घडो को श्रेयांसकुमार को देने के लिये यहाँ आपहुंचे। श्रेयांसकुमार ने प्रभु को इस इक्षुरस से चार सौ दिनो के तप का पारणा कराया और प्रभु ने इक्षुरस से अन्न को खोला। अर्थात् अर्हत् ऋषभ को चार सौ दिनो के (वर्षीय) तप का पारणा इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम हस्तिनापुर में इक्षुरस से श्रेयांसकुमार ने कराया। अतः मुनि को आहार देने का सर्वप्रथम श्रेय राजकुमार श्रेयांसकुमार को प्राप्त हुआ और लोगो ने इस पारणे के अवसर से जैनमुनि को निर्दोष आहार देने की विधि को जाना। शास्त्रकार इस आहारदान की विशेषता का वर्णन करते हुए फरमाते है कि—

"पात्रं श्री ऋषभजिन श्रेयांसः श्रेयसाऽन्वितो दाता।
वित्तं शुद्धेक्षुरसो, न विद्यते भूतलेऽन्यत्र ॥"

अर्थात्—श्री ऋषभदेव के समान पात्र, श्रेयांस के समान श्रद्धा-भक्ति और भावपूर्वक देने वाला दाता, इक्षुरस के समान शुद्ध-निर्दोष आहार इस पृथ्वी पर अन्यत्र नही हुआ।

विश्व में सर्वप्रथम मुनि को आहार देने की विधि का ज्ञान इस अवसर्पिणी काल में कराने का गौरव पंजाब मे विद्यमान हस्तिनापुर की धरा को ही प्राप्त हुआ। अर्हत् ऋषभ के पारणे के स्थान पर श्रेयांसकुमार ने इस पुनीत घटना की यादगार मे एक स्तूप का निर्माण कराया और उस स्तूप के आगे श्री ऋषभदेव प्रभु के चरणबिंब स्थापित कर पादपीठ की स्थापना की।

जिससे हस्तिनापुर विश्व का सर्वप्रथम तीर्थधाम बनगया[1]। यह पंजाब का भी सर्वप्रथम जैन तीर्थ स्थापित हुआ।

(२) **पंजाब में दूसरे धर्मचक्र नामक तीर्थ की** स्थापना बाहुबली ने ऋषभदेव के तक्षशिला पधारने पर उनके चरण चिन्हों पर चरणबिंब (पादपीठ) की स्थापना कर उस पर धर्मचक्र की स्थापना की।

(३) **श्री ऋषभदेव के समय से लेकर १२ चक्रवर्ती हुए**। इनमें से चौथे से लेकर ६ वें चक्रवर्ती (इन छह चक्रवर्तियों) की राजधानी हस्तिनापुर में थी। इनका जन्म भी हस्तिनापुर में ही हुआ था। ये सब पहले मांडलिक राजा थे, बाद में छहखण्ड को जीतकर चक्रवर्ती बने। इन छह चक्रवर्तियों के पिता भी यहीं के मांडलिक राजा थे और इनके पुत्र पौत्र आदि भी कई पीढ़ियों तक यहीं जन्मे और यहीं मांडलिक राजा होकर राज्य करते रहे। इन छह चक्रवर्तियों में से आठवां चक्रवर्ती लोभवश मरकर नरक में गया। चौथा और नवां चक्रवर्ती दीक्षा लेकर सामान्य केवली बने और आयु पूर्ण करके निर्वाण पाये, सर्व दुःखो से मुक्त हुए। पांचवें से सातवें चक्रवर्ती क्रमशः १६ वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, १७वें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ और १८वें तीर्थंकर श्री अरनाथ हुए और सम्मेतशिखर पर जाकर निर्वाण पाये। अतः आठवें चक्रवर्ती के सिवाय पांच चक्रवर्तियों ने राजपाट और सर्वपरिग्रह का त्याग कर हज़ारों मनुष्यों के साथ यहीं पर श्रमण की दीक्षाएं ग्रहण कीं। सबने यहां पर कठिन तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया। पिताओं, पुत्रों, पौत्रों और अनेकों ने सब परिग्रह का त्याग कर दीक्षाएं ग्रहण कीं और तपादि करके इसी धरा पर केवलज्ञान प्राप्त किया। अनेकों ने इसी भूतला पर निर्वाण भी प्राप्त किया। इन तीर्थंकरों, सामान्य-केवलियों तथा श्रमण-श्रमणियों ने सारे भारत में और विशेष रूप से सारे पंजाब जनपद में जैनधर्म का प्रसार किया। अब इन चक्रवर्तियों के विषय में कुछ विशेष विवरण लिखते हैं।

(४) **चौथा चक्रवर्ती सनतकुमार** पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ व सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ के मध्यकाल में हुआ। इसके राजा पिता का नाम अश्वसेन और पट्टरानी माता का नाम सहदेवी था। इसका जन्म हस्तिनापुर में हुआ। यह पिता के बाद राज्य का अधिकारी मांडलिक राजा हुआ। बाद में छहखण्ड को जीतकर चक्रवर्ती बना। और हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाया। अन्त में राजपाट आदि सर्वपरिग्रह का त्याग कर आर्हती दीक्षा ली, तप करके केवल ज्ञान पाकर सामान्य केवली बना। शेष जीवनकाल में सर्वत्र जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया। अन्त में सर्वकर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया।

(५) **पांचवें चक्रवर्ती शांतिनाथ हुए**। आपके पिता राजा विश्वसेन तथा माता पट्टरानी अचिरा थी। आपका हस्तिनापुर में जन्म हुआ, युवावस्था प्राप्त होने पर आप ने राजा के योग्य सब विद्याओं और कलाओं का अभ्यास किया। पिता की मृत्यु के बाद आप मांडलिक राजा बने और छहखंड जीतकर चक्रवर्ती बने। इसका वर्णन आचार्य श्री नन्दीसेन सूरि कृत अजित शांति स्तव गाथा ११ में इस प्रकार किया है—

---

1. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आचार्य हेमचन्द्र कृत पर्व १

"कुरु-जणवय[1]-हत्थिणाउरनरीसरो पढमं, तओ महाचक्कवट्टिभोए मह-प्पभावो, जो बावत्तरि-पुरवर-सहस्स-वर निगम जणवयवई बत्तीसा-रायवर-सहस्साणुयाय-मग्गो ··· छन्नवइ-गाम-कोडी सामी आसी जो भारहम्मि भयवं ॥"

अर्थात्···श्री शांतिनाथ जी पहले तो कुरुदेश हस्तिनापुर राजधानी में सामान्य (मांडलिक) राजा थे। पश्चात् छहखण्ड भरतक्षेत्र के बड़े चक्रवर्ती राजा हुए। उस समय महाप्रभावशाली श्री शान्तिनाथ स्वामी बहत्तर हज़ार (७२०००) नगरों निगमों तथा देशों के स्वामी थे। बत्तीस हज़ार (३२०००) मुकुटबद्ध राजा उनके आधीन थे एवं छियानवे करोड़ (९६०००००००) गावों के स्वामी बड़े प्रभावशाली भगवान इस भरतक्षेत्र में हुए।

आपकी एक लाख वर्ष की आयु के अन्तिम चतुर्थ भाग पच्चीस हज़ार वर्ष बाकी रहने पर आपने राजपाट सब परिग्रह का त्याग कर एक हज़ार राजाओं के साथ हस्तिनापुर में दीक्षा ग्रहण की। एक वर्ष कठोर तप करके घाती कर्मों को क्षय कर यहीं पर केवलज्ञान प्राप्त कर वीतराग-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने। यही पर सर्वप्रथम समवसरण में धर्मदेशना देकर चतुर्विधसंघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका संघ) की स्थापना की एवं ३६ गणधरों को स्थापित कर स्वहस्त दीक्षित मुनियों के ३६ गण कायम किये। द्वादशांग श्रुत तथा चतुर्विधसंघ रूप तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर पद से विभूषित हुए। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में १६ वें तीर्थंकर हुए। पश्चात् एक वर्ष कम पच्चीस हज़ार (२४९९९) वर्ष तीर्थंकर अवस्था में सारे देश में भ्रमण कर जैनधर्म का प्रसार किया। पंजाब जनपद में भी आप के अनेक समवसरण धर्मदेशना के लिये हुए। अतः आपका च्यवन (गर्भावतरण), जन्म, दीक्षा, तथा केवलज्ञान ये चार कल्याणक, चतुर्विधसंघ, गणधरों, गणों आदि की स्थापनाएं सब हस्तिनापुर में ही हुए है।

आपके द्वारा प्रतिबोधित ६२००० श्रमण ६१६०० श्रमणियां, ८०० चौदहपूर्वधारी, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मनःपर्यवज्ञानी, ४३०० सामान्यकेवली, ६००० वैक्रियलब्धिधारी, ३६ गणधर, ३६ गण। कुल श्रमण-श्रमणियों की संख्या १४४१०० तथा इन श्रमण-श्रमणियो के शिष्य-प्रशिष्य भी लाखों की संख्या में उस समय थे। लाखो की सख्या में श्रावक-श्राविकाए भी थे। २५००० वर्ष में सर्वत्रिक जैनधर्म का प्रसार करके और लाखो को आत्मकल्याणकारी मार्ग का अनुसरण कराकर अन्त में बिहार प्रांत के सम्मेतशिखर पर्वत पर जाकर सर्वकर्मों को क्षयकर निर्वाण पद पाये।

---

1 श्री ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम कुरु था। भारतवर्ष में इसी कुरु के नाम से कुरु राष्ट्र (जनपद) विख्यात हुआ। बौद्धों के माने हुए १६ जनपदों में कुरु देश को एक महाजनपद माना है। पाली साहित्य में इसका विस्तार ८००० योजन बतलाया है। बौद्धों ने योजन का माप ७॥ मील बतलाया है। (लगभग १२ किलोमीटर) जैनागम प्रज्ञापणा सूत्र में जिन २५॥ आर्यदेशों का निर्देश किया गया है, इन में कुरु को भी एक आर्यदेश माना है। इस कुरुदेश के कुरु जनपद, कुरु जांगल देश, कुरुक्षेत्र, कुरुरट्ठ, कुरुराष्ट्र आदि नाम प्राचीन साहित्य मे पाये जाते है। जैनागम प्रज्ञापणा सूत्र मे कुरु जनपद की राजधानी गजपुर (हस्तिनापुर) बतलाया है। कुरु राजा के एक पुत्र हस्ति के नाम से इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा। गजपुर, गयउर, नागपुर, गयनयर, गजनगर, गजाह्व, गजाह्वय, नागपुर तथा हस्तिनापुर एवं आसन्दीवत तथा आसन्दिवत, ब्रह्मस्थान आदि अनेक नामों से हस्तिनापुर का उल्लेख मिलता है।

(६) श्री शांतिनाथ प्रभु के मोक्षगमन के आधे पल्योपम के बाद छठे चक्रवर्ती जो बाद १७ वें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ हुए। इनके भी च्यवन आदि चारों कल्याणक, सामान्य राज्य पद, चक्रवर्ती पद, राजधानी, तप, प्रथम समवसरण, प्रथमदेशना, द्वादशांगश्रुत, चतुर्विधसंघ तीर्थ की स्थापना, गणधरों-गणों आदि की स्थापना तथा तीर्थंकर पद प्राप्ति श्री शांतिनाथ के समान सब इसी हस्तिनापुर में हुए। सारे पंजाब में भी आपके अनेक समवसरण हुए जिनमें देशना (धर्मोपदेश) देकर पंजाब जनपद में भी सर्वत्रिक जैनधर्म का प्रसार किया। आपकी माता पट्टरानी श्री तथा पिता सूर नामक राजा थे। कुंथुनाथ की आयु ९५००० वर्ष की थी। शांतिनाथ के समान ही इन्होंने अपनी आयु के चार विभागों में—यानी २३७५० वर्ष राजकुमार अवस्था, २३७५० वर्ष मांडलिक राजा तथा २३७५० वर्ष चक्रवर्ती की पदवी भोग कर कुल ७१२५० वर्ष गृहस्थावस्था के सुख को भोग कर श्री शांतिनाथ भगवान के समान वैभवपूर्ण छह्खण्ड राज्य और सर्वपरिग्रह का त्याग करके एक हजार राजाओं के साथ श्रमण दीक्षा ग्रहण की। छद्मस्थावस्था में १६ वर्ष कठोर तप करके केवलदर्शन-केवलज्ञान की प्राप्ति कर वीतराग-सर्वज्ञ बने। तथा २३७३४ वर्षों तक सारे भरतक्षेत्र में जैनधर्म का प्रसार किया। अन्त में सम्मेतशिखर पर मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार आपने ९५००० वर्ष की आयु पूर्ण की।

आपके द्वारा प्रतिबोधित ३५ गणधर, ३५ गण, ६०००० श्रमण ६०६०० श्रमणियाँ, ६७० चौदहपूर्वी, २५०० अवधिज्ञानी, ३३४० मनःपर्यव ज्ञानी, ३२०० सामान्यकेवली, ५००० वैक्रियलब्धिवाले, २००० वादलब्धिवाले; इस प्रकार आपके स्वहस्त दीक्षित साधु-साध्वियों की संख्या थी और लाखों की संख्या श्रावक-श्राविकाओं की थी। आपके स्वहस्त दीक्षित साधु-साध्वियों के शिष्य-प्रशिष्यों की संख्या भी लाखों में थी।

(७) श्री कुंथुनाथ के निर्वाण के बाद लगभग १/४ पल्योपम के बाद सातवें चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ हुए। इनकी आयु ८४००० वर्ष की थी। च्यवन से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति और संघस्थापना, धर्मप्रसार आदि सब घटनाएँ श्री शांतिनाथ और श्री कुंथुनाथ के समान हस्तिनापुर में ही हुईं। अन्तर मात्र इतना है कि आप दीक्षा लेने के बाद तीन वर्ष तक छद्मस्थ रहे और तप करके पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया। २१००० वर्ष राजकुमार, २१००० वर्ष सामान्य मांडलिक राजा, २१००० वर्ष चक्रवर्ती पदवी भोगकर ६३००० वर्ष गृहस्थावस्था में रहे पश्चात् दीक्षा लेकर ३ वर्ष छद्मस्थ तथा २०९९७ वर्ष तक तीर्थंकर अवस्था से सर्वत्र जैन धर्म का प्रसार करके कुल ८४००० वर्ष आयु पूरी करके सम्मेतशिखर पर मोक्ष प्राप्त किया। आपके पिता का नाम सुदर्शन तथा माता का नाम देवी था।

आपके स्वहस्त दीक्षित जैनसंघ में ३३ गणधर, ३३ गण, ५०००० श्रमण, ६०००० श्रमणियाँ, ६१० चौदहपूर्वधर, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मनःपर्यवज्ञानी, २८०० सामान्यकेवली, ७३०० वैक्रियलब्धिवाले, १६०० वादलब्धिवाले कुल संख्या १२७४६१ श्रमण-श्रमणियाँ, ३३ गणधर, ३३ गण तथा लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएँ थी।[1]

(८) श्री अरनाथ के निर्वाण के बाद आठवां चक्रवर्ती सभूम नाम का हुआ इसकी माता का नाम तारा और पिता का नाम कृतवीर्य था। चक्रवर्ती अवस्था में इसने जैनधर्म का खूब प्रचार किया, पर अन्त में अति लोभी होने के कारण मरकर नरक में गया।

1. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १६वें, १७वें, १८वें तीर्थंकरों के चरित्र।

(९) **उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ प्रभु** केवलज्ञान के बाद विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे और यहाँ पर उन्होंने समवसरण में धर्मदेशना दी और बहुत संख्या में लोगों ने जैनधर्म स्वीकार किया। यहाँ के राजा अदीनशत्रु ने भी आपसे श्रमण दीक्षा ग्रहण की।[1] संभवतः आप पंजाब में भी अवश्य विचरे होंगे।

(१०) **बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामी** भी हस्तिनापुर पधारे और समवसरण में देशना दी। अनेक भव्यजीवों ने जैनधर्म को स्वीकार किया। अनेकों ने श्रमण-श्रमणी की दीक्षाएँ ग्रहण कीं। जिनमें से कुछ का विवरण यहाँ देते हैं। १—**गंगदत्त गृहपति** ने सात करोड़ सोना मोहरों एवं सब प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि आदि परिग्रह का त्याग करके अपने अनेक साथियों के साथ आप श्री के करकमलों से दीक्षा ग्रहण की। द्वादशांगों का अभ्यासकर सर्वत्र भ्रमण कर जैनधर्म का प्रचार किया। अन्त में एक मास की संलेखना करके मरकर देवलोक में गया।[2] (२) **कार्तिक सेठ** की जन्मभूमि भी हस्तिनापुर थी। इसने १००८ श्रेष्ठिपुत्रों के साथ आपसे दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक चरित्र पालन कर एक मास की संलेखना करके मरकर प्रथम देवलोक में इन्द्र हुआ। (३) मुनि सुव्रतस्वामी के हस्तिनापुर में अनेक समवसरण हुए जिनमें धर्मदेशना सुनकर अनेक भव्य जीवों ने जैनधर्म स्वीकार किया। सभवतः पंजाब में भी पधारे होंगे और वहाँ पर भी अनेक भव्यजीवों ने जैनधर्म स्वीकार किया होगा। आपके समय में ही राम, लक्ष्मण, रावण आदि हुए थे।

(११) **बीसवें** तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामी के समय में ही हस्तिनापुर में **राजा पद्मोत्तर तथा विष्णुकुमार** ने श्री सुव्रताचार्य से दीक्षाएँ ग्रहण कर श्रमणधर्म स्वीकार किया। बाद में यहाँ का राजा नमुचि हुआ। एकदा सुव्रताचार्य का चतुर्मास अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में हुआ। नमुचि ने द्वेषवश जैनसाधुओं को अपने राज्य से सात दिनों के अंदर निकल जाने का हुक्म दिया। श्रमणों ने राजा नमुचि के पास एक श्रमण को भेजकर चतुर्मास तक हस्तिनापुर में ही स्थिरता करने की आज्ञा मांगी। किन्तु नमुचि नही माना। तब मुनि विष्णुकुमार ने उससे तीन कदम स्थान मांगा। नमुचि ने कहा कि—'यदि तुम लोग तीन कदम भूमि का उल्लंघन करोगे अथवा उसके परे रहोगे तो मार दिए जाओगे।' मुनि विष्णुकुमार ने उसकी शर्त को स्वीकार किया और वैक्रियलब्धि से अपने शरीर को बढ़ाकर एक लाख योजन का बनाया और एक पग लवण समुद्र के पूर्व में और दूसरा पग लवण समुद्र के पश्चिम मे रखा तथा तीसरा पग नमुचि पर रखा जिससे मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ। अतः विष्णुकुमार मुनि का नाम त्रिविक्रम प्रख्यात हुआ।

(१२) मुनि सुव्रतस्वामी के समय मे ही नवाँ चक्रवर्ती **महापद्म हस्तिनापुर में हुआ।** इसकी माता का नाम ज्वाला तथा पिता का नाम पद्मोत्तर था। अन्त मे राज्य और सर्वपरिग्रह को त्याग कर जैनश्रमण की दीक्षा ग्रहण की। तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सामान्य केवली होकर सर्वत्र जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया। अन्त मे सबकर्मों को क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया और सर्वदुःखों से मुक्त हुआ।

(१३) बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) अपने इस भव से सात भव पहले हस्तिनापुर में **शंख नाम के राजा थे।** शंख के पिता का नाम श्री शेष तथा माता का नाम श्रीमती

1. जिनप्रभसूरि कृत विविध तीर्थकल्प पृ० २७ (सिंघी ग्रंथमाला)
2. विविध तीर्थकल्प।

था। शेष ने अपने पुत्र शंख को राज्य देकर स्वयं जैनश्रमण की दीक्षा ग्रहण की और निरातिचार चरित्र पालते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। सामान्यकेवली होकर सर्वत्र जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया।

(१४) कुछ वर्षों के बाद श्री शेष केवली पुनः हस्तिनापुर पधारे तब राजा शंख ने अपने दो भाइयों, अपनी यशोमती रानी तथा राजमंत्रियों को साथ लेकर इनके पास भागवती दीक्षाएं ग्रहण कीं। जीवनपर्यन्त अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए इन सबने जैनधर्म का प्रसार किया।

(१५) श्रीकृष्ण भगवान नेमिनाथ के चाचा वासुदेव के पुत्र (भाई) थे और समकालीन थे। कौरवों पांडवों की राजधानी भी हस्तिनापुर थी। कौरव पांडव भगवान नेमिनाथ श्री तथा कृष्ण के समकालीन थे। उनके राज्यकाल में राजर्षि दमदत्त भी यहीं हुए हैं। एकदा यहां नगर के बाहर यह राजर्षि ध्यानारूढ़ खड़े थे। उधर से जाते हुए कौरवों के टोले ने राजर्षि को ध्यानारूढ़ देखा और उनकी भरपेट निन्दा भर्त्सना की। इतने तक ही उन्हें संतोष न हुआ। उन पर जो कुछ हाथ लगा पत्थरो, ढेलों, फलो की बौछार शुरू कर दी। यहां तक कि राजर्षि पत्थरों से पूरे ढक गए और ऐसा मालूम होने लगा कि यहां पत्थरों के ढेर के सिवाय और कुछ भी नहीं है। किन्तु पत्थरों आदि के प्रहारों से न तो मुनि विचलित हुए न ही ध्यान भंग हुए। वे ध्यानारूढ़ ही बने रहे। वे इतने तल्लीन थे कि उन्हे अपने शरीर की सुधबुध भी नही थी, आत्मचिन्तन के सिवाय उन्हें बाहरी शरीर के साथ क्या बीत रही है कुछ भी पता नहीं था। पर फिर भी कौरवों का क्रोध शांत न हुआ और क्रोध की भट्टी में जलते हुए आगे बढ़ गए। कौरवों के चले जाने के थोड़े समय बाद ही पाडव अपनी सेना के साथ उधर आ निकले। उन्होने वहां पशुओं को चरानेवाले ग्वालों से पूछा कि यहां राजर्षि ध्यानारूढ़ खड़े थे वे कहां गए और उनके स्थान पर यह पत्थरों का ढेर किसने लगा दिया है? ग्वालों ने पाडवों से सारी घटना कह सुनाई। यह सुनकर उन्हें बहुत आघात लगा। तुरंत सेना सहित उन सबने तुरंत पत्थरों को हटाया और मुनिराज को कष्टमुक्त किया। राजर्षि के तप त्याग तथा सहनशीलता की प्रशसा तथा उनके गुणों की स्तुति, वन्दना करके कौरवों के अपराध के लिए क्षमा मांगी। क्षमामूर्ति राजर्षि दमदत्त को समभाव पूर्वक शुक्ल ध्यान से केवलदर्शन-केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। सामान्यकेवली होकर सर्वत्रिक जैनधर्म का प्रसार करते हुए अन्त में सर्वकर्मों को क्षय करके हस्तिनापुर में निर्वाण पाया।

(१६) भगवान नेमिनाथ के समय में ही पांडवकाल में कटोचवंश के प्रसिद्ध शूरवीर राजा सुशर्मचन्द्र के करकमलों से पंजाब (वर्तमान में हिमाचल प्रदेश) कांगड़ा में श्री ऋषभदेव और अंबिकादेवी सहित विशाल ५२ जिनालय (जैनमंदिर) का निर्माण कराया जो आजकल कांगड़ा किला के नाम से प्रसिद्ध है और ध्वंस पड़ा है। आजकल इसमें एक मंदिर में मात्र श्री ऋषभदेव की एक प्राचीन प्रतिमा विराजमान है। इसका परिचय हम कांगड़ा के इतिहास में कर आए हैं।

(१७) तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हस्तिनापुर पधारे। समवसरण में अनेक भव्य जीवों को उपदेश देकर जैनधर्मी बनाया। आप सिन्धु-सौवीर, पुंड्रवर्धन (पेशावर), गांधार देश, काश्मीर आदि भी पधारे और भव्य जीवों का कल्याण किया।

(१८) मथुरा का युवराज शंखकुमार दीक्षा लेकर हस्तिनापुर आया। उसने यहाँ सोमदेव से भिक्षा के लिए जाने का रास्ता पूछा। सोमदेव ने जानबूझकर गरम तवे के समान गरमी से तप्त भयंकर रास्ता बतलाया। राजर्षि की तपस्या के प्रभाव से गरम रास्ता भी ठंडा हो गया। यह जानकर सोमदेव को बहुत पश्चाताप हुआ और प्रायश्चित रूप से इसने आपसे जैनमुनि की दीक्षा ग्रहण की परन्तु उच्च जाति का अभिमान न गया, जिससे मृत्यु पाकर काशी में मृतगंगा के किनारे चांडाल जाति में जन्म लिया और वैराग्य पाकर दीक्षा ग्रहण कर घोर तप किया तथा मानव और देवताओं का पूज्य बना।

(१९) **महाबल-राजर्षि**--बल राजा के पुत्र महाबल ने अपने पिता के उत्तराधिकार में हस्तिनापुर का राज्य प्राप्त किया। परन्तु राज्याभिषेक होने के तुरंत बाद इसने धर्मघोष आचार्य से दीक्षा ग्रहण की और साधु हो गया। पंजाब आदि जनपदों में विचरण करके सर्वत्र जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया। आयु पूरी करके पाँचवें देवलोक में गया।

(२०) **मुनि बल**--बल गृहपति हस्तिनापुर में बहुत धर्मात्मा हुआ है अन्त में वह साधु होकर स्व-पर कल्याण साधते हुए संलेखनापूर्वक मर कर सौधर्म देवलोक में देवता हुआ।

(२१) **समूह मुनि**--समूह नामक गृहपति ने भी हस्तिनापुर में दीक्षा ग्रहण की और साधु जीवन व्यतीत कर जैनधर्म का प्रसार करते हुए मरकर स्वर्ग में गया।

(२२) **हस्तिनापुर में प्रभु महावीर**--यहाँ प्रभु के कई समवसरण हुए। भगवान महावीर २७ वाँ चतुर्मास (वर्षावास) मिथिला में व्यतीत करके विहार करते हुए अपनी ५७ वर्ष की आयु मे (वीतभयपत्तन में आगमन के १० वर्ष बाद) वि० पू० ४८५-८४ में हस्तिनापुर पधारे। उस समय यहाँ पर शिव राजर्षि ने प्रतिबोध पाकर प्रभु से जैनश्रमण की दीक्षा ग्रहण की। जिसका विवरण इस प्रकार है--

जैनागम स्थानांग सूत्र में आठ राजाओं के नाम आते हैं जिन्होंने प्रभु महावीर के पास श्रमण दीक्षाएँ ली।[1] उनमे एक नाम राजा शिव का भी आता है इस पर टीका करते हुए नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि लिखते है कि--

"शिवः हस्तिनागपुर राजो[2]।"

हस्तिनापुर मे इस राजा की चर्चा भगवती सूत्र में आती है[3] उस समय में हस्तिनापुर नामक नगर था। उस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में सहस्र-आम्र वन नाम का उद्यान था। यह उद्यान सब ऋतुओ में फलों-फूलों से समृद्ध था और नन्दनवन के समान रमणीक था। इस नगर में शिव नाम का राजा था। वह राजाओं में श्रेष्ठ था। उस शिव राजा की पटरानी का नाम धारिणी था। उक्त शिव राजा को धारिणी से एक पुत्र था, उसका नाम शिवभद्र था।

एक दिन राजा के मन में रात्री के पिछले प्रहर विचार हुआ कि हमारे पास जो इतना सारा धन है, राज्य वैभव है, वह हमारे पूर्वजन्म के पुण्य का फल है। अतः पुनः पुण्य संचय

1. समणेण भगवतो महावीरेण रायणोमुडे भवेत्ता आगारातो आणगरितं पव्वाविता, त जहा वीरगय, वीरवसे, संजय, एणिज्जत्ते य रायरिसी। सेय, सिवे, उदायणे (बट्ट संखे कारिवढेण)। (स्था० स्थान ८ सूत्र ६२१ उत्तरार्द्ध)
2. स्थानांग सूत्र स्टीक उत्तरार्द्ध पत्र ४३१।
3. भगवती सूत्र स्टीक शतक ११ उद्देशा ९ पत्र ६४४, ९५८।

करना चाहिए। इस विचार से उसने दूसरे दिन अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया। अपने सगे-सम्बन्धियों से अनुमति लेकर लोही आदि लेकर गंगा किनारे रहने वाले तापसों के पास दीक्षा लेकर दिशा प्रोक्षक[1] हो गया और निरंतर छह टंक उपवास का व्रत ले लिया। इस प्रकार अनेक प्रकार के तप करते हुए उसने विभंग (कुअवधि) ज्ञान प्राप्त कर लिया। शिव राजर्षि को इस ज्ञान से सात द्वीप और सात समुद्र दिखलाई पड़े। हस्तिनापुर में यह बात फैल गई।

उसी बीच महावीरस्वामी यहां आए, उनके शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर भिक्षा लेने नगर में गये। उन्होंने वहां शिव राजर्षि की कही सात समुद्र की बात सुनी। भिक्षा से लौटने पर गौतम ने भगवान महावीर से बात पूछी—"भगवन ! शिव राजर्षि कहता है कि विश्व में सात ही द्वीप हैं और सात ही समुद्र हैं। यह बात कैसे संभव है ?"

इस पर भगवान महावीर ने फरमाया—"हे गौतम ! यह असत्य है। इस तिर्यकलोक में स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र है।"

यह बात भी नगर में सर्वत्र फैल गई। यह सुनकर शिवराज ऋषि को शंका हो गई। तत्काल उसका विभंगज्ञान नष्ट हो गया। फिर उसे ज्ञान हुआ कि भगवान महावीर वीतराग-सर्वदर्शी-सर्वज्ञ-तीर्थंकर हैं। इसलिए उसने भगवान के पास आने का निश्चय किया।

तब यह सहस्राम्रवन में प्रभु महावीर के पास आया और उन्हें वन्दन करके योग्य स्थान पर बैठ गया। समवसरण में प्रभु ने शिव राजर्षि और महती सभा को उपदेश दिया चौदह राजलोक (ऊर्ध्व, मध्य, अधो तीन लोक) का स्वरूप बतलाया। निर्ग्रंथ प्रवचन सुनकर राजर्षि परम संतुष्ट हुआ और उठा, हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर भगवान से सविनय प्रार्थना करते हुए कहा—भगवन ! आपका वचन सर्वथा सत्य है—यथार्थ है। मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हू। प्रभो ! मुझे भी निर्ग्रंथ दीक्षा देकर मोक्षमार्ग का पथिक बनाइये। प्रभु ने स्वीकार किया। शिव राजर्षि ने पचमुष्टि लोच करके भगवान के पांच महाव्रतों को धारण किया—स्वीकार किया, दीक्षा लेने के पश्चात् आगमों का अभ्यास किया और सर्वत्र विचर कर जैनधर्म का प्रसार किया। कठोर तप करके चार घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ बना। जीवन के अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक सर्वत्र विहार कर भव्यजीवों को निर्ग्रंथ प्रवचन का पान कराया। सर्वत्रिक जैनधर्म का प्रसार कर सर्वकर्मों को क्षयकर निर्वाण प्राप्त किया।[2]

(२३) **पोट्टिल आदि अनेक आत्मार्थियों की दीक्षाएं—**

इसी यात्रा में भगवान से पोट्टिल ने भी निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण की। उसका जन्म भी हस्तिनापुर में हुआ था। इसकी माता का नाम भद्रा था। इसकी बत्तीस पत्नियां थीं सब प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि, पत्नियां-परिवार आदि परिग्रह का त्याग कर दीक्षा लेने के बाद वर्षों तक शुद्ध चरित्र का पालन करते हुए सतत सर्वत्र विचरण करते हुए जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया। अन्त में एक मास का अनशन करके अनुत्तर विमान में देवगति प्राप्त की।[3]

---

1. इस पाठ की टीका करते हुए अभयदेव सूरी ने लिखा है "दिसायो क्खिणो त्ति उदकेण दिशः प्रक्षये ये फल-पुष्पादि समुच्चिन्वन्ति ॥" (भगवती सूत्र सटीक पत्र ५५४)
2. भगवती सूत्र शतक ११ उ० ६।
3. अणुत्तरोववाइय (अंतगड-अणुत्तरोववाइय मोदी प्रकाशित पृष्ठ ७०८३)

(२४) अन्य भी अनेक मुमुक्षुओं ने प्रभु से दीक्षा ग्रहण कर श्रमणधर्म स्वीकार किया। तथा अनेक महिलाओं ने भी यहाँ दीक्षाएँ ग्रहण कीं।

इस तीर्थाधिराज में अनेक तीर्थंकर, सामान्यकेवली, लब्धिधारी, ऋद्धिधारी श्रमण तथा श्रमणियाँ पधारे। अनगिनत मुमुक्षुओं ने इस धरती पर आत्मकल्याण किया। श्री ऋषभदेव से लेकर आजतक इस तीर्थ की यात्रा करने के लिए यात्रीसंघ आते रहे। अनेक श्रावकों ने समय समय पर जैनमंदिरों, स्तूपों तथा पादपीठों के निर्माण तथा स्थापनाएं की। किसी समय जैनों की यहाँ घनी बस्ती थी, धनाढ्य, समृद्धिशाली श्रेष्ठियों का यह निवासस्थान था। पेथड़शाह, वस्तु-पाल-तेजपाल अपने-अपने धर्मगुरु जैनाचार्यों के साथ संघ लेकर यहाँ यात्रा करने आये थे।

इन लोगो ने बड़े-बड़े विशाल जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। परन्तु आततायी ध्वंसकों ने इस तीर्थ को अनेक बार ध्वंस किया। जिनमन्दिरों-जिनप्रतिमाओं को क्षति पहुचाई, साथ-साथ नये मंदिरों का निर्माण भी होता रहा। जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएं भी पुनः पुनः होती रहीं। आज तो यह सारा नगर जंगल के रूप में परिवर्तित हो गया है। मात्र दो तीन जैनमंदिरों के सिवाय इन मदिरों के आसपास कोई आबादी नही रही। विक्रम की १४ वी शताब्दी में जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि ने चतुर्विध संघ के साथ इस तीर्थ की यात्रा की। उस समय उन्होने लिखा है कि—

श्री युगादिप्रभोराद्या चोक्षैरिक्षुरसैरिह।
श्रेयांसस्य गृहे पंचदिव्याढ्याऽजनि पारणा ॥४॥
जिनास्त्रयोऽत्राजायन्त शांति-कुन्थुररस्तथा।
अत्रैव सार्वभौमर्द्धि बभुजुस्ते महीभुजः ॥५॥
मल्लिश्च समावासार्षतिन चैत्यचतुष्टयी।
अत्र निर्मापिता श्राद्धैर्वीक्ष्यते महिमाद्भुता ॥६॥
भास्तेऽत्र जगन्नेत्रपवित्रीकार कारणम्।
भवनं चाऽम्बिकादेव्या यात्रिकोपप्लवच्छिदः ॥७॥
जाह्नवी क्षालयत्येतच्चैत्यभित्ती. स्ववीचिभिः।
कल्लोलोच्छालितैर्भूयो भक्त्या स्नात्र चिकीरिव ॥८॥

अर्थात्—श्री हस्तिनापुर में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव ने श्रेयांसकुमार के घर में इक्षुरस से पारणा किया और वहाँ देवो ने पाँच दिव्य प्रगट किये। श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ श्री अरनाथ यहाँ पर चक्रवर्ती तीर्थंकर हुए एवं श्री मल्लिनाथ समवसरे। इन चारों के अलग-अलग चार जिनमदिर तथा (श्री नेमिनाथ भगवान की शासनदेवी) अम्बिकादेवी का भी मन्दिर है। इन मन्दिरों की दीवालों का प्रक्षालन गंगा नदी करती है यानी ये पाँचों मंदिर गंगा नदी के किनारे पर अवस्थित हैं। इनके अतिरिक्त यहा पर स्तूपों का भी वर्णन हैं। जो आजकल निशियाँ जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। निशियाँ जी का अर्थ है तीर्थंकरो आदि की तपस्थली, केवलज्ञान भूमि। ज्ञात होता है कि श्री ऋषभदेव जी के तप का पारणा स्थल तथा शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ ने केवलज्ञान से पहले यहाँ तप किया था एवं श्री शिव राजर्षि अथवा अन्य किसी मुनिराज ने यहाँ तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया होगा अथवा किसी अन्य तीर्थंकर के समवसरण की स्मृति में इसका निर्माण

हुआ होगा। ऐसे स्थानों पर पाँच स्तूपों का निर्माण किया होगा। जिनप्रभ सूरि के समय में पाँच जैनमन्दिर और पाँच जैन स्तूप विद्यमान थे।

वर्तमान में इन मन्दिरों में से यहाँ एक भी विद्यमान नहीं है और इन स्तूपों में से मात्र एक स्तूप विद्यमान है जहाँ श्री ऋषभदेव प्रभु ने वर्षीतप का पारणा किया था। ये सब मन्दिर कब और कैसे ध्वंस हुए इसका पता नहीं।

संभवतः अन्य स्तूप दिगम्बरों के अधिकार में हैं और उन्होंने उन्हें तोड़कर चबूतरे बनाकर वहाँ स्वस्तिक बना दिये हैं।

यहाँ आनेवाले कुछ जैन यात्री संघों का वर्णन —

हम लिख आये हैं कि श्री हस्तिनापुर शास्त्रोक्त, आगमोक्त एवं ऐतिहासिक एक महान तीर्थ है[1] एवं २५॥ आर्य देशों में एक प्रमुख आर्य देश की राजधानी है। यहाँ अनेकानेक विभूतियों द्वारा पवित्र हुई धरती की स्पर्शना के लिये, यात्रा करने के लिये सदा-सर्वदा अनेक चतुर्विध संघ, श्रमण संघ तथा श्रावक-श्राविकायें आते रहे हैं और आजकल भी आते रहते हैं। सारे देश के कोने-कोने से यहाँ तपस्वी साधु-साध्वी, श्रावक-श्रविकाएं वैसाख सुदि ३ को आकर वर्षीय तप का पारणा करते हैं कारण यह है कि श्री ऋषभदेव का वर्षीय तप का पारणा यहीं पर हुआ था।

(१) विक्रम से ३८६ वर्ष पूर्व श्री यक्षदेव सूरि ५०० साधुओं के साथ मरुधर से विहार कर पूर्वदेश की तीर्थ यात्राएं करते हुए हस्तिनापुर पधारे। यहाँ की यात्रा करके रास्ते में अन्य तीर्थों की यात्रा करते हुए मरुदेश वापिस चले गये।[2]

(२) विक्रम से २४७ वर्ष पूर्व श्री सिद्ध सूरि पांचाल देश में चौमासा करने वाले मुनियों के लिए अच्छी व्यवस्था करके ५०० मुनियों के साथ श्री हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा करने पधारे बाद में मरुदेश की तरफ़ चले गये।[3]

(३) विक्रम संवत् १९९ से २१८ आचार्य श्री रत्नप्रभ सूरि चतुर्थ मथुरा में बौद्धों के आचार्य को शास्त्रार्थ में हराकर और उसके अनुयायियों को जैनधर्मी बना कर वहाँ से विहार कर हस्तिनापुर में पधारे और अनेक मुनियों के साथ यहाँ की यात्रा करके अन्यत्र चले गये।[4]

(४) वि० सं० २१८ से २३५ आचार्य श्री यक्षदेव सूरि चतुर्थ लाहौर में चतुर्मास करके अपने मुनिमंडल के साथ यहाँ यात्रा करने पधारे।[5]

(५) विक्रम संवत् २३५ से २६० आचार्य श्री कक्क सूरि चतुर्थ ने अपने मुनिमंडल को साथ लेकर डमरेलपुर (सिंध) में श्रेष्ठिवर्य महादेव के द्वारा निकाले हुए श्री सम्मेतशिखर जी के बहुत बड़े संघ सहित यहाँ की यात्रा की और यहाँ बड़ा भारी महोत्सव किया[6]। इस प्रकार अनेकानेक यात्रीसंघ यहाँ की यात्रा करने आते रहते हैं। कतिपय का परिचय इस प्रकार है—

---

1. केवलोत्पत्ति-निर्वाण यत्राभूतां महात्मानाम्।
तानि सर्वानि तीर्थानि वन्दितानीहवन्दिते ॥५०॥
जन्म-निष्क्रमण ज्ञानोत्पत्ति-मुक्तिगमोत्सवाः।
वैयस्त्यात् क्वापि सामस्त्याज्जिनानां यत्र जज्ञिरे ॥५१॥
अयोध्या-मिथिला-चम्पा-श्रावस्ती-हस्तिनापुरे।
कौशाम्बी-काशी-काकन्दी-काम्पिल्ये भद्दिलाभिधे ॥५२॥
(विविध तीर्थंकल्पे शत्रुंजय तीर्थकल्पे पृ० २ जिनप्रभसूरी कृत)

2. 2 से 6. देखिये भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (मुनि ज्ञानसुन्दरजी कृत तथा इस ग्रंथ के लेखक द्वारा लिखित परमपावन श्री हस्तिनापुर महातीर्थ पृ० ६५-६६)

वि० सं० ११९९ से १२३२ परमार्हत् कुमारपाल राजा (पाटण-गुजरात से) संघ सहित यहाँ यात्रा करने आया[1]। वि० सं० १३२५ से १३५१ के बीच में श्री जिनप्रभ सूरि संघ के साथ यहाँ यात्रा करने आये। वि० १३ वी शताब्दी में श्री मुनिरत्नसूरि, श्री मुनिशेखर सूरि उच्चनगर से संघ सहित यहां यात्रा करने आये। वि०सं० १३२० में मांडवगढ़ के महामंत्री पेथड़शाह ने तप गच्छीय जैनाचार्य श्री धर्मघोष सूरि के उपदेश से भारत के जुदा-जुदा नगरों में ८४ जैनमन्दिरों का निर्माण कराया। यहाँ भी संघ के साथ यात्रा करने आये और एक विशाल जैनमंदिर का निर्माण कराया।[2] वि० स० १३७१ मे तिलंगदेश के स्वामी समराशाह संघपति ने पाटन से यहाँ की यात्रा की। वि० सं० १६६४-१६६८ में मुनि श्री विजयसागर गणि यहाँ यात्रार्थ पधारे। आपने उस समय यहाँ पर पाँच जैनमन्दिरों तथा पांचस्तूपों का उल्लेख किया है।[3] वि० सं० १६२७ में आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि ने अपने शिष्यो के साथ यहाँ की यात्रा की। उस समय आपने यहाँ चार स्तूपों का उल्लेख किया है।[4] खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनशिवचन्द्र सूरि ने वि० सं० १७७८ में यात्रा की।[5]

वि० सं० १६४० के लगभग जगद्गुरु आचार्य श्री हीरविजय सूरि ने अपने शिष्य परिवार के साथ यहाँ की यात्रा की। आपके साथ मुनि पद्मसागर के शिष्य मुनि गुणसागर भी पधारे थे। वि० १८वीं शती में यहाँ मुनि सौभाग्यविजय जी यात्रा करने पधारे उस समय आपने यहाँ तीन स्तूपों का उल्लेख किया है।[6]

वि० १९ वी २० वी शताब्दी में भी अनेक यात्री संघ पधारे। सद्धर्मसंरक्षक मुनि बुद्धिविजय (बुटेराय) जी ने बार बार यहाँ के तीर्थ की दिल्ली संघ के साथ यात्रा की। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि, आचार्य श्री विजयकमल सूरि, उपाध्याय श्री वीर विजय जी, प्रवर्तक श्री कान्ति विजय जी, शांतमूर्ति श्री हंस विजय जी, आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी, मुनि श्री दर्शनविजय जी त्रिपुटी, आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी आदि अनेक मुनिराजों तथा यात्रीसंघों ने इस तीर्थ की यात्रा करके कर्मों की निर्जरा की है। साध्वी समुदाय भी यहाँ पधारते रहते हैं।

इस प्रकार जैन परम्परा, अनुश्रुति, तथा इतिहास में अनेक तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, केवलियों महामुनियों श्रावक-श्राविकाओं, धर्मवीरों, कर्मवीरों का इस तीर्थ के साथ सम्बन्ध रहा हैं।

दिगम्बरों की मान्यता

रक्षा-बन्धन पर्व—दिगम्बरों की अनुश्रुति के अनुसार रक्षाबन्धन अथवा श्रावणी महापर्व जिस घटना के कारण प्रचलित हुआ वह हस्तिनापुर में ही घटी। इस अनुश्रुति के अनुसार

---

1. यशःपालकृत मोहपराजय-१-३८
2. पेथड़ शाह ने जैनमंदिर बनवाये, उस नामावली में हस्तिनापुर का भी उल्लेख है यथा—

   हस्तिनापुर-नेपालपुर-भोगपुरेषु च।
   जयसिंहपुरे निम्बस्थूराद्री तदधोभुवि ॥ इत्यादि

   देखें इस ग्रंथ के लेखक द्वारा लिखित परमपावन श्री हस्तिनापुर महातीर्थ पृष्ठ ६७ टिप्पणी ५९
3. पंच नमूं थुभ थापना, पंच नमु जिनमूर्ति ॥१५॥
   जे मिं तीरथ सांकल्या, नयणि निहाल्या तेह ॥ १६ ॥
   (प्राचीन तीर्थमाला संग्रह भाग १ पृ० १२)

4 स 6. देखें इस ग्रंथ के लेखक कृत परमपावन श्री हस्तिनापुर महातीर्थ पृ० ६८-६९ टिप्पणी ६२ आदि

अकम्पनाचार्य के मुनिसंघ से राजा बलि को द्वेष हो गया। एकदा यहाँ इन सात सौ मुनियों का संघ पधारा। तो बलि ने वैर प्रतिशोध का अवसर पाकर राज्याधिकार के बल से नरमेध यज्ञ द्वारा इन सब मुनियों को भस्म कर डालने का आयोजन किया। ऋद्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने वामनरूप धारा और युक्ति से बलि को वचनबद्ध करलिया। मुनिसंघ का उपसर्ग दूर हुआ और धर्म की रक्षा हुई। तभी से रक्षाबन्धन पर्व शुरू हुआ।

भविष्यदत्त नामक एक विख्यात व्यापारी के हस्तिनापुर में होने का उल्लेख पाया जाता है। वणिक होते हुए भी वह एक परमवीर और धार्मिक था। उसने बड़ी वीरता के साथ शत्रुओं के आक्रमणों का निवारणकर अपने नगर, देश तथा राजा की रक्षा की।

सेनापति जयकुमार—चक्रवर्ती भरत के प्रमुख सेनापति जयकुमार हस्तिनापुर में रहते थे। काशी नरेश अकम्पन की पुत्री सुलोचना ने स्वयंवर में उनके गले में वरमाला डाली। पर भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति से यह सहन न हुआ। उसने सेनापति से युद्ध किया और विजय पाकर उसे बन्दी बना लिया। उसे क्षमा करके सफलतापूर्वक विवाह किया।

जैनमंदिर और संस्थाएं

हम लिख आये हैं कि हस्तिनापुर में श्री ऋषभदेव के समय से लेकर सदा यहाँ जैनमंदिरों, जैन स्तूपों आदि का निर्माण होता रहा। तथा अनेक आक्रमणकारी इनको हानि पहुंचाते तथा ध्वंस करते रहे। विक्रम की १४वीं शताब्दी में जिनप्रभ सूरि के समय यहाँ पाँच मंदिर और पाँच स्तूप विद्यमान थे। श्री ऋषभदेव, श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ, श्री मल्लिनाथ इन पाँच तीर्थंकरों की स्मृति में निर्मित पाँच स्तूपों में से आज मात्र एक स्तूप ही विद्यमान है और वह यहाँ विद्यमान जैनमंदिरों से पूर्व उत्तर की ओर लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर है। इसका वर्णन हम इसी प्रकरण में आगे करेंगे। इसके सिवाय वर्तमान में न तो कोई प्राचीन जैनमंदिर है और न ही कोई स्तूप है तथा न इनके अवशेष ही पाये जाते है। इन प्राचीन मंदिरों, मूर्तियों, स्तूपों का क्या हुआ, कब और किस ने इन्हें उजाड़ा? इस की आज तक कोई ऐतिहासिक खोज नहीं की गई। पर विक्रम की १७ वीं, १८ वीं शताब्दी के यात्रा विवरणों से स्पष्ट है कि इस काल तक ये जैनस्तूप तथा जैनमंदिर विद्यमान थे।

वर्तमान में जो यहाँ जैनमंदिर-संस्थाएं आदि हैं उनका परिचय देते है।

जैन मंदिर आदि—

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर मूलनायक श्री शांतिनाथ भगवान्

यह मंदिर समतल भूमि पर श्वेतांबर जैन धर्मशालाओं से घिरा हुआ है। इस मंदिर का निर्माण बाबू गुलाबचन्द जी पारसान के पुत्र बाबू प्रतापचन्द जी पारसान कलकत्तावालों ने अपने निजी द्रव्य से करवा कर इस प्राचीन तीर्थ का पुनरुद्धार किया। जिस की प्रतिष्ठा वि० सं० १६२६ वैसाख सुदि ३ (आखातीज) के दिन श्री जिनकल्याण सूरि द्वारा हुई। इसी मंदिर का पुनः भव्य विशाल रूप में देवविमान समान नवनिर्माण (जीर्णोद्धार) पंजाबकेसरी, कलिकाल-कल्पतरु, अज्ञान-तिमिर-तरणी, शासन प्रभावक, युगवीर आचार्य श्री मद्विजयवल्लभ सूरि जी की प्रेरणा से श्री हस्तिनापुर जैन श्वेताम्बर तीर्थ समिति ने सेठ आनन्द जी कल्याणजी की पेढ़ी की

देखरेख में करवाकर वि० सं० २०२१ मार्गशीर्ष सुदि १० को युगवीर आचार्य श्री मद्विजयवल्लभ सूरि जी के पट्टधर जिनशासन रत्न, शांतमूर्ति आचार्य श्री मद्विजयसमुद्र सूरि जी के द्वारा प्रतिष्ठा करवाई। यहाँ मूलनायक सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ भगवान हैं। इस समय यहाँ पर जैनों का कोई परिवार आबाद नहीं है। इसके जीर्णोद्धार पर सारे भारतवर्ष के श्वेतांबर जैनों का सहयोग रहा है।

(२) श्री ऋषभदेव जी का पारणा तथा जिन कल्याणक मंदिर

उपर्युक्त श्री शांतिनाथ जी के मंदिर के पीछे पूर्व दिशा के मैदान में श्री हस्तिनापुर जैन श्वेतांबर तीर्थ समिति ने श्री आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी के तत्त्वावधान में इस मंदिर का निर्माण करवाकर वि० सं० २०३५ वैसाख सुदि ३ (आखातीज) को आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी के पट्टधर परमार क्षत्रीय उद्धारक आचार्य श्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि जी द्वारा इसकी प्रतिष्ठा कराई। इस मंदिर के मध्य में श्री ऋषभदेव तथा उनके प्रपौत्र श्री श्रेयांसकुमार की दो खड़ी पाषाण प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गई है। जो श्रेयांसकुमार प्रभु ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा कराते हुए का दृश्य उपस्थित कर रही हैं। इसी मंदिर की दोनों प्रतिमाओं के पीछेवाली दीवाल पर श्रेयांसकुमार का महल, प्रभु का पारणें के लिये पधारना, सोमयश राजा, नगरसेठ तथा श्रेयांसकुमार को आनेवाले स्वप्नों पर इन तीनों को मिल कर विचारणा करना। पारणें के पश्चात् प्रभु का वहाँ से विहार तथा श्रेयांसकुमार द्वारा पारणे के स्थान पर स्तूप निर्माण करवाकर पादपीठ तीर्थ की स्थापना करने के दृश्य संगमरमर (मार्बल) के शिलापट्टों पर अंकित है। दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा की तीनों दीवालो पर श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ इन तीनों तीर्थंकरों के चार-चार कल्याणको [च्यवन-(गर्भावतरण) जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान] के दृश्य, शिलापट्टों पर अंकित हैं।

(३) श्री शांतिनाथ भगवान् का चौमुख जी का मंदिर

यह मंदिर श्री शांतिनाथ जी के श्वे० बड़े मंदिर से थोड़ी दूर पश्चिम की ओर तपागच्छीय तपस्वी मुनि श्री प्रकाशविजय जी (आचार्य विजयप्रकाशचन्द्र सूरि) के उपदेश से स्थापित श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम के प्रांगण में निर्मित है। इसकी प्रतिष्ठा भी जिनशासनरत्न शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि ने वि० सं० २०२१ मार्गशीर्ष सुदी १० के दिन की।

(४) श्वेतांबर जैन निशियांजी

बड़े श्वेतांबर जैनमंदिर की उत्तर दिशा में लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर एक टीले पर श्री ऋषभदेव जी के वर्षीय तप के पारणे के मूलस्थान पर एक प्राचीन स्तूप निर्मित है। यह स्तूप उन प्राचीन स्तूपों में से एक है जिन का वर्णन विविधतीर्थकल्प में किया गया है। परम हर्ष का विषय है कि हस्तिनापुर में जैनों का प्राचीन स्मारकरूप यह एक ही स्तूप बाकी बचा है। इसके आगे पूर्व की ओर श्री ऋषभदेव प्रभु के चरणबिम्ब स्थापित हैं, जिनका उल्लेख भक्तामर के टीकाकार ने श्री श्रेयांसकुमार द्वारा स्थापित पादपीठ तीर्थ के नाम से किया है। इस स्तूप के ऊपर छत्री बनी हुई है। कुछ वर्ष पहले इस प्राचीन स्तूप पर श्री ऋषभदेव जी की जीवनी पत्थरों पर रंगीन चित्रों में खुदवाकर लगा दी गई हैं। इस पर चित्रमय जीवनी के लग जाने पर यह स्तूप सुन्दर तथा सुरक्षित हो गया है।

(५) इस स्तूप के पीछे बाईं ओर तीन छत्रियां (वेदिकाएं) एक साथ है। जिनमें श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ के चरणपट्ट स्थापित हैं।

(६) एक छत्री इसी स्तूप के पीछे पश्चिम दिशा में बनी है इस में १९ वें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ का चरणपट्ट स्थापित है।

एवं इस समय इस निशियां जी की बिल्डिंग की विस्तार योजना का तीर्थ समिति ने निर्णय किया है। इस के लिये दिल्ली के उदारमना, विनयवान, दानवीर ओसवालकुलभूषण धर्मानुरागी सेठ श्री मणिलाल जी सा० डोसी ने रुपया १११११—की धनराशि दी है।

इसका शिलान्यास सेठ मणिलाल जी डोसी ने मिति फाल्गुण वदि २ वि० स० २०३५ को किया है और जीर्णोद्धार का निर्माण कार्य भारतवर्ष के श्वेतांबर जैनसंघ के सहयोग से चालू हो गया है।

(७) श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम की उत्तर दिशा में वाटिका के बीच में खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनदत्त सूरि, आचार्य श्री जिनकुशल सूरि, आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि के चरणपट्टों की स्थापना वाला गुरुमन्दिर है। इसका निर्माण तपागच्छीय आचार्य श्री विजयललित सूरि के प्रशिष्य श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम के संस्थापक आचार्य श्री विजयप्रकाशचन्द्र सूरि की प्रेरणा, प्रयास तथा उपदेश से हुआ तथा इसकी प्रतिष्ठा भी इन्हीं के द्वारा हुई।

(८) बालाश्रम के सामने पश्चिम दिशा में श्री आत्मानन्द जैन महाविद्यालय की इमारत की दक्षिण दिशा में उपर्युक्त आचार्य श्री के उपदेश से श्री ऋषभदेव और श्री श्रेयांसकुमार की दो खड़ी प्रतिमाओं की स्थापना की गई है जो वर्षीय तप का पारणा करने कराने का दृश्य उपस्थित कर रही हैं।

(९) इसी महाविद्यालय की बाऊंड्री में महाविद्यालय की पूर्व दिशा में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी, तथा इनके पट्टधर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के दायें और बायें आमने-सामने दो अलग-अलग छत्रियों में खड़े स्टेच्यु स्थापित किये गये हैं।

(१०) इसी बाउंड्री के अन्दर स्व० आचार्य श्री विजयप्रकाशचन्द्र सूरि का समाधि मंदिर भी है।

जैन संस्थाएं

(११) श्री शांतिनाथ जी के बड़े श्वेतांबर जैन मंदिर को घेरे हुए तथा उसके पीछे तीन जैन श्वेतांबर धर्मशालाएं हैं।

(१२) तीसरी धर्मशाला के साथ लगी हुई उत्तरदिशा में विशाल भोजनशाला है जो पारणा मंदिर के सामने पश्चिमी दिशा की एक तरफ़ है तथा इस भोजनशाला और पारणा मंदिर के बीच के मैदान में वर्षीय तप के पारणा करनेवालों के लिये विशाल आंगन है। भोजनशाला के विशाल हाल कमरे में एक साथ पाँच सौ व्यक्ति बैठ कर भोजन कर सकते हैं।

(१३) श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम की विशाल इमारत में बालाश्रम के विद्यार्थियों के लिये बोर्डिंग तथा भोजनशाला है और इसी बिल्डिंग में जैन पुस्तकालय भी है।

(१४) बालाश्रम के सामने सड़क पार करके पश्चिम दिशा में श्री आत्मानन्द जैन हायर सैकेन्ड्री स्कूल की विशाल बिल्डिंग है। इस में आत्मानन्द जैन बालाश्रम बोर्डिंग में, इस नगर के और आस-

पास के गांवों के जैन-जैनेतर विद्यार्थी सरकारी शिक्षण पाठ्यक्रम की शिक्षा के साथ जैनधर्म की शिक्षा भी पाते है।

(१५) इसी बिल्डिंग में एक फ्री हास्पिटाल (चिकित्सालय) भी है जहां इस क्षेत्र के रोगियों की चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुरक्षा के सब साधन जुटाये गये हैं।

(१६) बालाश्रम में वृद्धाश्रम भी है जिसमें वृद्ध जैन स्त्री-पुरुष प्रवेश पाकर निवृत्तिमय जीवन में धर्माराधन कर आत्मकल्याण करने में तत्पर रहते है।

(१७) बालाश्रम से उत्तर दिशा में सटी हुई इसी सस्था की वाटिका भी है:

(१८) इस वाटिका की उत्तर दिशा में टीले के नीचे के पार्श्ववर्ती मैदान में सड़क के किनारे पर बड़े श्वे० जैन मंदिर की तरफ़ जाते हुए एक उपाश्रय भी है अब तीर्थ समिति का विचार है कि इसको विशाल रूप देकर इसका उत्तम उपयोग किया जावे।

दिगंबर मंदिर तथा संस्थाएं

(१) यहाँ दिगम्बर पथ का मंदिर बड़े मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह जैन श्वेतांबर शांतिनाथ मंदिर की सड़क के उस पार पश्चिम दिशा में एक ४० फुट ऊंचे बड़े टीले पर बना हुआ है और इसका सिंहद्वार भी भव्य और आकर्षक है। यह श्वेतांबर शातिनाथ जैनमंदिर से लगभग ५० वर्ष पहले शाहपुर निवासी लाला जयकुमारमल दिगम्बरी ने बनवाया था। विशाल चकोर आंगन के बीचोबीच चबूतरे पर मूलमंदिर निर्मित है, इस का निर्माण दिल्लीनिवासी लाला हरसुखराय दिगम्बरी ने करवाया था। आंगन के चारो ओर मंदिर को घेरे हुए धर्मशाला है। जिस में सैंकड़ों यात्रियों को ठहरने की व्यवस्था है। सिंहद्वार के अन्दर लगभग १५ वर्ष पहले मानस्तंभ भी बन गया है। इसी मंदिर के आस-पास इसी टीले पर अनेक नई वेदिकाए निर्माण करवाकर उनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाए स्थापित की गई हैं।

(२) इसी मंदिर की उत्तर दिशा में तथा सामने तीन चार दिगम्बर जैन धर्मशालाएं हैं।

(३) इसी मंदिर की उत्तर दिशा में लगभग १ किलोमीटर से २ किलोमीटर के बीच में इनकी तीन चार निशियां जी हैं जिन में चबूतरों पर तीर्थंकरो की स्थापना के रूप मे स्वस्तिक बने हुए हैं।

(४) निशियाँ जी जाते हुए उसी सड़क पर पूर्व दिशा की ओर दिगम्बर आर्या ज्ञानवती के उपदेश से जम्बूद्वीप की रचना तथा उसके मध्य मे मेरुपर्वत का निर्माण कराया गया है। इसी प्रांगण में लायब्रेरी तथा एक कमरे में बाहुबली की खडी मूर्ति भी स्थापित की गई है। जम्बूद्वीप तथा मेरुपर्वत की प्रतिष्ठा वि० स० २०३६ वैसाख सुदी ३ के दिन हुई है।

(५) बड़े मंदिर से सटा हुआ उत्तर दिशा में दिगम्बर जैन गुरुकुल है जिस में स्कूल, छात्रालय, और भोजनशाला है।

(६) इसी स्थान पर धर्मशाला में वृद्धाश्रम, त्यागियो का निवास स्थान आदि हैं।

(७) दातव्य आयुर्वेद औषधालय इस मंदिर की उत्तर दिशा मे है।

कुछ अन्य विशेष स्मारक

(१) **विदुर का टीला**—इसे सामान्यतया उल्टाखेड़ा कहते है। यह कई टीलों का एक सिलसिला है। जो धरातल से लगभग ५०-६० फुट ऊंचा है और कई फर्लांग में फैला हुआ

है। कई छोटे-बड़े टीले इस से संबद्ध हैं। इन में प्रधान बड़ा टीला ही विदुर का टीला कहलाता है। खेड़ा बस्ती को कहते हैं। उल्टाखेड़ा शब्द से ध्वनित होता है कि जनश्रुति इसे एक उलट-पलट गई बस्ती मानती है। यह टीला मेरठ हस्तिनापुर सड़क के सिरे पर दाहिनी ओर और श्वेतांबर जैनमंदिर की दक्षिण पश्चिम दिशा में सड़क के उस पार स्थित है। तथा आज भी पांडवों और कौरवों के धर्मात्मा चाचा विदुर महाराज की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये हुए है। यह टीला श्वेतांबर जैनों का था। कुछ वर्ष हुए भारत सरकार ने इसे एक्वायर कर खुदाई करवाई थी। इस की खुदाई से प्राचीन इमारतों के भग्नावशेष तथा कुछ तीर्थंकरों की खंडित प्रतिमाएं मिली थीं। इनमें से एक खंडित मूर्ति का चित्र यहाँ दिया है। यह प्रतिमा सिर बिना का धड़ है और दोनों कंधों पर केशों की जटा-जूट के निशान है। इससे स्पष्ट है कि यह खंडित प्रतिमा श्वेतांबर जैनों की मान्यता वाली प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की है। इस टीले पर श्वेतांबर जैनों की एक छत्री भी थी जिसमें प्राचीन चरणपट्ट स्थापित थे। इस टीले की खुदाई से पुरानी इमारतों की दीवालें भी मिली है।

(२) **पांडुकेश्वर महादेव शिवालय**—यह वह छोटा शिवालय है जो विदुर टीले के पीछे की ओर निचली भूमि पर बना हुआ है। संभवतः प्राचीन पांडुकेश्वर शिवमंदिर इसी स्थान पर बना हुआ हो। जनश्रुति इसी शिवालय को पांडव निर्मित मंदिर मानती है। परन्तु वर्तमान इमारत दो-डेढ़ सौ वर्ष से पुरानी नही है।

(३) **बुढ़ गंगा का घाट**—पांडव महाल में स्थित और उल्टाखेड़ा टीले से लगभग १ मील दक्षिण-पश्चिम मे बूढ़ी गंगा का द्रौपदी घाट है। उसी के निकट एक झील को द्रौपदी कुंड और दूसरी को वराह कुंड कहते हैं। पास में ही हाल में बनाया हुआ एक छोटा सा मकान द्रौपदी का रसोइघर कहलाता है।

(४) कौरव महल मे स्थित बुढ़ गंगा का जो घाट है। वह कौरवों के सखा अंगराज कर्ण के नाम से कर्णघाट कहलाता है। कार्तिक पूर्णिमा के पर्व पर निकटवर्ती ग्रामों की हिन्दू जनता बड़ी संख्या में उक्त दोनों घाटों पर एकत्रित होती है और पर्व स्नान का पुण्य उपार्जन करती है। यहाँ अनेक संस्कार भी किये जाते हैं।

(५) **बारहदरी**—जैन निशियाँ जी के मार्ग पर दिगम्बरों की पहली और दूसरी निशि के बीच सड़क की दाहिनी ओर वाली टीलों की श्रेणी के मध्य वाले टीले की चोटी पर प्रस्तर और चूने से निर्मित बारहदरी नुमा एक प्राचीन विशाल बुर्ज बना हुआ था। जो अभी कुछ वर्ष हुए गिर कर नष्ट हो गया है। इस के पत्थर अब भी वहाँ पड़े हैं। यह बुर्ज किसी विशाल राजभवन या महत्वपूर्ण ईमारत का ऊपरी अंश प्रतीत होता है।

(६) मुस्लिम राज्यकाल में भी शाह कबीर, शाह मखदूम आदि कई मुसलमान फ़क़ीरों, पीरों और सैयदों ने इस स्थान को अपनी इबादतगाह बनाया था। इन फ़क़ीरों आदि से संबंधित ईमारतों और मस्जिदों के खंडहर अब भी वहाँ मौजूद हैं।

(७) इन अवशेषो में सर्व प्रमुख मुग़लकालीन काज़ीपुर नगर के भग्नावशेष हैं। जो हस्तिनापुर और गणेशपुर के बीच स्थित हैं। इन के सामने ही नवीन हस्तिनापुर बसाया गया है। इस काज़ीपुर को मुग़ल सम्राट शाहजहाँ के एक अफ़सर काज़ी क़यामुद्दीन ने राजकीय आज्ञा

से बसाया था। यह मुग़लों द्वारा प्राचीन हस्तिनापुर को पुनः बसाने का प्रयत्न था। उक्त काज़ी द्वारा निर्मित एक पक्की मस्जिद और मकबरे के भग्नावशेष वहाँ अब भी दृष्टिगोचर होते हैं।

(८) महाल पांडवान में एक मकबरा खानगाह मारूफ़शाह कबीर और एक पुरानी मस्जिद है।

(९) पट्टी कौरवान में एक मकबरा और कुछ पक्की कबरें हैं। उन में से कई अवशेष तो काफ़ी पुराने मालूम होते हैं।

(१०) हस्तिनापुर के निकटवर्ती बहसूमें में सैयद मुहम्मद रजाशाह और सैयद अब्दुल्लाह की अकबरकालीन की दरगाहे हैं।

(११) हस्तिनापुर के निकट ही एक प्राचीन गजपुर ग्राम है जो इस प्राचीन महानगरी के सर्व प्रथम नाम गजपुर की याद बनाये हुए हैं। जिस प्रकार दिल्ली और इन्द्रप्रस्थ का संबन्ध है ऐसा ही हस्तिनापुर और गजपुर का भी रहा होगा।

(१२) प्राचीन अवशेषों और स्मारकों के अतिरिक्त वर्तमान हस्तिनापुर में जो सब से अधिक आकर्षक वस्तुएं है, विशेषकर पुरातत्त्वज्ञों तथा इतिहासकारों के लिये यहां के प्राचीन टीले हैं, जिनके अन्दर न जानें पुरातत्त्व की कितनी निधियां छिपी पड़ी है।

(१३) सम्राट सम्प्रति मौर्य ने अपना एक लेखस्तम्भ प्राचीन हस्तिनापुर के एक सिरे पर स्थित मेरठ नगर में स्थापित कराया था।

(१४) नवीन हस्तिनापुर टाउन के सामने सड़क के उस पार हिन्दूओं ने एक नवीनमंदिर का निर्माण किया है। इस में सीता-राम, राधा-कृष्ण तथा शिवलिंग स्थापित किये हैं।

प्राचीन तथा नवीन हस्तिनापुर

श्री ऋषभदेव के समय से लेकर भारत में अंग्रेजी राज्य से पहले तक हस्तिनापुर अनेकबार बसा और उजड़ा। ब्रिटिश शासनकाल से पहले ही हस्तिनापुर जगल रूप में परिवर्तित हो चुका था और अपनी प्राचीन सुंदरता तथा महत्व को खो चुका था। विक्रम की बीसवीं शताब्दी में इसी जंगल में पुनः एक श्वेतांबर जैनमंदिर तथा एक दिगम्बर मंदिर का निर्माण हुआ। ब्रिटिश सत्ता भारत पर से समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वतंत्र भारत सरकार ने हस्तिनापुर के नव-निर्माण की योजना बनाई। भारत के होममिनिस्टर श्री वल्लभभाई पटेल ने इसको वृहत् रूप देने की योजना को अपने हाथ में लिया। इस योजना मे (१) विशाल हस्तिनापुर का नव-निर्माण, (२) औद्योगिक केन्द्र (३) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय तथा (४) रेलवे का बड़ा केन्द्र बनाना था।

श्री वल्लभभाई पटेल ने हस्तिनापुर टाउन की नींव रखी और उसका निर्माण चालू हो गया। इस अर्से में कुछ कल-कारखाने भी यहाँ चालू किये गये। परन्तु श्री पटेल के असमय में ही देहांत के बाद सारी योजना धरीधराई रह गयी। हस्तिनापुर टाऊन का उन की हयाती में जितना निर्माण हो पाया, उतना ही रह गया। आगे प्रगति होनी समप्त हो गई। सारी योजना धरी-धराई रह गई। न तो हस्तिनापुर का विस्तार हो पाया, न रेलवे से जुड़ ही पाया और न ही कलकारखाने लग पाये। जो कलकारखाने लगाये भी गये थे वे भी न चल पाये, आगे चलकर बन्द

हो गये। विश्वविद्यालय की योजना भी ठप्प हो गई। इस क्षेत्र में भूमि की सिंचाई के लिये गंगा नदी से एक नहर का निर्माण चालू है। इस नहर की खुदाई करते हुए भूमि में से १. श्री शांतिनाथ २. श्री अरनाथ तथा ३. श्री नेमिनाथ की शासनदेवी अंबिकादेवी की २० जून १९७६ ई० को तीन श्वेतांबर जैन प्रतिमायें सफ़ेद पाषाण की पद्मासन में २१ इंच ऊंची निकली हैं। अंबिकादेवी के सिर पर नेमिनाथ की छोटी प्रतिमा बनी है। ये तीनों प्रतिमाएं अत्यंत सर्वांग सुन्दर कलापूर्ण निर्मित हैं। अंबिकादेवी पर कोटिकगण के किसी आचार्य द्वारा प्रतिष्ठा कराने का लेख अंकित है। यह लेख कंकाली टीले मथुरा से प्राप्त श्वेतांबर जैनमूर्तियों के लेखों से बराबर मेल खाता है। श्वेतांबर जैनागम कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित आचार्य परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित है। इनकी कला मौर्य सम्राट सम्प्रति द्वारा निर्मित-प्रतिष्ठित मूर्तियों के साथ तथा कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त पद्मासनासीन तीर्थंकर प्रतिमाओं के साथ मेल खाती हैं। विशेष बात यह भी है कि दिगम्बर पंथी उसी प्रतिमा को ही मानते हैं जिस में पुरुष जननेन्द्रिय बनी हो। इन प्रतिमाओं में पुरुष जननेन्द्रिय नहीं है। इसलिये ये प्रतिमाएं निःसंदेह श्वेतांबर जैनों की है।

अंबिकादेवी पर अंकित लेख

सिद्धं [सं०] ५ हे० ४ दि० १० अस्य पूर्वाये कोटियतो गणतो.......................।

इस प्रतिमा पर वि० सं० ५ (ई० स० ८३) को हेमंत मास ४था मिति दिन १० को श्वेतांबर जैन कोटिक गण के किसी आचार्य के प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। यह गच्छ श्वेतांबर जैनों का है। अतः वे तीनों प्रतिमाएं दो हजार वर्ष पुरानी श्वेतांबर जैनों की हैं।

इस नहर की खुदाई कराने वाला आफ़िसर दिगम्बर जैनी था इसलिये उसने इन तीनों मूर्तियों को दिगंबर जैनमंदिर में पहुंचा दिया और इस समय ये तीनों प्रतिमाएं दिगम्बर मंदिर में दिगम्बरों के कब्जे में हैं।

(१५) हिन्दू जनता भी यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा को बूढ़गंगा नामक गंगा की एक प्राचीन धारा में हज़ारों की संख्या में स्नान करने आती है।

इस समय यहां के जैनमंदिर, जैनसंस्थाएं, पारणा स्तूप (निशियाँ जी) तथा अन्य निशियाँ जी से ही हस्तिनापुर लोगों का आकर्षण स्थल बना हुआ है। प्रतिवर्ष भारत के सब स्थानो से यहाँ यात्री यात्रा को आते हैं।

(१६) मि० मार्गशीर्ष सुदि १० को श्री शांतिनाथ के बड़े श्वे० जैनमंदिर पर प्रतिवर्ष ध्वजा चढ़ाई जाती है।

(१७) यहाँ पर श्वेतांबर जैनों की तरफ से वर्ष में तीन उत्सव होते हैं इस समय सारे भारत से दूर और समीप के हज़ारों जैन यात्री यहाँ यात्रा करने आते हैं।

१. फाल्गुण शुक्ला १३-१४-१५ को होली उत्सव।
२. वैसाख सुदि ३ (अक्षयतृतीया) को वर्षीय तप के पारणा का उत्सव।
३. कार्तिक सुदि १५ को कार्तिकी पूर्णिमा उत्सव।

(१८) दिगम्बरों की तरफ़ से यहाँ वर्ष में दो मेले भरते है।

१. ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष का मेला।

२. कार्तिकी पूर्णिमा का मेला।

विशेष ज्ञातव्य

(१) बौद्ध ग्रंथो में जैनों के १८वें तीर्थंकर श्री अरनाथ को तीर्थंकर रूप में माना है (अंगुत्तरनिकाय भाग ३ पृष्ठ २५६-५७)। अरक और अरनेमि के नाम से भी अरनाथ का उल्लेख है। लिखा है कि इनके समय में मनुष्यों की आयु ६०००० वर्ष की होती थी। ५०० वर्ष की कुमारिका पति के योग्य मानी जाती थी।

जैनों ने अर की आयु ८४००० वर्ष तथा उनके बाद होने वाली मल्ली तीर्थंकर की आयु ५५००० वर्ष की मानी है तथा दोनों के मध्यकाल की ६०००० वर्ष की आयु के लिये दोनों का एक मत है।

(२) दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ की प्रतिष्ठा बौद्धो, महाभारत तथा जैनो मे समान रूप से पायी जाती है।

(३) पांचवें सुमति, सातवें सुपार्श्व, आठवें चन्द्र इन तीनों जैनतीर्थंकरों की प्रतिष्ठा हिन्दू पौराणिक मान्यता के अनुसार साम्य रखती है। विशेष बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये तीनों असुर हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार जैनधर्म असुरो का धर्म है (सोरेन्सन कृत महाभारत विशेषनाम कोष)।

(४) ग्यारहवें श्रेयंस, चौदहवें अनन्त, पन्द्रहवें धर्म, सोलहवें शांति, तीसरे सभव इन पांचों तीर्थंकरों के नाम विष्णु के माने हैं (शिव-विष्णु सहस्रनाम)।

(५) शिव के नामों में अनन्त, धर्म, अजित, प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के नाम भी आते हैं।

(६) बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के नाम में यदि मुनि को सुव्रत का विशेषण माना जाय तो महाभारत में विष्णु और शिव का एक नाम सुव्रत भी है और इनका सम्बन्ध असुरों से जोड़ा है। इससे यह बात तो स्पष्ट है कि ये सब वेद विरोधी थे। इनका वेद विरोधी होना जैन परम्परा से इनका दृढ सम्बन्ध होना सिद्ध करता है।

इस प्रकार (१) ऋषभ, (२) अजित, (३) संभव, (५) सुमति, (७) सुपार्श्व, (८) चन्द्र, (११) श्रेयांस, (१४) अनन्त, (१५) धर्म, (१६) शांति, (१८) अर (२०) सुव्रत, (२१) अरिष्टिनेमि आदि जैनतीर्थंकरों के नाम वैदिक, पौराणिक तथा बौद्धग्रंथों में भी पाये जाते हैं और ये सब असुर थे ऐसा कहा गया है। असुर वेद-पुराण विरोधी माने जाते थे तथा ये सब तीर्थंकर बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव से बहुत पहले हो चुके हैं अतः यह प्रमाणित होता है कि जैनों के चौबीस तीर्थंकरो की मान्यता काल्पनिक नहीं है परन्तु वास्तविक है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु वैदिक आर्यों के भारत में आने से पहले ही वे सब हो चुके थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैनधर्म विश्व में अन्य सब धर्मों से प्राचीनतम है तथा भारत की अपनी सभ्यता है। पंजाब में भी ऋषभदेव से लेकर आज तक इस जैनधर्म का प्रचार व प्रसार रहा है।

पंजाब के कतिपय नगरों का जैन इतिहास

१-सामाना

सामाना पंजाब के प्राचीन नगरों में एक है। पिछली छह-सात शताब्दियों से यहाँ मुसल्मानों का काफ़ी ज़ोर रहा है। इन लोगों ने कई बार इस नगर को लूटा और बरबाद किया। औरंगज़ेब के काल में यहाँ २२ नवाब थे। उन्होंने जैन-जैनेतरों के कई मंदिर गिरवाये। ज़बरदस्ती तलवार के ज़ोर से भारत वासियों को मुसलमान बनाया। इन में से यहाँ के जैन ओसवाल भावड़ों के कुछ परिवारों को भी ज़ोर ज़ुलम से मुसलमान बनाया गया। इन में एक परिवार ओसवाल दूगड़ गोत्रीय भी था। किसी समय यहां ओसवाल श्वेतांबर जैनों (भावड़ों) के पाँच सौ परिवार आबाद थे। श्री पूजों (जैन यतियों) के कई उपाश्रय थे। इन में तपागच्छ, खरतरगच्छ, बड़गच्छ, और अंचलगच्छ के उपाश्रय प्रधान थे। वर्तमान मे यहाँ पर श्वेतांबर तथा ढूंढक (स्थानकवासी) दोनों धर्मानुयायी ओसवालों के एक सौ परिवार आबाद हैं। दूगड़ गद्दहिया, रांका तथा बंब गोत्र प्रधान हैं।

किंवदन्ति के अनुसार यहाँ बीस श्वेतांबर जैनमन्दिर थे। नगर के दक्षिण की ओर एक दादावाड़ी भी है। जिसकी स्थापना विक्रम की १७वीं शताब्दी में हुई थी। श्वेतांबर तथा स्थानकवासी दोनों आज तक इसे मानते चले आ रहे हैं। इस समय यहाँ सामाना शहर में एक श्वेतांबर जैनमंदिर है जो विक्रम संवत् १९६१ में स्थापित हुआ था और उपर्युक्त एक दादावाड़ी है। श्री पूज (यति) जी के एक पुराने मंदिर की श्री ऋषभदेव की एक प्रतिमा भी इस मंदिर में लाकर विराजमान की गई हुई है। दूसरा जैनमंदिर मंडी में है, मूलनायक कुंथुनाथ हैं।

यहाँ गद्दी वालो का एक शिवमंदिर है। यह पहले श्वेतांबर जैनमंदिर था। इसका प्राचीन नाम सरदखाना अथवा शरतखाना था। पश्चात् इसे शिवमंदिर में बदल दिया गया। आज से २५ वर्ष पहले कई जैनमूर्तियां और पुराने जैनमंदिरो के अवशेष (खंडहर) यहाँ मिले थे। एक ३॥ फुट पद्मासनासीन ऊंची जिनमूर्ति भी इस शिवमंदिर के तहख़ाने (भूमिगृह) में रखी हुई थी। यहाँ पहले जैनी पूजा करने जाया करते थे। लेकिन इस मदिर के अधिकारियों ने इस प्रतिमा को कही स्थानांतरण कर (छिपा) दिया है। कहते हैं कि तहख़ाने मे रखी है। जब स्थानकवासी संप्रदाय का पंजाब में ज़ोर बढ़ गया था तब यहां के जैनों ने जिनमूर्ति-मंदिर को मानना छोड़ दिया था। इधर औरंगज़ेब का प्रलयकारी-ध्वंसकारी अभियोग चालू था तब मूर्तियों को छिपाने, दबाने, तथा कुओं-नदियों में फेंकने एव तोड़ने फोड़ने के प्रयोग चालू हो गये थे। मालूम होता है कि उस समय जिसके हाथ जो जैनमूर्ति आई उसे अपने वहां रखकर जैनमदिरों को अपने-अपने मंदिरों के रूप में अथवा मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

मुग़ल सम्राट अकबर महान के हुकुमनामे से ज्ञात होता है कि वि० सं० १६४३ में रोहिणी तप के उद्यापन के अवसर पर बड़गच्छीय श्री शीलदेव सूरि ने अपने गुरु श्री भावदेव सूरि के आदेश से इनके भगत मुसलमान बादशाह[1] द्वारा निर्माण किये गये जैन श्वेतांबर मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा कर उस जैनमंदिर में जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई थी और उस मंदिर के मूलनायक १४वें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ प्रभु की वन्दना स्तवना की थी। जिसका वर्णन एक कविता में इस प्रकार किया गया है।

---

1. देखें इसी ग्रंथ में भावदेव सूरि के वर्णन में

"इक्कु हुकुमु छत्रपति अकबर भुपति दीयउ ।
उद्यम मुख सूरि सीलदेव सूरि कीयउ ।।
कियउ उद्धार नगर सिंगार मणोहार जिणहर सिंधि करयउ ।
रोहिणी ऊजवणइं जिनभवनइ प्रतिमा थापी पुण्य भरयउ ।।
सब जगत वखाणइ नगरि समाणइ सोलह तेतालह कियउ ।
श्री अनन्तमाल (नाथ) प्रभु भेंट्यउ हुकमु साहि अकबरी दीयउ ।।४।।

यहाँ पर गृह चैत्यालय (घर जिनमंदिर) भी अनेक थे । जिनमें से कुछ ये थे ।

१. बिना शिखर का पूजों वाले वर्त्तमान उपाश्रय के सामने दाईं ओर ।

२. वर्त्तमान जैनमंदिर की पिछली ओर ।

३. क्षत्रियों के मोहल्ले में वर्त्तमान खंडहर के स्थान पर ।

४. जैनमंदिर के दरवाजे के अन्दर दाखिल होते ही बाईं ओर ।

५. इसके थोड़ा आगे भोजकों के मुहल्ले में ।[1]

६. गद्दहिया गोत्रीय लाला सखीदास के मकान में उन्हीं के द्वारा बनवाया हुआ । इस मंदिर को विक्रम की १७वीं शताब्दी में बनावाया गया था । उस समय कई जिन-प्रतिमाओं की यहां प्रतिष्ठाएं भी हुई थी ।

यदा-कदा यहाँ कुओं और खंडहरों में से जिन-प्रतिमाएं मिलती रहती है । एक प्रतिमा आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभु की खंडित जिस की प्रतिष्ठा वि० सं० १६४३ में हुई थी, पद्मासनासीन आठ इंच ऊंची हरे पाषाण की जिस पर सच्चे मोतियो का काला लेप है, मुसलमानों के मुहल्ले के कुँए में से मिली थी । जो वर्तमान जैन श्वेतांबर मंदिर मे विराजमान कर दी हुई है ।[2] संभव है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी शीलदेव सूरि ने की होगी ।

इस समय पूजों के एक उपाश्रय के सिवाय उपर्युक्त प्राचीन उपाश्रयों और मंदिरों में से एक भी धर्मस्थान विद्यमान नहीं है ।

सामाना नगर के उत्तर की ओर दो मील की दूरी पर एक पानबड़ची अथवा बड़ेच नाम का गाँव है । यह किले में बसा हुआ है । यहां पुराने समय मे श्वेतांबर ओसवाल जैनो के कई घर थे तथा एक घर जिनमंदिर भी था जो आज नहीं है ।

श्री पूज्यों के समय में सामाना में जैन साहित्य की रचना भी खूब होती रही । यहाँ पर अनेक विषयों के नये ग्रंथ लिखे गए तथा पुराने ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ भी कराई गई । इस ग्रंथ संग्रह में से अनेक ग्रंथ कई साधु ले जाते रहे जो उन्होंने वापिस नही लौटाए । बाकी का सारा हस्तलिखित शास्त्रभंडार दिल्ली में रूपनगर श्वेतांबर जैनमंदिर में इस समय सुरक्षित है ।

इस शास्त्रभंडार में सामाना, साढौरा, सुनाम, सरसा, नागपुर, पुनेरा गांव, रोपड़, होशियारपुर, लाहौर (लाभपुर-लोहानुपुर-लोहाकोट), नूनड नगर, अंबाला, अंबा नगरी, हिसार, अगराओं, मुलतान, राजपुरा, सुलतानपुर, पचानेर, जोधपुर, मालेरकोटला, पिंडी (रावलपिंडी),

1. भोजकों को सेवग भी कहते हैं । ये लोग ओसवालों के बनाये हुए जैनमंदिरो में पूजा सेवा का काम करते हैं और ओसवालों के सिवाय अन्य किसी भी धर्म व जाति से ये लोग यजमानी का संबंध नही रखते ।

2. ज्ञात होता है कि यह श्री चन्द्रप्रभु की प्रतिमा बड़गच्छीय आचार्य श्री शीलदेव सूरी द्वारा वि० सं० १६४३ में सामाना के अनन्तनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित की गई प्रतिमाओं में से एक है ।

भटनेर (हनुमानगढ़), रानुसर, राहों नगर, बाहड़वास गाँव इत्यादि स्थानों में लिखे गए ग्रंथ हैं (विजयानन्द मासिक पत्र से संकलित)।

सामाना में जैनधर्म प्रभावक जैन ब्राह्मण नीलकंठ

सिन्ध देश के पंचपट्टन नगर में प्रसरि नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उसने एक बार कुपित होकर ध्वंसलीला मचाते हुए सामानक (सामाना) नगर को चारों तरफ़ से अपनी सेना द्वारा घेर लिया। वहाँ बहुत से जैनमंदिरों, उपाश्रयों और जैनसंघ का विनाश होने तथा विध्वंस होने की आशंका से रक्षा के निमित्त यहाँ के निवासी नीलकंठ नामक ब्राह्मण ने बीड़ा उठाया।

इस समय यह ब्राह्मण जबरदस्त विद्वान और प्रतिभा सम्पन्न व्रतधारी जैनश्रावक भी यहाँ विद्यमान था। उसे मिथ्यादृष्टियों की वन्दना, स्तुति आदि न करने की प्रतिज्ञा (नियम) थी। फिर भी इस विचक्षण ब्राह्मण ने इस आपत्ति काल में अपनी जान को जोखिम में डालकर नगर और जैनधर्म की रक्षा के लिए निश्चय किया और वह नगर से निकलकर प्रसरि राजा के निकट गया। राजा ब्राह्मणों का भक्त था। उसने नीलकंठ ब्राह्मण को सम्मान-स्वागत पूर्वक नमस्कार किया। नीलकंठ ने श्लोक वचनों से उसे आशीर्वाद दिया—

"सर्वमंगलालिंगी जटामुकुट—मंडितः।
मुक्त्यै भूतये भूयात् महादेवो ऋषभध्वजः॥ (यह श्लोक द्वयर्थक है)

अर्थात्—(१) सर्वमंगल स्वरूप, जटाओं रूपी मुकुट से सुशोभित महादेव (देवाधिदेव) श्री ऋषभध्वज (अर्हत् ऋषभ) आपको मुक्ति प्रदाता हों।

(२) सर्वमंगलों के लिंग रूप, जटाधारी महादेव (शिव) जो ऋषभध्वज कहलाते हैं आपका कल्याण करें। (इस स्तुति से ऋषभ और शिव दोनों का समावेश हो जाता है।)[1]

ब्राह्मण नीलकंठ सम्यक्त्वधारी, बारह व्रतधारी जैनश्रावक था इसलिए उसने इस स्तुति द्वारा अपने इष्टदेव देवाधिदेव अर्हत् ऋषभ की स्तुति की। परन्तु प्रसरि शैव था इसलिए उसने अपने इष्टदेव शिव की स्तुति समझी। आशीर्वादात्मक स्तुति सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। प्रसरि ने पूछा—पंडितजी ! आप कहाँ से आये हैं ? पंडितजी ने कहा—सूर्य के मंडल से। राजा ने पूछा—वहां क्या है ? पंडितजी ने कहा—कि वहां सूर्य के दो स्त्रियाँ हैं। एक श्यामांगी छाया और दूसरी गौरांगी कान्ति। एक बार समीप स्थित कान्ति ने सहस्त्ररश्मि अंशुमाली (सूर्य) से कहा—

"हे छाये ! बदरेऽस्मा किं रण्डेऽस्मि धर्म-द्युति।
ब्रूवे नाम कुतो रिपोस्त्वमपि मे कान्ते, सपत्नि कुतः॥
किं श्यामा स्युयगूहितास्मि बलतः के पूर्व विश्वार्थि वैः।
श्यामांगे प्रसरं प्रताप शिखिना पलुष्टं-अंगच्छिन-विषम्" ॥१॥

इस चमत्कारपूर्ण नव्य काव्य को सुनकर राजा प्रसरि प्रसन्न हुआ। उसने नीलकंठ को इच्छित वर माँगने को कहा। नीलकंठ ने कहा—राजन् ! अपने देश को वापिस लौट जाइये और इस हिंसक प्रवृत्ति का त्याग कर दीजिए।

1. देखें इसी ग्रन्थ के अध्याय एक में ऋषभ और शिव की तुलना।

राजा ने नीलकंठ की बात को मान लिया और उसे बहुत हाथी, घोड़े, वस्त्रालंकार आदि से पुरस्कृत किया एवं उसके कथनानुसार अपने देश को वापिस लौट गया।

सामानक (सामाना) के राजा और प्रजा ने अपने उपकारी परमार्हत् श्री नीलकंठ ब्राह्मण को खूब दान-मान-सम्मान से पुरस्कृत किया। जिस प्रकार कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने महादेव की स्तुति में तीर्थंकर की स्तुति की थी वैसे ही नीलकंठ ने भी महादेव ऋषभध्वज के रूप में श्री ऋषभदेव की स्तुति करके नगर, संघ, जिनमंदिरों, प्रजा आदि तथा यहाँ के राजा की अपनी सूझ-बूझ से रक्षा की। तथापि लोग ऐसा समझकर कि नीलकंठ ने अन्यदेव की स्तुति की है जिसके प्रभाव से सबकी रक्षा हुई है सारी घटना का राज्य सभा में जाकर सब नगरवासियों के सामने स्पष्टीकरण किया और मिथ्यादृष्टि लोग इसका दुरुपयोग न करें, इसकी आलोचना करके प्रायश्चित कर लिया। तप-संयम तथा जिनभक्ति की आराधना करते हुए अन्त समय में मृत्यु पाकर माहेन्द्र देवलोक में देवता हुआ।

उपर्युक्त विवरण श्री हेमविमल गणि कृत कथारत्नाकर से लिया है।

इस वृतांत में वर्णित व्यक्ति ऐतिहासिक मालूम होते हैं। भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व सिंध देश में पंचपट्टण में प्रसरि नामक राजा कब हुआ यह शोध का विषय है। सामानक (सामाना) पंजाब में अब भी विद्यमान है। आज भी यहाँ जैनमंदिर, उपाश्रय तथा जैनी आबाद है।

ब्राह्मण नीलकंठ परमार्हत् जैन धर्मानुयायी अवश्य ही विद्वान, प्रभावक, निर्भय, परम व्रत-धारी श्रावक था। जिसने अपनी सूझ-बूझ तथा विद्वता से अपने राजा, देश, धर्म और प्रजा की अपनी जान को जोखम में डालकर रक्षा की। उस समय सामाना में कौन राजा था, उसका नाम इस कथानक में नहीं है।

गत शताब्दी से अब तक सामाना नगर में अनेकों धार्मिक व सामाजिक गतिविधियाँ हुई हैं।

वि० सं० १६५२ में आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी ने अंबाला शहर के मंदिर की प्रतिष्ठा कराई। उन्होंने वीरविजय जी, संपतविजय जी आदि तीन चार साधुओं को यहाँ भेजा। तब यहाँ ये संवेगी साधु दो शताब्दियों बाद आये थे।

पुन: वि० सं० १६६१ में मुनि (बाद में आचार्य) श्री वल्लभविजय ने चौमासा किया तथा शत्रुंजय तीर्थ-पालीताना से शान्तमूर्ति मुनि हंसविजय जी के प्रयत्नों से भ० शान्तिनाथ जी आदि की पाँच जिनप्रतिमाएं यहाँ आई। भादों वदी १४ संवत १६६१ के दिन इन प्रतिमाओं का भव्य नगर प्रवेश हुआ।

चौमासे के तुरन्त बाद ही मुनि श्री वल्लभविजय जी ने यहाँ पर एक खुले शास्त्रार्थ में स्था० मुनि (बाद में आचार्य) श्री सोहनलाल जी को हराया।

नए मन्दिर का निर्माण चालु हुआ तथा माघ शुक्ल ११ वि० संवत् १६७६ (२३-१-१६२३ ई०) को श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने प्रतिष्ठा कराई। मूलनायक भ० शान्तिनाथ जी को गादी पर विराजमान कराने की बोली यहाँ के ही सदाराम सागरचंद जैन परिवार ने ली।

सामाना प्रतिष्ठा संबंधी मूललेख

श्री जिनाय नमः

स्वस्ति श्री पार्श्व जिनं प्रणम्य: समाणा नगरे मीती माघ सुदी
एकादशी तीथो सोम वासरे सुभ समत १९७९ बीक्रमः श्री श्री
श्री शांतिनाथ जी के मंदर की प्रतिष्ठा कराई श्री श्री
पंजाब केसरी मुनि वल्लभ विजय श्री पंन्यास मुनि
ललित विजय मुनि गुण विजय मुनि प्रभाव विजय जी
ने कुलचंद भाई को हंसराज मु० बलाद जिला अहमदा
बाद से आपने प्रतिष्ठा कराने के तीरंथ श्री श्री श्री साधवी
देव श्री हेम श्री आदी ठाणा ४ बीराजमान थी। लीधमल
लाला दुनीचंद के सपुत्र: लाल मुकंद सदाराम
तीलकचंद गेंदे राम बनारसी दास दौलतराम
सदाराम के पुत्र सागरचंद नाजरचंद: गोत्र
गधिये समाणा नगर . राज पटियाला का है
श्री सरकार बैसे है: बुहत नाव डाका है
मीती माघ सुदी ११ सं० १९७९ बीक्रमी.
द० सदाराम जैन श्वेताम्बर

उसी वर्ष यहाँ पर श्री आत्मानंद जैन महासभा का वार्षिक खुला अधिवेशन प्रसिद्ध देश-भक्त व समाजसेवी श्री मणिलाल कोठारी की अध्यक्षता में हुआ ।

मुख्य धर्मिष्ठ व कार्यकारी श्रावकों में श्री देवीचंद (जैनमन्दिर में कई वर्ष मैनेजर रहे); श्री रिखीराम (इतिहास तथा तत्त्वों के मर्मज्ञ); ला० सदाराम (श्रीसंघ के २० वर्ष सेक्रेट्री व ८ वर्ष प्रधान रहे); ला० बंसीराम; ला० घंटाराम; श्री कुशलचंद व फुम्मनमल आदि नाम उल्लेखनीय हैं । इससे अगली पीढ़ी में श्री कुंदनलाल (श्रीसंघ के पाँच बार प्रधान); श्री साधुराम (श्रीसंघ के चार बार प्रधान); ला० सागरचंद धूपवाले (श्रीसंघ के छः बार प्रधान व महा-सभा के कार्यकारी सदस्य); ला० मुकंदीलाल (मंडी में उपाश्रय बनाकर श्रीसंघ को भेंट किया); ला० नाजरचंद (लेखक, कवि व गायक) तथा लाला चंबाराम आदि के नाम आते हैं ।

लगभग १५० वर्ष पूर्व ला० सरधाराम व सदाराम परिवारों के पूर्वजों में से दो सगे भाईयों मौजीराम व कनौजीराम ने आजीवन संयम-साधना अपने घर के ही एक अलग कमरे में की। दादाबाड़ी के पास इन दोनों की समाधियाँ हैं । तपागच्छीय यतियों की गद्दी यहाँ कई सौ साल तक

रही। जैन परिवारों को यहाँ लाकर बसाने या बाहर भेजने में इन यतियों का विशेष योगदान रहा है।

वर्तमान में यहाँ के मुख्य कार्यकारी श्रावकों में सर्वश्री—निरंजनदास, चिमनलाल दूगड़, सुरेन्द्रकुमार, महेन्द्रकुमार मस्त (श्रीसंघ के चार बार प्रधान व महासभा के सदस्य रहे); डाक्टर सुरेशकुमार, सुमतिसागर व शान्तिकुमार आदि हैं।

२-ज़ीरा नगर

ज़ीरा फ़िरोज़पुर नगर की पूर्वदिशा में १८ मील की दूरी और मोगामंडी की उत्तरदिशा में १४ मील की दूरी पर है। ज़ीरा रेलवे स्टेशन नहीं है। यातायात के लिए बसों का सुविधाजनक प्रबंध है। लुधियाना, जालंधर, अमृतसर, भटिंडा, फ़रीदकोट, फ़िरोज़पुर आदि से सीधी बसें मिलती हैं। ज़ीरा की जनसंख्या देशविभाजन से पहले छह हज़ार थी जो इस समय पन्द्रह हज़ार से अधिक है। यहाँ की नगरपालिका का क्षेत्रफल इसके फ़िरोज़पुर ज़िले में सबसे बड़ा है। यहाँ की मुख्य उपज चावल और गेहूं हैं।

वि० सं० १८६४ में सैयद अहमदशाह ने गुगेरा से आकर ज़ीरा नगर को आबाद किया। सैयद अहमदशाह को सिख सरदार मोहरसिंह निशाने वाले ने भगा दिया। फिर सरदार मोहरसिंह को महाराजा रणजीतसिंह के दीवान मोहकमचन्द ने युद्ध में परास्त करके इस नगर को अपने लाहौर राज्य के साथ मिला लिया। पश्चात् सिखयुद्ध के अनन्तर ज़ीरा अंग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित हुआ।

इस नगर में वैष्णव संप्रदाय के दो महान संत बालब्रह्मचारी स्वामी शंकरपुरी और स्वामी सत्यप्रकाश (सुतेप्रकाश) जी हुए हैं। जो गौरक्षक थे और ग़रीबों की जरूरतों को पूरी करते थे। यहाँ मुसलमान सूफ़ी बाबा मोजुद्दीन (मोजदीन) भी हो गए है। जिन्होंने ज़ीरा को वरदान दिया था कि यहाँ न तो कभी बाढ़ आएगी और न डाका पड़ेगा तथा न ही भयंकर आग लगेगी एवं न ही कोई कतल होगा। जो आज तक सही सिद्ध हुआ है। पाकिस्तान बनने के जनूनी दिनो में भी यहाँ सब प्रकार से शांति रही।

जैनों का आगमन

ज़ीरा बसने के साथ ही ओसवाल (भाबड़े) जैन लोग भी यहाँ आकर आबाद हो गए। जिनमें नौलखा, दूगड़, बोथरा, गोसल, रांका, पंचा, नाहटा आदि गोत्रों के परिवार मुख्य रूप से थे। इस नगर में नौलखा जैन परिवार सबसे अधिक है जो आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले पाली (राजस्थान) से आकर सर्व प्रथम मुलतान में बसे। वहाँ से लाहौर में आए। लाहौर के नौलखा थाना और नौलखा स्ट्रीट (मुहल्ला) आज भी इस बात की साक्षी दे रहे है। लाहौर से लाला पिंडीदास जी के सुपुत्र लाला फ़तेहचन्द जी नौलखा का परिवार ज़ीरा आबाद हो जाने पर यहां आया।

जैनों के यहाँ आने के बाद पूज (यति) श्री ज्ञानचन्द जी यहाँ आगए। वे जैनदर्शन, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र तथा मंत्र, यंत्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। आपकी इस योग्यता के कारण आपकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। पूज जी अपने साथ एक जिनप्रतिमा तथा हस्तलिखित शास्त्र भी यहाँ लाये थे। वह प्रतिमा आज भी ज़ीरा के जैन श्वेताम्बर मन्दिर में विराजमान हैं।

उस समय सारे पंजाब में प्रायः ढूंढिया (स्थानकवासी) मत का प्रभाव था। पूज जी की जायदाद के वारस श्वेताम्बर और स्थानकवासी दोनों संघ हैं। इन्हीं पूज जी की जायदाद की आमदनी से यहाँ जैन समाज की तरफ़ से एक फ्री अस्पताल चलता रहा है। अस्पताल की बिल्डिंग तथा अन्य अचल संपत्ति आज भी ट्रस्ट की सम्पत्ति है।

इस नगर में न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री मद्विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी का पालन पोषण लाला जोधामल जी नौलखा जैन के यहां हुआ था। आत्मारामजी के पिता श्री गणेशदास जी जो कपूरक्षत्रीय जाति के थे उनके परम मित्र थे। श्री गणेशदास जी महाराजा रणजीतसिंह जी की सेना में उच्चपदाधिकारी थे। अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में जब इन्हें सेनाकी कमांड करने के लिये भेजा गया तब वे लालाजी को अपने प्रियपुत्र आत्माराम सौंप गये। दीक्षा लेने से पहले तक का सारा जीवन (आत्माराम जी का) इन्ही लाला जी की छत्रछाया में व्यतीत हुआ।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी के उपदेश से यहाँ के अनेक परिवारों ने पुनः अपने प्राचीन श्वेताम्बर जैनधर्म को स्वीकार किया उन्ही के उपदेश से यहाँ की एक श्राविका सुश्री राधा बाई दूगड़ ने अपनी भूमि देकर उस पर अपने खर्च से श्री जैनश्वेताम्बर मन्दिर का निर्माण कराया। यह श्राविका विधवा और निःसंतान थी। इस मन्दिर निर्माण का सारा कार्य लालूमल दूगड़[1] जो इस श्राविका के खानदान में से ही थे, ने अपनी देख रेख में कराया। यह तीन मंज़िला मदिर तीन वर्षों में बनकर शिखरबद्ध तैयार हो गया। वि० सं० १६४८ में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा करायी। प्रतिष्ठा के समय मन्दिर जी पर ध्वजा लाला लालूमल जी दूगड़ ने चढ़ाई। प्रतिवर्ष परम्परानुसार श्री मन्दिर जी पर ध्वजा उन्हीं के परिवार वाले चढ़ाते है। इस मदिर में मूलनायक श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्थापित किये गये। यह प्रतिमा पालीताना सिद्धगिरि (सौराष्ट्र) से आचार्य श्री ने स्वयं भिजवाई थी। इस मदिर का निर्माण अपने अन्य पांच साथियों के साथ मिस्त्री शेरसिंह बंगा (जिला जालंधर) नगर वाले ने किया था। यह मंदिर १०५ फुट ऊंचा और तीन मजिला है। इसी मिस्त्री शेर सिंह व मेहरसिंह ने अपने साथियों के साथ जीरा में लाला सावनमल की प्रसिद्ध सराय (धर्मशाला) का भी निर्माण किया था। इस मंदिर के दूसरे भाग का निर्माण बाद में हुआ। इस भाग के निर्माण के लिए एक श्राविका सुश्री प्रेमीबाई ने अपनी दो दुकानें तथा लाला राधामल जी नौलखा ने अपनी दो दुकानें दी थी। इस भाग का निर्माण यहाँ के श्वेताम्बर जैनसंघ ने कराया। इसमें शांतिनाथ प्रभु को मूलनायक रूप में स्थापित किया गया।

बड़े मदिर जी के मूलनायक श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा बड़ी चमत्कारी है। प्रतिवर्ष पोष वदि १० (श्री पार्श्वनाथ के जन्मदिन) को सूर्य की पहली किरण प्रभु के चरण स्पर्श करती है। प्रतिमा दिन में तीन रंग बदलती है। इस मदिर में एक धातु की प्रतिमा विक्रम की १४वीं शताब्दी की है। श्री मन्दिर जी का क्षेत्रफल ३५० वर्ग गज है।

---

1. लाला लालूमलजी दूगड़ के प्रपौत्र लाला निहालचन्द जी के सुपुत्र लाला राजेन्द्रकुमार दूगड़ अब चंडीगढ़ जाकर आबाद हो गये हैं। जो कि मेलाराम जी के पौत्र हैं।

इस नगर में श्री विजयानन्द सूरि जी की पुण्य स्मृति में गुरुमन्दिर आत्मभवन के नाम से है। जिसमें गुरुदेव का चरणपट्ट प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयविद्या सूरि तथा मुनि विचारविजय जी ने कराई।

पंजाब सरकार ने पंजाब में पुराने धार्मिक स्थानों में सिखों के अमृतसर के दरबार साहब (स्वर्ण मंदिर) गुरुद्वारे को प्रथम तथा इस जीरा के जैनमंदिर को दूसरा दर्जा दिया है।

इस मन्दिर में प्राचीन इतिहास और साहित्य का अनमोल संग्रह सुमति जैन हस्तलिखित शास्त्र भंडार था। जो सर्व प्रसिद्ध था। जिसमें नवयुगनिर्माता न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी की हस्तलिखित पांडुलिपियां भी हैं। यह शास्त्रभंडार पंजाब के दूसरे नगरों के जैन शास्त्रभंडारों के साथ दिल्ली रूपनगर के मन्दिर में वल्लभस्मारक के लिए भेजा जा चुका है। यहां के इस शास्त्रभंडार की सूचि पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर ने पंजाब के कतिपय अन्य जैन शास्त्रभंडारों की सूचि के साथ प्रकाशित कराई थी (पाकिस्तान बनने से पहले)।

यहां श्री आत्मानन्द जैनसभा की स्थापना ईस्वी सन् १९२० के लगभग हुई। उस समय यहां के प्रमुख श्रावक १-लाला दीनानाथ १-लाला कुल्लाहमल, ३-लाला राधामल, ४-लाला हरदयाल मल नौलखा। दूगड़ों में लाला लालूमल का परिवार तथा बोथरा गोत्रीय श्री खरायतीराम जी के पूर्वज आदि थे।

सकल श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ पंजाब के संगठन रूप श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब (वर्तमान में उत्तरीय भारत) की स्थापना आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य उपाध्याय सोहनविजय जी के उपदेश से वि० स० १९७८ (ईस्वी सन् १९२१) जेठ सुदि ८ के दिन गुजरांवाला में हुई। इसका मुख्य कार्यालय सात-आठ वर्ष तक जीरा में रहा। उस समय महासभा के प्रधान लाला नत्थुमल नौलखा थे और महामन्त्री लाला खेतूराम जी नौलखा थे। यहां एक बार आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब का वार्षिकोत्सव भी हुआ था जिसके प्रधान जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक बीसा श्रीमाल भाई श्री बंसीधरजी B.A.L.T. चरखीदादरी निवासी थे। इनका अध्यक्षीय भाषण "जैनकौम से खिताब (जैनसमाज से निवेदन) एक दस्तावेज की हैसियत रखता है।

देश विभाजन के बाद महासभा का पुनर्निमाण करके महासभा का मुख्य कार्यालय जीरा में कायम किया गया, जिसके प्रधान लाला बाबूराम जी नौलखा एम. ए. एल. एल. बी. और महामन्त्री लाला खेतूराम जी नौलखा को नियुक्त किया गया। जिन्हों ने कई वर्षों तक इस पद पर रह कर श्रीसंघ पंजाब की सेवा की।

जीरा में जैनशिक्षा का प्रचार पहले साधु-साध्वियां करते रहे। फिर ब्रह्मचारी शंकरदास जी नौलखा ने किया। ईस्वी सन् १९४४-४५ से धर्मशिक्षा पाठशाला की स्थापना की जिसमें श्री तिलकचन्द (भ्राता) जी जैन न्यायतीर्थ (श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला के विनीत) धर्म शिक्षा देते थे।

यहां पर मूर्तिपूजक श्वेताम्बर संघ प्रभावशाली है। जिसका नाम श्री आत्मानन्द जैन सभा है। गुजराती साधु श्री अमीविजय जी और श्री रविविजय जी ने यहां वि० सं०

१६६६, १६७२ के दो चौमासे किये और आचार्य श्री विजयानन्द सूरि द्वारा बनाये हुए श्रावक-श्राविकाओं को दृढ़ संस्कार दिये। वि० सं० १६७२ में मुनि श्री अमीविजय जी ने यहाँ मुनि राम विजय को दीक्षा दी।

आज तक इस नगर के चौदह श्रावक-श्राविकाओं ने दीक्षाएं लीं। जिनमें सात श्रावक और सात श्राविकायें थीं। जिनका परिचय हम आगे देंगे।

जीरा नगर को इस बात का श्रेय है कि यहाँ आज तक अन्य छह दीक्षाएँ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी साधु-साध्वियों की हुई हैं।

पाकिस्तान बनने से पहले यहाँ श्वेताम्बर जैनों के ३०, ३५ परिवार तथा स्थानकवासी ३०, ३२ परिवार थे। अब ८, १० परिवार श्वेताम्बर तथा १०, १२ घर स्थानकवासियों के हैं। जो परिवार यहाँ से चले गए है उनमें से अधिक लुधियाना में जाकर आबाद हो गये हैं। क्योंकि पाकिस्तान बनने के बाद जीरा नगर के भारत राज्य में होते हुए भी यहाँ के व्यापार व्यवसाय में बहुत कमी हो गई है।

आजकल यहाँ श्वेताम्बर संघ में श्री मदनलाल नौलखा, श्री शान्तिदास रांका, श्री सत्य-पाल नौलखा, लाला शान्तिदास सुपुत्र लाला ईश्वरदास नौलखा, हकीम अमरचन्द नौलखा, लाला प्यारेलाल नौलखा, लाला बाबूराम नौलखा, डाक्टर रिखबदास नौलखा आदि प्रमुख श्रावक हैं।

३-लाहौर

लाहौर पंजाब का बड़ा प्राचीन नगर है। यह कई सौ वर्षों से पंजाब की राजधानी रहा है। पंजाबी लोग इसे 'लाहौर अथवा लहौर' कहते हैं। फारसी किताबों में इसको लहावर, लोहा-वर, लहानूर लहवर, रहवर इत्यादि लिखा है। अमीर खुसरो ने इसे लाहानूर के नाम से भी पुकारा है।

जैसे—अज हद्दे सामानिया ता लाहानूर हिच इमारत नेस्त मगर बारे कसूर[1]। कुछ प्राचीन जैन लेखकों ने भी इसे यही नाम दिया है। जैसे अमृतसर जैनशास्त्र भण्डार की अणुत्तरा-ववाइय प्रति की पुष्पिका।[2]

(१) [वि०] संवत् १५६१ वर्षे कार्तिक वदी ६ दिने गुरुवासरे लहणल गोत्रे परम पुरा हींगा तत्पुत्र माणिक तत्पुत्र लद्धा, श्री बृहत्गच्छे श्री मुनीश्वर सन्ताने श्री पुण्यप्रभ सूरि तत् शिष्य वा० श्री भावदेवाय सिद्धान्तस्य पुस्तकं स्वपुण्यार्थं श्री लाहानूरपुरे।

(२) पट्टी जिला अमृतसर—जैन शास्त्रभण्डार की जम्बूद्वीपपण्णत्ति की पुष्पिका[3] [वि०] संवत् १७६४ वर्षे मिति १४ शुक्लपक्षे वार बुद्धवारे श्री ५ पूज्य जी हरिदास जी तस्य शिष्य मणसारिष तत्र लिषतं लाहानूर मध्ये कुतुबषां की मण्डी।

(३) पट्टी जिला अमृतसर जैन शास्त्रभण्डार की कर्मग्रंथ की पुष्पिका[4]—

लिषतं मलूका-ऋषि [वि०] संवत् १७६५ असवन सुदी ६ मण्डी कुतुबषां की गच्छे सिषराज [लौकागच्छ] का लाहानूर मध्ये।

1. किरनुस अदैन।

2, 3, 4—Catalogue of Manuscripts in the Punjab Jain Bhandars by Dr; Banarsidas Jain Lahore

(४) पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की संस्कृत विभाग के हस्तलेख नं० ७४६ की पुष्पिका—

[वि०] संवत् १८११ मिति कार्तिक सुदी १५ पोर्णमासां तिथौ बुद्धवासरे लहानूर नगर मध्ये…वाणियां बंशे नौरंगपुरिया लाला नवनिधानराय।

(५) सूरीश्वर अने सम्राट पृष्ठ २५४

लाहनूरगढ़ मज्झि प्रवर प्रासाद करायउ (कृष्णदास कृत दुर्जनसाल बावनी)।

(६) 'जैन विद्या' प्रथम अंक हिन्दी पृष्ठ ३१ जटमल कृत लाहौर की ग़ज़ल की अगर चन्द नाहटा की प्रति में लाहानूर शब्द आया है।

(७) राजपूतों के इतिहास में इसे लोहगढ़-लोहकोट भी कहा है।

(८) अकबर के समय से जैन शास्त्रों में इसका नाम लाहौर और लाभपुर भी मिलता है। जैसे भानुचन्द्र चरित्र आदि में :

(९) ब्राह्मण लोग इसे लवपुर भी कहते है।

(१०) अंग्रेजी स्पेलिंग Lahore के प्रभाव से गुजराती-मराठी में लाहौर लिखते हैं।

स्थापना—दंत कथा तो यह चली आती है कि श्री रामचन्द्र जी के बेटे लव ने लवपुर अर्थात् लाहौर बसाया। दूसरे बेटे कुश ने कुशपुर अर्थात् कसूर बसाया। किन्तु इस दंतकथा के तथ्यातथ्य जानने का कोई साधन नही है। लाहौर किले में लोह का मन्दिर है और अमृतसर में लोहगढ़ का दरवाजा है। गुजरांवाला मे लाहौरी दरवाजा है। इसका सम्बन्ध लव से है या लोह से है; यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

किसी-किसी का ख्याल है कि ग्रीक लेखक हालमी ने जिस लाबोकल नगर का उल्लेख किया है, वह लाहौर है। ऐसा प्रतीत होता है कि लाहौर को विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी में किसी राजा लोह ने बसाया था। इसकी पुष्टि पट्टावली समुच्चय भाग २ गुजराती से भी होती है। "विक्रम संवत् ३४८ लाहौर शहर वस्यो"। अर्थात् विक्रम सवत् ३४८ में लाहौर शहर बसा जो थोड़े ही समय में बड़ा भारी नगर बन गया।

अवशेष—यद्यपि पंजाब में जैनधर्म का इतिहास बड़ा उज्जवल, महत्वपूर्ण और बहुत प्राचीनकाल से है। यहाँ तक कि यह इतिहास की सीमाओं मे बांधा नहीं जा सकता।[1] तथापि लाहौर में इसके अवशेष बहुत पुराने नहीं मिलते। सबसे प्राचीन अवशेष मुग़ल सम्राट अकबर के समय के हैं। सम्भव है कि खोज करने पर इनसे भी पुराने अवशेष मिल जाएं। लाहौर के पुराने जैन घराने श्वेताम्बर जैनधर्म को माननेवाले ओसवाल है। जिनको यहाँ की ग्राम बोलचाल में "भावड़े" कहते हैं। लाहौर नगर के जिस भाग में ओसवालों की बस्ती थी, उसे थड़ियाँ भावड़यां कहते थे। तथा कोई ४० वर्षों से इसे जैनस्ट्रीट कहने लगे थे। यहाँ अकबर के समय का श्वेताम्बर जैन मन्दिर तथा उपाश्रय पाकिस्तान बनने से पहले तक विद्यमान थे[2]। जिनको पाकिस्तान बनने

1. विसेंट स्मिथ-भारत का प्राचीन इतिहास।

2. इससे पहले लाहौर मे थड़ियां भावड़यां में उपाश्रय नही था। एक दिन अकबर के दरबार में श्वेतांबर मुनि भानुचन्द्रोपाध्याय देर से पहुंचे। कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि दूर से आने के कारण देर हो जाती है। तब अकबर ने भूमि दी और श्रावकों ने उस पर उपाश्रय बनाया।
(भानुचन्द्र गणि चरित्र प्रकाश २, श्लोक १२२-३०)

की घोषणा होने पर मुसलमान आततायियों ने समूलनष्ट कर दिया। लाहौर से सात-आठ मील दक्षिण की तरफ़ एक गांव है जिसका नाम "भावड़ा" है। शायद यहां भावड़ों-ओसवालों की बस्ती होगी जिससे यह नाम पड़ा है। भावड़ा ग्राम में मंत्री कर्मचन्द ओसवाल बच्छावत गोत्रीय ने आचार्य जिनकुशल सूरि के चरणबिम्ब स्थापित किये थे। इसके साथ एक बावड़ी और बहुत सी जमीन भी लगती थी। लगभग सवा सौ वर्ष हुए इस जमीन को भावड़ा ग्राम के जमींदारों ने दबा लिया। तब वहां से उस चरणपादुका को हटा कर पासवाले गांव 'गुरु मांगट' में स्थापित कर दिया गया। यह चरणपादुका पुरानी हो जाने पर शहर के मन्दिर में लाकर विराजमान कर दी गई थी। जहाँ पहले चरणपादुका थी वहाँ प्रतिमास जैनों का मेला लगता था। जिसमें श्वेताम्बर जैन तथा स्थानकवासी सभी सम्मिलित होते थे।

इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे ग्रंथ मिलते हैं जो अकबर और उसके बाद के समय में लाहौर में रचे गये या लिपिबद्ध किये गये हैं।

प्रसिद्ध श्रावक—अकबर के समय में लाहौर में दो मुख्य जैन श्रावक थे। १-दुर्जनसालसिंह और २-कर्मचन्द बच्छावत। १-दुर्जनसालसिंह ओसवाल (भावड़ा) जड़िया गोत्रीय श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी था। इनके पिता का नाम नानू तथा पितामह का नाम जग्गूशाह था। यह तपागच्छीय जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि का अनन्य भगत था। वि० सं० १६५१ में कृष्णदास ने लाहौर में **दुर्जनसालसिंह बावनी** लिखी। उसके अनुसार दुर्जनसालसिंह ने लाहौर में एक जैन श्वेताम्बर मन्दिर बनवाया था और संघ समेत श्री शौरीपुर तीर्थ की यात्रा करके वहाँ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

२-**मंत्री कर्मचन्द बच्छावत**—यह बीकानेर का रहने वाला था। ओसवाल बच्छावत गोत्रीय था। खरतरगच्छीय श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि का भगत था। इसी की प्रेरणा से ही अकबर ने श्री जिनचन्द्र सूरि को लाहौर में अपने दरबार में बुलाया। वे अपने मुनिमण्डल के साथ वि० सं० १६४९ फाल्गुन सुदि १२ ईद के दिन लाहौर पहुँचे। जगद्गुरु हीरविजय सूरि से १० वर्ष बाद। इनकी अकबर के साथ भेंट हुई। इनके साथ जयसोम, समयसुन्दर आदि अन्य साधु भी थे[1]। इस समय बीकानेर के राय कल्यानमल की तरफ़ से कर्मचन्द बच्छावत अकबर के दरबार में रहता था।

धर्म प्रभावना और महोत्सव—जैनधर्म के महोत्सवों का आधार हैं—जिनप्रतिमा और साधुमहाराज। १—जिनप्रतिमा से सम्बन्ध रखनेवाले महोत्सव मंदिरनिर्माण, मन्दिरप्रतिष्ठा, सामूहिक पूजा, तथा तीर्थयात्रा के अवसरों पर मनाये जाते हैं। २—साधु महाराजों से सम्बन्ध रखने वाले महोत्सव उनकी दीक्षा, आचार्य आदि पदवी प्रदान, प्रवेश—महोत्सव तथा स्वर्गवास आदि के अवसरों पर मनाए जाते हैं। आजकल जयन्ति, शताब्दी, ज्युबिली, वार्षिक सम्मेलन आदि मनाने का रिवाज चल पड़ा है।

जो महोत्सव और धर्म प्रभावना लाहौर ने अकबर के समय में देखे थे, शायद उसे फिर कभी नसीब न हुए हों। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ करते हैं।

---

1. देखें कर्मचन्द बच्छावत चरित्र।

१—सम्राट अकबर का जिनपूजा कराना—अकबर के बेटे सलीम (जहांगीर) के यहाँ मूल नक्षत्र में एक लड़की पैदा हुई। ज्योतिषियों ने बतलाया कि यह लड़की अपने माता-पिता के लिए कष्टप्रद होगी, इसके लिए कुछ उपाय करना चाहिए। तब अकबर ने अपने अध्यापक जैनश्वेतांबर तपागच्छीय उपाध्याय श्री भानुचन्द्र जी से सलाह की। श्री उपाध्याय जी ने कहा कि श्री जैन तीर्थंकर भगवन्तों की अष्टोत्तरशत (१०८) स्नात्रपूजा कराने से मूल नक्षत्र का प्रभाव जाता रहेगा। इस पर सम्राट ने हुक्म दिया कि जो उपाश्रय अभी बनकर तैयार हुआ है, उसमें फौरन जिनपूजा कराई जावे। पूजा का प्रबन्ध श्वेतांबर जैन तपागच्छीय श्रावक थानसिंह जो आगरे वाली तपस्विनी चम्पाबाई के ज्येष्ठ पुत्र थे उनके सुपूर्द हुआ। उपाश्रय के समीप एक विशाल पंडाल बनवाया गया। इस पूजा में कर्मचन्द बच्छावत को भी बुलाया गया था। पूजा बड़े समारोह के साथ हुई। स्वयं अकबर अपने सामन्तों और सलीम को साथ लेकर शाही बाजे गाजे के साथ पूजा मण्डप में आया। बड़ी धूम-धाम से पूजा कराई, उसमें जनता की अपार भीड़ भी थी। पूजा की समाप्ति पर थानसिंह और कर्मचन्द ने अकबर को हाथी-घोड़े भेंट किये। सलीम को एक बहुमूल्य हार दिया। स्नात्रपूजा का जल अकबर और सलीम ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से अपनी आँखों पर लगाया।[1]

खरतरगच्छीय लेखकों ने इस घटना का सम्बन्ध श्री जिनचन्द्र सूरि के साथ जोड़ दिया है, जोकि इतिहास की शोध से असत्य ठहरता है। इस का कुछ विवेचन यहाँ किया जाता है।

अकबरनामा को देखने से ज्ञात होता है कि जहाँगीर की जिस पुत्री के मूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण लाहौर में यह अष्टोत्तरी स्नात्र पूजा हुई थी, उसका जन्म १५ दे सन् ३४ ईलाही (२७ दिसम्बर ईस्वी सन् १५८६ तदनुसार विक्रम संवत् १६४६ पोष वदि १४) को हुआ था।[2] उस समय तक तो अकबर को श्री जिनचन्द्र सूरि का पता भी नहीं था। हम लिख आये हैं कि इन की अकबर से भेंट वि० सं० १६४६ में लाहौर में सर्व प्रथम हुई थी।

दूसरी बात यह है कि युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि के जीवन चरित्र में इस कन्या का जो जन्म समय बतलाया है वह आश्विन वदि २ वि० सं० १६४७ बतलाया है। उस समय तक तो जिनचन्द्र सूरि लाहौर पधारे ही नहीं थे। इस दिन से लगभग डेढ वर्ष बाद इन की लाहौर में अकबर से भेंट हुई। ज्योतिषशास्त्र के हिसाब से इस दिन तो प्रायः अश्विनी नक्षत्र अथवा उस से पिछला या अगला नक्षत्र होता है। अतः ज्योतिष—शास्त्र के हिसाब से भी यह असत्य ठहरता है।

(२) **अकबर द्वारा जैन मुनियों को पदवियाँ प्रदान**—जैनसाधुओं के चरित्र, ज्ञान, पांडित्य तथा सर्वजन हिताय भावना से अकबर इतना प्रभावित हुआ था कि उसने उन्हें अनेक पदवियाँ प्रदान कीं—वि० सं० १६४० में श्री हीरविजय सूरि को **जगद्गुरु** और मुनि श्री शांतिचन्द्र को **उपाध्याय** पद दिया। वि० सं० १६४९ में श्री जिनचन्द्र सूरि को **युगप्रधान** और मुनि मानसिंह को **आचार्य** पद दिया। तब से मानसिंह का नाम जिनसिंह सूरि प्रसिद्ध हुआ। इस अवसर पर मंत्री कर्मचन्द ने बड़ा भारी महोत्सव किया। जयसोम को पाठक पद, समयसुन्दर को उपाध्याय

1. देखें भानुचन्द्र गणि चरित्र।
2. देखें अकबरनामा भाग ३ फ़ारसी पृष्ठ ५७२ अंग्रेज़ी अनुवादित पृ० ८६५-६६।

पद मिला। इसी प्रकार भानुचन्द्र को उपाध्याय पद दिया। इस अवसर पर अबुलफ़ज़ल ने ६०० रुपये और १०८ घोड़े दान दिये।

जब विजयसेन सूरि ने ब्राह्मण पंडितों को हराया तो अकबर ने उन्हें सवाई की पदवी दी। जिसका अर्थ यह होता है कि वर्तमान में सब विद्वानों से सवाये (१।) बढ़िरे अर्था (बढ़-चढ़ कर) हैं। मुनि नन्दिविजय और मुनि सिद्धिचन्द्र के अवधान देखकर अकबर ने उन्हें खुशफ़हम (कुशाग्र बुद्धि) की पदवी दी। ये सब पदवियां सब को एक दिन में नहीं दी गईं। पर भिन्न-भिन्न अवसरों तथा समयों में दी गई थीं।

(३) आचार्यपद—तपागच्छीय मुनि श्री वल्लभविजय जी को विक्रम संवत् १९८२ में पंजाब जैन श्रीसंघ ने आचार्य पदवी दी। नाम विजयवल्लभ सूरि हुआ।

(४) ग्रंथ रचना—१—अष्टलक्षी ग्रंथ की रचना खरतरगच्छीय मुनि श्री समयसुन्दर ने की थी। इस में 'राजा नो ददते सौख्यम्' के आठलाख अर्थ किये थे। इस पर रत्नावली टीका भी है। यह ग्रंथ विक्रम संवत् १६४६ से प्रारंभ होकर वि० सं० १६७६ (३० वर्षों) में समाप्त हुआ था। वि० सं० १६४९ तक जितना ग्रंथ लिखा गया था, उसे अकबर ने लाहौर में सुना था।

२ उपाध्याय जयसोम ने लाहौर में वि० स० १६५७ में मंत्री कर्मचन्द्र प्रबन्ध लिखा।

३. अकबर का पूर्वजन्म—अकबर पूर्वजन्म में ब्रह्मचारी मुकुन्द नाम का ब्राह्मण था और प्रयाग में रहता था। वि० सं० १५८१ में यह मन से ऐसे इरादे से जलमरा कि अगले जन्म में राजा हो। उस भावना (नियाना) के अनुसार यह मुकुन्द इस जन्म में सम्राट अकबर हुआ। इसने इस जन्म मे जातिस्मरण (पूर्वजन्म के) ज्ञान से जान लिया था। पूर्वजन्म के संस्कार के कारण ही यह सूर्योपासना करता था और प्रतिदिन भानुचन्द्रोपाध्याय से सूर्यसहस्र नाम सुनता था। भानुचन्द्रोपाध्याय ने अकबर के अनुरोध से ही इस सूर्यसहस्र नाम स्तोत्र की रचना की थी।

४. वि० स० १६५१ में कवि कृष्णदास ने लाहौर में दुर्जनसाल बावनी की रचना की।

५. वि० स० १६६४ में बृहद्गच्छीय श्री शीलदेव सूरि ने सरसा में विनयधर चरित्र की रचना की।[1]

६. सत्तरहवी शताब्दी विक्रम में हो गये जैन कवि जटमल नाहर ने हिन्दी में लाहौर की ग़ज़ल की रचना की। यह लाहौर में नही लिखी गई किन्तु लाहौर से संबन्ध के कारण यहाँ उल्लेख किया है।

इन के अतिरिक्त लाहौर में समय-समय पर अनेक ग्रंथों की रचना होती रही, परन्तु विस्तार भय से इनका उल्लेख नहीं किया है। तथा अनेक ग्रंथों की पांडुलिपियां भी यहाँ लिखी गईं जिनका संक्षिप्त विवरण हम आगे देंगे।

४—मुलतान

पाकिस्तान में लाहौर से लगभग २०० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में मुलतान नामक

1. इस ग्रंथ का परिचय हम आगे देंगे।

नगर है। यह वि० सं० ८१२ में आबाद हुआ ।[1] १. प्राचीन काल में इस प्रदेश में मूली जाति के लोग आबाद थे। इसलिये इस का नाम उन्होंने मूलस्थान रखा। २. मूल नाम सूर्य का भी है। इस नगर में अति प्राचीन चमत्कारी सूर्य का मंदिर था। इसके उपासक इस नगर में बहुत रहते थे, इसलिये इसका नाम मूलस्थान प्रसिद्ध हुआ। जैनमंत्री वस्तुपाल व तेजपाल ने विक्रम की १३वीं शताब्दी में इस सूर्यमंदिर का स्वद्रव्य से जीर्णोद्धार भी करवाया था। तब तक इसका नाम मूलस्थान ही था। इस नगर में लिखे गये अथवा लिपिबद्ध किये गये कई ग्रंथों की पुष्पिकाओं प्रशस्तियों में भी इस का नाम मूलस्थान ही लिखा पाया जाता है। बाद में बिगड़कर इसका नाम 'मुलतान' हो गया। जैनग्रंथों की प्रशस्तियों में इसका नाम मूलत्राण भी लिखा मिलता है। इस का अर्थ सूर्यदेव इस के भगतों के सब कष्टों का नाश करने वाला होता है।

यह नगर कई बार उजड़ा और कई बार बसा। नगर के चारों तरफ़ बहुत दूर तक इस के पुराने खण्डहर बिखरे पड़े हैं। विद्वानों का मत है कि यह नगर १२०० वर्षों से पुराना नहीं है।

नगर प्रवेश के लिये छह दरवाजे हैं।—१. हरम दरवाजा, २. बोहड़ दरवाजा, ३. लुहारी दरवाजा, ४. दौलत दरवाजा, ५. दिल्ली दरवाजा, ६. पाक दरवाजा।

मुग़ल सम्राट अकबर ने मुलतान को एक सूबा बनाया था। इस में माऊंटगुमरी से लेकर सक्खर तक का प्रदेश शामिल था। ईस्वी सन् १८३८ (विक्रम संवत् १८९५) में सद् दूजई खानदान के पठान यहाँ के नवाब मुकर्रर हुए। उन में से जाहिदखाँ प्रथम और मुज़फ़्फ़ररंग अंतिम यहां के नवाब थे। मुज़फ़्फ़ररंग ने ईस्वी सन् १८७८ से १८८८ तक राज्य किया। उस समय यह सूबा बहुत तरक्की पर और आबाद था।

पश्चात् शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह ने इस सूबे पर अपना अधिकार कर लिया। इस के बाद गुजराँवाला के दीवान सावनमल को रणजीतसिंह ने इस का हाकिम बना कर वहाँ भेजा। इस से पहले सुखदयालसिंह को भी यहाँ का हाकिम बना कर भेजा था। इन दोनों के सुप्रबंध से सूबे की बड़ी उन्नति हुई। सावनमल का इतना प्रभाव था कि बदमाश, गुण्डे और डाकू उस का नाम सुनकर थर-थर कांपते थे। यदि उसका बेटा भी कोई अपराध करता तो वह उसे भी कड़ा दण्ड देता था। रणजीतसिंह ने डेरागाजिखाँ को भी सूबा मुलतान में शामिल कर लिया था। सावनमल के बाद इस का बेटा मूलराज हाकिम बना। अंग्रेजो ने मुलतान पर कब्जा करके मूलराज को कैद करके कलकत्ता भेज दिया और वहाँ उसकी हत्या कर दी गई।

जैनों की बस्ती तथा मंदिर आदि

पाकिस्तान बनने से पहले यहाँ ओसवाल भावड़ा जैनों के ८० घर थे। उन में से ४० घर जैनश्वेतांबर मूर्तिपूजक थे तथा ४० घर तेरहपंथी दिगम्बरी थे। इस क्षेत्र में श्वेतांबर जैन मुनिराजों का विहार न होने के कारण आज से लगभग ५० वर्ष पहले ४० घर ओसवालों के दिगम्बरी बन गये थे तथा इन्होंने दिगम्बर मंदिर का यहाँ निर्माण भी कर लिया था। यहाँ श्वेतांबर जैन खरतरगच्छ के यति (पूज) की गद्दी भी थी। इसके अंतिम यति श्री सूर्यमल जी थे

1. पट्टावली समुच्चय भाग १ गुजराती पृष्ठ २३४।

जो बाद में कलकत्ता चले गये थे और वहीं उनका देहांत भी हुआ। एकदा दिगम्बर विद्वान टोडर-मल ने यहाँ के किसी दिगम्बरी श्रावक की शंकाओं का भी अपने पत्र द्वारा समाधान किया था। संभवतः यह कोई राजस्थान से व्यापार करने के लिये उस समय यहाँ आया होगा।

१. इस नगर की चूड़ीसराय में एक प्राचीन श्वेतांबर जैनमंदिर था। इसके बीच के मूल गंभारे में श्री पार्श्वनाथजी मूलनायक थे। यह मुलतान का मूल मंदिर था। इसकी बाईं तरफ़ के मूलगंभारे में भैय्या के मंदिर की श्री पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा विराजमान थी और बीच के मूलगंभारे की बाईं तरफ़ के मूलगंभारे में डेरागाज़ीखां नगर के मंदिर की प्रतिमाएं विराजमान थी। इसका जीर्णोद्धार विक्रम संवत् लगभग १९७० में होकर तपागच्छीय मुनि श्री लब्धिविजय (आचार्य श्री विजयलब्धि सूरि) जी ने प्रतिष्ठा कराई थी।

२. नगर के बाहर खरतरगच्छ की दादावाड़ी भी थी।

३. मुलतान में अनेक श्वेतांबर जैन मुनियों तथा यतियों के ग्रंथ रचनाओं तथा पांडुलिपियों की सूचि आगे देंगे।

पाकिस्तान बनने पर यहाँ के सब जैन परिवार भारत चले आये और दिल्ली, जयपुर, ब्यावर आदि अनेक नगरों में जाकर आबाद हो गये हैं।

५—पंजाब का सूबा सरहद्दी

इस सूबा में बन्नू, कोहाट, लतम्बर, कालाबाग़ आदि नगरों का समावेश है।

ये नगर सिन्धु नदी (सिन्धु देश) के पहाड़ी क्षेत्र में हैं। इन में ओसवाल भावड़े मूर्ति पूजक श्वेतांबर जैन परिवार आबाद थे। इन का व्यापार-व्यवसाय यहाँ के मुसलमान पठानों के साथ था। पठानों पर इन की बड़ी धाक थी। ये लोग इस सारे क्षेत्र में भावड़ा शाह के नाम से मशहूर थे। ये सब परिवार खरतरगच्छ के अनुयायी थे। इस क्षेत्र में ढूंढिये साधुओं का आवा-गमन न होने से प्राचीन काल से ही श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी चले आ रहे थे। इन के गोत्र सुराणा, लूणिया, वेद, बागचर, नाहर, लोढ़ा, बाफणा आदि थे। पाकिस्तान बनने के बाद ये सब परिवार भारत में ग़ाज़ियाबाद, कोटकपूरा, जयपुर, हाथरस आदि नगरों में आबाद हो गये हैं।

यह एक ऐसा प्रदेश था जहाँ शताब्दियों से साधु-मुनिराजों का आवागमन बन्द हो गया था। इन परिवारों को जैनधर्म में दृढ़ रखने का पूरा-पूरा श्रेय यतियों(पूजों)को ही है। उन्हीं की कृपा से ये लोग मांसाहारी अनार्य जैसे प्रदेश में रहते हुए भी एकदम चुस्त जैनश्रावक बने रहे। जिनका आचार (चरित्र) व्यवहार तथा विचार जैनागमानुकूल अद्यावधि दृढ बने रहे। खरतर-गच्छ, लौंकागच्छ, तपागच्छ आदि यतियों का यहाँ आवागमन रहा। विक्रम की १९वीं, २०वीं शताब्दी में तो जंडियालागुरु (ज़िला अमृतसर) के लौंकागच्छीय यति श्री त्रिलोकाऋषि, श्री राजऋषि अधिकतर इस क्षेत्र में आकर चतुर्मास करते रहे, जिससे इनके धर्मसंस्कार दृढ़ बने रहे।

लतम्बर, कालाबाग़ (बाबा नगर) तथा बन्नू में भावड़ों के अलग मुहल्ले थे। उन्हीं में उनका निवास तथा उनके उपाश्रय और मंदिर भी थे।

पुराने समय में इन नगरों तथा प्रदेश के विषय में जैनधर्म का इतिहास सर्वथा मौन

है परन्तु वर्तमान में जो परिवार इस प्रदेश से निकल कर भारत आकर आबाद हो गये हैं उनके विषय में यहाँ कुछ प्रकाश डालेंगे।

जैनों का आगमन

इस क्षेत्र में ओसवाल परिवार कहाँ से आकर कब आबाद हुए, इसके लिये लाला विशन-दास जी लोढ़ा तथा लाला हेमराज जी सुराणा जो आपस में मामा-भानजा भी हैं वयोवृद्ध एवं सब प्रकार से सम्पन्न और बड़े परिवारों वाले भी हैं, ये लोग पाकिस्तान बनने पर गाज़ियाबाद (दिल्ली के निकटस्थ ओर उत्तर प्रदेश) में आकर आबाद हो गये हैं। इन का कहना है कि उनके पुरखा खरतरगच्छीय समयसुन्दर और मुगल सम्राट शाहजहाँ (विक्रम की १७वीं शती) के समय में राजस्थान से उठकर जेसलमेर, बहाबलपुर होते हुए गंडलिया नगर में आकर आबाद हुए। इनके रीतिरिवाजों से पता चलता है कि ये लोग नागौर, जेसलमेर आदि से उठकर यहाँ आए होंगे। गंडलियानगरी बन्नू से पूर्व दिशा की ओर तीन मील दूरी पर अवस्थित थी।

एकदा यति जी गंडलिया में व्याख्यान दे रहे थे। इस समय गीदड़ बोला। जिसकी आवाज सुनकर यति जी ने जाना कि यह नगर उजाड़ हो जायेगा। इसलिये यति जी ने यहाँ के परिवारों को कहा कि—आप लोग इस नगर को छोड़कर अन्यत्र जाकर आबाद हो जाइये क्योंकि यह नगर कुछ समय में उजड़ जावेगा। इससे कुछ परिवार कालाबाग और ललम्बर में चले गये और बाकी वहीं रहे।

गंडलिया में बाकी रहे हुए परिवारो में से एकदा एक परिवार के लड़के की बारात लैय्या जा रही थी। रास्ते में नदी उतरने पर जबरदस्त बाढ़ आई। उसमें बारात के सब लोग बह गये और लैय्या नगर भी बह गया। परन्तु यहां का जैनमंदिर जिनके मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान थे बच गया। उसके चारों तरफ पानी ही पानी हो गया और मंदिर वाला स्थान एक टापू के रूप मे परिवर्तित हो गया। रात्री में गंडलिया के मुख्य श्रावक को स्वप्न आया कि लैय्या वाले जैनमंदिर में से पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को निकाल ले जाओ। प्रातःकाल होते ही नाव में वहाँ जाकर जब मूर्तियों को उत्थापन करके श्रावक लोग मंदिर से बाहर आये तब तत्काल वह मंदिर बह गया। यह प्रतिमाएं मुलतान में लेजाकर वहां के मंदिर में स्थापित कर दी गईं। मुलतान के मंदिर का वह विभाग जहाँ ये प्रतिमाएं विराजमान थीं, लैय्या के नाम से प्रसिद्ध था। इस बारात के डूबने की घटना के बाद लैय्या में बाकी के जो परिवार थे वे भी वहाँ से चले आये।

गंडलिया में खरतरगच्छ के दादागुरु तथा क्षेत्रपाल का स्थान शीशम के एक वृक्ष के नीचे था। पाकिस्तान बनने से पहले तक यह स्थान मौजूद था। क्षेत्रपाल बहुत चमत्कारी था। ललम्बर, बन्नू, कालाबाग वाले ओसवाल भाबड़े परिवार अपने बच्चो के जन्म और विवाह के समय वहाँ जाकर क्षेत्रपाल की तैल और सिंदूर से पूजा करते थे। वहाँ जैनों की आबादी न रहने पर भी मुसलमान लोग भी क्षेत्रपाल की आशातना नहीं करते थे। कालाबाग सिंधु नदी के किनारे पर आबाद है। यहाँ नमक का पहाड़ भी है। यह सारा पहाड़ नमक की चट्टानों से भरपूर है। इसके नमक को सैंधव नमक कहते हैं। यानी सिन्धुदेश का नमक। इसे पहाड़ी और लाहौरी

नमक भी कहते हैं। क्योड़ा नगर जो कालाबाग के निकटस्थ है वहाँ अंग्रेजी सरकार ने इस नमक को पहाड़ से काटकर निकालने की कल—मशीनें लगा रखी थीं और वहाँ से देश-विदेशों में इसका निर्यात किया जाता था। सैंधव नमक को आयुर्वेदिक चिकित्सा शास्त्र में बहुत ही उपयोगी तथा स्वास्थ्यप्रद माना है और अनेक रोगों के उपचार के लिये औषध निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है। इस समय यह सारा क्षेत्र पाकिस्तान में है। काला बाग़ से सिन्धु नदी के दूसरे पार जिसे मारीइंडस भी कहते हैं यहाँ पर नागरगाजन (नागार्जुन) नाम का पहाड़ है। उस पहाड़ की टेकरी पर एक गुफ़ा है। वहां प्रतिदिन एक गाय आती थी और उसके स्तनों से अपने आप दूध निकल जाता था; जब गाय वापिस जाती तो उसके स्तनों में दूध नहीं रहता था। गाय का स्वामी बड़ा परेशान था। लाचार वह एक दिन गाय के पीछे होलिया। गुफा में पहुँचते ही गाय के स्तनों में से अपने आप दूध निकलने लगा। देखते ही देखते गाय के स्तनों से दूध समाप्त हो गया। गवाले के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। चारों तरफ ऊँचे-नीचे विस्मित आँखों से देखने लगा, पर वहाँ उसे कोई व्यक्ति नजर न आया। इतने में उसने देखा कि वहाँ कई देवी-देवता मौजूद हैं और गाय का दूध अपने आप निकलता जा रहा है। गवाला गिड़गिड़ा कर बोला कि 'आप लोग दूध लेकर मुझ ग़रीब को हानि क्यों पहुँचा रहे हैं?' तब उन देवों ने बहुत से हीरे-जवाहरातों से गवाले की झोली भर दी। उसने पत्थर समझ कर फेंक दिये। एक हीरा उसकी झोली में रह गया। जिससे वह मालामाल (धनवान) हो गया। पश्चात् यहां धरती से पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा प्रगट हुई। वहाँ पर जैनश्वेतांबर मंदिर का निर्माण हुआ। जब वह देश एकदम म्लेच्छों के अधिकार में आ गया तो उस प्रतिमा को पद्मावती देवी संभाल ले गयी।

लतम्बर और कालाबाग के जिनमंदिरों की प्रतिष्ठाएँ वि० सं० १९६२ में उत्तरार्द्ध लोकागच्छ के यति रामाऋषि के शिष्य यति राजर्षि ने करवाई। इस क्षेत्र में अधिकतर इन्हीं के चतुर्मास होते रहे हैं। इनकी गद्दी जंडियाला गुरु जिला अमृतसर में थी।

मरोटकोट जिला फिरोजपुर पंजाब में है। वहां का खरतरगच्छ का यति पूनमचन्द भी कभी-कभी इधर आ जाया करता था। बाद में वह कलकत्ता चला गया। वहीं उसका देहांत हो गया।

लतम्बर में ख़तरा होने से यहाँ के दो ओसवाल (भावड़ा) परिवार कोहाट जाकर बस गये। कोहाट भी सिन्धु नदी के तट पर आबाद है।

बन्नू में १०-१२ घर ओसवाल भावड़ों के थे। यहाँ पर मुहल्ला भावड़यान में लाला पन्नालाल सुराणा ने तपागच्छीय आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के सहयोग से जिनमन्दिर का निर्माण कराया। जिसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १९७४ में हुई।

बन्नू, कोहाट, लतम्बर, कालाबाग, मुलतान, डेरागाज़ीखां, डेराइसमाईलखां वाले जैनों के अपने बेटी-बेटों के विवाह आदि के रिश्ते इनके अपने क्षेत्र तक ही सीमित थे। इसलिये पंजाब से इनका रिश्ते-नातों का कोई सम्बन्ध नहीं था।

परन्तु संगठन के नाते से श्री आत्मानन्द जैन महासभा जो पंजाब और सिंध के श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनों की एक मात्र संस्था है उसके साथ सम्बन्धित थे। पंजाब में होनेवाले धार्मिक

उत्सवों में भी ये सदा सम्मिलित होते थे। महासभा की कार्यकारिणी के लाला पन्नालाल जी सुराणा बन्नूवाले सदस्य भी थे। सारे पंजाब और सिंध में मात्र उपर्युक्त नगरों में ही खरतर-गच्छीय जैन परिवार थे, बाकी सारे पंजाब में तपागच्छ के अनुयायी थे। पर इनमें गच्छों की झाड़मारी बिल्कुल नहीं थी।

प्रसिद्ध श्रावक १—शाखाजनगर (गंलिया नगरी से पूर्व की ओर एक मील की दूरी पर) में बागचर गोत्रीय ओसवाल भावड़ों का एक श्वेतांबर जैन परिवार आ कर आबाद हो गया। इस परिवार में लाला सोमशाह ज्योतिष और वैद्यक विद्या के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने अपने यहां घर-देरासर (घर-चैत्यालय) भी बनवाया था। जिसमें वह सदा पूजापाठ करते थे।

सतम्बर नगर में सुराणा परिवार के पुराने खानदान में लाला जेठाशाह भावड़ा हो गये हैं। वह रात के समय नगर से दो-तीन मील की दूरी पर जंगल में एक तालाब के किनारे ध्यान लगाया करते थे। एक दिन पूर्णमाशी की मध्यरात्री के समय वहां जंगल में वे क्या देखते हैं कि वहां एक प्रसिद्ध मुसलमान मौलवी मरा पड़ा था। थोड़ी देर बाद वह मौलवी जीवित होकर अपने-आप उठ खड़ा हुआ। जेठाशाह ने उस मौलवी से पूछा कि यह क्या बात है? आप मर कर जीवित कैसे हो गये? मौलवी ने कहा कि मेरा यह भेद किसी को मत बतलाना और वरदान दिया कि लाला जी! आपके घर सदा लक्ष्मी का निवास रहेगा। उसी दिन से जेठाशाह के परिवार में लक्ष्मी का सम्पूर्ण निवास हुआ। जिससे उनके वंशजों में आज भी धन की कमी नहीं है। उस मौलवी के वंशज पाकिस्तान बनने से पहले तक जेठाशाह के वंशजों से अनाज तक ले जाया करते थे। आजकल इनके परिवार में शाह देसराज, शाह हेमराज, शाह धनराज तथा शाह शामलाल व शाह अनिलकुमार सुराणा गाजियाबाद में निवास करते हैं।

३—कालाबाग (बाग़ा नगरे सिंधुतटे) यहाँ पर बाफणा गोत्रीय ओसवाल भावड़े लाला जवायाशाह जैनागमों के अच्छे विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने अनेक जैन शास्त्र स्वयं लिपिबद्ध किये हैं और तत्कालीन यतियों (पूजों) से भी कराये थे। यह विक्रम की १९वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

६—गुजरांवाला

गुजरांवाला शहर लाहौर से ४२ मील (लगभग ६६ किलोमीटर) उत्तर दिशा की तरफ पेशावर जाने वाली रेलवे मेन लाईन पर अवस्थित है। यह नगर जरनैली सड़क (जी०टी० रोड) की दाईं बाईं दोनों तरफ आबाद है। पाकिस्तान बनने(ई०स० १९४७)से पहले यहाँ की आबादी (जन संख्या) लगभग एक लाख की थी। जब इस नगर को बसाया गया था तब यहां कुजर जाति निवास करती थी। इस लिए इसका नाम कुजरांवाला पड़ा। बाद में बिगड़ कर गुजरांवाला हो गया।

इस नगर की धरती के मालिक भी कुजर जाति के जाट थे। शेरे पंजाब महाराजा रणजीत सिंह के दादा सरदार चरतसिंह (चड़तसिंह) ने इस धरती पर ई० स० १७५० (वि० सं० १८०७) को अपनी सेना की छावनी के रूप में स्थापन किया था और अपना निवास स्थान भी यहीं बनाया था। ईस्वी सन् १७७० (वि० सं० १८२७) में इसके पुत्र सरदार महासिंह ने इस नगर को बसाया

था। वह अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकारी बना। राजा महासिंह के पुत्र रणजीतसिंह का जन्म ई० स० १७८० (वि० सं० १८३७)में इसी नगर में हुआ था। महासिंह की मृत्यु के बाद रणजीतसिंह राजगद्दी पर बैठा। इसने गुजरांवाला नगर की सुरक्षा के लिए नगर को घेरते हुए चहारदिवारी किलानुमा बनाई और नगर में आने-जाने के लिए इस दीवार में आठ दरवाजे रखे। राजा रणजीतसिंह बहुत बहादुर और निडर था। इसका विचक्षण और महान वीर सेनापति डोगरा जाति का सरदार हरिसिंह नलवा था। रणजीतसिंह ने इसके सहयोग से सारे पंजाब में पेशावर तक अपनी राज्यसत्ता जमा ली। लाहौर को राजधानी बनाकर बड़े राज्य का स्वामी बना। लाहौर में दरबार लगा कर इसने शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह का पद पाया। सरदार हरिसिंह नलवा की वीरता की इतनी धाक थी कि शत्रु इससे घबरा कर भाग निकलते थे। काबुल के पठान इसका नाम सुनते ही थर-थर कांपते थे। सरदार हरिसिंह नलवा ने अपने रहने के लिए सातमंजिला महल बनाया था जो गुजरांवाला में सातमंजिला हवेली के नाम से प्रसिद्ध था। इस बहादुर जरनैल की, एवं चड़तसिंह और महासिंह की मृत्यु गुजरांवाला में हुई थी। इनकी चिता-स्थानों पर समाधी नाम से स्मारकों का निर्माण किया गया। रणजीतसिंह की मृत्यु होने पर इसकी समाधि लाहौर में बनाई गई। रणजीतसिंह अपनी जन्मभूमि गुजरांवाला को बड़े आदर के साथ गोकुल कह कर सम्बोधन किया करता था। इसकी मृत्यु के बाद इसके पुत्र दलीपसिंह को अंग्रेजी सरकार कैद करके इंगलैंड ले गई और रणजीतसिंह के सारे राज्य पर अंग्रेजों ने अधिकार जमा लिया। दलीपसिंह की मृत्यु इंगलैंड में ही हुई। उसे भारत वापिस नहीं आने दिया।

जैनों का आगमन

राजा सरदार महासिंह ने गुजरांवाला बसाने पर इसे अनाज की बड़ी मंडी बनाया। यहां अन्य नगरों से आकर सब जातियों के लोग बसने लगे। पंजाब के भिन्न-भिन्न नगरों से ओसवाल (भावड़ा) जैन परिवार भी यहां आकर स्थाई रूप से बस गए। इनके गोत्र दूगड़, बरड़, लोढ़ा, जख, मुन्हानी, लीगा तिरपेखिया, पारख, गद्दहिया आदि थे। व्यवसाय कपड़ा, अनाज, सराफा, मनियारी (बसाती), धातु के बरतन, लोहा, घी-तेल, अत्तार, किराणा, बान सूतली, लकड़ी का सामान, चिकित्सा आदि अनेक प्रकार के थे। ये लोग प्रायः ऐसे व्यापार करते थे जिनसे हिंसा आदि दोषों से बचा जावे।

गुजरांवाला में आबाद हो जाने पर गुजरात नगर (पंजाब) से जो गुजरांवाला से लगभग ५४ मील उत्तर की तरफ था उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यति (पूज) श्री दुनीचन्द जी अपने शिष्य यति बंसतारिख तथा प्रशिष्य परमारिख को साथ में लेकर गुजरांवाला में आबाद हो गये। ये वहां अपने साथ प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की पाषाण प्रतिमा तथा जिनकुशल सूरि के चरणपट्ट भी लाये थे, इन लोगों ने यहां पर अपनी गद्दी स्थापित की और अपने साथ लाये हुए चरणपट्ट (चरणपादुका) तथा प्रतिमा को एक दुकान मोल लेकर उसके ऊपर चौबारे में विराजमान करके घर चैत्यालय की स्थापना की। यति जी महाराज बालब्रह्मचारी, पवित्र चरित्रवान तथा उच्च-कोटी के जैन सिद्धान्तों के विद्वान थे। ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र तथा मंत्र-तंत्र के पारगामी और चमत्कारी थे। जैनागम दर्शन शास्त्र के प्रकांड विद्वान संत थे। महाराजा रणजीतसिंह इन पर बड़ी श्रद्धा रखता था। हर संकट के समय वह उन का आशीर्वाद लेने आता था। आपके आशी-

बांद से ही वह इतने बड़े राज्य का अधिकारी बना था। इसने आपको कई बीघा उपजाऊ ज़मीन भी भेंट की थी। इन तीनों गुरु-शिष्यों के स्वर्गवास के बाद इनका कोई शिष्य न होने से यह यतियों की गद्दी समाप्त हो गई। जैन श्रीसंघ गुजरांवाला ने देवी के तालाब के किनारे यति बसंतारिख तथा इनके शिष्य यति परमारिख की चितास्थानों पर उनके स्मारक रूप स्तूपों का निमार्ण कर उनके चरणबिंब स्थापित किये। 'जो पूजों की समाधियाँ' के नाम से प्रख्यात थे।

विक्रम की १८ वीं शताब्दी से पंजाब में श्वेताम्बर संवेगी साधु-साध्वियों का आगमन न होने से और ढूंढिया (जो अपने मुंह पर सदा मुंहपत्ति बांधे रहते हैं और जिनमूर्तियों-मन्दिरों को नहीं मानते) मत के साधु-साध्वियों का सतत आवागमन और निवास होने से सारे पंजाब में इस मत का प्रचार और प्रसार हो जाने से प्राय: सब श्वेतांबर जैन इस मत के अनुयायी बन चुके थे। जो इनके पुरखाओं द्वारा पजाब में जैनमन्दिर बनाये गए थे, उन्हें म्लेच्छों ने तोड़-फोड़कर ढेर कर दिए थे। जो बचे खुचे रह पाये थे उनकी यति (पूज) लोग सारसंभाल तथा पूजा करते थे। अतः गुजरांवाला आबाद होने पर जोओसवाल आकर बस गये थे वे सब ढूंढिया (स्थानकवासी) मत के अनुयायी थे।[1]

वि० सं० १८८८ में मुनि श्री बूटेराय जी ने पंजाब में ढूंढक मत के साधु की दीक्षा ली। इस मत के ग्रंथों का अभ्यास करने के बाद उन्हें लगा कि जैनागमों के साथ इस मत का मेल नहीं खाता। पश्चात् वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में जाकर जैनागमानुकूल तपागच्छीय श्वेताम्बर जैनधर्म की (संवेगी) दीक्षा मुनि श्री मणिविजय जी से लेकर शुद्ध सनातन जैनधर्म को स्वीकार किया तब आपका नाम बुद्धिविजय जी हुआ। पश्चात् पंजाब में सर्वत्र घूमकर आगमानुकूल इस प्राचीनतम जैनधर्म का पुनरुद्धार किया। सामान्यतः सारे पंजाब में और विशेषकर जिला गुजरांवाला, पिंडदादनखाँ और जम्मु आदि के श्रावकों को प्रतिबोध देकर उन्हें अपने पुरखाओं द्वारा भुलाए गये श्वेताम्बर जैन मूर्ति पूजक धर्म को पुनः स्वीकार कराया। तथा अपने गुजरांवाला, पपनाखा, किलादीदारसिंह, किला सोभासिंह, रामनगर, पिंडदादनखाँ, जम्मु आदि नगरों में जैनमन्दिरों का श्रावकों द्वारा निर्माण कराकर उनकी प्रतिष्ठाएं भी करायीं। आपके बाद आप के शिष्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी ने भी इस मत को छोड़कर अपने शिष्य प्रशिष्यों के साथ श्वेताम्बर धर्म का सारे पंजाब में पुनः प्रचार और प्रसार किया।[2] श्वेताम्बर जैनों का गुजरांवाला में बड़ा प्रभाव था। सब जैन परिवार सुखी और समृद्ध थे।

ई० सं० १९४७ (वि० सं० २००४) को पाकिस्तान बनने के समय यहाँ पर ओसवाल भावड़ा जैनों के लगभग ३०० परिवार आबाद थे, जिनमें सवा दो सौ श्वेताम्बर जैनी थे तथा बाकी के ढूंढियामत के अनुयायी थे। ये सब परिवार पाकिस्तान बनने पर वहाँ से भारत में आ कर भिन्न-भिन्न नगरों में आबाद हो गये है। सब अमुसलिम (हिन्दू-सिख आदि) परिवार भी पाकिस्तान छोड़ आये थें।

वि० स० २००४ के चौमासे में जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी अपने शिष्य-प्रशिष्य परिवार सहित तथा प्रवर्तनी साध्वी श्री देवश्री जी अपनी शिष्याओं प्रशिष्याओं सहित गुजरांवाला में ही बिराजमान थे। पर्यूषण पर्व की आराधना करके सब साधु-सध्वियाँ तथा गृहस्थ

1. इनका विशेष परिचय जीवन चरित्र के रूप में आगे देंगे।

परिवार भी सही सलामत भारत पहुंचे थे।[3]

महापुरुषों का जन्मादि स्थान

(१) गुजरांवाला में न्यायाम्भोनिधि, नवयुगनिर्माता जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि, उपाध्याय सोहनविजय आदि मुनियों का स्वर्गवास होने से उनका यहाँ समाधि मंदिर था।

(२) यति वसंतारिख यही पर बहुत चमत्कारी जैनसंत हो गये हैं (इसका उल्लेख ऊपर किया है)।

(३) वेदांतधर्म के प्रखर विद्वान स्वामी रामतीर्थ का जन्म गोस्वामी (गोसाईं) ब्राह्मण कुल में इसी जिले के मुराली वाला गाँव में हुआ था। जो गुजरांवाला नगर से पश्चिम दिशा में सात-आठ मील की दूरी पर था। इन्होंने हाईस्कूल की शिक्षा गुजरांवाला में तथा एम०ए० तक की शिक्षा लाहौर में पाई थी। पश्चात् २४ वर्ष की आयु में सन्यास लिया था। अमरीका, इंगलैंड, जर्मनी, जापान आदि पाश्चात्य देशों में घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और ३० वर्ष की आयु में दीवाली की रात को देहोत्सर्ग किया था। इन्होंने अपने त्याग-तप साधना, चरित्र तथा विद्वता से सारे विश्व को मंत्रमुग्ध कर दिया था।

आप जैना चार्य विजयानन्द सूरि के समयाकालीन थे और श्री वीरचन्द राघवजी गांधी (जैनधर्म के प्रतिनिधि) के साथ अमरीका में सर्वधर्म परिषद् में सम्मिलित हुए थे।

(४) वि० स० १८६७ में गुजरांवाला में ही सत्यवीर, सद्धर्म संरक्षक मुनि श्री बुद्धि विजय जी ने पंजाब में लुप्त प्रायः श्वेताम्बर जैनधर्म की पुनः स्थापना की शुरूआत की थी।

(५) आपके महान् शिष्य मुक्तिविजय जी की दीक्षा गुजरांवाला में तथा जैनागमों की शिक्षा प्रकांड विद्वान लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री के द्वारा हुई थी।

(६) आपके द्वितीय शिष्य मुनि श्री वृद्धिविजय (वृद्धिचन्द) जी का जन्म भी रामनगर जिला गुजरांवाला में हुआ था।

(७) मुनि श्री बुद्धिविजय जी ने सर्वप्रथम लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री से शास्त्र चर्चा करके सत्यमार्ग का निश्चय किया था और यहीं गुजरांवाला में सर्वप्रथम सत्यधर्म की प्ररूपणा की थी।

(८) आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य परम गुरु भक्त आचार्य विजयललित सूरि, मुनि शिवविजय जी तथा प्रशिष्य आचार्य विजयोमंग सूरि भी इसी धरती के लाडले नौनिहाल थे।

(९) लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री गुजरांवाला में तथा लाला माणकचन्द जी गद्दिया हकीम रामनगर जिला गुजरावाला में मुनि श्री बुद्धिविजय जी के समकालीन तथा जैनदर्शन-आगम के प्रकांड विद्वान थे। इन्ही के साथ शास्त्र चर्चा करके मुनि श्री बुद्धिविजय जी ने सत्यधर्म के स्थापन करने में सफलता पाई थी। परिणाम स्वरूप जिला गुजरांवाला के दो-चार परिवारों को छोड़कर सब गुरुदेव के अनुयायी बन गए थे।

2-3 देखें इस ग्रंथ के लेखक द्वारा लिखित सद्धर्म संरक्षक नामक पुस्तक।

(१०) पंजाबी (गुरुमुखी) लिपि के आविष्कर्ता, सिक्खमत के आदि—गुरु नानकदेव जी का जन्मस्थान गांव तलवंडी जिला गुजरांवाला में हुआ था। आपका जन्म आज से लगभग ५०० वर्ष पहले हुआ था। आप के दो साहबज़ादे (सुपुत्र) थे। १-संत हरिचन्द जी तथा २-संत रामचंद जी थे। जिन्होंने क्रमशः निर्मला और उदासी पंथों की स्थापना की थी।

(११) गुरु नानकदेव के समय के दूसरे महापुरुष सिद्ध बाबा साईं दासजी थे। वे इनके सुपुत्र बाबा रामानन्दजी की समाधियाँ इनकी और गांव बद्दोकी गुसाइयां जिला गुजरांवाला में हैं। इन्हें टोमड़ी साहब कहते हैं। इन महापुरुषों ने हिन्दी में दरबारसाहिब (ग्रंथसाहिब), जपजी साहिब और सुखमणी साहिब की रचना की थी। ये गुरुनानकदेव आदि सिक्खों के गुरुओं के ग्रंथों से भिन्न हैं।

(१२) सिद्ध बाबा सरस्वतीनाथ जी—जिनके आशीर्वाद से महाराजा रणजीतसिंह का जन्म हुआ था। उनकी तपोभूमि भी गुजरांवाला में तालाब देवीवाला के तटवर्ती थी।

(१३) महाराजा रणजीतसिंह के समय में हो गये—"लक्खों का दाता" नामक मुसलमान फ़कीर की दरगाह (कब्र) गुजरांवाला में छत्ती गली में थी।

(१४) बाबा निरभेराम पुरी—ये महापुरुष बहुत चमत्कारी हुए हैं। देह छोड़ने के बाद भी इन्होंने अपनी देहरी पर अंग्रेज़ इन्जीनियर को रेलवे लाईन नहीं बिछाने दी। इनका स्थान सिद्धोंवाली देवी के मंदिर गुजरांवाला में था।

(१५) कालीकमलीवाला बाबा—ऋषिकेश में स्वर्गाश्रम की स्थापना तथा निर्माण करनेवाले सबसे पहले महापुरुष महात्मा रामानन्द जी जो कालीकमलीवाले बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। ये रामनगर जिला गुजरांवाला के रहने वाले थे।

(१६) स्वामी रामतीर्थ (जिनका परिचय हमने यहा नं० ३ में दिया है) के महान शिष्य ब्रह्मलीन स्वामी गोविन्दानंद जी वेदांत के महापंडित थे। पंजाबी भाषा के महाकवि तथा सन्यासी थे। इनका जन्म गुजरांवाला के अतिनिकट रामपुरा गांव में हुआ था।

संत महापुरुषों की तपो भूमि

१-गुजरांवाला शहर के दक्षिण की ओर सात-आठ मील की दूरी पर इमनाबाद नामक गांव में 'भाई लालू' जिनकी शुद्ध-पवित्र कमाई से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में से गुरु नानकदेव जी ने दूध की धारा निकालकर, उस समय के एक बहुत बड़े पूंजीपति 'मलिक भागू' का घमंड उस॰ के पाप की कमाई से बने हुए चिकने-चुपड़े भोजन से लहू की धारा निकालकर चकनाचूर किया था। उनका जन्म इमनाबाद गांव में ही हुआ था।

२. गुरुद्वारा दमदमा साहब के संस्थापक 'भाई साहबसिंहजी'- जिन्होंने पांच वर्षकी आयु में बालक रणजीतसिंह के गले में सब सरदारों की सभा में फूलों की माला पहनाई थी और महाराजा होने का आशीर्वाद दिया था। इसका जन्म भी इमनाबाद जिला गुजरांवाला में हुआ था।

३. गुजरांवाला के महाराजा रणजीतसिंह के राजकीय गुरुद्वारा के ग्रंथी साहब (धर्मोपदेशक) भाई फेरूसिंह जिन्होंने बचपन में महाराजा रणजीतसिंह को धर्मशिक्षा दी थी तथा गुरुग्रंथ साहब आदि सिक्खमत के ग्रंथ पढ़ाकर उत्तम संस्कार दिये थे। वे भी यहीं के ही थे।

कवि तथा ग्रंथ रचयिता

१. इस युग के पंजाबी भाषा के महाकवि कालीदास, २. रागविद्या के विद्वान भाई निधानसिंह, ३ जैनशास्त्रों के प्रकांड विद्वान लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री, ४. जैनकवि लाला खुशीराम जी दूगड़, (५) लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री के सुपुत्र जैन कवि ईश्वरदास जी, ६. लाला दीनानाथ जी चौधरी दूगड़ (इस ग्रंथ लेखक के पिता) ज्योतिषविद्या के प्रकांड विद्वान थे जिनकी विद्वता का लोहा पंजाब में सब मानते थे। ७. श्री हीरालाल दूगड़ जैनदर्शन-आगम, इतिहासादि के मर्मज्ञ विद्वान, वक्ता तथा लेखक (वर्त्तमान में दिल्ली निवासी) जिन्होंने आज तक जैनधर्म सम्बन्धी लगभग ४० ग्रंथों की रचना की है। ये सब गुजरांवाला नगर निवासी हैं।

देश सेवक

१. भारत के नर-रत्न- पंजाब के सुपूत शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह, २. इसके सेनापति सरदार हरिसिंह नलवा, ३. महाराजा रणजीतसिंह का मुलतान-विजयी दीवान, ४. महाराजा रणजीतसिंह का दीवान सावनमल जो रणजीतसिंह की तरफ़ से मुलतान का सूबेदार था। ५. सावनमल से पहले रणजीतसिंह की तरफ़ से मुलतान का सूबेदार सुखदयालसिंह; ये सब गुजरांवाला के ही सपूत थे। जिन्होंने भारतमाता के गौरव को बढ़ाया था।

स्वतंत्रता संग्राम के समय ई० स० १९१९ में अंग्रेज़ी सरकार ने अमृतसर जलयांवाला के बाग़ में मार्शललॉ लगाकर गुजरांवाला पर वायुयानों से बम वर्षा की। यहाँ के प्रजाजनों को टिकटिकीं लगाकर बैतों से पीटा गया। अनेकों को गोली से उड़ा दिया गया। अनेकों को फाँसी और देशनिकाल तक तथा आजीवन कैद दंड दिये गये थे।

१. पाकिस्तान सिंध के प्रथम गवर्नर बाबू दीनमुहम्मदखाँ, २. सरदार लाभसिंह बार-एट-लॉ, ३. डाक्टर गोकलचन्द नारंग, ४. श्री भीमसेन सच्चर, ५. इनके सुपुत्र श्री विजयकुमार सच्चर, ६. लाला गुलज़ारीलाल नन्दा, ७. श्री बाँकेदयाल सम्पादक दैनिक झंग ऊर्दू, ९. सरदार अवतारसिंह १०. मल्लिक लालखां, ११. कांग्रेस प्रधान श्री निरंजनलाल बग्गा, १२. लाला तिलकचंद जैन ओसवाल, जनरल सेक्रेटरी जिला कांग्रेस कमेटी, श्री रोशनलाल व्यास, १५. श्री देवीदयाल रगड़, १५. श्री किशनलाल मक्कड़, १६. श्री बिहारीलाल तुली, १७. श्री रामदास, १८. श्री रामलाल, १९. श्री भगवानदास, ४०. सरदार जवाहरसिंह, ४१. श्री बलराज मधोक, २२. मार्शललॉ के समय अंग्रेज़ों के गुजरांवाला नगर पर बम बरसाने से होने वाला शहीद सरदारीलाल आदि अनेक देश सेवकों की जन्मभूमि होने का गौरव इसी नगर को है।

पत्रकारों की जन्मभूमि

१. स्वामी रामतीर्थ-पैसा' नामक ऊर्दू पत्र के संपादक, २. उत्तरभारत के प्रसिद्ध ऊर्दू दैनिक 'प्रताप' समाचार पत्र के संस्थापक और भूतपूर्व संपादक तथा पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान महाशय कृष्णजी का जन्म स्थान वज़ीराबाद ज़िला गुजरांवाला है। ३. दिल्ली से निकलने वाले ऊर्दू मासिक "रसाला ओम्" के प्रोप्राइटर श्री गोरखनाथजी नन्दा तथा ४. इन के चाचा दीवान देसराज जी नन्दा ५. मियाँ महताबदीन बट, ६. मुनशी शिवनाथराय, ७.

तसकी हाफिजाबादी संपादक साधु, ८. बांकेदयाल संपादक उर्दू झंग इत्यादि अनेक पत्रकारों को जन्म देने का गौरव इसी नगर गुजरांवला को ही है।

सरकारी उच्चाधिकारी

१. जम्मू व काश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह के महामंत्री (Chief Dewan) लाला ज्वाला सहाय जी नन्दा थे २. उनके सुपुत्र दीवान कृपाराम नन्दा ने बद्दोकी गोसाइयाँ जिला गुजरांवाला में टोमड़ीसाहब (पवित्र धर्मस्थान) की नींव भी रखी थी और निर्माण भी कराया था। इस पिता पुत्र का जन्म इमनाबाद गांव जिला गुजरांवाला में हुआ था। ३. जम्मू काश्मीर के महाराजा सर प्रतापसिंह के तोशकखाना के इंचार्ज लाला हरभगवानदासजी बीसा ओसवाल (भावड़ा) दूगड गोत्रीय जैन गुजरांवाला नगर के ही थे। ४. इनके पुत्र लाला अनन्तरामजी एडवोकेट, जो श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब के मंत्री, पश्चात् इसी गुरुकुल की अधिष्ठाता (Governor) भी रहे, गुजरांवला निवासी थे।

मल्लों (पहलवानों) का केन्द्र

प्रायः देखा जाता है कि जिस धरती पर विचक्षण बुद्धि के धनी होते हैं वहाँ के सर्व साधारण लोग प्रायः कमजोर होते हैं। पर यह बात गुजरांवाला पर लागू नहीं होती है। विलक्षण विद्वानों, विचक्षण व्यापारियों के जन्म लेने वालों के साथ-साथ बड़े-बड़े पहलवानों का भी यहाँ जन्म हुआ है। १. महाराजा रणजीतसिंह का शाही पहलवान 'पंजाबसिंह झंभ' जो दो भैंसों को लड़ते हुए उनको सींगों से पकड़ कर अलग कर देता था। २. रहीम पहलवान भारत केसरी (रुस्तमे हिन्द) आदि अनेक महामल्लों (पहलवानों) को इस नगर की धरती ने जन्म दिया है।

व्यापार व्यवसाय का केन्द्र

१. चावल, गेहूं, चना आदि अनेक प्रकार के अनाजों के व्यापार का यह नगर बहुत बड़ा केन्द्र था। २. लोहे की तिजोरियों (अलमारियों) फर्निचर निर्माण के बड़े बड़े कारखाने थे। ३. पीतल, तांबा, कांसी, एल्युमोनियम आदि धातुओं को निर्माण करने के बड़े-बड़े कलकारखाने थे। ठठियारों (बरतन निर्माता कारीगरों) द्वारा हाथ की कारीगरी से बरतन निर्माण होकर देश विदेश में भेजे जाते थे। ४ वाटरपम्प फ़िटिंग तथा सेनीटरी के सामान बनाने के भी यहाँ बड़े-बड़े कारखाने थे। कपड़े की बहुत बड़ी मंडी थी। किराना, बसाती इत्यादि सब प्रकार के व्यवसायों का यहाँ व्यापार होता था।

समृद्ध और सदाचारी जीवन

यहाँ के निवासी सामाजिक, धार्मिक, तथा व्यावसायिक दृष्टि से सम्पन्न, सदाचारी और मिलनसार थे। इनका अतिथि सत्कार आदर्श था।

जैनमंदिर तथा संस्थाएं

गुजरांवाला में जैनों के मंदिरों तथा संस्थाओं का परिचय आगे देंगे।

७. सिरहंद

यहां एक चक्रेश्वरीदेवी का जैनमंदिर है। चक्रेश्वरीदेवी जैनों के प्रथम तीर्थंकर अर्हत् ऋषभदेव तथा नवपदात्मक सिद्धचक्र की शासनदेवी है और शत्रुंजय-सिद्धक्षेत्र—जैनतीर्थ की

अधिष्ठात्री भी है। सिरहंद के इस मंदिर में भी चक्रेश्वरीदेवी की प्रतिमा विराजमान है। इस देवी को खंडेलवाल जैनजाति के ८४ गोत्रों में से जो चौहान राजपूतों से जैनी बनाये गये हैं बेसब, १५ गोत्र अपनी इसे अपनी कुलदेवी मानते हैं। उन गोत्रों के नाम ये हैं—१. साह, २. पापड़ीवाल, ३. सेठी, ४. बरडोला, ५. गदइया, ६. पाहाड़या, ७. पाधड़ा, ८. पांपुलिया, ९, भूलाण्या, १०. पीपलया, ११. बनमाली, १२. अरडक, १३. चिरडक्या, १४. सांभर्या तथा १५. चौनाया।[1]

कहते हैं कि महाराजा—पृथ्वीराज चौहान के समय में जयपुर से खंडेलवाल जैनों का एक काफ़िला पंजाब में आया। उसकी कुलदेवी चक्रेश्वरी माता थी। इसलिये वह उसकी एक प्रतिमा को साथ में लाया। जब वह काफ़िला सिरहंद पहुंचा तो देवी की प्रतिमावाली बैलगाड़ी कीचड़ में फंस गई। बहुत उपाय करने पर भी कीचड़ में से बैलगाड़ी न निकल पाई। तब काफ़िले के लोगों ने इस स्थान पर मंदिर बनवाकर इस चक्रेश्वरीदेवी की प्रतिमा को उसमें विराजमान करदिया।

मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब के समय सिरहंद का सूबेदार बाजदख़ाँ बहुत अत्याचारी और कट्टर मुसलमान था। उस ने इसी सिरहंद में सिक्खों के दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंह जी के दो पुत्रों को जीवित ही दीवाल मे चिनवा दिया था। ईस्वी सन् १७५७ (वि० सं० १८१४) में पटियाला के महाराजा को श्री गोविन्दसिंह जी ने स्वप्न दिया कि जहाँ श्री गोविन्दसिंह जी के दोनों पुत्रों का दाह संस्कार किया गया है, वहाँ गुरुद्वारा बनाया जाये। उस समय यहां इस चक्रेश्वरीदेवी का मंदिर मौजूद था। इस मंदिर से दाह संस्कार वाले स्थान के फ़ासले (अन्तर) का हिसाब लगाकर उस स्थान का पता लगा लिया गया और वहीं उन दोनों पुत्रों की यादगार में ज्योतिस्वरूप गुरुद्वारे का निर्माण किया गया। जिस किले की दीवार में उन्हें चिनवाया गया था वहां फतेहगढ़ साहब के नाम से गुरुद्वारे का निर्माण हुआ।

यहाँ के इस चक्रेश्वरीदेवी के मंदिर के जीर्णोद्धार तथा विस्तार की योजना पंजाब के मूर्तिपूजक श्वेतांबर जैनसंघ की तरफ से चालू है। यहाँ जैनों की बस्ती बिलकुल नहीं है।

सारे पंजाब में जो खंडेलवाल लोग आबाद हैं, वे सब जैन श्वेतांबर धर्मानुयायी हैं और आज इनके सब गोत्रों वाले चक्रेश्वरीदेवी को कुलदेवी के रूप में मानते हैं। बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस की उपासना और आराधना करते हैं। यति श्रीपाल ने अपनी जैन सम्प्रदाय शिक्षा नामक पुस्तक में खंडेलवालों के ८४ गोत्रों में से १५ गोत्रवालों की कुलदेवी चक्रेश्वरी होने का उल्लेख किया है, उनमें से एक सेठी गोत्र भी है। अतः ऐसा मानना अनुचित न होगा कि इस चक्रेश्वरी देवीकी प्रतिमा को सिरहंद में लानेवाला कोई सेठी परिवार होगा और इस मूर्ति के यहां पर स्थिर हो जाने पर यहीं इसके मंदिर का निर्माण कराकर इसे स्थापित कर दिया होगा। यह मंदिर कब बना, किस ने इस का निर्माण कराया, यह खोज का विषय है। इस समय पंजाब में खंडेलवालों के भौसा, सेठी, गंगवाल, भंगड़िया, छाबड़ा, गोधा आदि गोत्रों के परिवार विद्यमान हैं। वे सब यहाँ यात्रा करने के लिये तथा मानताएं उतारने के लिये सदा आते हैं।

---

1. देखें—यति श्रीपालकृत जैनसंप्रदाय शिक्षा नामक पुस्तक।

अब इस चक्रेश्वरीदेवी के मंदिर को सारे जैन श्वेतांबर संघ का घोषित कर दिया गया है और इसकी व्यवस्था आदि के लिये सकल श्वेतांबर जैन श्रीसंघ पंजाब में से एक कार्यकारिणी कमेटी का गठन कर दिया गया है। इस में सब जातियों के श्वेतांबरजैन शामिल हैं। चक्रेश्वरी माता.की यह प्रतिमा बड़ी चमत्कारी है। खंडेलवाल लोग अपने बच्चों की झंडें (पहली बार के मुंडन) यहीं उतरवाने के लिये लाते हैं।

८. सिरसा

१. आज से दो-तीन सौ साल पहले सिरसा जैनश्वेतांबर यतियों का केन्द्र था। इस जगह खरतरगच्छ, बड़गच्छ, लोकागच्छ के यतियों की गद्दियां थीं। कहा जाता है कि खरतरगच्छ के प्रसिद्ध यति सिद्धराजजी थे। उनके बाद यति ठाकुरसिंह जी, उनके बाद यति राजसिंह जी, यति रघूनाथजी, यति दयाचंदजी और यति किशोरचंदजी क्रमशः पट्टधर हुए। किशोरचन्द जी ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान थे। इनके बाद इस गद्दी के शिष्यों ने अपने पूर्वज यतियों (पूजों) के साहित्य और सम्पत्ति को नष्ट और बरबाद कर दिया और विवाह शादियां करके भ्रष्ट होकर गृहस्थी बन गये। ज्ञात हुआ है कि यहां का जैनशास्त्र भंडार राजस्थान में चुरु और बीकानेर में जा चुका है। इन की दादावाड़ी अब तक मौजूद है। इस दादावाड़ी के साथ एक बाग तथा बहुत बड़ी उपजाऊ भूमि है। कागज़ात माल में इसका स्वामित्व मंदिर श्री जिनदत्त सूरि के नाम से है। परन्तु खेद का विषय है कि यति किशोरचंद का शिष्य विवाह करके यतिधर्म से भ्रष्ट होकर गृहस्थी हो गया था। आजकल यह दादावाड़ी का मंदिर, बाग और सारी भूमि उसी की वंशज संतान के अधिकार में है।

२. सिरसा में उत्तराध लोकागच्छ के यतियों का इतिहास उज्ज्वल है। इस गच्छ के यति भेरुदानजी दीर्घदृष्टि थे। उन के शिष्य यति ज्ञानचन्दजी बहुत चमत्कारी थे। भेरुदानजी ने अपनी अचल सम्पत्ति का धर्मार्थ ट्रस्ट बना दिया था और ईस्वी सन् १९५२ अक्तूबर १० को इस ट्रस्ट को रजिस्टर्ड करवा दिया था। इस ट्रस्टीनामा में यति भेरुदान जी ने अपनी गोसियांवाली न.मक गांव की छह सौ बीघा भूमि, अपना उपाश्रय और धर्मशाला वक्फ कर दिये थे। वे स्वयं भी इस ट्रस्ट के ट्रस्टी बने और अतिरिक्त पांच अन्य ट्रस्टी भी नियुक्त किये। ट्रस्टीनामा में लिखा है कि ट्रस्टियों का कर्तव्य है—इस वक्फ सम्पत्ति की आय से सिरसा के श्रीशांतिनाथ जी के मेरे जैन मंदिर का खर्चा चलाया जावे। तत्पश्चात् यति भेरुदान जी का देहांत हो गया।

यद्यपि ट्रस्ट रजिस्टर्ड है और ट्रस्टी भी विद्यमान हैं परन्तु खेद का विषय है कि कर्तव्य का पालन नहीं हो रहा। इस यति परम्परा का अन्त हो चुका है। इस गद्दी के यति मनसाऋषि (मनसाचन्द्र) जी का भी स्वर्गवास हो चुका है। श्री मनसाचन्द्रजी ने अपनी युवावस्था में ही इस गद्दी का संबन्ध छोड़ दिया था। आप ने अपने जीवन का अधिकभाग त्यागमय तथा प्रौढ़ चरित्र का पालन करते हुए पंजाब के अनेक नगरों में विचरण करके जैनधर्म की प्रभावना की थी। इस समय यति भेरुदानजी के ट्रस्टी श्वे० तेरापंथी संप्रदाय के हैं। यति जी के उपाश्रय को इन लोगों ने अपनी धर्मशाला के रूप में बदल लिया है, ऐसा सुना जाता है। तथा इस ट्रस्ट की सम्पति की सारी आय को श्री शांतिनाथ जी के मंदिर की सार-संभाल में खर्च नहीं कर रहे।

२ यहां पर बड़गच्छ के यतियों का भी बहुत आना-जाना रहा। इस गच्छ के श्रीपूज्य भावदेव सूरि के शिष्य मालदेव ने हिन्दी तथा राजस्थानी भाषा में अनेक जैनग्रंथों की रचना की

जिनकी प्रतियां अनेक ग्रंथ भंडारों में मिलती हैं। इस समय सिरसा में कोई शास्त्रभंडार नहीं है। कवि मान के रचित ग्रंथों का विवरण आगे देंगे। जिज्ञासु पाठक वहाँ से जान लें।

९. पंजाब के कतिपय नगर जहां जैनी आबाद रहे हैं

अमृतसर, अकबर रसूल शहर, अंबाला छावनी, अंबाला शहर, अंबाहटा, अबदुल्ला खां की बस्ती, अहियापुर, इन्द्रापुर, उग्रसनगर, उरमड़, ऊना, कलानौर, किलादीदारसिंह, किलासोभासिंह, कुंजाह, कसूर, कोहाट, करतारपुर, कासस, करनाल, कपूरथला कैथल, कालाबाग (बागा), कांगड़ा, कीरग्राम (पपरोला), कोटईसाखां, कोटिलग्राम, कुरुक्षेत्र, किलानूरपुर, कराची, कोटकपूरा, क्यासपुर, कोटली, खरड़, खानकाहडोगरां, गुज्जरवाल, गुजरांवाला, गोसलपुर, फिरोजपुर (फ़िरोजपुर), पानीपत, पंजौर, पंचकूला, परजियां, फ़रहाली, फ़ाजिलका, फगवाड़ा, फ़रीदकोट, फ़रीदपुर, बोध्याना, बहादुरपुर, बटाला, बन्नू, बंगियां, बिनौली, बड़ौत, बठिंडा, बरहानपुर, बरनाला, बलाचौर, भेहरा, भाबड़ियां, भाबड़ागांव, महाजनग्राम, भटनेर, मुलतान, मुक्तसर, मल्लिकपुर, मल्लिकवाहन, ममदोट, मयानी अफ़गानां, मालेरकोटला, मम्मनवाहन, मरोटकोट, महुता (जि० अमृतसर), मुज्जफ़रनगर, मेरठ, मारीइंडस, मुकेरियां, मनसूरपुर, रामनगर, गाज़ीपुर, गढ़दीवाला, गजपुर, गोपाचलपुर, गोरीपुर, गंडलिया, गुरुकाचक्क, घटियाला, चन्द्रवृक्षग्राम, चोपड़ाग्राम, चूहनिया नगर, चंडीगढ़, जेहलम, जांगलू, जलालाबाद, जैतों, जम्मूतवी, जगाधरी, जालंधर, जींद, जीरा, जैजों, जंडियाला गुरु, जगरावां, झंडांवाली झुंबा, टांडा, डेरागाज़िखां, डमरैल, डस्का, डिङ्गुपुर, ढोलबाहा, तलपाटक, थानेसर, तक्षशिला, दसुआ, दिल्ली, देरावर, दीनानगर, देपालपुर, द्रोहटा, नाभा, नारोवाल, नालागढ़, नालपट, नकोदर, नादौन, नन्दनपुर, पट्टी, पक्खोवाल, (लुधियाना के निकट), पपनाखा, पसरूर, पिंडदादनखां, पटियाला, रावलपिंडी, रेणुकोट, रोहतास, यमुनानगर, राहों, राणियां, रोड़ी, रायकोट, रूपनगर (रोपड़) रामपुर, योगिनीपुर (दिल्ली), लुधियाना, लाहौर, लतंबर, रियासत गूलेर, लैय्या, लाहड़कोट, लायलपुर, माऊंटगुमरी, विडाला, व्यास, वीरपुर, वयरोवाल, शिवनगरी, शाहदरा (दिल्ली), शेरपुर (लाहौर का किला), शिवपुर, शंकर, सुराला, सनखतरा, सालकोट (स्यालकोट), संबलग्राम, सुनाम, सामाना, सुलतानपुर, सिंहपुर, सिरसा, साढोरा, संगरूर, संबडियाल, शांकर, शाहकोट, सोनीपत, सिंहनद, सिरहद, सरसावा, सरगोधा, समीयाना, हिसार, होशियारपुर, हाला, हाजीखां का डेरा, हैदराबाद सिंध, हस्तिनापुर, वीतभयपत्तन, टोबाटेकसिंह, हिमीयाना, करतारपुर, सुलतानपुर, अहमदगढ़, तरणतारण, तथा अन्य भी बहुत छोटे बड़े ग्राम और नगर हैं जहाँ पर जैनपरिवार थे और हैं।

१० पंजाब में बसने वाले जैनों के गोत्र

पंजाब में चार वंशों के जैनधर्मानुयायी आबाद हैं—ओसवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल श्रीमाल

(१) ओसवालों के गोत्र

दुगड़, नाहर, भाभू, संचिति (संचेती), बबेल, धरकुट्टा, लोढ़ा, जौंबड़, हींगड़, सुसांखुला, डागा, बघेरवाल, तातहेड़, राजध्याना, सुरोंवा, पुष्करणा, मिचकिन, सोना, दुसाझा, बाफणा,

सोमालिया, बारा, कुलहणा, चूपड़, बहुरा, जाईल, नाणा बरड़, मुन्हानी, पारख, मनविषपारख, नक्षत्र (नसत) मालकस, महहिया चोरडिया, तिरपंखिया, पटणी, बम्ब, कोचर, बरहूड़िया, नाहर, सुराणा, वैद, सिध्वी, सिंघी, डोसी, मोहिवाल, चोपड़ा, बोथरा, जख, गोठी, रांका, चौधरी, पैचा, बेगानी, बुचस (बुच्चा), नौलखा, छाजेड़, गोसल, लोगा, भनसाली, बागचर, सेठिया, बेबल, नागड़, मोदिका, जदिया, बच्छा .त, कनोड़ा, ननगानी, पंडरीवाल, बोहरा, श्रीमाल, बांठिया, श्रीश्रीमाल, पठाण, डुक, । इत्यादि (ओसवालों के जितने गोत्रों की जानकारी मिल पाई हैं, उन्हें यहाँ लिख दिया है और भी अनेक गोत्रों वाले परिवार इस जनपद में आबाद होंगे। ओसवालों के कुल गोत्र १४४४ कहे जाते है।

(२) खंडेलवालों के गोत्र—

भौंसा, सेठी, गंगवाल, भंगड़िया, छाबड़ा, गोधा आदि इस समय पंजाब में ये गोत्र खंडेलवालों के विद्यमान है। खंडेलवालों के कुल गोत्र ८४ हैं।

(३) अग्रवालों के गोत्र—

मित्तल, गर्ग, सिंघल, आदि १७॥ गोत्र अग्रवालों के हैं जो सारे पंजाब में फैले हुए हैं। इन में श्वेतांबर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी (श्वे० सम्प्रदाय) तथा आर्यासमाजी, सनातनी आदि सब धर्मों को मानने वाले हैं। पंजाब में इन को बनिया अथवा बानिया कहते हैं।

(नोट) ओसवाल और खंडेलवाल जैनों को पंजाब में भावड़ा कहते हैं। ये श्वेतांबर—स्थानकवासी (दोनों जैन संप्रदायों को मानने वाले हैं)।

(४) श्रीमाल जाति के अनेक गोत्रों के श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन परिवार पंजाब के अनेक नगरों में आबाद हैं।

११. पंजाब में प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री

१. पंजोर श्वेतांबर जैन महातीर्थ

पंजोर चंडीगढ़ के समीप है। प्राचीन जैनसाहित्य से और इसके सारे क्षेत्र से प्राप्त खंडित जिनप्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि विक्रम की सत्रहवी शताब्दी तक यह एक प्रसिद्ध श्वेतांबर जैनतीर्थ रहा है सिरसा के बड़गच्छ के यति कवि माल विक्रम की १७वी शताब्दी में हो गये हैं उन्होंने एक रचना जो विक्रम सवत् १६६८ में की थी, उस में पंजउर नामक नगर का तथा जैन मंदिरों और इस तीर्थ का वर्णन किया है। यह रचना भी इसी नगर में शुरु करके सामाना में पूर्ण की थी। उस से पता चलता है कि सम्राट अकबर के समय तक यह नगर आबाद था। जैनों की यहाँ बहुत बस्ती थी और यहाँ अनेक श्वेतांबर जैनमंदिर भी थे। आज तो न यह नगर है, न जैनों की आबादी है और न जैनमंदिर ही है। उसके स्थान पर एक मुग़लगार्डन (बाग़) तथा छोटा सा गांव है। यहाँ से कतिपय खंडित जैनमूर्तियाँ मिली हैं जो हरियाणा सरकार ने कुरुक्षेत्र के विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के कक्ष में संग्रह कर दी है। अभी भी इस सारे क्षेत्र में अनेक जैन-प्रतिमाएं आदि पुरातत्त्व सामग्री बिखरी पड़ी है। ऐसे समाचार मिलते रहते है। जो जैन प्रतिमाएं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में यहाँ से ले जाकर रखी गई हैं उन पर विक्रम की ९वीं, १० शताब्दी के लेख खुदे हुए हैं, परन्तु खेद का विषय है कि इन लेखों को पढ़ने का आज तक पुरातत्त्व विभागने साहस नहीं किया।

यहां पर एक मनसादेवी का मंदिर बड़ा प्रसिद्ध है। यह मूलतः जैनमंदिर था। इस मंदिर में विराजमान मूलनायक की प्रतिमा जैनमूर्ति होना संभव है। जैन देवियों मानसी—महामानसी का नाम बिगड़कर मनसादेवी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस समय यह मंदिर हिन्दुओं के अधिकार में है। बड़ी-बड़ी दूर से यात्री लोग इसके दर्शन करने आते रहते हैं।

२. रोहतक से जैनप्रतिमाएं प्राप्त

चंडीगढ़ से निकलने वाले अंग्रेजी दैनिकपत्र Tribune (ट्रिब्युन) के समाचारों से ज्ञात हुआ है कि रोहतक के समीप भूमि की खुदाई से जैनश्वेतांबर मूर्तियां, जैनमंदिर के खंडहर मिले हैं। वहां अस्थल-बोहर नाम के गांव की खुदाई से भी जै० श्वे० मूर्तियां मिली हैं।

३. कैथल

कैथल से पांच मील दूर सियोन नामक ग्राम है। इसे सीढेरी, सियावन भी कहते हैं। इसका नाम सिद्धेश्वरी था। सिद्धेश्वरी से बिगड़कर सीढेरी अपभ्रंश हो गया है। यहां पर तालाब के किनारे पर एक मठ हैं। इसमें एक शिलालेख था। इस लेख के अन्त में सिद्ध-सिद्धि पढ़ा जाता था। अतः यह जैन शिलालेख होना चाहिये।

४. थानेश्वर

यहां एक शिवमंदिर हैं, जो प्राचीन जैन श्वेतांबर मंदिर था।

५, जींद

यहां भूमि की खुदाई से श्री ऋषभदेव की पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है। उस पर विक्रम की १० वीं शताब्दी का लेख है। आजकल यह प्रतिमा चंडीगढ़ के पुरातत्व विभाग में रखी है।

६. मंडी डबवाली

यहां पर एक श्वेतांबर जैनमंदिर था। ई० सं० १९६३ (वि० स० २०२०) तक इस मंदिर से प्रतिमाएं उठाई जा चुकी थीं और मंदिर बिक चुका था। इस मंदिर की जगह पर अपना मकान बनाकर क्षत्रीय भंडारी गोत्रीय एक परिवार रहने लगा है।

७. हिसार

यहां फ़िरोजशाह तुगलक के समय का एक प्राचीन जैनमंदिर का खण्डहर था; जहां पुल और नहर की कोठी बनी है। यह स्थान नहर के सरकारी कागज़ात में जैनमंदिर लिखा है। ईस्वी सन् १९०४ के हिसार गजिटियर में भी छपा था कि यह खण्डहर जैनमंदिर था। इन प्रमाणों की जानकारी के पश्चात् यहां के धर्मप्रेमी लाला महावीरप्रसाद जैन एडवोकेट तथा लाला बनवारीलाल जैन बजाज ने सरकार को लिखा और गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने सरकारी गज़ट के Part II secticn III Subsection II Dated 5 June 1963 A D. द्वारा इस स्थान को सरकारी कब्जा से मुक्त कर दिया। ई० स० १९६२ में इस स्थान की खुदाई कराई गयी तो पार्श्वनाथ, अनन्तनाथ तथा पांचतीर्थंकरोंवाली पचतीर्थी—ये तीन बड़ी पाषाण प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जो इस समय हिसार के दिगम्बर जैनमंदिर में रखी हुई हैं।

८ फिरोजपुर झिरका

१० जनवरी सन् १९६७ ईस्वी को यहाँ से आठ मील दूर जमीन से तीन जैनमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। श्री भगवतदयाल सरपंच अपना मकान बनवा रहे थे तब जमीन की खुदाई कराते हुए मिली थीं। ये मूर्तियाँ प्राचीन हैं। (देखें दैनिक मिलाप ऊर्दू ता० ११-१-१९६७ ई०)

९. खोखराकोट जिला रोहतक

यहाँ ता० १५-१०-१९६७ को कुषानकाल के (जैन) स्तूप प्राप्त हुए हैं। प्राचीन जैन मूर्तियाँ आदि तथा अनेक प्राचीन वस्तुएं भी मिली हैं (दैनिक ऊर्दू तेज ता० ६-१२-१९६७ ई०)

१० कुरुक्षेत्र[1]

थानेश्वर से छह मील दक्षिण पूर्व में खुदाई से स्वस्तिक आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुएं मिली हैं। कुरुक्षेत्र की राजधानी थानेश्वर थी। (दैनिक ऊर्दू तेज ता० ६-१२-१९६६ ई०)।

११. अंबाला शहर

यहां के श्वेतांबर जैनमंदिर का जीर्णोद्धार कराते समय नींव खोदने से तीन जैनप्रतिमाएं मिली है। इन में से दो तीर्थंकरों की हैं और एक पद्मावतीदेवी की है जिसके सिर पर पार्श्वनाथ की पद्मासन में प्रतिमा बनी हुई हैं।

इसी प्रकार पंजाब-सिंध से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक स्थान-स्थान पर जैनमंदिरों के खंडहर, तथा जैनमूर्तियाँ खंडित-अखंडित मिलती रहती हैं। कांगड़ा-कुल्लु के सारे क्षेत्र में जिन मंदिरों के अवशेष तथा जिनप्रतिमाएं सर्वत्र बिखरी हुई पाई जाती हैं इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।



1. पंजौर, रोहतक, कैथल, थानेश्वर, जींद, हिसार, फिरोजपुर झिरका, कुरुक्षेत्र आदि सारे नगरों में श्वेतांबर जैन यतियों की गद्दियां, श्वेतांबर जैन मंदिर-श्रावक परिवार तथा श्वेतांबर साधु विद्यमान थे आजकल इस क्षेत्र में श्वेतांबर जैनों का सर्वथा अभाव है। ये सब पुरातत्त्व सामग्री उन प्राचीन जैन श्वेतांबरों की है।

अध्याय ३

जैन धर्म और शासक

जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी (ई० पू० ५२७) के बाद उनके पांचवें गणधर शिष्य श्री सुधर्मास्वामी जैनसंघ के मुख्य संरक्षक बने। आप प्रभु महावीर के समस्त चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका संघ) के सर्वमान्य आचार्य हुए। भगवान महावीर का संघ निग्रंथ संघ कहलाता था। साधु-साध्वियों के समूह को गण कहते हैं। अतः यह गण निग्रंथ गण (गच्छ) कहलाया। सुधर्मास्वामी के छठे पट्टधर श्री भद्रबाहु स्वामी हुए। आप चौदह पूर्वधर थे। आपने मूलागमों पर निर्युक्ति भी लिखी। आपका स्वर्गवास महावीर के १७० वर्ष बाद (ईसा पूर्व ३५७ वर्ष) में हुआ। दिगम्बर मतानुयायी श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण संवत् १६२ मानते हैं। देखें दिगम्बर विद्वान डा० ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए० एल० एल० बी० पी० एच० डी० लखनऊ कृत पुस्तक 'प्रमुख ऐतिहासिक जैनपुरुष और महिलाएं' पृष्ठ ३१।

१. मौर्य साम्राज्य और जैनधर्म

भगवान् महावीर के निर्वाण (ईसा पूर्व ५२७) के ५० वर्ष बाद (ईसा पूर्व ४७७) मगध में नन्दों का राज्य स्थापित हुआ। और १५५ वर्ष (ई० पू० ३२२ वीरात् २०५) तक रहा। मौर्यवंशीय चंद्रगुप्त ने मंत्री चाणक्य के सहयोग से वीरात् २०५ में अपना राज्य तक्षशिला पंजाब में स्थापित किया। श्रेणिक, नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार पंजाब-सिंधु पर भी था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गांधार-पंजाब में राज्य स्थापित करने के बाद वीरात् २०५ से २२६ (ई० पू० ३२२ से २९८) तक पंजाब से लेकर मगधदेश तक राज्य किया। इस की गांधार देश की राजधानी तक्षशिला थी। २४ वर्ष राज्य करने के बाद इसका देहांत हो गया।

युनानी सिकन्दर का पंजाब पर आक्रमण

नौवें नन्द के राज्य में एक विशेष घटना घटी। युनान के महाप्रतापी सिकन्दर ने सारे युनान पर अधिकार जमा लिया। फिर मिस्र, टर्की को जीतता हुआ ईरान पर धावा बोल दिया। वहाँ के राजा दारा को मार कर ईरान पर भी कब्जा कर लिया। फिर सीस्तान (शकों के रहने के स्थान) को जीत कर कंधार जीता। फिर समरकन्द, बुखारा आदि सब देशों को जीतते हुए, उधर ही एक हिन्दुस्तानी राजा शिशुगुप्त को जीता और उसे साथ में लेकर ई० पू० ३२६ में पंजाब पर चढ़ाई की। रावलपिंडी के उत्तर में तक्षशिला (गांधार-बहली) के राजा को उसकी आधीनता स्वीकार करनी पड़ी। यह राजा भी सिकन्दर के साथ हो लिया। पश्चिमी कन्धार का राजा

उस से खूब लड़ा, परन्तु वह हार गया। सिकन्दर ने उसका राज्य उसके साथी संजय को दिया। फिर अश्वर्ण को जीतकर शिशुगुप्त को वहाँ का राज्य दिया। पश्चात् तक्षशिला होता हुआ केकय देश (जेहलम, शाहपुर, गुजरात) में आया। वहाँ का राजा पुरु बड़ी बहादुरी से लड़ा। तक्षशिला के आम्भिक राजा ने हमला करके उसे पकड़ लिया। सिकन्दर ने उसे भी अपना सेनापति बना लिया और ग्लुचुकायन देश को जीतकर उस के आधीन किया। चनाब नदी के उस पार मद्रक देश का राजा पुरु का भतीजा था। वह भी बिना लड़े आधीन हो गया। स्यालकोट के मुकाम पर माझा के कठ लोग और क्षुद्रक तथा मालवा के राजा खूब लड़े। परन्तु पुरु की सहायता से सिकन्दर की जीत हुई। आगे रावी और व्यास नदी के पास पहुंचने पर नन्द राजा की शक्ति और प्रभाव से भयभीत होकर सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। यह ईसा से ३२७ वर्ष पहले की बात है।

लाचार होकर सिकन्दर जेहलम नदी तक वापिस आया और वहां से दक्षिण की तरफ बढ़ा। शिवि राजा ने बिना लड़े ही आधीनता मान ली। अगलस्य, मालव, क्षुद्रक जाति के लोग लड़े। उस लड़ाई में सिकन्दर की छाती में घाव हो गया। आगे चलने पर अम्बष्ट, वसाती और क्षौद्र जाति के लोगों ने मुकाबिला नहीं किया। वहाँ से सिकन्दर सिन्ध की तरफ़ बढ़ा। मुषिकर्ण राज्य ने भी उस का मुकाबिला नहीं किया। अतः सिकन्दर ने उसे बहुत निर्दयता से दबा लिया। फिर पातानप्रस्थ (हैद्राबाद सिंध) पहुंचा। पश्चात् पश्चिम के रास्ते से हिन्दुस्तान से बाहर हो गया और ईसा से ३२३ वर्ष पहले उसका रास्ते में ही देहांत हो गया।

इन दिनों मगध से लेकर पंजाब में व्यास नदी तक नन्द का राज्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से ईसा पूर्व ३२२ में इस का राज्य छीन लिया। चन्द्रगुप्त मौर्य जाति का क्षत्रीय था। चाणक्य ब्राह्मण था।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और मंत्री चाणक्य भारतीय इतिहास क्षितिज के प्रारंभिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के ऐतिहासिक युग के प्रथम प्रबल प्रतापी सम्राट होने का तथा शक्तिशाली विदेशी शत्रुओं और आक्रमणकारियों के दांत खट्टेकर अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय है तो आचार्य चाणक्य उस साम्राज्य की स्थापना में मूल निमित्त और उसके प्रधान स्तम्भ है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के राजनीतिज्ञ गुरु, समर्थ सहायक, उसके राज्य के कुशल व्यवस्थापक और नियामक थे। राजनीति के ये महानगुरु थे। इन का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र अपने समय में ही नहीं वरन तदुत्तरकालीन भारतीय राजनीति और राजनीतिज्ञों को भी सफल मार्गदर्शक रहा है।

प्राचीन युनानी लेखकों के वृतांतों, शिलालेखीय और साहित्यिक आधारों तथा प्राचीन अनुश्रुतियों की ब्राह्मण, जैन एवं बौद्धधाराओं से यह तो बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार मगध के तत्कालीन नन्द नरेश के बर्ताव से कुपित होकर ब्राह्मण चाणाक्य ने नन्द के नाश की प्रतिज्ञा की, किस प्रकार कूटनीति और युद्धनीति का द्विविध आश्रय लेकर वीर युवक मौर्य चन्द्रगुप्त के सहयोग से उन्होंने नन्दवंश का उच्छेद किया। किस प्रकार मौर्यवंश की स्थापना हुई और मौर्य चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट बना। किस प्रकार उन दोनों ने उक्त साम्राज्य का विस्तार

कर उसे देशव्यापी बनाया, उसे सुदृढ़ रूप से सुसंगठित किया। आदर्श व्यवस्था और सुशासन प्रदान किया तथा राष्ट्र को सुखी, समृद्ध, प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न बनाया। यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि भारत के सभी महान सम्राटों की भांति सर्वधर्म सहिष्णु और उदार होते हुए भी व्यक्ति रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य चाणक्य जैनधर्मी थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य बचपन से ही बड़ा साहसी था। नन्द राजा ने उसे मार डालने का हुक्म दिया था। वह भागकर पंजाब चला आया था। पंजाब में तक्षशिला में उसे एक महाराजनीतिज्ञ ब्राह्मण चाणक्य मिल गया। सिकन्दर के भारत से लौट जाने पर चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सलाह से सिकन्दर के जीते हुए प्रदेशों से विद्रोह कराकर स्वयं उन का शासक बन बैठा। फिर उन्हीं लोगों की सेना बनाकर मगध पर भी चढाई कर दी और नन्द राजा को जीत कर समस्त भारत का राज्य प्राप्त कर सम्राट बन गया।

वैदिक, पौराणिक अथवा बौद्ध साहित्य साधनों से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि राजनीति में आने से पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त कौन और क्या थे? उन का व्यक्तिगत जीवन क्या था और अन्त कैसे हुआ। प्राचीन अनुश्रुति और जैनसाहित्य अवश्य ही इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। जिसकी प्रमाणिकता में भी सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

जैन प्रमाणाधारों के अनुसार चाणक्य का जन्म 'गोल्ल के अन्तरगत चणय' नामक ग्राम में हुआ था। उनकी माता का नाम चणेश्वरी और पिता का नाम चणक था और वे जाति से ब्राह्मण थे तथा जैनधर्म के श्रावक-श्राविका थे। जैसे-जैसे चाणक्य बड़ा होता गया, उसे उस समय की चौदह विद्याओं का ज्ञान हो गया और वह महान राजनीतिज्ञ बन गया। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उस का जन्म तक्षशिला में हुआ था और वहीं के विश्वविद्यालय में शिक्षण पाया था। युवा होने पर उसके माता-पिता ने एक प्रतिष्ठित कुल की ब्राह्मण कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया और यह जैनश्रावक के रूप मे जीवनयापन करने लगा।[1] चाणक्य के अनेक नाम थे—वात्सायण, मल्लनाग, कुटिल, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल।[2]

एकदा चाणक्य के ससुराल में विवाह था, उस समय उसकी पत्नी भी मायके गई। वहां उसकी धनाढ्य बहनो ने उसका उपहास किया। वह बेचारी अपने आपको अपमानित जानकर वापिस ससुराल लौट गई। तब चाणक्य को अर्थोपार्जन की चिन्ता हुई। तब उस ने अपनी पत्नी के सामने प्रतिज्ञा की कि जैसे भी होगा मैं विपुल धन उपार्जन करूंगा। उस ने धातुविद्या से स्वर्ण सिद्धि करना सीखा।[3]

इधर नन्द से अपमानित होकर उसने नन्द सत्ता को उखाड़ फेंकने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और चन्द्रगुप्त मौर्य को साथ मे लेकर नन्द सत्ता को उखाड़ फेंकने में सफल हुआ। तथा चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्याधिकारी बनाकर सम्राट बनाया।

---

1. आचार्य हेमचन्द्रकृत परिशिष्ट पर्व।
2. वात्सायनो मल्लिनाग, कुटिलश्चणकात्मजः।
   द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च।। (हेमचन्द्र अभिधान चिंतामणि)
3. आचार्य हेम चन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की एक घटना विशेष महत्वपूर्ण है। ईसा पूर्व ३०५ वर्ष में मध्य एशिया के महान शक्तिशाली युनानी सम्राट सेल्युकस निकेतर ने भारत पर भारी आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना ने आक्रमणकारी की गति को रोका, भीषण युद्ध हुआ। परिणाम स्वरूप सेल्युकस की बुरी तरह से पराजय हुई और वह बन्दी बना लिया गया। उसकी याचना करने पर मौर्यसम्राट ने उसके साथ संधि कर ली, जिसके अनुसार सारे पंजाब और सिंध पर ही नहीं अपितु काबुल, कांधार, बिलोचिस्तान, कम्बोज, हिरात, किलत, लालबेला, पामीर, बदख्शां पर भी मौर्यसम्राट का अधिकार हो गया। इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण भारत महादेश पर अपना एक छत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया।

व्यक्तिगत रूप से सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य धार्मिक था और साधु-संतों का भक्त भी था। जबकि ब्राह्मण ग्रंथों में उसे वृषल, शूद्र अथवा दासीपुत्र कहा है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार उसे सर्वत्र शुद्ध क्षत्रीय कुलोत्पन्न कहा है। चन्द्रगुप्त मौर्य ईसा पूर्व ३२२ से राज्यगद्दी पर बैठा और ईसा पूर्व २९८ में मृत्यु पाया। उसने २४ वर्ष राज्य किया।

सिकन्दर महान के समय में पंजाब में जैनधर्म

युनानी सिकन्दर महान के भारत पर आक्रमण करने के अनेक अच्छे या बुरे परिणाम हुए। इन युनानियों को गांधार, तक्षशिला आदि जनपदों के नगरों में तथा उनके निकटवर्ती प्रदेशों में ही नहीं वरन सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध में यत्र-तत्र-सर्वत्र अनेक निर्ग्रंथ श्रमणों से परिचय हुआ था। निर्ग्रंथ जैनसाधु को कहते हैं। जिन का उन्होंने 'जिम्नोसोफ़िस्ट,[2] जिम्नटाई, जेनोई, आदि नामों से उल्लेख किया है। जिम्नोसोफ़िस्ट का अर्थ है—एकान्त में ध्यानमग्न योगी रूप जीवन व्यतीत करनेवाले नग्न अथवा अर्धनग्न (अल्पवस्त्र धारी) साधु। इसमें सन्देह नहीं कि इन शब्दों से आशय तत्कालीन एवं प्रादेशिक जैनमुनियों का है। जिन्हें जैन आगमो में जिन-कल्पी तथा स्थविरकल्पी निर्ग्रंथ (जैनमुनि) कहा है। सिंधुघाटी में कुछ ऐसे ही साधुओं का उन्होंने ओरेटाई के नाम से उल्लेख किया है। इस से अभिप्राय आर्य का है। जो प्राचीनकाल में श्वेताम्बर जैनमुनियों के लिये प्रयोग होता था। जैसे कि आर्य जम्बू, आर्य प्रभाव, आर्य सुहस्ति आर्य महागिरि, आर्य सुस्थित आदि और 'बेरेटाई' से व्रात्य (व्रतधारी विशिष्ट ज्ञानवान) है। जो ब्राह्मण विरोधी श्रमणोपासकों (जैन श्रावक-श्राविकाओं, साधु-साध्वियों) के लिये प्रयुक्त होता था। उपर्युक्त जैनसाधुओ मे से कुछ को 'हिलाबाई' (वनवासी) नाम दिया गया है और उन्हें सर्वथा निस्पृह, अपरिग्रही, पाणितलभोजी, शुद्ध शाकाहारी, ध्यानी, तपस्वी सूचित किया है। श्वेतांबर जैनसाधुओं का एक वनवासी गच्छ भी था, वे प्रायः जंगल में रहते थे। इसी गच्छ के मंडन तथा कल्याण नाम के दो जैनसाधुओं से स्वयं सम्राट सिकन्दर ने भी साक्षात्कार किया था। सम्राट के आग्रह से कल्याण मुनि बाबुल भी गये थे। जहां उन्होने समाधिमरण प्राप्त किया था। युनानी लेखकों ने अल्पवस्त्रधारी तथा यथाजात (नग्न) जैनमुनियों तथा तीर्थंकर आदिनाथ

1. पुरातत्वज्ञों का कहना है कि उन्हें हिन्द-युनानी राजाओं के कोई ३० नाम उन की मुद्राओं (सिक्कों) से प्राप्त हुए हैं जिन्होंने लगभग तीन शताब्दियों तक भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों पर राज्य किया है।

2. Nalanda Current Dictionary English to Hindi.

(ऋषभदेव) तथा उनके बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ति से सम्बन्धित अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया है। नन्द, उग्रसेन, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमित्रघात, बिन्दुसार आदि के सम्बन्ध में भी यूनानी लेखकों के वृतांत जैन अनुश्रुतियों से जितने समर्थित होते हैं उतने अन्य किसी भी अनुश्रुति से नहीं समर्थन पाते। महत्वपूर्ण घटनाओं की जो उन्होंने तिथियाँ आदि दी हैं वे भी विद्वानों के मतानुसार उन्हें जैनों से ही प्राप्त हुई हैं। अर्थात् यूनानी सिकन्दर के समय से पहले तथा बाद में भी गांधार, पंजाब, सिन्ध, तक्षशिला आदि जनपदों में सर्वत्र जैनधर्मानुयायी विद्यमान थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य और जैनधर्म

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य किस धर्म का अनुयायी था इसके विषय में ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य मौन हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार वह दृढ जैनधर्मी था और शुद्ध क्षत्रीय था। बौद्ध साहित्य में भी उसे मोरिया नामक व्रात्य क्षत्रीय जाति का युवक सूचित किया है। व्रात्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में जैनश्रमणों आर्हतों के लिये किया गया है। जैनों को आर्हत् के नाम से वैदिककाल में संबोधित किया जाता था। यूनानी लेखकों ने व्रात्यों का उल्लेख वेरेटाई के नाम से किया है। जिसका परिचय उन्होंने व्रतधारी तथा विशिष्ट ज्ञानवान के रूप में किया है। इस से भी स्पष्ट है कि 'चन्द्रगुप्त शुद्ध क्षत्रीय मौर्य जाति का था और वह जैनधर्मी था। ब्राह्मणों के इसे शूद्र, दासीपुत्र, वृषल आदि कहने का एक मात्र प्रयोजन उन का जैनों से शाश्वती विरोध है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने परिशिष्ट पर्व में इसे शुद्ध क्षत्रीय तथा जैनधर्मानुयायी ही कहा है। इस सम्राट के अनेक जैनमंदिरों के निर्माण तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को स्थापन करने के उल्लेख मिलते है। उसके समय की तीर्थंकर की एक प्रतिमा लगभग तीन सौ वर्ष पहले गंगानी जैनतीर्थ में विराजमान थी ऐसा उल्लेख मिलता है। तथा सम्राट के त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, दीक्षावृक्ष आदि जैन सांस्कृतिक प्रतीकों से युक्त सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। यह सम्राट जैन था इसके प्रमाणों के लिये देखें—"मौर्य साम्राज्य के इतिहास की भूमिका (के० पी० जयसवाल), मिश्रबन्धु लिखित भारतवर्ष का इतिहास खण्ड २ पृष्ट १२१ तथा जनार्दन भट्ट द्वारा लिखित अशोक के धर्मलेख पृष्ठ १४ आदि।" विशेष जानने के इच्छुक जैनसत्यप्रकाश गुजराती मासिक पत्रिका क्रमांक ३२ पृष्ठ १३६ में "जैन राजाओं शीर्षक लेख।"

चंद्रगुप्त का अन्तिम समय

चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन के अन्तिम समय के सम्बन्ध में प्राचीन लेखकों में बहुत मतभेद है। दिगम्बरों की मान्यता है कि चन्द्रगुप्त ने जैनाचार्य भद्रबाहु से दिगम्बर जैनमुनि की दीक्षा ग्रहण की थी। एक बार पाटलीपुत्र में घोर अकाल पड़ा। काल की निवृत्ति का सब तरह से उद्योग किया गया। परन्तु जब सफलता नहीं मिली तो राज्य छोड़कर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य अपने गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु से दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेकर उन के साथ श्रवणबेलगोला (मयसूर राज्य) में चला गया और अन्त में अनशन करके दोनों गुरु-शिष्य ने स्वर्ग प्राप्त किया। डा० फ्लीट तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने इसकी प्रमाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। श्रीयुत वी० ए० स्मिथ ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Early History of India के द्वितीय संस्करण में इस विषय की

दिगम्बर जैनों की मान्यता का खण्डन किया है। परन्तु तृतीय संस्करण में उन्होंने इस की सत्यता को स्वीकार कर लिया है।[1]

जिन आधारों से चन्द्रगुप्त का जैनमुनि होकर मयसूर जाने का स्वीकृत किया जाता है और अन्तिम समय में भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ श्रवणबेलगोला में अनशन करके स्वर्गवास प्राप्त करने की कथा को सत्य समझा जाता है, हम पहले उस का उल्लेख करेंगे। पीछे उस की आलोचना करके किसी निश्चित परिणाम पर पहुंचने का यत्न करेंगे। इन आधारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं (१) जैन साहित्य तथा (२) शिलालेख।

(१) पहले जैनसाहित्य को लें—ईसा की छठी शताब्दी में दिगम्बराचार्य यतिवृषभ ने अपनी तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि मुकुटधर राजाओं में सबसे अंतिम राजा चद्रगुप्त ने जैनमुनि की दीक्षा ली, उसके बाद किसी मुकुटधारी ने जैनमुनि की दीक्षा नही ली।[2]

(२) दिगम्बराचार्य हरिषेण (वि० सं० ६८८) ने अपने कथाकोष नामक ग्रंथ मे लिखा है कि—भद्रबाहु को ज्ञात हो गया कि यहाँ एक द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। इस से उन्होंने समस्त संघ को बुलाकर सब हाल बतलाते हुए कहा कि अब तुम लोगों को दक्षिण देश में चले जाना चाहिये, मैं स्वयं यहीं ठहरूंगा। क्योंकि मेरी आयुष्य क्षीण हो चुकी है।[3] तब चद्रगुप्त ने विरक्त होकर भद्रबाहु स्वामी से जिनदीक्षा ले ली। फिर चंद्रगुप्त मुनि जो दसपूर्वियो में प्रथम थे, विशाखाचार्य के नाम से जैनसंघ के नायक हुए। भद्रबाहु की आज्ञा से वे संघ को दक्षिण के पुन्नाट देश में ले गये। इस प्रकार रामल्य, स्थूलवृद्ध, भद्राचार्य अपने-अपने संघो सहित सिन्धु आदि देशों को भेज दिये गये और स्वयं भद्रबाहुस्वामी उज्जयनी के भाद्रपद नामक स्थान पर गये और वहीं उन्होने कई दिनों का अनशन व्रत करके समाधिमरण प्राप्त किया।[4]

(३) इन के बाद होने वाले दिगम्बराचार्य रत्ननन्दी आदि भद्रबाहु चरित्र में लिखते हैं कि अवन्तिदेश (उज्जयन जनपद) मे चन्द्रगुप्त राजा राज्य करता था उसकी राजधानी उज्जयनी थी - एक बार चन्द्रगुप्त ने सोते हुए रात को भावी अनिष्ट-फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही उसे भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। वे स्वामी उज्जयनी

---

1. In the second edition of this book I rejected that tradition and dismissed the tale as 'Imaginary History.' But on reconsideration of the whole evidence and objection urged against the credibility of the story, I am now disposed to believe that the tradition probably is true in its main outline, and that Chandragupta realy abdicated and became a Jain ascetic' (V.A. Smith-Early History of India p. 154)

2. मउडधरेसु चरिमो जिण-दिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दु प्पव्वज्जं णेव गेण्हति। (१४८१ तिलोयपण्णत्ति पृ० ३३८)

3. अहमत्रैव तिष्ठामि क्षीणमायुर्ममाधुना॥ (हरिषेणकृत कथाकोष)

4. प्राप्य भाद्रपदवेशं श्री मदुज्जयनी भवं। चकारानशनं धीरः सदिनानि बहून्यलम् समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ॥ (जैनशिलालेख संग्रह पृष्ठ ५८ दिगंबर डा० हीरालाल जैन डी. लिट् द्वारा संकलित)।

नगर के बाहर एक सुन्दर बाग में ठहरे हुए थे। चंद्रगुप्त भद्रबाहु के पास गया और उन से स्वप्नों का फल पूछा। भविष्य में स्वप्नों का फल अनिष्टकारी जानकर चंद्रगुप्त ने उनके पास जैनमुनि की दीक्षा ग्रहण करली। स्वप्नों में भविष्य में होने वाले द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने की संभावना होने से भद्रबाहु चंद्रगुप्तादि पांच सौ मुनियों[1] के साथ दक्षिण में चले गये। अपने पट्ट पर विशाखाचार्य को प्रतिष्ठित करके; स्वयं एकांत में रहते हुए गिरिगुहा में भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ। इसके बाद मुनि चंद्रगुप्त भी गिरिगुहा ने निवास करने लगे।

(४) दिगम्बर ब्रह्मचारी श्री मल्लेमिदत्त द्वारा रचित 'आराधना कथाकोष' में भी "इसी प्रकार की कथा उल्लिखित है। इसलिये इसे पृथकरूप से देने की आवश्यकता नहीं है। बारह वर्ष के घोर दुर्भिक्ष की संभावना होने पर भद्रबाहु अपने मुनिसंघ के साथ दक्षिण देश चले गये। अति लोगों के वियोग के कारण उज्जयनीनाथ राजा चन्द्रगुप्त भी भद्रबाहु से दीक्षा लेकर मुनि हो गया।[2]

(५) इसी से मिलती जुलती कथा दिगम्बरी रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्याश्रव कथाकोष में भी पाई जाती है।[3]

(६) श्वेतांबर जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्व में भी चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन श्रावक तो लिखा है, पर उसके जैनसाधु की दीक्षा लेकर दक्षिण जाने का कोई उल्लेख नही है।[4]

(७) चिदानन्द नामक दिगम्बर कवि ने भद्रबाहु के संबन्ध में अपने रचित 'मुनिवंशाभ्युदय' नामक कन्नड़ काव्य मे लिखा है कि श्रुत केवलि भद्रबाहु बेलगोला को आये और एक व्याघ्र ने उन पर आघात किया तथा उन का शरीर विदारण कर डाला।[5] यह कवि व्याघ्रवाली घटना से नवीन प्रकाश डालता है।

(८) उपर्युक्त जैन साहित्य के सिवाय श्रवणबेलगोला (माइसोर) से प्राप्त अनेक सस्कृत व कन्नड़ी भाषा के शिलालेख भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। इन शिलालेखों को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत 'राइस' लिखता है कि—"इस स्थान पर जैनों की आबादी श्रुत-केवली भद्रबाहु द्वारा हुई और उन की मृत्यु भी उसी स्थान पर हुई। अन्तिम समय में अशोक

---

1. रत्ननन्दी १२००० मुनि बतलाते हैं जो भद्रबाहु के साथ दक्षिण में गये, वहाँ जाकर चंद्रगिरिपर भद्रबाहु ने देहोत्सर्ग किया। हरिषेण उज्जयनी मे देहोत्सर्ग बतलाते हैं। चन्द्रगुप्त का ही अपरनाम जिनदीक्षा का विशाखाचार्य होना हरिषेण कहते हैं, परन्तु चन्द्रगुप्त को विशाखानन्दी से रत्नगिरि भिन्न मानते हैं। रामल्य, स्थूलिभद्र और भद्राचार्य को अपने-अपने संघो के साथ भद्रबाहुने सिन्धु आदि देशो में भेजा, ऐसा हरिषेण कहते हैं और रत्ननन्दी लिखते हैं कि रामल्यादि भद्रबाहु की आज्ञा को उल्लंघन करके उज्जयनी में ही रहे।

2. ततश्चोज्जयिनीनाथश्चन्द्रगुप्तो महिपतिः।
वियोगाद्यतिनां भद्रबाहुं नत्वाभवन्मुनिः (आराधन कथाकोष)।

3. श्रीनाथूराम दिगम्बर द्वारा अनुदित पुण्याश्रव कथाकोष देखिये।

4. आचार्य हेमचन्द्रकृत परिशिष्ट पर्व ८/४१५-४३५

5. दिगम्बर जैनशिलालेख संग्रह पृष्ठ ५६।

का पितामह राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ग्रीक ऐतिहासिकों का सैण्ड्राकोट्टस इन की सेवा करता था ।[1]

(९) श्रवणबेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति (tradition) भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध जोड़ती है । श्रवणबेलगोला के दो पर्वतों में से छोटे का नाम 'चन्द्रगिरि' है। कहा जाता है कि यह नाम चंद्रगुप्त नामी एक महात्मा के नाम पर है । इसी पर्वत पर एक गुफ़ा भी है, इस का नाम भद्रबाहुस्वामी की गुफ़ा है । यहाँ एक मठ भी है, जिसे चंद्रगुप्तवस्ती कहते हैं ।

(१०) इस चंद्रगिरि पर्वत पर अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं । ये लेख भी दिगम्बर जैन साहित्य को पुष्ट करते हैं । इन से प्रतीत होता है कि आचार्य भद्रबाहु ने इस स्थान पर अपने प्राणों का त्याग किया था और अन्तिम समय में उन का शिष्य चन्द्रगुप्त उन की सेवा करता था ।[2] इन शिलालेखों में से मुख्य शिलालेख में द्वादश वर्ष के दुर्भिक्ष तथा उसके बाद उज्जयन से मुनियों के संघ का दक्षिण में आना सब लिखा है ।[3]

(११) ये शिलालेख विविध समयों के हैं, सब से प्राचीन शिलालेख सातवीं सदी ईसा के पश्चात् का है । अतः प्राचीनता के कारण इन की प्रमाणिकता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता ।

(१२) ये उपर्युक्त प्रमाण हैं जिन्हें आधार में लेकर मौर्य चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध श्रवणबेल-गोला के साथ जोड़ा जाता है। इन्हीं का अच्छे प्रकार से विवेचन करके ऐतिहासिक स्मिथ भी सम्राटचन्द्रगुप्त के अनशन द्वारा प्राणत्याग की कथा सत्य मानते हैं परन्तु हमारी सम्मति में यदि इन ग्रंथों तथा शिलालेखों का अच्छी प्रकार से अनुशीलन किया जावे तो हम किसी अन्य ही परिणाम पर पहुंच जायेंगे ।

---

1. The settlement of the Jains at that place was brought about by the last of Srut-Kevalin Bhadrabahu, and that this person died there, tended in his last movement by the Maurya King Chandragupta, the Sandrakattas of the Greek Historian—the grandfather of Ashoka. (Myror and Coorg from Inscription by Lewis Rice).

2. यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि ।
अपश्चिमोऽभूत् विदुषां विनेता, सर्वश्रुतार्थं प्रतिपादनेन ॥
यदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तस्समग्र शीलानतदेववृद्धः ।
विवेशयत्तीव्रतपः प्रभावात् प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥ इत्यादि

3. अथ खलुसकलजगदुदयकरणो दितातिशयगुणास्पदीभूतपरमजिनशासन सरस्समीभवार्द्धतभव्यजनकमलविरसन-वितिमिरगुणकिरणसहस्रमोहति महावीरसवितरि परिनिवृते भगवत्परमर्षि गौतमगणधरसाक्षाच्छिष्यलोहार्यं जम्बु-विष्णुदेव अपराजितगोवर्द्धन भद्रबाहु विशाखपोष्ठिलक्षत्रिकार्य जयनागसिद्धार्थ धृतषेणाबुद्धिलादि गुरुपरम्परीण-क्रमाभ्यागतमहापुरुषसंतति समवद्योतितान्वयभद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्याम् अष्टांगमहानिमित्त तत्त्ववित्त त्रैकाल-दर्शिता निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकाल वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः आर्षमेव जनपदं अनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनधनकनकशस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णं प्राप्तवान् । अतः आचार्य प्रभाचन्द्रेण अवनितलललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामोपलक्षिते······शिखिरिणी जीवितशेषम् अल्पतरकालं अवबुध्याध्वनः । सुचकितः तपासमाधिन् आराधितुम् आपृच्छ्य निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन् पृथुलकास्तीर्णतलासुशिलासु शीतलासु स्वदेहं सत्यस्य आराधितवान्क्रमेणसप्तशतम् ऋषीणाम् आराधितम् इति जयतुजिनशासनम् । (इन सब शिलालेखो के लिये देखिये—Rice-Mysore and Coorg from Inscription.

(१३) पुण्याश्रव कथाकोष का जिक्र ऊपर किया गया है। उसमें भी चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध श्रवण-बेलगोला के साथ जोड़ा गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में जिस चंद्रगुप्त के जैनसाधु बन कर अन-शन व्रत करने का उल्लेख है वह अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त नहीं अपितु अशोक का पौत्र चन्द्रगुप्त है। पुण्याश्रव कथाकोष में पटना के राजाओं का वृतांत लिखते हुए पहले मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का इतिहास लिखा है। नन्द द्वारा चाणक्य के अपमानित होने पर यह ग्रंथ कहता है कि :—

अब चाणक्य को क्रोध आया और वह नगर से निकलकर बाहर जाने लगा। मार्ग में चाणक्य ने चिल्लाकर कहा—"जो कोई मेरे परमशत्रु राजा नन्द का राज्य लेना चाहता हो मेरे पीछे-पीछे चला आवे।" चाणक्य के ऐसे वाक्य सुनकर एक चन्द्रगुप्त नाम का क्षत्रीय जो कि अत्यन्त निर्धन था, उस ने विचार किया कि मेरा इसमें क्या बिगड़ता है। यह सोचकर वह चाणक्य के पीछे हो लिया। चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर नंद के किसी प्रबल शत्रु से जा मिला और किसी उपाय से नन्द का सकुटुम्ब नाश करके उस ने चन्द्रगुप्त को वहाँ का राजा बनाया। चन्द्रगुप्त ने बहुत काल तक राज्य करके अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्यदेकर चाणक्य के साथ दीक्षा ग्रहण की। बिन्दुसार भी अपने पुत्र अशोक को राज्य देकर महामुनि हुआ। अशोक के भी एक पुत्र का नाम कुनाल रखा गया। कुनाल की बाल्यावस्था थी, अभी वह पठन-पाठन में ही लगा हुआ था कि उसी समय राजा अशोक को अपने किसी शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये जाना पड़ा। जो मंत्री नगर में रह गया था, उसके नाम राजा ने एक आज्ञा लिख कर भेजी कि अध्यापक को चावल आदि दे उसे संतुष्ट कर कुमार को अच्छी तरह पढ़ाना। राजा का यह पत्र पढ़ने वाले ने इस प्रकार पढ़ा-"कुमार को अन्धा कर देना"।[1] राजा की आज्ञा जैसे पढ़ी गई वैसी ही काम में लाई गई। कुमार के नेत्र फोड़ दिये गये। थोड़े दिनों में शत्रु को जीत कर जब अशोक वापिस आया तब पुत्र की ऐसी दशा देखकर उसे बहुत शोक हुआ। थोड़े दिनों बाद कुनाल का विवाह किसी चन्द्रानना नाम की कन्या से कर दिया गया। जिससे एक चन्द्रगुप्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अशोक अपने पोते चन्द्रगुप्त को राज दे दीक्षित हुआ। अब अशोक के बाद चन्द्रगुप्त राज्य करने लगा। एक दिन नगर के बाहरी उद्यान में कोई अवधिज्ञानी मुनि पधारे। वनपाल ने राजा को मुनि के आने की खबर दी। राजा चन्द्रगुप्त मुनि को वन्दना करने के लिये उद्यान में आया। मुनि को नमस्कार करके उनके पास बैठ गया। धर्म श्रवण करने के बाद राजा ने मुनि से अपने पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने उसके पूर्व भवों का वर्णन कह सुनाया। चन्द्रगुप्त अपने पूर्वभव सुन-कर प्रसन्न हुआ और मुनिराज को नमस्कार करके अपने नगर में लौट आया। तथा सुख से राज्य करने लगा। एकदा रात्रि के समय इस चन्द्रगुप्त ने पिछले पहर में भविष्य में अनिष्टसूचक सोलह[2] स्वप्न देखे। इसके आगे सम्पूर्ण वही कथा लिखी है जो कि भद्रबाहु चरित्र में पायी जाती है। इस प्रकार पुण्याश्रव कथाकोष के अनुसार श्रवणबेलगोला के साथ जिस चन्द्रगुप्त का संबन्ध है वह अशोक का पितामह नहीं बल्कि उसका पोता है।

1. अध्यापयताम् के स्थान पर अंधाप्यताम् पढ़ लिया गया।
2. रामचन्द्रमुमुक्षु कृत पुण्याश्रव कथा कोष (नन्दिमित्र की कथा)

(१४) दिगम्बर जैनग्रंथ 'राजावली कथा' में भी यही कथा लिखी है। वहां पर भी विचाराधीन चंद्रगुप्त अशोक का पितामह न होकर उसका पौत्र है। वहाँ यह भी लिखा है कि चन्द्रगुप्त अपने पुत्र सिंहसेन को राज्य देकर भद्रबाहु के साथ जैनमुनि बन गया और दक्षिण की तरफ़ चला गया।[1]

हम जानते हैं कि मौर्यवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त का पुत्र सिंहसेन नहीं था अपितु बिन्दुसार था। अतः राजावली कथा के अनुसार भी अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के साथ श्रवण-बेलगोला का कोई सम्बन्ध नहीं था।

इस तरह हमने देखा कि दिगम्बर जैनग्रंथ पुण्याश्रव कथाकोष और राजावली कथा के अनुसार जिस चंद्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवण-बेलगोला मे जाकर अनशन करके स्वर्गपद प्राप्त किया था। वह अशोक का पौत्र तथा कुणाल का पुत्र है, न कि अशोक का पितामह।

दिगम्बर मत के भद्रबाहु चरित्र मे मुख्यतया आचार्य भद्रबाहु का इतिहास लिखा गया है। उस में इस बात के लिये कोई निर्देश नही है कि भद्रबाहु का शिष्य कौनसा चन्द्रगुप्त है। चंद्रगुप्त नाम के कई सम्राट हुए हैं। श्रवण-बेलगोला के शिलालेखों के सम्बन्ध मे भी यही बात है कि वे जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रवण-बेलगोला की अनुश्रुति को लेखबद्ध कर देते हैं। इससे अधिक ये कोई मदद नही करते।

श्वेतांबर जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि कृत परिशिष्टपर्व विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित मान्य प्रसिद्ध ग्रंथ है। जिसमे चंद्रगुप्त की मृत्यु तक का वर्णन किया गया है। परन्तु उसके साथ श्रुतकेवली भद्रबाहु और श्रवण-बेलगोला का कोई जिक्र नही है। दिगम्बर आराधना कथाकोष में भी चाणक्य की कथा अलग लिखी गई है। इन सब बातो को ध्यान मे रखकर क्या हम सुगमता से इस परिणाम पर नहीं पहुंच सकते कि—"मौर्यवंश के संस्थापक चंद्रगुप्त, प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु और श्रवण-बेलगोला का आपस मे कोई सम्बन्ध नही है। इन दिगम्बर कथाओं के अनुसार वह यह सम्बंध अशोक के पौत्र राजा चंद्रगुप्त के साथ है। श्रीयुत राईस ने इस कठिनाई का अनुभव किया था इसीलिये इस कठिनता से बचने के लिये उन्होने लिखा था कि दो चंद्रगुप्तों का लिया जाना प्राचीन अनुश्रुति में कुछ गड़बड़ का परिणाम है और जैनलेखकों ने भूल से चंद्रगुप्त जो वस्तुतः अशोक का पितामह था अशोक का पौत्र लिख दिया है।[2] परन्तु हम देखते है कि पुण्याश्रव कथाकोष में दोनों चन्द्रगुप्तों (अशोक के पितामह और पौत्र) का जिक्र करते हुए स्पष्ट लिखा है कि अशोक के पौत्र ने भद्रबाहु से दीक्षा ली और वह श्रवणबेलगोला गया।

जब हम यहाँ टिप्पणी नं० १५ में दिये गये श्रवणबेलगोला वाले शिलालेख पर दृष्टि डालते हैं तो उस से एक तीसरा मत स्पष्ट दिखलाई देता है, उसमें लिखा है कि—"गौतम गणधर के साक्षात् शिष्य लोहार्य, उनके शिष्य जम्बु, उनके शिष्य विष्णुदेव, उनके शिष्य अपराजित, उनके शिष्य गोवर्द्धन, उनके शिष्य भद्रबाहु [प्रथम], विशाख, पोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग,

1. Indian Antiquary Vol XXI में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त पर डा० फ्लीट का लेख देखिये।
2. Indian Antiquary XXI डा० फ्लीट का भद्रबाहु और चाणक्य विषयक लेख।

सिद्धार्थ, धृतसेन, बुद्धिल,[1] आदि गुरु परम्परा से क्रमशः अनेक महापुरुषों के पश्चात् [द्वितीय] भद्रबाहु स्वामी उज्जयनी में अष्टांग—महानिमित्त के ज्ञाता, त्रिकालदृष्टा से भविष्य में बारह वर्षीय दुष्काल पड़ेगा, ऐसा जानकर सर्वसंघ ने उत्तरापथ से दक्षिणापथ को प्रस्थान किया। वहाँ पहुंचकर तप समाधि आदि की आराधना करके स्वर्गस्थ हुए—इत्यादि।

दिगम्बर प्रभाचंद्र का भी इस शिलालेख में उल्लेख है।

इस शिलालेख में श्रुतकेवली भद्रबाहु [प्रथम] के बाद दिगंबर मुनि परम्परा की बीसियों मुनि पीढ़ियों के बाद भद्रबाहु [द्वितीय] जो निमित्तशास्त्र के पंडित थे, उनको बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने की आशंका से उत्तरापथ उज्जयनी नगरी से दक्षिणापथ जाने को लिखा है। और उन्होंने ही वहाँ अनशन करके स्वर्गपद को प्राप्त किया। इनका समय दिगम्बर विद्वान् ईसा की पाँचवी शताब्दी मानते हैं। पुनश्च पाठकों को यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इसी शिलालेख में श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी [प्रथम] का भी उल्लेख है। पर उन का दक्षिण जाने का कोई उल्लेख नहीं है।[2]

इस शिलालेख से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि श्रवणबेलगोला के शिलालेखों का सम्बन्ध न तो अशोक के पितामह चद्रगुप्त और श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम के साथ है और न हीं अशोक के पौत्र चंद्रगुप्त के साथ है। दूसरी बात यह है कि अशोक का पौत्र चंद्रगुप्त नाम का कोई व्यक्ति हुआ हो ऐसा उल्लेख दिगम्बर साहित्य के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। कोई-कोई विद्वान श्रवण-बेलगोला शिलालेखो को प्रमाणिक सिद्ध करने के लिये अशोक के पौत्र सम्राट सम्प्रति को ही चंद्रगुप्त द्वितीय मानकर इन शिलालेखों के मिलाने का अनुमान लगा बैठते हैं। यदि संप्रति और चंद्रगुप्त मोर्य द्वितीय को एक भी मान लिया जावे तो उसके समकालीन कोई भी भद्रबाहु नहीं हुए। इस बात के लिये श्वेतांबर और दिगम्बर दोनों एकमत हैं।

पाठकों की सुविधा के लिये हम यहाँ पर उपर्युक्त विवरण में दिगम्बर लेखकों के चंद्रगुप्त और भद्रबाहु के विषय में जो भिन्न-भिन्न मत दिये हैं उनका संक्षिप्त विवरण देते हैं जिस से हम जान पायेंगे कि इन में से सब लेखकों के मत आपस में बिल्कुल मेल नहीं खाते, इस विषय में सब के मत सर्वथा भिन्न हैं। और किसी में श्रुतकेवली भद्रबाहु तथा चंद्रगुप्तमौर्य का दक्षिण जाने का संकेत मात्र भी नहीं है।

(१) तिलोयपण्णत्ति—यतिवृषभ कृत (महावीर निर्वाण से ११वीं शताब्दी)।

में लिखा है कि—मुकुटधारियों में चद्रगुप्त ने अन्तिम जिनदीक्षा ली। तत्पश्चात् किसी ने जिन दीक्षा नहीं ली। १. इस में चद्रगुप्त के साथ मौर्य का उल्लेख नहीं है और न ही भद्रबाहु का इस में कोई उल्लेख है। यह ग्रंथ महावीर के निर्वाण के बाद ११ वीं शताब्दी में लिखा गया है। इतने अर्से में कई चन्द्रगुप्त राजा हो गये हैं। लेखक का यहाँ किस चंद्रगुप्त से आशय है इसे

1. बुद्धिल के बाद गंगदेव, धर्मसेन हुए, पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन, कंस, पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) ईस्वीसन् ४७२ लगभग (देखें दिगम्बर डा० विद्याधर जोहरापुरकर तथा डा० के०सी० कासलीवालकृत वीर शासन के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ १२,१७,४१।

2. देखें टिप्पणी नं० १५।

कोई स्पष्ट नहीं किया गया और यह कब हुआ, कहाँ का राजा था, किस जैनाचार्य का समकालीन था। इस का भी कोई निर्देश नहीं है।

(२) कथाकोष—हरिषेणकृत (महावीर निर्वाण से १५वीं शताब्दी में)

चन्द्रगुप्त उज्जैन का राजा भद्रबाहु से दीक्षा लेकर विशाखाचार्य के नाम से साधु होकर दक्षिण में पुलाटदेश को गया और स्वयं भद्रबाहु उज्जैनी के भद्रपद नामक स्थान पर गये और वहाँ कई दिनों का अनशन करके समाधि मरण किया। लेखक ने यहाँ उज्जैनी के चन्द्रगुप्त और विशाखाचार्य को एक बताया है और उसे दक्षिण जाने का लिखकर भद्रबाहु का उज्जैन में ही देहावसान होना लिखा है।

(३) भद्रबाहु चरित्र —रत्ननन्दीकृत—(हरिषेण से बाद)

उज्जैन के चंद्रगुप्त का दीक्षा लेकर भद्रबाहु के साथ पांच सौ मुनियों के साथ दक्षिण जाना और विशाखाचार्य का भद्रबाहु का पट्टधर होकर उनके साथ न जाने का उल्लेख है। लेखक ने यहाँ पर उज्जैन का राजा चन्द्रगुप्त मुनि और विशाखाचार्य दोनों भिन्न बतलाये हैं।

(४) मुनिवंशाभ्युदय —दिगम्बरी चिदानन्दकृत (रत्ननन्दी से बाद)

श्रुतकेवली भद्रबाहु श्रवणबेलगोला दक्षिण में गये और व्याघ्र ने उन पर आघात करके उनका शरीर विदारण कर दिया। लेखक ने इस में श्रुतकेवली भद्रबाहु की मृत्यु व्याघ्र के आघात से बतलाई है।

(५) पुण्याश्रव कथाकोष मुमुक्षु रामचन्द्र के (चिदानन्द के बाद)

अशोक का पोता चन्द्रगुप्त मौर्य भद्रबाहु के साथ दीक्षा लेकर दक्षिण गया।

(६) राजावली कथा—

अशोक का पोता चन्द्रगुप्त अपने पुत्र सिंहसेन को राज्य देकर भद्रबाहु के साथ मुनि बन कर दक्षिण गया।

अपरंच दिगम्बर साहित्य तथा श्रवणबेलगोला के शिलालेख यह मानते हैं कि चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु उज्जैन से श्रवणबेलगोला गये थे तथापि वे उसका सम्बन्ध मौर्यराज्य संस्थापक चन्द्रगुप्त तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु प्रथम जिन्होंने मूल जैनागमों[1] पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं उनके साथ जोड़ते हैं, और इसी बात का अनुकरण करते हुए पाश्चात्य विद्वान तथा शोधकर्ता आधुनिक भारतीय विद्वान भी इसी मत का समर्थन करते हैं। इसलिए इस पर कुछ विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

अतः इतिहास से यह मान्यता निःसंदेह सर्वथा असत्य प्रतीत होती है।[2] श्रुतकेवली भद्रबाहु का देवलोक पट्टावलियों में दी गई आचार्य परम्परा की क्रमशः कालगणना के हिसाब से महावीर के १७० वर्ष बाद (ई० पू० ३५७), दिगम्बरमत के अनुसार महावीर के १६२ वर्ष बाद में हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण महावीर के २०५ वर्ष बाद (ई० पू० ३२२) और देहांत

---

1. मूल जैनागम जो विद्यमान हैं इन्हें दिगम्बरों ने एकान्त नग्नत्व की मान्यता के कारण मानना छोड़ दिया है और श्वेतांबर जैन महावीर के काल से लेकर आज तक इन्हें बराबर मानते हैं। उनपर उपर्युक्त निर्युक्तियाँ भी श्वेतांबर बराबर मानते चले आ रहे हैं।

2 दिगम्बराचार्य हरिषेण ने श्रुतकेवली भद्रबाहु का उज्जैन के समीप स्वर्गवास बतलाया है।

वीरात् २२६-३० (ई० पू० २६८) में हुआ। इसका राज्यकाल २४ वर्ष रहा। अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य के देहांत से श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास लगभग ६० वर्ष और दिगम्बर मत के अनुसार ६८ वर्ष पहले हो गया था। इसलिए इन दोनों का परस्पर गुरुशिष्य सम्बन्ध, दोनों का श्रवण-बेलगोला जाना और वहाँ दोनों का अनशन करके स्वर्गगमन करना ये सब बातें कल्पित मात्र सिद्ध होती हैं। जान पड़ता है कि दिगम्बरों ने अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ही यह असफल प्रयत्न किया है।

दिगम्बर डा० जगदीशचन्द्र जैन भगवान महावीर नामक पुस्तक में लिखता है कि दिगम्बर संप्रदाय में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश हो गया था ऐसी मान्यता है; पर इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

हमारे इस मत की पुष्टि दिगम्बरों के माने हुए विद्वान वैशाली विश्वविद्यालय के कुलपति स्व० डा० हीरालाल जी जैन M. A. D. Litt अमरावतीवाले भी करते हैं। वे लिखते हैं कि :—

"दिगम्बर जैनों के ग्रन्थों के अनुसार भद्रबाहु का आचार्यपद वीर निर्वाण संवत् १३३ से १६२ तक २६ वर्ष रहा। प्रचलित वीर निर्वाण संवत् के अनुसार ईसा पूर्व ३६४ से ३६५ तक पड़ता है। तथा इतिहासानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य ईसा पूर्व ३२१ से २६८ तक माना जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के (स्वर्गवास) काल में ६७ वर्षों का अन्तर है।[1]

विक्रम की दूसरी शताब्दी (वि० सं० १३६) में जैनों के श्वेतांबर—दिगम्बर दो भेद हुए। इससे पहले इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मास्वामी, जम्बुस्वामी को दोनों सम्प्रदाय वाले समान रूपसे मानते हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहु भी दोनों सम्प्रदायों के लिए समान रूपसे पूज्य और मान्य हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा सम्राट जैनमुनि की दीक्षा ले यह तो वास्तव में बड़े गौरव की बात है। परन्तु जो घटना बनी ही न हो उसे केवल धर्म की महत्ता बढ़ाने के लिए और पंथ की प्राचीनता बताने के लिए ही मान लेना कदापि न्यायसंगत नहीं हो सकता।

जैनइतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य का जैनत्व, मंत्री चाणक्य की जैनमुनि की दीक्षा तथा तत्कालीन दीक्षाओं आदि के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यदि मौर्यराज्य संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने दीक्षा ली होती तो उसका उल्लेख भी अवश्य मिलता परन्तु पुराणों, बौद्धग्रन्थों तथा कथासरित-सागर में भी इसका कोई वर्णन नहीं है अतः यह बात निःसंदेह है कि अशोकमौर्य के पितामह चन्द्रगुप्त और श्रुतकेवली भद्रबाहु का इस घटना के साथ बिल्कुल संबंध नहीं बैठता। श्वेतांबरजैन साहित्य भी १२ वर्षीय दुष्काल के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु का नेपाल में जाकर महाप्राणायाम साधना करने का उल्लेख करता है।

हम लिख आए हैं कि निमित्त-शास्त्रज्ञ भद्रबाहु द्वितीय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं, उनका विहार उज्जयनी में भी हुआ है। उस समय गुप्तवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त जो विक्रमादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध था। वह भी वि० सं० ४५६ में उज्जैनी का राजा था। श्रवणबेल-गोला के शिलालेखों के अनुसार इसी द्वितीय चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु द्वितीय का समय समकालीन

1. माणकचन्द्र जैनग्रंथमाला बम्बई का जैनशिलालेख संग्रह पृ० ६३,६४,६६

होने से और यह राजा उज्जयनी का होने से संभव है कि इस घटना का संबंध इन दोनों के साथ जोड़ा गया हो। उपर्युक्त विवेचन से यह बात तो निर्विवाद है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य राज्य संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बंध का मतव्य जैनसाहित्य और श्रवणबेलगोला के शिलालेखों से सिद्ध नही हो सकता। यदि इन शिलालेखों में चन्द्रगुप्त नाम के किसी राजा का किसी भद्रबाहु के साथ दक्षिण में जाना और चंद्रगिरि पर रहकर प्राणत्याग करना संभव हो तो वे किस समय हुए, इसकी खोज अवश्य होनी चाहिए। उपर्युक्त दिगम्बर मत के ग्रंथों में महाराजा चंद्रगुप्त और श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के संबंध में कोई उल्लेख नही हैं और न ही दोनों का बारहवर्षीय दुष्काल के समय दक्षिण जाने का उल्लेख है। मौर्य साम्राज्य के इतिहासकार सत्यकेतु विद्यालंकार ने चंद्रगुप्त मौर्य का देहावसान मगध में लिखा है।

मंत्री चाणक्य और जैनधर्म

हम लिख आये हैं कि महामंत्री चाणक्य ब्राह्मण था। इसके माता-पिता एवं वह स्वयं तथा इसका सारा परिवार जैनधर्मानुयायी था। यह तक्षशिला का निवासी था और तक्षशिला विश्वविद्यालय मे ही इसने शिक्षा प्राप्त की थी। यह चंद्रगुप्त मौर्य का मंत्री था। चंद्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसके पुत्र बिंदुसार का भी यह मंत्री था। बाद में इसने जैनमुनि की दीक्षा ग्रहण की और संलेखनापूर्वक मृत्यु पाकर स्वर्ग को गया।[1]

चंद्रगुप्त मौर्य और चाणक्य इन दोनों राजनीतिक विभूतियों की सर्वोपरि विशेषता यह थी कि उन्होने व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को राजनीति एवं प्रशासन से सर्वथा अलग रखा। एक शस्त्र वीर क्षत्रीय था तो दूसरा शास्त्रवीर ब्राह्मण। एक विशाल साम्राज्य के सम्राट एवं प्रधानामात्य के रूप में उन दोनो का समस्त लोक व्यवहार पूर्णतया व्यवहारिक, नीतिपूर्ण, सर्वधर्म-सहिष्णुता एवं धर्मनिरपेक्ष था। साम्राज्य का उत्कर्ष, प्रतिष्ठा और प्रजा का हित तथा मगल—जैसे बने वैसे सम्पादन करना ही उनका एक मात्र ध्येय था।

२-बिन्दुसार मौर्य

सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य का पुत्र बिंदुसार था। युनानी लेखको ने इसका एमिट्रोचेटिस के नाम से उल्लेख किया है। ईस्वी पूर्व २९८ में यह सिंहासनारूढ़ हुआ और लगभग २५ वर्ष तक अपने पिता के विशाल राज्य पर राज किया। यह भी अपने माता-पिता के समान ही जैनधर्मानुयायी था। बौद्धग्रंथ दिव्यावदान में इस प्रतापी मौर्य को क्षत्रीय मूर्धाभिषिक्त कहा है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने इसे सोलह राजधानियों एवं उनके मन्त्रियो का उच्छेद करनेवाला बतलाया है। सम्पूर्ण भारतवर्ष मे इसका निष्कटक अधिपत्य था। ईसा पूर्व २७३ के लगभग इसका देहांत हुआ।

इनके राज्यकाल में जिन्सों के भाव इस प्रकार थे—

मासिक वेतन २ पैसा से ५ पैसा। धान, गेहू, अन्न एक पैसे का ३० सेर। घी २ सेर १ पैसे का। तेल ७॥ सेर एक पैसे का। दूध ३२ सेर एक पैसे का। गाय ३२ पैसे की। बछड़ा ४ पैसे का। बैल ६ पैसे का। भैंस ८ पैसे की। घोडा १५ पैसे का। एक माशा सोना १ पैसे का। दासी ३५ पैसे की। हाथी ४०० पैसे का। कांस्यपात्र तथा बैल का दाम समान।

1. देखें आचार्य हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व।

३-अशोक मौर्य महान्

अशोक बिंदुसार का पुत्र तथा चंद्रगुप्त का पौत्र था। पिता की मृत्यु के बाद ईसा पूर्व २७२ से २३२ तक ४० वर्ष राज्य किया। काश्मीर इसके राज्य में शामिल हो चुका था। कलिंग विजय के बाद इसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। इसने भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर स्तूपों का निर्माण कराया और उनपर धर्मलेख खुदवाये। सारे विश्व में इसने बुद्धधर्म का प्रचार किया। इसकी गिनती विश्व के महान सम्राटों में की जाती है। इसके धर्मलेखों का भाव और तद्गत विचार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के अधिक निकट हैं।

कुछ विद्वानों के मतानुसार इसका कुलधर्म जैन था। इसलिए अशोक स्वयं भी यदि पूरे जीवन भर नहीं तो कम से कम उसके पूर्वार्ध तक अवश्य जैन था।

४-अशोक का पुत्र कुणाल मौर्य

यह राजकुमार शीलवान तथा सदाचारी था। एक पत्नी व्रती तथा दृढ़ जैनधर्मी था। स्वभावतः वह सरल, उत्तम स्वभावी तथा माता-पिता का परम आज्ञाकारी था। कुणाल का कुलधर्म तो जैन था ही; उसकी माता और पत्नी भी परम जिनभक्त थीं। अशोक कुणाल को बहुत चाहता था। इसकी विमाता ने षडयंत्र करके इसे अन्धा करवा दिया था। कुणाल के अन्धा हो जाने के कारण इसके पुत्र सम्प्रति को अशोक ने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। अशोक के जीवन के अन्तिम कई वर्षों में तो समस्त राज्यकार्य युवराज कुणाल की आज्ञा से ही संचालन होता था और अशोक की मृत्यु के बाद कुणाल ही राज्य का अधिकारी हुआ। परन्तु कुणाल नेत्रहीन होने से उसका पुत्र सम्प्रति ही पिता के नाम से राज्य कार्य का संचालन करता रहा। युवराज सम्प्रति इस्वी पूर्व लगभग २४२ से स्वतंत्र रूप से सिंहासनासीन हुआ। अशोक ने अपने बड़े पौत्र दशरथ को पाटलीपुत्र का राज्य दिया और सम्प्रति को अपने उत्तराधिकारी के रूप में सम्राट का पद देकर उज्जयनी को उसकी राजधानी बनाया। स्वतंत्र रूप से सिंहासनारूढ़ होने से लगभग १० वर्ष पूर्व से ही राज्यकार्य का वस्तुतः सम्प्रति ही संचालन कर रहा था। पहले वृद्ध पितामह अशोक के अंतिम वर्षों में, अपने पिता युवराज कुणाल के काल में, तदनन्तर अशोक की मृत्यु के उपरांत महाराजा कुणाल के प्रनिनिधि के रूप में राज्य संचालन करता रहा। यद्यपि अशोक ने दशरथ को अपने साम्राज्य का पूर्वोत्तरीय भाग का राज्य दिया और उसकी राजधानी पाटलीपुत्र स्थापित की तथापि वह साम्राज्य के अंतर्गत सम्राट सम्प्रति के अधीन रहा। परन्तु वास्तव में उसका राज्य तो स्वतंत्र ही रहा। यही कारण है कि अशोक की मृत्यु के बाद हम दशरथ को पाटलीपुत्र और सम्प्रति को उज्जयनी में राज्य करते पाते हैं।

चंद्रगुप्त मौर्य ने ईस्वी पूर्व ३२२ से २९८ अर्थात् २४ वर्ष तक पश्चात् उसके पुत्र बिन्दुसार ने २९८ से २७३ ईस्वी पूर्व तक २५ वर्ष, पश्चात् उसके पुत्र अशोक ने २७२ से २३२ ईसा पूर्व तक ४० वर्ष, पश्चात् उसके पुत्र कुणाल ने ई० पु० २३२ से २२४ तक ८ वर्ष (कुणाल ने सम्प्रति की सहायता से), पश्चात् उस के पुत्र सम्प्रति ने ईसा पूर्व २२४ से १८४ तक ४० वर्ष राज्य किया।

५-परमार्हत् सम्राट सम्प्रति मौर्य

हम लिख आये हैं कि सम्प्रति अशोक के समय में ही युवराज था। सम्राट कुणाल अंधा

था इस लिए इसका शासनसूत्र भी सम्प्रति के हाथ में था। दशरथ के समय में भी वही वास्तविक शासक रहा। यही कारण है कि अनेक ग्रंथों में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखा है।[1]

जैनसाहित्य में भी अशोक के बाद सम्प्रति को ही राजा बनने का उल्लेख है।[2] अपने पितामह अशोक के समान ही सम्प्रति एक महान प्रजावत्सल, शांतिप्रिय एवं प्रतापी, साहसी, धीर-वीर और धर्मनिष्ठ सम्राट था। अवंति के श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी नगरसेठ की पुत्री सरस्वती से कुणाल का विवाह हुआ था, उसकी कुक्षी से सम्प्रति का जन्म ईसा पूर्व २५७ में हुआ। ईसा पूर्व २४० में अवन्ति में ही १६ वर्ष की युवावस्था में जैन श्वेताम्बर संघ के निर्ग्रंथगच्छ के नेता आचार्य आर्य सुहस्ति[3] ने इसे प्रतिबोधित कर जैनश्रावक के सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों से संस्कारित कर दृढ़ जैनधर्मी बनाया। इस प्रकार इस महान् सम्राट को अपने धर्मगुरु तथा माता-पिता से जैनधर्म के संस्कार, भद्र एवं सौम्य प्रकृति मिले थे जिससे इसने एक आदर्श जैननरेश की भांति अपना जीवन व्यतीत करने मे सफलता प्राप्त की थी। सम्प्रति का पारिवारिक जीवन भी सुखी और धर्मपरायण था। श्वेतांबर जैनसाहित्य के १-परिशिष्ट पर्व

1. Cowell and Neil Divyavadan P. 433
2. परिशिष्ट पर्व अध्याय ११
3. जैनश्रुति के अनुसार सम्प्रति पूर्वजन्म में अत्यन्त दुःखी भिखारी था। एक बार दुष्काल के कारण प्रजा को अपने परिवारों के पालन-पोषण के लिये लाले पड़ गये, तो भिखारियों को खाने-पीने को कौन देता? यह भिखारी भी सारा दिन गली-गली, कूचे-कूचे भीख के लिये भटकता फिरता, परन्तु इसे पेट की ज्वाला बुझाने केलिये भीख न मिलती। एकदा आचार्य आर्यसुहस्ति भिक्षार्थ इस नगर मे आये। एक सेठ के घर भिक्षा के लिये गये। सेठानी ने बड़े श्रद्धा और भावभक्ति से गुरुदेव को आहार दिया और लड्डू लेने के लिये भी अत्यन्त आग्रह करने लगी। परन्तु निस्पृह गुरुदेव के मना करने पर भी उसने इनके पात्र मे लड्डु दे ही दिये। भिखारी यह सारा दृष्य गली में खड़े होकर मकान की खिड़की को झांक कर देख रहा था। आहार लेकर जब गुरु महाराज मकान से बाहर आये तो यह भिखारी भी उनके पीछे-पीछे हो लिया और उनके साथ उनके निवासस्थान (उपाश्रय) मे पहुंचकर खाने के लिये लड्डु मांगने लगा। गुरुदेव ने अपने ज्ञान से जाना कि यह कोई तरनहारजीव है, इसलिये इन्होंने इसे कहा कि तुम भी हमारे जैसे जैनसाधु बन जाओ, तो हम तुम्हें भरपेट खाने को लड्डु देंगे। भिखारी ने तुरंत जैनसाधु की दीक्षा ग्रहण की और गुरुदेव ने उसे भरपेट लड्डु खाने के लिये दिये। उसने इतना खाया कि उसे असाध्य अजीर्णरोग हो गया। तब बड़े बड़े समृद्धिशाली जैनगृहस्थ इस नवदीक्षित साधु की सेवाशुश्रूषा के लिये उपाश्रय में आ पहुंचे। अनेक उपचार करने पर भी वह रोगमुक्त न हो पाया। रोगी मन मे सोचता है कि धन्य है यह संयमधर्म-जैनसाधु का मार्ग। मैंने तो इसे आत्मकल्याण के लिये श्रद्धा से नहीं अपनाया, किन्तु भूख मिटाने के लिये ही अपनाया है तोभी इस ब्रह्मचरित्र के प्रभाव से मेरी इतनी सेवा-शुश्रूषा हो रही है। यदि मैं चंगा हो गया तो जीवन पर्यन्त इसका अपनी आत्मा के कल्याण के लिये निरतिचार पालन करूंगा। इस उत्तम भावना के साथ इस की मृत्यु हो गई। शुद्ध भावना के प्रताप से उपार्जित पुण्यकर्म के प्रभाव से यह मरकर इस जन्म में सम्राट संप्रति बना।

एकदा आचार्य आर्य सुहस्ति उज्जयनी में पधारे। संप्रति को गुरुदेव को देखते ही जातिस्मरण ज्ञान (पहले जन्म का ज्ञान) हो गया और अपने पूर्वजन्म के उपकारी इस गुरुदेव के उपकार से उऋण होने के लिये उन्हें अपना धर्मगुरु स्वीकार कर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर परमार्हत बना।

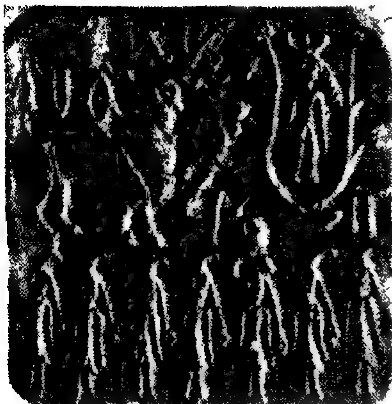


सम्राट् अशोक मौर्य सम्राट् सम्प्रति मौर्य

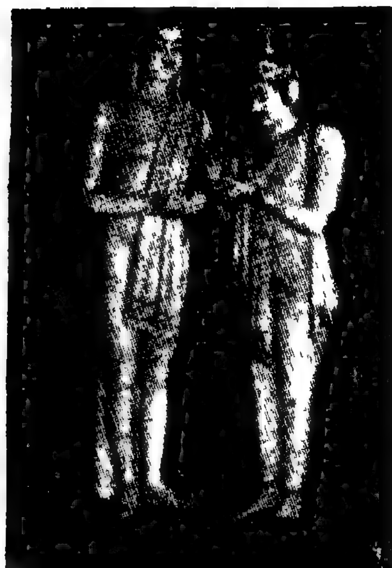


आचार्य हेमचन्द्र सूरि महाराजा कुमारपाल सोलंकी

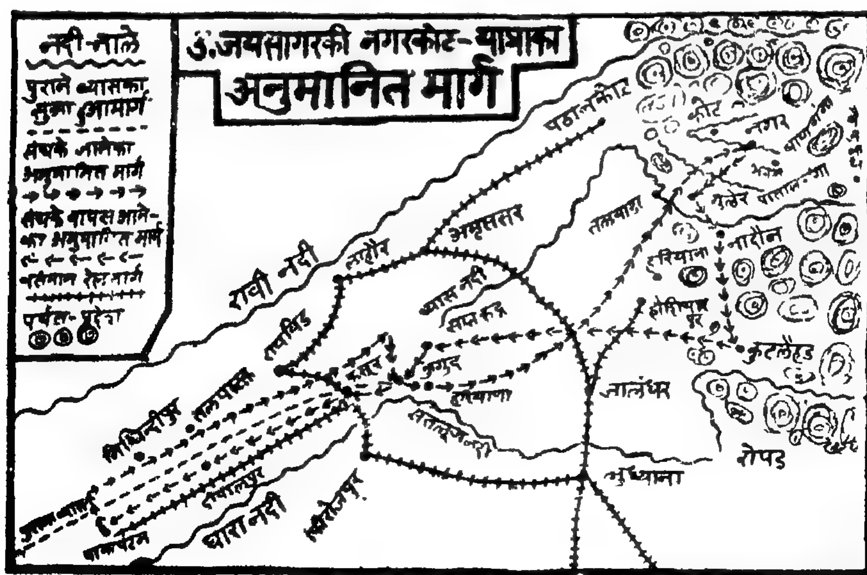
मोहन जोदड़ो से प्राप्त महत् ऋषभ की मूर्तियों वाला पट्ट



श्री ऋषभदेव का वर्षीय तप का श्री हस्तिनापुर में पारणा



विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में कांगड़ा के यात्रा संघ का मार्ग



२-प्रभावक चरित्र, ३-सम्प्रति कथा आदि अनेक ग्रंथों में इस सम्राट के बड़े प्रशंसनीय वर्णन पाये जाते हैं।

जिनेन्द्रदेव की भक्ति, जैन श्रमण-श्रमणियों की सेवा-शुश्रूषा-सम्मान, श्रावक-श्राविकाओं का साधर्मीवात्सल्य, दीन-अनाथों की अनुकम्पा तथा उनकी सार-संभाल, जैनमंदिरों, जिन-प्रतिमाओं, स्तूपों-स्मारकों का निर्माण, जीर्ण-शीर्ण मंदिरों का जीर्णोद्धार (मरम्मत व पुनर्निर्माण) जैनधर्म की प्रभावना-प्रचार-प्रसार के लिये उसे श्रावकोत्तम श्रेणिक बिम्बसार की कोटि से भी अधिक कोटि में रखा जा सकता है और सर्व महान् जैननरेशों में इसकी गणना की जाती है। वास्तव में बौद्ध अनुश्रुति में बुद्धधर्म के लिये अशोक ने जो कुछ किया बतलाते हैं, जैन अनुश्रुति में जैनधर्म केलिये सम्प्रति ने उससे कुछ अधिक ही किया बताया जाता है।

सम्प्रति ने अपने आधीन सब राजाओं, सामंतों आदि को आदेश दिया था कि - "यदि तुम लोग मुझे स्वामी मानते हो तो अपने राज्यों मे भी जैनमंदिरों में मेरे राज्य के समान अट्ठाई महोत्सव करो। सुविहित जैनश्रमणों को नमन करो, अपने देशों में जैनसाधुओं को सब प्रकार की विहार में सुविधाएं दो। स्वयं जैनधर्म स्वीकार करो और अपनी प्रजा को भी जैनधर्मी बनाओ। मुझे तुम्हारे धन भंडार की जरूरत नही है। क्योंकि मैं संतोषी और प्रभुभक्त हूं। अवन्ती की आमदनी से मुझे संतोष है। अतः उपर्युक्त कार्यों में मुझे सहयोग दो, ऐसे कार्यों से ही मुझे खुश कर पाओगे। मुझे तो यही प्रिय है" (निशीथचूर्णी) वीसेण्ट स्मिथ के अनुसार सम्प्रति ने अरब, तुर्किस्तान आदि यवन देशों मे भी जैनसंस्कृति के केन्द्र अथवा संस्थान स्थापित किये थे। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट-पर्व प्रभृति जैनग्रंथों के आधार से प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार का कहना है कि एक रात्रि में सम्प्रति के मन में यह विचार आया कि अनार्य देशों में भी जैनधर्म का प्रचार हो और जैनसाधु-साध्वियाँ स्वतन्त्र-स्वच्छद रीति से सब देशों में विचरण करके सदा जैनधर्म का प्रचार व प्रसार कर सकें। इसलिये उसने अनार्य देशों में भी जैन प्रचा-रकों, जैनसाधुओं को जैनधर्म के प्रचार के लिये भेजा। साधुओं ने राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही वहाँ की जनता को जैनधर्म और जैन-आचार-विचारों का अनुयायी बना दिया (अनार्य देशों को भी आर्य देश[1] बना लिया)।

सम्प्रति ने अपने सारे राज्य में सवा लाख (१२५०००) नये जैनमंदिरों का निर्माण कराया। सवा लाख (१२५०००) जैनतीर्थंकरो की नई प्रतिमाएं बनवाकर मंदिरों में स्थापित कराईं।[2] तेरह हजार (१३०००) पुराने जैनमंदिरो का जीर्णोद्धार (नवनिर्माण तथा मुरम्मत)

1. हम लिख आये हैं कि भगवान महावीर से लेकर सम्प्रति के समय तक भारत में २५॥ आर्य देश थे (जहां पर जैनधर्म का सर्वाधिक प्रभाव था)। परन्तु आर्य देशों की सीमाएं समय समय पर बदलती रहती हैं, एक समान नही रहती। समय पाकर आर्यदेश अनार्य हो जाते हैं और अनार्यदेश आर्य हो जाते हैं। जबकि सिन्धु-सौविर, गांधार और कैकय आदि प्राचीन काल मे आर्यदेश थे किन्तु पाकिस्तान बनने पर अनार्य देश हो गये। भगवान महावीर के समय के बाद सम्प्रति के प्रचार से आंध्र द्रविड, कुडुक (कुर्ग) महाराष्ट्र आदि अनेक देशों को जैन श्रमण-श्रमणियों के सुखपूर्वक विहार करने के योग्य बन जाने से ये सब आर्य देश हो गये।

2. सम्प्रति द्वारा स्थापित जिनप्रतिमाएं आज भी सर्वत्र पाई जाती हैं। जिन पर इस सम्राट ने अपना नाम अपनी कीर्ति से बचने के लिये अंकित नही कराया।

कराया। सर्वसाधारण प्रजा केलिये सात सौ (७००) दानशालाएं स्थापित कीं। सातों क्षेत्रों (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, मंदिर, मूर्ति और जैनप्रवचन-श्रुतज्ञान) को पुष्ट बनाया। अनार्य देशों में भी धर्मोपदेशक भेजकर जैनधर्म का व्यापक प्रचार किया। सर्वसाधारण प्रजा के लिये दो हजार धर्मशालाओं, ग्यारह हजार बावड़ियों, तथा कुओं का निर्माण कराया।

आचार्य आर्य सुहस्ति (सम्राट् सम्प्रति के धर्मगुरु) वीर सं० २९१ (ई० पू० २३६) में स्वर्गस्थ हुए। आर्य सुहस्ति की एक सौ वर्ष की आयु थी।

प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का कथन है कि सम्प्रति के समय में उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में भी जैनधर्म के प्रचारक भेजे गये और वहां जैन-श्रमणों केलिये अनेक विहार (मंदिर उपाश्रय आदि) स्थापित किये गए। अशोक और संप्रति दोनों के कार्यों से भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति बन गई और आर्यावर्त की सीमाओं से बाहर तक पहुंच गई। इसने असूर्यम्पश्या राजरानियों, राजकुमारियों, राजकुमारों और सामंतों को भी जैनश्रमण-श्रमणियों के वेश में दूर-दूर देशों में विहार कराकर चीन, ब्रह्मा, सीलोन (लंका) अफ़ग़ानिस्तान, काबुल, बिलोचिस्तान, नेपाल, भूतान, तुर्किस्तान आदि में भी जैनधर्म का प्रचार कराया। (अपने देश भारत में तो इसका साम्राज्य था ही)[1]

कई विद्वानों का यह भी मत है कि अशोक के नाम से प्रचलित शिलालेखों में से अनेक सम्राट सम्प्रति द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हो सकते हैं। अशोक को अपने पौत्र से अनन्य स्नेह था, अतएव जिन अभिलेखों में **'देवानां पियस्स पियदंस्सिन लाजा'** (देवताओं के प्रिय प्रियदर्शिन राजा) द्वारा उनके अंकित कराये जाने का उल्लेख है; वे अशोक के न होकर सम्प्रति के होने चाहिये। ऐसा अधिक संभव है। क्योंकि **'देवानां प्रिय'** तो अशोक की स्वयं की उपाधि थी। अतएव सम्प्रति ने अपने लिये **'देवानां प्रियस्य प्रियदर्शिन**[2]**'** उपाधि का प्रयोग किया है। विशेषकर जो अभिलेख **जीव हिंसा-निषेध और धर्मोत्सवों से सम्बन्धित हैं**; उनका सम्बन्ध सम्प्रति से जोड़ा जाता है।

इस नरेश द्वारा धर्मराज्य के सर्वोच्च आदर्शों के अनुरूप एक सदाचारपूर्ण राज्य स्थापित करने के प्रयत्नों केलिये इस राजर्षि की तुलना गौरव के उच्च शिखर पर आसीन **इसराईल सम्राट दाऊद और सुलेमान** के साथ; और धर्मको क्षुद्र स्थानीय सम्प्रदाय की स्थिति से उठाकर विश्वधर्म बनाने के प्रयास केलिये **ईसाई सम्राट कान्स्टेंटाइन** के साथ की जाती है। अपने दार्शनिक एवं पवित्र विचारों केलिये इसकी तुलना **रोमन सम्राट मार्शलन** के साथ की जाती है। इसकी सीधी सरल पुनरोक्तियों से पूर्ण विज्ञप्तियों में **क्रमावेल की शैली** ध्वनित होती है। एवं अन्य अनेक बातों में वह **खलीफ़ा अमर और अकबर महान** की याद दिलाता है। विश्व के सर्वकालीन महान

1. बृहत्कल्प सूत्र उ० १ निर्युक्ति गाथा ३२७५-८९।
2. बौद्धों के समान जैनस्तूपों की भी जैनधर्म के अनुयायियों ने स्थापनाएं की हैं, जैसे मथुरा का सुपार्श्वनाथ का स्तूप, हस्तिनापुर तक्षशिला आदि के जैनस्तूप। पर खेद का विषय है कि पुरातत्त्ववेत्ताओं की अनभिज्ञता के कारण इन को बौद्धस्तूप मान कर जैनइतिहास के साथ खिलवाड़ की गई है। इस भूल का एक कारण यह भी है कि हुएनसाग आदि चीनी बौद्ध यात्रियों ने या तो अज्ञानतावश अथवा बुद्धधर्म के दृष्टिराग से जहां भी कोई स्तूप देखा उसे झट अशोक स्तूप लिख दिया, फिर वह किसी भी धर्म सम्प्रदाय का क्यों न हो। उन्हीं का अनुकरण करते हुए बिना सूक्ष्म निरीक्षण किये आज के पुरातत्त्ववेत्ता भी भूल का शिकार हो रहे हैं।

नरेन्द्रों की कोटि में इस प्रकार परिमित यह भारतीय सम्राट चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति अथवा दादा-पोता दोनों ही, संयुक्त या समान रूप से भारतीय इतिहास के गौरव रूप हैं और रहेंगे। जैनधर्म के साथ इन दोनों का ही निकट और घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यदि हम सम्प्रति को जीवन पर्यन्त जैनधर्म का उत्साही भक्त मानते हैं तो अशोक को भी अजैन तो कह ही नहीं सकते। पुरातत्त्व सामग्री में उत्कीर्ण लेख १, मुद्राएं २, स्मारक ३. आदि प्राचीन सत्य इतिहास के परिशीलन में बहुत ही उपयोगी हैं। (१) उत्कीर्ण लेखों में (क) शिलालेख, (ख) प्रतिमालेख, (ग) स्तम्भलेख (घ) ताम्रपत्रलेख, (ङ) प्रशान्तिलेख आदि का समावेश है।

उत्कीर्ण लेख-फ्लीट (Fleet) के कथनानुसार उत्कीर्ण लेखों (Inscription) के गंभीर निरीक्षण से ही प्राचीन भारत के इतिहास का ज्ञान मुख्य रूप से प्राप्त किया गया है। इनके बिना ऐतिहासिक घटनाएं तथा तिथियां निश्चित न हो पातीं। और जो सामग्री हमें परम्परा, साहित्य, मुद्राओं, कलाओं, भवनों या अन्य किसी साधन से प्राप्त होती है, सब इतिहास को क्रमबद्ध करती हैं[1]। ये लेख भारत के विभिन्न विभागों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे लेख स्तम्भों, शिलाओं, गुफाओं पर ही नही अपितु मुद्राओं, मूर्तियों, प्रस्तरों, ताम्रपत्रों तथा अन्य धातुओं पर भी मिलते हैं।

(२) मुद्राएं—अथवा सिक्के प्राचीन इतिहास का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है। बहुत अधिक संख्या में प्राचीन राजाओं, महाराजाओं के सोने चाँदी, ताँबे तथा मिश्रित धातुओं के सिक्के प्राप्त हुए हैं। उन पर प्रायः राजाओं के नाम, उनकी मूर्तियाँ, तिथियाँ और कुछ एक देवताओं, पशु-पक्षियों के चित्र अंकित हैं। अथवा धर्मचिन्ह आदि अंकित होते हैं। जो इन राजाओं के वंश-वृक्ष, महान्‌कार्य, शासनप्रबन्ध, राजनैतिक व धार्मिक विचार जानने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

यहाँ पर हम सम्राट् सम्प्रति के सिक्कों का संक्षिप्त परिचय देते हैं जो उसके धार्मिक विचार जानने के लिये उपयोगी हैं।

संप्रति के सिक्कों में एक तरफ ऊपर नीचे[2] शब्द लिखे हैं तथा दूसरी तरफ[3] चिन्ह अंकित हैं। किसी सिक्के में[4] चिन्ह भी मिलता है। ये सिक्के और उनपर अंकित चिन्ह सम्प्रति के राज्य शासन में उसकी आस्था पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। सामान्यतया मौर्य सिक्कों पर ऊपर नीचे[5] शब्द अंकित हैं और दूसरी तरफ[6] अथवा[7] चिन्ह है। जैन श्रावक-श्राविकाएं हमेशा जैनमंदिर में प्रभु के सामने चावलों से ऐसे चिन्ह बनाते हैं[8]। इन चिन्हों से सम्प्रति सम्राट् का जैनधर्मी होना स्पष्ट है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति का शासनकाल पचास वर्ष रहा। तिब्बती तारानाथ ५४ वर्ष मानता है। ऐसा लगता है कि उसने लगभग ४० वर्ष स्वतंत्र राज्य किया और लगभग

---

1. It is almost entirely from a patient examination of the inscriptions that our knowledge of ancient political history of India has been derived. Hardly any definite dates and identification can be established except from them. And they regulate every thing that we can learn from the tradition, literature, coins, art, architecture or any other source. (Fleet)

2. सम्प / दी   3. ∴   4. 卐   5. मौ / र्यो   6. ∴   7. 卐

8. माडर्न रिव्यू सन् ईस्वी १६३४ जून का अंक पृष्ठ ६४७।

१० वर्ष अपने पितामह और पिता के शासन में सहयोग दिया था। लगभग ६८ वर्ष की आयु में इस धर्मात्मा जैननरेश का देहावसान हो गया।

इसने अपने अंध पिता कुणाल के लिये तक्षशिला में एक जैनमंदिर का निर्माण भी कराया था जो आज कुणाल-स्तूप के नाम से प्रसिद्ध है। इसी पर से तक्षशिला का नाम कुणालदेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुणाल तक्षशिला में निवास करता था इसलिये उसकी धर्मोपासना केलिये सम्प्रति ने इस मंदिर का निर्माण कराया था। सम्प्रति ने अपने स्वभुजबल से तीनखंड साधे। आठ हजार राजा इसके अधीन थे। इसकी सेना में पचास हजार हाथी, एक करोड़ घोड़े, नौ करोड़ रथ और सात करोड़ पैदल सेना यह इसकी चतुरंगिनी सेना थी। कुणाल के स्थान पर पुराणों में सुयश नाम मिलता है। यह उसका विरुद (खिताब) होना चाहिये। उसने आठ वर्ष तक राज्य किया ऐसा पुराणों में लिखा है। उसके बाद उसका पुत्र दशरथ था। दशरथ का शिलालेख नागार्जुनी गुफ़ा (बिहारांतरगत गया के समीप) में अंकित है। ज्ञात होता है कि इसने ये गुफाएं आजीविकों को दी थी। बौद्धों के दिव्यावदान नामक ग्रंथ से जैनों के परिशिष्ट पर्व, विचारश्रेणी तथा तीर्थकल्प से ज्ञात होता है कि कुणाल का पुत्र सम्प्रति था। पुराणों की हस्तलिखित प्रतियों में बहुधा सम्प्रति का नाम नहीं मिलता। तथापि वायुपुराण की एक हस्तलिखित प्रति में दशरथ के पुत्र का नाम संप्रति लिखा है। तथा मत्स्यपुराण में 'सप्तति' नाम मिलता है कि जो सम्प्रति का अशुद्ध रूप है।[1]

इस पर से अनुमान होता है कि मौर्यराज्य कुणाल के दो पुत्रों (दशरथ और सम्प्रति) में बट जाने से, पूर्व का विभाग दशरथ के और पश्चिम का विभाग सम्प्रति के अधिकार में रहा होगा। संप्रति की राजधानी कहीं पाटलीपुत्र और कहीं उज्जयनी लिखा है।

·········परन्तु इतिहासज्ञों का मत है कि सम्प्रति का राज समस्त भारत (दशरथ का मगध राज्य भी इसी के सहयोग से चलता था)योन, कम्बोज, गाधार, बाल्हिक, अफ़गानिस्तान, तुर्किस्तान, ईरान, लंका, बलख, बुखारा, काशगर ईराक, नेपाल, तिब्बत, भूटान, खेटान, अरब, अफ्रीका, ग्रीस, एथेन्स, साइरीन, कोरीथ, एपिरस, बेबोलियन, ग्रीस की सरहद तथ एशिया माइनोर तक था। अपने राज्य के सब देशों में उसने अपने समय मे अनेक जैनमंदिर बनवाये थे ? तीर्थकल्प में भी लिखा है कि परमार्हत सम्प्रत्ति ने अनार्य देशों में भी विहार (मदिर) दानशालायें, बावड़ियाँ आदि लाखों की संख्या मे बनवाये थे।[2]

कई विद्वानों का मत है कि सम्प्रत्ति की रोकथाम के लिये ही चीन की प्रसिद्ध दीवार बनायी गयी थी जो वहां आज भी विद्यमान है।

६. **शालीशुक मौर्य**—सम्प्रति के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र शालीशुक उसके राज्य का उत्तराधिकारी बना, वह भी अपने पिता तथा पूर्वजों के समान जैनधर्म का अनुयायी था।

७. **वृषसेन मौर्य आदि**—शालीशुक का पुत्र वृषसेन, उसका पुत्र पुष्पवर्धन तथा इन के और भी वंशज अल्पकालीन राज्य भोक्ता रहे। मौर्य साम्राज्य का अन्त ई० पू० १६४ मे हो गया। ये सब मौर्यवंशी शासक जैनधर्मी थे। मौर्यकाल में जैनधर्म राज्यधर्म था। मौर्यराज्य १५८ वर्ष तक रहा।

---

1. पार्जिटर The Puran Text of the Dynasties of the kaiage Page 28 or foot note ?
2. श्री ओझाजी

हम लिख आये हैं कि गांधार से लेकर सिंधु-सौवीर, तथा कुरुक्षेत्र तक सारे पंजाब जनपद में अति प्राचीनकाल से जैनधर्म का प्रसार चला आ रहा है। सम्राट सम्प्रति के समय में आर्य सुहस्ति, उनके शिष्य आर्य सुस्थित, उन के शिष्य आर्य सुप्रतिबद्ध, उन के शिष्य आर्य दिन्न आदि विद्यमान थे। इन के शिष्य-प्रशिष्य तथा ये स्वयं भी पंजाब जनपद में सर्वत्र विचरते रहे।

२. युद्धवीर और धर्मवीर महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल

महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल (वि० सं० १२७५ से १३०३) दोनों सगे भाई थे। ये दोनों प्राग्वाट (पोरवाल) महाजन वंश के नररत्न थे। उस समय धोलका के राजा वीरधवल ने वस्तुपाल को अपने राज्य का महामंत्री बनाया और तेजपाल को सेनापति का पद दिया। तथा राज्य का सारा कारोबार इन दोनों भाइयों को सौंप दिया। राज्यभार संभालने से पहले राजा से इन्हों ने कुछ शर्तें रखीं—१. जहाँ अन्याय होगा वहाँ हम ज़रा भी भाग न लेंगे। २. राज्य का चाहे जितना काम जरूरी क्यों न हो किन्तु देव-गुरु की सेवा से हम लोग कभी न चूकेंगे। ३. राज्य सेवा करते हुए यदि कोई आप से हमारी चुगली करे और उसके कारण हमें राज्य छोड़कर जाने का मौका आवे तो भी हमारे पास जो इस समय तीस लाख रुपये का धन है, वह हमारे ही पास रहने देना होगा। राजा ने अपने राजपुरोहित सोमेश्वर की साक्षी में वचन दे दिया कि मुझे तुम लोगों की सब शर्तें मंजूर हैं। तब इन दोनों भाइयों ने राजा के वहाँ रहकर सेवा करना स्वीकार किया।

वस्तुपाल-तेजपाल श्वेतांबर जैनधर्मी थे। इनके पिता आशराज भी राजा वीरधवल के एक मंत्री थे। इन की माता का नाम कुमारदेवी था। ये दोनों भाई दृढ़ जैनधर्मी थे। वस्तुपाल की पत्नी का नाम ललिता तथा तेजपाल की पत्नी का नाम अनुपमा था।

जिस समय वस्तुपाल महामंत्री बने उस समय न तो राजा के खज़ाने में धन था और न राज्य में न्याय। अधिकारी लोग बहुत ज्यादा रिश्वतें खाते और राज्य की आय अपनी जेब में रख लेते थे। वस्तुपाल ने महामंत्री का कार्यभार संभालते ही यह सब अव्यवस्था दूर की। खज़ाने में बहुत सा धन आने लगा। उस आय से शक्तिशाली सेना तैयार की और कुछ दिनों केलिये राज्य का सारा कारोबार तेजपाल को सौंप दिया। स्वयं राजा के साथ सेना लेकर चल पड़ा जिन-जिन ज़िमींदारों ने राज्य का कर देना बन्द कर दिया था उन से सब रकम वसूल की। जिन जागीरदारों ने किश्तें देना बन्द कर दी थीं, उन से भी पिछली बकाया रकमें वसूल कर लीं। इस तरह सारे राज्य में फिर कर उसने राज्य का खज़ाना भर दिया और सब जगह शांति तथा व्यवस्था कायम की।

फिर वस्तुपाल ने शक्तिशाली सेना के साथ जो शत्रु राजा सिर उठाये हुए थे, उन्हें वश में करने के लिये प्रस्थान कर दिया। सब को वश में करने के पश्चात् वस्तुपाल गिरिनार पर्वत पर गये और वहाँ बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के मंदिर की भक्तिभाव पूर्वक यात्रा की। सेनापति तेजपाल ने भी युद्ध करके कई विजय प्राप्त कीं।

साँगण, चामुंड, वनथली के राजा, भद्रेश्वर का राणा भीमसिंह, गोधरा का राजा घुघुल आदि अनेक राजाओं को वस्तुपाल और तेजपाल ने युद्ध में हराकर राज्य का विस्तार किया और सरकारी खज़ाना धन से भरपूर कर दिया।

खंभात में मुसलमान सिद्दीक नामक बड़ा व्यापारी था। वह वहाँ का मालिक सा बन बैठा था। उस ने एक बार वहाँ के नगरसेठ की सम्पत्ति लूट ली और उस का खून करवा दिया। नगरसेठ के लड़के ने इस जुल्म की वस्तुपाल से शिकायत की। वस्तुपाल ने सिद्दीक को उचित दंड देना निश्चय किया। जब सिद्दीक को यह बात मालूम हुई तो उस ने अपनी सहायता के लिए अपने मित्र शंख नामक राजा को धन का लालच देकर बुला भेजा। जबरदस्त लड़ाई हुई, शंख मारा गया। सिद्दीक कहाँ भाग गया कुछ पता न लगा। वस्तुपाल की विजय हुई। इसके बाद खंभात शहर में जाकर सिद्दीक का घर खुदवाने पर वस्तुपाल को बहुत अधिक सोना तथा बहुत से कीमती जवाहरात मिले। जिनकी कीमत उस समय तीन अरब रुपये के लगभग थी।

एकदा दिल्ली के बादशाह मौजुद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी। जब वस्तुपाल तेजपाल को यह समाचार मिला तो ये दोनो भाई अपनी बड़ी भारी सेना लेकर आबू पहाड़ तक उस के सामने गये। वहाँ भयंकर युद्ध करके उन्होंने मौजुद्दीन के हजारों सैनिकों का सफ़ाया करवा डाला। बेचारा मौजुद्दीन हताश होकर वापिस दिल्ली भाग गया।

ये सब लड़ाइयाँ लड-चुकने के बाद उन्हों ने समुद्र के किनारे महाराष्ट्र तक अपनी दुहाई फिराई। इस प्रकार इन दोनों भाइयों ने अनेक छोटे-बड़े युद्ध करके गुजरात के राजा वीरधवल की सत्ता अच्छी तरह जमाई और चारों तरफ़ शांति तथा व्यवस्था करके विजय का डंका बजाया।

इन के प्रयास से इस राज्य का विस्तार—१. दक्षिण में शैल (श्रीपर्वत कांची के समीप) २. पश्चिम में प्रभास, ३. उत्तर में केदार और ४. पूर्व में काशी तक हो गया था।

जहाँ ये दोनों भाई कुशल राजनीतिज्ञ थे, अजय युद्धवीर थे; वहाँ वे धर्मवीर और महान दानवीर भी थे। मात्र इतना ही नही था किन्तु वे उच्चकोटि के धर्मज्ञ एवं धर्मपालक भी थे।

कवि ने माता को संबोधित करते हुए कहा है कि—

"जननी जनियो भक्तजन, का दाता का शूर।
नहीं तो रहजो बांझड़ी, मति गंवाइयो नूर॥"

अर्थात्—हे माता ! धर्मवीर, दानवीर, शूरवीर पुत्र को जन्म देना। यदि ऐसा संभव न हो तो कुपात्र पुत्र को जन्म न देकर बांझ (निःसंतान) रहना ही उत्तम हैं। कुपात्र पुत्र को जन्म देकर अपने नूर (सामर्थ्य) को मत गंवा देना।

अतः ये दोनों भाई धर्मवीर, दानवीर और शूरवीर सर्वगुण सम्पन्न थे। जगत में वीर-पुरुषों को पूज्यदृष्टि से देखा जाता है। "टामस कारलाइल अपने हीरोज एण्ड हीरोवर्शिप में लिखता है कि—

In all times and all places the hero has been worshipped. It will ever be so. We all love greatmen. Does not every trueman feel that he is himself made higher by doing reverence to what is really above him ? No nobler or more blessed feeling dwells in man's heart............Heroworship exists, has Existed and will forever exist universally among man's mind.

अर्थात्—सबकाल में और सब स्थानों में वीरों की पूजा हुई है और ऐसा सदा होता रहेगा। महामानवों को हम सब प्यार करते हैं। क्या कोई भी सच्चा मनुष्य ऐसा अनुभव नहीं करता कि उससे ऊँचा जो भी कोई हो, उसका सम्मान करते हुए वह स्वयं को ऊंचा उठा रहा है? इससे उदात्त अथवा अधिक सुखद भावना मानवहृदय में वास करती ही नहीं है……वीर पूजा सदा है, सदा रही थी और सदाकाल मानवसमाज में रहने वाली है।

ये दोनों भाई लड़ाई तथा राज्यकार्य में जैसे निपुण थे, वैसे ही जैनधर्म में भी दृढ़श्रद्धा रखनेवाले थे। वे अष्टमी और चतुर्दशी को तप करते थे। सामायिक, देवपूजा और प्रतिक्रमण भी नियमित रूप से करते थे। अपने धर्मबन्धुओं केलिये कम से कम एक करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च करने का इन्होंने निश्चय किया था। अपने सार्धमियों से इन्हें अगाध प्रेम था।

इनकी उदारता की कोई सीमा न थी वे मुक्त-हस्त होकर दान करते ही जाते थे। होता यह था कि ज्यों-ज्यों वे धन का सदुपयोग करते थे, त्यों-त्यों धन और बढ़ता जाता था। इसलिये वे दोनों भाई विचार करने लगे कि इस धन का आखिर क्या किया जावे?

तेजपाल की पत्नी अनुपमादेवी बुद्धि की भण्डार थी। उसने सलाह दी कि इस धन के द्वारा पहाड़ों के शिखरों पर सुन्दर जैनमंदिरों का निर्माण, जीर्णोद्धार कराकर शोभा बढ़ाओ। यह सलाह सब को पसन्द आई। अतः शत्रुंजय, गिरिनार, आबू, कांगड़ा, काश्मीर आदि में अनेक भव्य जैनमंदिरों का निर्माण करवाया। इनमें से भी आबू के जैनमंदिर बनवाते समय तो उन्होंने यह कभी न सोचा कि इन पर कितना धन खर्च हो रहा है। उन्होंने वहां देश के अच्छे-अच्छे कारीगर इकट्ठे किये और नक्काशी करते समय निकलने वाले चूरे के बराबर कारीगरों को सोना तथा चाँदी पुरस्कार में दिया। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में इस मंदिर के निर्माण में लगभग साढ़े अठारह करोड़ रुपया खर्च आया। इस मंदिर की जोड़ी आज भी संसार में कहीं न ी है।

उनके राज्य में कोई भी ऐसा नगर या गाँव नहीं था जहां उन्होंने जैन, जैनेतर मंदिरों तथा मुसलमानों की मस्जिदों, धर्मशालाओं आदि का निर्माण न कराया हो। मात्र इतना ही नहीं पर सारे भारत में सार्वजनिक जनता की भलाई केलिये इन्होंने अपनी न्यायोपार्जित लक्ष्मी को उदार दिल से खर्च किया। उनके द्वारा किये गये सुकृत्यों का संक्षिप्त विवरण यहां दिया जाता है—

१३०४ देवभवन समान शिखरबद्ध जैनमंदिरों का नवनिर्माण कराकर प्रतिष्ठाएं करवाईं।
१००००० (एक लाख) शिवलिंग स्थापित किये।
१२५००० (सवा लाख) जिनप्रतिमाएं बनवाईं, उनमें पाषाण, धातु, स्वर्ण, चाँदी और रत्नों की प्रतिमाएं भी शामिल हैं। उस समय इनके लिये अठारह करोड़ रुपया खर्च हुआ।
१३०४ हिन्दू (वैष्णवादि) मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया।
७०० शिल्पकला के आदर्श नमूने के हाथीदांत के सिंहासन मंदिरों के लिये बनवाये।
९८४ धर्मसाधन करने केलिये धर्मशालाएं, पौषधशालाएं और उपाश्रय बनवाये।
३०२ हिन्दुओं के अनेक संप्रदायों के नये मंदिर बनवाकर उनके मानने वालों को सौंप दिये।

५०५ समवसरण के योग्य सिलमा-सितारा एवं जरी-मोतियों के चंदुए-पोठिए बनवा कर जैनमंदिरों में दिये।

२६००० प्राचीन जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार (नवनिर्माण तथा मुरम्मत) कराया।

७०० तापसों के ठहरने और विश्राम करने के लिये सर्वानुकूलता वाले आश्रम बनवाये।

१८३८००००० रुपये श्री शत्रुंजय तीर्थके जीर्णोद्धार के लिये खर्च किये।

१२६३००००० रुपये आबू पर्वत पर श्री नेमिनाथ का मंदिर बनवाने में तथा दोनों भाइयों की पत्नियाँ ललितादेवी और अनुपमादेवी द्वारा दो गोक्ष (आले) बनवाने में खर्च किये। (मात्र दोनों आलो पर १८००००० अठारह लाख) रुपये खर्च आए जो देवरानी-जेठानी गोखलों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस मंदिर की कारीगरी पर भारतीय एवं पौर्वात्य-पाश्चिमात्य कलाकार एवं विद्वान सब दंग रह जाते हैं।

३००००० सोनैयों के खर्च से बनवाया हुआ एक तोरण शत्रुंजय तीर्थ पर अर्पण किया।

३००००० सोनैयों के खर्च से एक तोरण बनवाकर गिरनार तीर्थ पर अर्पण किया।

३००००० सोनैयो के खर्च से वैसा ही एक तोरण बनवाकर आबू तीर्थ पर अर्पण किया।

२५०० घर देरासर (उपासकों के घरों में जैनमंदिर) बनवाये।

२४ भगवान की रथयात्रा केलिये हाथीदांत के सुन्दर कारीगरी के रथ बनवाए।

२५०० भगवान की रथयात्रा केलिए काष्ठ के उत्तम कारीगरी के रथ बनवाये।

१८०००००० खर्च करके ज्ञानभण्डारों केलिए प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाई।

३ शास्त्रभण्डारों की (१-भड़ोच, २-पाटण, ३-खंभात में) स्थापना की।

७०० हिन्दुओं केलिए सर्वसुविधाजनक सुन्दर धर्मशालाओं का निर्माण करवाकर उन्हें सौंप दी

९०० पानी के कुएं बनवाकर जनता के पानी के कष्ट को सदा केलिए दूर किया।

३६ अपने राज्य की सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े मज़बूत किले (गढ़) बनवाए।

६४ मस्जिदें मुसलमानों को बनवा कर दीं।

८४ पक्के कोटबद्ध सरोवर बनवा कर आम जनता को आराम पहुँचाया।

४६४ जनता के गमनागमन की सुविधा के लिए मार्ग पर सड़कों के आसपास बावड़ियां बनवाईं।

४८४ पृथक-पृथक स्थानों पर साधारण घाटवाले तालाब बनवाये।

४००० सर्व साधारण के विश्राम केलिये धर्मशालाएं बनवायीं।

७०० पानी की प्याऊ बनवा कर उन्हें सदा चालू रखने की व्यवस्था कर दी।

५०० ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराते थे।

७०० आमजनता के लिये नित्य चालू रहने वाली दानशालाएं बनवायीं।

१००० तापस, सन्यासी एवं आगंतुक लोगों को प्रतिदिन भोजन कराया जाता था।

१५०० जैन श्रमण-श्रमणियाँ आपके रसोड़े से निरवद्य आहार-पानी ग्रहण करते थे।

२१ जैन महामुनियों को महोत्सव पूर्वक आचार्य पदवियां दिलवायीं उनमें सब खर्च स्वयं किया।

२००० सोनैये त्रांबावती नगरी में सुकृत के कार्यों में खर्च किया।

उपर्युक्त दान सूचि से तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

१—वस्तुपाल—तेजपाल दोनों भाइयों ने अरबों-खरबों रुपये खर्च करके देश, राष्ट्र, समाज और जनता के लिए उदारता पूर्वक निस्वार्थ सेवाएं कीं।

२—दोनों भाई परमार्हत् जैनधर्मानुयायी होते हुए भी सर्वधर्म समभावी थे। उन्होंने जैनों तापसों, ब्राह्मणों, वैष्णवों, सन्यासियों आदि भारत में बसनेवाले सबधर्म सम्प्रदायों के लिए निःस्वार्थ और उदारभाव से मंदिरों का निर्माण-जीर्णोद्धार, धर्मशालाएं, औषधालये, दानशालाएं तापसाश्रम आदि सार्वजनिक धर्मस्थानों का निर्माण कराया। मात्र इतना ही नहीं मुसलमानों के लिए भी मस्जिदें बनवाईं। सर्वसाधारण जनता के लिए बावड़ियां, कुंए, तालाब, घाट, प्याऊ, विश्रामगृहों का निर्माण कराया। देश और राज्य की सुरक्षा केलिए किलों का भी निर्माण कराया।

३—दोनों भाइयो ने न मात्र अपने राज्य की सीमाओं तक ही ये सब सुकृत कार्य किये किंतु सारे भारत में कोई भी ऐसा स्थान बाकी न रहा होगा जहां की जनता को उनके सुकृत कार्यों का लाभ न मिला हो।। पंजाब, सिंध, काश्मीर आदि जनपद भी उपर्युक्त धर्मोपयोगी और जनोपयोगी कार्यो से रिक्त नही रहे। इन जनपदों मे भी इन दोनों भाइयों ने जैनमंदिरों-तीर्थों आदि के नवनिर्माण तथा जीर्णोद्धार तो करवाये ही थे परन्तु हिन्दुओं के मंदिरों का भी निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया था। उदाहरणार्थ-पंजाब में मूलस्थान (मुलतान) में वैष्णवों का महाप्रसिद्ध एक चमत्कारी प्राचीन सूर्यमंदिर भी था जिसके लिये लोगों की यह धारणा थी कि इस मंदिर का अद्भुत सामर्थ्य है। इसका मुसलमान आततायी आक्रमणकारियों ने भंग कर दिया था। महामात्य वस्तुपाल ने इस मंदिर का भी जीर्णोद्धार कराया[1]। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि इन भाइयों ने उत्तर-पश्चिमी जनपदों-गांधार, काश्मीर, सिंधु-सौवीर तथा पंजाब आदि जनपदों में भी सब सुकृत के कार्य अवश्य किये थे।

वस्तुपाल तेजपाल ने छरी पालते १२॥ तीर्थयात्रा के संघ निकाले जिनमें जैनाचार्य, साधु, साध्वियां तथा श्रावक-श्राविकायें हजारों की संख्या में शामिल थे। इन यात्रासंघों का सारा खर्चा दोनों भाइयों ने किया। भारत के शत्रुंजय-गिरनार आदि अनेक जैनतीर्थों की यात्राएं कीं। तेरहवीं यात्रा पूरी न कर पाये क्योंकि बीच में ही वस्तुपाल का देहांत हो गया था। इसलिये १२॥ यात्रासंघ निकालने की बात कही जाती है। एक बार के संघ में सात लाख मनुष्य थे इन यात्राओं में करोड़ों रुपये खर्च किये।

इन दोनों ने अनेक बार संघ पूजाएं तथा साधर्मीवात्सल्य भी किये। वस्तुपाल विद्वान भी थे, उन्होंने कई ग्रंथों की रचनाएं भी की।

कहने का आशय यह है कि इन दोनों भाइयों की उदारता केवल जैनियों अथवा गुजरातियों तक ही सीमित न थी। उन्होंने प्रत्येक धर्म-जाति वालों के लिये सारे भारत में दानशीलता का

1. धर्मावती की मेघनाथ प्रशस्ति श्लोक ९२ से १११।

व्यवहार किया वे सारे देशवासियों के लिए उदारमना थे 'केदारनाथ से कन्याकुमारी तक ऐसा एक भी छोटा- बड़ा तीर्थ-स्थान नहीं है, जहाँ इन लोगों की उदारता का परिचय न मिला हो। हिंदुओं के तीर्थ सोमनाथ को ये दोनों प्रतिवर्ष दस लाख और काशी, द्वारिका आदि स्थानों को प्रतिवर्ष एक-एक लाख रुपया सहायता स्वरूप भेजते थे।

इन दोनों भाइयों के चतुरतापूर्ण कार्यों से प्रजा बड़ी सुखी थी। राज्य में बन्दोबस्त भी बहुत अच्छा था। सब धर्मों के लोग अपना-अपना धर्म अच्छी तरह पालन कर सकते थे। देश में दुष्काल का कहीं नाम भी नहीं था।

जब राजा वीरधवल की मृत्यु हो गई तब दोनों भाइयों ने उसके पुत्र वीसलदेव को राज-गद्दी पर बैठाया और स्वयं पहले ही की तरह राज्यकार्य करने लगे।

कुछ दिनों के बाद वस्तुपाल को यह जान पड़ा कि अब मेरी मृत्यु समीप है। अतः उन्होंने सबके साथ मिलकर शत्रुंजय के लिये एक संघ निकाला। राजा वीसलदेव और राजपुरोहित सोमेश्वर ने अपने नेत्रों से अश्रु गिराते हुए उन्हें विदा किया।

रास्ते में वस्तुपाल को बीमारी ने घेर लिया और उसकी मृत्यु हो गई। उसके शव का अंतिम संस्कार शत्रुंजय पर किया गया और वहाँ एक मंदिर का निर्माण हुआ। इसके पाँच वर्ष बाद तेजपाल का भी देहांत हो गया। दोनों की पत्नियाँ भी अपने-अपने पतियों की मृत्यु के थोड़े दिनों बाद ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर गई।

२ मुग़ल साम्राज्य और जैनधर्म

१. चमत्कारी श्री भावदेव सूरि

बड़गच्छीय श्वेतांबर जैनाचार्य श्रीपूज्य भावदेव सूरि पुण्यप्रभ सूरि के शिष्य तथा पट्टधर थे। आप बीसा ओसवाल लोढा गोत्रीय शाह डूमा तथा माता लक्ष्मी के पुत्र थे। यति दीक्षा लेने के बाद आप को वि० स० १६०४ में श्रीपूज्य (यतियों-पूजों के आचार्य) की पदवी दी गई। शीलदेव आदि आप के १८ शिष्य थे। आप बड़े चमत्कारी प्रभावक थे और क्षेत्रपाल देव आप का सेवक था। आपकी गद्दी भटनेर (हनुमानगढ़) में थी। लाहौर के सुलतान को आप भटनेर लाये। घटना इस प्रकार है—

बीकानेर के राजा रायसिंह ने अपने पुत्र दलपत को अनेक नगर-गांव दिये, उनमें भटनेर भी था। कुंवर ने कलधौत ज्ञातीय खेतसी को अपना प्रधान बनाकर भटनेर का अधिकारी बना दिया। राज्य के दस वर्ष व्यतीत होने पर उसने यहां के प्रायः सब जैनश्रावकों को बन्दी बनाकर जेल में बन्द कर दिया।

खेतसी को बहुत भूख लगने का रोग था। खाते-खाते उसका पेट भरता ही नहीं था। उसे भस्म रोग हो गया था। उसने भावदेव सूरि को अपने रोग का निदान (इलाज) करने को कहा। श्रीपूज्य भावदेव सूरि ने कहा कि यदि तुम जैन लोगों को जेल से मुक्त कर दो तो तुम्हारा इलाज करेंगे। किन्तु वह श्रावकों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। चिढ़कर उसने भावदेव सूरि को बांध

कर कुएं में लटका दिया। श्रीपूज्य भावदेव सूरि को बहुत सी विद्याएं सिद्ध थीं। क्षेत्रपाल देवता तो उनका सेवक ही था। याद करते ही क्षेत्रपाल गुरु के पास आपहुंचा और उनके बन्धन दूर करके कुएं से निकाला तथा चौकी पर बिठला कर बोला—गुरुदेव ! यदि आपकी आज्ञा हो तो खेतसी को सारे परिवार के साथ बांधकर आपके पास ले आऊं और सबको इसी कुएं में आपके देखते ही देखते डुबोकर मार डालूं ? गुरुदेव ने क्षेत्रपाल को ऐसा करने के लिए मना किया और कहा कि हत्या करने से बहुत पाप होता है। जैनसन्त परम अहिंसक होते हैं। क्षेत्रपाल शांत हो गया। श्रीपूज्य जी को रात्रि के समय क्षेत्रपाल ने नगर से बाहर निकाल दिया। एक श्रावक को साथ में लेकर गुरु जी लाहौर की तरफ़ चल पड़े। लगभग ग्यारह-बारह कोस जाने के बाद गुरुजी ने श्रावक को कहा कि दिन चढ़ने पर खेतसी हम लोगों की तलाश करेगा; इसलिए तुम अपने घर वापस लौट जाओ। श्रावक अपने घर वापिस चला गया। इतने में प्रभात हो गई। तब गुरुजी एक वृक्ष के नीचे जा बैठे और नवकार मंत्र के जाप तथा जिनेश्वर प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो गये।

प्रातःकाल होते ही खेतसी भटनेर के कुएं में गुरुजी को देखने के लिए गया। उसने रस्सी को खाली लटकते हुए देखकर जब गुरु को वहा न पाया। तब गुरु को खोजने के लिए दो आदमियों को कुएं में उतारा। जब गुरु वहां भी न मिले तो खेतसी ने गुरु की तलाश के लिए चारों दिशाओं में अपने गुप्तचरों को भेजा ताकि वे खोजकर जहां पायें, वहां से गुरुजी को पकड़ लावें। अनुचरों ने दूर से देखा कि गुरु एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। जब पास पहुंचे तो गुरु दिखाई नहीं दिये। हार-थककर बहुत परेशान हो गए और एक तरफ़ बैठ गये। वापिस लौटकर खेतसी से कहा कि बहुत खोज करने पर भी गुरु का पता नहीं लगा।

खेतसी ने अपने अनुचरों को आज्ञा दी कि भावदेव के सब शिष्यों को पकड़कर बन्दी खाने में डाल दो और उसकी पोषाल (उपाश्रय) को तोड़-फोड़ कर गिरा दो। अनुचरों ने वैसा ही किया।

जंगल से जब खेतसी के अनुचर चले गये तब भावदेव सूरि सिरसा में पहुंचे और वहां से अपने एक शिष्य (संभवतः मालदेव) को साथ लेकर लाहौर पहुंचे। वहां के सकल श्रीसंघ ने श्री-पूज्य जी का जलूस से बड़े आडम्बर के साथ नगर में प्रवेश कराया। शंख, छैने, करताल, भेरी, मृदंग, डफ, शहनाई, तबलों, बाजों, भाटों, चारणों, भोजकों आदि के साथ गाते-बजाते हुए गुरु के चरण भेटें। गुरु के चरणों के तले पागड़ी, दरियां, कालीन, पूठिया बिछा दिये। ओसवाल तथा भाट-भोजक आदि सारे नगरवासी कहने लगे कि आज हम धन्य हो गये कि गुरुजी ने अपने चरण कमलों से हमारी नगरी को पवित्र किया है। गुरुजी उपाश्रय में पधारे और पाट पर बैठकर मधुर देशना दी। श्रावकों ने नारियल की प्रभावना की। कुछ दिन बीतने के बाद श्रीपूज्य जी ने श्रावकों से कहा कि हमने बादशाह को मिलना है। उससे कैसे मिल सकेंगे ?

श्रावकों ने कहा कि बादशाह के वजीर (मंत्री) को कुष्ट रोग है। बहुत इलाज कराने पर भी रोग मिटा नहीं। गुरुदेव ने वजीर का इलाज किया और वह चंगा (स्वस्थ-निरोग) हो गया। काया कंचन के समान हो गई।

वज़ीर गुरु के चरणों में आया और उऋण होने के लिए सेवा बतलाने के लिए गुरु से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। धनराशि गुरु को भेंट करने लगा पर गुरु ने लेने से इनकार कर दिया और बादशाह से मिलने के लिए कहा। जब से वजीर को कुष्ट रोग हुआ था तबसे बादशाह से इसकी भेंट कभी नहीं हुई थी।

गुरु से शुभ मुहूर्त पूछकर वज़ीर बादशाह के दरबार में गया। उसको निरोग देखकर बादशाह की खुशी की हद न रही। उसके मुंह से गुरु की प्रशंसा सुनकर बादशाह ने गुरु को बुलाने के लिए पालकी भेजी। पर गुरु ने पालकी में बैठने से इन्कार कर दिया। गुरुजी पैदल चलकर बादशाह के वहाँ पहुंचे। बादशाह ने बड़ी ताज़ीम (विनय, श्रद्धा और भक्ति) के साथ सूरि जी का स्वागत किया और झुककर सलाम (प्रणाम) किया। एकांत स्थान में गुरुजी को ऊंचे आसन पर बिठलाया और उनसे धर्मचर्चा करके बड़ा प्रभावित हुआ।

बादशाह को भूख न लगने का रोग था। बहुत उपचार किये, पर कोई लाभ न हुआ। वह अपने जीवन से भी हताश हो चुका था। उसकी प्रार्थना करने पर गुरुजी ने रोग की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ कर दिया। बादशाह की खुशी का पारावार न रहा। सूरिजी अब बादशाह के पास आने-जाने लगे।

एक दिन बादशाह सैर को निकला और श्रीपूज्य जी को भी साथ में ले गया। जंगल में पहुंचकर बादशाह ने हिरण का शिकार करने के लिए उसपर निशाना बांधा। गुरु ने उसका हाथ थाम लिया। एक आम के वृक्ष के नीचे शाह गुरु के साथ विश्राम के लिए बैठ गया। बातों ही बातों में गुरु को कोई चमत्कार दिखलाने के लिए कहा। गुरु ने क्षेत्रपाल को बुलाया और कहा कि तुम इस वृक्ष मे प्रवेश करो। जब शाह यहां से चले तब तुम वृक्ष को साथ लेकर उसके पीछे-पीछे चलना। जब शाह मुड़कर देखे तब तुम वृक्ष में से निकल जाना और वृक्ष को वही छोड़ देना।

गुरु ने शाह से कहा कि जब आप यहाँ से चलेंगे तब वृक्ष भी आपके पीछे-पीछे चलेगा जिससे इसकी छाया आपके सिर पर रहेगी। यदि आप पीछे मुड़कर देखेंगे तो वृक्ष आपका साथ छोड़ देगा।

शाह और गुरु साथ-साथ चल पड़े। वृक्ष भी छाया करते हुए पीछे हो लिया। नगर के निकट पहुंचने पर शाह ने पीछे मुडकर देखा तब वृक्ष वापिस अपने स्थान को लौटता हुआ बादशाह ने अपनी आखों से देखा।

शाह ने गुरुजी से इसका कारण पूछा। गुरु ने कहा, बादशाह सलामत! आपने बड़े-बड़े शत्रुओं की सेनाओं के छक्के छुड़ा दिये हैं, उनके मद को चकनाचूर कर दिया है, ऐसी आपकी शक्ति है। तो इस बेचारे पेड़ की क्या औकात है कि आपकी निगाह के सामने टिक सके। यह सुनकर शाह बहुत खुश हुआ और पूज्य जी से धन दौलत, पालकी, जागीर आदि लेने के लिए प्रार्थना करने लगा। गुरु जी ने यह सब परिग्रह लेने से इनकार कर दिया और कहा कि यदि देना ही चाहते हो तो एक वचन दो। उस वचन के अनुसार जब मैं जो चाहूंगा तब आप से मांग लूँगा और वह आप को देना होगा? शाह ने गुरु की बात को स्वीकार कर लिया।

मुसलमानों के रोज़े थे अट्ठाइसवें रोज़े के दिन बादशाह ने वज़ीर को गुरुजी के यहां भेजा और कहलाया कि आप अपने चेले को भेज दीजिए, वह मुझे आशीर्वाद दे जावे।

गुरुजी ने शिष्य को भेजा, उस दिन उनतीसवां रोज़ा था। उसने शाह को आशीर्वाद दिया। शाह ने शिष्य से पूछा कि, "चांद किस दिन दिखलाई देगा?" शिष्य ने भूल से कह दिया कि आज शाम को चांद दिखलाई देगा। यह कहकर शिष्य गुरु के पास लौट आया।

शाह के पास बैठे हुए दरबारियों ने कहा कि बादशाह सलामत! आज चांद नहीं निकलेगा।

पूज झूठ बोलता है; चांद कल निकलेगा।

शाह ने कहा—यह चेला उस गुरु का है जिसका वचन अन्यथा नहीं जाता।

जब गुरु को मालूम हुआ कि शिष्य शाह को भूल से आज चांद निकलने को कह आया है, तब शिष्य की बात को सत्य करने के लिए क्षेत्रपाल को बुलाया और उसे कहा कि चांदी की थाली को लेकर आकाश में जाकर इस प्रकार रखो कि जैसे द्वितीया का चांद निकला हो। क्षेत्रपाल ने वैसा ही किया।

श्रीपूज जी शाह के पास गये और बोले—"आज चाँद निकल आया है। आओ उसे देखने चलें।" सब लोगों ने चांद को देखा। शाह बोला—गुरुजी! कल ईद होगी। तब चारों तरफ़ शहनाइयां बजने लगीं। शाह ने गुरुजी से कहा—अब आप अपना काम कहो? गुरुजी ने कहा—बादशाह सलामत! चांद कल ही निकलेगा। शिष्य ने आपको बतलाने में भूल की थी। उसकी बात को सत्य रखने के लिए ही मुझे ऐसा करना पड़ा है। देखते ही देखते चांदी की थाली आकाश से गिर कर गुरुजी के चरणों के पास आ गिरी। आकाश में अन्धकार छा गया। शाह और सब उमरावों ने यह कौतुक अपनी आंखों से देखा और सब गुरुजी के चरणो मे झुक गये। इस चमत्कार को देखकर सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सब के मुंह से एक ही आवाज़ सुनाई दे रही थी—धन्य हैं गुरुदेव और धन्य है इनकी करामात!

ईद के बाद बादशाह ने श्रीपूज जी को पास बुलाया और कहा कि गुरुजी! अब आप फ़रमावें कि आप का क्या काम किया जावे?

गुरु बोले—भटनेरगढ़ में हाकम खेतसी रहता है। वह बड़ा अत्याचारी है, उसने वहा मेरे निर्दोष जैनश्रावकों को जेल में कैद कर रखा है। वहा मेरी पोषाल भी तोड़ दी गई है और मेरे सब चेलों को भी कैद कर रखा है। मुझे भी बहुत कष्ट दिये है। अतः उस खेतसी को राहे-रास्त (सही रास्ते) पर लाओ। मेरे चेलों और श्रावको को जेल से छुड़ाओ। मेरी पोषाल भी उससे नई बनवाकर दो। अब आप बिना विलम्ब यह मेरा सब काम करो?

बादशाह ने सेना के साथ भटनेरगढ़ की तरफ़ कूच कर दिया (चल पड़ा)। वहां पहुंचकर गुरुजी की मत्रशक्ति से उसका गढ़ टूटा और शाह की सेना ने गढ़ में प्रवेश किया। खेतसी को पराजित कर हाथी के पैरों के साथ बांधकर शाह के पास लाया गया। शिष्यो और श्रावको को कैद से छोड़ दिया गया। खेतसी ने हाथ जोड़कर श्रीपूज भावदेव सूरि से अपने द्वारा किये गये अपराधों की क्षमा मांगी और उनकी आज्ञा को आजीवन मानने का वचन दिया। गुरुजी ने उसे उदारता पूर्वक क्षमा कर दिया। खेतसी को छोड़ दिया गया और उसे पूर्ववत वहां का अधिकारी कायम रहने दिया। श्रीपूज ने बादशाह को वापिस लौट जाने को कहा। बादशाह गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके लाहौर वापिस लौट गया और जाते हुए कह गया कि जब भी कोई काम पड़े तो सेवक को याद फ़रमाइएगा। बीकानेर के राजा दलपतराय ने खेतसी को हुक्म देकर भावदेव सूरि की पोषाल का अपने राजकोष से नव निर्माण करवा कर उन्हें सौंप दी।

बादशाह ने समुनेर (सामाना) में मस्जिद के समीप गुरु के कहने से एक जैनमंदिर का

निर्माण कराया और उसमें चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्त जिन की प्रतिमा की स्थापना की।[1]

२ मुगल सम्राटों पर जैनधर्म का प्रभाव

२. जगत्गुरु श्री हीर विजय सूरि तथा उनका मुनिसंघ

विक्रम संवत् १६३६ में जैन श्वेतांबर तपागच्छाचार्य श्री हीरविजय सूरि मुग़ल सम्राट अकबर के निमंत्रण पर आगरा से २४ मील की दूरी पर फ़तेहपुर सीकरी में पधारे। उस समय आपके साथ आपके शिष्य-प्रशिष्य १—मुनि विनयहर्ष उपाध्याय, २—श्री शांतिचन्द्र गणि, ३—पंन्यास सोमविनय, ४—पंन्यास सहजसागर गणि, ५—पंन्यास सिंहविमल, ६—पंन्यास गुणविनय, ७—पंन्यास गुणसागर, ८—पंन्यास कनकविजय, ९—पंन्यास धर्मसी ऋषि, १०—पंन्यास मानसागर, ११—पंन्यास रत्नचन्द्र, १२—ऋषि कान्हो, १३—पंन्यास हेमविजय, १४—ऋषि जगमाल, १५—पंन्यास रत्नकुशल, १६—पंन्यास रामविजय, १७—पंन्यास मानविजय, १८—पंन्यास कीर्तिविजय, १९—पंन्यास हंसविजय, २०—पंन्यास जसविजय, २१—पंन्यास जयविजय, २२—पंन्यास लाभविजय, २३—पं० मुनि विजय, २४—पं० धनविजय, २५—पं० मुनि विमल, २६—मुनि जसविजय आदि ६७ मुनि थे।

अकबर ने आपको विक्रम संवत् १६४० में जगद्गुरु तथा शांतिचन्द्र गणि को उपाध्याय की पदवियों से विभूषित किया। क्योंकि शांतिचन्द्र जी वादिविजेता, शतावधानी और प्रतिभाशाली विद्वान थे। आप दोनों का प्रभाव अकबर पर ऐसा पड़ा कि उसके जीवन को ही पलटा दिया। आपके तथा आपके शिष्यो-प्रशिष्यों के प्रभाव से क्या-क्या जन कल्याणकारी कार्य हुए उनका हम आगे क्रमशः उल्लेख करेंगे।

अकबर ने हीरविजय सूरि को रोशन मोहल्ला आगरा में जैनश्वेतांबर मंदिर और उपाश्रय बनाने के लिए ज़मीन भेंट में दी जो श्वेतांबर जैनसंघ के सुपुर्द कर दी गई। जिस पर श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का जैनश्वेतांबर मन्दिर तथा उपाश्रय का श्वेतांबर जैनसंघ ने निर्माण कराया।[2] उस

1. सूरेन्द्र भावदेव सूरि रास की विक्रम संवत् १७८४ मिगसर सुदि ४ रविवार मूल नक्षत्र को भटनेरगढ़ (हनुमानगढ) में रचना की। उपर्युक्त वृतांत इसी रास से लिखा है। इसी रास के कर्ता बड़गच्छीय मुनि जगरूप (यति) हैं। जिन्होने अपनी पट्टावली इस प्रकार लिखी है। पुंण्यप्रभ सूरि, पट्टे भावदेव सूरि, तत्पट्टे शीलदेव सूरि, तत्पट्टे वीरदेव सूरि तत्पट्टे सांवलदास सूरि, तत्पट्टे हेमहर्ष सूरि, तत्पट्टे शुभकरण (माता रूपादेवी, पिता धनराज श्रीमल जाति) तत्पट्टे बुधधीर सुन्दर शिष्य मुनि जगरूप। (बड़गच्छ की स्थापना विक्रम संवत् ९९४ में हुई। यह निर्ग्रन्थ गच्छ की एक शाखा है-देखें तपागच्छ पट्टावली इसी ग्रंथ में)।
ग्रंथांक ६०५/९५०२ श्री वल्लभस्मारक जैनग्रंथ भंडार रूपनगर दिल्ली-७)
अकबर ने पंजाब में सामाना, स्यालकोट, रोहतास आदि के अनेक किलो को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। यह भावदेव सूरि के मंदिर निर्माण कराने की घटना अकबर की इस किले की विजय से पहले की है। वि० स० १६०४ में भावदेव सूरि को जब आचार्य पदवी हुई थी तब अकबर पांच वर्ष का था। अतः सामाना में यह अनन्तनाथ का मंदिर उस बादशाह ने निर्माण कराया था जिसका राज्य अकबर से पहले था। तथा अकबर की आज्ञा से इनके शिष्य शीलदेव सूरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया था जिसका उल्लेख हम सामाना के वर्णन में कर आए हैं।
2. सौभाग्यविजय जी कृत तीर्थमाला में लिखा है कि इस मंदिर की प्रतिष्ठा वि० सं० १६३९ में मानसिंह ने करवाई। यह ओसवाल श्वेतांबर जैनी था और अकबर का सेनापति था।

मन्दिर में श्री शीतलनाथ प्रभु की एक विशाल एवं सुन्दर प्रतिमा कालेपाषाण की भी प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि यह प्रतिमा आगरा की जामा मस्जिद की नींव खोदते हुए धरती से निकली थी। इस मन्दिर में विराजमान सब प्रतिमाओं तथा मन्दिर की प्रतिष्ठा वि० सं० १६४० में तपागच्छीय श्री हीरविजय सूरि ने की थी। श्री शीतलनाथ की प्रतिमा अति मनोज्ञ, महाचमत्कारी है। इन की पूजा भक्ति से भक्तजनों के सब मनोरथ पूरे होते हैं। श्री शीतलनाथ के चक्षु प्रतिमा में ही बने हुए हैं। इसलिए ऊपर अन्य चक्षु नहीं लगाये गये हैं। प्रतिमा पद्मासनासीन नग्न है और मौर्य सम्राट सम्प्रति की बनवाई हुई श्वेतांबर मान्यता के अनुकूल है। यह प्रतिमा संगमरमर (पाषाण) निर्मित ऐसी सुन्दर वेदी में विराजमान है जिस वेदी में रंग-विरंगे पाषाणों से पच्चेकारी का काम हो रहा है। वेदी में कीमती पत्थर तथा इन्द्रों आदि में सच्चे नग जड़े हुए हैं। तथा इस मंदिर के मूलनायक श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी महाचमत्कारी है।

आपने शौरीपुर में, जहां बाइसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ जी के च्यवन (गर्भावतरण), जन्म, ये दो कल्याणक हुए हैं, उस स्थान पर बने हुए श्वेतांबर जैनमन्दिर की भी प्रतिष्ठा कराई थी।

आचार्य हीरविजय सूरि से पहले भी अकबर के दरबार में जो नवरत्न इतिहास में प्रसिद्ध हैं; उनमें तत्कालीन नागपुरीय तपागच्छीय श्वेतांबर जैन विद्वान मुनि श्री पद्मसुन्दर जी भी एक थे। जो ३२ हिन्दू सभासदों के पांच विभागों में से प्रथम विभाग में थे। अकबर से आचार्य श्री हीरविजय सूरि की मुलाकात से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया था। इन्ही का ही शास्त्रसग्रह अकबर ने हीर-विजय सूरि को भेंट किया था जो आगरा के श्वेतांबर जैनसंघ के पास रोशनमुहल्ला धर्मशाला-मन्दिर में सुरक्षित है।

आचार्य हीरविजय सूरि की मुलाकात से पहले ही अकबर ने **'दीने इलाही'** मत की स्थापना कर दी थी। उस समय इस धर्मसभा में मुनि पद्मसुन्दर भी शामिल थे।

मुनि पद्मसुन्दर जी के गुरु मुनि पद्ममेरु हमायू से तथा दादागुरु आनन्दमेरु बाबर से सम्मानित थे। अकबर के शासनकाल में ही मुनि पद्मसुन्दर जी ने **'भविष्यदत्त चरित्र व राय-मल्लाभ्युदय काव्यम् और पार्श्वनाथ चरित्र'** नामक तीन ग्रंथो की संस्कृत में रचना की थी।

जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि ने पहला चौमासा (वर्षावास) आगरा में, दूसरा लाहौर में तथा तीसरा फ़तेहपुर सीकरी में किया था।[1] तीन वर्ष तक अकबर को सन्मार्ग में लगाकर सं० १६४२ में गुजरात वापिस लौट गये। गुरुदेव की आज्ञा से मुनि श्री शांतिचन्द्रोपाध्याय अपने शिष्य मंडल के साथ अकबर के पास ही रहे। उपाध्याय जी ने लाहौर में **कृपारस-कोष** नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसमें अकबर के पुण्यकृत्यों (सुकृत्यों) का वर्णन है। आप फ़तेहपुर सीकरी, आगरा, दिल्ली, लाहौर काश्मीर आदि में अकबर के धर्मगुरु रूप में धर्मोपदेश देते रहे। विक्रम संवत् १६४५ में अपने समान विद्वान और अपने सहध्यायी मुनि श्री भानुचन्द्र तथा इनके शिष्य सिद्धिचन्द्र आदि को अकबर के पास छोड़कर आप अपने गुरु श्री हीरविजय सूरि जी से मिलने के लिए गुजरात चले गये। अब भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र दोनों अकबर को धर्मोपदेश सुनाते रहे और उसे भारतीय प्रजा के उत्कर्ष में सहायक कार्य करने के लिए सदा प्रेरणा देकर उत्साहित करते रहे। कई वर्षों तक दोनों मुनि लाहौर में भी अकबर के साथ रहे। मुनि भानुचन्द्र को अकबर ने उपाध्याय पद से विभूषित

1. कवि ऋषभदास कृत हीरसूरि रास (गुजराती) में कवि ने लिखा है कि-
"पहलु चौमासु जी आगरे, बीजू लाहौर माहि। त्रीजूं चौमासु फ़तेहपुरे उत्साहे कीधु॥

किया, उस समय जगद्गुरु जैनाचार्य श्रीहीर विजय सूरि ने आपको उपाध्याय पद देने के लिए गुजरात से वासक्षेप भेजा था।

जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि के समुदाय में ८ उपाध्याय १५० पंन्यास और लगभग २००० साधु मुनिराज थे।

अकबर के निमंत्रण पर जगद्गुरु ने अपने पट्टधर शिष्य आचार्य विजयसेन सूरि को अकबर के वहां लाहौर जाने का आदेश दिया। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर विक्रम सं० १६४९ मिति मिगसर शुक्ला ३ के दिन राधनपुर (गुजरात) से पैदल चलकर लाहौर (पंजाब) केलिए रवाना हुए। आप रास्ते में जहां भी पहुंचे, वहां के श्रीसंघो ने, साधु-साध्वियों ने आपका हार्दिक अभिनन्दन किया। पाटण, सिद्धपुर, मालवण, सहोत्तर, रोह, मुंडस्थल, कासद्रा, आबू, सिरोही, सादड़ी राणकपुर, नाडुलाई, पाली, बगड़ी, जेतारण, मेड़ता, भैरूंदा, पुष्कर, अजमेर, नारायण (नरैना) झाक, सांगानेर, वैराट, रिवाड़ी, विक्रमपुर, झज्जर, महिमनगर, अम्बाला, सिरहंद, लुधियाना, अमृतसर होते हुए लाहौर पहुंचे। लुधियाना के पास पहुंचने पर सम्राट अकबर की तरफ़ से फ़ौजी ने आपका शाही सम्मान किया। लुधियाना का जैन श्रीसंघ बड़ा ही हर्षित हुआ। वहां सामैया में हाथी, घोड़े, नगाड़े, शाहीबैंड, पैदल सिपाही आदि भेजकर शाही सम्मान से जलूस द्वारा आपका नगर प्रवेश कराया गया। आपके पधारने के उपलक्ष्य मे लुधियाना के जैन श्रीसघ ने अट्ठाई महोत्सव किया।

लाहौर से पांच मील की दूरी पर बसे हुए खानपुर नामक स्थान पर उपाध्याय भानुचंद्र अपने शिष्यों-प्रशिष्यों सिद्धिचन्द्र आदि के साथ स्वागत के लिए आपके पास पहुंच गए। वहां से ही शाही लवाजमे के साथ आपने मुनिमंडल सहित लाहौर की तरफ़ विहार किया। विक्रम संवत १६५० (ईस्वी सन् १५९३) जेठ सुदि १२ को (लुधियाना के प्रवेश महोत्सव से बहुत बढ़-चढ़कर) सम्राट ने आपका लाहौर में शाही सम्मान के साथ नगर में प्रवेश कराया। इस प्रवेश के जलूस मे बादशाह और शाहज़ादा सलीम भी शामिल हो गये थे।

अकबर की प्रार्थना को स्वीकार कर आपके शिष्य मुनि श्री नन्दीविजय ने अकबर के काश्मीर महल (लाहौर) में—जोधपुर के राठोर राजा उदयसिंह, आमेर (जयपुर) के कछवाह राजा मानसिंह खानखाना, अबुलफज़ल, आज़मखां, जालोर का नवाब गजनीखा एव और भी कई राजा, महा-राजा, नवाब, अमीर-अमराव तथा विद्वद्परिषद के सामने अष्टावधान (जिसमे एक साथ आठ प्रश्नों के क्रमशः उत्तर दिये जाते हैं) किये। सम्राट ने प्रसन्न होकर मुनि नन्दीविजय को **खुशफ़हम** (**सुमति**) की पदवी दी। आचार्य श्री विजयसेन सूरि जी ने अमृतसर में दसवें तीर्थंकर श्री शीतल-नाथ जी की प्रतिमा की अंजनशलाका की। अकबर द्वारा किये गये इस सन्मान को कुछ ब्राह्मण सहन न कर सके। उन्होंने विजयसेन सूरि को नीचा दिखाने और अकबर की निगाह से गिराने के लिए वाद करने का चेलेंज दिया। आचार्य विजयसेन सूरि ने अकबर के दरबार में विद्वानों की सभा में ईश्वर सृष्टिकर्ता-हर्ता के विषय मे गंगा-सूर्य के विषय में ब्राह्मणो से वाद किया और उसमें विजय प्राप्त की। आप ने इस वाद में भारत के चुने-गिने ३३६ दिग्गज विद्वान ब्राह्मणों को जीता। इससे प्रसन्न होकर अकबर ने आपको '**सवाई**' की पदवी दी। जिसका अर्थ होता है—'वर्त्तमान दिग्गज विद्वानो से भी सवाया।' आपने दो चौमासे लाहौर में किये और सम्राट से अनेक फ़रमान(आज्ञापत्र)

प्राप्त किये। जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। एक शिलालेख[1] में आपके विशेषण "पातशाह श्री अकबर समक्ष जित वादिवृन्द, गोबलिवर्द-महिष-महिषीवध निवृत्ति स्फुर्मान कारक[2] लिखा है।

शांतिचन्द्रोपाध्याय के सहपाठी श्री भानुचन्द्रोपाध्याय तथा इनके शिष्य श्री सिद्धिचन्द्र भी जगद्गुरु आचार्य श्री हीरविजय सूरि तथा उपाध्याय शांतिचन्द्र के समान सम्राट से सम्मानित हुए। उपाध्याय भानुचन्द्र अकबर को संस्कृत में स्वरचित सूर्यसहस्रनाम स्तोत्र प्रति रविवार को सुनाया करते थे।[3] मुनि श्री सिद्धिचन्द्र का भी बादशाह पर बहुत प्रभाव था। एक बार किसी कारणवश सिद्धाचल पर मन्दिर बनाने का निषेध किया गया था। आपके कहने पर सम्राट ने यह प्रतिबन्ध दूर कर दिया था। आपने बादशाह को फ़ारसी भाषा के बहुत ग्रंथ पढ़ाये थे।[4] मुनि सिद्धिचन्द्र भी उपाध्याय शांतिचन्द्र के समान शतावधानी थे। उनके प्रयोग देख और सुनकर सम्राट ने उन्हें 'खुशफ़हम' की पदवी से विभूषित किया था। आप षट्दर्शन के प्रकांड विद्वान और अपने गुरु के अनन्य भक्त थे।[5] उपाध्याय भानुचन्द्र और खुशफ़हम सिद्धिचन्द्र अकबर के पास उसकी मृत्यु तक रहे।

---

1. विजय प्रशस्ति सर्ग १२ बृ० र० नं० १६६१ का विजयसेन सूरि के प्रतिष्ठा का लेख।
2. हीजरी (मुसलमानी) सन् ६६६ (ईस्वी सन् १५६०) में बैल, भैंस, भैंसा, बकरा, घोड़ा तथा ऊंट के मांस की निषेधाज्ञा अकबर बादशाह ने कर दी (कट्टर मुसलमान इतिहासकार बदायूनी)
3. ब्राह्मणों के समान अकबर प्रातःकाल उठकर पूर्व दिशा की तरफ़ मुख करके खड़े-खड़े सूर्योपासना प्रतिदिन किया करता था। तथा वह सूर्यसहस्रनाम का भी संस्कृत में पाठ करता था। (बदायूनी)। अकबर को ब्राह्मणों की तरह सूर्य सहस्र नाम सुनने की रुचि उसके पूर्वजन्म के संस्कार मालूम पड़ते हैं। कहा है कि अकबर पूर्वजन्म में प्रयाग में मुकन्द नाम का ब्रह्मचारी ब्राह्मण था। यह राज्य प्राप्ति के लोभवश होकर वि सं. १५६८ में प्रयाग में एक पुराने पीपल को जलाकर उसमें स्वयं भस्मीभूत हो गया। मन में राज्याकांक्षा का नियाणा (तीव्र इच्छा) करके अपना बलिदान देने के बाद बादशाह हुमायू की पत्नी हमीदा बेगम के गर्भ से वि. सं. १५६६ (ई. स. १५४२) को इसने पुत्र रूप में जन्म लिया। यह बादशाह अकबर हुआ। इस बात को अकबर ने जातिस्मरण (पूर्वजन्म के) ज्ञान से जानकर स्वय प्रयाग में जाकर अपने बलिदान होने के स्थान की खोज की। उस स्थान को खोदने से एक ताम्रपत्र मिला था। जिसपर श्लोक इस प्रकार खुदा हुआ पाया गया।

   'वसु-निधि-शर-चन्द्रे (१५६८) तीर्थराज प्रयागे, तपसी बहुल पक्षे द्वादशी पूर्वयामे।
   शिखिन तनु जु-होम्य-खण्डभूम्याधिपत्ये सकलवुजिहारी ब्रह्मचारी मुकन्दः।।

   (नरहरि महापात्र कृत छप्पय तथा विपराल जी कृत कवित्त, हिंदी मासिक, विशालभारत सन् १६४६ ई० दिसम्बर तथा सन् ईस्वी १६४०) मालूम होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण ही इसे हिन्दू पहनावा बहुत पसन्द था और कभी कभी इसे पहना भी करता था।
4. इससे स्पष्ट है कि जैनसाधु विविध भाषाओं, सब मतमतांतरों के सिद्धान्त आदि नानाविध ज्ञान-विज्ञान के जानकार होते थे, राज्यभाषा के भी विद्वान होते थे। जिससे वे अपने समय के राजाओं-महाराजाओं-बादशाहों पर भी अपना प्रभाव डालने में सफलता प्राप्त करते थे और उन्हें राहेरास्त (सन्मार्ग) पर लाकर प्रजा को शोषण करने से बचा लेते थे।
5. इति श्री पातशाह श्री अकबर जल्लालुद्दीन सूर्यसहस्रनाम अध्यापक श्री शत्रुंजय करमोचनाद्यनेक--सुकृत विधायक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्र गणि निराचितायां तच्छिष्याष्टोत्तर-शतावधान्-साधकः प्रमुदित पातशाह श्री अकबर प्रदत्त खुशफ़हम पराभिधान श्री सिद्धिचन्द्र गणि रचितायां कादम्बरी टीकायामुत्तर-खण्ड टीका समाप्ता।

   ऐसा अंतिम कथन बाण की कादम्बरी पर पूर्वखण्ड की भानुचन्द्र की और उत्तरखण्ड की सिद्धिचन्द्र

सिद्धिचन्द्र की विद्वता और प्रतिभा—अकबर के अवसान के बाद सलीम बादशाह बना और इसका नाम जहांगीर प्रसिद्ध हुआ। अपने पिता के समान ही इसके अन्तर में भानुचन्द्र के प्रति अगाध श्रद्धा थी। भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र अकबर और जहांगीर के निकट सम्पर्क में २३ वर्ष जितने लंबे अर्से तक रहे। इसके बाद जहांगीर की अनुमति लेकर गुजरात चले गये। वहाँ जुदा-जुदा नगरों-गांवों में चार-पांच वर्ष विचरण करके जहांगीर की प्रार्थना पर पुनः आगरा पधारे। भानुचन्द्र अब वृद्ध हो चुके थे। सिद्धिचन्द्र शक्तिशाली, असाधारण रूपवान और सुडौल शरीर वाले थे। अकबर के दिल में उनके लिए बड़ा वात्सल्य था, वह उन्हें अपना पुत्रवत् मानता था। अकबर ने उन्हें गंभीर अध्ययन केलिए प्रेरणा भी की थी और इसके प्रोत्साहन से ही उन्होंने पर्शियन (फ़ारसी) भाषा का पूर्ण अभ्यास किया था। उनका कितना ही अभ्यास अकबर के पौत्रों के साथ हुआ था। इसलिए चिरकाल से उनकी जहांगीर के साथ बहुत निकटता थी। अनेक बातों में तो वे जहांगीर के सलाहकार भी थे। कविता तथा व्यवहारिक कलाओं में भी उन्होंने पूरा-पूरा प्रभुत्व प्राप्त किया था। जहांगीर के दरबार में और उनके खानगी (Private) प्रसंगों में उनकी हाजिरजवाबी और सूझ-बूझ से जहांगीर उनपर मंत्रमुग्ध था। अतः जहांगीर के साथ यह प्रसंग गाढ़ मित्रता के रूप में परिणित हो चुका था।

त्यागधर्म की अग्नि परीक्षा—जहांगीर को सिद्धिचन्द्र के लिए एक कल्पना सूझी। उसने एक बार सिद्धिचन्द्र को कहा कि—"आप साधु जीवन को त्यागकर मेरे दरबार में ऊंचा पद ग्रहण करलें।" इसने सिद्धिचन्द्र पर स्वयं भी दबाव डाला और अपनी बेगम नूरजहां से भी दबाव डलवाया। परन्तु सिद्धिचन्द्र ने जहांगीर के इस सुझाव को धृष्टता मानकर ठुकरा दिया और एकदम अस्वीकार कर दिया। सिद्धिचन्द्र के इन्कार करने पर जहांगीर एकदम क्रुद्ध हो गया और अपनी मानहानि समझकर राजदरबार छोड़कर जंगल में चले जाने का हुक्म दे दिया। सिद्धिचन्द्र ने भी अपने चारित्र-संयम को दृढ़ रखने के लिए उसकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार कर लिया और जहांगीर के राजदरबार को छोड़कर तुरन्त चल दिये। मालपुर के ठाकुर की प्रार्थना को स्वीकार करके उसके राज्य में चले गये।

जहांगीर का पश्चाताप—उपाध्याय भानुचन्द्र वृद्ध हो चुके थे और अब भी पूर्ववत जहांगीर के दरबार में जाते-आते रहे। जहांगीर भी आपका बहुत सन्मान करता था। उनके उदास चेहरे को देखकर इसे अपनी करनी पर बहुत पश्चाताप हुआ और सिद्धिचन्द्र को निमन्त्रण देकर वापिस अपने पास बुलाया और पहले से भी अधिक उनका आदर सन्मान करने लगा। उन्हें (सिद्धिचन्द्र जी को) **"जहांगीर पसंद"** की पदवी से विभूषित किया।

कृत टीका में है। इसी प्रकार भानुचन्द्र कृत और सिद्धिचन्द्र संशोधित वसंतराज टीका में भी है। तथा सिद्धिचन्द्र ने स्वयं कृत भक्तामर की टीका के आदि में लिखा है कि.

"कर्त्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्त वादिनां। वेत्ताषडपि शास्त्रानामध्येता फारसीमपि ॥ अकबर सुरत्राण-हृदयाम्बुज-षट्पदः। दधानः खुशफहमिति बिरुद शाहिनार्पितम् ॥ तेन वाचकेन्द्रेण सिद्धिचन्द्रेण तन्यते। भक्तामरस्य बालानां वृत्ति वर्यूत्पत्ति हेतवे ॥ (भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र ने अनेक ग्रंथों की स्वतंत्र रचनायें, टीकायें आदि पंजाब में भी की हैं)

३—खरतरगच्छीय प्राचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि की लाहौर में सम्राट अकबर से भेंट

अकबर के दरबार में ओसवाल-बच्छावत गोत्रीय श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी कर्मचन्द्र नाम का एक मंत्री था। वह बड़ा दानवीर, शूरवीर, धर्मवीर, चारित्रवान, बुद्धिमान, कुशल राजनीतिज्ञ था। एकदिन सम्राट को कर्मचन्द के मुख से श्री जिनचन्द्र सूरि की प्रशंसा सुनकर उनसे मिलने की उत्कंठा हुई। बादशाह ने अपने फ़रमान द्वारा आपको लाहौर पधारने की प्रार्थना की। फ़रमान पाते ही आप जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि जी से १० वर्ष बाद विक्रम संवत् १६४८ (ईस्वी सन् १५९१) फाल्गुन सुदि १२ (ईद) के दिन ३१ साधुओं के साथ लाहौर पहुंचे। सम्राट ने यहां पर आपको विक्रम संवत् १६४९ फाल्गुन सुदि में "युगप्रधान" की पदवी दी। आपके साथ आये हुए मुनि जिनसिंह को आचार्य पदवी, मुनि गुणविनय और मुनि समयसुन्दर को वाचनाचार्य की पदवी, वाचक जयसोम और मुनि रत्ननिधान को उपाध्याय पदवी से विभूषित किया। इस अवसर पर कर्मचन्द की प्रार्थना पर सम्राट ने एक दिन के लिए जीवहिंसा बन्द कराई।

जिनचन्द्र सूरि के प्रभाव से सम्राट ने सौराष्ट्र में द्वारका के जैन-जैनेतर मंदिरों की रक्षा का फरमान वहां के सूबा के नाम भेजा। एकबार सम्राट ने काश्मीर जाने की तैयारी की, जाने से पहले सूरि जी को बुलाकर उनसे धर्मलाभ लिया। उसके उपलक्ष्य में सम्राट ने आषाढ़ सुदि ९ से १५ तक सात दिनों के लिए जीवहिंसा बन्द करने का फ़रमान अपने सारे राज्य के १२ सूबों में भेजा। उस फ़रमान में लिखा था कि श्रीहीरविजय सूरि के कहने से पर्यूषणों के १२ दिनों में जीवहिंसा का निषेध पहले कर चुके हैं अब श्रीजिनचन्द्र की प्रार्थना को स्वीकार करके एक सप्ताह केलिए वैसा ही हुक्म दिया जाता है। खंभात के समुद्र में एक वर्ष तक हिंसा न हो और लाहौर में आज एक दिन के लिए हिंसा न हो। ऐसे फ़रमान भी जारी किये। इस प्रकार जिनचन्द्र सूरि लाहौर में अकबर के सानिध्य मे एक वर्ष व्यतीत (वि. स. १६४९ का चौमासा) करके वि. सं. १६५० में गुजरात की तरफ़ विहार कर गये। हम लिख आए है कि वि. सं. १६५० में तपागच्छीय आचार्य विजयसेन सूरि लाहौर में अकबर के वहां पधारे। इससे पहले जिनचन्द्र वापिस लौट चुके थे।

उपर्युक्त वर्णन '**कर्मचन्द प्रबन्ध**', जिसकी रचना खरतरगच्छीय क्षेमशाखा के प्रमोदमाणिक्य के शिष्य जयसोम उपाध्याय ने वि. सं. १६५० में विजया-दसमी के दिन लाहौर में की है और उसपर संस्कृत व्याख्या इनके शिष्य गुणविनय ने वि. सं. १६५५ में की है। इसी वर्ष इसी गुणविनय ने इसका गुजराती पद्य में भी अनुवाद किया है, से किया गया है। यह ग्रथ जिनचन्द्र के वापिस लौटने के बाद उसी वर्ष लिखा गया है।

४—मुगल सम्राटों पर जैनमुनियों के सम्पर्क का प्रभाव

अब हम यहां जगद्गुरु तपागच्छीय जैन श्वेताबराचार्य श्री हीरविजय सूरि इनके शिष्य उपाध्याय शांतिचन्द्र, सवाई विजयसेन सूरि, उपाध्याय भानुचन्द्र, खुशफ़हम सिद्धिचन्द्र के प्रभाव से जो-जो फ़रमान (आज्ञापत्र) मुग़लसम्राट अकबर से लेकर शाहजहां ने दिये थे वे सब फ़रमान इन तीनों ने समय-समय पर अपने राज्य के समस्त सूबों के नाम जारी किये थे, उनका संक्षिप्त विवरण देते हैं। जिससे पाठक जान पायेंगे कि इन महापुरुषों के सम्पर्क में आने के बाद उन सम्राटों के जीवन में धार्मिक विश्वासों, जीवन (चारित्र) तथा राजनीति पर जैनधर्म का कैसा प्रभाव पड़ा था।

अकबर मुग़लवंशी बाबर का पोता और हुमायुं का पुत्र था। यह तुर्की तैमूरलंग का वंशज था तथा इसका मातृपक्ष चंगेज़खां वंश का था। तैमूरलंग तथा चंगेज़खां दोनों भारतीय इतिहास में कुख्यात अत्याचारी, धर्मांध लुटेरे तथा नरसंहारक रूप में प्रसिद्ध है। उन्होंने भारत में तलवार के ज़ोर से मुसलिमधर्म को फैलाने केलिए खून की नदियां बहाई थी। अकबर पहले पहल अपने पूर्वजों के समान ही कट्टर मुसलमान था। पांच समय नमाज़ पढ़ना, रोज़े रखना और इस्लाम की शिक्षाओं का बड़ा पाबन्द था। यह मुसलमान उलमाओं (विद्वानों) का बड़ा सम्मान करता था। युद्धबंदियों को मुसलमान बना लेता था। ग़ैर मुसलिमों (हिन्दुओं, जैनों आदि) से जज़िया वसूल करता था। मांसाहारी तथा शिकार का बहुत शौकीन था। वह स्त्रीलम्पट तथा अनेक दुर्व्यसनों का भोगी था। अकबर ने ई. स. १५७६ (वि. सं. १६३६) में दीनेइलाही नाम के एक स्वतंत्र धर्म की स्थापना भी की थी। इससे पहले इसने ई. स. १५७५ (वि. सं. १६३२) में एक इबादतखाना की स्थापना की थी। जिसे हम धर्मसभा कह सकते है। इस सभा में इसने सबसे पहले केवल मुसलमानी धर्म के जुदा-जुदा फ़िरकों के मोलवियों को ही दाखिल किया था। अकबर तीन वर्षों तक उनकी प्रतिदिन धर्मचर्चाएं सुनता रहा।. मुसलमानो के शय्या-सुन्नी दोनो संप्रदायों के परस्पर विरोधी प्रहारों से अकबर ऊब गया और दोनों पक्षो पर से उसकी अरुचि हो गई। इसके विषय में सम्राट अकबर के दरबार में रहनेवाला इतिहासकार कट्टर मुसलमान बदाउनी लिखता है कि—

"There he used to spend much time in the Ibadat Khanah in the Company of learned men and Shaikhas . And especially on Friday nights, when he would situp there the whole night Continually Occupied, in discussing questions of religion, whether fundamental or collateral, The learned men used to draw the sword of the tongue on the bettle —field of Mutual contradiction and opposition, and the autagonism of the sects reached such a pitch that they would call one another fools and hereties"[1]

अर्थात्—"इबादत खाने में बादशाह विद्वानों और शेखों की सगत में बहुत समय व्यतीत करता था और विशेषकर शुक्रवार की सारी रात बैठा रहता था। जबकि मतवातर धार्मिक प्रश्नों की चर्चा चालू रहती थी। फिर चाहे वह मुख्य तत्त्वो अथवा अवातर विषयों की चर्चा हो। सम्राट उनको सुनने में तल्लीन रहता था। उस समय वे (मुसलमान) विद्वान और शेख परस्पर की विरुद्धोक्तियों तथा आमने-सामने होने वाली युद्धभूमि पर जीभ की तलवारें खेंच लेते थे और उन पक्षवालो की खेंचा-तानी इस हदतक पहुंच जाती थी कि वे एक दूसरे को मूर्ख और पाखडी कहते थे"।

मुसलमानों की इस तकरार के कारण सम्राट ने मुसलमान उलमाओं से इकरारनामा (प्रतिज्ञापत्र) लिखवा लिया था कि जब-जब मतभेद हो तब-तब निर्णय करने के लिए कुरान की आयतों (वचनों) के अनुसार परिवर्तन करने का अधिकार बादशाह को है। तत्पश्चात् बादशाह ने ई. स. १५७६ (वि. सं. १६३६) में इस इकरारनामे के बाद इन उलमाओ को नौकरी से हटा दिया था। कहते हैं कि सम्राट की जब मुसलमान धर्म से श्रद्धा उठ गई तब उसने हिन्दू, जैन, पारसी ईसाई धर्म के विद्वानों को बुलाकर अपनी धर्मसभा में शामिल करना शुरू किया। इस प्रकार जुदा-जुदा धर्मों के विद्वानो के साथ बैठकर शांति और गंभीरतापूर्वक धर्मचर्चाएं करने लगा। अबुलफ़ज़ल कहता है कि अकबर धर्मचर्चाओं में इतना रस लेने लगा कि उसकी कोर्ट (कचहरी) ही तत्त्वशोधकों का घर बन गई थी। वि. स. १६३६ में यह एकदम मुसलमानीधर्म का विरोधी हो गया था।

1. Al-Badaoni, Translated by W. H. Lowe M. A. Vol II P. 262

"The Shahinshah's Court became the home of enquirers of the seven climes, and the assembly of the wise of every religion and sect.[1]

अर्थात्—शाहेनशाह का दरबार, सातों प्रदेशों (पृथ्वी के भाग) के संशोधकों तथा प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय के बुद्धिमानों का घर बन गया था।

अकबर की इस धर्मसभा में १४० सदस्य थे और इन्हें पाँच विभागों में विभक्त किया हुआ था। आइने अकबरी (अंग्रेज़ी) के दूसरे भाग के तीसरे आईन में इन सदस्यों की नामावली दी गई है। उसके पृष्ठ ५३७-५३८ में पहले वर्ग में (प्रथम दर्जे में) २१ सदस्यों के नाम आये हैं। इसमें सोलहवा नाम हरि जी सूर (Hariji Sur) है। हरिजी सूर, यही जगद्गुरु हीरविजय सूरि हैं।

हम लिख आये है कि अकबर बादशाह के बुलाने पर आचार्य श्री हीरविजय सूरि उसके वहाँ मुनिमण्डल के साथ पधारे और उनके प्रभाव से अकबर के जीवन में परिवर्तन आया।

जगद्गुरु हीरविजय सूरि, सवाई विजयसेन सूरि तथा आपके शिष्यों-प्रशिष्यों के प्रभाव से सम्राट अकबर ने समय-समय पर अपने सारे राज्य में राजकीय फ़रमानों (आज्ञापत्रों) को राजकीय मोहर लगाकर जारी किया; उन आज्ञाओं का विवरण इस प्रकार है।

१—श्वेतांबर जैनों के पर्युषण पर्व के १२ दिनों (भादों वदि १० से भादों सुदि ६) तक; सारे रविवारों को, सम्राट के जन्मदिन का महीना सम्राट के तीनों पुत्रों के जन्म के तीनों पूरे महीने, सूफ़ी लोगों के दिन, ईद के दिन, वर्ष मे १२ सूर्य संक्रान्तियाँ, नवरोज़ के दिन; कुल मिला कर वर्ष में ६ मास ६ दिन सारे राज्य में सर्वथा जीवहिंसा बद करने के फ़रमान (आज्ञापत्र) जारी करके उन्हे राज्य मुद्रांकित किया और उन्हें सारे राज्य के १४ सूबों के सूबेदारों को भेज दिया। ताकि इनके अनुसार वहाँ अहिंसा का पालन होता रहे।

२—सारे राज्य में जज़िया (अमुसलिमों से लिये जाने वाला कर) लेना बन्द करा दिया।

३—मेड़ता में जैनधर्म के त्योहारों को स्वतंत्रता पूर्वक मनाने का आदेश दिया।

४—डामर तालाब पर जाकर पशुओं को पिंजरों से मुक्त कराया तथा मछलियाँ पकड़ना बद कराया।[2]

५—जैनमंदिरों के सामने बाजे बजाने की निषेधाज्ञा को हटाया।

६—सम्राट ने स्वयं शिकार खेलने का त्याग किया और गुरुदेव को वचन दिया कि सब पशु-पक्षी मेरे राज्य में मेरे समान सुखपूर्वक रहें, मैं सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहूंगा।

७—अकबर स्वय पाँच सौ चिड़ियों की जिह्वाओं का मांस प्रतिदिन खाया करता था, उस का त्याग कर दिया।

८—शत्रुंजय, गिरनार, तारंगा, आबू, केसरियाजी (श्री ऋषभदेवजी) ये जैनतीर्थ जो गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में हैं तथा राजगृही के पाँच पहाड़, सम्मेतशिखर (पार्श्वनाथ पहाड़) आदि। जो बिहारप्रांत के जैनतीर्थ हैं, उन सभी पहाड़ों के नीचे आसपास; सभी मंदिरों

1. Akbarnama translated by H. Beveridge Vol. III P. 366.

2. यह तालाब फ़तेहपुर-सीकरी के निकट था।

की कोठियों के आसपास तथा सभी भक्ति करने की जगहों पर जो जैन श्वेतांबर धर्म की हैं उनके चारों ओर कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव को न मारे। उपर्युक्त सब पहाड़ और भी जो जैन श्वेतांबर धर्म[1] के धर्मस्थान हमारे ताबे (आधीन) हैं वे सभी जैन श्वेतांबर धर्म के आचार्य श्री हीरविजय सूरि के स्वाधीन किये जाते हैं। जिससे इन धर्मस्थानों पर शांतिपूर्वक अपनी ईश्वरभक्ति किया करें। ऐसा फ़रमान जारी किया।

९—अकबर युद्धों में राजबन्दी बनाता था उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बना लिया करता था, उन्हें बंदीखाने से मुक्त कराया। मुसलमान न बनाने की प्रतिज्ञा दिलायी और हिंदू-मुसलमान सब समान हैं अपने-अपने धर्म की आराधना-भक्ति करने में उन्हें कोई बाधा न पहुँचाये। ऐसे फ़रमान जारी किये।

१०—सूरि सवाई आचार्य विजयसेन सूरि के उपदेश से सम्राट ने (१) गाय-बैल, (२) भैंस-भैंसा, (३) ऊंट, (४) बकरा-बकरी की हिंसा, (५) निःसंतान मृत्युवालों का धन राज्यकोष (सरकारी खजाने) मे ले जाना, (६) बन्दीवानों को पकड़ना इन छः कार्यों को बन्द कराया।

११—शत्रुंजयादि तीर्थों पर जो यात्रियों से जज़िया (कर) लिया जाता था वह बंद कराया।[2]

अकबर द्वारा जैन मुनियों को पदवियाँ प्रदान

१-श्री हीरविजय सूरि को जगद्गुरु की पदवी दी।
२-श्री विजयसेन सूरि को सूरिसवाई की पदवी दी।
३-श्री शांतिचंद्र गणि को उपाध्याय पदवी दी।
४-श्री भानुचंद्र को उपाध्याय पदवी से अलकृत किया।
५-श्री जहाँगीर ने सिद्धिचद्र को खुशफ़हम और जहाँगीरपसंद की पदवी दी।
६-श्री नंदीविजय जी को खुशफ़हम की पदवी प्रदान की।
७-श्री विजयदेव सूरि को जहाँगीर ने महातपा की पदवी दी।
८-श्री जिनचंद्र सूरि को युगप्रधान की पदवी दी।

---

1. यह असल फरमान् अहमदाबाद की आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी मे मौजूद है। इसका अंग्रेजी अनुवाद राजकोट के राजकुमार कालेज के मुनशी मुहम्मद अब्दुल्ला ने किया था। इस फरमान से स्पष्ट है कि ये सब जैन श्वेतांबर तीर्थ हैं। इसीलिये अकबर ने इन्हें हीरविजय सूरि के सुपुर्द किये थे। कई लोग अथवा संप्रदाय उपर्युक्त तीर्थों को श्वेतांबरो के स्वतंत्र तीर्थ होने पर झगड़े तथा मुकदमें करके इनको हड़पने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। पर ये सब श्वेतांबर जैनतीर्थ हैं इसकी पुष्टि केलिये अकबर के दरबार में रहने वाले श्वेतांबर मूर्तिपूजक मंत्री कर्मचन्द बच्छावत को भी इन्ही सब तीर्थों को देने का उल्लेख है देखें—सम्राट के समकालीन प० जयसोम कृत कर्मचन्द चरित्र तथा लाभोदय रास।

2. यद्यपि सम्राट ने अपने राज्य के ९वें वर्ष में जजिया कर हटा दिया था। उस समय गुजरात इसके अधिकार में नही था। अतः गुजरात प्रदेश तथा तीर्थों का जजिया हीरविजय सूरि के उपदेश से (गुजरात पर अधिकार के बाद) माफ किया था।

९-श्री जिनसिंह को आचार्य पदवी दी।

१०-११-मुनि गुणविनय और मुनि समयसुंदर को वाचनाचार्य की पदवी दी।

१२-१३-वाचक जयसोम तथा मुनि रत्ननिधान को उपाध्याय पदवी दी।

इस प्रकार आचार्य हीरविजय सूरि तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों एवं आचार्य जिनचंद्र सूरि और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों (इन सब श्वेतांबर मुनियों) को अकबर ने तथा उसके वंशजों ने सादर पदवियाँ प्रदान कीं।

उपर्युक्त श्वेतांबर आचार्य हीरविजय सूरि आदि के उपदेशों ने अकबर पर जादू का असर किया और उसमें कैसा परिवर्तन आया उसका कुछ संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं—

अकबर के दरबार में दो मुसलमान विद्वान ऐसे थे जिनका सम्पर्क दिन-रात अकबर के साथ रहता था। १-अबुलफज़ल तथा २-बदाउनी। इन्होंने सम्राट के विषय में लिखा है कि—

अबुलफ़ज़ल अपनी **आइने अकबरी** पुस्तक मे लिखता है कि—

"Now, It is his intention to quit it by degrees, confirming, however, a little to the spirit of the age. His Majesty abstained from meat for some time on Fridays and then on Sundays; now on the first day of every solar month, on solar and lunar eclipses, on days between two fasts, on the MOndays of the month of Rajab, on the feast day of the every solar month, during the whole month of Forwardin and during the month in which His Majesty was born, viz., the month of Aban."[1]

अर्थात् -वह (बादशाह) समय की भावनाओं को कुछ हद तक ध्यान में रखते हुए वर्तमान में धीरे-धीरे मांस छोड़ने का विचार रखता है। बादशाह बहुत समय तक शुक्रवारों (जुम्मा) और तत्पश्चात् रविवारों (सूर्य के वारों) में भी मांस नहीं खाता। वर्तमान में प्रत्येक सौर्य महीने की पहली तारीख (सूर्य-संक्रांति), रविवार, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के दिन, दो उपवासों के बीच के दिन, रजब महीने के सोमवारों, प्रत्येक सौर महीने के त्योहारो, सारे फ़रवरदीन महीने में तथा अपने जन्मदिन के महीने में—अर्थात् सारे आबास मास में (बादशाह) मांस भक्षण नही करता।[2]

इसी की पुष्टि में अकबर दरबार का कट्टर मुसलमान बदाउनी इस प्रकार लिखता है—

"At the tim e His Majesty promulgated some of his-faugled degrees. The killing of animals on the first day of the week was strictly prohibited (P. 322) because this day is secred to the Sun, also during the first eighteen days of the month of Farwardin; the whole of the month of Aban (the month in which His Majesty was born); and on several other days, to please the *Hindus*. This order was extended over the whole realm and punishment was inflicted on every one, who acted against the Command. Many a family was ruined, and his

1. The Ain-i-Akbari translated by H. Blochmann M.A. Vol. I P. P. 61-62.
2. अकबर के जीवन में जैनलेखकों ने मांस त्याग के जितने दिन गिनायें हैं उसकी सत्यता इस लेख से दृढ़ तथा स्पष्ट हो जाती है।

property was confiscated. During the time of those fasts, the Emperor abstained altogether from meat as a religious penance, gradually extending the several fast during a year for six months and even more, with a view to eventually discontinuing the use of meat altogether."[1]

अर्थात्—"इस समय बादशाह ने कितने ही नये-प्रिय सिद्धान्तों (विचारों) का प्रचार किया था। सप्ताह के प्रथम दिन (रविवार) को प्राणियों के वध की कठोरता पूर्वक निषेधाज्ञा की, क्योंकि यह दिन सूर्य पूजा का है। तथा फरवरदीन महीने के पहले १८ दिनों में, सारे अबान महीने (जिस महीने में बादशाह का जन्म हुआ था) में तथा हिन्दुओं को खुश करने के लिये दूसरे कई दिनों में प्राणियो के वध का सख्त निषेध किया था। यह हुकम सारे राज्य में घोषित किया गया था। आज्ञा विरुद्ध बरताव करने वालों को दंड दिया जाता था। इससे बहुत परिवारों को दंडित किया गया तथा उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी। इन उपवासों के दिनों में बादशाह ने एक धार्मिक तप के रूप में मांसाहार को एकदम (पूर्णतः) बन्द कर दिया था। धीरे-धीरे वर्ष में छह महीने तथा इससे भी अधिक कई उपवास इसी हेतु से बढ़ाता गया ताकि (प्रजा) मांस का धीरे-धीरे एकदम त्याग कर सके।"

बदाउनी ने ऊपर के वाक्य में जो 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किया है, इस हिन्दू शब्द से जैन ही समझना चाहिये क्योंकि पशुओं-पक्षियों के वध के निषेध करने मे और जीवदया संबन्धी राजा-महाराजाओं को उपदेश देने में आज तक जो कोई प्रयत्नशील रहे हों तो वे जैन ही हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार **विंसेन्ट स्मिथ** भी अपनी **अकबर** नामक पुस्तक के ३३५ पृष्ठ में स्पष्ट लिखता है कि—

"He cared little for flesh food, and gave up the use of it almost entirely in the later years of his life, when he came under Jain influence."

अर्थात्—मांस भोजन पर बादशाह को बिल्कुल रुचि नही थी। इसलिये इसने अपनी पिछली आयु में जब से वह जैनों के समागम में आया, तब से मांस भोजन को सर्वथा छोड़ दिया था।

इससे सिद्ध होता है कि बादशाह को मांसाहार छुड़ाने में तथा जीववध न करने में श्री **हीरविजय सूरि** तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य आदि जैन उपदेशक ही सिद्धहस्त हुए हैं। डा० स्मिथ यह भी कहता है कि—

"But Jain the holymen undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which—largely influenced his actions; and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism.[2]

अर्थात्—परन्तु जैन साधुओं ने निःसंदेह वर्षों तक अकबर को उपदेश दिया था। इस उपदेश का बहुत प्रभाव बादशाह की कार्यावली पर पड़ा था। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को उससे यहाँ तक मना लिया था कि लोगों में ऐसा प्रवाद फैल गया था कि—"**बादशाह जैनी हो गया है।**"

1. Al-Badaoni. Translated by W.H. Lowe, M.A. Vol. II, P. 331.
2. Jain Teachers of Akbar by Vincent A. Smith.

यह बात प्रवादमात्र ही नहीं रही थी किन्तु कई विदेशी मुसाफ़िरों को अकबर के व्यवहार से निश्चय हो गया था कि—'अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी है।"

इस के संबन्ध में डा० स्मिथ ने अपनी अकबर नाम की पुस्तक में एक मार्के की बात लिखी है। उस ने इस पुस्तक के पृष्ठ २६२ में 'पिनहरो' (Pinhiero) नामक एक पुर्तगेज पादरी के पत्र के उस अंश को उद्धृत किया है कि जो ऊपर की बात को प्रगट करता है। यह पत्र उसने लाहौर से ३ सेप्टेम्बर १५६५ (वि० स० १६५२) को लिखा था, उस में उसने लिखा था—

"He follows the sect of the Jains (Vertie)."

ऐसा लिखकर उस ने कई जैन सिद्धान्त भी अपने इस पत्र में लिखे थे जब विजयसेन सूरि लाहौर में अकबर के पास थे।

इस से यह स्पष्ट समझ सकते हैं कि सम्राट की रहमदिली (दयालुवृत्ति) बहुत ही दृढ़ होनी चाहिये। और ऐसी दयालुवृत्ति जैनाचार्यों ने, जैन उपदेशकों ने ही उत्पन्न कराई थी। इस बात के लिये अब विशेष प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

हीरविजय सूरि आदि जैनसाधुओं का उपदेश कितने महत्व का था, इस महत्व को बदाउनी भी स्वीकार करता है—

"And Samanas[1] and Brahmans (who as far as the matter of private interviews is concerned (P. 257) gained the advantage over everyone in attaining the honour of interviews with His Majesty, and in associating with him, and were in every way superior in reputation to all learned and trained men for their treatises on morals and on physical and stages of spiritual progress and human perfections) brought forward proofs, based on reason and traditional testimony, for the truth of their own, and the fallacy of our religion, and inculcated their doctrine with such firmness and assurance, that they affirmed mere imagination as though they were self evident facts, the truth of which the doubts of the secptic could no more shake."[2]

अर्थात्—"सम्राट अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा श्रमणों (जैन साधुओं) और ब्राह्मणों को एकांत परिचय का मान अधिक देता था। उन के सहवास में अधिक समय व्यतीत करता था।

1. मूल फ़ारसी पुस्तक को 'सेवड़ा' शब्द के अनुवादक ने 'श्रमण' लिखा है, परन्तु चाहिये 'सेवड़ा'; क्योंकि उस समय मे जैन श्वेतांबर साधुओं को सेवड़ा के नाम से लोग पहचानते थे। उस समय पंजाब आदि प्रदेशों में जैन साधुओं को सेवड़ा कहते थे। इस अंग्रेजी अनुवादक W. H. Lowe M A. (डब्ल्यु एच लॉ एम० ए) इस अपने अनुवाद के नोट में श्रमण का अर्थ बौद्धश्रमण करता है पर यह ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्धश्रमण बादशाह के दरबार में कोई गया ही नहीं था। इस बात का अधिक स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। यहां सेवड़ा से श्वेतांबरजैन साधु को ही समझना चाहिये।

2. Al-Badaoni Translated by W.H. Lowe M.A. Vol. II Page, 264.

वे नैतिक, शारीरिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शास्त्रों में तथा धर्मोन्नति की प्रगति में और मानव जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त करने में दूसरे सब (सम्प्रदायों के) विद्वानों और पंडित पुरुषों से सब प्रकार से श्रेष्ठ थे। वे अपने मत की सत्यता और हमारे (मुसलमान) धर्म के दोष बतलाने के लिये बुद्धिपूर्वक और परम्परागत प्रमाण देते थे। और ऐसी दृढ़ता और दक्षता के साथ अपने मत का समर्थन करते थे कि जिस से उनका केवल कल्पित जैसा मत स्वतः सिद्ध प्रतीत होता था और उसकी सत्यता के लिये नास्तिक भी शंका नहीं ला सकता था।"

ऐसे अधिक सामर्थ्यवान जैनसाधु अकबर पर अपना ऐसा प्रभाव डालें, यह क्या संभव नहीं ?

अकबर ने जब अपने व्यवहार में इतना अधिक परिवर्तन कर डाला था तो इस पर से ऐसा मानना अनुचित नही है—"कि अकबर के दया संबन्धी विचार बहुत ही उच्चकोटि तक पहुंच चुके थे।" इस बात की पुष्टि के अनेक प्रमाण मिलते है। देखिये बादशाह ने राजाओं के जो धर्म प्रकाशित किये थे, उन में उस ने एक यह धर्म भी बताया था।

"प्राणीजगत जितना दया से वशीभूत हो सकता है, उतना दूसरी किसी वस्तु से नही हो सकता। दया और परोपकार—ये सुख और दीर्घायु के कारण है।[1]

अबुलफ़ज़ल लिखता है कि—"अकबर कहता था—यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि मांसाहारी एक मात्र मेरा शरीर ही खाकर दूसरे प्राणियों के भक्षण से दूर रह सकते तो कैसा सुख का विषय होता! अथवा मेरे शरीर का एक अंश काटकर मांसाहारी को खिलाने के बाद भी यदि वह अंश पुनः प्राप्त होता, तो भी मै बहुत प्रसन्न होता। मैं अपने एक शरीर द्वारा मांसाहारियों को तृप्त कर सकता।[2]

दया सम्बन्धी कैसे सरस विचार ? अपने शरीर को खिलाकर मांसाहारियों की इच्छा पूर्ण कराना, परन्तु दूसरे जीवों की कोई हिंसा न करे, ऐसी भावना उच्चकोटि की दयालुवृत्ति के सिवाय कदापि हो सकती है क्या ?

अबुलफ़ज़ल 'आइने अकबरी' के पहले भाग मे एक जगह ऐसा भी लिखता है—

"His Majesty cares very little for meat, and often expresses himself to that effect. It is indeed from ignorance and cruelty that, although various kind of food are obtainable, men are bent upon injuring living creatures, and lending a ready hand in killing and eating them; none seems to have an eye for the beauty inherent in the prevention of cruelty, but makes himself a tomb for animals. If His Majesty had not the burden of the world on his shoulders, he would atonce totally abstain from meat.[3]

अर्थात्— शाहेनशाह मास पर बहुत कम लक्ष्य देता है और कई बार तो वह कहता था कि यद्यपि बहुत प्रकार के खाद्य पदार्थ मिलते हैं तो भी जीवित प्राणियों को दुःख देने का मनुष्यों

1. आइने अकबरी खंड ३ जैरिट कृत अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ ३८३-३८४
2. आइने अकबरी खंड ३ पृष्ठ ३९५
3. Ain-i-Akbri by H. Blochmann Vol. I, P. 61.

का लक्ष्य रहता है। तथा उनको कत्ल (हत्या) करने में एवं उनका भक्षण करने में तत्पर रहते है। यह वास्तव में उन की अज्ञानता और निर्दयता का कारण है, कोई भी मनुष्य निर्दयता को रोकने में जो आंतरिक सुन्दरता रही हुई है उसे परख नहीं सकता, परन्तु उल्टा प्राणियों की कब्र अपने शरीर में बनाता है—यदि शाहेनशाह के कन्धों पर दुनियाँका भार (राज्य का भार) न होता, तो वह मांसाहार से एकदम दूर रहता।

इसी प्रकार डा० विन्सेंट स्मिथ ने भी अकबर के विचारों का उल्लेख किया है। जिन में ये भी हैं—

"Men are so accustomed to meat that, were it not for the pain, they would undoubtedly fall on to themselves."

"From my earliest years, whenever I ordered animal food to be cooked for me, I found it rather tasteless and cared little for it. I took this feeling to indicate the necessity for protecting animals, and I refrained from animal food."

"Men should annually refrain from eating meat on the anniversary of the month of my accession as a thanks—giving to the Almighty, in order that the year may pass in prosperity."

"Butchers, fishermen and the like who have no other occupation but taking life should have a separate quarter and their association with others should be prohibited by fine."[1]

अर्थात्—"मनुष्यो को मांस खाने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि—यदि उन्हें दु:ख न होता तो वे स्वयं अपने आप को भी अवश्य खा जाते।"

"मैं अपनी छोटी उम्र से ही जब-जब मांस पकाने की आज्ञा करता था तब-तब वह मुझे नीरस लगता था। तथा उसे खाने की मैं कम अपेक्षा रखता था। इसी वृत्ति के कारण पशु रक्षा की आवश्यकता की तरफ़ मेरी दृष्टि गई और बाद में मैं मांस भोजन से सर्वथा दूर रहा।"

"मेरे राज्यारोहण की तिथि के दिन प्रतिवर्ष ईश्वर का आभार मानने के लिये कोई भी मनुष्य मांस न खाये। जिस से सारा वर्ष आनन्द में व्यतीत हो।"

"कसाई, मच्छीमार तथा ऐसे ही दूसरे, कि जिन का व्यवसाय केवल हिंसा करने का ही है, उनके लिये रहने के स्थान अलग होने चाहियें और दूसरों के सहवास मे वे न आवें, उनके लिये दंड की योजना करनी चाहिये।"

उपर्युक्त तमाम वृतात से हम इस निश्चय पर आते है कि—अकबर की जीवनमूर्ति को सुशोभित—देदीप्यमान बनाने में सुयोग्य--जैसी चाहिये वैसी दक्षता जो किसी ने बतलाई हो तो वे हीरविजय सूरि आदि जैनसाधुओं ने ही बतलाई थी। मात्र इतना ही नहीं परन्तु उपाध्याय भानुचन्द्र और ख़ुशफ़हम सिद्धिचन्द्र ने अकबर पर उपकार तो किया ही था किन्तु उसके पुत्र जहाँगीर तथा पौत्र शाहजहाँ के जीवन पर भी खूब प्रभाव डाला था और उन्हें जीवदया, धर्मसहिष्णुता, एवं प्रजावात्सल्यता का महान् अनुरागी भी बनाया था। इसके लिये एम० ए० के

1. Akbar The Great Mogal. P.P. 335-336.

अभ्यासक्रम में नियुक्त Indian History by prof. Ashirbadilal Srivastwa M.A.PH D, D. Litt (Agra) ने Akbar and Jainism नाम के Chapter में लिखा है कि—

"Jainism exercised even more profound influence on the thought and conduct of Akbar than christionity. He seems to have come into contact with Jain Scholars quite early...in 1568 A.D. He is said to have arranged a religious disputation between the Jain Scholars representing two rival scholars, of thoughts in 1582 A.D. He invited one of the greatest living Jain divines. Heera Vijaya Suri of Tapagachha from Gujrat to explain to him the principal of his religion. He was received with all possible honour and so impressed Akbar by his profound learning and ascetic character that the empror practically gave up meat diet, released many prisoners and prohibited slaughter of Animals and birds for so many days in the year. Heera Vijaya Suri remained at the court for two years, was given the title of '*Jagat Guru*' and was placed by Abul'-Fazal among the twenty-one top-ranking learned men at Akbar's court, supposed to be acquainted with the *mysteries that of both the worlds*. Subsequently several other Jain scholars invited the empror, prominent among them being *Shanti Chandra*, *Vijay Sain Suri*, *Bhanu Chandra Upadhya*, *Harish Suri* and *Jaisome Upadhyaya*. A few Jain teachers of noted continued to reside permanently at the court in 1591, the empror having heard of the virtues and saintly aminence of *Jinchandra Suri* of Khartar Gachha school invited him to the court. Travelling from Cambay (Khambhat) on foot, like other Jain monks, he reached Lahore in 1591 A.D. and was respectfully received by the empror like Heera-Vijay Suri, he refused to accept costly gifts and presents, and explained to Akbar the doctrines of Jainism with so much success the empror was highly graftifies and conferred upon him the title of '*Yuga-Pradhan*' Jinchandra Suri spent four months of the rainy season at Lahore and in 1592 A.D accompanied Akbar to Kashmir. He left Lahore in 1593 A.D., his influence on Akbar proved to be profound and lasting as that of Heer Vijay Suri.

The teachings of Jain monks (munis) produced a markable change in Akbar's life. He gave up hunting of which he had been so fond in his early days and obstained almost wholly from meat diet. He restricted the slaughters of animals and birds, prohibiting completely for more than half the days of the year. He sent *Farmans* by the imperial injunctions."

अकबर ने सब धर्मों के स्वरूप को समझने के लिये फ़तेहपुर सीकरी में **'इबादतखाना'** (प्रार्थनागृह अथवा धर्मचर्चागृह) की स्थापना की थी। इबादतखाना में ई० स० १५७८ (वि० सं० १६३५) से ही बहुत धर्मों के प्रतिनिधि धर्मचर्चा में भाग लेते थे। जैसे कि सूफ़ी, दार्शनिक, वक्ता, वकील, सुन्नी शिया, ब्राह्मण, जति(यति) सेवड़ा (श्वेतांबर जैनमुनि), चारवाक (नास्तिक मती), नाझेल (ईसाई), जथु, शात् (शत्रन्), पारसी तथा दूसरे भी इस चर्चा में भाग लेते थे।

अकबर था तो अनपढ़, परन्तु था विचक्षण, बुद्धिमान, जिज्ञासु और शांतिपसंद। इस का विश्वास था कि जब तक देश में धार्मिक असहिष्णुता रहेगी तब तक मेरा मन शांत न होगा। चाहे कितने ही धर्म क्यों न हों यदि उन को सत्य के मूल पर प्रतिष्ठित किया जावे तो उन में परस्पर एकता तथा एकमत अवश्य हो सकता है। इसलिये उसने 'दीने इलाही मत' की स्थापना की थी।[1]

उपर्युक्त सूची में जति और सेवड़ा—ये दो शब्द भी आये हैं। जति शब्द का प्रयोग श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक धर्मानुयायी श्रमण (साधु) के लिये किया जाता है। सेवड़ा शब्द भी इन्हीं श्वेतांबर साधुओं के लिये आया है। सेवड़ा शब्द श्वेतांबर का अपभ्रंश है। ये दोनों शब्द श्वेतांबर जैनसाधुओं के लिये ही आये हैं।

यद्यपि यह बात तो निर्विवाद है कि अकबर के दरबार में रहने वाले दो मुसलमान इतिहासकार १. शेख़ अबुलफ़ज़ल तथा २. बदाउंनी थे और जिनके ग्रंथों के आधार से ही अब तक प्रत्येक ने अकबर के संबन्ध में जो कुछ भी लिखा है पाठकोंको उससे जानकारी मिली है। वे दोनों अकबर पर प्रभाव डालने वाले जैनसाधुओं के नामों का उल्लेख करने से भूले नहीं, जोकि ये नाम यति और सेवड़ा शब्द से दिये गए हैं। परन्तु जैनसाधु अकबर के दरबार में गये थे और उनके उपदेश से उसपर बहुत प्रभाव पड़ा था, यह बात तो उन्होंने अवश्य ही स्वीकार की है किन्तु उनके बाद के जैनेतर विद्वानों, अनुवादको और स्वतंत्र लेखकों के द्वारा ही बौद्धश्रमण अथवा अन्य कोई लिखकर उपर्युक्त सत्य प्रसग को ढाँकने के प्रयास किये गये हैं। ऐसा उनके ग्रंथों को गहराई से पढनेवाले पाठको की दृष्टि से ओझल कदापि नही रह सकता। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि अबुलफजल ने अकबर की धर्मसभा में १४० सदस्यों को पांच श्रेणियों में विभक्त किया है। उनकी जो नामावली आइने अकबरी के दूसरे भाग के तीसरे आइन में दी है उन में पहली श्रेणी मे हरि जी सूर (ठीक नाम --हीरविजय सूरि) तथा पांचवी श्रेणी में बिजयसेन सूर और भानचंद्र (ठीक नाम— विजयसेन सूरि तथा भानुचंद्र) के नाम होते हुए भी, वे कौन थे? किस धर्म के थे? इत्यादि कुछ भी जानने की परवाह उन स्वतंत्र लेखकों और अनुवादकों ने नहीं की। परन्तु यदि वे जैनधर्म के थोड़े— बहुत अभ्यासी भी होते तो उन्हें इस बात को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पडता कि अबुलफ़जल ने उपर्युक्त जिन तीन नामों का उल्लेख किया है वे बौद्धश्रमणों अथवा दूसरो किन्ही के नाम नही हैं किन्तु जैनसाधुओं के ही हैं। तथापि इन इतिहास लेखकों ने जैनइतिहास के साथ खिलवाड़ ही की है। तथापि इस खिलवाड़ के घने बादलों को दूर करके इतिहास के क्षेत्र में यदि किसी जैनेतर लेखक ने सत्य सूर्य का प्रकाश किया है तो वह एक (Akbar the great Moghal) 'अकबर दी ग्रेट मुगल' नामक अति महत्वपूर्ण पुस्तक लिखनेवाले डा० विसेन्ट ए० स्मिथ ही है। वह बहुत शोध और परामर्शपूर्वक लिखता है कि "अबुलफ़ज़ल और बदाउनी के ग्रंथों के अनुवादकों ने अपनी अनभिज्ञता (नासमझी) ही के कारण से जैन के स्थान में बौद्ध शब्द का सर्वत्र व्यवहार किया है। कारण कि अबुलफ़ज़ल ने अपने ग्रंथ में स्पष्ट लिखा है कि—सूफ़ी, दार्शनिक, तार्किक, स्मार्त्त, सुन्नी - शिया, ब्राह्मण, यति, सेवड़ा,

1. आइने अकबरी खंड १

चार्वाक, नजरीन, यहूदी, साबी और पारसी आदि प्रत्येक वहाँ के धर्मानुशीलन का आनन्द लेता था।[1]"

इस वाक्य में **जैनसाधु** को (नही कि बौद्धसाधु को) सूचित करने वाले **'यति और सेवड़ा'** शब्द दिये हुए हैं। तो भी डा० स्मिथ कहता है कि **'बेलमर्स'** ने अकबर नाम के अंग्रेजी अनुवाद मे भूल से इसका अर्थ **'जैन और बौद्ध'** किया है। तत्पश्चात् उसी का ही अनुकरण करके **'इलियट तथा डाउसन'** कि जो मुसलमानी इतिहास संग्रह के कर्ता है, इन्होंने भी यही भूल की है, और इसी भूल ने **वॉननोअर** को भी अपनी पुस्तक में भूल करने को बाध्य किया है। इस प्रकार एक के बाद एक प्रत्येक लेखक भूल करता गया और इस का परिणाम हम यहाँ तक देख पाते है कि अकबर के सबन्ध में जैनेतर लेखकों द्वारा लिखे गये प्रत्येक अनुवाद तथा स्वतंत्र ग्रंथ में जहाँ देखों वहाँ बौद्धों का ही नाम देखने में आता है। यहाँ तक कि बंगाली, हिन्दी, गुजराती ग्रंथ लेखक भी इसी तरह की ही भूल करते आ रहे हैं। किन्तु किसी ने भी इस बात की खोज नही की कि वास्तव में अकबर की धर्मसभा में कोई बौद्ध साधु था या नही? अथवा अकबर ने किसी दिन बौद्धसाधु का उपदेश सुना भी था या नहीं?

वस्तुतः वर्तमान की शोध के अनुसार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अकबर को कभी भी किसी विद्वान् बौद्धसाधु के साथ समागम करने का अवसर प्राप्त नही हुआ। इसके लिये अनेक प्रमाण देकर पुस्तक का आकार बढाने की आवश्यकता नही है। सबसे सुदृढ़ प्रमाण तथा सर्वाधिक मान्य अबुलफज़ल के कथन का ही यहाँ उल्लेख करेंगे। वह आइने अकबरी मे एक जगह कहता है कि—

"चिरकाल से हिन्दुस्तान मे बौद्धसाधुओं का कोई भी पता नही मिलता। हाँ पेगू, तथा-सरिम एवं तिब्बत मे वे मिल जाते हैं। बादशाह के साथ तीसरी बार की काश्मीर की स्मरणीय मुसाफरी को जाते हुए इस (बौद्ध) मत को मानने वाले दो-चार वृद्ध मनुष्यो की मुलाकात तो अवश्य हुई थी, किन्तु किसी विद्वान् के साथ मेल-मिलाप नही हुआ था।"[2]

इस पर से स्पष्ट है कि—अकबर को किसी भी दिन किसी भी बौद्ध विद्वान् भिक्षु के साथ मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। तथा किसी भी बुद्ध विद्वान् ने फतेहपुर सीकरी की धर्म-सभा मे भाग नही लिया था।

उपर्युक्त प्रमाण तथा दूसरे अनेक प्रमाणों के निष्कर्ष से अन्त में डा० वीसेन्ट स्मिथ भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि—

"To sum up, Akbar never came under Buddhist influence in any degree whatsoever. No Buddhists took part in debates on religion held at Fatehpur Sikri, and Abu-l-Fazal never met any learned Buddhist Consequently his knowledge of Buddhism was extremely slight. Certain persons who part in the debates have been supposed aroneously to have been Buddhists, were really Jains from Gujrat."[3]

---

1. अकबरनामा वेवेरिज का अंग्रेजी अनुवाद खंड ३ अध्याय ४५ पृष्ठ ३६५
2. देखे आइने अकबरी खड ३ जेरिट कृत अग्रेजी अनुवाद पृ० २१२
3. Jain Teachers of Akbar by V.A. Smith.

अर्थात्—"सारांश यह है कि—अकबर का बौद्धों के साथ किसी दिन भी सम्पर्क नहीं हुआ था इसलिये उनका अकबर पर कोई भी प्रभाव नहीं था। न तो फ़तेहपुर सीकरी की धर्मचर्चाओं में किसी दिन बौद्धमत वालों ने भाग ही लिया था और न ही अबुलफ़ज़ल की किसी दिन विद्वान् बौद्ध साधुओं से मुलाकात ही हुई थी। अतएव बौद्धधर्म के सम्बन्ध में उसका ज्ञान नहींवत था। धार्मिक परामर्श सभा में भाग लेने वाले जो दो चार पुरुषों का बौद्ध होने का भ्रमात्मक अनुमान लोगों ने किया है, वह वास्तव में गुजरात से आने वाले जैन ही थे।"

इस प्रकार अकबर के साथ जैन साधुओं का अव्यवहित-अविच्छिन्न संबंध वि० सं० १६३९ से वि० सं० १६५१ तक रहा। इसके पश्चात् भी अकबर जीता रहा तब तक बल्कि उसकी मृत्यु के बाद भी उसके पुत्र जहांगीर तथा पौत्र शाहजहां से भी जैनसाधुओं का सम्पर्क बना रहा।

यह बात भी भूलनी नहीं चाहिये कि अकबर के दादा बाबर तथा पिता हुमायूं से भी श्वेतांबर जैन साधुओं तथा यतियों के साथ संपर्क रहा था। यह हम पहले भी लिख आये हैं।

आचार्य श्री हीरविजय सूरि के तप-त्याग-ज्ञान तथा चारित्र की कितनी महानता थी, इसका निर्देश अबुलफ़ज़ल ने आइने अकबरी में स्पष्ट कर दिया है। इसने आपकी गिनती पाँच श्रेणियों में से प्रथम श्रेणी के विद्वानों में की है। यही कारण है कि सम्राट अकबर पर जितना प्रभाव आपका पड़ा था, उतना प्रभाव अन्य किसी भी विद्वान का नहीं पड़ा था। आपके शिष्यों आचार्य विजयसेन सूरि तथा उपाध्याय भानुचन्द्रजी का पांचवी श्रेणी के विद्वानों में उल्लेख किया है। किन्तु इन पांचों श्रेणियों में खरतरगच्छीय जंगमयुगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि अथवा अन्य किसी भी जैनमुनि या विद्वान का उल्लेख किया गया नहीं मिलता। इससे भी यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि के तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों के प्रभाव से ही अकबर अहिंसक और समन्वय दृष्टि बना था। जिससे म्लेच्छों के अत्याचारों से त्रस्त भारत-वासी उत्पीड़ित होने से निजात पाये। इसलिये भारतीय जनता युग-युगान्तरों तक इन महापुरुषों के उपकार को कैसे भुला सकती है?

भानुचन्द्रोपाध्याय का सामान्य जनसमूह के लिए भी अकबरपर अच्छा प्रभाव था। यह बात दो प्रसंगों से स्पष्ट हो जाती है—१. एक बार गुजरात के सूबा अज़ीज़खां कोका ने जाम-नगर के राजा सत्रसाल को युद्ध में हराकर उसे तथा उसके साथी युद्ध करने वालों को बन्दी बना कर कारावास में डाल दिया था। जब भानुचन्द्र को इस बात का पता लगा तो उन्होंने अकबर को कहकर राजा सत्रसाल के समेत सब युद्धबन्दियों को छुड़ा दिया था। २. दूसरी बात यह है कि आप के कहने से गुजरात से जजिया आदि कर हटा दिये थे।

कतिपय दिगम्बर लेखकों का यह कहना है कि दिगम्बर पंडित बनारसीदास जिसने इस मत में तेरहपंथ (बनारसी मत) की स्थापना की थी उनका प्रभाव भी अकबर पर था[1]। परन्तु यह धारणा भी ठीक नहीं है। क्योंकि बनारसीदास वि० सं० १६५४ तक इश्कबाज़ी के कारण कुष्ट रोग से ग्रसित रहा और १६६४ विक्रम संवत् तक इश्कबाज़ रहा।[2] इसके बाद इश्कबाज़ी छोड़

1. देखें धन्यकुमार दिगम्बरी का 'अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव नामक लेख-विजयानन्द हिन्दी मासिक पत्रिका में
2. देखें बनारसीदास द्वारा लिखित अपना अर्द्धजीवन चरित्र वि० स० १६९८ तक का

कर कुष्ट रोग से निरोग हुआ और श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक लघु-खरतरगच्छ के मुनि भानुचन्द्र जो अभयधर्म उपाध्याय का शिष्य था से जैनदर्शन, छंद शास्त्र, काव्य, साहित्य आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों का अभ्यास किया। उसके बाद वि०सं० १६७६ में 'आगरा' में एक दिगम्बर विद्वान के सम्पर्क में आकर कुछ दिगम्बर ग्रंथों का अभ्यास किया और वि० सं० १६८० में आगरा में इसने एकान्त निश्चय को मानकर अपने नवीन पथ की स्थापना की, जो आजकल तेरहपंथ दिगम्बर संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। अपरंच दिगम्बर विद्वान लाला दिगम्बरदास जैन ने मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्रीमल जी के अभिनन्दन ग्रंथ में खंड ३ पृ० ८३-९७ पर मुग़ल सम्राट और जैन-धर्म शीर्षक लेख में मुग़ल सम्राट बाबर से लेकर अंतिम मुग़ल सम्राट के राज्यकाल में होने वाले मुग़ल और हिन्दू राजाओं के राज्यों में कतिपय जैनलोगों का परिचय दिया है कुछ को उनके राज्य में ग्रंथ लेखक के रूप में, किन्हीं का जैन मन्दिरों के निर्माता के रूप में और किन्हीं का उनके वहाँ कारभारी के रूप में उल्लेख किया है। इस नामावली में कतिपय दिगम्बरों का भी नामोल्लेख किया है किन्तु किसी ने मुग़लसम्राट से सम्पर्क करके उन पर कोई अपना जैन धर्म संबन्धी प्रभाव डाला हो ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि मुग़ल सम्राट पर श्वेतांबर जैनाचार्यों, मुनियों का ही पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था।

अकबर की मृत्यु आगरा में ईस्वी सन् १६०५ (वि० स० १६६२) में हुई। उस समय तो बनारसीदास कोढ़रोग से जर्जरित हो रहा था। उस समय तक तो उसे जैनधर्म का कोई विशेष बोध भी नहीं था। इसलिये बनारसीदास के अकबर पर प्रभाव की बात सर्वथा निराधार है। लगता है कि मात्र अपने मत की महिमा बतलाने का यह असफल प्रयास किया गया है।

इसके अतिरिक्त अन्य भी किसी दिगम्बर मुनि अथवा विद्वान का न तो फतेहपुर सीकरी की धर्मसभा में धर्मचर्चा में शामिल होने का आइने अकबरी जैसे ग्रंथ में उल्लेख ही है और न ही किसी अन्य प्रमाणिक इतिहास पुस्तक में है।

इस विषय पर मैंने एक प्रसिद्ध दिगम्बर स्कालर से भेंट की। उन्होंने कहा कि यहाँ जो **सेवड़ा** शब्द का प्रयोग हुआ है वह किसी दिगम्बर गृहस्थ के लिये है। क्योंकि **सेवड़ा सरावगी** का अपभ्रंश है और **सरावगी दिगम्बर गृहस्थ को कहते हैं**। उनका यह तर्क सुनकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा और उसकी इस भूल पर खेद भी हुआ। पाठकों को यह जानना चाहिए कि अकबर के फरमानो में सेवड़ा शब्द हीरविजय सूरि के नाम के साथ आया है। अतः यहाँ पर सेवड़ा शब्द का अर्थ श्वेतांबर ही है। दूसरा कोई नहीं है।

१. **अकबर की श्रद्धा**—इस महान प्रभावक आचार्य श्री हीरविजय सूरि, उपाध्याय श्री भानुचन्द्र तथा इनके शिष्य खुशफहम मुनि श्री सिद्धिचन्द्र का मुगल दरबार पर कैसा प्रभाव था, इस प्रसंग का सुसबद्ध, शृखलाबद्ध स्पष्ट तथा उपाध्याय सिद्धिचन्द्र द्वारा विरचित "**भानुचन्द्र गणि चरित्र**" में से लग जाता है। उपाध्याय भानुचन्द्र के निर्मल चरित्र और महान तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप मुग़ल सम्राट अकबर के हृदय पट पर कितनी गहरी सम्मान पूर्वक हृदयस्पर्शी पड़ी थी, इस बात का परिचय हमें इस ग्रंथ से मिल जाता है। (१) अकबर प्रति रविवार को भानुचन्द्र उपाध्याय से संस्कृत में उनके द्वारा रचित सूर्यसहस्र नाम स्तोत्र का पाठ खूब एकाग्रता

पूर्वक बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सुना करता था। (इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है)। (२) आपने अकबर के पौत्रों को अनेक विषयों का शिक्षण दिया था। (३) अकबर काश्मीर से लाहौर वापिस लौटने पर एक दिन चीतों की लड़ाई देख रहा था, उस समय एक हरिण ने उसे अपने सींगों से घायल कर दिया, जिससे वह मूर्छित हो गया, परिणामस्वरूप सम्राट पचास दिनों तक चारपाई पर पड़ा रहा। उस समय सारा साम्राज्य चिन्ताग्रस्त हो गया। अकबर के प्रति विश्वासपात्र दो ही व्यक्ति थे—एक अबुलफज़ल और दूसरे भानुचन्द्रोपाध्याय, जिन्हें अकबर से मिलने की छूट थी। उपाध्याय जी का सानिध्य पाकर सम्राट ने पूर्ण स्वास्थ्य लाभ किया। सारा साम्राज्य आनन्दित हो उठा।

२. **आचार्य हीरविजय सूरि आदि जैन मुनियों का अकबर पर प्रभाव**—इन जैन साधुओं की विपुल-भव्यता, अनिवार्य आकर्षण शक्ति, असाधारण चरित्र, व्यापक ज्ञान सम्पन्नता, इस बात से मिल जाते है जिनके प्रभाव से अकबर जैसा चतुर, कट्टर और कठिनाई से प्रसन्न होनेवाला सम्राट भी एक विनम्र आज्ञाकारी शिष्य के समान आप के वश में होगया और उसके मन पर काबू पा लेना आप जैसे ज्योतिर्धरों के अलौकिक सामर्थ्य का जीता-जागता सबूत है। इस प्रभाव के कारण हिन्दू और जैन जनता के लाभ के लिये, प्राणीमात्र को अभयदान दिलाने के लिये आप लोगों ने फ़रमान (आज्ञापत्र) प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। यह आप के सामर्थ्य का ज्वलंत उदाहरण है।

३. **सार्वजनिक हित की दृष्टि**—हीरविजय सूरि आदि जैनमुनियों की दृष्टि सर्वजनहिताय थी। उन्होंने केवल जैनों के लिये ही नहीं, परन्तु सारे मानवसमाज के लिये और पशु-पक्षियों की भलाई के लिये ही सब कुछ किया। इसकी पुष्टि के लिये इनके द्वारा प्राप्त किये हुए मुगल सम्राटों के फरमान ही बस है।

अकबर ने वर्ष में छह मास तक जीववध बन्द करने का आदेश दिया था। इस बात का उल्लेख बदायुनी ने इस प्रकार किया है—

"In these days 996 (Hijri), 1583 A.D.[1] (1640 Vikram Samwat) new orders were given. The killing of animals on certain days was forbiden, as on sundays, because this day is scared of the Sun, during the first 18 days of the month of Farwardin ; the whole month of Abin (the month in which His Majesty was born) and several other days to please the Hindus. The order was extended over the whole realm and Capital punishments was inflicted on every one who acted against the command.[2] (Badaoni P. 312)

बदायूनी इस बात की भी पुष्टि करता है कि सम्राट हिन्दुओं की तरह अपने मस्तक पर तिलक लगाता था, दाढ़ी मुंडवाने लग गया था, हिन्दू पोषाक को पहनना बहुत पसन्द करने लगा था, प्रतिदिन सूर्यसहस्र नाम का पाठ करता था, शिकार खेलना तथा मांस खाना एकदम बन्द कर दिया था।

सारांश यह है कि जगद्गुरु जैन श्वेतांबराचार्य श्री हीरविजय सूरि आदि के उपदेश से

1. इसी वर्ष अकबर ने हीरविजय सूरि को जगद्गुरु की पदवी देकर उन्हें अपना गुरु माना था।
2. इसका भावार्थ पहले दिये गये उदाहरणों में आ चुका है।

सम्राट सर्वधर्म समन्वयवादी बना, मांस, मदिरा, परस्त्रीगमन, वैश्यादिगमन, शिकार आदि सातों कुव्यसनों का त्यागी बनकर सचरित्रवान बना, भारत में बसने वाली सब जातियों, कौमों, धर्मों, मजहबों को समझने तथा उनमें से वास्तविक कल्याणकारी मार्ग अपनाने में अपनी प्रजा को भी सन्मार्ग में प्रेरित करने में रात-दिन प्रयत्नशील रहने लगा। शिकार, मांसाहार और हत्याओं का स्वयं त्याग करके अतिक्रूर से दयालु बना। दूसरों को भी सदाचारी बनाने केलिए साम-दाम-दंड आदि नीतियों से काम लेने लगा। देश में सब धर्म सम्प्रदायों और जातियों में परस्पर प्रेम और मेलजोल बढ़ाने में अग्रसर हुआ। सतत धर्म चर्चाएं करके वह आत्मा, परमात्मा, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझ पाया था। जिसके परिणामस्वरुप अकबर के जीवन, धर्मविश्वास और उसकी राजनीति में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। ऐसा होने से अकबर को भारत पर एकछत्र राज्य सत्ता में शांत वातावरण पाने का और प्रजा को अपने-अपने धर्मों का पालन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

प्राय: सर्वथा शून्य से प्रारंभ करके इस वीर, प्रतापी, महत्वाकांक्षी, दृढ़निश्चयी, उदार-सम्राट ने एक अति विशाल, सुगठित, सुव्यवस्थित, सुशासित, समृद्ध एवं शक्तिशाली, साम्राज्य का निर्माण एवं उपभोग किया। महादेश भारतवर्ष के बहुभाग पर उसका एकाधिपत्य था, उसके शासनकाल में देश की बहुमुखी उन्नति हुई। विश्व के सर्वकालीन महानरेशों में मुग़लसम्राट अकबर की गणना की जाती है। उसकी इस महान सफलता के कारणों में उसकी उदारनीति, न्यायप्रियता, धार्मिकसहिष्णुता, वीरों और विद्वानों का समादर और स्वयं को भारती और भारतीयों को अपना ही समझना संभवतया प्रमुख थे। यदि यह महत्वाकांक्षी था तो गुणग्राहक, दूरदर्शी एवं कुशलनीतिज्ञ भी था।

शांति चन्द्रोपाध्याय अपने कृपारसकोश नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि—"पहले मृतक-धन को जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से विक्रम की १३वी शताब्दी में महाराजा कुमारपाल ने छोड़ा था और अब इस समय आचार्य हीरविजय सूरि के उपदेश से अकबर बादशाह ने छोड़ दिया है। पहले गायों को बन्धन ने अर्जुन ने मुक्त किया था, इस समय उनको वधमुक्त अकबर ने किया है। प्रजा से लिए जानेवाले जजिया कर को त्याग करने से इस बादशाह ने उज्ज्वल यश से कर्ण, विक्रम और भोज जैसे दानवीर नृपतियों के यश को भी उल्लंघन कर ऊंचे आदर्श को कायम किया है। जीवहिंसा का निषेध करके स्वयं और अनेक राजाओं से भी दयाधर्म के पालन करने-कराने से सर्वशिरोमणि बन गया है। मतलब यह है कि कुमारपाल राजा के बाद अकबर बादशाह ने ही दया का विशेष पालन किया-कराया है। शांतिचन्द्र उपाध्याय ने कृपारस कोश में लिखा है कि इसी ग्रंथ के कारण बादशाह ने ये सब कार्य किये।

यह सब प्रताप हीरविजय सूरि आदि जैन साधुओं के तप-त्याग-संयम, निस्वार्थ संयममय उत्तम चरित्र, सर्वधर्म सहिष्णुता, एवं स्व-पर-कल्याणकारी सद्ज्ञानमय जीवन का ही था। अत: यदि सच पूछा जाये तो यह सारा उपकार भारतीय प्रजा पर जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि ने किये, इससे भारतीय प्रजा कभी उऋण नहीं हो सकती।

३. अकबर के समय में जिन्सों के भाव[1]—

गेहूं=१ रुपये का १८५ रतल (९० सेर)[2]	सफ़ेद खांड=१ रुपये की १७ रतल
जव=१ रुपये का २७७॥ रतल (१३५ सेर)	काली खांड=१ रुपया की ३९ रतल
चावल मोटा=१ रुपया का १११ रतल	नमक=१ रुपया का १३७ रतल
गेहूं का आटा=१ रुपया का १४८ रतल	जवार=१ रुपया का २२२ रतल
दूध=१ रुपया का ८९ रतल	बाजरा=१ रुपया का २७७॥ रतल
घी=१ रुपया का २१ रतल	मकई=१ रुपया की २७७॥ रतल

एक तरफ़ प्रजा के सुख के लिए अकबर द्वारा की गई अनुकूलताओं से प्रजा को निश्चिंतता मिली थी दूसरी तरफ़ रोज़ के इस्तेमाल करने की वस्तुएं भी कितनी सस्ती थी कि चाहे कैसा भी गरीब क्यों न हो वह अपना निर्वाह आसानी से कर लेता था। उपर्युक्त तालिका से हम स्पष्ट जान पाते हैं।

४— वर्तमान स्वतंत्र भारत में जिन्सों के भाव—(ई० स० १९७९)

गेहूं	१ किलो[3]-रुपया	१·३०	गेहूं का आटा	१ किलो, रुपया	१·५०
जव	,, ,,	१·२५	सफ़ेद खांड	,, ,,	२·५०
चावल मोटा	,,	१·८०	नमक	,, ,,	०·८०
दूध	,, ,,	२·७५	बाजरा	,, ,,	१.४०
घी	,, ,,	२५·००	मकई	,, ,,	१·४०

५—अकबर के विषय में पुर्तगेज़ पादरी पिनहरो (Pinheiro) के दो पत्र[4]—

पिनहरो नामक पुर्तगेज पादरी के लाहोर से ता० ३ सितम्बर १५७५ ईस्वी (वि० सं० १६५२ में अकबर की मृत्यु से १० वर्ष पहले) को अपने देश में लिखे हुए पत्रों का एक वाक्य डा० विसेन्ट ए० स्मिथ के अंग्रेजी अकबर में से हम उद्धृत कर आये हैं। उन पत्रों में उसने जो जैनों के संबंध में विशेष रूप से लिखा था, वह इस प्रकार है—

(1) "This king (Akbar) *worships God and the Sun,* and is a Hindu [Gentile]; he follows the sect of Vertic, who are like monks living in Communities [Congregatione] and do much penance They eat nothing that has had life [anima] and before they sit down, they sweep the place with a brush of cotton, in order that it may not happen [non si affironti] that under them any

1. देखें—The value of money at the Court of Akbar by W.H. Moreland (article) Journal of the Royal Associatic Society 1918 A.D. July and October P. 375, 385.
2. सेर ८० तोला
3. किलो ८६ तोला
4. पिनहरो के इन दोनों पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० वीसेंट ए० स्मिथ ने अपने ता० २-११-१९१८ ई० के पत्र के साथ जैनाचार्य शास्त्रविशारद विजयधर्म सूरि को भेजा था।

worm [or 'insect' vermicells] may remain and be killed by their sitting on it. These people hold that the world existed from eternity, but others say, No, many worlds having passed away. In this way they say many silly things, which I omit so as not to weary your reverence."

"अर्थात् राजा अकबर ईश्वर और सूर्य को पूजता है और वह हिन्दू है। वह व्रति[1] सम्प्रदाय का अनुसरण करता है। वे 'व्रति' मठवासी साधुओं के समान बस्ती (उपाश्रय) में रहते हैं और बहुत तपश्चर्या करते हैं। वे कोई भी सजीव (सचित) वस्तु नहीं खाते और जमीन पर बैठने से पहले जमीन को रूई (ऊन) की पीछी (ओघा) से साफ़ (पडिलेहण) करते हैं। ताकि जमीन पर रहे हुए जीव-जन्तु नष्ट न हों। इन लोगों का ऐसा मानना है कि—जगत अनादि है, और यह भी कहते हैं कि बहुत दुनियाएं हो गई हैं। ऐसी मूर्खता भरी (?) बातों से आप श्रीपूज्य को परेशान न करते हुए, इतने मात्र से विराम लेता हूं।"

(२) इसी प्रकार एक दूसरा पत्र पिनहरो ने ता० ६ नवम्बर १५६५ ई० को अपने देश में लिखा था। उसमें जैनों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है, वह इस प्रकार है—

"The Jesuit narrates a conservation with a certain *Babansa* (? Baban Shah) a wealthy notable of Cambay (Khambhat) favourable to the fathers.

He is a deadly enemy of certain men who are called Verteas, concerning whom I will give some alight information [delli qualitocara casa].

The Verteas live like monks together in cemmunities [congregatione] ; and when I went to their house [in cambay] they were about fifty of them there. They dress in certain white clothes ; they do not wear anything on the head ; their beards are not shaved with a razor, but pulled out, because all the hairs are torn out from the beards, and like wise from the head, leaving none of them, save a few on the middle of the head upto the top, so that they left a very large bald space.

1. व्रती—यह दूसरा कोई नहीं है, किन्तु जैनसाधु ही हैं। उस समय के अधिकतर लेखकों ने अपनी पुस्तकों में जैनसाधु को व्रती के नाम से ही लिखा है। 'डिस्क्रिप्शन आफ़ एशिया' नामक पुस्तक, जो कि ई०स० १६७३ में प्रकाशित हुई है, उसके पृष्ठों ११५, २१३, २३२ आदि में भारतवर्ष के जैनसाधुओं का वर्णन आया है, वह व्रती शब्द से ही दिया है। यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध गुजराती कवि शामलदास ने भी 'सूडा बहोतेरी' में व्रती शब्द से ही जैन साधु का उल्लेख किया है। व्रती शब्द की व्युत्पत्ति से अर्थ व्रतमस्या-ऽस्तीति व्रती (जिन्हें व्रत हो वे) होता है। परन्तु रूढ़ी से व्रती शब्द जैनसाधुओं के लिये ही प्रयुक्त हुआ है—अथ च उपर्युक्त पत्र में जो व्रती का स्वरूप तथा उनकी मान्यता का उल्लेख किया वे सब जैनश्वेतांबर मूर्ति-पूजक हीरविजय सूरि आदि साधुओं के साथ बराबर मेल खाते हैं। जैसे—

१. उपाश्रय में रहना, २. बहुत तपश्चर्या करना, ३. सजीव (सचित) आहार का त्याग, ४. ओघे से जमीन का साफ़ (पड़िलेहण) करना ताकि जीव-जन्तु नष्ट न हों, ५. जगत अनादि है। इत्यादि—।

They live in poverty, receiving in alms what the given has in excess of his wants for food. They have no wives. They have (the teaching of) their teaching sect written in the script[1] of Gujrat (nagrilipi). They drink warm water, not from fear of catching cold, but because they say that water has a Soul, and that drinking it without, heating it kills its Soul, which God created, and that is a great sin, but when heated, it has not a Soul. And for this reason they carry in their hands certain brushes, which with their handles look like pencils made of cotton (bambaca) and these they use to sweep the floor or pavement whereon they walk, so that it may not happen that the Soul (anima) of any worm be killed. I saw their prior and superior (maggiore) frequently sweep the place before sitting down by reason of that scruple. Their chief Prelate or Supreme Lord may have about 100,000 men under obedience to him, and every year one of them is elected. I saw among them boys of eight or nine years of age, who looked like Angels. They seem to be men, not of India, but of Europe. At that age they are dedicated by their fathers to this Religion.

× × ×

They hold that the world was created millions of millions ago, and during that space of time God has sent twenty three Apostles, and that now in this last age, he sent another one, making twenty-four in all, which must have happened about two thousand years ago, and from that time to this they possess scriptures which the other [Apostles] did not compose.

Father Xavier and I discoursed about that saying to them, this one (questo) [Seil apparently the last Apostle] concerned their Salvation.

The Babansa aforesaid being interpreter, they said us, as we shall talk about that another time, but we never returned there although they pressed us earnestly, because we departed the next day."

अर्थात्—पादरियों के अनुकूल खंभात शहर के धनाढ्य उमराव बाबनसा[2] (बाबनशाह) के साथ हुई बातचीत को पादरी नीचे लिखे अनुसार लिखता है—

वह 'व्रती' के नाम से पहचाने जानेवाले मनुष्यों का कट्टर शत्रु है, उन व्रतियों के विषय में मैं किंचित लिखता हूं।

व्रती लोग साधुओं के समुदाय में रहते हैं और जब मैं उन के स्थान (खंभात) में गया तब उन में से लगभग पचास व्यक्ति वहाँ थे। वे अमुक प्रकार के श्वेतवस्त्र[3] पहनते हैं, वे

1. पेरुशी के पृष्ठ ५२ में से किया हुआ अनुवाद । यह जिकर मेंकलेगन ने भी अपने लेख के पृष्ठ ६५ में किया है।

2. बाबनसा, यह पारसी गृहस्थ का नाम है उस का शुद्ध नाम बहमनशा होगा ऐसा ज्ञात होता है। उस समय में खंभात में पारसी गृहस्थ रहते थे।

3. श्वेतवस्त्र पहनने वाले साधु श्वेतांबर मूर्तिपूजक साधु थे और आज भी हैं। ढूंढिये साधु चौबीस घंटे अपने मुंह पर एक कपड़ा (मुखवस्त्रिका) बांधे रहते हैं इस मत का प्रादुर्भाव वि० सं० १७०९ में लवजी नाम के साधु से हुआ था। शुद्ध आचार वालों की पहचान के लिये। इसी वर्ष श्वेतांबर साधुओं में पीली चादर का भी प्रचलन हुआ।

सिर पर कुछ नहीं ओढ़ते, तथा उस्तरे से दाढ़ी की हजामत भी नहीं करते। पर वे दाढ़ी को नोच डालते हैं। अर्थात् दाढ़ी तथा सिर के बालों को उखाड़ने को वे लोच कहते हैं। सिर के बीच के थोड़े भाग में बाल होते हैं। इसलिये उनके सिर में बड़ी ढढरी पड़ गई होती है।

वे निर्ग्रंथ है, भिक्षा में खाद्यपदार्थ (गृहस्थों की आवश्यकता से) जो बचा खुचा हुआ होता है वही लेते हैं।

उन की स्त्रियां नहीं होतीं, गुजरात की भाषा (नागरीलिपि) में उन के धर्मग्रंथ लिखे होते हैं।[1] वे गरम किया हुआ पानी पीते है। यह सर्दी लगने के भय से नहीं[2], किन्तु ऐसे मन्तव्य से कि पानी में जीव है और उबाले बिना यदि पीया जावे तो उस जीव का नाश होता है। यह जीव परमेश्वर ने[3] बनाया है और उसे (उबाले बिना) पीने में बहुत पाप है। पर जब उबाला जाता है तब उस में जीव नहीं रहता और इसी कारण से वे अपने हाथ में अमुक प्रकार की पीछियाँ (ओघे) लिये फिरते है। ये पीछीयां उन के डंडों के साथ रूई (ऊन) की बनाई हुई सीसपेनों जैसी लगती हैं। इन पीछीयों द्वारा जमीन अथवा दूसरी जगह, जहाँ कि उन्हें चलना होता है, साफ़ करते हैं। क्योकि ऐसा करने से किसी जीव की हत्या न हो। इस वहम के लिये उनके बड़ों तथा नेताओं को मैने बहुत बार जमीन साफ़ करते हुए देखा है। उनके साथी बड़े नायक के हाथ नीचे, उन की आज्ञा में रहनेवाले लाखों मनुष्य होंगे और प्रत्येक वर्ष इन में से एक (नेता-आचार्य) चुना जाता है। मैने उन में आठ-नौ वर्ष की आयु के बच्चे भी देखे जो देव के समान (सुन्दर) लगते थे। वे भारत के नही किन्तु योरुप के हों, ऐसे लगते थे। इतनी उम्र में उनके माता-पिता उन्हें धर्म के लिये अर्पण कर देते हैं।

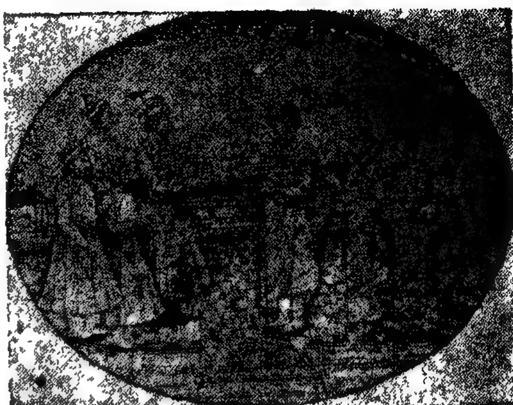
× × ×

वे पृथ्वी को अनादि मानते हैं और मानते हैं कि—इतने समय में (अनादिकाल में) उनके ईश्वर ने २३ धर्मप्रवर्तकों को भेजा।[4] और इस अन्तिम युग में दूसरा एक, और (प्रवर्तक) भेजा। अर्थात् चौबीस हुए। इस चौबीसवें को हुए दो हजार वर्ष हो गये हैं। (तत्पश्चात् अब कोई धर्म

1. इस समय छापेखाने (Printing Press) नहीं थे। विद्यार्थी लोग पाठ्य पुस्तको को हाथ से लिख लेते थे।
2. गरम पानी का व्यवहार श्वेतांबर मूर्तिपूजक साधुओं केलिये अनिवार्य है। किन्तु अन्य जैनसम्प्रदाय के साधु कच्चा छना हुआ तथा धोवन आदि का पानी भी ले लेते हैं।
3. जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव अनादि है उसे ईश्वरादि कोई बनाता नहीं। पादरी ने यह बात अज्ञानता से लिखी है।
4. जैनदर्शन की मान्यता है कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता हरता नहीं है और न ही वह किसी अवतार को भेजता है। मानव स्वयं ही अपनी आत्मसाधना से तीर्थंकर बनकर धर्म-प्रवर्तक बनता है। चौबीस धर्मप्रवर्तक कर्मों का क्षय कर अन्त में निर्वाण पाकर सदा के लिये जन्म-मरण रहित होकर सिद्ध स्वरूप अरूपी परमात्मा हो जाते हैं।



सम्राट् के वेष में अकबर



अकबर द्वारा जैनाचार्य हीरविजय सूरि का स्वागत



हिन्द वेष में सम्राट अकबर

नं० १
आचार्य हीरविजय सूरि के नाम अकबर बादशाह का फरमान

नं० २
आचार्य जिनसेन सूरि के नाम अकबर बादशाह का फ़रमान

नं० ३
मुनि विवेक हर्ष आदि के नाम जहांगीर बादशाह का फरमान

नं० ४
भानुचन्द्र आदि जैनमुनियों के लिये जहांगीर बादशाह का फरमान

प्रवर्तक नहीं होगा) तब से लेकर आज तक के दूसरों के न बनाये हुए (अंतिम धर्मप्रवर्तक के असल) ग्रंथ उन के पास हैं।

फ़ादर ज़ेवियर और मैंने उनके साथ बातचीत की और पूछा कि अन्त में आप लोगों का उद्धार है अथवा क्या होगा ?

उपर्युक्त बाबनसा हमारा दुभाषिया (दूसरी भाषा में अनुवाद करके बताने वाला) था। उसने हमें कहा—कि इस विषय पर हम फिर बात करेंगे। परन्तु हमे दूसरे दिन वहाँ से निकल गये। इसलिये हम से फिर जाना नहीं हो सका। यद्यपि उन्होंने हमें बहुत ही आग्रह किया हुआ था।

मुग़ल सम्राटों के चार फ़रमान

जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि के लिये दिया हुआ फरमान

फरमान नं० १ की नकल

अल्लाहु अकबर

जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह ग़ाज़ी का फ़रमान।

अल्लाहु अकबर की छाप (मोहर) के साथ श्रेष्ठ फरमान की नकल

(असल मुजब है)

महान-राज्य के सहायक, महान-राज्य के वफादार, अच्छे स्वभाव और उत्तम गुणवाले अजित राज्य को सुदृढ़ बनाने वाले, श्रेष्ठराज्य के विश्वासपात्र, शाही उदारता के भोगी, बादशाह की दृष्टि में पसंद, उच्चदर्जे के ख़ानों में उदाहरण स्वरूप, **मुबारिज़ुद्दीन** (धर्मवीर) **आज़मख़ाँ** ! जो बादशाही मेहरबानियों और बक्षीशों की बहुतात (वृद्धि) से श्रेष्ठता को पाये हुए हैं, वह ज्ञात करें कि जो भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजोंवाले, भिन्न-भिन्न धर्मवाले, भिन्न-भिन्न विचारधारा वाले और भिन्न-भिन्न पंथवाले हैं। सभ्य अथवा असभ्य, छोटा अथवा बड़ा, राजा अथवा रंक, दाना (बुद्धिमान) अथवा नादान (बेसमझ), दुनिया के प्रत्येक जाति तथा श्रेणी के लोग कि जो प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का नूर प्रकट करने का स्थान है एवं दुनियाँ को पैदा करनेवाले द्वारा निर्माण किये हुए भाग्य को प्रकटकरने की असल जगह है तथा सृष्ठि संचालक (ईश्वर) की आश्चर्यकारक अमानत (धरोहर) है। वे अपने-अपने श्रेष्ठमार्ग में दृढ़ रह कर प्रत्येक हेतु को प्राप्त करें तथा तन मन का सुख भोग कर प्रार्थना तथा नित्यक्रियाओं में एवं अपने प्रत्येक हेतु को पाने में संलग्न रहते हुए श्रेष्ठ बक्षीस करनेवाले (ईश्वर) की तरफ़ से हमें दीर्घायु मिले और उत्तमकार्य करने की प्रेरणा मिलती रहे, ऐसी दुआ (प्रार्थना) करें। क्योंकि मनुष्य जाति में से एक को सिंहासनारूढ होकर ऊंचे चढ़ने में और सरदारी की पोषाक पहनने में समझदारी (सार्थकता) यही है कि उस असाधारण मेहरबानी और अत्यन्त दया --जो ईश्वर की सम्पूर्ण दया का प्रकाश है, उसे अपनी दृष्टि में रखकर यदि उन सब (प्रजा) के साथ मित्रता प्राप्त न करसके तो कम से कम सब के साथ सुलह और संप रखकर पूजनेयोग्य परमेश्वर के सब बन्दों केसाथ मेहरबानी, स्नेह और दया के मार्ग पर तो चलें तथा ईश्वर की पैदा की हुई सब वस्तुओं (प्राणियों) को जो महासामर्थ्य परमेश्वर की दृष्टि का फल है, उन (प्राणियों) की सहायता करने की दृष्टि रखकर उन की आव-

श्यकताओं को पूरा करने में और उन के रीतिरिवाजों को अमल में मदद करें कि जिस से बलवान निर्बल पर अत्याचार न करें। प्रत्येक मानव अपने मन से प्रसन्न और सुखी रहे।

अतः योगाभ्यास करने वालों में श्रेष्ठ **हीरविजय सेवड़ा**[1] और उन के धर्म को मानने वाले, जिन्होंने हमारी हज़ूर में हाजिर होने का गौरव प्राप्त किया है तथा हमारे दरबार के सच्चे हितैषी हैं, उन के योगाभ्यास की आराधना, वृद्धि एवं परमात्मा की शोध का ध्यान रखते हुए यह हुक्म दिया जाता है कि उस नगर (उस तरफ़) के रहने वालों में से किसी को भी उन्हें परेशान नही करने देना। उनके मंदिरो तथा उपाश्रयों में (कोई भी अन्यव्यक्ति) उतारा न करे। उन की अवहेलना भी नही करे। यदि उनका (मंदिर, उपाश्रय) कोई ढह गया हो अथवा उजाड़ हो गया हो, और उसे मानने वालो, अथवा दाता लोगों में से कोई सुधारने (जीर्णोद्धार करने) अथवा पुनर्निमाण करना चाहे तो उसे कोई बेवकूफ अथवा धर्मांध रुकावट न डाले। वर्षा की रुकावट अथवा अन्य अनेक कार्य जो ख़ुदा (ईश्वर) के अधिकार में हैं यदि ख़ुदा को पहचानने वाले अपनी नासमझी और बेवकूफ़ी से उन्हे जादू का काम जानकर बेचारें खुदा को पहचानने वालों (जैन साधुओं) के माथें मढते हैं अथवा उन्हे अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं, यदि तुम समझदार और भाग्यशाली हो तो ऐसे कार्य तुम्हारे रक्षण और बन्दोबस्त में नहीं होने चाहिये। ऐसा भी सुना है कि **हाजी हबीबुल्लाह्**[2] कि जो हमारी सत्य की खोज और खुदा की पहचान के विषय में कुछ जानता है, उस ने इन्हें (हीरविजय सूरि को) कष्ट पहुचाया है, इस से हमारे पवित्र मन को जो दुनिया का बन्दोबस्त करनेवाला है बहुत धक्का लगा है (दुःख हुआ है)। इसलिये तुम्हे अपनी रियासत मे ऐसा समाधान करना चाहिये कि आयंदा कोई किसी पर अत्याचार न करने पावे। वहां के वर्तमान तथा भविष्य में होनेवाले हाकिम नवाब और रियासत में पूरा अथवा अंशरूप मे काम करनेवाले मुसद्दियों का यह कर्तव्य है कि बादशाह की आज्ञा जो परमेश्वर की आज्ञा का रूपांतर है, उसे अपनी स्थिति जो सुधारने केलिये साधन जान कर उस के विपरीत आचरण न करें। ऐसा करने में ही दीन और दुनियां का सुख तथा अपनी सच्ची इज़्ज़त तथा आबरू जानें।

---

1. श्वेतांबर जैनसाधुओं के लिये संस्कृत में श्वेतपट शब्द है। उसका अपभ्रंश भाषा में सेवड़ा रूप होता है। यह रूप अधिक बिगड़ कर सेवडा हुआ है। सेवड़ा शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है—श्वेतांबर जैनगृहस्थों के लिये और श्वेतांबर जैनसाधुओ के लिये। अब भी गुजरात-राजस्थान में मुसलमान आदि लोग जैन साधुओ को सेवड़ा के नाम से भी पुकारते हैं।

2. एकदा खंभात में अकबर की तरफ से हबीबुल्लाह् मुसद्दी नियुक्त था इसने महिया नामक एक गृहस्थ के साथ मिलकर हीरविजय सूरि को बहुत कष्ट दिया और उन्हें खंभात से निकल जाने का हुक्म दिया। तब वे अन्यत्र चले गये। जब अकबर को इस बात का पता लगा तो उसे कड़े से कड़ा दंड देने के लियें आजमखां को लिखा। जब हबीब-उल्लाह् को इस बात का पता लगा तब उसने सूरिजी से क्षमा मांगी और बड़े-बड़े सम्मान तथा शाही स्वागत के साथ जगद्गुरु का प्रवेश महोत्सव किया. एवं आपका सेवक हो गया।

इस फ़रमान को पढ़कर अपने पास नकल रख लेना और उन्हें (हीरविजय सूरि को) दे देना जिस से सदा के लिये (उन के पास) सनद रहे। जिस से वे अपनी भक्ति की क्रियाएं करने में चिंतातुर न रहें तथा ईश्वर भक्ति में उत्साह रखें। इसी को जानकर इसके विपरीत कोई कार्य न हो (इसकी सदा सावधानी रखी जावे)। इलाही संवत् ३५ के अमरदाद महीने की छठी तारीख के ख़ुरदाद नाम के दिन लिखा। मुताबक २८ माहे मुहर्रम सन् ९९९ हिजरी।

मुरीदों (अनुयायियों) में से नम्र में नम्र अबुलफ़ज़ल के लिखने से और इब्राहिम हुसेन की निविश्त से।

(नकल असलमूजब है)

आचार्य श्री विजयसेन सूरि (सूरिसवाई) के लिये दिया हुआ फ़रमान

फ़रमान न० २ का अनुवाद

अल्लाहु अकबर

अबुअलमुज़फ्फ़र सुलतान.........(अकबर) का हुक्म (आज्ञा)

ऊंचे दर्जे के निशान की नकल असल के अनुसार है।

"इस समय ऊंचेदर्जे वाले निशान को बादशाही मेहरबानी से निकलने का गौरव मिला (है) कि—वर्तमान अथवा भविष्य के हाकिम, जागीरदार करोड़ियों और सूबे गुजरात एवं सौराष्ट्र सरकार के मुसद्दियों को (सूचित किया जाता है कि) सेवड़ा लोगों (जैनों) के पास (हमारा दिया हुआ) गाय और बैल, भैंस और भैंसा को कभी भी मारने की तथा उनके चमड़ा उतारने की मनाही के लिये सुख के चिन्हवाला फरमान है। इस श्रेष्ठ फ़रमान के पीछे लिखा हुआ है कि प्रतिमास के कुछ दिनों में खाने की इच्छा (कोई) न करें।[1] यह (अपना) उचित कर्तव्य समझें तथा जिन पक्षियों ने घर में अथवा वृक्षों पर घोंसले बनाये हों उनका शिकार करने से अथवा कैद करने से (पिंजरों में डालने से) दूर रहने में पूरी सावधानी रखें (तथा) इस मानने योग्य फ़रमान में लिखा है कि "योगाभ्यास करनेवालों में श्रेष्ठ हीरविजय सूरि के शिष्य विजयसेन सूरि सेवड़ा[2] एवं उन के धर्म को पालने वाले (जैनसाधु) जिन्हें हमारे दरबार में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त हुआ है और जो हमारे दरबार के हितेच्छू हैं, उन के योगाभ्यास की वास्तविकता, वृद्धि तथा परमेश्वर की शोध पर दृष्टि रख कर हुकम हुआ है कि इनके मंदिर और उपाश्रय में कोई उतरे नहीं और इन की अवहेलना भी (कोई) न करे। यदि उनके मंदिर व उपाश्रय जीर्ण-शीर्ण हो गये हों और उस को मानने वाले, चाहने वाले अथवा दानियों में से

---

1. देखें फरमान का वर्णन।
2. सेवड़ा शब्द पहले फरमान में हीरविजय सूरि के साथ तथा दूसरे फरमान में उन्हीं के पट्टधर शिष्य सूरिसवाई आचार्य विजयसेन सूरि के नाम के साथ आया है ये दोनों गुरु-शिष्य तपागच्छीय श्वेतांबर जैनधर्म के नेता थे। अतः इससे स्पष्ट है कि सेवड़ा शब्द का प्रयोग श्वेतांबर जैनों के लिये ही हुआ है। बौद्धों अथवा दिगम्बरों के लिये नहीं।

कोई उनका जीर्णोद्धार (मुरम्मत) करना चाहे अथवा उनका निर्माण करना चाहे तो कोई कम-अकल अथवा धर्मान्ध उन्हें रोके नहीं। वर्षा की रुकावट अथवा अन्य अनेक कार्य जो खुदा (ईश्वर) के अधिकार में हैं, यदि ख़ुदा को न पहचाननेवाले अपनी नासमझी और बेवकूफी से उन्हें जादू का काम जानकर बेचारे ख़ुदा को पहचाननेवालों (जैनसाधुओं) के माथे मढ़ते हैं अथवा उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं और वे जो धर्मक्रियाएं करते हैं उन में भी रुकावट डालते हैं। उन बेचारों पर ऐसे आरोप न होने दें, उन्हें अपने स्थान पर भक्ति का कार्य और धर्मक्रियाएं करने दें (ऐसी व्यवस्था करें)।"

(इस) श्रेष्ठ फ़रमान के अनुसार (अधिकारी लोग) अमल में लाकर ऐसी सावधानी बरतें कि इस फ़रमान का पालन उत्तम से उत्तम रीति से हो। और इस (फ़रमान) के विरुद्ध कोई अन्य हुकम न करें। अपने कर्तव्य को जानकर कोई भी इस फ़रमान की अवहेलना न करे। ता० १ शहर्यु, २ रा महीना, इलाही सन् ४६ तदनुसार ता० २५ महीना सफर सन् १०१० हिजरी।

फरमाणों के पीछे लिखे का वर्णन

फ़रवरदीन महीना, जिन दिनों में सूर्य एक राशी में से दूसरी राशी में जाता है वे दिन, ईद, मेहर के दिन, प्रत्येक मास का रविवार, वे दिन कि जो दो सूफियों के बीच में आते हैं, रजब महीने के सोमवार, आबान महीना जो बादशाह के जन्म का महीना है, प्रत्येक सौर्य मास का पहला दिन जिस का नाम ओरमझ (संक्रांति) है तथा बारह पवित्र दिन (श्वेतांबर जैनों का पर्युषण पर्व) जो (गुजराती) श्रावण मास के अन्तिम छह दिन (भादों बदि १० से अमावस तक) और भादों सुदि के पहले छह दिन (भादों सुदि १ से ६ तक) मिलकर होते हैं।

निशाने आलीशान की नकल असल मूजब है

मोहर छाप

इस छाप में मात्र काज़ीखान मुहम्मद का नाम पढ़ा जाता है इसके सिवाय अन्य अक्षर नहीं पढ़े जाते।

मोहर छाप

इस छाप में अकबरशाह मुरीदज़ादा दाराब[1] इस प्रकार लिखा है।

—•—

बादशाह जहांगीर का फ़रमान
फ़रमान नं० ३ का अनुवाद
अल्लाहु अकबर

ता० २६ फ़रवरदीन सन् ५ के इकरार (वचन) के अनुसार फ़रमान की नकल

हमारे द्वारा सुरक्षित (आधीन) किये हुए राज्यों के बड़े हाकिमों, बड़े दीवानों, दीवानी

1. दाराब का पूरा नाम मिर्जा दाराबखान था। यह अबदुर्रहीम खानखाना का पुत्र था।

महान् कार्यों के कारकुनों, राज्य कारभार के व्यवस्थापकों, जागीरदारों और करोड़ियों को सूचित किया जाता है कि दुनियां के (दिलोंको) जीतने के अभिप्राय से हमारा इन्साफ़ी इरादा (न्यायिक विचार) ईश्वर को प्रसन्न करने में दत्तचित्त है। हमारे दृष्टिकोण का पूरा उद्देश्य तमाम दुनियाँ (सारे विश्व) को जिसे परमेश्वर ने बनाया है, उसे प्रसन्न करने की तरफ़ है। (उसमें भी) विशेष करके पवित्र विचारवालों और मोक्षधर्मवालों का, जिनका उद्देश्य सत्य की खोज और परमेश्वर की प्राप्ति है; उन्हें संतुष्ट करने के लिये हम (विशेष) ध्यान रखते हैं। अतः विवेकहर्ष[1] परमानन्द[2] महानन्द[3], और उदयहर्ष ये तपा-यति (तपागच्छ के साधु) (सूरि-सवाई) विजयसेन सूरि, विजयदेव सूरि[4] तथा नन्दिविजयजी जो खुशफ़हम की पदवीधारी हैं; उनके शिष्य हैं। ये हमारी हुजूर में थे, इन्होंने निवेदन और विनती की थी कि 'आपके द्वारा सुरक्षित (आधीन) सारे राज्य में हमारे पवित्र १२ दिन जो भादों पर्युषण के दिन हैं, उनमें (सारे) हिंसा करने के स्थानों में किसी भी प्रकार की हिंसा न की जावे (जो आपके बाप-दादा के समय से चला आता है)। ऐसा करने से आपको गौरव प्राप्त होगा और आपकी उच्च तथा पवित्र आज्ञा से बहुत जीव बच जावेंगे। इस कार्य का उत्तम फल आपके पवित्र, श्रेष्ठ और मुबारिक राज्य को प्राप्त होगा।''

हमारी बादशाही दयादृष्टि प्रत्येक जाति, (जाति) और धर्म के उद्देश्य तथा कार्य को उत्कृष्ट करने के लिये अपितु सभी प्राणियों को सुखी रखने की है। इसलिये इस निवेदन को स्वीकार करके दुनिया को माने हुए और मानने लायक जहांगीरी हुक्म हुआ है कि उपर्युक्त १२ दिनों में प्रतिवर्ष हमारे संरक्षण में राज्य के अन्दर प्राणियों की हिंसा न की जावे और इस (हिंसा) कार्य के साधन भी न जुटाये जावें। एवं इस विषय के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष नई आज्ञा (फ़रमान) अथवा सनद मांगी न जावे। इस हुक्म का पालन (सब) करें और इस (फ़रमान) के विरुद्ध कोई कार्य न किया जावे।

नम्र में नम्र अबुलखैर[5] के लिखने से और महमूद सैयद[6] की नकल से

छाप

छाप पढ़ी नहीं जाती

1. **विवेकहर्ष** तपागच्छीय पं० हर्षानन्द के शिष्य थे। इस महाप्रतापी ने बहुत राजाओं-महाराजाओं को प्रतिबोध देकर जीवदया सम्बन्धी कार्य कराये थे। कच्छ के राजा भारमलजी को जैनधर्मी बनाया था। कच्छ में अनेक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठायें भी की थीं। महाजनवंश मुक्तावली का कर्ता खरतरगच्छीय यति रामलाल ने इन्हें खरतरगच्छीय लिखा है सो यह बात इतिहास से सर्वथा विरुद्ध है। यह फ़रमान विवेकहर्ष को स्पष्ट तपागच्छीय लिखता है।
2. **परमानन्द** उपर्युक्त विवेकहर्ष का गुरु भाई था। तथा हर्षानन्द का शिष्य था। इन्हें भी यति रामलाल खरतरगच्छ का लिखता है जो इतिहास से बिल्कुल विरुद्ध है।
3. **महानन्द** उपर्युक्त विवेकहर्ष का शिष्य था।
4. **विजयदेव सूरि**, विजयसेन सूरि के शिष्य थे। मांडवगढ़ में जहांगीर बादशाह को मिले थे। वि० सं० १६७४ में बादशाह ने प्रसन्न होकर इन्हें महातपा की पदवी दी थी।
5. यह शेख मुबारक का पुत्र और शेख अबुलफ़ज़ल का भाई था।
6. **महमूद सैयद**—यह सुजातखान शादी बेग का दत्तक पुत्र था।

जहांगीर बादशाह का फ़रमान
फरमान नं० ४ का अनुवाद
अल्लाहु अकबर

अब्बुलमुजफ्फ़र सुलतानशाह सलीम (जहांगीर) गाज़ी का दुनिया का मान्य फ़रमान

असल मुजब नकल

जो महान् कार्य करने की आज्ञा करनेवालों को, उन्हें व्यवहार में लाने के प्रेरकों को, कारकुनों को, वर्त्तमान तथा भविष्य के मामलादारों को········और विशेष करके सौराष्ट्र सरकार को बादशाही सम्मान रखते हुए मालूम हो कि भानुचन्द्र यति और खुशफ़हम पदवीधर सिद्धिचन्द्र यति ने हमें अरज की है कि—जजिया कर, गाय, भैंस, भैंसा, बैल, इन पशुओं की हिंसा, प्रत्येक महीने के निश्चित दिनों में, मृत्यु का धन, लोगों को बन्दी बनाना, तथा शत्रुंजय पर्वत पर यात्री दीठ सोरठ सरकार जो कर लेती है इस (उपर्युक्त) सब बातों के लिये आला हजरत (अकबर बादशाह) ने बन्द किया हुआ है और माफ़ किया हुआ है। अतः इन सभी लोगों (भानुचन्द्र आदि) पर हमारी भी सम्पूर्ण मेहरबानी है। उन (पहलेवाली बातों) में एक और महीना कि जिसके अन्त में हमारा जन्म हुआ है मिलाकर नीचे दी गई सूची के अनुसार माफ़ और बन्द करके हमारी श्रेष्ठ आज्ञानुसार (सबलोग) आचरण करें तथा इसके विरुद्ध अथवा हेर-फेर वाला आचरण न करें।

विजयसेन सूरि तथा विजयदेव सूरि जो वहाँ (गुजरात) में है उनका वर्तमान में पता करके एवं जब भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र वहाँ पहुँच जावे तब उनकी भी सार-संभाल रखी जावे और जो वे काम करने को कहें उन्हें सम्पूर्ण किया जावे। जिससे वे (विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र आदि) जीत करने वाले राज्य को सदा मन को सुखी (निराबाध) रखकर अपने (धर्म) कार्यों में लगे रहें। ऊना परगने में इनके गुरु के पगले (चरणबिंब) स्थापित किये हैं। पुराने रिवाज के अनुसार कर आदि से मुक्त जानकर तत्संबन्धी को रुकावट या परेशान नहीं करना।

लेख (लिखा) ता० १४ शहेरीवर महीना, सन् इलाही ५५।

जीव हिंसा निषेध के दिनों की सूची

फ़रवरदीन का महीना, १२ सूर्य संक्रांतियाँ, ईद का दिन, मेहर के दिन, प्रत्येक मास के सब रविवार, सूफ़ियों के दो दिनों के बीच का दिन, रजब महीने के सोमवार, अकबर बादशाह का जन्म का महीना—जो अबान महीना कहलाता है, सौर्य मास का पहला दिन जो ओरमज कहलाता है। बारह बरकतवाले (पर्यूषण महापर्व के) दिन भादों वदि १० से भादों सुदि ६ तक (गुजराती सावण वदि १० से भादों सुदि ६ तक)।

अल्लाहु अकबर

नकल असल मूजब है

छाप मोहर

इस मोहर के अक्षर नहीं पढ़े जाते

—०—

७. तीन मुगल सम्राट तथा तीन जैनाचार्य

जिस प्रकार अकबर, जहांगीर और शाहजहां ये तीन मुगल सम्राट भारत के गौरव को बढ़ाने वाले हो गये हैं वैसे ही जैन श्वेतांबर तपागच्छीय आचार्यों में भी श्री हीरविजय सूरि, श्री विजयसेन सूरि तथा श्री विजयदेव सूरि ये तीनों जैनधर्म के गौरव बढ़ाने वाले हुए हैं। इन तीनों आचार्यों का उपर्युक्त तीनों सम्राटों ने सत्कार किया, सम्मान किया और इनके तप, त्याग, ज्ञान तथा चारित्र से प्रभावित होकर जैनधर्म के प्रति ऊँचा आदर करके और उनके उपदेशों को आचरण में लाकर अपना और जनता जनार्दन का भला किया। विजयदेव सूरि से देवसूर नामक गच्छ की स्थापना हुई। ये शाहजहां के समकालीन थे और विजयसेन सूरि के पट्टधर शिष्य थे। इनका प्रभाव शाहजहां पर पड़ा था।

इस प्रकार हम जान पाये हैं कि मुगल बादशाह बाबर से लेकर शाहजहां तक पांच मुगल शासकों पर तपागच्छीय श्वेतांबर जैनाचार्यों तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों का बराबर प्रभाव रहा। जिसके कारण इनका शासनकाल उत्तरोत्तर भारतवासियों के लिए शांति का कारण और सुखप्रद बन गया।

महाराणा प्रताप सिंह और हीरविजय सूरि

जगद्गुरु हीरविजय सूरि को महाराणा प्रतापसिंह ने भी अपने राज्य में पधारने के लिए अनेक बार विनति पत्र लिखे थे। वह भी जगद्गुरु की कृपा तथा आशीर्वाद का लाभ उठाना चाहता था। परन्तु वृद्धावस्था के कारण आप का वहाँ पधारणा न हो सका। महाराणा के अनेक विनति पत्रों में से हम यहाँ एक पत्र का उल्लेख करते हैं। यह पत्र पुरानी मेवाड़ी भाषा में महाराणा ने स्वयं अपने हाथों से जगद्गुरु को लिखा था। इस पत्र से इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

महाराणा प्रताप सिंह का पत्र

स्वस्त श्री मगसूदानग्र महासुभस्थाने सरब ओपमालायक महाराज श्री हीरबजे सूरजि चरणकमलां अणे स्वस्त श्री बजे-कटक चावडरा देश सुथाने महाराजाधिराज श्री राणा प्रताप संघ जि ली० पगे लागणो वंचसी।

अठारा समाचार भला है. आपरा सदा भला छाईजे। आप बड़ा है, पूजनीक हैं- सदा करपा राखे जीसु ससह (श्रेष्ठ) रखावेगा अप्रं आपरो पत्र अणा दनाम्हें आया नहीं सो करपा कर लेषावेगा। श्री बड़ा हजूररी वगत पदारवो हुवो जी में अठांसु पाछा पदारता पातसा अकब्र जिने जेनावादम्हें ग्रान रा प्रतिबोद दीदो। जीरो चमत्कार मोटो बताया जीव हंसा (हिंसा) छरकली (चिड़ियां) तथा नाम पषेरु (पक्षी) वेती सो माफ कराई जीरो मोटो उपगार कीदो. सो श्री जेनरा ध्रम में आप असाहीज अदोतकारी अबार कीसे (समय) देखता आप जु फेर वे न्हीं आवी पूरब हींदुसस्थान उत्रदेश गुजरात सुदा चारुदसा (चारों दिशा) म्हें ध्रमरो बड़ो उदोतकार देखाणो जठा पछे आप रो पदारणो हुवो न्हीं सो कारण कही वेगा पदारसी आगें सु पटा परवाणा करण रा दस्तुर माफक आप्रे हे जी माफक तोल मुरजाद सामो आवो सा बरतेगा श्री बड़ा हजूररी वषत आपरी मरजाद सामो आवा री कसर पडी सुणी सो काम कारण लेखे भूल रहीवेगा जी री अदेसो नहीं जाणेगा। आगे सु श्री हेमाचार जिने श्री राजम्हे मान्या है जीरो पटो कर देवाणो जी माफक अरोपगरा

भटारख गादी प्र आवेगा तो पटा माफक मान्या आवेगा। श्री हेमाचार जि पेली श्री बड़गच्छ रा भटारख जि ने बड़ा कारण सुं श्री राजम्हे मान्या जी माफ़क आपने आपरा पगरा गादी प्र पाटवी तपागच्छ रा ने मान्या जावेगा री सुवाये देसम्हे आप्रे गच्छ रो देवरो (मंदिर) तथा उपासरो वेगा जी रो मुरजाद श्री राज सुं वा हुजा गच्छरा भटारष आवेगा सो राखेगा। श्री समरण, ध्यान, देव-आग्या अठ साद करावसी भूलसी नहिं ने वेगा पदारसी। परवानगी पंचोली गोरो समत १६४५ वर्ष आसोज सुद ५ गुरवार

ओसवाल कुल नररत्न कावड़िया गोत्रीय

श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक श्रावक

धर्म-वीर, दान-वीर और युद्ध-वीर

उदयपुर के महाराणा प्रतापसिंह के महामंत्री

भामाशाह

भामाशाह का पड़दादा **चांडा कावड़िया** जो रायकोठारी गोत्र का ओसवाल था। वह दिल्ली का रहने वाला था। उसके बाप-दादा बादशाह की नाराजगी से लड़ाइयों में मारे गए थे। उस समय चांडा बच्चा ही था, इसलिए उसको कांवड़ी (बेंहगी) में डालकर मेवाड़ ले जाया गया जिससे वह बच गया। कावड़ी में ले जाने के कारण उसके और उसकी संतान का नाम कावड़िया प्रसिद्ध हो गया।

चांडा का बेटा टाडा और उसका बेटा भारमल्ल था। ये लोग बादशाहों-राजाओं के यहाँ कोठारी-कामदार थे। फिर उदयपुर के दीवान (महामंत्री) हो गये थे। दीवान होने से पहले भ इनके पास अनगिनत धन'दौलत थी इसीसे वह साह (शाह) कहलाये। जिन दिनों मेवाड़ाधिपति महाराणा प्रतापसिंह अकबर के साथ युद्ध करते-करते हताश हो चुका था। युद्ध के लिए धन तथा साधनों का एकदम अभाव होने आया था और महाराणा सकट में पड़कर अकबर के साथ सन्धि करने को मेवाड़ छोड़कर अपने चेतक घोड़े पर सवार होकर चल पड़ा था, उस समय भामाशाह श्री केसरियानाथ-ऋषभदेव की यात्रा के लिए धुलेवा में आया हुआ था। उसे ख़बर मिलते ही उसने झट से घोड़े पर सवार होकर प्रताप का पीछा किया और जंगल में जा मिला। महाराणा को नमस्कार करके बड़े विनय के साथ हाथ जोड़े खड़ा हो गया। देश छोड जाने का कारण धनाभाव है ऐसा जानकर भामाशाह ने महाराणा को ढारस बंधाई और १२ वर्ष तक २५००० सैनिकों तथा युद्ध के लिए अपना धन प्रताप के चरणों में समर्पित कर दिया और साथ में यह भी वचन दिया कि जब तक मेवाड़पति महाराणा की विजय न होगी तब तक यथासंभव धन का अभाव नहीं होने दूंगा। महाराणा लौट आये। सेना का दृढ़ संगठन करके युद्ध के लिए डट गए। भामाशाह तथा इसके छोटे भाई ताराचन्द ये दोनों भी शस्त्रों से सज्ज होकर युद्ध में जूझ गए। ताराचन्द युद्ध में वीरगति प्राप्त कर गया और भामाशाह अन्त तक महाराणा के कन्धे से कन्धा लगाकर युद्ध में शामिल रहे। प्रतापसिंह विजयी हुए, जैनश्रावक कुलभूषण महामंत्री भामाशाह के सहयोग, चतुराई तथा भुजाबल के प्रताप से महाराणा का नाम-मान और गौरव अमर बनाने के लिए इस महापुरुष ने अपना तन, मन, धन सब कुछ महाराणा के चरणों में अर्पण कर

दिया। यदि वह आड़े वक्त में सहयोग न देता तो आज महाराणा प्रताप का यश समाप्त हो गया होता। भामाशाह जैनधर्मी थे, धर्म पर उनकी दृढ़ श्रद्धा थी इसलिए वे धर्मवीर थे। महाराणा को अपना सर्वस्व अर्पण करके अनन्य दानवीर होने का परिचय दिया और युद्ध में लड़कर शूरवीरता दिखलाकर युद्धवीर होने का गौरव प्राप्त किया। महाराणा की शान-आन-बान को कायम रखने के लिए पूरा-पूरा सहयोग देकर देश के लिए बलिदान होने का महादर्श उपस्थित किया। क्योंकि भामाशाह के पूर्वज दिल्ली निवासी थे इसलिए उनकी नस-नस में पंजाब की वीरता कूट.कूट कर भरी हुई थी। जिसने महाराणा की शान में बट्टा नहीं लगने दिया। धन्य है इस नरवीर को।

जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि की हस्तलिपि

तथा भाषा

॥ समस्तसंघयोग्यं ॥ श्री अहम्मदावादनगरे ॥

॥ स्वस्ति श्री आदिजिनं प्रणम्य श्री राजधनपुरतः श्री
हीरविजयसूरिभिर्लिख्यते श्री अहम्मदावादनगरे सम
स्तसाधु साध्वी श्रावक श्राविका योग्यं यतः श्री धर्मसा
गरगणि ने जोइ नादिली बीबी माहिं जिनमत प्रतिपक्ष तेणी व
रि समस्त संघनी साखिं जगदगुरुपणइ मिच्छामिडकड दे
वराव्यो। पछइ चोमासा न पारणइ अहम्मदाबाद
नी रमको सा। बाहिर जाउं अंगीकरइ तो उसमा शुरु
रु ताकरयो। अनइ जो एकटला बोलनकरइ तो पत्ति
नामा थिंग ह्नेनासंबंधनइ तेडी वयो। असास अनुवं
स्नाजाणयो। तथा धर्मलाभनउ णावयो धर्मोद्यमविशे
षकरयो प्रतिजइव एपत्रीनो मूल गोकनारोपां।
नालविजय पामइ छइ जेह ऊपर तेहुनइ निःशंक पलि
कहयो नथा पश्री सर्वत्र लिखी मोकलयो स्वही॥



अध्याय ४

जैनधर्म के सम्प्रदायों का इतिहास

१. दिगम्बर पंथ—एक सिंहावलोकन

आर्हत (निर्ग्रंथ-जैनश्रमण) धर्म में से ऋषभदेव से लेकर महावीर तक तथा उसके बाद भी समय-समय पर किन्हीं कारणों को लेकर अलग होने वाले श्रमणों ने अपने-अपने अलग-अलग मत, पंथ, संप्रदाय स्थापित किये। श्री महावीर के समय में (१) तथागत गौतम ने पार्श्वनाथ के संघ से अलग होकर **बुद्धमत** की स्थापना की। (२) भगवान महावीर के शिष्य मंखली गोशालक ने महावीर से अलग होकर **आजीविक पंथ** की स्थापना की। (३) भ० महावीर के गृहस्थावस्था के दामाद जमाली ने भगवान महावीर से निग्रंथ श्रमण की दीक्षा ली। पश्चात् महावीर से अलग होकर इस ने **बहुरत मत की** स्थापना की। यह संप्रदाय जमाली के देहांत के बाद समाप्त हो गया। महावीर के बाद भी इनके शासन से कई श्रमणों ने अलग होकर अपने-अपने पंथ कायम किये। ऐसे सब मत, पंथ, संप्रदायों को जैनागमों में निन्हव कहा है। जिसका अर्थ होता है अपलाप करनेवाला (ऊटपटांग कथन करने वाला)। भ० महावीर के बाद जैनश्रमणसंघ से अलग होकर त्रैराशिक आदि अनेक निन्हव मत स्थापित होने के उल्लेख प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं। उन में से एक दिगम्बर पंथ भी है।

दिगम्बर पंथोत्पत्ति

१. कुछ यूरोपीय और भारतीय विद्वानों का ख्याल है कि महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही उन के शिष्यो में दो विभाग हो गये थे। जो बाद मे श्वेताम्बर दिगम्बर के नाम से प्रसिद्ध हुए। पर वास्तव में यह बात नहीं है। जिन बौद्ध उल्लेखो के आधार से वे ऐसा ख्याल करते हैं, वे उल्लेख वस्तुतः महावीर के जीवनकाल में उनके शिष्य जमाली द्वारा खड़े किये गये मतभेद के सूचक हैं।[1]

२. दिगम्बर ग्रंथों के आधार से किन्ही विद्वानों की यह धारणा है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु तथा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में महावीर से १५० वर्ष बाद निग्रंथ संघ के दो विभाग हुए। जो श्वेतांबर और दिगम्बर नाम से प्रसिद्धि पाये। इन विद्वानों की यह धारणा है कि उस समय मगध में प्रलयंकारी १२ वर्षीय महादुष्काल पड़ा था तब चन्द्रगुप्त मौर्य श्रुतकेवली भद्रबाहु से दीक्षा लेकर उनके साथ दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला स्थान पर चले गये और वहाँ ही उन दोनों का देहांत हो गया। दुष्काल समाप्त होने पर जब उन के साथी साधु मगध में वापिस लौट

1. देखें पन्यास कल्याण विजय जी महाराज लिखित वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना नामक लेख।

आये तब मगध में रहनेवाला जैनश्रमणसंघ शिथिल हो चुका था। इसलिये दोनों में मतभेद के कारण जैनसंघ में दो विभाग पड़ गये। दक्षिण विहारी दिगम्बर तथा उत्तरभारत विहारी श्वेतांबर कहलाये। पर यह मान्यता भी तथ्यहीन है। क्योंकि ऐतिहासिक प्रमाणों से तथा दिगम्बर—श्वेतांबर जैन ग्रंथों से भी एकदम निराधार है। इस का स्पष्टीकरण इसी ग्रंथ के अध्याय ३ —में हम सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के विवरण में स्पष्ट कर आये हैं।

३. तीसरा मत है कि महावीर के ६०९ वर्ष बाद (वि० सं०१३९) में आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति जिस का गृहस्थ नाम सहस्रमल था ने एकान्त नग्नत्व को लेकर महावीर-शासन से अलग होकर एक नये पंथ की स्थापना की। यह मत दिगम्बर पंथ के नाम से प्रसिद्धि पाया। जो दक्षिण में जाकर यापनीय संघ के नाम से विख्यात हुआ। (दिगम्बरभाई इस मतभेद को वि० सं० १३६ में मानते है)

इस पंथ के साधु एक दम नंगे रहते थे और हस्तभोजी (दोनों हाथों में लेकर आहार करते) थे। वस्त्र, पात्र आदि उपधि नहीं रखते थे। यद्यपि उपधि (उपकरण) स्थविरमुनि के लिये निरातिचार चरित्रपालन तथा संघ में वृद्ध, बाल, अस्वस्थ आदि मुनियों की वैयावच्च (सेवा-श्रुषा, सार-संभाल) के लिये अनिवार्य हैं।[1] शिवभूति ने वस्त्र पात्र कम्बल संथारा आदि उपकरणों को भी परिग्रह की कोटि में मान कर इसे कषाय, मूर्च्छा, भय आदि बहुत दोषों की परम्परा को बढाने वाला मानकर त्याग किया तथापि साधु के लिये शरीर, कमंडलु, मोरपीछी, चटाई, पुस्तक, शिष्य आदि रखना स्वीकार किया। साध्वी के लिये उपर्युक्त उपधि के अतिरिक्त सफेद साड़ी पहनना भी कायम रखा। साध्वी वस्त्र पहनने पर भी पांच महाव्रतधारिणी तथा मोक्षगामिनी की मान्यता कायम रखी। तथा नग्नता के साथ सवस्त्र होने पर भी पाँच महाव्रतों और मोक्षपाने की मान्यता को स्वीकार रखा (देखें शाकटायनाचार्य कृत 'स्त्रीमुक्ति और केवली भुक्ति नामक ग्रंथ) वर्तमान में यापनीय संघ विलुप्त हो चुका है।

४ यद्यपि जैनशास्त्रों में वस्तु में मूर्च्छा-ममत्व को परिग्रह माना है न कि निर्ममत्व भाव से उपकरणों को रखने में परिग्रह कहा है। दिगम्बर साधु भी मोरपीछी, कमंडलु आदि अनेक उपकरणों को रखते हुए परिग्रह नहीं मानते। इस पंथ के यापनीय संघ ने सवस्त्र साध्वी को पाँच महाव्रत तथा मुक्ति को स्वीकार किया है। परन्तु वर्तमान दिगम्बर पंथ जिसे दिगम्बराचार्य कुंदकुंद ने स्थापित किया था, वह स्त्री को पाँच महाव्रत तथा मुक्ति का एकदम निषेध करता है।

५. परन्तु दिगम्बर पंथ के अनेक प्राचीन धुरंधर आचार्य नंगेपन को औत्सर्गिक लिंग मानते हुए भी औपवादिक लिंगवाले मुनियों को वस्त्र, पात्र, कम्बल, संथारा आदि उपकरण रखने का समर्थन करते हैं और उन्हें नंगे दिगम्बरों के समान ही पाँच महाव्रतधारी निर्ग्रंथ श्रमण स्वीकार करते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में पुलाकादि पाँच प्रकार के निर्ग्रंथ माने हैं। वहाँ भी वस्त्र-पात्रादि उपकरणधारी को भी सर्वथा परिग्रह रहित निर्ग्रंथ माना है। (तत्त्वार्थसूत्र—९/४८)।

---

1. श्वेतांबर तथा दिगम्बर दोनो ही दो प्रकार के जैनसाधु मानते हैं। जिनकल्पी और स्थविरकल्पी, वर्तमान में दिगम्बर मुनि को स्थविरकल्पी साधु दिगम्बर पंथी भी मानते हैं। तथा जिनकल्पी साधु का ये लोग भी सर्वथा अभाव वर्तमान काल में मानते हैं। (श्रमण भगवान महावीर क० वि०)

इस बात की पुष्टि के लिये हम यहाँ धुरन्धर दिगम्बराचार्य आर्य शिव (ईसा की ११वीं शताब्दी) कृत मूलाराधना (भगवती आराधना) ग्रंथ जिस पर दिगम्बराचार्य अपराजित सूरि ने ईसा की १४वीं शताब्दी में विजयोदया नाम की टीका लिखी है। इस की प्रकाशित प्रति के पृष्ठ ६१२ से ६२३ में लिखे संदर्भ का उल्लेख करते हैं—

अथैवं मन्यसे **पूर्वागमेषु वस्त्र-पात्रादि ग्रहणमुपदिष्टम्** तथा ह्याचार प्रणिधौ भणितं—

"**प्रतिलेखनास्पात्र कम्बलं ध्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।**"

आचारास्थापि द्वितीयाध्यायने लोक विचयो नाम, तस्य पंचमे उद्देशे एवमुक्त – "**पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कडासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्ज इति ।** तथा वत्थेसणाए वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेणगं विदिय, तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तओ ति वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं । तथा पायेसणाए कथित हिरिमाणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्सण कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति ।"

पुनश्चोक्तं तत्रैव—"अलाबुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्त वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पात्रलाभे सति पडिग्गहहिस्सामिति ।"

वस्त्र-पात्रा यदि न ग्राह्यते **कथमेतानिसूत्राणि नयंते ।**

भावनायां चोक्त –"वरिमं चीवर-धारितेन परमचेलके तु जिणे ति ।"

तथा **सूत्रकृतस्य** पुंडरीके **अध्याय कथितं**—"ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थ-पत्तादि हेदुमिति ।"

निषेधेप्युक्तं—"कसिणाइं वत्थ-कंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं इति । एवं **सूत्रनिर्दिष्टे** चेले अचेलता कथं । इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अणुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया । भिक्षुणां ह्रीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलबमानविजो वा परीषह सहणे अक्षमः स गृण्हति ॥

अर्थ—(प्रश्न) प्राचीन आगमों में वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने का विधान मिलता है। ऐसा आचारांग मानने वालों का कहना है कि यदि (साधु के लिये) वस्त्र, पात्र आदि का विधान नही है तो उन की निश्चय से प्रतिलेखना आदि करने का विधान (आगमों में) क्यों लिखा है? आचारांग आदि अंग आगमों में—"**प्रतिलिखते पात्र-कम्बलंध्रुवं इति ।**" यानि पात्र और कबल की प्रतिलेखना (पडिलेहणा-शोधना) शीघ्र करनी चाहिये; ऐसा लिखा है।

आगम आचारांग के लोकविचय नामक दूसरे अध्ययन के पांचवें उद्देशे में ऐसा वचन है कि –

"**पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कडासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्जा ।**" अर्थात् - ओघा (रजोहरण), कटासन, पादप्रोंछन और अन्य उपधि (उपकरण) भी ग्रहण कर सकते हैं। तथा वस्त्रेषणा में कहा है कि—"**तत्थ एसे परिसहं हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहा— सस्स तओ ति वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं ।**" अर्थात् – जो मुनि परिषह सहन नहीं कर सकता वह एक वस्त्रधारण करे और प्रतिलेखना के लिये दूसरा वस्त्र अपने पास रखे। जो मुनि योग्य प्रदेश में दो वस्त्र धारण करे वह प्रतिलेखना के लिये तीसरा वस्त्रधारण करे। यदि फिर

भी परिषह सहन न कर सके तो तीन वस्त्र धारण करे और चौथा वस्त्र प्रतिलेखना के लिये धारण करे।

तथा इसी आगम में पायेसण प्रकरण में कहा है कि—"हिरिमाणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्सप्पं कप्पदि वत्थादिणं पायधारित्तए।" अर्थात् लज्जायुक्त साधु को वस्त्रादि रखने चाहियें।

फिर भी इसी प्रकरण में ऐसा लिखा है कि—"अलाबु-पत्तं वा दारु-पत्तं मट्टिग-पत्तं वा अप्प-माणं अप्प-बीजं अप्प-रसिवं तथा अप्प-कारं पत्त-लाभे सति पडिग्गहिस्सामि।" अर्थात् मैं तुंबिका पात्र, लकड़ी का पात्र, मिट्टी का पात्र जिस में जीव नहीं है, बीज नहीं है, रस नहीं है, (सूखा हुआ है) और छोटे आकार का है। ऐसा पात्र मिलेगा तो ग्रहण करूंगा।

यदि जैनसाधु को वस्त्र पात्र ग्राह्य नहीं है तो प्राचीन आगमों में ऐसा क्यों लिखा है? साधु के लिये वस्त्र-पात्र का यदि एकदम निषेध है तो ऐसे उल्लेख आगमों में कदापि नहीं होने चाहियें थे?

भावना अधिकार में भी ऐसा कहा है कि—"चरम चीवरधारी तेन चरमचेलगे तु जिणे।" अर्थात्—अन्तिम तीर्थंकर महावीर के शरीर पर वस्त्र था तो भी वे अचेलक जिन थे। यानी अल्पवस्त्रधारी होने पर भी आगम में उन्हें अचेलक माना हैं।

सूत्रकृतांग आगम के पुंडरीक नामक अध्ययन में भी ऐसा कहा है कि—"ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थ-पत्तादि हेदुमिति।" अर्थात् साधु को वस्त्र पात्रादि के प्राप्त करने के उद्देश्य से धर्मोपदेश नही करना चाहिये। शास्त्रकार का यहां कहने का आशय यह है कि साधु निःस्वार्थ भाव से धर्मोपदेश करे परन्तु स्वार्थवश कदापि न करे।

वस्त्र-पात्र के विषय में निशीथ सूत्र में ऐसा प्रमाण है कि—"कसिणाइं वत्थ कंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि उप्पज्जदि मासिगं लहुगं इति।" अर्थात्—सब प्रकार के वस्त्र कबल (साधु की मर्यादा से विशेष) ग्रहण करने से मुनि को लघुमासिक प्रायश्चित विधि करनी पड़ती है।

इस प्रकार प्राचीन आगमों में साधु-साध्वी के वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का विधान है इसलिये आपका अचेलकपना या नग्नता का विवेचन योग्य कैसे माना जावे?

आर्य शिव तथा अपराजित सूरि दोनों धुरंधर दिगम्बराचार्य इस प्रकार समाधान करते हैं—

समाधान—आगम में आर्यिकाओं (श्रमणियों) को वस्त्रधारण करने की आज्ञा है और कारण की अपेक्षा से भिक्षुओं (निर्ग्रंथ मुनियों) को भी वस्त्र-पात्र धारण करने की आज्ञा है। १. जो परिषह सहन नहीं कर सकते अथवा २. लज्जालु हों या ३. जिसके शरीर के अवयव ठीक न हों वह वस्त्रधारण कर सकता है।

भावना अधिकार में महावीर के वस्त्रधारण करने का जो उल्लेख है, उन्होंने एक वर्ष तक वस्त्रधारण किया तदनन्तर उन्होंने उस का त्याग कर दिया था

प्रश्न—इसी प्रकार प्राचीन आचारांग आदि अनेक आगमों में और भी अनेक स्थलों में साधु के लिये वस्त्र-पात्र ग्रहण करने के उल्लेख पाये जाते हैं फिर इन का निषेध क्यों किया जाता है?

समाधान—कारण की अपेक्षा से वस्त्र पात्र आदि उपकरण ग्रहण करना सिद्ध होता है। इसी प्रकार दिगम्बर पंथ के मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति आदि अनेक ग्रंथ दिगम्बर साधु-साध्वी के लिये वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं। क्योंकि इस विषय पर कुछ विस्तार से लिखना, इस ग्रंथ का विषय नहीं है। अतः विस्तार भय से यहाँ निर्देश मात्र ही किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि—

(१) विक्रम की १५-१६ वीं शताब्दी तक के दिगम्बर ग्रंथकार आचारांग आदि आगमों को प्राचीन और महावीर की असल वाणी का संकलन मान कर इन्हें पूज्य और प्रमाणिक स्वीकार करते रहे हैं।

(२) दिगम्बर ग्रंथों में प्राचीन आगमों के पाये जाने वाले संदर्भ यह भी स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि जो आचारांग आदि अंग-उपांग आदि आगम साहित्य श्वेतांबर जैनों के पास सुरक्षित हैं वही असल जिनागम हैं और वे आज तक विद्यमान हैं। आधुनिक दिगम्बरों का इन प्राचीन आगमों का विच्छेद मानना सरासर गलत है। क्योंकि दिगम्बरों के प्राचीन माने जाने वाले षट्खंडागम, गोमट्सार, मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना आदि ढेर सारे ग्रंथों में इन प्राचीन आगमों के संदर्भों के उल्लेख है।

(३) यतिवृषभ, कुंदकुंद, वट्टकेर, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, आचार्य नेमिचन्द्र आदि किसी भी दिगम्बराचार्य ने जैनागमों के विच्छेद का अपने ग्रंथों में कोई उल्लेख नहीं किया।

(४) दिगम्बर पंथ के आदि संस्थापक शिवभूति ने एकान्त नग्नत्व के आग्रह से इस पंथ की स्थापना करके भी साध्वी को वस्त्रधारण करने पर भी १४ गुणस्थान तथा निर्वाण माना है और इस की पुष्टि धरसेनाचार्य ने अपने ग्रथ षट्खंडागम सूत्र १/९३ में भी की है और आर्य शिव आदि दिगम्बराचार्यों ने भी साधु-साध्वी को कारणवश वस्त्र-पात्र ग्रहण करना स्वीकार किया है।

(५) विक्रम की चौथी-पांचवी शताब्दी में दिम्बराचार्य कुंदकुंद ने दिगम्बर यापनीय संघ से अलग नये दिगम्बर पंथ की स्थापना की और इस पंथ को मूलसंघ के नाम से घोषित किया। इस पथ ने स्त्री मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति, केवली भुक्ति, केवली की साक्षर वाणी आदि अनेक बातों की एकांत निषेध प्ररूपणा की। दिगम्बर पथ भी पहले उन्हीं आगमों को प्रमाण मानता था जिन्हें आज तक श्वेतांबर जैन मानते आ रहे हैं। परन्तु छठी शताब्दी में जब बहुत सी बातों का अन्तर पड़ गया तब इन प्राचीन आगमों को दिगम्बरो ने अप्रमाणिक कहकर छोड दिया और विच्छेद हो जाने की उद्घोषणा कर दी। स्वयं नये ग्रंथों की रचनाएं करके अपने पंथ की नयी मान्यताओं का सर्वत्रिक प्रचार शुरु कर दिया।

वर्तमान आगमों की प्रमाणिकता और मौलिकता के विषय में विस्तार भय से हम यहां कुछ भी नहीं लिखेंगे क्योंकि जैनागमों के मार्मिक अभ्यासी जर्मनी के डाक्टर हर्मनजेकोबी जैसे मध्यस्थयूरोपीय स्कालरो तथा डा० बूल्हर जैसे समर्थ पुरातत्वमर्मज्ञों ने भी इन आगमों को वास्तविक जैनश्रुत मान लिया है। और इस बात को कट्टर दिगम्बरी कामताप्रसाद, परमानन्द, बलभद्र आदि अनेकों ने भगवान महावीर और जैनधर्म के प्राचीन इतिहास आदि ग्रंथों में भी

लिखा है कि—"जर्मनी के डा० जेकोबी सदृश विद्वानों ने जैनशास्त्रों को प्राप्त किया और उस का अध्ययन करके उन को सभ्य संसार के सामने प्रकट भी किया।

ये श्वेतांबराम्नाय के अंग आदि ग्रंथ ही हैं और उपर्युक्त विद्वान इन्ही को वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं। ईसा पूर्व के मथुरा के सुपार्श्वनाथ स्तूप के खंडहर कंकाली टीले से प्राप्त मूर्ति तथा शिला-लेखों के आधार से पुरातत्त्वविज्ञ डा० बूल्हर आदि ने भी श्वेतांबराम्नाय के कल्पसूत्र आदि आगमों को निर्भ्रांत असली प्राचीन श्रुत सिद्ध कर दिया है।

६- आश्चर्य तो इस बात का है जिन आगमों को सच्चा जैनश्रुत मानकर विक्रम की १५-१६वीं शताब्दी तक के दिगम्बर लेखक अपने-अपने ग्रंथों में इन के अनेक संदर्भों को लेकर अपने नये ग्रंथों को प्रौढ़ और समृद्ध बनाया है उन्ही को आजकल के कामताप्रसाद, परमानन्द, बलभद्र आदि दिगम्बर पंथी विद्वान कल्पित, त्रुटित, कपोलकल्पित कह कर अपने ही पुराने आचार्यों की मान्यता का उपहास कर रहे है और ये लोग जिस प्राचीन जैनश्रुत को कल्पित सिद्ध करने के लिये बिना सिर-पैर के ऊटपटांग लिखकर अपनी विद्वता का प्रदर्शन कर रहे हैं इन्हीं आगमग्रंथों के आधार से इन के संदर्भों को तोड़-मरोड़कर ऋषभदेव से लेकर महावीर तक तीर्थंकरों आदि ६३ शलाका पुरुषों के अधूरे चारित्रों आदि को अपनी मान्यताओं के अनुकूल लिखकर पूर्ण कर रहे हैं।[1] मात्र इतना ही नहीं इनके बड़े-बड़े महारथी स्कालर डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डा० विद्याधर जोहरापुरकर[2] आदि अनेक इतिहासकारों ने भी श्वेतांबर साहित्य से ही उन के प्राचीन आचार्य परम्परा को लेकर अपना सीधा संबन्ध महावीर के शासन के साथ जोड़ने का प्रयास किया है।

ये लोग श्वेतांबरमान्य के प्राचीन जैनश्रुत की भर पेट निन्दा करने पर भी इस साहित्य से किसप्रकार अपने पंथ के अनुकल साहित्य रचनाएं करते रहते हैं उसका एक महावीर के चारित्र संबन्धी उदाहरण ही काफी होगा। क्योंकि इस ग्रंथ का यह विषय न होने से तथा विस्तार भय से और अधिक विस्तार से लिखना उचित नही समझते।

(१) दिगम्बर पंडित नाथुराम प्रेमी दिगम्बर हिन्दी साप्ताहिक जैनमित्र वर्ष ३८ अं० ४ पृ० ६४१ में लिखते हैं कि—'इस में संदेह नही है कि श्री भगवान महावीर का विस्तार पूर्वक वर्णन दिगम्बरशास्त्रों में नही मिलता। यदि श्वेतांबरों के शास्त्रों में मिलता हो तो उसे संग्रह करने की ज़रूरत है, केवल यह बात ध्यान में रखने की है कि वह महावीरचर्या (दिगम्बर मान्यता के अनुकूल) अरिहंत के स्वरूप को स्थिर रखते हुए उन के उपदेशों (चरित्र) का संग्रह किसी भी साहित्य से करने में हानि नहीं है।"

(२) दिगम्बर कामताप्रसाद ने अपनी पुस्तक भगवान महावीर के पृ० ७३में स्वीकार किया है कि—

"यद्यपि हम भगवान महावीर के जीवन को तीन भागों में बटा हुआ देखते हैं परन्तु हमारे पास ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिन से हम उनके क्रमिक विकास को स्पष्ट बता सकें।"

---

1. देखें कामताप्रसाद, बलभद्र, परमानन्द आदि के भगवान महावीर, जैनधर्म का प्राचीन इतिहास दो विभाग आदि ग्रंथ
2. देखें वीरशासन के प्रभावक आचार्य लेखक डा. कस्तुरचन्द तथा डा. विद्याधर

(३) स्व० दिगम्बर विद्वान डा० हीरालाल जैन एम०ए, एल०एल० बी, डी० लिट्, मागधी विश्वविद्यालय के डायरेक्टर तथा षट्खंडादि अनेक दिगम्बर ग्रंथों के संशोधक, संपादक, प्रकाशक भी अपनी पुस्तक महावीर पृ० १२३-१२४ में लिखते हैं उसका सार इस प्रकार है—

'यद्यपि दिगम्बर विद्वान इस बात को स्वीकार नहीं करते कि भगवान महावीर ने विवाह किया था। इस बात की पुष्टि के लिये उन के पास कोई आगम सिद्ध प्रमाण नहीं है। तथा इस के अतिरिक्त हमारे पास अन्य भी कोई सबल प्रमाण नहीं है कि जिसके द्वारा हम महावीर को ब्रह्मचारी सिद्ध कर सकें। भगवान महावीर के जीवन संबन्धी ग्रंथों में श्वेतांबर मान्य कल्पसूत्र अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है अतः उस में महावीर के विवाह का कथन प्रमाणभूत होना अधिक संभव है। इस के सिवाय यह बात भी निर्विवाद है कि भगवान महावीर को अपने माता-पिता, भाई पर अनन्य श्रद्धा थी। अतः वे अपने बड़ों की विवाह करने की आज्ञा को एकदम अस्वीकार कर देते यह हमारी दृष्टि से एकदम असंभव था अतः उन्होंने अवश्य विवाह किया होगा।

(४) दिगम्बर नाथूराम प्रेमी ने अपनी पुस्तक 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृष्ठ १०० में महावीर को कवारा माननेवालों की शका का समाधान करते हुए लिखा है कि तिलोयपण्णत्ति दिगम्बराचार्य यतिवृषभ कृत में जिस नीचे लिखी गाथा का अर्थ दिगम्बर लोग कंवारा करते है उसका अर्थ पूर्वापूर्व सम्बन्ध देखते हुए कंवारा नहीं राजकुमारावस्था है। यथा—

णेमि-मल्लि-वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिव तवा सेस जिणा रज्ज—चरमम्मि॥" ४॥६७०॥

अर्थात्-नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाँच तीर्थंकरो ने कुमारकाल में और शेष १९ तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप (दीक्षा) ग्रहण किया।

इस गाथा को स्पष्ट करते हुए प्रेमी जी लिखते हैं कि महावीर आदि पांच को छोड़कर शेष तीर्थंकर राजा हुए। ये पाँचों क्षत्रीय वंश के थे और राजकुलों में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने राज्याभिषेक की इच्छा नही की और राजकुमारावस्था में ही प्रव्रजित हो गये।

(५) अतः उपर्युक्त चारों संदर्भों से ये तथ्य स्पष्ट हैं कि—

१. दिगम्बरों के पास महावीर का सांगोपांग चरित्र नहीं है जो कुछ टूटा-फूटा है भी वह एकदम प्रमाणित नहीं है।

२. इस चरित्र को पूरा करने के लिये श्वेतांबर मान्य कल्पसूत्र आदि आगम शास्त्रों से अपनी गलत मान्यताओं की पुष्ट करने के लिये महावीर चरित्र को तोड़-मरोड़ कर संकलन करके लिखने के प्रयास आज तक चालू हैं।

३. महावीर आदि पांच तीर्थंकरों के अविवाहित रहने का कोई प्रमाण इनके पास नही है तो भी अपनी आगमविरुद्ध इस गलत मान्यता को दिगम्बर-श्वेतांबर साहित्य में इन पाँचों तीर्थंकरों के राजकुमार अवस्था में दीक्षा लेने के प्रसंग को लेकर अप्रासंगिक और ऊटपटांग अर्थ करके असफल प्रयत्न करके हर प्रकार से अनुचित कुमारकाल को कंवारा मान बैठने की भल के शिकार हो रहे हैं।

वास्तव में बात यह है कि—विक्रम की छठी शताब्दी में दिगम्बराचार्य कुंदकुंद ने यापनीय संघ से एक नये पंथ की स्थापना की। इस पंथ की मान्यता है कि एकदम नंगा पुरुष ही पाँच महाव्रत धारण कर सकता है। नंगा पुरुष ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। स्त्री नंगी नहीं रह सकती इसलिये न तो वह पांच महाव्रतधारिणी हो सकती है और न ही मुक्ति पा सकती है। इस मान्यता से तीर्थंकरों द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ की मान्यता समाप्त हो जाती है। क्योंकि स्त्री में पाँच महाव्रतों के प्रभाव से साध्वी संघ का प्रभाव हो गया। साध्वी संघ के प्रभाव से साधु श्रावक-श्राविका रूप त्रिविध संघ ही रह गया जो तीर्थंकर प्रतिपादित चतुर्विधसंघ के सिद्धांत से एकदम विपरीत है।

६. विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी में अकबर के पुत्र जहांगीर के समय में गृहस्थ बनारसीदास श्रीमाल ने अपने चार गृहस्थ साथियों के साथ इस पंथ में से दिगम्बर तेरहपंथ की आगरा में स्थापना की। इस पंथ ने तीर्थंकरों की पूजाओं में फल-फूल-मिठाई आदि चढ़ाने का तथा अग्रपूजा का निषेध किया। इस पंथ की यह मान्यता भी थी कि वर्त्तमानकाल में जो दिगम्बर साधु हैं वे भी जैन त्यागमार्ग का पालन नहीं कर रहे हैं। इसलिये ये जैनसाधु नहीं है। यह पंथ तीर्थंकर की प्रतिमा को मानता है।

कुंदकुंद का मत दिगम्बर बीसपंथ कहलाया। और बनारसीदास का मत बनारसीमत अथवा तेरहपंथ कहलाया।

७ विक्रम की १८वीं शताब्दी में तारणस्वामी ने दिगम्बर पंथ से अपना एक अलग मत स्थापित किया। यह पंथ जिनप्रतिमानिषेधक है और दिगम्बर ग्रंथों को पूज्य मानता है। इस मत के अनुयायी आज भी मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं।

८. इसी प्रकार इस पंथ के अन्य भी कुछ संप्रदाय हैं। जिनमें अनेक प्रकार के छोटे-छोटे मतभेद हैं।

९. विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में एक काठियावाड़ी काहनजी स्वामी ढूंढक साधु ने दिगम्बर मत की एक नई शाखा की स्थापना की है जो एकान्त निश्चय मत को ही स्वीकार करता है। काहनजी स्वामी ने सौराष्ट्र में शत्रुंजय तीर्थ के निकटवती पर्वत सोनगढ़ में अपना एक आश्रम कायम किया हैं और यह वहाँ वस्त्र सहित ब्रह्मचारी के वेष में रहते हैं। इस पर्वत पर श्री सीमंधर स्वामी का मंदिर तथा दिगम्बराचार्य कुंदकुंद की मूर्ति स्थापित की है। जिसमें कुंदकुंद के सीमंधर स्वामी के पास महाविदेह क्षेत्र में जाकर वहां से उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का दृश्य चित्रित है। दिगम्बरों की मान्यता है कि महावीर शासन के आगमों का विच्छेद हो जाने से कुंदकुंद ने महाविदेह क्षेत्र में जाकर श्री सीमंधर स्वामी से ज्ञान प्राप्त किया और दक्षिण भारत में आकर समयसार आदि नये दिगम्बर मत के ग्रंथों की रचना करके अपने मत की स्थापना की।

आगे चल कर धीरे-धीरे इनकी उपर्युक्त नवीन मान्यताओं के कारण दिगम्बर भाई महावीर शासन से कितने विपरीत चले गये। इसकी यहां संक्षिप्त तालिका देते हैं जिससे पाठक जान पायेंगे कि एक असत्य (जिनागम के विपरीत मात्र एक सिद्धांत के प्रतिपादन करने) से कितना अनर्थ होता है और उस असत्य को सत्य बनाने के लिये अनेक कपोलकल्पित मान्यताओं की

सृष्टि करके भी वह कभी सत्य नहीं बन सकता। प्राचीन जैनागमों का विच्छेद कहकर तथा उनके बदले में नवीन ग्रंथों की रचनाएं करने से भी वे अपने मनोरथ में सफल नहीं हुए। इस बात को स्पष्ट करने के लिये दिगम्बरपंथ पर एक स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है। यहां तो इस ग्रंथ का यह विषय न होने से ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मात्र सिंहावलोकन करके संतोष माना है।

(६) जिन प्राचीन जैन श्रुत श्वेतांबर मान्य आगमों को नकली और कपोलकल्पित मानकर इस महावीर की वाणी के संकलन रूप आगमो का एकदम विच्छेद मानकर और जिन्हें महावीर कथित एक अंग का भी पूरा ज्ञान नही था, अपने दिगंबर पंथ को ऐसे आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को महावीर की वाणी के नाम से असली आगम मानकर जैन मान्यता का अपलाप कर रहे हैं। वे यह बात भूल रहे है कि उन्हीं की मान्यता के अनुसार ये नव निर्मित दिगम्बर ग्रंथ आगम की कोटि में मान्य नहीं किये जा सकते—यथा दिगंबर धुरंधर विद्वान अपनी पुस्तक वर्ण, जाति और धर्म, पृष्ठ २८० में लिखते हैं कि—

"आगम की व्याख्या सुनिश्चित है। जो केवली या श्रुतकेवली (चौदह पूर्वधर) ने कहा हो या अभिन्न दसपूर्वी ने कहा हो वह आगम है। तथा उनका अनुसरण करने वाला अन्य जितना कथन है वह भी आगम है।"

परन्तु एक भी ग्रंथकर्त्ता दिगम्बराचार्य न तो चौदह पूर्व के ज्ञाता, न ग्यारह अंगों के ज्ञाता और न ही अभिन्न दस पूर्वी थे। धरसेनादि की गुरु परम्परा क्या थी और वे लोग कितने श्रुत के ज्ञाता थे उसका भी कोई प्रमाणिक लेख दिगम्बरों के पास नही है। ऐसी अवस्था में दिगम्बर ग्रंथ आगम की कोटि के नही है।

यदि आगम विच्छेद की मान्यता दिगम्बरो की सच्ची हो तो कहना होगा कि इनकी धारणा के अनुसार श्वेतांबर जैनों के पास असली आगम साहित्य नही है और इसकी मान्यता के अनुसार इनका ग्रंथ साहित्य भी आगम नही है इसलिये महावीर की वाणी का एकदम अभाव हो जाने से दिगम्बर मत और सिद्धान्त भी स्वकपोलकल्पित सिद्ध हो जाता है। यह है इनकी ऊटपटांग मान्यता का परिणाम।

(७) वास्तव में दिगम्बरों ने प्राचीन विद्यमान आगमश्रुत का बहिष्कार इसलिये किया कि इसमें मुनि के लिये वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का प्रतिपादक है और इनके एकान्त नग्नत्व के कदाग्रह का पर्दाफ़ाश करते हैं। इनकी एकान्त नग्नत्व की मान्यता ने महावीर आदि तीर्थंकरों के सिद्धान्तों को कितना विकृत बना दिया उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भगवान् महावीर शासन की मान्यता	दिगम्बर पंथ की मान्यता
१. स्त्री, पुरुष एवं कृत्रिम; नपुंसक-भव्य मनुष्य पांच महाव्रतधारी होकर मुक्ति प्राप्त करने का सामर्थ्य रखते हैं।	१. मात्र भव्यपुरुष ही पांच महाव्रतधारी तथा निर्वाण (मोक्ष) पा सकता है। स्त्री, नपुंसक नही।
२. केवलज्ञान पाने के बाद भी केवली खाते पीते हैं। यानी कवलाहार करते हैं।	२. केवली खाते-पीते नही। निर्वाण पाने से पहले मानव शरीर में रहते हुए भी निराहार रहते हैं।

३. मानव शरीर से-फिर वह चाहे स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक हो सवस्त्र अथवा निर्वस्त्र हो पाँच महाव्रतों का पालन करके जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है।	३. नंगा पुरुष ही दिगम्बर साधु होकर कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।
४. केवली को उपसर्ग तथा परिषह होते हैं।	४. केवली को उपसर्ग तथा परिषह नहीं होते।
५. ब्राह्मण आदि चारों वर्णमुक्ति पा सकते हैं।	५. शूद्र न साधु हो सकता है, न ही निर्वाण पा सकता है। ब्राह्मणादि तीन वर्ण ही पाँच महाव्रती तथा मुक्त हो सकते हैं।
६. तीर्थंकर के पुत्र तथा पुत्री दोनों हो सकते हैं।	६. तीर्थंकर के पुत्री नहीं होती।
७. गृहस्थवेष में, अन्यलिंग वेष में भी मानव शरीर से जीव केवलज्ञान पा सकता है।	७ नंगे दिगंबर पाच महाव्रतधारी साधु को ही केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त हो सकता है।
८. जैन साधु-साध्वी को निरातिचार साधु चर्या पालन में वस्त्र पात्र रजोहरण आदि उपकरण उपयोगी है।	८. दिगम्बर साधु मोरपीछी-कमंडल रखता है। वस्त्र-पात्रादि अन्य उपकरणों को परिग्रह मानकर स्वीकार नही करता।
९. जैन साधु-साध्वी अपने निमित्त बनाये गये आहार आदि को आधाकर्मी-सदोष होने से स्वीकार नही करते।	९ दिगम्बर पथ के साधु-आर्यिकाओ के लिये भक्त श्रावक श्राविकाए आधाकर्मी आहार बनाते है और वे ऐसे सदोष आहार को ग्रहण करते है।
१०. तीर्थंकर-केवली अपने मुख से साक्षरी वाणी से उपदेश देते है और श्रोताओं के प्रश्नों का समाधान भी करते हैं।	१०. केवली मुख से साक्षरी वाणी नहीं बोलते उनके मस्तक से निरक्षरी ध्वनि निकलती है, जिसे श्रोतागण अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं।
११. केवली भूमि पर विहार करते है। समवसरण में स्वर्ण सिंहासन पर बैठ कर उपदेश देते हैं।	११. केवली भूमि से अधर आकाश में विहार करते हैं, पृथ्वी से स्पर्श भी नहीं होता। समवसरण में स्वर्ण सिंहासन होने पर भी उससे स्पर्श नही करते अपितु अधर ऊँचे आकाश में स्थित होकर मस्तक से निकलने वाली निरक्षरी वाणी से उपदेश देते हैं, श्रोताओं के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर तीर्थंकर स्वयं उत्तर न देकर उनके गणधर प्रश्नों का समाधान करते है।
१२. तीर्थंकर को केवलज्ञान होने के बाद देवता समवसरण की रचना करते हैं।	१२. केवल ज्ञान पाने के बाद समवसरण में अधर में रहकर तीर्थंकर की प्रथम निरक्षरी

वहाँ स्वर्णसिंहासन पर बैठकर प्रभु मुख से साक्षरी वाणी से उपदेश देते हैं और उस समय वे गणधरों तथा साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ को स्थापना करते हैं। गणधर पद पाने वाले पुरुष प्रभु की वाणी सुनकर दीक्षा ग्रहण करते है। वचनातिशय से तीर्थंकर की वाणी से प्रभावित होकर गणधर प्रभु से दीक्षा ग्रहण करते हैं।

वाणी तब तक नहीं खिरती जब तक गणधर होने वाला व्यक्ति समवसरण में नहीं आता यदि वह स्वयं नहीं आता तो इन्द्र उसे लाकर उपस्थित करता है तब तीर्थंकर की वाणी खिरती है। यानी तीर्थंकर की वाणी होनेवाले पुरुष पर अवलंबित है न कि तीर्थंकर के वचनातिशय पर अवलंबित है।

१३. साधु, साध्वी, महाव्रती और श्रावक-श्राविका देशव्रती होते हैं। इन चारों को चतुर्विधसंघ कहा है।

१३, साधु पाँच महाव्रती होता है, साध्वी व श्राविका देशव्रती होने से आर्यिका का समावेश श्राविका में हो जाने से तथा श्रावक भी देशव्रती होने से साधु-श्रावक-श्राविकारूप तीन संघ मानते हैं।

१४. मल्लिनाथ स्त्री तीर्थंकर थे।

१४. मल्लिनाथ पुरुष तीर्थंकर थे।

१५. साधु साध्वी काष्ठ पात्रों में अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा शुद्धाहार ग्रहण कर अपने निवास स्थान पर आकर खाते पीते है। उनके निमित्त बनाया हुआ आहार पानी कदापि ग्रहण नही करते। न ही एक घर पर जाकर आहार करते है। ऐसे आहार को गोचरी अथवा भ्रामरी कहते है।

१५. दिगम्बर साधु-साध्वी उनके निमित्त बनाया हुआ आहार एक ही गृहस्थ के घर पर जाकर हाथों में करते है। भगत श्रावक-श्राविकाएं इन त्यागियों के लिये अनेक घरों में आहार तैयार करते हैं। जो चौका लगाने के नाम से प्रसिद्ध है। इन अनेक चौकों में तैयार किये हुए आधाकर्मी आहार में से मात्र एक घर का आहार ग्रहण करते है।

१६. साधु स्त्री मात्र का तथा साध्वी पुरुषमात्र का स्पर्श भी नहीं करते। ब्रह्मचर्य की नववाड़ों का दृढ़तापूर्वक पालन करते है। साधु-साध्वी अलग-अलग स्थानो मे ठहरते हैं।

१६. साधु-साध्वियाँ स्त्री-पुरुषों से स्पर्श करते हैं। साधु के आहार करने पर उनके शरीर पर हाथों की अंजली से गिरे हुए खाद्य पेय पदार्थों को स्त्रियाँ अपने हाथों से पोंछ कर साफ़ करके स्पर्श करने में नवधा भक्ति मानती हैं। ऐसे आहार में गोचरी तथा भ्रामरी भिक्षाचरी का सर्वथा अभाव होता है।

१७. तीर्थंकर के पाँचों कल्याणकों, पिंडस्थ (छद्मस्थ) रूपस्थ (केवली) रूपातीत (सिद्ध) तीनो अवस्थाओं को मान कर प्रतिष्ठित जिन प्रतिमाओं की पूजा

१७. स्त्री प्रतिमा को स्पर्श नहीं करती। पुरुष प्रतिमा का स्पर्श और प्रक्षाल तो करता है पर चन्दन पुष्पादि अष्ट द्रव्यों से पूजा प्रतिष्ठित प्रतिमा की न करके एक थाली

गृहस्थ स्त्री पुरुष दोनों करते हैं। प्रतिमा का स्पर्श करके प्रक्षाल-चंदन-पुष्प आदि से अंगपूजा भी करते हैं। तीर्थंकर की नग्न, अनग्न, अलंकृत, लंगोटवाली, कछोटवाली अनेक प्रकार की जिनप्रतिमाओं की पूजा-वंदना करके पांचों कल्याणकों, त्यागमय तपस्वी अवस्थाओं की पूजा अपने आत्मकल्याण के लिए करते हैं।

१८. महावीर, पार्श्वनाथ, वासुपूज्य आदि २२ तीर्थंकरों का विवाह हुआ। मात्र मल्लिनाथ, नेमिनाथ दो तीर्थंकर अविवाहित रहे।

१९ तीर्थंकर के यहां कन्या का जन्म भी होता है। ऋषभदेव के ब्राह्मी सुन्दरी दो पुत्रियां, और महावीर के प्रियदर्शना नाम की एक पुत्री थी।

२०. वर्षा में साधु आहार आदि लेने के लिये न जावे और उनके निवास स्थान पर भी गृहस्थों द्वारा लाया हुआ आहार साधु-साध्वी ग्रहण न करे।

२१. मरुदेवी, चंदनबाला, आदि अनेक महिलाओं ने केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया। पांच महाव्रत ग्रहणकर श्रमणीधर्म भी स्वीकार किया।

२२. साधु-साध्वी चारों वर्णों के यहां से निरवद्य-शुद्ध आहार पानी ग्रहण कर सकते हैं।

२३. महावीर का विवाह हुआ, कन्या का जन्म हुआ और इस कन्या का जमाली से विवाह हुआ।

२४. महावीर का गर्भापहार होकर त्रिशाला रानी के गर्भ से जन्म हुआ।

२५. ऋषभदेव ने चार पुष्टि लोच किया। उनके सिर के पिछले भाग में केश थे।

में स्वस्तिक बना कर उसमें तीर्थंकर का आह्वान करके स्थापन करता है और अष्टद्रव्यों से उसकी पूजा करता है। पूजा करने के बाद उसका विसर्जन करके वापिस रवाना कर देता है।

१८. महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर अविवाहित रहे, १९ विवाहित थे।

१९. तीर्थंकर के यहां कन्या का जन्म नहीं होता तथापि ऋषभदेव के ब्राह्मी, सुन्दरी नाम की दो पुत्रियों ने जन्म लिया था। और उन्होंने साध्वी की दीक्षाएं ग्रहण की थीं।

२०. वर्षा होने पर गृहस्थ लोग साधु के निवास स्थान पर जाकर उसके लिये चौके लगाकर उनके लिये आधाकर्मी आहार तैयार करके उन्हें खिला आते हैं।

२१. कोई भी महिला पांच महाव्रत ग्रहण कर साध्वी नहीं बन सकती, केवलज्ञान तथा निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकती।

२२. दिगम्बर गृहस्थ के यहां से ही एवं उसके घर पर जाकर उस साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार खाते हैं।

२३. महावीर अविवाहित थे, इसलिये उनके स्त्री, कन्या, दामाद कोई भी नहीं थे।

२४. महावीर का गर्भापहार नहीं हुआ। उनका च्यवन तथा जन्म त्रिशला रानी के गर्भ से हुआ।

२५. ऋषभदेव ने पंचमुष्टि लोच किया। सिर के पिछले भाग में भी केश नहीं थे।

२६. महावीर के उपदेशों का सूत्र रूप में संकलन गणधरों ने किया। तब से लेकर गुरुपरम्परा से शिष्यों-प्रशिष्यों ने उन्हें कंठस्थ रखा। स्मरणशक्ति कम हो जाने से उन्हें लिपिबद्ध किया गया, जो आज तक सुरक्षित हैं और श्वेतांबर जैन आज तक इन्हें सुरक्षित रखते आ रहे हैं।

२६. महावीर की वाणी जो गणधरों द्वारा संकलित की गई थी उनका एकदम विच्छेद हो जाने से विक्रम की पांचवी-छठी शताब्दी के दिगम्बराचार्यों ने नवीन ग्रंथों की रचनाएं कीं। इन्हीं शास्त्रों को दिगम्बर आगम मानते हैं। ये आचार्य न तो पूर्वधर थे और न ही ११ अंगों के जानकार।

२७. चक्रवर्ती के ६४००० स्त्रियां होती हैं।

२७. चक्रवर्ती के ९६००० स्त्रियां होती हैं।

२८. दीक्षा लेते समय तीर्थंकर के कंधे पर इन्द्र देव दूष्य वस्त्र देता है।

२८. दीक्षा लेते समय तीर्थंकर एकदम नंगा होता है।

२९. तीर्थंकर का जन्म कल्याणक महोत्सव करने के लिये इन्द्र अपने पांच रूप धारण करता है।

२९. इन्द्र पांच रूप धारण नही करता। एक रूप से ही जन्मकल्याणक मनाता है।

३०. तीर्थंकरों, केवलियों, युगलियों के देहावसान से बाद उनके शरीर कायम रहते है तथा उनका अग्नि संस्कार किया जाता है।

३०. तीर्थंकरों, केवलियों, युगलियों के देहावसान के बाद उनके शरीरों के पुद्गल-परमाणु कपूर के समान स्वयमेव वायुमंडल में मिल जाते हैं इसलिए उनके शरीरों का अग्नि संस्कार नही किया जा सकता।

३१. इन्द्रों की ६४ संख्या है।

३१. इन्द्रों की १०० संख्या है।

३२. तीर्थंकरों के सहोदर भाई-बहन होते हैं।

३२. तीर्थंकर के सहोदर भाई बहन नहीं होते।

३३. तीर्थंकर प्रतिमा का पूजन सचित अचित दोनों प्रकार के द्रव्यो से किया जाता है।

३३. मात्र अचित द्रव्यों में ही पूजा करते हैं।

३४. तीर्थंकर दीक्षा लेने से पहले वर्षीदान देते हैं।

३४. तीर्थंकर वर्षीदान नहीं देते।

३५. तीर्थंकर और चक्रवर्ती की माता तीर्थंकर-चक्रवर्ती के गर्भ मे आने पर १४ स्वप्न देखती है।

३५ तीर्थंकर-चक्रवर्ती की माता उनके गर्भ में आने पर १६ स्वप्न देखती है।

३६. दस आश्चर्य-कृष्ण का अपरकंकादि गमन।

३६. ११ आश्चर्य भिन्न प्रकार के है।

३७. कल्पोपन्न देवों के १२ विमान।

३७. कल्पोपन्न देवों को १६ विमान।

३८. ब्राह्मी सुन्दरी द्वारा बाहुबली ने प्रतिबोध पाकर केवलज्ञान प्राप्त किया।

३८. भरत चक्रवर्ती द्वारा बोध पाकर बाहुबली ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

३९. नाभि-मरुदेवी का युगल रूप में जन्म हुआ।

३९. नाभि-मरुदेवी का युगल रूप में जन्म नहीं हुआ।

४०. केवली का आहार निहार चर्मचक्षु द्वारा दिखलाई नही देता।

४०. केवली आहार निहार नही करता। यानी खाता पीता नहीं है।

४१. लब्धिसम्पन्न तथा विद्याधर मुनि मानुषोत्तर पर्वत से आगे भी जा सकते हैं।

४२. केवली के १८ दोष—

(१) मिथ्यात्व, (२) राग, (३) द्वेष, (४) अविरति, (५) कामवासना (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) शोक (ये ११ दोष मोहनीय कर्म के क्षय से). (१२) निद्रा, (दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से), अज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से), (१४) दानान्तराय, (१५) लाभान्तराय, (१६) भोगान्तराय,(१७) उपभोगान्तराय (१८) वीर्यन्तराय, (ये ५ अन्तराय कर्म के क्षय से), चार घातिय कर्मों के क्षय से केवली इन १८ दोषों से मुक्त होते हैं।

४१. लब्धिधारी तथा विद्याधर मुनि मानुषोत्तर पर्वत से आगे नहीं जा सकते।

४२. केवली के १८ दोष—

(१) भय, (२) द्वेष (३) राग, (४) मोह, (५) चिंता, (६) अरति, (७) मद, (८) विषाद, (९) खेद (ये नौ मोहनीय कर्म के क्षय से), (१०) निद्रा (दर्शनावर्णीयकर्म के क्षय से), (११) विस्मय (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से, (१२) स्वेद, (१३) जरा (नाम कर्म के क्षय से,) (१४) भूख, (१५) प्यास, (१६) रोग (वेदनीय कर्म के क्षय से), (१७) जन्म, (१८) मृत्यु (आयु कर्म के क्षय से), सिद्ध (मुक्त जीव) इन अठारह दोषों से रहित होते हैं न कि सशरीरी केवली। क्योंकि आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय आदि आठों कर्म सिद्ध के क्षय होते हैं। केवली के नहीं।

इस प्रकार अन्य भी अनेक मतभेद हैं जिनका समावेश ८४ मतभेदों में हो जाता है।

अंग प्रविष्ट, आगम-द्वादशांग

१. आयारांग (आचारांग)[1]
२. सूयगडांग (सूत्रकृतांग)
३. ठाणांग (स्थानांग)
४. समवायांग (समवायांग)
५. विवाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)
६. णायाधम्मकहा (ज्ञातृधर्मकथांग)
७. उवासगदसाओ (उपासकदशांग)
८. अंतगढदसाओ (अन्तकृतदशांग)
९. अणुत्तरोववाइदसाओ (अणुत्तरोपपातिकदशांग)
१०. पण्णावय (प्रश्नव्याकरणांग)
११. विवाग (विपाकसूत्रांग)
१२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवादांग)

१. आयारो (आचारांग)[2]
२. सूदयंद (सूत्रकृतांग)
३ ठाणं (स्थानांग)
४. समवायो (समवायाग)
५. विवाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)
६. णाहधम्मकहा (ज्ञातृधर्मकथांग)
७. उवासयज्झयणं (उपासकाध्ययनांग)
८. अंतयडदसा (अन्तकृतदशांग)
९. अणुत्तरोववादियदसा (अणुत्तरोपपातिकदशांग)
१०. पण्हवायरण (प्रश्न व्याकरणाग)
११. विवागसुत्तं (विपाकसूत्रांग)
१२. दिट्ठिवादो (दृष्टिवादांग)

अंग बाह्य

१. सामाइय (सामायिक)
२. चउवीसत्थाओ (चतुर्विंशति-स्तव)
३. वंदणय (वन्दनक)

अंग बाह्य

१. सामाइय (सामायिक)
२. चउवीसत्थओ (चतुर्विंशतिस्तव)
३. वंदणा (वंदना)

1. समवायांग सूत्र स्टीक समवाय १३६
2. धवला टीका पृष्ठ ९९-१०६

४. पडिक्कमण (प्रतिक्रमण)	४. पडिक्कमणं (प्रतिक्रमण)
५. काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग)	५. वेणइय (वैनयिक)
६. पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान)	६. किदियम्म (कृतिकर्म)
७. दसवेयालिय (दशवैकालिक)	७. दसवेयालिय (दशवैकालिक)
८. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)	८. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)
९. कप्प (कल्पसूत्र)	९. कप्पाकप्पीय (कल्पाकल्प)
१०. ववहार (व्यवहार)	१०. कप्पववहारो (कल्पव्यवहार)
११. महाकप्प (महाकल्प)	११. महाकप्पिय (महाकल्प)
१२ इसीभासीय (ऋषिभाषित)	१२. पुंडरीय (पुंडरीक)
१३. णिसिह (निशीथ)	१३. महापुंडरीय (महापुंडरीक)
१४. महाणिसिह (महानिशीथ)	१४. णिसिहिय (निषिद्धिका)

इत्यादि अनेक प्रकार के अंग बाह्य हैं।

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि इन्हीं अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य को दिगम्बर भी मानते हैं जो श्वेतांबर जैनों के पास आज भी विद्यमान है तथापि दिगम्बरो के उन्हे कल्पित कहने का यही प्रयोजन है कि इन में साधु साध्वी के लिये वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को रखने के विधि-विधान हैं जिससे दिगम्बरों की एकांत नग्नता की मान्यता आगमविरुद्ध सिद्ध हो जाती है और साधु के समान ही साध्वी भी पांचमहाव्रत धारिणी है तथा मोक्षप्राप्त कर सकती है ऐसी महावीरशासन मान्यता की सिद्ध हो जाती है जो दिगम्बरों को मान्य नहीं है।

लुंका तथा ढूंढिया (स्थानकवासी) मत

जैनधर्म में सदा से जिनमंदिरों तथा जिनप्रतिमाओं की स्थापना, पूजा और उपासना चालू है। बड़े-बड़े प्राचीन आलीशान जैनमदिर, जैनतीर्थ तथा जैनतीर्थंकरों की मूर्तियाँ आज भी सर्वत्र विद्यमान है जो जैनधर्म के गौरव और प्राचीनता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारत में मूर्ति-विरोधी विदेशी मुसलमानों के आक्रमणों, और उनका शासन स्थापित हो जाने पर विक्रम की १६वीं शताब्दी में जैनधर्म में से भी एक मूर्तिविरोधी संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जो आज स्थानकवासी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत का संस्थापक एक गुजराती गृहस्थ लोकाशाह था। सर्वप्रथम यह संप्रदाय लुंकामत के नाम से प्रसिद्धि पाया। पश्चात् विक्रम की १८वीं शताब्दी में ढूंढिया मत के नाम से प्रख्याति पाया, फिर श्रमणोपासक और आजकल स्थानकवासी मत के नाम से भारत में सर्वत्र विद्यमान है।

लुंका तथा ढूंढिया मत की उत्पत्ति समय तथा मान्यताओं पर भी प्रकाश डालना इसलिये आवश्यक है कि पंजाब के (इतिहास को विक्रम की १७ वीं शताब्दी से २१ वीं शताब्दी तक के) समझने में मही मदद मिलेगी।

१ लुंकामत की उत्पत्ति—

वि० सं० १५०८ को लुंकाशाह गृहस्थ ने जिनप्रतिमा का उत्थापन (जिनमूर्ति की मान्यता का विरोध) अहमदाबाद (गुजरात) में प्रारम्भ किया और लुंकामत की स्थापना की।

वि० सं० १५३१ में इस ने भाणा आदि ४४ व्यक्तियों को इस मत की प्रति दीक्षा लेने की प्रेरणा दी। उन लोगों ने अहमदाबाद में यति (पूज-गोरजी) की दीक्षाएं लेकर इस मत का प्रचार व्यापक रूप से शुरू कर दिया। तब से इस मत का नाम लुंकामत पड़ा।[1] क्योंकि इस मत के प्रणेता लुंकाशाह थे। लोंकाशाह का देहांत वि० सं० १५४१ में हुआ था। प्राचीन जैनधर्म से इसका क्या विरोध था, इस का निर्देश वि० सं० १५८५ में लिखी हुई पुस्तक सिद्धान्त चौबीसी' में मिलता है "लौंकाशाह ने तीर्थ, प्रतिमा, जिनपूजा, सर्वविरति, देशविरति धर्मों की भिन्नता, दान, जन्म-कल्याणक उत्सव, पोषध, व्रत, पच्चक्खाण, प्रतिज्ञा काल, दीक्षा, सम्यक्त्व भेद, स्थविराचार आदि का निषेध किया। परन्तु पीछे के लौंकमतियों के यतियोंने, श्रीपूज्यों (चैत्यवासी यतियों के आचार्यों) ने अपनी-अपनी गद्दियाँ स्थापित कर यथानुकूल धीरे-धीरे उन्हीं बातों को स्वीकार कर लिया जिन का लौंकाशाह ने विरोध किया था।[2] ये यति और श्रीपूज्य लौंकागच्छीय कहलाने लगे।

वि० सं० १७०६ में लौंकागच्छीय यति लवजी ने क्रिया उद्धार करके साधु दीक्षा ली और इस मत में लौंकाशाह की मान्यता में एक और वृद्धि की। वह यह कि—इस मत के साधु-साध्वियाँ मुंहपत्ति में डोरा डालकर और उस डोरे को दोनों कानों में डालकर चौबीस घंटे मुख पर मुखपत्ति बांधे रखें और इस मत के श्रावक-श्राविकायें सामयिक करते समय मुखपर मुंह-पत्ति बाँध कर सामायिक करें। लवजी ने लौकागच्छीय यति बजरंगजी से वि०सं० १६६४ में अहमदा-बाद में यति दीक्षा ग्रहण की थी। उसने तथा उस के २१ यति साथियों ने अपने-अपने मुख पर मुंहपत्ति बांधकर उसके साथ स्वयमेव साधु की दीक्षाए लीं और जिनपूजा और जिनप्रतिमा[3] का एकदम निषेध कर दिया। तब इस ने घोषणा की कि हम ने सत्य की खोज कर ली है, नई वस्तु ढूंढ ली है। इस से इस पंथ का नाम ढूंढिया-ढूंढक मत और २२ व्यक्तियों द्वारा स्थापित होने के कारण बाईसटोला के नाम से प्रसिद्ध हुआ। और अपने मुख से ही ऐसा कहने लगे कि हम सत्यशोधक ढूंढिये अथवा ढूंढकपंथी हैं। अर्थात इस ढूंढकमत का प्रचलन अहमदाबाद (गुजरात) में वि० सं० १७०६ में हुआ था। लवजी ढूंढक मत का पहला साधु हुआ।[4]

लुंकामत (लौकागच्छ) का सर्वप्रथम यति भाणा (भूणा) जी वि० सं० १५३१ में हुआ। जिसने स्वयमेव सर्वप्रथम इस मत में दीक्षा ली। इस बात की पुष्टि लौंकागच्छीय गुरवावली से होती है। उसमें लिखा है कि—

---

1 इसी समय दिगम्बर तारणजी स्वामी ने अपने मत में तारण पंथ की स्थापना की यह पंथ भी मूर्तिपूजा का विरोधी है।

2. पट्टावली समुच्चय भाग १ पृ० २४२

3. लौंकाशाह ने जिनप्रतिमा की पूजा का निषेध किया था परन्तु जिनप्रतिमा का उत्थापन नहीं किया था। पश्चात् लवजी ने जिनप्रतिमा का उत्थापन कर दिया।

4. स्थानकवासी साधु गुजराती मणिलाल कृत 'जैनधर्म नो संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु महावीर पट्टावली' (देखें)।

"संवत् पनरह सय इगतीस, पोरवाड़ भूणा मुनि ईस ।
सिरोही देसज उत्तम ठाम, अरहटवाड़ा वासी मुनि राठ ।
अहमदाबाद नगरमंझार, संयबुद्ध[1] भूणा सुविचार" ॥१२-१३॥

इससे स्पष्ट है कि भूणा जी ने स्वयंबुद्ध अर्थात्—किसी को गुरुधारण किये बिना ही दीक्षा लेकर लुंकामत में वि० सं० १५३१ में यति संघ की स्थापना की थी। भूणा जी के स्वयमेव दीक्षा लेने के दो कारण थे—(१) इस मत का प्रवर्तक लौंकाशाह गृहस्थ था और (२) इस भूणा से पहले इस मत का कोई साधु अथवा यति नहीं था जिस से कि वह दीक्षा लेता। यही कारण था कि भूणा जी को स्वमेव दीक्षा लेनी पड़ी। इस के बाद इस पट्टावली की छः पीढ़ियों तक, गुजरात तक ही सीमित रहना पड़ा। इन छह पीढ़ियों के नाम वीर पट्टावली में इस प्रकार दिये हैं—१. भूणा (भाण) जी, २. भीदा जी, ३. नूनाजी, ४. भीमाजी ५. जगमाल तथा ६. सरवा (सरवर) जी। सरवर जी की यति दीक्षा वि० सं० १५५४ मे हुई थी। इस के दो शिष्य थे—७. यति रायमल्लीजी और यति भल्लो जी। ये दोनों वि० स० १५६० के लगभग उत्तरार्ध भारत के लाहौर नगर में आये और यहाँ आकर इन्होंने अपनी यति गद्दी स्थापित की।[2] और इन का गच्छ लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस बात की पुष्टि गुरवावली वि० सं० १८८७ से तथा प्रकारांतर से स्थानकवासी गुजराती मुनि मणिलाल की प्रभु महावीर की वंशावली से होती है।

तब तक लौंकामत के यति मुंहपत्ति नही बांधते थे। मात्र जिनप्रतिमा की पूजा मे सचित्त वस्तुओं का चढ़ाने का निषेध करते थे। इन का यह कहना था कि प्रभु पूजा में पुष्प-फलादि सचित वस्तुओं का उपयोग करना हिंसा का कारण है। इसके लिये एक ऐसा मत भी है

1. गुरवावली लिषति असति संवत् १८८७ मघसर सुद अष्टमीवार सोम सुधासर (अमृतसर) नगरे (श्रीवल्लभ स्मारक जैन शास्त्र भंडार दिल्ली)
यद्यपि इस मत के अनुयायीयों ने अपने मत को प्राचीनतम सिद्ध करने के लिये अनेक कल्पनाए कर रखी है किन्तु इनके साहित्य से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि भूणा जी ही लुंकामत का पहला पुरुष था जिस ने इस मत की यति (गोरजी) की स्वयमेव दीक्षा लेकर इस मत को चालू किया। यह सिरोही राज्य मे अरहटवाडा निवासी पोरवाड जाति का था। (स्थानकवासी मणिलाल कृत वीर प्रभु वंशावली पृ० १७९)।
2. इस बात की पुष्टि प्रभु महावीर वंशावली मुनि मणिलाल कृत से इस प्रकार होती है—
(१) सरवाजी के बाद लौंकागच्छ की तीन शाखायें हो गई। १. गुजराती लौंकागच्छ, २. नागौरी लौंकागच्छ और ३. लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छ।
(२) श्री रूपा जी ने स्वयमेव दीक्षा ली और सरवाजी के पट्टधर बने (पृष्ठ १८६)। इस से यह भी स्पष्ट है कि जब सरवाजी के दोनों शिष्य रायमल्ल और भल्लो लाहौर में चले आये तब सरवाजी का कोई अन्य शिष्य नहीं था जो उन की गुजरात की गद्दी को सभालता। अतः सरवाजी की मृत्यु के बाद रूपाजी ने स्वयमेव यति दीक्षा लेकर अपने आप को सरवाजी का पट्टधर घोषित करके उनकी गद्दी का मालिक बना। और रूपा जी से गुजरात में सरवाजी की गद्दी की आगे परम्परा कायम रही।

कि लुंकाशाह ने जिन प्रतिमा को मानने का ही निषेध कर दिया था। परन्तु यह मत सत्य नहीं है कारण यह है यदि जिनप्रतिमा का एकदम उत्थापन करदिया होता तो इस मत के यति जिन-मंदिरों का निर्माण तथा उन में जिनप्रतिमाओं की स्थापना, प्रतिष्ठा कदापि न करते कराते। और उन की पूजा आदि का करना कराना कदापि न चालू रखते। यदि लौंकाशाह ने जिनप्रतिमा का एकदम उत्थापन किया होता तो पंजाब, सौराष्ट्र राजस्थान, गुजरात, मुर्शिदाबाद (बंगाल) आदि सब जनपदों के प्रतिष्ठित मंदिर-प्रतिमाएं कदापि न होते। इन लोगों ने सदा जिनमंदिरों के निर्माण तथा उन में जिनप्रतिमाओं की स्थापना-प्रतिष्ठा तथा पूजन आदि किये कराये हैं। यद्यपि पंजाब में वर्त्तमानकाल में यति गद्दियों का सर्वथा अभाव हो चुका है तथापि उन के बनाये हुए जैनमंदिर आज भी अनेक नगरों में हैं जिन की व्यवस्था पूजनादि वहाँ के जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ करते हैं और उन्हीं के अधिकार में ये सब मंदिर हैं। इस बात की पुष्टि जिनप्रतिमाओं के सिंहासनों पर अंकित प्रतिष्ठा करानेवाले इस गच्छ के यतियों के नाम करते हैं। मात्र इतना ही नहीं। जहां-जहां पर इन की गद्दियां थीं, उनके उपाश्रयों और चैत्यालयों में जिनप्रतिमाओं की पूजा उपासना करते थे, जिन की इन्हों ने स्वयं प्रतिष्ठा एवं स्थापनाएं की थीं। आजभी पंजाब में बहुत संख्या में इन के द्वारा स्थापित जैनमंदिर मौजूद हैं।

यदि यह बात ठीक भी हो कि लुंकाशाह ने जिनप्रतिमा का एकदम उत्थापन कर दिया था[1] तो यह भी मानना अनुचित नहीं होगा कि लुंकामत के ऋषियों में शीघ्र ही शिथिलता आ गई थी और वे जगह-जगह उपाश्रयों में मठाधीश बन गये और पुनः जिनप्रतिमा को मानने लग गये। तथा श्रीपूज्य की पदवियां धारण करके यति रूप में प्रकट हुए। जिस का उद्धार लवजी ने वि० सं० १७०६ में करके ढुंढक मत की स्थापना की।

परन्तु शुरू से ही लुंकाशाह ने जिनप्रतिमा का उत्थापन कर दिया था इस के विपक्ष में एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी विद्यमान है कि भामाशाह के पूर्वज तपागच्छीय श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक धर्म को मानते थे। भामाशाह और इस का भाई ताराचन्द भी इसी धर्म के अनुयायी थे। पश्चात ताराचन्द ने लुंकामत को स्वीकार करके सादड़ी (राजस्थान) में एक श्वेतांबर जैनमंदिर का निर्माण कराया। उस मंदिर में प्रभु पूजा तो होती थी, पर फल-फूल आदि सचित्त द्रव्य नहीं चढ़ाये जाते थे। ताराचन्द का समय वि० सं० १६५० के लगभग है और लवजी ने जिनप्रतिमा का उत्थापन वि० सं० १७०६ में किया। यदि लुंकाशाह ने जिनप्रतिमा का एकदम उत्थापन कर दिया होता तो ताराचन्द कावड़िया सादड़ी में कदापि जैनमंदिर का निर्माण न कराता।[2] दूसरी बात यह है कि लुंकाशाह ने साधु दीक्षा का भी निषेध कर दिया था (जिसका हम पहले उल्लेखकर आये हैं) इसलिये उसके भूणा जी आदि अनुयायियों ने यति की दीक्षाएं ही ली होंगी ऐसा प्रतीत होता है। इससे हमारे इस मत को पूरा बल मिलता है कि लुंकाशाह के मत में जिनप्रतिमा पूजन

---

1. लुंकाशाह ने जिनप्रतिमा का उत्थापन किया ऐसा श्वेतांबर जैनों तथा ढूंढियों दोनों का मत है। परन्तु यह मान्यता सत्य नहीं है।
2. सादड़ी में ताराचन्द कावड़िया का यह श्वेतांबर जैनमंदिर आज भी विद्यमान है।

में सचित्त वस्तु चढ़ाने का निषेध था और उस के भूणा जी आदि ४४ अनुयायियों ने यति (पूज-गोरजी) की दीक्षाएं ग्रहण कर स्थान-स्थान पर अपनी गद्दियां स्थापित कीं। अत: वे जिनमंदिर-प्रतिमा तथा उनकी पूजा उपासना तो करते थे परन्तु मुंहपत्ति को मुख पर नहीं बांधते थे।

हम लिख आये हैं कि वि० सं० १५६० में लुंकामत के यति सर्वप्रथम पंजाब में लाहौर आये। वि० सं० १७०६ में अहमदाबाद में लवजी द्वारा ढूंढक मत की स्थापना, ढूंढिये साधुओं की दीक्षा तथा मुंहपत्ति बांधने के पश्चात्, पंजाब से लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यति हरिदास वि० सं० १७२९-३० में अहमदाबाद गये। वहां जाकर लवजी के शिष्य सोमजी ऋषि के पास रहे और उन से ढूंढियामत के साधु की दीक्षा ग्रहण की तथा मुख पर मुंहपत्ति बांधी। वि० सं० १७३१ में पंजाब वापिस लौट आए और इस प्रदेश में ढूंढकमत[1] का श्रीगणेश किया।[2] और अपनी मान्यता के अनुसार पंजाब में भी जिनमदिरों, जिनप्रतिमाओं तथा इनकी पूजा उपासना के उत्थापन का आन्दोलन शुरू कर दिया। पंजाब का स्थानकवासी (ढूंढिया) संघ ऋषि हरिदास को ही आद्य संघशास्ता आचार्य मानता है।[3] गुजरात में जिस सोम जी से ऋषि हरिदास ने ढूंढकमत की दीक्षा ली थी; उस सोम जी के पहले शिष्य कानजी ऋषि थे। इन से गुजरात में ढूंढियामत चालू रहा। ऋषि हरिदास जी भी लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छीय कहलायें। लौंकागच्छीय मत की शाखा लाहौरी उत्तरार्धगच्छ की वंशावली इस प्रकार है—

१—यति बजरंग जी, २—ऋषि लवजी, ३—सोम जी, ४—ऋषि हरिदास जी (पंजाब के आदि संघ-शास्ता), ५—वृन्दावन जी, ६—भवानीदास जी, ७—मलूकचन्द जी,[4] ८—मनसाराम जी, ९—भोजराज जी, १०—महासिंह जी ११—खुशालचन्द जी, १२—छजमल जी, १३—रामलाल जी, १४—अमरसिंह जी, १५—रामबक्ष जी, १६—मोतीराम जी, १७—सोहनलाल जी, १८—काशीराम जी, १९—आत्माराम जी,[5] २०—आनन्द ऋषि जी।

लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यतियों की वंशावली उपर्युक्त ढूंढक (स्थानकवासी) मत की वंशावली से एकदम अलग-थलग ही चलती रही और आगे चलकर इन यतियो की अनेक शाखायें हो गईं। उनमे से यहाँ एक मात्र वि० सं० १८८७ में लिखी गई गुरवावली (वंशावली) का देते हैं—

---

1. देखें गुजराती स्थानकवासी (ढूंढिया) साधु मणिलालकृत प्रभुवीर वंशावली पृ० २०४।
2. इस मत के संस्थापक लवजी ने बड़े गर्व के साथ अपने मत का नाम ढूंढक रखा यही मत आज स्थानकवासी कहलाता है।
3. देखें हिन्दी मासिक आत्मरश्मि सन् ई० १९७७ मार्च का अंक तथा मुनि मणिलाल ढूंढिया साधु कृत प्रभु महावीर वंशावली।
4. ऋषि मलूकचन्द सद्धर्म सरक्षक श्री बूटेराय (बुद्धि विजय) जी के ढूंढक अवस्था के गुरु थे।
5. यह आत्माराम जी श्रीमद् विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी से ७५ वर्ष बाद में हुए हैं। ये अधिकतर लुधियाना (पंजाब) में ही रहे हैं। इनको अखिल भारतवर्ष के स्थानकवासी संघ ने सारे भारत के ढूंढकमत का आचार्य स्थापित किया था। इनके देहांत के बाद इनके पट्टधर आचार्य आनन्दऋषि विद्यमान है।

१—भूना (भाणा)[1] ऋषि जी, २—भीदा ऋषि जी, ३—नूना ऋषि जी, ४—भीमा ऋषि जी ५—जगमाल ऋषि जी, ६—सरवा (सरवर) ऋषि जी, ७—रायमल्ल ऋषि जी,[2] ८—सारंग ऋषि जी, ९—सिवराज ऋषि जी, १०—जसोधर ऋषि जी, ११— मनोहर ऋषि जी, १२—सुन्दर ऋषि जी, १३—सदानन्द ऋषि जी, १४—जसवन्ता ऋषि जी, १५—वर्द्धमान ऋषि जी, १६—लखमी ऋषि जी, १७—रिखबा (रीखा) ऋषि जी, १८—सन्तु ऋषि जी १९—हरदयाल ऋषि जी[3] इत्यादि। इन में से बीच-बीच में से कई शाखायें-प्रशाखायें निकलती रहीं और उन शाखाओं वाले अलग-अलग नगरों में अपनी-अपनी अलग-अलग गद्दियां कायम करते चले गये। फगवाड़ा नगर के यति मेघाऋषि (मेघराज) कवि अपने आपको लाहौरी उत्तरार्द्ध लौंकागच्छ के ९ वें सिवराज ऋषि की पट्टपरम्परा का मानते हैं। उन्होंने पंजाबी और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचनाएं की हैं। फगवाड़ा नगर (पंजाब) में इनके उपाश्रय में इनके गुरुओं के द्वारा स्थापित की हुई २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की एक भव्य प्रतिमा थी।

जैन श्वेताम्बर मुनिराजों का पंजाब में आवागमन लगभग दो शताब्दियों तक न होने से ढूंढकमत के प्रचार और प्रसार के प्रभाव से सारे पंजाब में प्रायः सब लोग इस मत के अनुयायी बन गये और जैन श्वेताम्बर धर्म का प्रायः लोप हो गया था। पश्चात् वि० सं० १८९७ से सत्य-वीर सद्धर्मसंरक्षक श्री बुद्धिविजय (बूटेराय)[4] जो भगवान महावीर के वास्तविक जैनधर्म को पंजाब में पुन. प्रकाश में लाये। इस प्रकार लगभग दो शताब्दियों के अन्तराल में लुप्तप्रायः हो गये प्राचीन जैनश्वेतांबर (मूर्तिपूजक) धर्म को प्रकाश में लाने में आप को एकाकी अनेक उपसर्ग और परिषह सहन करने पड़े तो भी आपके कदम डगमगाये नहीं और सद्धर्म प्रचार में डटे ही रहे तथा सफल भी हुए। पश्चात् आपके ही शिष्य न्यायांभोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि (प्रसिद्ध नाम आत्मा-राम) जी महाराज ने आपके रहे हुए अधूरे कार्य को पूरा करके सारे पंजाब में जैनधर्म का डंका बजाया। इन गुरु शिष्य ने सारे पंजाब में जगह-जगह पुराने जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार तथा जहाँ-जहाँ आवश्यकता थी, उन-उन नगरों में जैनमंदिरों का निर्माण तथा प्रतिष्ठायें कराईं। पंजाब के अनेक नगरों में जैन शास्त्रभंडारों की स्थापना कराई और हजारों परिवारों को सत्यधर्म का अनु-यायी बनाकर उन मंदिरों में पूजा-भक्ति करके आत्मकल्याण की साधना केलिए उपासक बनाया। अनेक ग्रंथों की हिन्दी भाषा में रचनाएं की, व्यवहारिक और धार्मिक शिक्षण पाने का सुअवसर प्रदान किया। पंजाब के समस्त श्वेताम्बर जैनसंघ को सुसंगठित रखने केलिए श्री आत्मानन्द जैन महासभा (पंजाब-उत्तरीभारत) की स्थापना की और प्रत्येक नगर में इसकी शाखायें श्री

1. भूना ऋषि लुंकामत के प्रथम यति तथा ४४ साथियों के साथ प्रथम अनुयायी थे।
2. रायमल्ल तथा भल्लो जी ये दोनों गुरुभाई वि० सं० १५६० में पंजाब (लाहौर) में आए।
3 देखें वि० सं० १८८७ मघर सुदि ८ वार सोम सुधासर (अमृतसर) पंजाब में लिखी हुई गुरवावली (यह गुरवावली वल्लभ स्मारक शास्त्रभंडार दिल्ली में सुरक्षित है)।
4. मुनि बुद्धिविजय जी पंजाब के सिख जाट थे। आपने वि० सं० १८८८ में ढूंढक मत की साधु दीक्षा ली। पश्चात् वि० सं० १९१२ में संवेगी दीक्षा ग्रहण की। (विशेष देखें आपका जीवन चरित्र-सद्धर्म संरक्षक-इस ग्रंथ के लेखक द्वारा लिखित।)

आत्मानन्द जैन सभाओं के नाम से कायम कीं। यह महासभा श्री विजयानन्द सूरि (प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज) की भावना को मूर्तरूप में लाने केलिये और उनकी स्मृति को कायम रखने के लिये स्थापित करके इसके नाम के साथ आपके ढूंढिया अवस्था और संवेगी अवस्था के नामों का संबंध जोड़ दिया गया। (आत्म+आनन्द=आत्मानन्द)।[1]

३-ढूंढिया मत (स्थानकवासी मत) से निकला तेरापंथ मत

स्थानकवासी मत के पूज्य श्री भूधर जी महाराज के तीन शिष्यों में से रुगनाथ जी महाराज मरुधर (राजस्थान) में विचर रहे थे। उस समय उन्हें भीखन जी नाम के एक शिष्य का लाभ हुआ। उसने रुगनाथ जी से वि० सं० १८०८ में (ढूंढकमत की) दीक्षा ली। जैन शास्त्रों का गहरा अभ्यास किया तब आपको लगा कि यह मानना ठीक नहीं है, अहिंसा-दान और अनुकम्पा में धर्म है। क्योंकि यह पुण्य के कर्म हैं, और पुण्य बन्ध का कारण होने से ग्रहण करने योग्य नहीं है। अतः नवतत्त्वों में पुण्य तत्त्व आश्रव का कारण होने से मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। इस लिए अवश्य त्यागने योग्य है। यह सोचकर इसने अपनी मान्यता की चर्चा अपने साथवाले साधुओं के साथ शुरूकर दी। उसके गुरु ने उसे बहुत समझाया कि जैन धर्म एकान्त मत नहीं है किन्तु अनेकान्त धर्म है। निर्जरा निश्चय धर्म है और पुण्य व्यवहार धर्म है। इन दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है। अतः पुण्य का एकांत निषेध करना जिनशासन के अनुकूल नहीं है। बहुत समझाने पर भी इसने अपना हठ नहीं छोड़ा। १२ साधुओं ने इसके मत का समर्थन किया। ये सब मिलकर १३ साधु ढूंढक मत से अलग होकर बगड़ी गांव (राजस्थान) में गये। वहाँ जाकर वि० सं० १८१८ में पुनः स्वयं दीक्षा लेकर इन्होंने इस पंथ की स्थापना की। इन १३ साधुओं तथा कुछ श्रावकों ने मिलकर भीकन जी को इस नये पंथ का सस्थापक होने के कारण अपने पंथ का आचार्य बनाया। तेरह साधुओं ने मिलकर इस पंथ की स्थापना की, इस लिए इसका नाम तेरहपंथ प्रसिद्ध हुआ।[2] आगे चलकर इस पंथ के मानने वालों ने इसके नाम में परिवर्तन करके तेरापंथ नाम निश्चित किया। तेरापंथ नाम से इस पंथ के अनुयायियों का यह कहना है कि 'भीखन जी स्वामी ने भगवान महावीर के धर्म में आयी हुई विकृति को हटाकर पुनः उनके असली सिद्धान्तों की स्थापना करके कहा कि—हे प्रभो! यह तेरा ही पथ है।' (तेरा+पथ=तेरापंथ)।[3]

---

1. श्री विजयानन्द सूरि कपूर क्षत्रीय जाति के थे। आपका जन्म वीरभूमि पंजाब के लहरा गांव में हुआ। वि० १९१० में साधु जीवनराम से ढूंढक मत की दीक्षा ग्रहण की पश्चात् वि० सं० १९३२ में सवेगी दीक्षा ग्रहण की। परिचय आगे लिखेंगे।
2. देखें स्थानकवासी मुनि मणिलाल कृत प्रभु महावीर वंशावली।
3. प्रभुमहावीर के निर्ग्रंथसंघ से वीरात् ६०९ (वि० सं० १३९) में दो बातों के मतभेद से

(१) दिगम्बर मत निकला :— १-केवली आहार नहीं करते और २— स्त्री को मुक्ति नहीं होती।

(२) वि सं० १७०९ में महावीर शासन से ढूंढिया मत दो बातों के मतभेद से अलग हुआ। १- जिन प्रतिमा का उत्थापन तथा मुखपत्ति मुंह पर बांधना।

(३) वि० सं० १८१८ में ढूंढकपंथ से दो बातों के मतभेद को लेकर तेरापंथ की उत्पत्ति हुई। दान और दया (अनुकम्पा) धर्म नहीं हैं।

अर्थात् महावीर शासन से दिगम्बर पंथ दो बातों से, ढूंढकमत दो बातों से और तेरापंथ वाले महावीर शासन से चार मतभेदों से अलग हुए।

इस पंथ की वंशावली इस प्रकार है ।

१—श्री भीखन जी, २—श्री भारमल जी, ३—श्री रायचन्द्र जी, ४—श्री जीतमलजी, ५—श्री मेघराज जी, ६—श्री मानेकलाल जी, ७—डालचन्दजी, ८—श्री कालूराम जी, ९—श्री तुलसीगणि जी (विद्यमान) ।

आचार्य तुलसीगणि से तेरापंथ का प्रचार पंजाब में भी होने लगा है। अतः इस समय पंजाब में भी तेरापंथ के अनुयायी बनते जा रहे हैं।

४. पंजाब में यति-श्री पूज्य

पंजाब, सिंध आदि जनपदों में बड़गच्छ, खरतरगच्छ, तपागच्छ तथा लौंकागच्छ के यतियों की गद्दियां थीं । १. जैनश्रमण की दीक्षा लेकर जो नवकल्प विहार करते हैं और सब प्रकार के परिग्रह के त्यागी हैं; पैदल चलकर सर्वत्र नगरों, ग्रामों से विचर कर जिनप्रवचन का प्रचार तथा स्वयं आचरण कर-कराकर स्व-पर का कल्याण करते हैं । गोचरी (मधुकरी) करके आहार-पानी ग्रहण करते हैं; पाँच महाव्रतों के धारक तथा रात्रि भोजन के सर्वथा त्यागी हैं; उनकी न तो कोई निजी संपत्ति होती है और न ही वे मठों-मन्दिरों में रहते हैं; परिवार-सगे संबन्धियों के साथ भी उनका कोई प्रतिबन्ध नही होता-ब्रह्मचारी तथा सब प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते है । उनके निमित्त बना हुआ कोई भी खाद्य, पेय, वस्त्र, उपकरण, आदि पदार्थ ग्रहण नही करते, उनके निमित्त बनाये हुए निवास-स्थानों में वे ठहरते भी कभी नही है। जहाँ कही ठहरना, अथवा निवास करना होता है वहाँ गृहस्थों के अपने निमित्त बनाये हुए स्थानो मे उनकी अनुमति से ठहरते हैं। ऐसे शुद्ध आचार वाले यति, श्रमण, साधु, भिक्षु, मुनि, अणगार और निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं । न इनका कोई परिवार होता है न संतान। योग्य मुमुक्षुओ को पाँच महाव्रतों की दीक्षा देकर उन्हें अपना शिष्य बनाते है । इनमें जो महिलायें दीक्षा लेती हैं वे साध्वी और पुरुष दीक्षा लेते हैं वे साधु कहलाते हैं।

२—जो व्यक्ति घरबार का त्याग कर जैन साधु का वेष तो धारण कर लेते हैं पर साधु के आचार का पालन नहीं कर पाते। किन्तु न तो उनका परिवार होता है न संतान। जैन उपाश्रयों और मंदिरों में रहते हैं; लंगोट के पक्के (ब्रह्मचारी) और जबान के सच्चे होते हैं। सवारी करते हैं, मठ और जमीन-जायदाद आदि भी रखते हैं। जैनधर्म शास्त्रों के विद्वान, ज्योतिष, वैद्यक (चिकित्सा), और मंत्र-यंत्र-तंत्र के पारंगत होते हैं । ये भी अपने शिष्य बनाकर अपनी गुरु-शिष्य परम्परा को कायम रखते हैं। ये लोग उपाश्रय में अथवा उनके समीप जैनमंदिर बनवाते हैं, उनकी सार-संभाल, पूजा-सेवा की सब व्यवस्था करते हैं। रेल आदि की सवारी भी करते हैं और रुपया-पैसा भी रखते हैं। जैनधर्म की दृढ़ श्रद्धा वाले तथा उसके प्रचार-प्रसार में संलग्न रहते हैं। मंदिरों की प्रतिष्ठाएं कराना, धर्मोपदेश-शास्त्र वांचन आदि करना। पूजा आदि धर्मानुष्ठान आदि कार्यों में दक्ष होते हैं। इन्हें यति-भट्टारक कहते हैं। गुजरात में गोरजी, राजस्थान में गुरांसा और पंजाब में पूजजी कहते हैं। ये जैनगृहस्थों से भेंट-दक्षिणा भी लेते हैं। इनके आचार्य भी होते हैं, जिन्हें श्रीपूज्य कहते हैं। ये लोग चैत्यवासी के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनकी दीक्षा तो जैनसाधु के समान ही होती है पर पांच महाव्रतों में से मात्र ब्रह्मचर्यव्रत का तो पूर्णरूप से पालन करते हैं,

बाकी के चार व्रतों का पालन अनुव्रत के रूप से करते हैं। घर बार, परिवार आदि के भी त्यागी होते हैं।

ये लोग संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी-गुजराती-उर्दू-फारसी आदि अनेक भाषाओं तथा लिपियों के जानकार थे तथा चिकित्सा, काव्य, व्याकरण, छंद, अलंकार, जैनसाहित्य—चारित्र, अष्टांग निमित्त आदि उत्तम ग्रंथों की रचनाएं भी करते थे। ये लोग दवादारू से चिकित्सा भी करते थे। असाध्य रोगों को भी दूर करने में दक्ष थे। झाड़ा-फूंकी भी करते थे। साधना आराधना से देवी-देवता भी इनके सहायक बन जाते थे। यत्र-मंत्र-तंत्रों में भी सिद्धहस्त थे। अनेक शास्त्रों की प्रतिलिपियां भी करते थे। इनकी लिखाई इतनी सुन्दर थी कि मानो अक्षरों की मोती मालाएं पिरोई हों। बड़े-बड़े चमत्कारों से अमीर-उमराव, राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह और सम्राट तक प्रभावित होकर सेवक बन जाते थे। जनता की निःस्वार्थ सेवा तथा राजाओं-बादशाहों को संकटापन्न परिस्थितियों से बचाने पर इन्हें जमीन तथा जागीरें तक भेंटमें मिलते थे। अनेक राजे-महाराजे तो इन्हें राजगुरु मान-कर अपने गौरव को बढ़ाते थे। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि जब राजा की सवारी निकलती थी तो इस यति राज की सवारी राजा के आगे चलती थी। जैन-जैनेतर दर्शनों के विद्वान, चमत्कारों तथा मंत्रविद्या के विशारद तो होते ही थे किन्तु सर्व-साधारण प्रजा की निःस्वार्थ सेवाओं केलिये भी दृढ सकल्प थे। जहां पर त्यागी मुनिराज नहीं पहुँच पाते थे वहां पर यति लोग ही जैनधर्म को अक्षुण्ण रूप से चिरस्थाई और जीवित रखने में कृत-संकल्प थे। भारत में आज भी अनेक स्थान ऐसे हैं कि जहां पर अनेक शताब्दियों से मुनिराजों का आवागमन नहीं हुआ, वहां आज तक जैन धर्म के उपासक इन्ही की कृपा से विद्यमान हैं। इनके अपने-अपने जैन शास्त्रभंडार भी थे।

लगभग एक शताब्दी से अधिकतर यति लोग चरित्र भ्रष्ट होने लगे। कई लोग विवाह करके गृहस्थ बन गये और उपाश्रयो को अपने घरों के रूप में परिवर्तित कर लिया। शास्त्रभंडारो को कौडियों के दामों में बेच दिया अथवा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जायदादों और मंदिरों को समाप्त कर दिया अथवा गृहस्थी हो जाने पर उन्हे अपने जीवननिर्वाह का साधन बना लिया। अब इन लोगों ने अपनी जती जाति बना ली है और उसी में विवाह शादियां करने लगे हैं तथा जैनधर्म को छोड़कर अन्यधर्मी बनते जा रहे हैं। जो यति अपने धर्म में दृढ रहे उनकी आगे शिष्य परम्परा समाप्त हो गई। जो उनके पास चल-अचल सम्पत्ति बच पाई थी, उसके वहां-वहां के जैन श्वेतांबर अथवा स्थानकवासी संघ मालिक हैं। आजकल पंजाब में यति एकदम समाप्त हो चुके हैं, न तो कोई यति है और न कोई यति गद्दी ही है। अब इनका नाम शेषमात्र इतिहास के पृष्ठों पर ही अंकित रह गया है।

पहले पंजाब और सिंध में यतियों (पूजों) तथा इनके आचार्यों (श्रीपूज्यों) की गद्दियां कहां-कहां पर थीं, उनका कतिपय विवरण यहां दिया जाता है।

(१) उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यति

हम लिख आये हैं कि लौंकाशाह गृहस्थ ने अहमदाबाद में जिनप्रतिमा पूजन के विरोध में वि० सं० १५३१ में एक नये पंथ की स्थापना की। इस पंथ के यति लौंकागच्छीय कहलाये। गुजरात से लगभग वि० सं० १५६० में पंजाब में सबसे पहले यति सरवर के दो शिष्य रायमल्ल और भल्लो जी लाहौर में आये। इसलिये यह लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छ कहलाया। धीरे-धीरे

इनके शिष्य-प्रशिष्य सारे पंजाब में फैल गये। (सिंध जनपद में इनका प्रवेश नहीं हो पाया और न ही ढूंढक मत के साधुओं का आवागमन हो पाया) और जहाँ-जहाँ वे गये उन्होंने अपनी स्थाई गद्दियाँ स्थापित कर लीं, वहाँ पर जैन उपाश्रय तथा जैनश्वेतांबर मंदिरों की स्थापना, निर्माण तथा उनमें जिनप्रतिमाओं की स्थापना और प्रतिष्ठाएँ भी कीं। उनकी सेवा-पूजा-उपासना-व्यवस्था भी सुचारू रूप से की।

(२.) यति विमलचंद्र को श्रीपूज्य पदवी प्रदान[1]

विक्रम संवत् १८७१ माघ सुदि ५ भौम (मंगल) वासरे लौंकागच्छे हयवतपुर (पट्टी जिला अमृतसर) नगरे शुभस्थाने श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री १०८ मत्पूज्याचार्य श्री विमलचन्द्र स्वामीजी की तेवड़ (पदवी प्रदान महोत्सव) की। पट्टी के सब श्रावकों ने तेवड़ कराई। यति सर्व [अपने अनुयायी यतियों को क्षेत्र सौंपने का विवरण]।

१. प्रथम क्षेत्र—श्री मत्पूज्याचार्य विमलचन्द्र स्वामी जी :—	
(१) होशियारपुर, (२) अम्बाला, (३) पट्टी, (४) वैरोवाल।	४ क्षेत्र
२. लालू ऋषि=(१) जगरांवां, (२) रायकोट।	२ „
३. आनन्दरूप ऋषि=(१) मालेर कोटला, (२) गुज्जरवाल।	२ „
×४. पूज्य दीपचन्द ऋषि=(१) अमृतसर (२) सनखतरा।	२ „
×५. पूज्य रूपा ऋषि=(१) पट्टी, (२) जालंधर, (३) लुधियाना।	३ „
×६. पूज्य वासऋषि=(१) अंबहटा, (२) अबदुल्लाखाँ की गढ़ी, (३) थोनेसर।	३ „
७. माणकऋषि=(१) फगवाड़ा, (२) जेजों, (३) टांडा, (४) करनाल, (५) ढूडिया।	५ „
८. मंगलऋषि=(१) जंडियाला गुरु।	१ „
९ लहजूऋषि=(१) अंबाला (२) साढौरा।	२ „
१०. धर्मऋषि=(१) लाहौर।	१ „
×११. पूज्य[2] दुनीचंद ऋषि (बसताऋषि के गुरु) (१) गुजरांवाला।	१ „
१२. जहुरी ऋषि=(१) पटियाला, (२) सुनाम।	२ „
१३. वेलिया ऋषि=(१) सामाना	१ „
१४. त्रिपुरऋषि=(१) राहों।	१ „
१५. सवानिया ऋषि=(१) साढौरा।	१ „
१६. आर्या धन्नोजी=(१) होशियारपुर।	१ „
१७. आर्या लच्छमीजी=(१) वैरोवाल।	१ „
१८. आर्या सुखमनी जी=(१) अंबाला।	१ „

---

1. यह विज्ञप्तिपत्र लाहौरी उत्तरार्ध लौंकागच्छीय श्रीपूज्य आचार्य विमलचन्द्र स्वामी ने अपनी आचार्य पदवी पाने पर यतियों के नाम लिखी।
(यह विज्ञप्ति पत्र श्री वल्लभस्मारक जैन प्राच्यशास्त्र भंडार—दिल्ली में सुरक्षित है)

2. निशान × वाले यति श्रीपूज्य जी से आयु में बड़े थे, दीक्षा पर्याय में भी बड़े थे इसलिये इस सूची में उन के नाम के आगे पूज्य शब्द का प्रयोग किया गया है।

इन क्षेत्रों की परठ करी, श्री मत्पूज्याचार्य विमलचंद्र स्वामी की तेवड़ पंचायती करी। सकल संघ को प्रमाण करनी सही। अपना-अपना क्षेत्र साचवना। [जो] अपनी छोड़ी बिरानी (दूसरे के क्षेत्र में) जावेगा सो शिक्षा (दंड) पावेगा। अपने क्षेत्र में रहेगा सो चतुर्विधसंघ का आराधक होवेगा सही।

(३) श्रीपूज्य विमलचन्द्र स्वामी के नाम—

फगवाड़ा (पंजाब) के मेघराज ऋषि का पर्यूषण क्षमापना पत्र

कहे कवि मेघऋषि उपमा अपार बनी तुमहु हो सागर से भरे रत्न भरे हैं ॥६॥
तत्र शुभ ठौर भली, सुधासर (अमृतसर) नाम कह्यो भव्यजीव दान करे पाले षटकायी को।
श्री श्रीपूज्य मदाचार्य गुरु विमलचन्द्र स्वामीजी सुपूज्य बड़ो गुणखान लायी को ॥
पूज्य श्री झंडा ऋषि धरमहू को झंडा जिम बीर ऋषि बीरबली मीतै सुखदायी को।
पूज्य बिनी क्षेमामुनि क्षेमहू को करता है सेव करे गुरु की सेवा गुण गायी को ॥७॥
फगुआ सुनयर बसे दास-नी को दास सदा मेघाऋषि नाम भणे चेरी तुम पाद को।
ताको सुभ सीस ईश माणक है चन्द्र नाम साधनि की सेव करे नहीं मान बाद को ॥
सो तो है नकोदर में वन्दना सु-वाचो प्रभु दा हे दश आठ (१०८) बार करके प्रसाद को।
चरणों के साथ हमें जानो दिन-रैन भले किरपा को राखो तुमै धरी न प्रमाद को ॥८॥
अत्र सुखसाता तत्र तुम को कल्याण करैं चौबीस जिनराज सदा और देवी-सासना।
इहां के श्रावक सब वन्दना करत प्रभु सुधासर (अमृतसर) श्रावक नै धर्मध्यान भासना ॥
परब पजूसन सुबीते है आनन्द करी हुआ तप घना व्रत-बेला और एकासना।
तुम हु के दर्श की चाहत है मेरो मन काया मे कलेस बड़ो चलने की आस ना ॥६॥
तुमरी प्रभु ! कृपा सौं मेरो मिटि जाई रोग देखो तव-पाद दोऊ पूजे मन कामना।
चूले महि रही पीर रोग है बिपीर बड़ो किये हैं उपाई घनै आयुर्वेद गामना ॥
गाम हू में फिरने की शक्ति भई मेरे तन पांच सात कोसनि के जात हूं की सामिना।
सेवक निज जानि के हमें न भुलावो नाथ, सेवक हैं आदि हूं के धरै सेव भावना ॥१०॥
पाती निज शांति हू की लिखियो हमेश नाथ तुमरी आनन्द हू तै हम को आनन्द हूं।
जो तो हम सेव भक्ति करी नहीं महाराज कारण ही बन्यो ऐसो पायो दुःख द्वंद हूं ॥
भये हैं कपूत जबे पिता तो सुपिता होहिं पिता की भलाई कहैं मन्द हूं ?
तिस तै अनेक दोष हम हू में रहैं पोष तुमी न विचारो प्रभु ! किरपा के कन्द हूं ॥११॥

दोहा—दीरघ लघु जो साध सब, लाइक हैं तुम स्वामी।
नालाइक हम हैं प्रभु ! यो तुमारी स्वामि ॥१२॥
सरब साध मंडल कूं, सब गुण सुगन्ध भरपूर।
आक फूल मुनि मेघ है, तुम शिव पग धूर ॥१३॥
(मिति भादों सुदि ५)

(४) यति रामचन्द्र को—श्रीपूज्य पदवी प्रदान

श्रीमत्पूज्य रामचन्द्र जी (स्वामी) की तेवड़ (श्रीपूज्य पदवीप्रदान महोत्सव) करवाई अमृतसर नगरे [वि०] सं० १८८० मिति माघ सुदि ५ बृहस्पतिवासरे। लाला रतनचन्द, लाला

उत्तमचन्द गोत्र दुगड़। सर्व जती—आरजा। [अपने अनुयायी यतियों—यतनियों को क्षेत्र सौंपने का विवरण]

१. प्रथम क्षेत्र—श्रीमद् पूज्य रामचन्द्र स्वामी जी :—

(१) अमृतसर, (२) पट्टी, (३) साढोरा, (४) अंबहटा, (५) लाहौर, (६) अंबाला। ६ क्षेत्र

२. पूज्य कृपाऋषि =(१) पट्टी, (२). खरड़, (३) नालागढ़। ३ „

३. पूज्य लालूऋषि =(१) जगरावां, (२) रायकोट, (३) बलाचौर। ३ „

४. पूज्य दीपचन्द्र ऋषि =(१) अमृतसर, (२) जंडियाला गुरु (३) कसूर ३ „

५. पूज्य मायक ऋषि =(१) फगवाड़ा, (२) टांडा, (३) नकोदर। ३ „

६. पूज्य राजाराम ऋषि =(१) रामपुर। १ „

७. पूज्य दुनीचन्द ऋषि =(१) गुजरांवाला। १ „

८. पूज्य सहजू ऋषि =(१) अंबाला, (२) मनसूरपुर। २ „

९. पूज्य प्रेमाऋषि =(१) अंबहटा। १ „

१०. पूज्य जीवा ऋषि =(१) थानेसर, (२) करनाल। २ „

११. पूज्य साहबू ऋषि =(१) अबदुल्लाखां की गढ़ी, (२) सहारनपुर। २ „

१२. पूज्य जीता ऋषि =(१) मालेरकोटला, (२) लुधियाना। २ „

१३. पूज्य जौहरी ऋषि =(१) पटियाला। १ „

१४. पूज्य नौबत ऋषि =(१) जेजों। १ „

१५. पूज्य बनूड़ी ऋषि =(१) बनूड़। १ „

१६. पूज्य दीवान ऋषि =(१) सरसावा, (२) सिरसा। २ „

१७. पूज्य धर्मा ऋषि =(१) अमृतसर। १ „

१८. पूज्य नानक ऋषि =(१) सुनाम। १ „

१९. पूज्य बखता ऋषि =(१) राहो। १ „

२०. आरजा लक्ष्मी जी =(१) होशियारपुर। १ „

२१. आरजा सुखमनीजी =(१) थानेसर, (२) सामना। २ „

२२. श्री श्रीपूज्य रामचन्द्र जी के साथ =पूज्य सोहनऋषि, पूज्य बिहारी ऋषि। २ „

इन क्षेत्रों में परठ करी। श्री १०८ श्रीमत्पूज्याचार्य स्वामी रामचन्द्र ने तेवड़ की। रतनचन्द्र उत्तमचन्द्र दुगड़ सर्वसंघ को प्रमाण करनी सही। [सब यति] अपने-अपने क्षेत्रों को संभालें। अपना क्षेत्र छोड़कर जो दूसरे क्षेत्र में जावेगा सो चतुर्विधसंघ का विराधक होवेगा। जो अपने क्षेत्र में रहेगा वह चतुर्विधसंघ का आराधक होगा। सही-सही पदवी नई चादर पहरने। [श्रीपूज्य पदवी प्रदान करते समय श्रीपूज्य जी को दी गई चादरों का विवरण] (१) पहली चादर यतियों की, (२) पंचायत की तरफ़ से, (३) श्रावकों की तरफ़ से, (४) तेवड़वाले श्रावकों की तरफ़ से। उस के [तेवड़ वाले के] घर चिट्ठा-वाचना सर्वसंघ ने प्रमाण की। वि० सं० १८८० में श्री जी गद्दी पर बैठे। शुभम् अस्तु। जती १६ आर्या ४। स्वगच्छीय ६, खरतरगच्छीय ५, गुजराती लौंकागच्छीय २, नागौरीगच्छीय ३। [तेवड़ पर आये]।

(१) वि० सं० १८८९ आषाढ वदि ७ को उत्तरार्द्ध लुंकागच्छ के श्रीपूज्य विमलचन्द्र जी के पट्टधर श्रीपूज्य रामचन्द्र जी ने अपने यतिमंडल के साथ पंजाब में श्रावक श्री दासमल द्वारा निकाले हुए छरी पालित यात्रासंघ के साथ पारकर (सिंध) देश में श्री गौड़ी पार्श्वनाथ के प्रति प्राचीन जैन-महातीर्थ की यात्रा की थी। उस समय उन्हों ने जो संस्कृत में गौड़ी पार्श्वनाथ की स्तुति की थी उस में यहाँ की यात्रा करने का उल्लेख किया है।



स्तुति श्री गौड़ी पार्श्वनाथ

(आदि) **गौड़ी प्रभो पार्श्व** ! दर्शन देहि मे। संघेन सार्द्ध समुपागतं मे।
अव्यक्त मूर्ते जनतारक ! दर्शन भवतयाय लोकेश दया सुधानिधे ॥१॥
पारकरे देशवरे सुवासनं योगैरचित्यं भववारिपातक।
वामांगज देव—नरेन्द्र सेवितं। ध्यायामि ऽहं कर्मवनौघदायकं ॥२॥

(अन्त) **लुंकोत्तरार्द्धस्य गणस्य स्वामिना श्री रामचन्द्रेण** सहीवभावता।
श्री दासमल्लेन च संघधारया। यात्रा विहारी करणाय आगता ॥८॥
अंकाष्टाष्ट वर्षयुतेन भूमयेद्वाषाढ मासे असित सप्तमी तिथौ।[1]
भाग्येन यात्रा तव देव सम्मतां कृत्वा कृतं जन्मकृतार्थमूत्तमं ॥९॥
अहं भावेन ते पार्श्व नमामि चरणद्वयं संसारवासतो भीतं।
मा रक्ष-रक्ष कृपानिधे ! त्वं। गौड़ी प्रभो पार्श्व। दर्शनं देहि मे ॥१०॥

(२) वि० सं० १८३३ मिति फाल्गुण वदि १२ को पंजाब से तपागच्छीय यति श्री फत्ते विजय जी पारकर देश में श्री गौड़ी पार्श्वनाथ जी की यात्रा करने आये थे। उस समय उन्हो ने हिन्दी भाषा में श्री गौडी पार्श्वनाथ की स्तुति की थी। जिस में उन्होंने यात्रा करने का उल्लेख किया है। यथा—

पारकर देशे श्री गौड़ी पार्श्वनाथ का स्तवन

(आदि) भाग्यवश आसफली आज आगया है मुझ पूरब पुण्य के।
पारकर मंडन भेटतां। अवतार जेह थयो मुझ धन्य के ॥१॥

(अंत) संवत् अठारे तेत्रीस में। फागुन वद है द्वादशी शनिवार के।[2]
फतेविजय कहे रंगस्युं। गौड़ी भेट्यौ है हुओ जय-जयकार के ॥७॥
(यति रामचन्द्र लिपिकृतं वि० सं० १८६४)

1. वि० सं० १८८९ मिति आषाढ़ वदि ७
2. वि० सं० १८३३ मिति फाल्गुण वदि १२ शनिवार

इस समय के जैन श्वेतांबर मंदिरों की गिनती

१. पिंडदादनखां, २. रामनगर, ३. पपनाखा, ४. किलादीदारसिंह, ५. कुंजरांवाला, (गुजरांवाला), ६. लाहौर, ७. अमृतसर, ८. जंडियालागुरु, ९. पट्टी, १०. होशियारपुर, ११. लुधियाना, १२. फरीदकोट, (मूलनायक बाइसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि), १३. कोटला (मालेरकोटला) १४. अंबाला शहर, १५. अंबाला छावनी, १६. जगाधरी, १७. सहारनपुर में दीनदयाल हरसुखराय का मंदिर, १९. साढौरा, २० करनाल, २१. पानीपत, २२. दिल्ली नौघरा (किनारी बाजार) २३. चेतपुरी, २४. सोनीपत, २५. दिल्ली, २६. दिल्ली पंचायती।

अमृतसर में होने वाली तेवड़ में—श्रीपूज्य पदवी देने की विधि।[1]

१. पहली एक चादर यतियों की तरफ से, २. बाद में एक चादर पंचायती, ३ पश्चात् श्रावकों की तरफ से एक चादर ४. एवं अन्त में एक चादर तेवड़वालों की तरफ से [श्रीपूज्य जी को] ओढ़ाई गयी। फिर श्रीपूज्य जी को श्रीसंघ और बाजे-गाजे के साथ पगमंडल (रेजे के दो कपड़ों) पर चलाते हुए और रास्ते में न्योछावर (रुपये-पैसों आदि की सोट) करते हुए तेवड़ वाले अपने घर ले गये। श्रीपूज्य जी पोषाल से तेवड़वाले के घर तक जाते हुए रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक श्रावक के घर के आगे जब पहुचते थे तब उस घर के परिवार वालों ने श्रीपूज्य जी के सामने आकर चावलों की गोहली की और उस पर नारियल और मुद्रा (चाँदी का सिक्का) चढ़ा कर उन की पूजा की। तेवड़वाले के घर पहुच जाने पर श्रीपूज्य जी को लकड़ी के पाट पर विराजमान करके तेवडवालों ने उन्हे एक सूती चादर ओढ़ाई (यह वही चादर है जिसे हम ऊपर कह आये है)। फिर एक दोशाला ओढाया। पश्चात् श्रीपूज्य जी को पांच थान कपड़े के भेंट किये। एक कछपट्टी (चोलपट्टा), एक धोती रेशमी, एक साटन का रुमाल, एक शास्त्र बांधने का साटन का रुमाल, पात्रे रखने की झोली, मुंहपत्ति, आसन, निसीथ, बिछौना, सिरहाना, साटन का चंदुआ—पीठिया,—बन्दरवाल,—सुनहली रुपहली कलाबत्तू के कामवाले; दही की चाटी (मटका), गुड़ की रोड़ी (भेली), सूत की अट्टी, २१ सेर पंचधानी लड्डू; यह सब सामग्री श्रीपूज्यजी को भेंट की।

श्रीपूज्य जी के साथ में आनेवाले प्रत्येक यति को दो-दो कपड़े के थान दिये। श्रीपूज्य जी के साथ आने वाले आदमियों को भी यथाशक्ति भेंट दी।

फिर श्रीपूज्य जी तथा सब यतियों को बाजे गाजे और श्रीसघ के साथ तेवड़ वाले उनके स्थान (पोषाल) पर वापिस छोड़ने गये। वहाँ आकर तेवड़वालों ने प्रभावना की और श्रीपूज्य जी आदि को अपने घर पर ही (सब यतियों को) पांच दिन तक भोजन कराया। उन्हें गोचरी नहीं लाने दी।

[उस सस्ते समय में] तेवड़वालों ने श्रीपूज्य जी को एक सौ रुपये भेंट किये। यतियों को

1. श्रीपूज्य विमलचंद्र के देहांत के बाद यति रामचन्द्रजी को श्रीपूज्य की पदवी दी गई। इससे ज्ञात होता है कि श्रीपूज्य विमलचन्द्र का देहावसान वि० सं० १८७९ में हो गया होगा। (इस तेवड़ का विज्ञप्ति पत्र भी श्रीवल्लभस्मारक प्राच्य जैनशास्त्र भंडार दिल्ली में सुरक्षित है।)

पचास रुपये भेंट में दिये। उनके साथ में आये हुए सवारी, सामान, बैल, टट्टू, घोड़े, रथ, बहली आदि का चारा, भाड़ा, तथा सारा खर्चा भोजन आदि भी तेवड़ करानेवाले दुग्गड़ परिवार ने ही दिया।

लाहोरी उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यति

५. श्रीपूज्य विमलचन्द्र तथा श्रीपूज्य रामचन्द्र की पट्टावली

(लौंकागच्छ का प्रारंभ वि० सं० १५३१)

१ भूना ऋषि—सं० १५३१	८. सदारंग ऋषि	१५. वर्द्धमान ऋषि
२. भीदा ऋषि	९. सिंहराज ऋषि (श्री पूज्य)	१६. महासिंघ ऋषि(श्रीपूज्य)[2]
३ नूनाऋषि	१०. जठमल ऋषि	१७. जयगोपाल ऋषि[3] (श्रीपूज्य)
४. भीमाऋषि	११. मनोहर ऋषि	१८. विमलचन्द्र ऋषि[4] (श्रीपूज्य)
५ जगमालऋषि	१२. सुन्दरदास ऋषि	१९. रामचन्द्रऋषि[5] (श्रीपूज्य)
६. सरवा (सरवर) ऋषि	१३. सदानन्द ऋषि	
७. रायमल्ल ऋषि[1]	१४ जसवन्त ऋषि	

६. सामाना में यतियों के उपाश्रय आदि

बृहत्तपागच्छीय यति (पूज) श्री रूपदेवजी[6] विक्रम की १९वी शताब्दी में विद्यमान थे। आप का अपना उपाश्रय और जैनमंदिर भी था। आप ने अनेक ग्रंथो की पाडुलिपियां भी की हैं। श्री वल्लभ स्मारक जैन प्राच्य शास्त्रभंडार दिल्ली में इनके द्वारा किये गए प्रतिलिपि वाले कई शास्त्र सुरक्षित है। ये प्रतिया सामाना में वि० स० १८८७ से लेकर वि० सं० १९०६ की प्रतिलिपि की हुई हैं। शास्त्रों की पुष्पिकाओं में वे अपना परिचय इस प्रकार देते है—

(१) वृहत्तपागच्छे श्रीपूज्यमयाचन्द्रजी, शिष्य पूज्य धर्मदेवजी, शिष्य पूज्य रूपदेव लिपिकृतं सामाना मध्ये कर्मसिंह पुत्र नरसिंह राज्ये। इनसे पहले इसी गच्छ के वि०सं १७४३ में यति तेजसागर जी इस गद्दी पर विद्यमान थे।

1. रायमल्ल ऋषि तथा भल्लो ऋषि, ये दोनों गुरुभाई यति सरवर के शिष्य थे। गुजरात से पंजाब में आनेवाले ये लौंकागच्छ के सर्वप्रथम यति थे।
2. इन को पट्टी में श्रीपूज्य पदवी दी गई।
3. इनको होशियारपुर में श्रीपूज्य पदवी दी गई।
4. इन को वि० सं० १८७१ में पट्टी में श्रीपूज्य पदवी दी गई।
5. इन को वि० सं० १८८० में अमृतसर में श्रीपूज्य पदवी दी गई।
6. यति श्री रूपदेवजी सत्यवीर-सद्धर्मसंरक्षक मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी के समकालीन थे।

(२) उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यतियों और आर्याओं ने भी यहां अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियां की हैं। वि० सं० १८७१ में इसी गच्छ के श्रीपूज्य विमलचन्द्र ऋषि ने अपने गच्छ के यति देविया ऋषि को यहां की लौंकागच्छ की गद्दी सौंपी थी। वि० सं० १८८० में इसी गच्छ के श्रीपूज्य रामचन्द्र ऋषि ने यहां की लौंकागच्छ की गद्दी आरजका सुखमनी को सौंपी थी। अतः यहां पर उत्तरार्ध लौंकागच्छ का भी उपाश्रय और गद्दी थी।

(३) तपागच्छीय श्रीपूज्य विजयप्रभ सूरि ने वि० सं० १७२३ को देशपट्टक नगर से अपने यति तेजसागर को सामाना और लाहौर की गद्दियों पर भेजा था।

(४) बड़गच्छ के यतियों का उपाश्रय और गद्दी भी थी। विक्रम की १६वीं और १७वीं शताब्दी में इस गच्छ के श्रीपूज्य भावदेव सूरि ने यहां पर मुसलमान बादशाह द्वारा मस्जिद के पास श्वेतांबर जैनमंदिर का निर्माण[1] करवाया था और उसमें चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ जी की प्रतिमा मूलनायक के रूप में प्रतिष्ठित की थी। तत्पश्चात् इनके पट्टधर शिष्य श्रीपूज्य शीलदेव सूरि ने सम्राट अकबर की अनुमति से इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था और कई जिनप्रतिमाओं को प्रतिष्ठा करके इस मंदिर में विराजमान किया था।[2] इन्हीं के गुरु भाई कवि माल देव ने सामाना में अनेक हिन्दी व राजस्थानी काव्यों की रचनाएं की थी।

७. फरीदकोट में यतियों की गद्दी तथा श्वेतांबर जैनमंदिर

यहां पर खरतरगच्छ के यतियों का उपाश्रय तथा गद्दी थी। इन्ही के द्वारा स्थापित इन के उपाश्रय में एक श्वेतांबर जैनमंदिर भी था। इसमे बाइसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि मूलनायक थे। इस समय यह उपाश्रय यहां के स्थानकवासी समाज के अधिकार में है इन लोगों ने इस मदिर में विराजमान मूर्तियों को उत्थापन करके न जाने उनका क्या किया है। और इस मंदिर तथा उपाश्रय को स्थानक के रूप में बदल लिया है। शास्त्र भंडार भी था वह भी अब वहां नहीं है।

विक्रम की १६वीं शताब्दी में यहां खरतरगच्छ के यति विद्यमान थे। इन की गद्दी भी विद्यमान थी। इस समय इन यतियो ने अनेक ग्रंथो की प्रतिलिपियां भी की हैं उन्हों ने अपनी ग्रंथ पुष्पिकाओं में अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

(१) खरतरगच्छे श्री कीर्तिरत्न सूरि शाखायां महामहोपाध्याय श्री सुखलाभ गणि संतानीय श्री ज्ञानप्रमोद गणि, पं० दानभक्त गणि, शिष्य खुशालहेम शि० मुनि पं० चैनसुख लिपि कृतं। फ़रीदकोट मध्ये।

(२) श्री कल्पसूत्र लिपिकार की प्रशस्ति—

खरतरगच्छे श्रीकीर्तिरत्न शाखायां महोपाध्याय श्री १०५ श्री सुखलाभजी गणि तत् शिष्य वाचनाचार्य श्री १०५ श्री विजैमूर्ति जी गणि, तत् शिष्य मुख्यवाचक श्री ज्ञानप्रमोद जी गणि, तत् शिष्य दानभक्तिमुनि तत् शिष्य पं० सुमतिलाभ मुनि, तत् शिष्य देवचन्दमुनि, तत् शिष्य चिरं भवानीदास पठनार्थं सुखं भूयात् श्री कल्याणमस्तु डेलुआ गाँव मध्ये चतुर्मासी कृता। तिहां-लिपि चक्रे : श्रीरस्तु—१

(३) इस गद्दी का संबन्ध भटनेर (हनुमानगढ़) की खरतरगच्छीय गद्दी के साथ था। देवचन्द यति, गुलाबचन्द यति, खुशालहेम यति आदि द्वारा लिखी हुई अनेक पांडुलिपियां ऐसी प्राप्त हैं जो इन्हों ने फ़रीदकोट में लिखी थीं।

1. देखें इसी ग्रंथ में चमत्कारी भावदेव सूरि के परिचय तथा सामाना नगर के विवरण में।
2. देखें इसी ग्रंथ में सामाना नगर के विवरण में।

८. रूपनगर (रोपड़) में यति गद्दी

यहां पर बृहत्तपागच्छीय यतियों की गद्दी थी। विक्रम संवत् १७४३ में यहां यति प्रेमविजय जी विद्यमान थे।

९. मुलतान में यतियों की गद्दियां

(१) मुलतान में खरतरगच्छ के यतियों की गद्दी थी। इस गद्दी का अन्तिम यति सूर्यमल हुआ है जिस का देहांत कलकत्ता में विक्रम संवत् २००० के लगभग हुआ।

(२) यहाँ पर बृहत्तपागच्छ के यतियों की भी गद्दी थी। वि० सं० १७४३ में यति श्री पं० मुक्तिसुन्दर इस गद्दी पर विद्यमान थे।

१०. भटनेर (हनुमानगढ़) में यतियों की गद्दियाँ

यहाँ पर अनेक गच्छों के यतियों के उपाश्रय, गद्दियाँ और शास्त्रभंडार थे।

(१) **बृहत्तपागच्छ**--वि० सं० १७२३ में श्री विजयप्रभ सूरि ने यति मुक्तिसुन्दर को मुलतान, सिरसा, भटनेर की बृहत्तपागच्छ की गद्दिया सुपुर्द की थीं।

(२) **बड़गच्छ** के यतियो की यहाँ श्रीपूज्यों की गद्दी थी और उपाश्रय भी था। इस गद्दी के श्रीपूज्य भावदेव सूरि ने वि० की १६वीं शताब्दी में अनेक चमत्कार दिखलाकर यहाँ के अधिकारी खेतसी के अत्याचारो को मिटा कर श्रीसंघ की रक्षा[1] की थी। तत्पश्चात् इन के पट्टधर शिष्य श्री शीलदेव[2] सूरि भी बड़े चमत्कारी हुए है और शासन प्रभावना के बड़े कार्य किये हैं।

इन्हों ने अनेक ग्रंथों की रचनाएं भी की है। सामाना, सिरसा में भी इन की गद्दियाँ थीं। शीलदेव के गुरुभाई यति कवि माल ने पजौर व सिरसा मे राजस्थानी तथा हिन्दी भाषा में अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना की है। भावदेव सूरि के २२ शिष्य थे अतः इनकी अन्य नगरों में भी गद्दियाँ होंगी।

१. भद्रेश्वर सूरि, २, महेन्द्रसूरि, ३. शिष्य मेरुप्रभ सूरि, ४. शिष्य भावदेव सूरि, ५. शिष्य शीलदेव सूरि व गुरुभाई मुनि मालदेव आदि इन को गुरुवावली है।

(३) **खरतरगच्छ** के यतियों की भी यहाँ गद्दी थी। फ़रीदकोट, मुलतान, सिरसा, हिसार, हाँसी आदि की खरतरगच्छ के यतियों की गद्दियाँ इसी गद्दी के आधीन थी। मुलतान में इस गद्दी के यति धर्ममंदिर गणि ने यहां एक ग्रंथ की रचना भी की थी और उस के शिष्य रूपचन्द्र ने तभी इसे लिपिबद्ध किया था। उस की पुष्पिका इस प्रकार है—

पुष्पिका—खरतरगच्छे राजीया भट्टारक श्री जिनचन्द्रो रे। भुवनमेरु तत् सिष भला, पुण्यरत्न वाचक आनन्दो रे। तास सीस पाठकवरु **श्री दयाकुशल** जस लहीजे रे ॥२३॥ सत्तरह सइ इगचालीस बरसे रच्यो धर्मध्यान अंग इत्यादि।

संवत् १७४१ वैसाख सुदि ५ श्री मुलतान नगरे श्री दयाकुशलोपाध्याय पं० धर्ममंदिर गणिवर शिष्य रूपसुन्देरण लिख्यते भणशाली मीट्ठूलाल तत्पुत्र रत्न भ० सूरिजमल्ल पठनार्थं लिपि कृतं।

---

1. देखें इसी ग्रंथ में चमत्कारी भावदेव सूरि परिचय।
2. देखें इसी ग्रंथ में सामाना नगर का परिचय।

अध्याय ५

जैन मंदिर, संस्थायें और साहित्य

१. पंजाब और सिंध में जैनमंदिर और संस्थायें (पाकिस्तान बनने से पहले)

१. जिला गुजरांवाला (१ से ४)

(१) **गुजरांवाला नगर**—१. श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का श्वेताम्बर जैनमंदिर (बाजार भाबड़यां में)

२. पुरुषों केलिए उपाश्रय (बाज़ार भावड़यां में)

३. महिलाओं का उपाश्रय (गली भावड़यां में)।

४. जंजघर (धर्मशाला) (बाज़ार भावड़यां में)।

५. श्री आत्मानन्द जैन महाजनी विद्यालय (बाज़ार भावड़यां में।

६. श्री आत्मानन्द जैन कन्या धार्मिक पाठशाला (गली भावड़यां में)

७. श्री बसंताऋषि, और उनके शिष्य परमानन्दऋषि—इन दोनों पूज्जों की समाधियां देवीवाले तालाब के निकटवर्ती।

८. श्री आत्मान्द जैन गुरुकुल पंजाब (जी०टी० रोड पर नगर की बस्ती से दक्षिण की ओर चार मील की दूरी पर)।

९. इसी गुरुकुल में घर चैत्यालय।

१०. श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी का समाधी-मंदिर नगर से १ मील दक्षिण दिशा की ओर था। आपका स्वर्गवास इसी नगर में हुआ था।

११. इसी समाधिमदिर की बिल्डिग मे एक कमरे में घर चैत्यालय।

१२. श्राविकाओं का उपाश्रय (गली भावड़यां में)।

१३. एक जैनमंदिर निर्माणाधीन (गली भावड़यां में)।

१४. स्थानक (स्थानकवासियो का)

(२) **पपनाखा** - (गुजरांवाला से पश्चिम दिशा में छह मील की दूरी पर)

१. श्री सुविधिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर।

२. जैनउपाश्रय।

३. इसी मंदिर और उपाश्रय की बाऊंड्री में ओसवाल बरड़ गोत्रवालों के बुजुर्ग महाचमत्कारी बाबा गज्जा का चौबारा।

४. पपनाखा से लगभग २ मील पश्चिम दिशा में महाचमत्कारी बाबा गज्जा की टोमड़ी (समाधि स्थान)।

(३) किला दीवार सिंह—(गुजरांवाला से पश्चिम दिशा में ८ मील की दूरी पर)

१. श्वेतांबर जैनमन्दिर

(४) रामनगर—गुजरांवाला से पश्चिम दिशा में ३० मील की दूरी पर

१. श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ का जैन श्वेतांबर मंदिर; (गली भावड़यां में)।

२. जैन उपाश्रय, (गली भावड़यां में)।

(५) भेहरा जिला सरगोधा—

१. अति प्राचीन श्वेतांबर जैनमंदिर मूलनायक श्री चन्द्रप्रभु; (गली भावड़यान में)।

(६) पिंडदादनखां जिला जेहलम—

१. श्वेताम्बर जैनमन्दिर

२. एक जीर्ण श्वेतांबर जैनमंदिर (इसमें प्रतिमा कोई नहीं थी।)

(७) खानकाहडोगरां जिला शेखूपुरा

१. श्वेतांबर जैनमंदिर

२. उपाश्रय

२—जिला स्यालकोट—(८ से १२)

(८) स्यालकोट नगर

(१) शाश्वत-जिन नामक श्वेतांबर जैनमंदिर व तीन गुरु-प्रतिमायें १-मुक्तिविजय गणि, (मूलचन्द) २-मुनि बुद्धिविजय (बूटेराय) ३-विजयानन्दसूरि (आत्माराम)।

(२) दूगड़ों के पूर्वज बाबा भोला की यहां एक चौबारे में टोमड़ी थी।

(३, ४) स्थानकवासियों का स्थानक तथा पूज अमीचन्द का उपाश्रय था।

(९) स्यालकोट छावनी—

१. दिगम्बर जैनमंदिर

(१०) किला सोभासिंह—

१ श्वेतांबर जैनमंदिर

(११) नारोवाल—

१. जैनश्वेतांबर मंदिर

२. श्वेतांबर जैन उपाश्रय

३. श्वेतांबर जैन धर्मशाला

(१२) सनखतरा—

१. जैन श्वेतांबर मंदिर

जैन उपाश्रय

(१३) रावलपिंडी छावनी—

१. दिगम्बर जैनमंदिर

३—जिला लाहौर (१४-१५)

(१४) लाहौर नगर

१. श्वेतांबर जैनमंदिर (थड़ियां भावड़यां में)

१. श्वेतांबर जैन उपाश्रय (थड़ियाँ भावड़ियाँ में)
१. दिगम्बर जैनमंदिर (थड़ियाँ भावड़ियाँ में)
१. दिगम्बर जैनमंदिर (अनारकली बाजार में)
१. अमर जैनहोस्टल (स्थानकवासी सम्प्रदाय का)

(१५) कसूर—
१. श्वेतांबर जैनमंदिर।
१. उपाश्रय (पुरुषों का)
१. उपाश्रय (स्त्रियों का)।

(१६) मुलतान नगर
१, जैन श्वेतांबर मंदिर।
१. जैन श्वेतांबर उपाश्रय (पुरुषों का)।
१. खरतरगच्छ जैन दादावाड़ी।
१. जैन श्वेतांबर उपाश्रय (जनाना)।
१. दिगम्बर जैनमंदिर।
१. दिगम्बर जैनधर्मशाला।
१. दिगम्बर जैनधार्मिक पाठशाला।

४—सिंध प्रदेश (१७ से २३)

(१७) हाला—(मीरपुर खास से कच्ची सड़क के रास्ते पर—नया हाला और पुराना हाला)।
१. एक श्वेतांबर जैनमंदिर (नये हाला में)
१ एक दादावाड़ी (नये हाला नगर से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर)

(१८) गौड़ी पार्श्वनाथ गांव (सिंध के सीमावर्ती-पारकर देश में)
यह गौड़ी-पार्श्वनाथ भगवान के भारत में सर्वप्रथम मंदिर का मूलस्थान है।
१. गाँव में एक जैन श्वेतांबर मंदिर गौड़ी पार्श्वनाथ का (जिसमें प्रतिमा नहीं है)
यहाँ जैनों का कोई घर नहीं रहा था। गाँव विहड़जंगल में था—भीलों की बस्ती रह गई थी।

(१९) नगर बट्ठा—किसी समय जैनों की यहाँ बहुत बस्ती थी।
१. भावड़ावास का मुहल्ला (पंजाब और सिंध में श्वेतांबर जैनों को भावड़ा कहते थे) पर यहाँ भावड़ों के परिवार वर्त्तमानकालमें नहीं थे।

(२०) हैदराबाद—
१. एक श्वेतांबर जैनमंदिर

(२१) उमरकोट—
१२ घर श्वेतांबर जैनो के

(२२) डेरागाजीखाँ
१. श्वेतांबर जैनमंदिर
१. श्वेताम्बर जैन उपाश्रय

(२३) **करांची**—यह नगर सिंध की राजधानी, भारत की बन्दरगाह (Seaport) और व्यापार का अच्छा केन्द्र था। ईसा की १८ वी शताब्दी में यह नगर बसा। ई० स० १८४० में यहाँ जैनलोग आकर आबाद हुए। मारवाड़ी, कच्छी, गुजराती, पंजाबी, काठियावाड़ी लगभग ४००० जैन यहां आबाद थे। इनमें श्वेताम्बर जैन और स्थानकवासी अधिक थे। तेरापंथी और दिगम्बर बहुत कम थे।

१-श्वेताम्बर जैनमंदिर-मूलनायक श्री पार्श्वनाथ (रणछोड़ लाईन में)

१-जैन श्वेतांबर उपाश्रय

१-व्याख्यान हाल

१-स्थानक

१-कन्या जैन धार्मिक पाठशाला।

१-लड़कों की जैनधार्मिक पाठशाला

१-पुस्तकालय-वाचनालय

२-दो पांजरापोल (अपंग पशु-पक्षियों के संरक्षण तथा चिकित्सा के लिये)

१-व्यायामशाला।

१-उद्योग-हुन्नर शाला।

१-दिगम्बर मंदिर

५-**सरहद्दी सूबा** (भारत का पश्चिमोत्तर प्रांत) (२४ से २५)

(२४)—**काला बाग**

१-जैन श्वेतांबर मंदिर (मुहल्ला भावड़यां में)

१-उपाश्रय (मुहल्ला भावड़यां में)

(२५)—**बन्नू**[1]

१-श्वेतांबर जैनमंदिर (मुहल्ला भावड़यां में)

१-श्वेतांबर जैनउपाश्रय (मुहल्ला भावड़यां में)

२-**खरतरगच्छीय श्वेतांबर जैनदादा वाड़ियां**

×(१) लाहोर, ×(२) हाजीखां डेरा, ×(३) मुलतान, ×(४) देरावरपुर, ×(५) पहाड़पुर, ×(६) डेरागाज़ीखां,(७)नारनौल (पहाड़ी की टेकरी पर) (८) सामाना। (९ से १०) दिल्ली में दो दादा वाड़िया

(नोट) नं० १ से ६ दादावाडियां जिनके पहले × निशान दिया गया है, पाकिस्तान में हैं, इस समय पाकिस्तान में सब मंदिर तथा संस्थाओं की क्या अवस्था है कुछ पता नही हैं।

नं० ७ और ८ सुरक्षित हैं और पंजाब (भारत) में हैं। इन दोनों नगरों के स्थानीय संघ यद्यपि तपागच्छीय और ढूंढिये हैं तथापि वे सब दादा जी की भक्ति श्रद्धापूर्वक करते हैं। पंजाब और सिंध में जहां जहां लौंकागच्छीय यतियों के मंदिर या उपाश्रय है उन में भी उन यतियों ने श्री जिनकुशल सूरि की चरणपादुकायें स्थापित की है। दिल्ली की दोनो दादावाड़ियां बहुत अच्छी अवस्था में है।

1. नं० १ गुजरांवाला नगर से लेकर नं० २५ बन्नू तक का सब क्षेत्र ई०सं० १९४७ में पाकिस्तान बन चुका है। इसलिए सब जैन परिवार इस क्षेत्र को छोड़कर भारत में बस गये हैं।

३-यतियों (पूज्यों) द्वारा निर्मित जैनमन्दिर

×१-स्यालकोट
×२-पिंडदादनखाँ
×३-रामनगर
×४-पपनाखा
×५-गुजरांवाला
×६-लाहौर
×७-अमृतसर
×८-अंबाला शहर
×९-अंबाला छावनी
×१०-जगाधरी
×११-सहारनपुर
×१२-करनाल
×१३-पानीपत
×१४-फ़रीदकोट
×१५-हिसार
×१६-सिरसा
×१७-सोनीपत
×१८-जगरांवा
×१९-फगवाड़ा

१-जंडियाला गुरु (ज़िला अमृतसर)
२-पट्टी (ज़िला अमृतसर)
३-होशियारपुर
४-लुधियाना
५-मालेरकोटला
६-साढौरा (ज़िला अंबाला)
७-रानियाँ (ज़िला हिसार)
८-रोड़ी (ज़िला हिसार)
९-दिल्ली
१०-दिल्ली
११-सामाना

(नोट) × इस निशान वाले मंदिर कुछ तो पाकिस्तान में रह गए हैं और कुछ समाप्त हो गये है। इनमें से नं० ७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,१९ के सब मंदिर कई वर्षों से समाप्त हो चुके हैं। अथवा बिना पूजा आदि के हैं।

४-भारत के वर्त्तमान पंजाब में जैनमन्दिर उपाश्रय आदि

१-अमृतसर

(१) बड़ा श्वेतांबर जैनमंदिर, मूलनायक श्री शीतलनाथ जी। यह मंदिर पहले शिखर-बद्ध नहीं था। शिखर बनने के बाद इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १९४८ मिति वैसाख सुदि ६ को आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी ने कराई थी। इस मंदिर का निर्माण वि० स० १९८३ से १९८८ के बीच में हुआ था। मंदिर नगर के मध्य में जमादार हवेली के बाज़ार में है। इस की सार संभाल यहां का श्वेतांबर श्रीसंघ करता है और यह श्वेतांबर पंचायती मंदिर है।

(२) एक श्वेतांबर जैनमंदिर सुलतानविंड गेट के बाहर है। मूलनायक श्री पार्श्व नाथ प्रभु है। यह मंदिर वि० सं २००५ के लगभग बना। इसकी सारसंभाल ट्रस्ट करता है।

(३) श्री आत्मानन्द जैनभवन-बड़े मंदिर के सामने है। इसमें पुस्तकालय, वाचनालय, है। उपाश्रय तथा धर्मशाला के रूप में भी काम में लिया जाता है।

(४) श्री आत्मानन्द जैनभवन में श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के हस्तलिखित शास्त्र तथा प्रकाशित ग्रंथों का बहुत महत्त्वपूर्ण संग्रह था जो आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने श्री आत्मानन्द जैन सेंट्रल लायब्रेरी के नाम से विजयानन्द सूरि के स्वर्गवास के बाद स्थापित किया था। पाकिस्तान बनने पर यहां के श्रीसंघ ने यह हस्तलिखित शास्त्रभंडार पाटण

(गुजरात) में आगमप्रभाकर श्री पुण्यविजय जी के पास भेज दिया था जो उन्होंने वहाँ के आचार्य हेमचन्द्र नामक शास्त्र भंडार में व्यवस्थित करके सुरक्षित कर दिया हैं।

(५) इसमें प्रकाशित पुस्तकों में से उपयोगी पुस्तकें श्री वल्लभ स्मारक जैन प्राच्य शास्त्र भंडार दिल्ली में आ गई हैं और बाकी की प्रकाशित पुस्तकें अमृतसर के इसी भवन में विद्यमान हैं।

(६) यहाँ पर इसी बाजार में स्थानकवासियों का एक स्थानक है।

२. अम्बाला शहर

(१) हलवाई बाजार में जैनश्वेताबर मंदिर, मूलनायक श्री सुपार्श्वनाथ जी हैं। इस मंदिर का निर्माण वि० सं० १९४६ में हुआ। वि० सं० १९५२ मार्गशीर्ष सुदि १५ को आचार्य श्री विजयानन्द सूरि ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। व्यवस्था श्रीसंघ करता है वि० सं० २०३५ में इसका जीर्णोद्धार यहाँ के श्रीसंघ ने कराकर इसे विस्तृत (बड़ा) बना दिया है। जो बड़ा ही भव्य-सुन्दर बन गया है।

(२) दूसरा श्वेतांबर जैनमंदिर अम्बाला के जैननगर में है। यह नगर थोड़े वर्ष पहले अम्बाला शहर तथा अम्बाला छावनी के बीच के मार्ग पर आबाद हुआ है साथ ही यहां पर नये मंदिर का निर्माण हुआ है इसकी प्रतिष्ठा भी आज से दो-तीन वर्ष पहले हुई है। इसकी व्यवस्था जैननगर का श्वेतांबर संघ करता है।

(३) आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के स्मारक रूप में गुरुमंदिर है इसमें आचार्य श्री की भव्य प्रतिमा स्थापित की गई है। श्री आत्मानन्द जैन हाईस्कूल की बाऊंड्री के अन्दर इस स्कूल की बगल में ही कुछ वर्ष पहले इसका निर्माण यहाँ के श्रीसंघ ने कराया है।

(४-५) दो उपाश्रय हैं। एक उपाश्रय मर्दाना है जो हलवाई बाजार मे श्वेताम्बर मंदिर के साथ सटा हुआ है। दूसरा जनाना उपाश्रय जो पिपली बाजार मे है।

(६) मर्दाना उपाश्रय के नीचे के हाल में शास्त्रभंडार, पुस्तकालय और वाचनालय है।

(७-८) स्थानकवासियों के दो स्थानक है।

३. उड़मड़—मयानी अफ़ग़ानां

१. श्री शांतिनाथ का जैनश्वेतांबर मंदिर है। इसकी प्रतिष्ठा वि० स० १९६३ में मुनि श्री उद्योतविजय जी, मुनि कपूरविजय जी, मुनि सुमतिविजय जी ने की थी।

४. गढ़ दीवाला ज़िला होशियारपुर

१. जैन श्वेतांबर मंदिर है जिसमें मूलनायक श्री ऋषभदेव हैं। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने वि० सं० १९७७ में की थी।

५. कांगड़ा किला

(१) किले के अन्दर एक श्वेतांबर जैनमंदिर जिसमे श्री ऋषभदेव की प्राचीन पाषाण प्रतिमा बिराजमान है। मंदिर पुरातत्त्व विभाग के अधिकार मे है। जैनो को इसकी पूजा करने का अधिकार है। आरती करने तथा ध्वजा आदि चढ़ाने का भी अधिकार है।

(२) किले के नीचे तलहटी के समीप नये जैन श्वेतांबर मंदिर का निर्माण होकर तपागच्छीय श्वेतांबर जैन महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी के उपदेश से इस तीर्थ का उद्धार हो

रहा है। वि० सं० २०३५ का चतुर्मास महत्तरा जी ने अपनी तीन शिष्याओं के साथ कांगड़ा में किया।

(३) इसी वर्ष यहाँ पर श्वेतांबर जैनधर्मशाला का भी महत्तरा जी के उपदेश से निर्माण हुआ है।[1]

६ (गुरु अकालदास का) जंडियाला गुरु (जिला अमृतसर)

(१) पंचायती बड़ा श्वेतांबर जैनमंदिर बाजार भावड़यां में है। इसमें मूलनायक श्री शांतिनाथ प्रभु है। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से इस का निर्माण हुआ था। वि०सं० १९५६ में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी।

(२) उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यति (पूज) का जैनश्वेतांबर मंदिर है मूलनायक श्री पार्श्वनाथ प्रभु हैं। पूज जी ने इसका निर्माण कराया था। इसलिये यह पूज जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है।

(३) एक जैन श्वेतांबर उपाश्रय पुरुषों के लिये है।

(४) एक जनाना श्वेतांबर जैन उपाश्रय है।

(५) एक बागीचे में श्री आत्मानन्द जैन गुरुमंदिर है। उसमें श्री विजयानन्द सूरि के चरणबिंब स्थापित हैं।

(६) इसी बागीचे में एक श्वेतांबर जैनमन्दिर है मूलनायक श्री अजितनाथ प्रभु हैं।

(७-८) स्थानकवासियों के दो स्थानक हैं।

७. जम्मू (काश्मीर)

(१) जैन श्वेतांबर मंदिर है। मूलनायक श्री महावीर स्वामी हैं। इसकी स्थापना लगभग विक्रम संवत् १९२५ में हुई थी। उस समय यहां के महाराजा ने मंदिर का शिखर नहीं बनने दिया था। इस मंदिर की स्थापना और निर्माण मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी के उपदेश से हुए थे। यह मंदिर जीर्ण हो चुका था अतः इसका आमूल-चूल भव्य निर्माण करवाकर जीर्णोद्धार कराया गया। शिल्पशास्त्र के अनुसार शिखरबद्ध मंदिर निर्मित हो जाने के बाद आज से तीन चार वर्ष पहले आचार्य श्री विजय समुद्रसूरि ने इसकी प्रतिष्ठा कराई है। यह मंदिर पटेल चौक में है।

(२) एक जैन श्वेतांबर उपाश्रय इस मंदिर जी के सामने है।

(३) स्थानकवासियों का एक स्थानक है।

(४) एक जैनधर्मशाला है।

८. जालंधर शहर

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर, मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान हैं। इस मंदिर का निर्माण होशियारपुर निवासी बीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय लाला पिशौरीमल के पुत्रों नत्थुमल और फत्तुमल ने विक्रम संवत् १९३६ में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से किया। विक्रम संवत् १९८२ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के शिष्य श्री विजयविद्या सूरि ने इस मंदिर की प्रतिष्ठा कराई।

---

1. कांगड़ा तीर्थ का विस्तार पूर्वक विवरण अध्याय २ में लिख आये हैं। वहां से पढ़कर इसका पूर्ण परिचय प्राप्त करें।

(२) श्वेतांबर जैन उपाश्रय इसी मंदिर के साथ संलग्न है।

(३) स्थानकवासियों के दो स्थानक हैं एक ज़नाना और एक मर्दाना।

९. ज़ीरा (ज़िला फ़िरोज़पुर)

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर मूलनायक श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ हैं और बहुत चमत्कारी हैं।

(२) एक दिगम्बर चैत्यालय है। जिसमें मूलनायक श्री शांतिनाथ हैं।

(३-४) दो श्वेतांबर जैन उपाश्रय एक ज़नाना और एक मर्दाना है।

(५) आत्मभवन है इसमे एक छत्री के अन्दर श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के चरणबिम्ब स्थापित है। यह गुरुमंदिर दस कनाल भूमि के बाग़ीचे मे है।

(६-७) स्थानकवासियों के दो स्थानक हैं। एक ज़नाना और एक मर्दाना।

(८) स्थानकवासियों के मर्दाना उपाश्रय में एक वाचनालय है।

(९) आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी का पालन-पोषण इसी नगर में बीसा ओसवाल नौलखा गोत्रीय लाला जोधामल जी के यहाँ हुआ था।

(१०) सिरसा लोकागच्छ के यति रामलाल जी की स्थानकवासी दीक्षा भी यही पर हुई थी। जिन्होंने आत्माराम जी के साथ स्थानकवासी संप्रदाय का त्यागकर अहमदाबाद में तपागच्छीय श्वेतांबर जैनसाधु की दीक्षा ग्रहण की थी। जो बाद में विजयकमल सूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

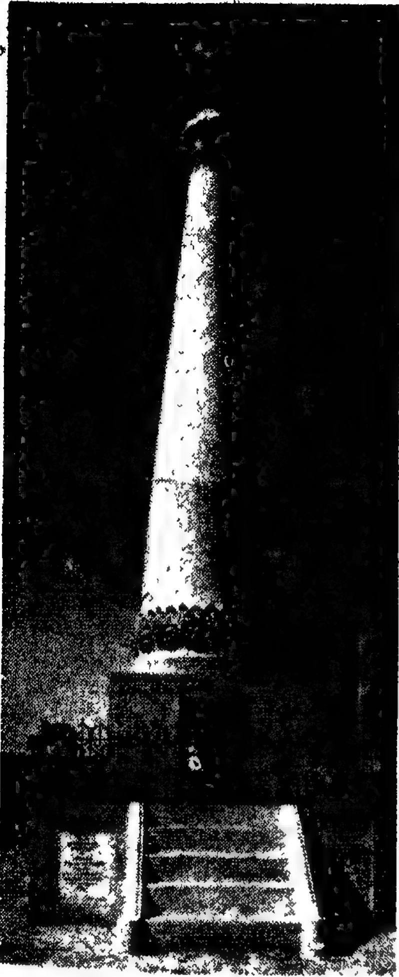
१०. लहरा गांव

(१) यह गांव ज़ीरा से लगभग ३ किलोमीटर की दूरी पर है। यह आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की जन्मभूमि है। आपकी स्मृति में आपके पट्टधर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से तथा इनकी आज्ञानुवर्ती साध्वी श्री शीलवती जी की विदूषी तथा चारित्र चूड़ामणि, जिनशासन प्रभाविका महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी की प्रेरणा से वि० सं० २०१५ को यहां आत्मकीर्ति स्तम्भ का निर्माण हुआ है। इसका शिलान्यास और उद्घाटन समारोह इन्हीं साध्वी जी की निश्रा में हुआ है। यहाँ प्रतिवर्ष विजयानन्द सूरि का जन्म महोत्सव चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। उस अवसर पर यहां की यात्रा के लिये दूर दूर से भक्त आते है। यहा पर जैनों का कोई घर नहीं है। यहां की सारी व्यवस्था श्वेतांबर जैनसंघ ज़ीरा लहरा गांव निवासियों के सहयोग से करता है।

इस गांव के लोगों को बड़ी श्रद्धा है। जो श्रद्धा और भक्ति से गुरुदेव का स्मरण करता है उसकी सब मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं। यह स्थान बहुत चमत्कारी है। इस इलाके के लोगों ने भी इस सम्बन्ध में अनेक बार चमत्कार देखे हैं। पाकिस्तान बनने से पहले गुजरांवाला में गुरुदेव के स्वर्गवासधाम (उनके समाधि मंदिर) पर स्वर्गवास के दिन जेठ सुदि ८ को प्रतिवर्ष बड़ा उत्सव मनाया जाता था। इस उत्सव में दूर-दूर से गुरुभक्त यहां यात्रा करने आते थे। देश विभाजन बाद अब लहरा गांव ने वह महत्व प्राप्त कर लिया है।

यद्यपि यहाँ जैनों की आबादी नहीं है तथापि ज़ीरा का जैन श्वेतांबर श्रीसंघ इस तीर्थ की पूरी व्यवस्था करता है। परन्तु इस आत्मकीर्ति स्तम्भ की धूप-दीप से पूजा सेवा सफ़ाई और

लहराग्राम में श्री विजयानन्द सूरि जी के जन्म स्थान पर निर्मित स्तूप तथा गुरु प्रतिमा







गणिश्री जनक विजय जी



जडियाला गुरु की उत्तरार्ध लोकागच्छीय गद्दी पर



यति श्री गजऋषि जी

यति श्री त्रिलोकाऋषि जी



यति मनसाचन्द्र जी



साध्वी श्री यशःप्रभा श्रीजी

ारसंभाल इस ग्राम के निवासी करते हैं। जिनकी इस पर अटूट श्रद्धा है। वे लोग इस स्थान को बाबा का स्थान कहकर पूजते हैं। गुरुदेव के जन्मदिन समारोह को मनाने तथा गुरुधाम को ख्याति में लाने के लिए प्रमुख सेवा का कार्यभार श्री मदनलाल प्रधान, श्री सत्यपाल जैन नौलखा और श्री शांतिदास नौलखा (वर्तमान लुधियाना) प्रचारमंत्री निभा रहे हैं।

११—जेजों जिला होशियारपुर

(१) एक जैनश्वेतांबर मंदिर है। इसका निर्माण लाला गुलाबराय, लाला गुज्जरमल, लाला नत्थुमल, लाला सुन्दरलाल ने वि० स० १६४८ में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से करवाया था। अंजनशलाका आचार्य श्री ने ही कराई थी। आपके पट्टधर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य आचार्य श्री विजयविद्या सूरि ने इसकी प्रतिष्ठा बड़ी धूम-धाम से कराई थी।

(२) स्थानकवासियों का एक स्थानक है।

१२—फिरोजपुर छावनी

(१) दिगम्बर जैनमंदिर है।

(२) दिगम्बर जैन हायर-सकेण्ड्री स्कूल है।

१३—नकोदर जिला जालंधर

यहाँ खंडेलवाल श्वेतांबर जैनों के ३०-३५ घर है। प्रायः सब व्यापारी हैं।

(१) जैन श्वेतांबर मंदिर है। वि० स० १६३७ में श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से इस ...र की स्थापना हुई और प्रतिष्ठा वि० सं० १६४१ में हुई। मूलनायक श्री धर्मनाथ प्रभु हैं।

(२) इसी मंदिर में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की भव्य प्रतिमा भी स्थापित है।

(६) श्वेतांबर जैन उपाश्रय है।

(४) यहाँ पर यतियों की गद्दी भी थी, उत्तरार्ध लोकागच्छीय यति मनसाऋषि, अंतिम ा श्री मधुसूदन ऋषि थे। इस गद्दी से संबंधित एक एकड़ उपजाऊ भूमि भी है जो श्वेतांबर संघ ा मल्कीयत है।

१४—नाभा

(१) जैन श्वेतांबर मंदिर है। वि० सं० २०१५ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से बना। प्रतिष्ठा आपके शिष्य के प्रशिष्य मुनि श्री प्रकाशविजय (आचार्य विजयप्रकाश चन्द्र सूरि) ने कराई।

(२) स्थानकवासियों का स्थानक है।

१५—पट्टी जिला अमृतसर

(१) पंचायती श्वेतांबर जैनमंदिर, मूलनायक श्री मनमोहन पार्श्वनाथ प्रभु हैं। वि० १६५१ मिति माघ सुदि १३ को आचार्य श्री विजयानन्द सूरि ने इसकी प्रतिष्ठा की।

(२) श्वेतांबर जैनमंदिर यतियों का है। मूलनायक श्री विमलनाथ जी हैं।

(३) यहाँ उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यतियों की गद्दी थी। अंतिम यति श्री कृपाऋषि जी ए हैं।

(४) एक बागीचे में यतियों (पूजों) की समाधियां हैं जहां चरणबिम्बों सहित वेदिकाएँ बनी हैं।

(५) जनाना और मर्दाना दो उपाश्रय हैं।

(६) स्थानकवासियों के दो स्थानक हैं।

१६—पटियाला

(१) छोटा सा श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री वासूपूज्य जी हैं। वि० सं० १६८६ में नाभभाई वकील ने निर्माण कराया। इसका जीर्णोद्धार तपागच्छीय आचार्य श्री विजयप्रकाश चन्द्र सूरि ने कराया।

(२) एक मंदिर यहाँ के राजाओं का बनवाया हुआ है। इस मंदिर में सभी हिन्दुओं और जैनों के इष्टदेवों की मूर्तियाँ हैं। जैनतीर्थंकर की प्रतिमा भी है।

(३) स्थानकवासियो का स्थानक भी है।

१७—फ़ाज़िलका

(१) एक पंचायती श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री चन्द्रप्रभु है। इसका निर्माण ओसवाल श्री भेरूंदान सावनसुखा की प्रेरणा से वि० सं० १६६० में जैनश्वेतांबर पंचायत ने कराया था। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० २००१ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने की।

(२) इस मंदिर में जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि तथा आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की प्रतिमायें भी स्थापित हैं।

(३) एक श्वेतांबर जैनमंदिर का निर्माण ओसवाल चाननराम सावनसुखा ने करवाकर इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १६६७ में कराई। मूलनायक श्री सुमतिनाथ प्रभु है।

(४) एक जैन श्वेतांबर उपाश्रय है।

१८—मालेरकोटला

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ जी है। यह पूजो का मंदिर कहलाता है। इस मंदिर का निर्माण उत्तरार्ध लोकागच्छीय यति श्री महताबऋषि जी ने वि० सं० १६०५ में करवाकर प्रतिष्ठा की थी। वि० सं० १६५० में इसका जीर्णोद्धार हुआ।

(२) इस मंदिर में आचार्य विजयानन्द सूरि तथा आचार्य विजयवल्लभ सूरि की प्रतिमायें भी विराजमान हैं। दादा श्री जिनकुशल सूरि के चरणबिम्ब भी स्थापित हैं।

(३) पंचायती श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ हैं। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से वि० सं० १६४३ में लाला वस्तीराम-बालकराम अग्रवाल श्वेतांबर जैन ने इसका निर्माण कराया था।

(४) यतियों (पूजों) की समाधियां भी हैं।

(५) श्वेतांबर जैनउपाश्रय है।

(६) स्थानकवासियों के दो स्थानक, एक जनाना और मरदाना है।

(७) यहां पर यति की गद्दी भी थी। अब यति कोई नहीं है।

मंदिरों आदि की सब व्यवस्था यहाँ का श्वेतांबर संघ करता है।

१९—रायकोट

(१) जैन श्वेतांबर मंदिर जिसमें मूलनायक श्री सुमतिनाथ भगवान हैं। इसका निर्माण

आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से हुआ। वि० सं० १९९७ में इसकी प्रतिष्ठा भी इन्हीं आचार्य श्री ने कराई।

(२) एक श्वेतांबर जैन उपाश्रय है।

२०—राहों जिला जालंधर

(१) प्राचीन श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान हैं। इसका निर्माण उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यतियों ने कराया था और प्रतिष्ठा भी उन्होने की थी।

(२) स्थानवासियों का स्थानक है।

२१—रोपड़ (रुपनगर)

(१) जैन श्वेतांबर मंदिर जिसमें मूलनायक श्री ऋषभदेव जी हैं। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयविद्या सुरिजी ने वि० सं० १९८५ माघ सुदि ५ को की थी।

(२) श्वेतांबर जैन उपाश्रय

(३) स्थानकवासियों का स्थानक

२२—लुधियाना

(१) पंचायती श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री चिन्तामणी पार्श्वनाथ प्रभु हैं। यह मंदिर दालबाजार (नेहरू बाज़ार) में है। इस मंदिर का निर्माण आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से हुआ। प्रतिष्ठा वि० सं० १९५२ मिति फाल्गुन सुदि ५ को तपागच्छीय मुनि चन्दन विजय जी ने की।

इस मदिर की भूमि लाला चोकूमल धोलूराम तथा लाला रामदित्तामलजी खत्री श्वेतांबर जैनसंघ को आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से भेंट की।

(२) यतियों (पूजों) का श्वेतांबर जैनमंदिर चोड़े बाजार में है। यह मंदिर उत्तरार्ध-लौंकागच्छ के यतियों ने निर्माण कराया था। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १९१९ जेठ सुदि ५ को हुई थी।

(३) श्वेताबर जैनमंदिर सिविल लाईन मे है। इसका निर्माण कुछ वर्ष पहले हुआ हैं।

(४-५) दो श्वेतांबर जैनमंदिरो का निर्माण तथा प्रतिष्ठाएं लुधियाना की दो नई बस्तियों में अभी हुए है।

(६) जैन श्वेतांबर बड़ा उपाश्रय पुराना बाज़ार में है।

(७) श्वेतांबर जैनधर्मशाला चावल बाज़ार में है जो श्री महावीर जैनभवन के नाम से प्रसिद्ध है।

(८) इस धर्मशाला में रूपचन्द जैनसाधु का स्मारक भी है। जो बहुत चमत्कारी है।

(९) असली पन्ने की हरे रंग की श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा खानकाहडोगरां नगर निवासी (हाल लुधियाना निवासी) ओसवाल भाबड़े लाला हंसराज खरायतीलाल जी के पास है। यह प्रतिमा इनके पूर्वजों को जब वे रामनगर में रहते थे तब सत्यवीर, सद्धर्मसंरक्षक मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी ने किसी विधवा वृद्धा श्राविका से दिलाई थी।

२३—वैरोवाल जिला अमृतसर

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ प्रभु हैं। इस मंदिर का निर्माण

उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यतियों ने कराया था। इसकी प्रतिष्ठा तपागच्छीय आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि जी के शिष्य श्री विजयविद्या सूरि ने करवाई थी।

(२) जैन श्वेतांबर उपाश्रय भी है।

२४—शाहकोट जिला जालंधर

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर इसके मूलनायक श्री ऋषभदेव प्रभु हैं। इस मंदिर की प्रतिष्ठा वि० स० २०१६ में मुनि प्रकाशविजय ने कराई थी।

२५-शाँकर जिला जालंधर

(१) श्वेतांबर जैन चैत्यालय है। मूलनायक श्री शांतिनाथ प्रभु हैं। तपागच्छीय मुनि श्री अमीविजय जी के उपदेश से इसका निर्माण हुआ। वि० स० १९७० में इन्हीं के द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई। इस मंदिर का निर्माण लाला वृजलाल मेघराज ओसवाल-भावड़ा ने कराया था।

२६-सुनाम जिला संगरूर

(१) श्वेतांबर जैनमदिर है, मूलनायक श्री सुमतिनाथ प्रभु है। वि० सं० १९८३ में निर्माण हुआ था। वि० सं० १९८५ मे आचार्य श्री विजयविद्या सूरि ने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी।

(२) नगर के बाहर लगभग एक मील की दूरी पर उजाड़ स्थान में हिन्दू सन्यासियों का एक डेरा बना हुआ है। इसमें एक अत्यन्त प्राचीन जैनतीर्थंकर प्रतिमा है जिसकी ऊँचाई २१ इंच की है और पद्मासनासीन है। वह उन्ही के कब्जे में है।

(३) श्वेताम्बर जैन उपाश्रय है।

(४) स्थानकवासियों का स्थानक भी है।

२७-साढौरा जिला अम्बाला

(१) श्वेतांबर जैनमदिर है। इस मंदिर का शिलान्यास वि० सं० १९८६ (ई० स० १९२९ ता० ११ दिसम्बर) को यहाँ के लाला पन्नालाल मुन्हानी गोत्रीय ओसवाल-भावड़ा ने किया था। इसकी प्रतिष्टा तपागच्छीय मुनि श्री स्वामी सुमतिविजय जी, आचार्य विजयविद्या सूरि तथा मुनि विचारविजय जी ने की थी।

(२) श्वेतांबर जैनउपाश्रय है।

(३) स्थानकवासियों का स्थानक है।

(४) दिगम्बर जैनमंदिर है।

२८-सामाना (जिला पटियाला)

(१) शहर के श्वेतांबर जैनमन्दिर मे मूलनायक श्री शान्तिनाथ प्रभु। वि० सं० १९७९ में आचार्य विजयवल्लभ सूरि द्वारा प्रतिष्ठा। मूलनायक भगवान की प्रतिमा पालीताना से आई थी। मूलनायक भगवान की प्रतिष्ठा की बोली लाला सदाराम सागरचन्द नाजरचन्द परिवार की होने से प्रतिवर्ष इस परिवार द्वारा माघ सुदि एकादशी को मंदिर पर ध्वजा चढ़ाई जाती है।

(२) मंडी में श्री कुंथुनाथ जी का जैन श्वेतांबर मन्दिर है। आचार्य कैलाससागर सूरि के उपदेश से अहमदाबाद के श्री रजनीकात झवेरचन्द वर्धमानी व उनकी पत्नी मीनाक्षी बहन ने मूलनायक प्रतिमा श्रीसंघ को भेजी।

(३) मंडीवाले मंदिर के साथ जैनश्वेतांबर उपाश्रय का निर्माण लाला मुकंदीलाल

निरंजनदास ओसवाल भावड़ा ने कराकर श्रीसंघ को समर्पण किया है। मंडी के मंदिर व उपाश्रय केलिये भूमि प्रसिद्ध उद्योगपति गुज्जरमल मोदी से भेंट मिली है।

(४) नगर के दक्षिण में खरतरगच्छीय श्री जिनचन्द्र सूरि की दादावाड़ी है। बगीचा, बिजली, ट्यूबवेल आदि की सुन्दर व्यवस्था है। मन्दिरमार्गी व स्थानकवासी सभी दादावाड़ी को मानते हैं।

(५) श्वेतांबर जैनों के शहर में दो उपाश्रय हैं—एक पुरुषों का एक स्त्रियों का। शहर व मंडी में एक-एक जैन स्थानक भी है।

(६) शहर के मन्दिर में श्री विजयानन्द सूरि व विजयवल्लभ सूरि जी की दो सुन्दर प्रतिमाएँ भी हैं। श्री प्रकाशविजय जी के उपदेश से विजयवल्लभ सूरि जी की प्रतिमा सामाना के ही लाला दौलतराम व उनकी पत्नी पन्नीबाई जैन ने बनवाई थी।

(७) शहर के मन्दिर जी के लिए जमीन लाला कुशलचंद जैन व रिखीराम जैन से भेंट में मिली थी।

(८) शहर के मन्दिर की ऊपरी मंजिल में श्री आदिनाथ भगवान की ८५० वर्ष पुरानी सुन्दर व चमत्कारी प्रतिमा है। दूसरी भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा लाला रोशनलाल भावड़ा द्वारा बनवाई गई व आचार्य विजयवल्लभ सूरि द्वारा अंजनशलाका कराई गई है।[1]

२९-होशियारपुर

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर ३०० वर्ष लगभग पुराना। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ प्रभु हैं। यह पूजों के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण किसी यति ने कराया होगा।

(२) श्वेतांबर जैनमंदिर बड़ा दो मंजिला है। मूलनायक श्री वासुपूज्य प्रभु हैं। इसका सारा शिखर स्वर्णपत्रों से मंडित है। इसलिये यह स्वर्णमंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इस मंदिर का निर्माण आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के उपदेश से ओसवाल-भावड़ा नाहर गोत्रीय श्रेष्ठिवर्य लाला गुज्जरमल जी ने निजी द्रव्य से कराया था। वि० सं० १९४८ में इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयानन्द सूरि ने की थी। यह मंदिर बाज़ार भावड़याँ में है जो आजकल शीशमहल बाज़ार के नाम से प्रसिद्ध है।

(३) एक उपाश्रय बड़ा विशाल है जो स्वर्णमंदिर की बगल में बना है। इसका निर्माण आज से लगभग ५० वर्ष पहले हुआ था।

(४) स्त्रियों केलिए एक उपाश्रय मुहल्ला गढ़ी के सिरे पर है। इसका निर्माण लाला पूरणचन्द टेकचन्द ओसवाल जैन ने कराया है।

(५) नगर की कुछ दूरी पर श्री आत्मानन्द जैनभवन-गुरु मंदिर है। इसको चारों तरफ़ से दीवाल से घेरा हुआ है और चारों दिशाओं में एक-एक प्रवेशद्वार हैं। इसमें जैनमंदिर, श्री विजयानन्द सूरि के चरणबिम्ब तथा विशाल वाटिका है। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने की थी।

(६) शीशमहल—वास्तव में यह एक श्वेतांबर जैनउपाश्रय था। जो स्वर्णमंदिर के बहुत ही समीप है। लाला हंसराज ओसवाल-भावड़ा नाहर गोत्रीय ने इसका जीर्णोद्धार करने के लिये

---

1. सामाना नगर का विशेष विवरण "सामाना नगर" परिचय, पूर्व पृष्ठों, में देखें।

श्रीसंघ से अनुमति प्राप्त की । परन्तु इसने इस उपाश्रय में इंगलैंड के सम्राट जार्ज पंचम के दिल्ली दरबार के कलापूर्ण दृश्य की सीमिण्ट की मूर्तियां बनवाकर निर्माण करा दिया । इसके कुशल शिल्पी जानमुहम्मद ने इन मूर्तियो का इतना सुन्दर निर्माण किया है कि ऐसा लगता है मानों जीवित दरबार ही है । इसके अतिरिक्त अनेक पुतलियों केसाथ पशु-पक्षियों की मूर्तियों की रचनाएं और कांच के सुन्दर काम ने इसकी शोभा को चारचांद लगा दिये हैं । आज यह बिल्डिंग शीश-महल के नाम से प्रसिद्ध है । इसकी सुन्दरता के कारण इस भाबड़यां बाज़ार का नाम भी बदलकर शीशमहल बाज़ार नाम प्रसिद्ध हो गया है । दूर-दूर के लोग इसे देखने आते हैं । यह सम्पत्ति श्री जैनश्वेतांबर संघ होशियारपुर की है और यही इसकी सारसंभाल करता है ।

कुछ अन्य स्मारक

(७) **दादी कोठी** — ज़िला होशियारपुर की तहसील गढ़शकर, थाना महालपुर में दादीकोठी नाम का एक छोटा गांव है । जहां ओसवालों के कतिपय प्रमुख गोत्रों-वंशों के मान्य पूर्वजों के स्मारक (जो कोठियों के नाम से प्रख्यात है) बने हुए है । वहां इसके आसपास के नगरों के ओस-वाल जैन अपने बच्चों के मुंडन संस्कार करने आते है । इनमें नाहर, भाभू, महिमी, दुग्गड़ तथा मल्ल गोत्रवालों के स्थान हैं । इन सब गोत्रों वाले ओसवाल भाबड़े अपने बच्चों का मुंडन संस्कार करते हैं । ये सब कोठियां एक दूसरे के समीप है । बाबे-दादियों दोनों पूर्वजों को पूजा जाता है । एक स्थान बाबा भोमिया (क्षेत्रपाल) का भी है । यहां नाथों की समाधी के पास एक जैनतीर्थं-कर की खंडित पाषाण प्रतिमा भी है । जिसका धड है, सिर नही है । यह प्रतिमा पद्मासन में है । इससे यह स्पष्ट है कि किसी समय यहां श्वेतांबर जैनमन्दिर था और इसे माननेवाले जैनी परिवार भी यहां आबाद थे ।

(८) होशियारपुर नगर में जो पूजों का मदिर है (जिसका हमने पहले नं० (१) में उल्लेख किया है) उसमे भगवान श्री शांतिनाथ की एक विशाल धातु की प्रतिमा भी है। जनश्रुति के अनुसार यह प्रतिमा कांगडा अथवा उस के आसपास के किसी गांव के जैनमंदिर से लाई गई थी जो यहां के श्रीसंघ ने उसे लानेवाले व्यक्ति से खरीद ली थी । यह प्रतिमा बहुत ही मनोज्ञ है ।

३०-रोड़ी ज़िला सिरसा (हरियाणा)

(१) एक छोटा श्वेतांबर जैनमंदिर खरतरगच्छ यति का था । मंदिर के गिर जाने से इस पर किसी जैनेतर ने कब्जा कर लिया है । इस मंदिर की प्रतिमाये लाला दीवानचन्द ओसवाल चोधरी गोत्रीय ने अपनी दुकान के ऊपर चौबारे में लाकर विराजमान कर रखी हैं ।

(१) ये श्री चन्द्रप्रभु की पाषाण प्रतिमा मूलनायक तथा दो छोटी धातु की प्रतिमाएँ हैं ।

(२) इन प्रतिमाओं के साथ खरतरगच्छीय दादा श्री जिनकुशल सूरि के चरणबिम्ब भी पाषाण निर्मित हैं ।

(३) श्वेतांबर खरतरगच्छ का उपाश्रय स्थानक के रूप में बदल लिया गया है ।

३१-मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान बनने के बाद वहां कुछ श्वेतांबर परिवार मुरादाबाद में आकर आबाद हो गए हैं । इन्होंने वि० स० २०३४ (ई० सं १६७७) में एक भव्य श्वेतांबर जैनमन्दिर का निर्माण करवा कर आचार्य विजयसमुद्र सूरि जी से प्रतिष्ठा कराई । इसी वर्ष यहीं पर आचार्य श्री का स्वर्गवास हो गया ।

(१) जैनश्वेतांबर मन्दिर

(२) जैन श्वेतांबर उपाश्रय

(३) आचार्य विजयसमुद्र सूरि का समाधिमन्दिर

३२. रानियां जिला सिरसा (हरियाणा)

(१) यहां एक श्वेतांबर जैन खरतरगच्छ के यति का निर्माण कराया हुआ मंदिर था। यति के मरने के बाद इसे स्थानक के रूप में बदल लिया गया। यहाँ के यति जी का हस्तलिखित शास्त्रभंडार भी ढुंढ़िये साधु अन्यत्र ले गये। इस मंदिर की धातुनिर्मित जैनप्रतिमा को लाला चिरंजीलाल ओसवाल-भावड़ा डूक गोत्रीय ने इसी मुहल्ले में अपने निजी द्रव्य से भूमि खरीदकर उस पर नयेमंदिर का निर्माण कराया और उसमें इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा वि० सं० १९७४ में बीकानेर की खरतरगच्छ की गद्दी के किसी यति द्वारा कराई। इस प्रतिमा पर नीचे लिखा लेख खुदा है—

(लेख) [वि०] सं० १६६२ वर्षे चैत्र वदि ७ दिने बुधवारे विक्रमनगरे राजाधिराज श्री श्री रायसिंह विजय राज्ये चोपड़ा गोत्रे सा० कुंवरसी भार्या कोडम दे पुत्र सा० तेजाकेन भार्या तारा दे पुत्र झांझणसी लखमसी प्रतापसी युतेन श्री सुपार्श्वबिंब श्रेयार्थं कारितं प्रतिष्ठितं श्री बृहत्खरतरगच्छे श्री जिनमाणिक्य सूरि पट्टालंकार युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरिभि.[1] शुभं भवतु पूज्यमानं चिरं नन्दन्तु कल्याणं भवतु॥

यह प्रतिमा सुपार्श्वनाथ प्रभु की है। प्रभु के सिर के ऊपर सांप के पांच फण हैं। इस धातुप्रतिमा के बीच में श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु हैं और इस प्रतिमा के आजु-बाजु चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं। ऊपर के दोनों तरफ़ एक-एक पदमासन में तथा नीचे की तरफ़ खड़ी काउसग्ग मुद्रा में दो प्रतिमाएं हैं। यह प्रतिमा परिकर सहित है। कद १० × ७ इंच है।

(२) खरतरगच्छीय दादा श्री जिनकुशल सूरि के चरणबिंब पाषाण के हैं। ये वि० सं० १९९७ में बम्बई से मंगवा का स्थापित किये गये हैं।

३३. सिरसा (हरियाणा)[2]

(१) एक श्वेतांबर जैनचैत्यालय है। मूलनायक श्री शांतिनाथ हैं।

(२) एक श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री मुनिसुव्रतस्वामी हैं। इसका निर्माण-तपागच्छीय लाला शामलाल गजानन्द ओसवाल-भावड़ा मुन्हानी गोत्रीय ने कराया। यह इनका निजी मंदिर है।

(३) उपाश्रय श्वेतांबर उत्तराध लौंगागच्छ के यति जी का है। अंतिम यति इसका ट्रस्ट बना गये थे। अब इसे तेरापंथ वालों ने अपनी धर्मशाला के रूप में बदल लिया है। यति कोई नहीं है।

(४) उपाश्रय बड़गच्छ का अब स्थानक के रूप में परिवर्तित हो चुका है। यहाँ बड़गच्छ के यति कवि माल बड़े विद्वान हुए हैं। इन्होंने अनेक ग्रंथ रचे हैं।[2]

(५) यहां खरतरगच्छ की दादावाड़ी तथा इसे घेरे हुए बहुत बड़ी जमीन है। इस समय

1. यह जिनचन्द्रसूरि वही हैं जो वि०सं० १६४९ में मुगल सम्राट अकबर को लाहौर में मिले थे।
2. सिरसा के विषय में अधिक जानने के लिये देखें सिरसा नगर का विवरण।

इस गद्दी के यति गृहस्थी बन चुके हैं और जैनधर्म को छोड़ चुके हैं। यह दादावाड़ी और सारी ज़मीन इन्हीं के कब्जे में है।

३४. करनाल (हरियाणा)

(१) यहाँ पर एक हिन्दू मंदिर श्रवणकुमार के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह पहले श्वेतांबर जैनमंदिर था। आज भी इस मंदिर में एक जैनतीर्थंकर की प्रतिमा है। इस प्रतिमा के सिर पर पगड़ी बाँध तथा वस्त्र पहनाकर इस का रूप एकदम बदल दिया है।

३५. चरखीदादरी (हरियाणा)

(१) यहां एक श्वेतांबर जैनमंदिर है। इस समय मात्र एक ही घर बीसा श्रीमाल श्वेतांबर जैनों का है। बाकी सब परिवार दसा श्रीमाल ढूंढकपंथी हैं।

स्व० भाई श्री बंसीधर जी व इनके छोटे भाई डाक्टर बनारसीदास जी का ही एक मात्र परिवार जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक है। डा० बनारसीदास बाहर रहते हैं और भाई बंशीधर[1] जी B.A. B.T. के इकलौते पुत्र डाक्टर श्री धर्मवीर का परिवार यहाँ पर है और यही मंदिर की व्यवस्था आदि भी करते है। डा० धर्मवीर श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब गुजरांवाला के विद्यार्थी हैं।

३६. हनुमानगढ़ कोट (प्राचीन नाम भटनेरगढ़)

यह स्थान रेलवे जंकशन हनुमानगढ़ स्टेशन से तीन मील की दूरी पर है। यह गंगानगर (राजस्थान) की एक तहसील है। यह पहले सिंध में था अब राजस्थान में है। यहां ओसवालों के काफ़ी घर हैं, और सब ढुंढक मत के अनुयायी बन गये हैं। किन्तु इन लोगों को जिनमंदिर पर श्रद्धा है।

(१) इस दुर्ग में सब से ऊंचा एक विशाल श्वेतांबर जैनमंदिर है इस समय इसमें मात्र पाषाण की चार प्रतिमाएं विराजमान हैं। धातु की सब प्रतिमाएं चोरी हो गई हैं।

३७. मेरठ छावनी

(१) तीन मंजिला जैनश्वेतांबर मंदिर है। मूलनायक श्री सुमतिनाथ है। तपागच्छीय मुनि श्री मूलचन्द जी गणि के शिष्य परिवार में मुनि श्री दर्शनविजय जी (त्रिपुटी) के उपदेश से इस मंदिर का निर्माण तथा प्रतिष्ठा हुई।

३८. बड़ौत जिला मेरठ

(१) पंचायती श्वेतांबर जैनमंदिर है। इसमें मूलनायक श्री महावीर स्वामी हैं। यहाँ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से ३५ परिवार श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक धर्मानुयायी बने। इन्ही के लिये आचार्य श्री के उपदेश से यहाँ इस मंदिर का निर्माण हुआ। तथा इन्ही के द्वारा वि० सं० १९९५ में प्रतिष्ठा हुई।

(२) एक गुरुमंदिर भी है इसमें श्री विजयवल्लभ सूरि, श्री विजयललित सूरि, उपाध्याय श्री सोहन विजय की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं। इनकी प्रतिष्ठा वि० सं० २०१२ में मुनि श्री प्रकाश विजय जी ने कराई थी।

(३) श्री मंदिर जी से सटा हुआ एक जैन श्वेतांबर उपाश्रय भी है।

---

1. भाई बंशीधर जी का परिचय श्रावकों के परिचय में देखें।

३९. मुजफरनगर ज़िला मेरठ

श्री दर्शनविजय जी त्रिपुटी के उपदेश से यहां श्वेतांबर जैनधर्म की स्थापना हुई। यहाँ पर १०० परिवार श्वेतांबर जैनों के हैं।

(१) एक श्वेतांबर जैनमंदिर है।

(२) जैन श्वेतांबर उपाश्रय है।

४०. सरधना (मेरठ)

श्री दर्शनविजय जी (त्रिपुटी) के उपदेश से यहाँ श्वेतांबर जैनधर्म की स्थापना हो जाने पर यहाँ के श्रावकों के धर्माराधन के लिये—

(१) श्वेतांबर जैनमंदिर का निर्माण हुआ और प्रतिष्ठा भी त्रिपुटी महाराज ने की।

(२) श्वेतांबर जैन धर्मशाला (उपाश्रय) भी है।

४१. बिनौली ज़िला मेरठ

(१) एक श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री शांतिनाथ जी हैं।

(२) इसके साथ ही एक श्वेतांबर जैनउपाश्रय भी हैं।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी के उपदेश से इस मंदिर का निर्मान कराया गया और इसकी प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने वि० सं० १६८२ जेठ सुदि ६ को की।

इस मंदिर के लिये बिनौली के रईस लाला मुसद्दीलाल बीसा अग्रवाल श्वेतांबर जैन ने अपनी दो दुकानें दीं। जिसमें यह मंदिर बना। इस मंदिर की प्रतिष्ठा का सारा खर्च लाला जी के सुपुत्रों लाला श्रीचन्द जी तथा बाबू कीर्तिप्रसाद जी बी० ए० एल० एल० बी० ने किया था।

आपका परिवार लाला मुसद्दीलाल - प्यारेलाल जैन के नाम से प्रख्यात है।

४२. हस्तिनापुर ज़िला मेरठ[1]

(१) एक कलापूर्ण भव्य श्वेतांबर जैनमंदिर है। मूलनायक श्री शांतिनाथ प्रभु हैं। इसके मध्य के मूलगंभारे में श्री शांतिनाथ तथा इसके दायें बायें वाले मूलगंभारों में श्री कुंथुनाथ और श्री अरनाथ प्रभु मूलनायक हैं।

इसका निर्माण वि० स० १६२६ में कलकत्ता के सेठ प्रतापसिंह पारसान ने कराकर प्रतिष्ठा कराई थी। अतिजीर्ण हो जाने के कारण लगभग एक सौ वर्ष बाद श्री हस्तिनापुर जैन श्वेतांबर तीर्थ समिति ने इसका जीर्णोद्धार कराकर आमूल-चूल नवनिर्माण कराया है और प्रतिष्ठा तपागच्छीय आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के पट्टधर जिनशासनरत्न आचार्य श्री विजय समुद्र सूरि ने की है। यह श्री शांतिनाथ जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है।

(२) इसके पीछे श्री ऋषभदेव का पारणा (श्वेतांबर जैन) मंदिर है। इसके मध्य में श्री ऋषभदेव तथा श्रेयांसकुमार की पारणा करते-कराते हुए भव्य खड़ी प्रतिमाएं हैं और मंदिर की चारो दीवालों पर श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ के चार-चार कल्याणकों के तथा श्री ऋषभदेव के पारणे के अवसर की घटनाओं के मार्बल के पाषाणपट्ट मढ़े हुए हैं। इसकी प्रतिष्ठा आचार्य विजयसमुद्र सूरि जी के पट्टधर विजयइन्द्रदिन्न सूरि ने वि० सं० २०३५ में कराई है।

---

1. इस तीर्थ का विस्तृत विवरण जानने के लिये अध्याय २ में देखें।

(३) इस मंदिर की उत्तर दिशा में कुछ दूरी पर जंगल में श्री ऋषभदेव के पारणे का प्राचीन स्तूप है जो श्वेतांबर जैन निशियां जी के नाम से प्रसिद्ध है। पारणे के मूलस्थान पर इस प्राचीन स्तूप व निशियां जी के जीर्णोद्धार का कार्य चालू है। दिल्ली के दानवीर सेठ मणिलाल डोसी जी ने इस कार्य में एक लाख ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह रुपये दिए हैं। योजना पाँच छः लाख की है। इसमें श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरनाथ तथा श्री मल्लिनाथ के चरणबिम्बों वाली चार छत्रियां भी है।

(४) श्री शांतिनाथ के इस मंदिर को घेरे हुए तीन श्वेतांबर जैनधर्मशालाएं हैं।

(५) इन धर्मशालाओं के पीछे बहुत बड़ी भोजनशाला है। जिसमें एक साथ ५०० व्यक्ति भोजन कर सकते है।

इन सबकी व्यवस्था श्री हस्तिनापुर जैन श्वेतांबर तीर्थ समिति करती है।

(६) इस बड़े मंदिर की दक्षिण दिशा में जैनश्वेतांबर बालाश्रम है उनमें विद्यार्थियों के लिये बोर्डिंग तथा भोजनशाला है।

(७) इस बिल्डिंग के बीचोबीच श्री शांतिनाथ के समवसरण का मंदिर है।

(८) बालाश्रम की बिल्डिंग के सामने श्री आत्मानन्द जैन हायरसेकेण्ड्री स्कूल की बिल्डिंग है।

(९) इस बिल्डिंग की दक्षिण दिशा में एक कमरे में श्री ऋषभदेव तथा श्रेयांसकुमार के वर्षीतप का पारणा करने कराने वाली खड़ी प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

(१०) स्कूल बिल्डिंग के सामने दक्षिण उत्तर दिशाओं में एक-एक छत्री में अलग-अलग विजयानन्द सूरि और विजयवल्लभ सूरि के खड़े स्टेच्यु है।

(११) बालाश्रम की उत्तर दिशा में दादा जिनदत्त सूरि, जिनकुशल सूरि और जिन-चन्द्र सूरि के चरणबिम्बों वाला गुरुमंदिर है। यह मंदिर एक वाटिका के बीच में है।

(१२) स्कूल बिल्डिंग में फ्री हस्पिताल भी है।

नं० ६ से १२ तक की सब संस्थाओं का निर्माण आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के शिष्य विजयललित सूरि के प्रशिष्य आचार्य श्री विजयप्रकाशचन्द्र सूरि के पुरुषार्थ, प्रयास, तथा उपदेश से हुआ है।

इन सब सस्थाओं की व्यवस्था—श्री जैन श्वेतांबर महासभा उत्तर प्रदेश करती है।

दिगम्बर जैन संस्थाएं

(१) दिगम्बर जैन शांतिनाथ का बड़ा मंदिर। यह मंदिर श्वेतांबर जैन शांतिनाथजी के मंदिर के सामने है और एक ऊँचे टीले पर निर्मित है।

(२) यहाँ जंगल में दिगम्बर जैन चार निशियाँ जी हैं।

(३) निशियांजी का मार्ग शुरू होते ही पूर्व दिशा में एक विशाल जम्बूद्वीप के दिगम्बर जैनमंदिर का निर्माण हो रहा है। बीच में मेरुपर्वत बनाया गया है।

(४) बड़े दिगम्बर मंदिर की बगल में दिगम्बर जैन गुरुकुल तथा छात्रालय है।

(५) दिगम्बर जैनों की चार-पाँच विशाल धर्मशालायें हैं।

(६) एक दिगम्बर जैन औषधालय भी है।

(७) एक त्यागी आश्रम तथा विधवाश्रम भी है।

इन सब संस्थाओं का प्रबन्ध दिगम्बर जैनतीर्थ कमेटी हस्तिनापुर करती है।

इन जैनमंदिरों के विवरण से हम जान पाये हैं कि यहाँ जो पंजाब में जैनमंदिरों की सूची दी गई है। वे सब विक्रम की १६वीं शताब्दी से लेकर २१वीं शताब्दी तक के हैं। १६वीं शताब्दी से पहले का निर्मित आज एक भी जैनमंदिर विद्यमान नहीं है।

हम पहले लिख आये हैं कि सारे पंजाब-सिंध जनपद में श्री ऋषभदेव से लेकर शाहजहाँ के समय तक सर्वत्र जैन श्वेतांबर विद्यमान थे। विक्रम की १८वीं शताब्दी का ऐसा समय आया कि इस सारे क्षेत्र में इन मंदिरों का सफ़ाया हो गया। कारण यह कि इस काल में कट्टर मुसलमान औरंगजेब का शासन, ढूंढक मत का जैनमंदिर-मूर्तियों के विरुद्ध प्रचार था। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस काल में जैन और हिन्दू संस्कृतियों का आमूलचूल विनाश करने के लिये मुसलमानों की तरफ़ से सर्वव्यापक जिहाद किया गया था।

४२. दिल्ली की कुतुबमीनार

यद्यपि हमने इस इतिहास पुस्तक में दिल्ली में जैनधर्म के इतिहास का समावेश नहीं किया है इसके जैन इतिहास पर तो अलग पुस्तक लिखी जानी चाहिये। तथापि दिल्ली में बने कुतुबमीनार के विषय में पंजाब से निकलने वाले अंग्रेजी दैनिक ट्रिब्यून में जो लेख छपा है उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ देते हैं जिससे पाठक जान पायेंगे कि मुसलमान बादशाहों ने जैन और हिन्दू मंदिरों को तोड़-फोड़कर इसका निर्माण किया है।

बारहवीं शताब्दी में निर्मित, दिल्ली के कुतुबमीनार के निचले भागों में जैनतीर्थंकरों व हिन्दू अवतारों की मूर्तियों का पुरातत्ववेत्ताओं ने पता लगाया है।

इस खोज से वे सब धारणाएं निर्मूल व ग़लत सिद्ध हो गई हैं जो यह कहा करती थीं कि यह मीनार दिल्ली के अंतिम सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने अपनी बेटी के यमुना-दर्शन के लिए बनवाया था।

आर्किआलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया द्वारा इस ऐतिहासिक स्मारक की मुरम्मत करते हुए उन्हें अचानक ही जैनतीर्थंकरों की बीस तथा भगवान विष्णु की एक ऐसी कुल २१ प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

सात शताब्दियों के पश्चात् भी इन प्रतिमाओं का वास्तविक रूप व वैभव अभी तक विद्यमान है। कुतुबमीनार के पास ही बनने वाले एक संग्रहालय में इन्हें रखा जाएगा।

अब यह धारणा बिल्कुल पक्की हो गई है कि चाहे कुतुब को बनाने में हिन्दू शिल्पी ही लगे होंगे, पर इसकी बनावट व ढंग मूलतः इस्लामी हैं। कुतुब को बनवाने वाले दिल्ली के पहले सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक के शहर ग़जनी में कुतुब मीनार के दो नमूने, टूटी-फूटी अवस्था में अभी तक सुरक्षित हैं। यह तथ्य भी ठीक ही है कि पृथ्वीराज की हार के बाद ही इस मीनार की नींव सुल्तान द्वारा रखी गई। सुल्तान के उत्तराधिकारी अल्तमश ने इसे सन् १२३० में पूरा किया था।

बावन शिखरों वाला जैनमंदिर

कुतुबमीनार के पास ही जिस स्थान पर 'लोहे की लाट' लगी हुई है वह जैनों का बावन शिखरोंवाला भव्य जैनमन्दिर था। उसकी बाहरी व भीतरी दीवारों पर तीर्थंकर प्रतिमाएँ, खड़ी व बैठी मुद्राओं में अब भी देखी जा सकती हैं। कुतुब बनाते समय उसके निचले भागों में संभवतः इसी जैनमन्दिर की प्रतिमाओं को दबा दिया गया था।

अशोक कालीन लोहे की लाट किसी अन्य स्थान से लाकर मुगलकाल में वहाँ आरोपित की गई है।

अंग्रेजी दैनिक "ट्रिब्यून" (चंडीगढ़)
२४-८-७६ पृ० १

इससे पहले भी अति प्राचीनकाल से लेकर अंग्रेजों के भारत में आने से पहले तक सब विदेशी आक्रमणकारी भारत में हिमालय के दर्रों के रास्ते से आये। उन्होने सबसे पहले पंजाब पर ही आक्रमण किया और भारत की सम्पत्ति को बेधड़क होकर लूटा एवं इनके मंदिरो और स्मारकों को ध्वंस किया। अतः जिसका जब ज़ोर चला उसने जैनमंदिरों आदि का ध्वंस किया तथा अपने इष्टदेवों के मंदिरों अथवा मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर लिया। फिर भी बीच-बीच में जैन मंदिरों-स्मारकों का निर्माण भी होता रहा। किन्तु विक्रम की १८ वीं शताब्दी से पंजाब आदि उत्तरीय भारत के क्षेत्र में जैनसंस्कृति का ऐसा सफ़ाया हो गया कि न तो यहाँ कोई प्राचीन जैन-मंदिर ही रह पाया और न प्राचीन हस्तलिखित जैन साहित्य के ग्रंथ ही रहने पाए।

परिणामस्वरूप जैनमंदिरों को अधिकतर ध्वस कर दिया गया और जो कुछ थोड़े बहुत बच भी पाये थे उन्हे बौद्ध, हिन्दू मंदिरों, मुसलमानों की मस्जिदो के रूप में बदलकर अपना अधिकार जमा लिया और जो जैनों के पास रह गये, उन्हें स्थानको के रूप में अथवा विशेष कर हरियाणा प्रदेश में दिगम्बर मंदिरों अथवा स्थानकों के रूप मे परिवर्तित कर लिया गया।

कारण यह था कि इस काल मे श्वेतांबर जैन साधुओ का पंजाब में आना एक दम बन्द हो गया और ढूंढक मत के सर्वत्र प्रचार हो जाने के कारण यहाँ का सारा जैनसमाज प्रायः इस मत का अनुयायी हो गया था और जैनमंदिरों का मानना छोड़ देने से ऐसा परिणाम आया।

पंजाब में जैन शिक्षण संस्थाएँ

१—अंबाला शहर

(१) श्री आत्मानन्द जैन डिग्री कालेज—यह कालेज सारे सिंध, हरियाणा, पंजाब का सबसे पहला जैन डिग्री कालेज है। इसकी स्थापना २० जून १९३८ सन् ईस्वी में जैन श्वेतांबर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने की थी। आचार्य श्री ने इस कालेज की स्थापना जैनदर्शन और सरकारी व्यवहारिक (दोनों) शिक्षण देने के लिए की थी। जबकि सरकारी शिक्षण ही हो पाता है, जैनदर्शन के अभ्यास का अभाव है। लड़के लड़कियां दोनों एक साथ पढ़ते हैं। इसका विशाल छात्रावास तथा बहुत बड़ी लायब्रेरी और वाचनालय भी हैं।

(२) श्री आत्मानन्द जैन हाईस्कूल की स्थापना भी आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने ईस्वी सन् १९२९ में की थी। इसका उद्देश्य भी दोनों प्रकार के शिक्षण देने का था। कुछ वर्ष तो

इस उद्देश्य की पूर्ति हुई। परन्तु अब धार्मिक शिक्षण की कोई भी व्यवस्था नहीं है।

(३-४) श्री आत्मानन्द जैन कन्या हाई स्कूल तथा कन्या शिल्पविद्यालय।

(५) श्री आत्मानन्द जैन माडलस्कूल (श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला के बदले में पाकिस्तान बनने के बाद इसकी स्थापना की गई)।

(६) पूज्य काशीराम जैनकन्या हाईस्कूल (स्थानकवासी समाज की तरफ़ से)।

(७) श्री आत्मानन्द जैन लायब्रेरी तथा वाचनालय। जैन श्वेतांबर उपाश्रय हलवाई बाज़ार की बिल्डिंग में।

(८) स्थानकवासी कन्या शिल्पविद्यालय।

२—मालेरकोटला

श्री आत्मानन्द जैन हाईस्कूल—ता० १६ जनवरी १९५४ ई० में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से चालू हुआ। बाद में इसे डिग्री कालेज कर दिया गया। परन्तु एक दो वर्ष चल कर कालेज बन्द हो गया।

३—लुधियाना

(१) श्री आत्मानन्द जैन हायरसेकेंड्री स्कूल—ई० स० १९२८ में इसकी स्थापना आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के उपदेश से की गई।

(२) श्री आत्मवल्लभ जैन विद्यापीठ (धार्मिक पाठशाला)—इसमें लड़कों को जैनधर्म का शिक्षण और संस्कार दिये जाते हैं। इसमें सब अध्यापक निःशुल्क सेवा करते है।

४—होशियारपुर

ई० स० १९५८ में यहां श्री आत्मानन्द जैन हाई स्कूल की स्थापना आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि के उपदेश से हुई।

५—जंडियाला गुरु

श्री आत्मानन्द जैन मिडलस्कूल की स्थापना श्री विजयवल्लभ सूरि के उपदेश से हुई।

६—फ़ाजिलका

श्री जैन प्राइमरी स्कूल।

७—फिरोजपुर छावनी

दिगम्बर जैन हायर सेकेन्ड्री स्कूल।

८—श्री आत्मानन्द जैन धार्मिक पाठशालाएँ

(१) रोपड़ (रुपनगर)—श्री आत्मवल्लभ जैनधार्मिक पाठशाला।

(२) पट्टी ज़िला अमृतसर—श्री आत्मवल्लभ जैनधार्मिक पाठशाला (बालकों की)।

(३) पट्टी ज़िला अमृतसर—श्री आत्मानन्द जैनधार्मिक कन्या पाठशाला।

(४) श्री आत्मवल्लभ जैनधार्मिक पाठशाला—बालिकाओं के लिए।

(५) अम्बाला—श्री आत्मानन्द जैनधार्मिक बालक पाठशाला।

(६) अम्बाला—श्री आत्मानन्द जैनधार्मिक बालिका पाठशाला।

९—जैन शिल्पविद्यालय

(१) श्री आत्मवल्लभ जैन महिला शिल्प विद्यालय सामाना।

(२) जनता सिलाईस्कूल नाभा।

(३) श्री आत्मवल्लभ सिलाई स्कूल शाहकोट।
(४) श्री आत्मवल्लभ सिलाई स्कूल जंडियालागुरु।
(५) श्री आत्मवल्लभ शिल्पविद्यालय अमृतसर।
(६) जैन सिलाई स्कूल होशियारपुर
(७) जैन सिलाई स्कूल सुनाम।
(८) जैन सिलाई स्कूल बड़ौत।

१०—श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला

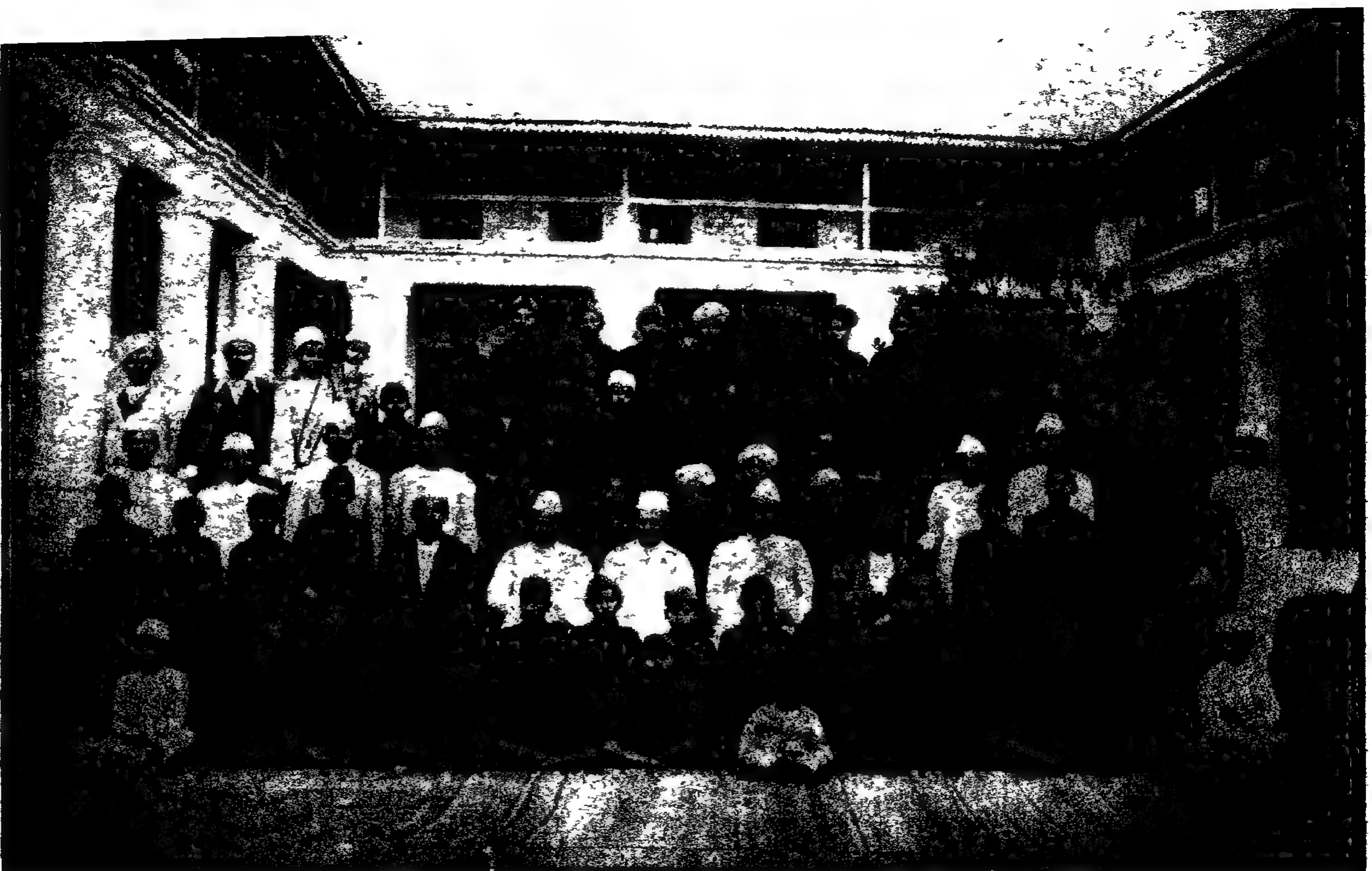
पूर्वप्रसंग—गुरुदेव (आचार्य श्री विजयानन्द सूरि) ने कहा—"वल्लभ; जानते हो न! पंजाब में जिनमंदिरों के निर्माण का कार्य अब प्रायः पूर्ण होने आया है और जिनशासन के पुनरोद्धार में भी गुरुदेव के आशीर्वाद से बराबर सफलता मिलती जा रही है (शुद्ध जैनधर्म के अनुयायी भी अब पंजाब में काफ़ी हो गये है)। अब तो एक काम बाकी है, जिसे हाथ में लेना चाहता हूँ और वह यह है कि "पंजाब में सरस्वती मंदिर (जैन विद्यापीठ) की स्थापना।" जिसमें दर्शन, धर्म, इतिहास तथा श्रेष्ठता का सही (सत्य) अभ्यास करके आनेवाली पीढ़ियाँ ज्ञान और चरित्र सम्पन्न बनकर दृढ़ श्रद्धापूर्वक जैनधर्मी बने रहें। ऐसा होने से ही जिनशासन के वफ़ादार बनकर जैनधर्म के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रख सकते हैं। जैनधर्म के स्वरूप को जाने बिना मंदिरों की पूजा, उपासना, सार संभाल का पंजाब में कई शताब्दियों से अभाव हो रहा है और सत्यधर्म को छोड़ बैठे थे।

वाचकवर्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ में पहले अध्याय के पहले सूत्र में स्पष्ट कहा है कि—सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः॥ तत्त्वार्थ १।१

अर्थात्—१. सम्यग्दर्शन (सत्यतत्त्व के स्वरुप को जानने की रुचि एवं सत्यश्रद्धा) २. सम्यग्ज्ञान (वीतराग-सर्वज्ञ-तीर्थंकर आप्तपुरुषो द्वारा प्रदर्शित सत्यमार्ग का ज्ञान), ३. सम्यक्चरित्र (सत्यज्ञान के अनुकूल आचरण—सच्चरित्र) की प्राप्ति (तीनों की प्राप्ति) ही मोक्ष का मार्ग है। जिनमंदिर—जिनप्रतिमा से **सम्यग्दर्शन** की प्राप्ति, पुष्टि और शुद्धि होती है। आगम-शास्त्रों का अभ्यास तथा सद्गुरु का सानिद्य **सम्यग्ज्ञान** प्राप्ति के साधन है इसकी पूर्ति जैनसरस्वती मंदिरों से अथवा गीतार्थ सद्गुरुओं द्वारा जिनप्रवचन सुनने से ही हो सकती है तथा उपाश्रय-पौषधशाला-स्थानक में सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, तपस्या आदि करके सम्यक्चरित्र के पालन में दृढ़ता तथा गुरुदेव के प्रवचनो के चरित्र मे क्रमशः उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के बिना श्रद्धा और चरित्र सम्यग् नही हो सकते।

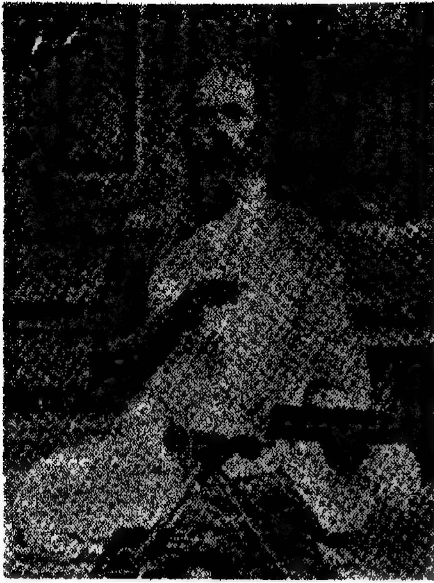
स्थानक-उपाश्रय तो पहले से ही विद्यमान थे इसलिए इनको नये बनाने की प्रायः आवश्यकता नही है। जिनमंदिरों का अभाव सा था वह भी लगभग पूरा हो गया है। अब तो जिन-शासन के सत्यज्ञान और प्रचार की आवश्यकता है और उसकी पूर्ति सरस्वती मंदिर की स्थापना तथा चरित्रवान, गीतार्थज्ञानी संवेगी साधुओं के विचरण ही से हो सकती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए अब हम लोगों को कमर कस लेनी चाहिए। आयु का क्या भरोसा है?"

पर इस भावना को पूरी किए बिना ही असमय में वि० सं० १९५३ को गुरुदेव का स्वर्ग-वास हो गया। अंतिम समय में गुरुदेव ने कहा—"वल्लभ! जानते हो न! अभी सरस्वती मंदिर



श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला के कार्यकर्ता तथा विद्यार्थी वि०सं० १९८२

आचार्य विजय ललित सूरि



आचार्य विजय उमंग सूरि





आचार्य विजयविद्या सूरि



मुनि विचार विजय जी

का कार्य बाकी है। मेरे बाद तुमने इस कार्य को करना है! भूलना नहीं और मेरे बाद पंजाब को तुमने संभालना है।"

वल्लभ (विजयवल्लभ सूरि) ने नतमस्तक होकर तहत्ति (आपकी आज्ञा शिरोधार्य है) कहकर गुरु की आज्ञा को मूर्तरूप देने का दृढ़ संकल्प किया।

सरस्वती मंदिर की स्थापना के प्रयास चालू

(१) आपने इसी चौमासे में योजना बनाई कि १—पंजाब के सभी नगरों में जहां-जहां जैनी आबाद हैं वहां-वहां जैन पाठशालाएं चालू की जावें और उन पाठशालाओं का खर्चा वहां के स्थानीय संघ चलावें। २—श्री आत्मानन्द जैन महाविद्यालय (कालेज अथवा गुरुकुल) स्थापित किया जावे जो सरस्वती मंदिर की भावना को पूरी कर सके। इसके लिए पाईफ़ंड नाम का एक फ़ंड भी कायम किया गया। पीछे जाकर यह फ़ंड बन्द हो गया।[1]

(२) मिति वैसाख सुदि ११ वि० सं० १९५८ को अमृतसर में श्री आत्मानन्द जैन पाठशाला पंजाब की उचित स्थान पर स्थापना का निर्णय किया गया और फ़ंड के लिए इस प्रकार निर्णय किया गया—

१—इस पाठशाला (महाविद्यालय—सरस्वती मंदिर) की स्थापना के लिए जो फंड श्री संघ पंजाब ने स्थापित किया है उसमें जिन-जिन नगरों ने जो चन्दे लिखवाये हैं वे दे देने चाहियें और जिन्होने अभी तक नही लिखवायें उन्हें लिखवा देने चाहियें। २—इस पाठशाला केलिए पुत्र के विवाह पर पाँच रुपये, पुत्री के विवाह पर दो रुपये देने चाहियें। ३—विवाह के समय जब जिनमंदिर में नकद रुपये का चढावा चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार इस महाविद्यालय के फ़ंड के लिए भी चढ़ावा दिया जावे। ४—पाईफ़ंड जो चालू किया गया है उसमें पंजाब के प्रत्येक श्रावक-श्राविका को कम से कम एक पाई प्रतिदिन देनी चाहिए। ५—पर्युषण पर्व पर जो कल्पसूत्र की बोलियां और ज्ञानपंचमी आदि के समय जो चढ़ावा होता है वह सब इस महाविद्यालय के फ़ंड में दिया जावे। ६—जो लोग मुनिराजों के दर्शन के लिए आवें उन्हें भी यथाशक्ति इस फ़ंड में कुछ न कुछ देना चाहिये।[2]

इस प्रकार अनेक बार प्रयास चालू रहे किन्तु पंजाब महाविद्यालय की स्थापना न हो पाई।

इस सरस्वती मंदिर की स्थापना केलिये आप ने अनेक प्रकार के अभिग्रह तथा त्याग तप किये। वि० सं० १९८१ मार्गशीर्ष सुदि ५ को आचार्य पदवी पाने के बाद आप गुजरांवाला पधारे और प्रवेश के समय पंजाब के सब नगरों से आये हुए एकत्रित श्रावकों को उपदेश देते हुए आप ने फ़रमाया कि—

1. इस पाई फंड का जो रुपया अभी तक इकट्ठा हो पाया था वह सारा मुनि वल्लभविजय जी की आज्ञा से वेदांताचार्य बृजलाल ब्राह्मण तथा पं० सुखलाल संघवी न्याय-व्याकरणाचार्य को काशी में अभ्यास कराने के लिये खर्च किया गया।
2. जंडीयाला गुरु की मंदिर प्रतिष्ठा के बाद अमृतसर में एकत्रित हुए सारे पंजाब श्वेतांबर जैनसंघ की सभा में जो पूज्य बाबा मुनि कुशलविजय जी के सभापतित्व में हुई थी उसमें निर्णय लिया गया था।

"मेरी आत्मा तो तभी प्रसन्न होगी जब स्व० गुरुमहाराज की अन्तिम इच्छा के अनुसार आप एक जैन गुरुकुल की स्थापना करेंगे। मैंने नियम लिया है कि जब तक एक लाख रुपया गुरुकुल के फ़ंड केलिये जमा न होगा। तब तक मैं दूध तक नहीं पिऊंगा। मैं हज़ारों मील का सफ़र करके आया हूं। अनेक तरह के कष्ट उठाकर इस गुरुदेव की पुण्यभूमि पर क्यों आया हूं ? सिर्फ़ गुरुदेव की अन्तिम इच्छा पूर्ण करने की भावना से। इस भावना को अपने जीवन में पूर्ण करना अपना प्रथम कर्तव्य मानता हूं।"

सरस्वती मंदिर की स्थापना—

पंजाब जैन श्रीसंघ ने अड़सठ हज़ार (६८०००) रुपया एकत्रित किया और बत्तीस हज़ार रुपया बम्बई के एक वैष्णव सेठ विट्ठलदास-ठाकुरदास ने भेजा। एक लाख रुपये की धनराशी से गुरुदेव के स्वर्गवास के २८ वर्ष बाद वि० सं० १९८१ माघ सुदि ५ के दिन बड़ी धूम-धाम के साथ गुजरांवाला में स्व० आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी महाराज के समाधिमंदिर में ही श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब की स्थापना की। प्रारंभ में इस के (मानद-आनरेरी) अधिष्ठाता बिनौली के प्रसिद्ध वकील बाबू कीर्तिप्रसाद जी जैन और सुपरिंटेंडेंट श्री फूलचन्द हरिचन्द दोशी 'महुवाकर', सेक्रेटरी लाला तिलकचन्द जी तिरपैखिया एवं प्रधान लाला मानकचन्द जी दूगड़ कायम किये गये।

इस संस्था का उद्देश्य जैनदर्शन-धर्म के सच्चरित्र विद्वान तैयार करना रखा गया। इस के दो विभाग प्रारंभ किये गये। १. साहित्य मंदिर (College section) और २. विनय मंदिर (High School section)।

(१) **साहित्य मंदिर**—में संस्कृत, प्राकृत, पाली, हिन्दी, गुजराती, उर्दू, बंगाली, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं तथा षड्दर्शन का तुलनात्मक अभ्यास, वक्तृत्व और लेखनकला, पत्र-पत्रिका संपादन, पुस्तकालय-वाचनालय की व्यवस्था एवं पुस्तक-शास्त्र सूचिकरण आदि के साथ हुन्नर उद्योगों के शिक्षण भी दिये जाते थे। इस प्रकार ज्ञानोपार्जन के साथ-साथ सामायिक, प्रतिक्रमण, जिनमंदिर में देवपूजा-दर्शन तथा गुरुवन्दन का क्रियात्मक अभ्यास भी कराया जाता था। तपस्या भी पर्व दिनों में आत्मसंयम के लिये की जाती थी।

सरकारी शिक्षण के साथ-साथ जैनदर्शन, धर्म, कर्मसिद्धान्त (छह कर्मग्रंथ) प्रकरण, न्याय, जीवविज्ञान, जैन इतिहास तथा आचार का शिक्षण भी अनिवार्य था।

किन्तु कालेज के सरकारी अभ्यासक्रम की पढ़ाई करने पर भी विश्वविद्यालय की परीक्षाएं विद्यार्थियों को दिलाई नही जाती थीं। गुरुकुल की अपनी परीक्षाएं ही सब विषयों की होती थीं। परन्तु कलकत्ता विश्वविद्यालय की जैनन्याय (Philosophy) की न्यायतीर्थ (शास्त्री) परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। इस प्रकार कलकत्ता की न्यायतीर्थ तथा गुरुकुल की स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को "**विद्याभूषण**" उपाधि से अलंकृत किया जाता था।

प्रवेश पाने की योग्यता—

साहित्यमंदिर में संस्कृत लेकर मैट्रिक विद्यार्थी प्रवेश पा सकते थे और उन्हें पांचवर्ष का अभ्यास पूरा करके उत्तीर्ण होना अनिवार्य था।

(२) विनय मंदिर—में विद्यार्थी प्राइमरी पास लिये जाते थे और इन को सातवर्ष अभ्यास करना होता था। सरकारी स्कूल के मैट्रिक के सब विषयों के अभ्यास के साथ जैनधर्म का अभ्यास, जीवविचार, नवतत्त्व, तत्त्वार्थ सूत्र का अभ्यास, सामायिक, प्रतिक्रमण, देवपूजा आदि का अभ्यास भी कराया जाता था। इस की भी गुरुकुल की अपनी परीक्षाएं होती थीं और उत्तीर्ण विद्यार्थियों को "विनीत" का प्रमाणपत्र दिया जाता था।

निःशुल्क प्रवेश

गुरुकुल में प्रविष्ठ विद्यार्थियों से किसी भी प्रकार का किसी भी रूप से कोई खर्चा नहीं लिया जाता था। निवास, पढ़ाई-लिखाई, खाना-पीना का सब खर्चा गुरुकुल करता था। पर्यटन, पिकनिक आदि के लिये ले जाने का भी खर्चा गुरुकुल ही करता था। इस संस्था का सारा खर्चा पंजाब जैनश्वेतांबर, (मूर्तिपूजक) संघ करता था।

आचार संहिता—

प्रत्येक विद्यार्थी जब तक गुरुकुल में शिक्षा पाता रहे तब तक उस के लिये ब्रह्मचर्य पालना अनिवार्य था। सदा सत्य बोलना और निर्भय (निर्भीक) रहने के लिये उन्हें शिक्षित किया जाता था अपने कपड़े अपने आप धोना, अपने कमरों की सफाई करना, अपने सामान को व्यवस्थित रखना सब प्रकार की स्वच्छता, पवित्रता तथा अपने-अपने सब कार्य विद्यार्थी स्वयं करते थे।

कन्दमूल (अनन्तकाय-साधारण वनस्पति) का त्याग अनिवार्य था। सात्विक भोजन, रात्रिभोजन का त्याग, श्रावकोचित नियम पालन किए जाते थे। बीमार विद्यार्थियों की वैयावच्च (सेवा-श्रूषा) करना प्रत्येक विद्यार्थी अपना कर्तव्य समझता था। जूता आदि चमड़े के सामान का कार्यकर्ता और विद्यार्थी इस्तेमाल नही करते थे।

प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी चौबीस घंटे की दिनचर्या की डायरी (विवरण) लिखना अनिवार्य था। वह डायरी लिख कर बाबा जी[1] को देनी होती थी। वे प्रत्येक डायरी को पढ़कर उस पर अपना नोट लिखते थे। जिस में विद्यार्थियों की दिनचर्या की आलोचनात्मक समीक्षा होती थी। जो विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई।

व्यवस्था में विद्यार्थियों का योगदान—

दस-दस विद्यार्थियों के ग्रुप बना दिये गये थे। प्रत्येक ग्रुप का एक विद्यार्थी नेता होता था, उन नेताओं की देख-रेख में विद्यार्थी गुरुकुल के भिन्न-भिन्न विभागों की व्यवस्था में रुचिपूर्वक भाग लेते थे। अतिथि सेवा विभाग, औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, भोजनशाला, व्यायामशाला, वाटिका, सफ़ाई आदि के सब विभागों की व्यवस्थाओं मे विद्यार्थियों का पूर्ण सहयोग रहता था। अर्थात् गुरुकुल के सब विभागों की व्यवस्था विद्यार्थी स्वयं करते थे।

दंड व्यवस्था

कोई अपराध हो जाने पर विद्यार्थियों को शारीरिक दंड देना एक दम वर्जित था। अपराधी विद्यार्थी को बाबा जी अपने आफ़िस में बुलाकर उसे उसकी भूल को समझा कर स्वीकार कराते और उसे इस अपराध की शुद्धि के लिये प्रायश्चित लेने को कहते। विद्यार्थी खुशी-

1. अधिष्टाता बाबू कीर्तिप्रसाद जी को विद्यार्थी "बाबा जी" कहते थे।

खुशी से तप अथवा खाने-पीने की किसी वस्तु का त्याग करके प्रायश्चित ले लेता था।

इस आदर्श संस्था में किसी भी मत-पंथ-संप्रदाय के भेद भाव के बिना जैन-जैनेतर विद्यार्थी प्रवेश पाकर शिक्षा प्राप्त करते थे।

स्वतन्त्रता आन्दोलन—

देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भी अधिष्ठाता, सुप्रिंटेंडेन्ट, मंत्री, अध्यापक, विद्यार्थी सभी भाग लेते थे। गुरुकुल के अधिष्ठाता बाबू कीर्तिप्रसाद जी जैन, मंत्री लाला तिलकचन्दजी जैन को गांधी जी के नमक सत्याग्रह के आन्दोलन में भाग लेने से अंग्रेज सरकार ने कारावास का दंड भी दिया था। लाला तिलकचन्द जी जिला गुजरांवाला कांग्रेस कमेटी के मंत्री भी थे और बाबू कीर्तिप्रसाद जी मेरठ ज़िला कांग्रेस कमेटी के मंत्री रह चुके थे। दोनों भारतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री रह चुके थे। सक्रिय सदस्य भी थे।

स्वतंत्रता आन्दोलन के राष्ट्र नेता

जो भी राष्ट्रनेता पंजाब में लाहौर तक आता अथवा गुजरांवाला से आगे के नगरों में स्वतंत्रता आन्दोलन के लिये जाता, वह समय निकाल कर इस गुरुकुल में अवश्य आता था। गुरुकुल के विद्यार्थियों और कार्यकर्त्ताओं के साथ बैठकर चरखा और तकली कातता था। सायं प्रातः प्रार्थना में शामिल होना अपना गौरव समझता था, विद्यार्थियों के काते हुए सूत को मोल लेकर उसका कपड़ा बुनाकर पहनने मे अपने आप को धन्य मानता था। गुरुकुल की उद्योगशाला में विद्यार्थियों, द्वारा तैयार की गई वस्तुओं को बड़े चाव से खरीदता तथा गुरुकुल के विद्यार्थियों, कार्यकर्ताओं के साथ सादा भोजन करके सादगी और सरलता की प्रशंसा करता था।

लाला लाजपतराय, भीमसेन सच्चर, सेठ अचलसिंह जैन, पं० मोतीलाल नेहरु, प० जवाहर लाल नेहरु, मौलाना अब्बुलकलाम आज़ाद, मौलाना मुहम्मदअली, शौकतअली, डाक्टर किचलू, डाक्टर सत्यपाल, छबीलदास, डा० गोपीचन्द भार्गव, लाला दुन्नीचन्द, मणिलाल कोठारी (जैन) आदि जो भी नेता यहाँ आते थे वे इस संस्था को राष्ट्रभावनाओं से परिपूर्ण पाकर बहुत प्रसन्न होते थे और पंजाब की एक महान राष्ट्र संस्था मानते थे। अपनी सम्मति संस्था की लागबुक में सन्हरी अक्षरों में अंकित करते थे।[1]

व्यायामशाला और सेवाकार्य शिक्षण—

विद्यार्थियों के स्वास्थ्य तथा स्फूर्ति कायम रखने केलिये व्यायाम, प्रातःकाल भ्रमण, ड्रिल तथा गदका-लाठी चलाने का प्रशिक्षण भी अनिवार्य था।

सेवाकार्यों केलिये स्काउट (बालचर) शिक्षण भी विद्यार्थियों को दिया जाता था प्रत्येक विद्यार्थी को परोपकार का कम से कम एक कार्य प्रतिदिन अवश्य करना पड़ता था।

इस प्रकार यह संस्था राष्ट्रीय तथा धार्मिक एवं व्यवहारिक शिक्षण का समन्वय बन गई थी। इसका प्रत्येक विद्यार्थी सादा, सरल, परिश्रमी, स्वावलबी, सच्चरित्र, सत्यवादी और सेवा भावी था। शिक्षा की दृष्टि से भी स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों से अधिक योग्य था। यह पंजाब की एक आदर्श संस्था मानी जाती थी।

1. खेद का विषय है कि वह लागबुक पाकिस्तान मे रह जाने से गुरुकुल का राष्ट्रसेवा सम्बन्धी वह उज्ज्वल इतिहास लुप्त हो गया है।

साहित्य मंदिर में विद्यार्थी—इस विभाग में सात विद्यार्थी थे—(१) हीरालाल दूगड़-गुजरांवाला निवासी (इस इतिहास ग्रंथ के लेखक) (२) कस्तूरीलाल दूगड़—कसूर निवासी (३) ईश्वरलाल बेगानी—मुलतान निवासी, (४) हंसराज नवल-पट्टी निवासी, (५) रामकुमार जैन-मक्खननगर जिला मेरठ निवासी, (६) मणिलाल श्रीमाली-राधनपुर (गुजरात) निवासी तथा (७) उम्मेदमल गुजराती।[1]

इन सात विद्यार्थियों ने ई० स० १९२४ में गुरुकुल में प्रवेश पाया और १९२९ ई० में यहाँ की स्नातक तथा न्यायतीर्थ (कलकत्ता) एवं जैनसिद्धांत, कर्मसिद्धान्त, (छह कर्मग्रंथ) न्याय आदि अनेक विषयों की परीक्षाएं तथा भारतवर्षीय जैन श्वेतांबर एज्युकेशन बोर्ड की अनेक परीक्षाएं उत्तीर्ण करके "**विद्याभूषण**" की उपाधि से अलंकृत होकर गुरुकुल के स्नातक रूप में विदा ली।

इसके बाद गुरुकुल को साहित्यमंदिर बन्द कर देना पड़ा। कारण यह था कि इस विभाग के लिये योग्यशिक्षण शास्त्रियों का सहयोग न मिल पाया। येनकेन प्रकारेण इसी प्रथम सत्र के विद्यार्थियों का शिक्षण पूरा हो पाया था।

विनय मंदिर (High School section) :—

इस विभाग में लगभग ८० विद्यार्थी थे और इन की पांच कक्षाएं थी। पृथ्वीराज—पट्टी, जगदीश मित्र—पट्टी, बनारसीदास-जालंधर, कस्तूरीलाल—पपनाखा, धनरूपमल—छोटी सादड़ी (मेवाड़), हज़ारीलाल, बसंतलाल, (राजस्थानी) शांतिलाल गुजराती आदि भारत के सब प्रांतों के जैन-जैनेतर विद्यार्थी इस सत्र में शिक्षा पाते थे।

यह विभाग गुरुकुल की समाप्ति तक किसी न किसी रूप में चालू रहा। पुराने विद्यार्थी पढ़ कर जाते रहे और नये प्रवेश पाते रहे और '**विनीत**" की उपाधि प्राप्त करके गुरुकुल से विदा लेते रहे।

(१) इन विद्यार्थियों में से बनारसीदास सुपुत्र ईश्वरदास खंडेलवाल जालंधर वाले, प्रफुल कुमार सुपुत्र मोतीलाल मुन्हानी गुजरांवाला निवासी ने भागवती दीक्षाएं ग्रहण की। नाम क्रमशः बलवन्तविजय और जितेन्द्रविजय हुआ। पृथ्वीराज पट्टी निवासी ने गुरुकूल में विनीत परीक्षा पास कर आगे बनारस जाकर हिन्दू विश्वविद्यालय में M. A. की डिग्री प्राप्त की।

जगदीशमित्र पट्टी वाले बालब्रह्मचारी, तपस्वी, सच्चरित्र, धार्मिकक्षेत्र में निःस्वार्थ सेवाओं में संलग्न हैं। इनके पूर्वज पं० अमीचन्दजी भी जैनागमों के विद्वान थे और साधु-साध्वियों को जैनदर्शन का अध्यापन कराते रहे हैं।

इस प्रकार इस संस्था से शिक्षण पाये हुए सब विद्यार्थी व्यापारिक, राजनैतिक, सरकारी नौकरी, शिक्षक, साहित्यसर्जन आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्यरत हैं।

संस्था की अपनी बिल्डिंग—

समाधि मंदिर में स्थापित हो जाने के बाद विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर दो एक वर्षों के बाद गुजरांवाला के नये रेलवे स्टेशन के पास एक किराये की बिल्डिंग में गुरुकुल का स्थान परिवर्तित कर दिया गया और पाकिस्तान बनने से कुछ वर्ष पहले श्री आत्मानन्द जैन भवन

---

1. नं० १ से ४ विद्यार्थी पंजाब के ओसवाल श्वेतांबर जैन, नं० ५ उत्तरप्रदेश का जैनब्राह्मण, नं० ६ गुजराती श्वेतांबर जैन तथा नं० ७ गुजराती स्थानकवासी थे।

(समाधिमंदिर) से दक्षिण की ओर लगभग दो मील की दूरी पर इसकी अपनी विशाल बिल्डिंग का निर्माण किया गया। स्कूल, छात्रालय, भोजनशाला तथा जैनमंदिर, उपाश्रय आदि सब विभाग इस बिल्डिंग में निर्माण किये गये। गुरुकुल को इस बिल्डिंग में स्थाई रूप से परिवर्तित कर दिया गया।

पश्चात् इसे हाईस्कूल में परिवर्तित करके पंजाब विश्वविद्यालय के अभ्यासक्रम के साथ जैन धर्म के शिक्षण की व्यवस्था भी कायम रखी गई। कुछ विद्यार्थी जो दूसरे नगरों के थे, वे गुरुकुल के छात्रालय में रहते थे। गुजरांवाला के विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिये आते थे फिर अपने घरों को चले जाते थे। शहर से विद्यार्थियों को लाने लेजाने का प्रबन्ध टाँगों का किया गया था क्योंकि गुरुकुल शहर से तीन-चार मील की दूरी पर था।

गुरुकुल के अंतिम प्रिंसिपल श्री रामरखामलजी तथा अधिष्ठाता लाला अनन्तराम दूगड़ एडवोकेट और मंत्री लाला जिनदासराय दूगड़ एडवोकेट थे।

इस प्रकार इस संस्था में अनेक उत्थान तथा पतन आते रहे और अन्त में पाकिस्तान बन जाने पर इस संस्था का अन्त हो गया। ई० सं० १६२४ से लेकर १६४७ तक यह संस्था २३ वर्ष की अपनी अल्प आयु पूरी करके समाप्त हो गई।

अधिष्ठाता बाबू कीर्तिप्रसाद (बाबा) जी तथा फूलचन्द हरिचन्द दोशी महुवाकर (गुरुजी) सुप्रिंटेन्डेंट गुरुकुल को पहले ही छोड़ चुके थे। फूलचन्दभाई (गुरुजी) के स्थान पर बाबू बंसीधर जी बी० ए० बी० टी० प्रिंसिपल के रूप में गुरुकुल में ई० स० १६२८ में आये। वे भी कुछ वर्षों के बाद चले गये और उन्होंने जोधपुर जाकर वहाँ एक आदर्श संस्था बालनिकेतन नाम की स्वतंत्र रूप से स्थापित की जिसमें विद्यार्थियों को शारीरिक दंड देना एकदम वर्जित था। आप वहाँ भाई जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। सारी स्टेट के बड़े-बड़े शिक्षणशास्त्री, आफ़िसर आदि आपकी सादगी, सेवाभाव तथा निर्भयता का लोहा मानते थे और आपको एक आदर्श शिक्षणशास्त्री मानते थे। आपका स्वर्गवास भी जोधपुर में ही हुआ। आप श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक बीसा श्रीमाल ज्ञातीय थे। और चरखीदादरी के रहने वाले थे। आपके सुपुत्र श्री धर्मवीरजी चरखीदादरी में डाक्टर हैं। और इसी गुरुकुल के विद्यार्थी हैं।

अतः श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब गुजरांवाला को स्वर्गवासी आत्मगुरु की भावना के अनुरूप उनके पट्टधर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने महासरस्वती मंदिर के रूप में स्थापित किया। इस संस्था ने अनेक आदर्श विद्यार्थी उत्पन्न किये जिनमें से अनेक जैनधर्म के श्रद्धालु, ज्ञानवान और चारित्र सम्पन्न होने के रूप में जैनशासन की सेवा में संलग्न हैं।

११. श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब (उत्तरी भारत)

स्थापना—श्री आत्मानन्द जैनसभा पंजाब के नाम से आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के वि० सं० १६५३ में स्वर्गवास हो जाने के बाद मुनि वल्लभविजय (आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि) जी ने गुजरांवाला में उसी वर्ष स्थापित कर दी थी। इसका दूसरा अधिवेशन वि० सं० १६५८ (ई० स० १६०१) में लाहौर में हुआ। इस प्रकार समय-समय पर इसके अनेक नगरों में सम्मेलन होते रहे। किन्तु विजयवल्लभ सूरि जी के पंजाब से विहार कर जाने से कई वर्षों तक पंजाब में न विचरणे के कारण एवं पंजाब में विचरणे वाले वृद्ध मुनिराजों के स्वर्गवास हो जाने पर इसका संगठन कायम न रह पाया।

सन् ईस्वी १९२१ में स्वर्गवासी उपाध्याय श्री सोहनविजय जी पंजाब पधारे। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी की स्वर्गवास तिथि ज्येष्ठ सुदि ८ को हर साल गुजरांवाला में उनके समाधि भवन पर एक उत्सव के रूप में मनाई जाती थी। गुरुदेव को श्रद्धाभेंट करने केलिये भक्तजन दूर-दूर से यहां आते थे। उपाध्याय जी अपने गुरु श्री विजयवल्लभ सूरि का सन्देश लेकर आये थे। जीरानिवासी लाला बाबूराम जी नौलखा एम ए. एल. एल. बी. प्लीडर के द्वारा भी आचार्य श्री ने बीकानेर से पंजाब श्रीसंघ को सन्देश भेजा कि पंजाब के भाई महासभा के रूप में अपना संगठन करें। उसी सम्मेलन में उपाध्याय जी ने समाज को जीवनीशक्ति का मंत्र बतलाया और अपने व्याख्यान में इस बात पर विशेष जोर दिया कि समाज की बिखरी हुई शक्ति एक जगह एकत्रित हो। जैनसमाज में ओसवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल आदि जातिभेद का मूलोच्छेद हो। फलतः गुजरांवाला की तीर्थभूमि में ही १९ सितम्बर १९२१ ई० को इस महान् संस्था का श्रीगणेश हुआ और लाहौर निवासी लाला मोतीलाल जौहरी (मोतीलाल बनारसीदास ओरियंटल पुस्तक प्रकाशक फर्म के मालिक) इसके सर्वप्रथम सभापति निर्वाचित हुए। उसी समय पंजाब के प्रत्येक नगर में सभाओं को स्थापित करके उन्हें महासभा के माध्यम से संगठित करने का निश्चय किया गया।

इसी अधिवेशन में पंजाब श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनसंघ ने ओसवाल, खंडेलवाल आदि जातिभेद को समाप्त करके सब जैनों में बिना किसी भेदभाव के रोटी-बेटी व्यवहार चालू करने का सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित कर दिया। यह प्रस्ताव मात्र कागज़ के पृष्ठों पर ही न लिखा रह जावे इसलिये इसी अधिवेशन में खंडेलवाल लाला गोपीचन्द जी रहीस सनखतरा निवासी ने अपनी पुत्री सौ० प्रसीनीदेवी का रिश्ता अपने सुपुत्र बाबू भोलानाथ की प्रेरणा से गुजरांवाला निवासी लाला बूटामल लोढा के सुपुत्र बिहारीलाल के साथ कर दिया और बिहारीलाल ने अपनी बहन त्रिलोकसुन्दरी का रिश्ता लाला अनन्तराम के सुपुत्र कपूरचन्द खंडेलवाल सनखतरा वाले के साथ कर दिया।[1] अधिवेशन समाप्त हो जाने के बाद कुछ पुराने रूढिवादियों ने बाबू भोलानाथ को उनके परिवार सहित अपनी समाज से इस रिश्ते के कारण बहिष्कार कर देने के लिये बड़ी उछलकूद की, परन्तु उनका कुछ जोर न चल पाया। विजय भोलानाथ की हुई, जिससे इस क्रांतिकारी समयोपयोगी कार्य के लिये विजेता सेनानी के रूप में समाज को रीढ़ की हड्डी के समान जोड़ने में वे अमर कीर्तिमान हो गये।

हर्ष का विषय है कि आज पंजाब जैनसंघ में दसा-बीसा, ओसवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल, पोरवाड़, दिगम्बर, श्वेतांबर, स्थानकवासी, तेरापंथ आदि में आपसी विवाह शादी के रिश्ते नातों की बाधक सब दीवारें ढह चुकी है और बिना किसी भेदभाव के आपस में दूध और शक्कर की तरह एक रूप होकर सामाजिक संगठन उभर चुका है।

इस सामाजिक संगठन का पूरा-पूरा श्रेय उपाध्याय श्री सोहनविजय जी तथा बाबू भोलानाथ जी खंडेलवाल श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक समाज के वीर सेनानियों को ही है कि जिन दोनों महान वीरों ने रूढ़िवादियों की आलोचनाओं और धमकियों की परवाह न करते हुए दृढ़ संकल्प रहे।

अधिवेशन—आगामी वर्ष इसका अधिवेशन अम्बाला शहर में हुआ। इसमें महासभा का

1. इससे पहले खंडेलवाल, ओसवाल, अग्रवाल अपनी-अपनी जाति में ही विवाह शादी करते थे।

संक्षिप्त विधान बनाया गया और सके ध्येय निश्चित किये गये। इस समय छोटी सी पंजाब श्वेतांबर जैनसमाज के ७१६ वयस्क इस संस्था के सदस्य बन गये। ये ४७ भिन्न-भिन्न नगरों के थे। जो पंजाब के अतिरिक्त सीमाप्रांत, हिमाचल, काश्मीर, हरियाणा, उत्तरप्रदेश आदि प्रांतों से भी सम्बन्ध रखते थे। इस प्रकार आज तक इसके अनेक अधिवेशन होते रहे हैं और जैनसमाज में धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक प्रगति और सुधार के लिये अनेक उपयोगी प्रस्ताव पारित करके कार्यान्वित किये। राजनैतिक गुत्थियों को निपटाने केलिये इस महान संस्था ने बहुत उपयोगी सहयोग दिया।

शिक्षाप्रचार—महासभा ने योजना बनाई कि पंजाब में श्वेतांबर जैन समाज की जितनी भी शिक्षणसंस्थाएं हैं उनको संगठित करने केलिये एक पंजाब जैनशिक्षा बोर्ड बनाया जावे परन्तु उसमें महासभा को सफलता प्राप्त न हो पाई। फिर भी सब शिक्षण संस्थाओं केलिये महासभा का सहयोग सदा कायम रहा और है। अनेक साधनहीन विद्यार्थियों को स्कालरशिप देकर उच्चशिक्षण पाने में सहयोग दिया। जो आज भी बड़ी-बड़ी उच्च श्रेणियों के विद्वान एवं व्यवसायी है।

पत्र-पत्रिका—प्रारंभ में आर्थिक कठिनाइयो के कारण महासभा अपना स्वतंत्र पत्र न निकाल सकी। पर मेरठ से निकलने वाले पत्र **देशभक्त** और फ़रीदकोट से निकलने वाले मासिक पत्र उर्दू "**आफ़ताब जैन**" से महासभा का सम्बन्ध रहा। फिर श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल, श्री आत्मानन्द जैन सभा अंबाला तथा महासभा ने संयुक्त रूप से अंबाला से "**आत्मानन्द**" नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना चालू किया और अन्त में महासभा ने '**विजयानन्द**" नाम से अपना स्वतंत्र मासिक पत्र चालू किया जो आज तक नियमित रूप से बराबर प्रकाशित हो रहा है।

साहित्यक और सांस्कृतिक—भारतवर्ष के इतिहास में अनेक पुस्तकों में जैनधर्म व दर्शन के सम्बन्ध में भ्रात उल्लेख किये जाते है। महासभा ने उन लेखो को शुद्ध कराने के प्रयास किये। श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के उर्दू हिन्दी में जीवनचरित्र प्रकाशित किये। जैन विवाहपद्धति, अनेकांतवाद, मूर्तिपूजा आदि पर ग्रंथ लिखवाये गये और उनका प्रचार किया गया। श्री कल्पसूत्र हिन्दी मे प्रकाशित किया गया, ताकि आबालवृद्ध उसको पढ़कर लाभ उठा सकें। इनके बाद भी आज तक महासभा ने अट्ठाई व्याख्यानादि कई ग्रंथ प्रकाशित किये हैं।

हस्तलिखित ग्रथों की सूची—पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर को सहयोग देकर पंजाब के कुछ हस्तलिखित जैनभंडारों के ग्रंथों की सूची प्रकाशित कराई गई, जिससे भारतीय साहित्य के अनुसंधान में पर्याप्त सहायता मिली।

जैनमंदिरों की व्यवस्था में योगदान—भेरा, राहों, वैरोवाल व किलासोभासिंह आदि मंदिरों की जहां जैनों की बस्ती एकदम नही रही थी, उनकी समुचित व्यवस्था की। गिरनार तीर्थ की सहायता केलिये निधि एकत्रित करके भेजी। शत्रुंजयतीर्थ पर पालीताणा के ठाकुर की ओर से किये जानेवाले अन्याय का विरोध किया गया। कांगड़ा के किला में विराजमान भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा की हो रही अशातना को रोकने और जैनपद्धति के अनुसार उसकी पूजा के किये जाने की व्यवस्था में महासभा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

जनकल्याण के सार्वजनिक कार्य—इस संस्था ने पीड़ित मानवता की पुकार को भी सुना। सन् ईस्वी १९२४ व १९२६ में कई प्रांतों में बाढ़ के कारण घोर आपत्ति आ पड़ी थी। महासभा ने हजारों रुपये का फ़ंड एकत्रित करके वहाँ भेजा। १९२६ ईस्वी में कालाबाग़ (सीमाप्रांत) में भयंकर आग लगी थी, उस समय विपद्ग्रस्तों की आर्थिक सहायता की गयी। स० ई० १९४२ में बंगाल के पीड़ितों की सहायतार्थ भी महासभा ने अनाज, वस्त्र तथा नकद रुपये भेजे थे। धार्मिक स्थानों में खद्दर पहनकर जाने का भी समाज से अनुरोध किया गया था। वाराणसी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना केलिये धन एकत्र करके महामना मालवीय जी को भिजवाया था।

समाज सुधार सामाजिक कुरीतियों और फ़िज़ूलख़र्चियों के विरुद्ध महासभा अपने जन्म-काल से ही आन्दोलन करती आ रही है। खुले अधिवेशनों में इन कुरीतियों और फ़िज़ूलख़र्चियों को हटाने केलिये प्रस्ताव भी पारित करती आ रही है और उनपर आचरण करने केलिये भी सदा जागरूक रही है। फलतः महासभा ने विवाह-बारात, दहेज आदि के सम्बन्ध में कई नियम बनाये। जो समयानुकूल थे और अपव्यय को रोकने वाले थे। सामाजिक एकता को दृढ़ बनाने केलिये सदा सफल प्रयास होते रहे। पाकिस्तान बनने से पहले ई० स० १९४७ तक महासभा की प्रायः यही मुख्य प्रवृत्तियाँ रहीं।

स्वतंत्र भारत में

अगस्त १९४७ ई० के बाद महासभा का कार्यालय पहले जालंधर शहर में, फिर अंबाला शहर में स्थापित हुआ। १९५४ ई० तक महासभा का सर्वसाधारण अधिवेशन नहीं हो सका। कारण यह था कि पंजाब के विभाजन के फलस्वरूप आबादी का जो तबादला ज़बरदस्ती जनता को स्वीकार करना पड़ा, उसके प्रभाव से जैन समाज भी अछूता नहीं रहा। हमारे कई परिवार मां की गोद से भी अधिक प्यारी मातृभूमि को छोड़ कर दूर-दूर के राज्यों—तथा बम्बई, मध्यभारत, गुजरात, बंगाल, उत्तरप्रदेश आदि में चले गये। कठिनाइयों व बाधाओं का धैर्यपूर्वक मुकाबिला करते हुए उन्होंने धीरे-धीरे अपने पुरुषार्थ से अपने-आप को पुनः स्थापित होने में समय व्यतीत किया।

परन्तु इन दिनों विद्यार्थियों की सहायता का कार्य तो अवश्य जारी रहा। पालीताणा में पंजाबी जैन धर्मशाला के निर्माण के लिये आर्थिक सहयोग दिया गया।

शिक्षण संस्थाओं को ऋणदान—श्री आत्मानन्द जैन डिग्री कालेज अम्बाला शहर तथा श्री आत्मानन्द जैन हाई स्कूल मालेरकोटला को ऋण के रूप में आर्थिक सहायता दी गई।

कांगड़ा का वार्षिक अधिवेशन (१९५४ ई०)

देश विभाजन के बाद पहली बार कांगड़ा के ऐतिहासिक स्थान पर जहां आज भी वहां के किले के अन्दर एक जैनश्वेतांबर प्राचीन जैनमंदिर है जिसमें अतिभव्य और चमत्कारी श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) की विशाल प्रतिमा विराजमान है। भारत के बिखरे हुए गुरु आत्म और वल्लभ के भक्तों का १८, १९ मार्च १९५४ ई० को जीरानिवासी लाला बाबूराम नौलखा जैन एम. ए. एल. एल बी. प्लीडर की प्रधानता में सम्मेलन हुआ।

गुरु वल्लभ स्मारक—कलिकाल कल्पतरु, अज्ञान-तिमिर-तरणी, पंजाब केसरी, आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि का २१ सितम्बर १९५४ ई० को बम्बई में स्वर्गवास हो गया। गुरुदेव को

श्रद्धांजलि देने के लिये महासभा का विशेष अधिवेशन अंबाला शहर में बुलाया गया। इस अधिवेशन में सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने दृढ़ निश्चय किया कि गुरुदेव की पवित्र स्मृति को अमर बनाने के लिये उनका एक भव्य स्मारक बनाया जावे। जो देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक सेवा कर सके। (इस स्मारक का दिल्ली में २९ नवम्बर १९७९ ई० को शिलान्यास हुआ है)।

नवीन प्रकाशन—स्वर्गवासी आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने श्री विजयानन्द सूरि का प्रमाणिक जीवनचरित्र लिखा था। उसका प्रकाशन किया गया। हमारी समाज के वर्तमान के मूर्धन्य विद्वान श्री हीरालाल जी दूगड़ द्वारा लिखित निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान महावीर तथा मांसाहार परिहार व सद्धर्मसंरक्षक पूज्य बूटेराय (बुद्धिविजय) जी और उनके पांच मुख्य शिष्यों के जीवन-चरित्रों को प्रकाशन करने का गौरव भी महासभा को प्राप्त हुआ है।

महासभा के अन्य वार्षिक अधिवेशन—ई० स० १९५५ में मालेरकोटला में, १९५९ में लुधियाना में, तथा इसके बाद चंडीगढ़ आदि नगरों में अनेक अधिवेशन होते रहे हैं।

भारतवर्षीय श्वेतांबर जैन कान्फरेन्स का लुधियाना में अधिवेशन—मई १९६० में लुधियाना में उपर्युक्त कान्फ्रेन्स का अधिवेशन कराया गया। इसके प्रधान श्रीयुत नरेन्द्रसिंह जी सिंघी कलकत्ता निवासी थे। भारत के मुख्य-मुख्य नगरों के प्रतिनिधि तथा सारे पंजाब के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे। साधु-साध्वियां भी इस अधिवेशन में पधारे थे। अधिवेशन बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

महासभा ने ई० स० १९६१ (वि० सं० २०१८) में पंजाब-हरियाणा के श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनों ने अधिकृत सब नगरों के हस्तलिखित शास्त्र भण्डारों तथा पाकिस्तान के गुजरांवाला नगर से आए हुए शास्त्रभण्डार के शास्त्रो का दिल्ली में संग्रहकर श्री वल्लभस्मारक के आधीन एक बृहत् शास्त्रभण्डार की स्थापना की। जिसका सूचीकरण श्री हीरालाल जी दूगड़ शास्त्री से कराया। आज यह शास्त्रभण्डार रूपनगर दिल्ली के श्वेतांबर जैनमन्दिर में तालों में बन्द पड़ा है।

यह महासभा पंजाब के श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजकों की एक मात्र प्रतिनिधि सभा है। गुरुवर्य विजयानन्द और विजयवल्लभ के पदचिन्हों पर चलती हुई यह संस्था जिनशासन की सेवा केलिए सदा प्रयत्नशील रही है। इसका अतीत गौरव पूर्ण है, वर्तमान उत्साह रूप है और भविष्य उज्ज्वल है।

वर्तमान में महासभा का कार्यालय लुधियाना पंजाब में है इसके प्रधान लाला धर्मपाल जी ओसवाल लुधियाना वाले तथा महामन्त्री लाला बलदेवराज दुग्गड़ लुधियाना निवासी है। इसका मासिक पत्र "**विजयानन्द**" आजकल लुधियाना से प्रकाशित हो रहा है और इसके संपादक उत्साही युवक लाला पार्श्वदास जी जैन (मालिक फर्म वी० के० जैन होजरी वाले) निःशुल्क सेवा कर रहे हैं।

१२-पंजाब में जैनसाहित्य रचना

अनुक्रम	नाम ग्रंथ	रचयिता का नाम	वि० सं० स्थान
१.	कल्पसूत्र स्तबक (कमलकीर्ति)	कल्याणलाभ	१७०१ मरोट
२.	आगमसार	देवचन्द्रोपाध्याय	१७७६ मरोट
३.	नवतत्त्व प्रकरण भाषाबंध	लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय	१७४७ हिसार
४.	सम्यक्त्व सप्तति टीका	संघतिलक सूरि	१४२२ सिरसा
५.	उपदेश सप्ततिका स्वपज्ञ टीका सह	क्षेमराज P/सोमध्वज	१५४७ हिसार
६.	जैनप्रबोध प्रकरण भाषा	विद्याकीर्ति P/जिनतिलक	१५०५ हिसार
७.	रूपकमाला टीका	चरित्रसिंह P/मतिभद्र	१६४६ अंबाला
८	अष्टोत्तरी स्नात्र विधि	जयसोमोपाध्याय	१७वीं शती लाहौर
९.	आचार दिनकर	वर्द्धमान सूरि	१४६८ नंदनपुर (नादौन)
१०.	प्रश्नोत्तर	जयसोमोपाध्याय	१७वीं शती लाहौर
११.	श्रावक आराधना	समयसुन्दरोपाध्याय	१६६७ उच्चनगर
१२.	प्रश्नप्रबोध काव्यालंकार (स्वपज्ञ टीकासह)	विनयसागर P/सुमति कलश	१६६७ दिल्ली
१३.	विज्ञप्ति त्रिवेणि	जयसागरोपाध्याय	१४८४ मल्लिकवाहन
१४.	कथाकोष	समयसुंदरोपाध्याय	१६६७ मरोट
१५.	विविध तीर्थकल्प	जिनप्रभ सूरि P/ जिनसिंह सूरि	१३८९ दिल्ली
१६.	सारंगधर चौपाई (वैद्यविनोद)	रामचंद्र P/पद्मरंग	१७२६ मरोट
१७.	अनिटकारिका प्रवचूरि	क्षमामाणिक्य	१९वीं शती जालंधर
१८.	कातंत्रविभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ सूरि P/ जिनसिंह सूरि	१३५५ दिल्ली
१९.	कवि विनोद	मान P/सुमतिमेरु	१७४५ लाहौर
२०.	चमत्कार चिंतामणि स्तबक	मतिसार	१८वीं शती फ़रीदकोट
२१.	अमरसेन वयरसेन चौपाई	धर्मवर्धन P/विजयहर्ष	१७२४ सिरसा
२२.	आत्मकरणी संवाद	जिनसमुद्र सूरि P/ जिनचंद्र सूरि	१७११ मुलतान
२३.	आरामनन्दन पद्मावती चौपाई	दयासागर P/धर्मकीर्ति	१७०४ मुलतान
२४.	आरामशोभा चौपाई	दयासागर P/धर्मकीर्ति	१७०४ मुलतान
२५.	आषाढ़भूति प्रबन्ध	साधुकीर्ति P/ अमरमाणिक्य	१६२४ दिल्ली
२६.	ऋषिदत्ता चौपाई	ज्ञानचन्द्र P/सुमतिसागर	१७वीं शती मुलतान
२७.	कुर्मापुत्र चौपाई	जयनिधान P/रामचंद्र	१६७२ देराउर

२८.	क्षुल्लककुमार प्रबन्ध	पद्मराज P/ पुण्यसागरोपाध्याय	१६६७ मुलतान
२९	चन्दन मलयगिरि चौपाई	कल्याणकलश	१६६३ मरोट
३०.	चन्दन मलयगिरि चौपाई	क्षेमहर्ष P/विशालकीर्ति	१७०४ मरोट
३१.	चम्पक चौपाई	रंगप्रमोद P/ज्ञानचन्द्र	१७१५ मुलतान
३२.	चित्रलेखा चौपाई	दयासागर P/जीवराज	१६९९ दिल्ली
३३.	जम्बुस्वामी चौपाई	सुमतिरंग P/चन्द्रकीर्ति	१७२९ मुलतान
३४.	जम्बुस्वामी चौपाई	पद्मचन्द्र P/पद्मरंग	१७१४ सिरसा
३५.	ज्ञानकला चौपाई	सुमतिरंग P/चन्द्रकीर्ति	१७२२ मुलतान
३६.	दयादीपिका चौपाई	धर्ममंदिर P/दयाकुशल	१७४० मुलतान
३७.	देवराज वच्छराज चौपाई	परमानन्द P/जीवसुंदर	१६७५ मरोट
३८.	ध्यानदीपिका चौपाई	देवचन्द्रोपाध्याय P/दीपचंद	१७६६ मुलतान
३९.	धर्मबुद्धि पापबुद्धि रास	लाभवर्द्धन P/शांतिहर्ष	१७४२ सिरसा
४०.	नेमिनाथ विवाहलो	महिमसुन्दर P/साधुकीर्ति	१६६५ सरस्वतीपत्तन
४१.	मंगलकलश रास	कनकसोम	१६४९ मुलतान
४२	मतिसागर चौपाई	विद्याकीर्ति P/पुण्यतिलक	१६७३ सिरसा
४३.	मृगापुत्र चौपाई	लक्ष्मीप्रभ P/कनकसोम	१६७७ मुलतान
४४.	मृगावती रास	समयसुन्दरोपाध्याय	१६६८ मुलतान
४५.	मैतार्य मुनि चौपाई	अमरविजय P/उदयतिलक	१७८६ सिरसा
४६.	श्री कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तन (काव्य)	जयसोमोपाध्याय	१६५० लाहौर
४७	मोहविवेक रास	धर्ममदिर P/दयाकुशल	१७४१ मुलतान
४८	मोहविवेक रास	सुमतिरंग P/चन्द्रकीर्ति	१७२२ मुलतान
४९.	रत्नकुमार चतुष्पदिका	सुमतिकल्लोल	१६७९ मुलतान
५०.	शील रास	सिद्धिविलास P/सिद्धिवर्धन	१८१० लाहौर
५१	देवराज चौपाई	विनयलाभ P/विनयप्रमोद	१७३० मुलतान
५२	विजयसेठ विजया प्रबन्ध	ज्ञानमेरु P/महिमसुंदर	१६६५ सिरसा
५३.	विजयसेठ चौपाई	राजहंस P/कमललाभ	१६८२ मुलतान
५४.	विद्याविलास रास	जिनहर्ष P/शांतिहर्ष	१७११ सिरसा
५५.	सुदर्शनसेठ चौपाई	अमरविजय P/उदयतिलक	१८वीं शती नापासर
५६.	सुप्रतिष्ठ चौपाई	अमरविजय P/उदयतिलक	१७९४ मरोट
५७.	सुरप्रिय रास	जयनिधान P/रामचन्द्र	१६६५ मुलतान
५८.	हंसराज वच्छराज प्रबन्ध	विनयमेरु P/हेमधर्म	१६६९ लाहौर
५९.	हरिकेशी सधी	सुमतिरंग P/कनककीर्ति	१७२७ मुलतान
६०.	हरिबल चौपाई	पुण्यहर्ष P/ललितकीर्ति	१७३५ सिरसा
६१.	जैनसार बावनी	रघुपति P/विद्यानिधान	१८०२ नाणसर

६२. षट्दर्शन समुच्चय की टीका	सोमतिलक सूरि	१३९२ आदित्य वर्धनपुर
६३. लघुस्तव की टीका	सोमतिलक सूरि	१३९७ घृतघटीपुर
६४. टीका शीलतरंगिणी	सोमतिलक सूरि	१३९४ —
६५. भक्तामर की टीका	गुणाकर सूरि	१४२१ सरस्वतीपत्तनपुर
६६ करणराज गणित	मुनिसुन्दर	१६५५ विद्यापुर
६७. गुणरत्न प्रकाशिका	गुणविलास	१७७२ लाहौर
६८. रसिक प्रिया	कवि समरथ	१७५५ जालिपुर
६९. कृपारस कोश	शांतिचन्द्रोपाध्याय	१६४० लाहौर
७०. विनयन्धर चारित्र	शीलदेव सूरि (बड़गच्छ)	१६६४ सिरसा
७१. दुर्जनसाल बावनी	कवि कृष्णदास	१६५१ लाहौर
७२. अध्यात्म बावनी	कवि कृष्णदास	१६५१ लाहौर
७३. दानादि रास	कवि कृष्णदास	१६५१ लाहौर
७४. लगभग ३० ग्रंथ	भगवतीदास	१७०० अंबाला
७५. गोरा-बादल	जटमल नाहर	१६८० लाहौर
७६. लाहौर गजल	जटमल नाहर	१६८० लाहौर
७७. प्रेमविलास	जटमल नाहर	१६८० लाहौर
७८. त्रिलोक दर्पण	खड़गसेन	१७१३ लाहौर
७९. गगनिदान (वैद्यक)	गंग यति	१८७२ अमृतसर
८०. ज्ञानप्रकाश	यति नंदलाल	१९०६ कपूरथला
८१. अनेक ग्रंथो की रचनाएं	कवि मेघराज यति	१८०७ से १८७५ फगवाड़ा
८२. मोहनविलास	कवि मोहन	— गुजरांवाला
८३. सैकड़ों कविताएं	कवि खुशीराम दुग्गड़	१९२७ से १९८० गुजरांवाला
८४ लगभग ४० ग्रंथों की रचना	कवि माल (बड़गच्छ)	१७वीं शती सिरसा
८५. चार रचनाएं	कवि हरजसराय ओसवाल	१८६४ कसूर
८६. शत्रुघ्न मुनि चरित्र	यति नंदलाल ऋषि	१८९९ फ़रीदकोट
८७. भीमकुमार चौपाई	यति नन्दलाल ऋषि	१९०१ होशियारपुर
८८. विष्णुकुमार चौपाई	यति नन्दलाल ऋषि	१८७८ होशियारपुर
८९ गोपीचन्द कथा	यति करतारदास ऋषि	१९वीं शती —
९०. सुदर्शनसेठ कथा	यति दीपचन्द ऋषि	— —
९१. खंदक मुनि सज्झाय	यति संतोषऋषि	१८०० सुनाम
९२. नेमि राजुल सज्झाय	यति संतोषऋषि	१८०० सुनाम
९३. देवकी ढाल	यति उत्तमऋषि	१९२२ जम्मू
९४. गुरु आत्माराम स्वर्गगमन वर्णन	कवि खुशीराम दुग्गड़	१९५३ गुजरांवाला
९५. कालिकाचार्य कथा	यति रूपदेव (बृहत्तपा)	१९०७ राजपुरा

९६. गंडारूयान कथानकम्	यति गुरुदास ऋषि	१६१७ पिपनाखा
९७ नवतत्त्व विचारणा	मुनि श्री बूटेराय (बुद्धिविजय)	१८९४ अंबाला
९८. मंडलविचार कुलक	मुनि विनयकुशल (तपा)	१६५२ मुलतान
९९. ग्रढीद्वीप का विचार	लाला धर्मयश दुग्गड़	१८८७ गुजरांवाला
१००. द्रव्य प्रकाश	मुनि देवचन्द्र	१७६८ मुलतान
१०१. थविरावली	यति भवानीदास	— —
१०२. राजु पचीसी	ग्रानन्दचन्द्र विनोदी	— सुनाम
१०३. मोह विवेक संबंध	समयकीर्ति वाचक	१८२२ मुलतान
१०४. मेघविनोद	यति रामचन्द्र	१७२० बन्नु
१०५. रामविनोद	यति रामचन्द्र	१७२२ सक्कीशहर (कालाबाग)
१०६. वैद्यसंजीवन (लोलमराज)	यति गंग	१८७२ ग्रमृतसर
१०७. वैद्यमनोज्ञ	नयनसुख	१६४९ सिरहंद
१०८. निदानप्रकाश	यति गंग	१८७२ तिरहरद नगर
१०९. चिकित्सा शास्त्र	यति रामाऋषि	१९०० जंडियाला गुरु
११०. मेघकुमार गीतं	कीर्तिवर्धन	१७४२ सिरसा
१११. दयाधर्म बारहमासा	कवि शेरुराम	१९३२ लुधियाना
११२. पंजाब के मंदिरों ग्रादि की कवितामय ऐतिहासिक रचनाएं	कवि चन्दूलाल	१९५० मालेरकोटला
११३. मांसाहार विचार	ईश्वरलाल बेगानी	१९९० मुलतान
११४. भगवान महावीर ग्रौर महात्मा गांधी	प्रो० पृथ्वीराज मुन्हानी	२०१० अंबाला
११५ सुन्दरविलास	कवि सुन्दरदास	२०वी शती जीरा
११६. ग्रात्मचरित्र	बाबूराम नौलखा प्लीडर	२०वी शती जीरा
११७ ज्ञानप्रकाश	यति नन्दलाल ऋषि	१९०९ कपूरथला
११८. कर्मछत्रीसी	समयसुन्दरोपाध्याय	१६६८ मुलतान

उपर्युक्त ग्रंथरचना की तालिका से यह स्पष्ट है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी से पहले की दो-चार रचनाओं को छोड़कर पंजाब-सिन्ध ग्रादि उत्तरभारत में की गई रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं। कारण यह है कि यहां के ग्रंथभंडारों, स्मारकों, मंदिरों, मूर्तियों ग्रादि को पंजाब में विदेशियों के लगातार ग्राक्रमणों के कारण नष्ट-भ्रष्ट किया जाता रहा है। १७ वीं शताब्दी से बीसवी शताब्दी की प्राप्त रचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि खरतरगच्छीय साधुओं का विहार सिन्ध में प्रायः मुलतान तक ही रहा है। यदि कोई एक पंजाब में ग्राये भी हैं तो मात्र कांगड़ा की यात्रा निमित्त ग्रथवा जिनचन्द्र सूरि मुग़ल सम्राट के साथ साक्षात्कार करने केलिये लाहौर में ग्राये है। पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, सीमाप्रांत, ग्रादि क्षेत्रों में इन के ग्रावागमन के प्रमाण

अभी तक दो-चार मात्र मिले हैं। यद्यपि पंजाब के ग्रंथभंडारों में इस जनपद में रचित ग्रंथों का अभाव है तथापि श्री अगरचन्द नाहटा ने मणिधारी जिनचन्द्रसूरि अष्टमशताब्दी समारिका में खरतरगच्छीय साधुओं के ग्रंथों की रचनाओं का विवरण दिया है। उस में मात्र पंजाब के ग्रंथभंडारों से ही नहीं, पर भारत के जहाँ-जहाँ के ग्रंथभंडारों में सुरक्षित ग्रंथ मिल पाये हैं उन सब की सूची दी है। इस सूची में पंजाब के लाहौर नगर में रचित कुछ ग्रंथों का भी उल्लेख किया है—जो अकबर और शाहजहाँ के समकालीन हैं। पंजाब में की गई ग्रंथों की पांडुलिपियां भी करने की तालिका जो हम आगे देंगे उस से भी खरतरगच्छ के पंजाब में प्रभाव की पुष्टि नहीं होती। इस क्षेत्र में निर्ग्रंथ गच्छ, कोटिक गण, उच्चनागरी शाखा, अटनेरा गच्छ, वणवासी गच्छ, पार्श्वनाथ संतानीय उपकेश गच्छ, गंधारा गच्छ, कोठीपुरा गच्छ, सोपारिया गच्छ, सालकोटिया गच्छ, कोरंटिया गच्छ, जांगला गच्छ, बड़ गच्छ, नगरकोटिया गच्छ, हिसारिया गच्छ, कंबोजा गच्छ, पश्चात् तपागच्छ तथा लोंकागच्छ एवं ढूंढक मत का प्रभाव रहा। ऐसा अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है।

पंजाब-सिन्ध में दिगम्बर मत के प्रचार और प्रसार के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उन के साहित्य, पट्टावलियों, भट्टारक गद्दियों, इस मत के साधु-आर्यिकाओं के आवागमन, अथवा इतिहास के पृष्ठों एवं पुरातत्त्व सामग्री से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि दिगम्बर मत का प्रचार इन जनपदों में था।

यद्यपि सिकन्दर महान आदि यूनानियों के भारत पर आक्रमण के समय यूनानी लेखकों के विवरणों से दिगम्बर लेखक अथवा कतिपय पाश्चात्य विद्वान जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त शब्दों का अर्थ दिगम्बर साधु और क्षुल्लकादि का करके यह सिद्ध करने की असफल चेष्टा करते हैं कि उस समय यहां दिगम्बर मत के त्यागी साधुसंत थे। जैन साधु के लिये जहाँ निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग मिलता है वहाँ इस का नंगा साधु अर्थ करके और श्वेत वस्त्रधारी साधु का क्षुल्लक अर्थ करके सदा इनका प्रयास रहता है कि इन्हें दिगम्बर मतानुयायी सिद्ध किया जावे। निर्ग्रंथ दो शब्दों= नि:+ग्रंथ से निष्पन्न हुआ है। जिस का अर्थ है—ग्रंथ (गांठ) बिना। परन्तु ग्रंथ का वस्त्र अर्थ कदापि नहीं होता। नंगा तो वस्त्र रहित होता है। इस की चर्चा आगे करेंगे।

१३. पंजाब में जैनग्रन्थ लिपिकार

अनु० ग्रंथ नाम	लिपिकार	समय वि० सं०	स्थल
१. आचारांग	मुनि दानीराम	१८३५ चैत्र सु० ११	जगरावां
२. आचारांग	लालजी ऋषि	१७७१ अश्विन व० १२	कसूर
३. आचारांग टब्बा	नागरऋषि	१६५१ जेठ सु० ६	सुनाम
४. आचारांग सुखावबोध	दानाऋषि	१७५८ भादों व० ६	रावलपिंडी
५. सूयगडांग बालावबोध	श्रावक जयदयाल बरड़	१६२०	गुजरांवाला
६. सूयगडांग टबा	यति दयाहेम	१८५१ जेठ व० ११	मालेरकोटला
७ सूयगडांग बालावबोध	बूला ऋषि	१७१७ वै० व० १	सामाना
८. सूयगडांग टबा	पूज्य माणेकऋषि	१८६५ का० सु० ७	बलाचौर

९. ठाणांग	गुसाईं गंडामल	१६०६ का० व० ५	रामनगर
१०. ठाणांग वृत्ति	मुनि विशनचंद (लक्ष्मी विजय)	१६२८	—
११. ठाणांग टबा	पूज्य रामाऋषि	१८६६ फा० सु० ३	जंडियाला गुरु
१२. समवायांग	मुनि श्री आत्माराम (विजयानन्द सूरि)	१६१५ वै० व० ६	—
१३. समवायांग टबा	गुरुदासऋषि	१८४८ आसो० सु० ८	अमृतसर
१४. समवायांग	पं० गोकलचन्द	१८३६ प्र०सा०सु० ६	फ़रीदकोट
१५ समवायांग बालावबोध	गुसाईं अमरदास	१६०५ आसो० सु० ५	रामनगर
१६ भगवतीसूत्र टबा	मुनि रत्नचन्द	१८७६	नारनौल
१७. भगवती टबा	ढूंढाराम	१८७४ वै० व० ८	जींद
१८. भगवती टबा	गोविन्द ओसवाल	१६२० भा० व० ११	हयवतपुर (पट्टी)
१६. भगवती	अज्ञात	१६०१ का० व० ७	गजपुर (हस्तिनापुर)
२०. ज्ञाताधर्म कथांग	श्रावक मदरु कंबो	१७४२ श्रा० व० ६	पीपापुर (पपनाखा)
२१. ज्ञाताधर्मकथांग टबा	श्री ज्ञानप्रमोद	१८४२ आसो० व० २	फ़रीदकोट
२२. उपासकदशांग	माणेक ऋषि	१८६८ आसो० सु० ११	साढौरा
२३. उपासकदशांग	नानकऋषि	१६०५ वै० सु० ६	स्थानिस्वरु (थानेसर)
२४. उपासकदशांग मूल	खिल्लू ऋषि	१६४५ आसो० सु० १३	कसूरकोट
२५. अंतकृतदशांग	साधु राधाकृष्ण	१६१३ का० व० ११	स्यालकोट
२६. अंतकृतदशांग टबा	पं० हरिवर्धन मुनि	१७१८ का० व० ५	सिंधुदेशे कटोहर नगरे
२७. अंतकृतदशांग	धर्मदासऋषि	१६६४ आसो० व० १४	बोध्याना
२८. अनुत्तरोपपातिक टबा	आर्या धर्मो	१७४६	होशियारपुर
२६. अनुत्तरोपपातिक टबा	सलामतराय मुनि	१६२८	फिरोजपुर
३०. प्रश्नव्याकरण	श्रीलाल ऋषि	१६३६ जे० व० ६	लाहौर
३१. प्रश्नव्याकरण	खुशालहेम (खरतर)	१८२२ आसो० व० १	कोटकपूरा
३२. विपाकसूत्र टबा	उत्तमऋषि	१६२४ श्रावण	जालंधर
३३. विपाकसूत्र टबा	वीरु ऋषि	१६११ आसो० व० १४	अंबाला
३४. विपाकसूत्र	ऋषि मोतीचन्द	१८५८ का० सु० ११	करनाल
३५. औपपातिक टबा	मल्लाऋषि	१७४७ आसो० व० १	नगरकोट (कांगड़ा)

३६. औपपातिक	शिवदास ऋषि	१६६५ आसो० व० १२	रुक्तास
३७. औपपातिक टबा	यति रूपदेव (बृहत्तपा)	१८६३ फा० व० ६	सामाना
३८. औपपातिक	आर्या सुखी (जिनभद्र गणि शाखायां)	१६४६ का० सु० १	अकबर-रसूल शहर
३९. रायपसेणीय टबा	पं० रूपचन्द	१८०२ फा० व० १०	भटनेर
४०. जीवाभिगम	मुनि बूटेराय (बुद्धिविजय)	१९०८ आषाढ़ सुदि ४	रामनगर
४१. पन्नवणा टबा	गुरुदास ऋषि	१८७१ आसो सु० १	सनखतरा
४२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	मनसाऋषि	१७६४ पो० सु० १४	लहानूर कुतुब-खां मंडी
४३ सूर्यप्रज्ञप्ति	पूज्य रामदास	१६१४ जे० व० १०	लाहौरकोट
४४. अंगचूलिया	बेलीराम मिश्र	१९२४ आसो० व० २	गुजरांवाला
४५. निरयावलिया	लालजीऋषि	१७८३ का० व० ३	लुधियाना
४६. निरयावलिया	भगउतिदास ऋषि	१८७२ श्रा० व० २	सिरसा
४७. निशीथ	यति राधाकृष्ण	१९१६	स्यालकोट
४८ बृहत्कल्पसूत्र	अमरसिंह	१९०४ वै० व० ८	अमृतसर
४९ दशाश्रुतस्कन्ध	यति सुजानऋषि	१७५२ आषाढ़ सु० १।	बुहनियाकोट
५०. कल्पसूत्र टबा	यति संभूऋषि	१८१८ आषाढ़ सु० १३	बयरोवाल
५१. कल्पसूत्र	कर्मचन्द दुग्गड	१९३० आसो० सु० १४	गुजरांवाला
५२. कल्पसूत्र	यति पूज्य उत्तमऋषि	१९२३ चै० सु० ६	गुजरांवाला
५३. कल्पसूत्र	पूज्य मंगलऋषि	१९२१ मार्ग० व० १३	फगवाड़ा
५४ कल्पसूत्र	उत्तरार्धगच्छे रतनऋषि	१६६२ आषाढ़ व० ६	कालाबाग़
५५. कल्पसूत्र	यति भक्तूऋषि	१७४६ वै० सु० ३	गुजरात नगर
५६ कल्पसूत्र	मुनि राजधर्म	१७४७ चै० सु० ५	मरोटकोट
५७. कल्पसूत्र	तिलकनिधान गणि	१५१७ भा० व० १४	नादौनपुर
५८. कल्पसूत्र	प० मोतीचन्द्र	१८४४ जे० सु० १३	फ़रीदकोट
५९. कल्पसूत्र	पूज्य दुर्गादास ऋषि	१८६२	अंबहटा
६०. कल्पसूत्र	रूपदेव (बृहत्तपा)	१९०७ चै० सु० १०	सामाना
६१. कल्पसूत्र टबा	यति हीराऋषि	१९०९ चै० सु० ११	होशियारपुर
६२. दशवैकालिक	यति मोरचन्द	१८४६	भीमापुर
६३. दशवैकालिक	यति धर्मदासऋषि	१६६५ का० व० १२	करनाल
६४. उत्तराध्ययन	श्रावक जिवायाशाह	१९११ भा० व० २	कालाबाग़
६५. उत्तराध्ययन	पं० चैनसुख (खरतर)	१८४७ का० सु० ६	फ़रीदकोट
६६. चउसरण पइन्ना	श्रावक कर्मचन्द दुग्गड़	१९०५	गुजरांवाला

६७. गणि विज्जा पइन्ना	यति रामकरण का शि० बसंताऋषि	१६३७ वै० व० १२	गुजरांवाला
६८. चउसरण पइन्ना	पूज्य श्रीऋषि	१६३२ फा० सु० १३	लाहौर
६९. तंदुलवियालिया	घनैयाऋषि	१८८८ वै० सु० ५	अमृतसर
७०. चउसरण पइन्ना	कमलमेरु गणि (खरतर)	१६६८ मार्ग० सु० ६	भटनेरकोट
७१. श्रावक षडावश्यक	बृहद (बड़) गच्छे वादिदेवसूरि संताने भट्टारक श्री पुण्यप्रभ सूरि शिष्य श्री भावदेवसूरि	१६२८ जे० व० २	भारतीपत्तन (सिरसा)
७२. षडावश्यकसूत्र	यति लालमनऋषि	१७६४ फा० सु० ८	कलानौर
७३. षडावश्यकसूत्र	कीर्तिसमुद्र (खरतर)	१७२८ आ० सु० १२	सिन्धु देशे पंचनद्यतटे सिद्धपुरे
७४. षडावश्यक बालावबोध	मुनि जीवनराम शिष्य मुनि आत्माराम—स्थानकवासी अवस्था में) (तपागच्छाचार्य श्री विजयानन्द सूरि) (विक्टोरिया राज्ये)	१६२३	होशियारपुर
७५. प्रतिक्रमणसूत्र	सुन्दरदासऋषि	१६७३	कैस्थल (कैथल)
७६. श्रावक प्रतिक्रमण	समयनिधान	१७२१ वै० व० ८	ऊंकारपुर[1] (सिरसा)
७७. षडावश्यकसूत्र	नानकचन्दऋषि	१६६५ का० सु० २	हिसारकोट
७८. बंगचूलिया टबा	श्रावक अमीचन्द मूलामल नाहर	१६२६ पो० सु० ५	पट्टी
७९. प्रद्युम्न चरित्र (दिग०)	मुनि हंसराज (स्थानकवासी)	१६२८ चै०सु० १४	लाभपुर (लाहौर)
८०. श्रीपाल चरित्र	यति लालमन ऋषि[2]	१७३० भा० व० १०	गुजरांवाला
८१. गजसुकमाल	आर्या जमुना	१८८४	हिसार
८२. दमयन्ती कथा	चारित्रचन्द्र गणि	१७२६ मार्ग० व० ६	सिरसा
८३. अमरसेन वयरसेन चरित्र	पं० जयकुशल गणि	—	डेरा हाजीखां
८४. श्री जम्बुचरित्र	श्रावक जमुनादास	१८६२ माघ व० ५	हिसार
८५. श्रीपाल चरित्र	धर्मचंद पाठक	१४८४	योगिनीपुर (दिल्ली)
८६. प्रद्युम्नचरित्र	खुशालहेम गणि (खरतर)	१८२८ वै० व० ११	भटनेर
८७. अंबड़ परिव्राजक कथा	जगतूऋषि	१७५३ आ० सु० ७	सिन्धु नदी तीरे अटकदुर्ग संबलग्राम

1. सरस्वतीपत्तन, ओंकारपुर, भारतीपत्तन ये सब सिरसा नगर के नाम हैं।
2. जिन नामों के साथ ऋषि शब्द आया है वे सब उत्तरार्ध लौंकागच्छीय यति हैं।

८८. गोरा बादल कथा	ओसवाल जटमल लाहूर	१६८० फा० सु० १५	संबलग्राम
८९. कयवन्ना चौपाई	बड़गच्छे पं० टोडरमल	१८२१ आषा० व० ३	सिरसा
९०. सम्यक रसीली	यति कवि गंगऋषि	१९०३ (रचना व लिपि)	अमृतसर
९१. उपदेशमाला	यति कवि गंगऋषि	१९०३ चैत्रमास	नाभपुरे (नाभा)
९२. पंचतंत्र	यति मेघाऋषि	१८१९ जे० व० १३	फगवाड़ा
९३. रामविनोद	रामचन्द्र (खरतर) (रचना व लिपि)	१७२० मार्ग० सु० १३	बन्नू
९४. जसविनोद[1]	यति रामाऋषि	वि० १९वीं शती	जंडियाला गुरु
९५. मेघकुमार गीतं	वा० विजयमूर्ति गणि	१७८३ श्रा० सु० ९	सिरसा

१४-प्रशस्ति संग्रह

ऐतिहासिक संशोधन में ग्रंथकारों और लिपिकारों की प्रशतियाँ बड़ा महत्व रखती हैं। यहाँ पर हम कतिपय लिपिकारों की प्रशस्तियां देते हैं[2]—

१. ग्रंथ नं० ३८१ उपासकदसा। इति श्री उपासकदशांग सप्तम समाप्तं [वि०] संवत् १६०५ वर्षे वैसाष सुदि ९ लि० नानगऋषि स्थानेस्वरू (थानेश्वर) मध्ये।

२. ग्रंथ नं० १७२२ प्रतिक्रमण। इति श्री उत्तरार्ध गच्छे श्री आचार्य मनहरण मनोहर दास स्वामि तस्य लिक्षते (लिख्यते) प्रथम सिक्षेण (शिष्येन्) ऋषि सुन्दरदासेन् वाचनार्थं केस्थल (केथल) चतुर्मासे संवत् १६७३ वर्षे श्री।

३. ग्रंथ नं० २०१२ मत्स्योदर कथा। सं० १६०४ बजवाड़ा मध्ये।

४. ग्रंथ नं० १६८५ पिंडविशुद्धि वृत्ति। सं० १६३१ कातिक सुदि १३ बृहस्पति वर्धमणि कल्याणसागर राणा लिपिकृतं मुलतानपुर मध्ये।

५ ग्रंथ नं० २७७२ समयसार नाडक [वि०] १७६१ सालकोट मध्ये।

६. ग्रंथ नं० १५८१ परदेसी राजा की चौपाई। सालकोटांत मध्ये सा० अकबर राज्ये [वि०] सं० १६६२। लिषतं हरदास शिष्य ऋ० रूपचन्द।

७. ग्रंथ नं० १९७९ भावना कुलक। [वि० सं०] १८९२ लिषतं अमोलकचन्द सियालकोट मध्ये।

८. ग्रंथ नं० १७७४ प्रद्युम्नचरित्र। [वि० सं०] १७१९। लिषतं जटमल आचार्य भायमल रायमल माना ऋ० मल्ला ऋ० बन्नू ऋ० बजबाड़ा नगरे।

९, ग्रंथ नं० २२१६ रात्रिभोजन चौपाई। [वि०] सं० १८२५ लिषतं बीरू मालनेरकोटले नगर (मालेरकोटला) मध्ये।

1—पंजाब-सिंध में अन्य अनेक लिपिकारों ने पांडुलिपियाँ की हैं। यहां तो कतिपय का ही उल्लेख किया है।

2—ग्रंथों के ये सब नम्बर Catalogue of Manuscripts in the Punjab Jain Bhandars के अनुसार हैं। (पंजाब के कतिपय भण्डारों की सूचि सन् ई० १९३९)

१०. ग्रंथ नं २६३० श्रीपाल नरेन्द्र कथा। [वि०] सं० १६१३ ज्येष्ठ वदि ११ बुधवासरे लिषतं हीरानन्द ऋषि कसूरकोटे।

११. ग्रंथ नं० २४६३ वैराग्यशतक। पठनार्थे बालऋषि निमित्त सालकोट मध्ये।

१२. ग्रंथ नं० १६१६ भक्तामर वृत्ति। लिषतं अमोलकचन्द सालकोट सहर मध्ये। श्रीपूज श्री मलकूचन्द जी तत् शिष्य श्री महासिंघ जी तत् शिष्य श्री अमोलकचन्द लिषतं संवत् १८८८ ज्येष्ठ मासे कृष्णपक्षे दशमी तिथौ रविवारे।

१३. ग्रंथ नं० २०८५ मृगावती की चौपाई। [वि० सं०] १८७५ लिषतं नन्दलाल, रतिलाल, रामचन्द लुधियाणा पंजाब देस।

१४. ग्रंथ नं० ८८ अंतरीक्ष पार्श्वनाथ छंद। [वि०] सं० १७६६ लिषतं रामविमल जालंधर मध्ये।

१५. ग्रन्थ नं० २२३ आर्य वसुधारणी। [वि०] सं० १८०८ लिषतं लद्धा जी सरसा मध्ये।

१६. ग्रन्थ नं० ७२७ गौतमकुलक वृत्ति। [वि०] सं० १८१७ लिषतं सिद्धतिलक गणि शिष्य सिद्धरंग कपूरे दे कोट मध्ये।

१७. ग्रन्थ नं० ४६२ कल्पसूत्र। [वि०] स० १७४० लिषतं जसवंत, बन्नू ऋषि [पठनार्थं]।

१८. ग्रंथ नं० १०३७ ज्ञातासूत्र। लिषा पू० नागरऋषि तत् अंतेवासीना गंगामुनिना लिपि कृतं। पाठनार्थं आचार्य जसवंत जी सही २ [वि०] संवत् १७४२ वर्षे श्रावण वदि नवम्यां बुध दिने पीपापुर (पपनाखा) मध्ये पर-स्वार्थे लिपि कृतं।

श्री ज्ञाता जी के पत्रे सवारे श्रावक मुहरा कम्बो ने सवत् १८७४ वर्षे श्रावण वदि २ रविदिने श्री सुनाम नगरे थानक मांहि नवी लिषतं मेरू माई दित्ता का बेटा श्रावक धर्मे।

१६. ग्रन्थ नं०[1] ५२ A/२ सुयगडांगसुत्तं। [वि०] सं० १८६५ आसो वदी १० लिषतं वृहत्तपागच्छे पूज्य मयाचन्द शि० पूज्य धर्मदेव, शि० रूपदेव सामाणा मध्ये। राजा कर्मसिंह राज्ये।

२०. ग्रन्थ नं० ४३/A/२ सूयगडांगसुत्त। [वि०] स० १६४५ आषाढ़ सुदि ८ लिषतं उत्तराध गच्छे धर्मऋषि कथूऋषि लाहनूर (लाहौर) मध्ये। अकबर जलालदीन विद्यमान राज्ये।

२१. ग्रन्थ नं १५/A/३ ठाणांगसुत्त। सं० १८२६ सावन सुदि २ लिषतं पूज्य मलूकचन्द जी शिष्या आर्या बखता शिष्या आर्या वसना मालेरकोटला मध्ये।

२२. ग्रन्थ नं० २१ A/४ समवायांगसुत्त। लिषतं पूज्य गुरुद्यालऋषि शि० दीपचन्द ऋषि शि० पूज्य गुरुदास ऋ० स्वात्म हेत्वे अमृतसर मध्ये। [वि०] सं० १८४८ कातिक वदि ४।

२३. ग्रन्थ नं० ४३ A/५ भगवतीसुत्तं। गजपुर (हस्तिनापुर) नगरे सं० १६०१ का० ब० ७।

1—यहाँ से वल्लभस्मारक प्राच्य जैनग्रन्थ भण्डार सूची दिल्ली के हस्तलिखित ग्रन्थों के नम्बर दिये हैं।

२४. ग्रन्थ नं० ३८ A/६ नायाधम्मकहा सुत्तं । [वि०] सं० १८४२ आसोज वदी २ श्री कीर्तिरत्न सूरि शाखायां महोपाध्याय श्री सुखलाभ गणि सन्तानीय श्री ज्ञानप्रमोद गणि, पं० दानभक्त गणि शि० खुशहाल हेममुनि शिष्य पं० चैनसुख लिपिकृतं फरीदकोट मध्ये ।

२५. ग्रन्थ नं० १५ A/८ अंतगडदसासुत्तं । [वि०] सं० १७१४ कातिक वदी ५ लिषतं पं० गुणविमल गणि शिष्य पं० कनकनिधान शि० पं० हर्षवर्धन मुनि सिन्धु देशे करोहट (कोहाट) नगर मध्ये ।

२६. ग्रन्थ नं० २१ A/१० प्रश्नव्याकरण सूत्र । (वि०) संवत् १६०५ चैत्र वदी १० उत्तरार्ध-गच्छे श्री पूज्याचार्य बर्द्धमान स्वामी शि० पू० लक्खू ऋषि शि० पू० राधु ऋषि शि० पू० संतू ऋषि शिष्य पू० हरद्यालऋषि शिष्य पू० मंगलऋषि, पु० सोहनऋषि, शिष्य पूज्य रामाऋषि । लिपिकृतं गुरु प्रकालदास जंडियाला मध्ये ।

२७. ग्रन्थ नं० १४ A/१३ रायपसेणीय सुत्तं । (वि०) सं० १८०२ फागन वदि १० श्री जिनभद्र सूरि शाखायां उपा० राजसागर गणि शि० गुणसुन्दर शि० मतिप्रभ गणि शि० पं० रूप चन्द्र स्ववाचनार्थं लिपिकृतं भटनेर मध्ये ।

२८. ग्रंथ नं० २ A/१८ सूर्यप्रज्ञप्ति । (वि०) सं० १६१४ जेठ वदि १० लिखतं पूज्य रामदास लाहोरकोट मध्ये । अकबर राज्ये ।

२९. ग्रन्थ नं० १३ A/२८ कल्पसूत्र । [वि०] संवत् १९३० लिषतं कर्मचन्द [दुग्गड़] कुजरवाल (गुजरांवाला) नगर मध्ये श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ प्रसादात् ।

३०. ग्रन्थ नं० १५४ A/२८ कल्पसूत्र । तपागच्छे तिलकनिदान गणि लिपि कृत वि० सं० १५१७ भादों वदी १ नादोनपुर मध्ये ।

३१. ग्रन्थ नं० १५६ A/२८ कल्पसूत्र । तपागच्छे पं० नीवराज गणि शि० सिद्धिकुशल लिपिकृतं [वि०] संवत् १६३४ श्रावण सुदि ११ लवणहर (लाहौर) मध्ये हीरविजय सूरि राज्ये ।

३२. ग्रन्थ नं० १७७/२८ कल्पसूत्र । बृहत्तपागच्छे पूज्य मयाचन्द्र शि० पूज्य धर्मदेव शि० रूपदेव लिपिकृता आत्मार्थे [वि०] सं० १६०७ चैत्र सुदी १० कर्मसिंह पुत्र नरसिंह राज्ये सामाणकपुर मध्ये ।

३३. ग्रन्थ २१ A/३१ दशवैकालिक सूत्र । उत्तरार्ध गच्छे पूज्य धर्मदासऋषि लिपिकृतं करनाल मध्ये [वि०] सं० १६६५ कातिक वदि १२ पूज्य सागरऋषि लिखापितं ।

३४. ग्रन्थ नं १ A/३८-४७ चउसरण पयण्णा । तपागच्छे सुश्रावक धर्मयश जी दुग्गड़ तत्पुत्र श्रावक कर्मचन्द [शास्त्री] लिपिकृतं । श्रद्धावंत रूपचन्द्र सुत तपसी श्रावक मोहनलाल प्रोसवाल जख गोत्र हेतवे । कुजरांवाल (गुजरांवाला) मध्ये [वि०] सं० १६०५ मघर दिन ३०

३५. ग्रन्थ नं० ३३६/B श्रीपाल रासो । सिंधुतटे श्री सागरचन्द्र सूरि शाखायां भुवण-विलास गणि कनककुशल गुणि चतुरनिधान गणि शिष्य ईसरसिंह लिपिकृतं [वि०] संवत् १८८२ मार्गशीर्ष वदी ५ बागानगरे (कालाबाग) बाफणा [गोत्रे] श्री गंगामल तत्पुत्र उत्तमचन्द पु० मायामल पु० हीरासाहा भ्रा० वीरासाहा पु० जवायासाह, फेरूसाह, बल्लूसाह, इन्द्रसेन, रतन-

चन्द, माणिकचन्द, जसरूप छबीलसाह, पठनार्थं जवायासाह लिपिकृतं ।

३६. ग्रन्थ नं० १३६/C श्री कुमरपुरंदर [चउपइ]। बड़गच्छे श्री भावदेव सूरि शि० यति कवि मालदेव कृतं । सरस्वतीपत्तण (सिरसा) नगरे [वि०] सं० १६५२ ।

३७. ग्रन्थ नं० ५७२/D थोकड़ा । लिषतं अमीचन्द ओसवाल [नाहर गोत्रे] [वि०] सं० १६२० आषाढ़ सुदि १२ हयवतपुर (पट्टी) नगर मध्ये ।

३८. ग्रन्थ नं० १०/F षट्द्रव्यवचनिका । साह नानकचन्द पु० साह दीपचन्द पु० साह बन्सीधर पु० साह रामदयाल, पु० साह धर्मयश, पु० साह कर्मचन्द पु० साह ईश्वरदास भावड़ा ओसवाल दुग्गड़ गोत्रे गुजरांवाला नगरमध्ये [वि०] सं० १६२४ पोष वदि ७ लिपिकृतं ।

३९. ग्रन्थ नं० ६१/F द्रव्यप्रकाश । लिषतं तथा विरचतं मुनि देवचन्द्र सं० १७६८ माघ वदि १३ मुलतान नगरे ।

आत्मस्वभाव मिट्ठूमल कोप-हारी दीठों भेरोंदास भैं उदास मूलचन्द चन्द जान है। ज्ञान लेखराज वर पारस स्वभावधर सोम जीवतत्त्व परिजान की सरधान है। ज्ञान दी त्रिगम मत अध्यात्म ध्यानमन्त मुलतान थी निवासी सुश्रावक सुजान है। ताकि धर्मप्रीति मनआनि कै ग्रन्थ कीनौ गुण-परजाय धर जापै द्रव्यज्ञान है।

४०. ग्रन्थ नं० १३/J बनारसीविलास । [वि०] स० १७५६ माघ सुदि ५ चन्द्रवार सामानकपुर नगरे श्री श्री श्री पातसाह जगजोतिकरण साह ओरंगजेब वर्त्तमाने पूज्य ऋषि नाथु शिष्य पूज्य दयालऋषि शि० पूज्य सूराऋषि लिषतं ।

४१. ग्रन्थ न० १६६/J मलयासुन्दरी रास । [वि०] स० १६६६ माघ दिन ७ उत्तराध गच्छे गोपालऋषि विरचित तथा लिषत ।

भीम बड़ो मुनिराई जगमाल सरोवर राईमल्ल जी तसु नामे दुर्गत पुलाय रे ।
सदारंग सिंघराज जी रे जटमल बड़ा गणधार तासु पाटी जगदीपतो रे ।।
मुनि मनोहर सुकमालो रे । द्वादसमई पाटइं भलो रे । मुनिराज मनोहर सीस
श्री सुन्दरदास सुहावना रे । आचार्य सिंघराज नो रे शिष्य दास-गोपाल ।
तासु चौपाई कीधी रे रसालो रे ।।

४२. ग्रन्थ नं० २२०/K जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर । [वि० स०] १६५० पट्टीनगरे तपागच्छीय न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी विरचितं तथा लिपिकृतं स्वहस्तेन ।

४३. ग्रन्थ न० ३२ A/२८ कल्पसूत्र । [वि०] सं० १६२१ मार्गशीर्ष वदी १३ पूज्य मेघऋषि शि० पूज्य माणेकऋषि शिष्य पूज्य मंगलऋषि शि० पू० मनसाऋषि लिपिकृतं स्व पठनार्थं फगवाड़ा मध्ये ।

४४ ग्रंथ नं० १७A/३ ठाणांग सूत्र । [वि०] सं० १८६६ फाल्गुण सुदि ३ पू० लखाऋषि शि० पू० राघु ऋषि शि० पू० संतु ऋषि शि० पू० हरदयाल [ऋषि] शि० पू० मयाऋषि शि० पू० सोहनऋषि शि० रामाऋषि लिपिकृतं पूज्य सोभाऋषि सहायेन अंडियाला गुरु मध्ये । शेरसिंह राज्ये ।

१५. ग्रंथकर्ता और कवि

(१) तपागच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्र जी की रचनाएं

१. रत्नपाल कथानक वि० १६६२
२ विवेकविलास टीका वि० सं० १६७१
३. बाणकृत कादंबरी पूर्व भाग वृत्ति
४. सारस्वत व्याकरण वृत्ति
५. सूर्यसहस्रनाम

(२) तपागच्छीय श्री सिद्धिचन्द्र जी की रचनाएं

१. कादम्बरी उत्तर भाग टीका
२. भक्तामर स्तोत्र वृत्ति
३. धातुमंजरी
४. वासवदत्ता पर वृत्ति
५. अनेकार्थ नाममाला संग्रह वृत्ति
६. शोभन कृत स्तुतियों पर टीका
७ वृद्धप्रस्तावोक्ति रत्नाकार
८. भानुचंद्र चरित्र (स्वगुरु चरित्र)
९ संक्षिप्त कादम्बरी कथानक (गुजराती)

श्री सिद्धिचन्द्र जी उपाध्याय भानुचन्द्र जी के शिष्य थे। ये अपने गुरु के साथ अकबर और जहांगीर के दरबार में अन्तिम समय तक रहे। लाहौर पंजाब में अधिक रहे। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचनाएं की उन में से उपलब्ध उपर्युक्त ग्रंथ हैं।

इन के गुरु भानुचन्द्र ने कादम्बरी के पूर्वभाग पर टीका रची थी और उत्तरभाग पर इन्हों ने टीका की रचना की थी।

(३) बृहद् (बड़) गच्छीय कवि मुनिमाल (यति) की रचनाएं

[सरस्वतीपत्तन (सिरसा) हरियाणा समय वि० १७ वीं शताब्दी]

ग्रंथ नाम	वि० सं०
१. चरित्र सिद्ध	१६३६
२. नर्मद चरित्र	१६५०
३. पंचदंड विक्रमचरित्र	१६५०
४. पदमसी पदमावती चौपाई	१६५०
५. धनदेव पदमराय मुनि चरित्र	१६५०
६. श्री पुरंदर रास	१६५०
७. राजा भोज चरित्र	१६५२
८. श्री पार्श्वनाथ दस अवतार रास	१६५२
९. कुंवर पुरंदर चौपाई	१६५२
१०. सुरप्रिय चौपाई	१६५२
११. अंजनासुन्दरी चौपाई	१६५२
१२. शालिभद्र केवली	१६५२
१३. पदमावती चौपाई	१६५२
१४. विरांग कथा	१६५२
१५. पुरंदर राजर्षि कथा	१६५२
१६. देवदत्त चौपाई	१६५२
१७. विक्रम चरित्र	१६५६
१८. ज्ञानपंचमी कथा	१६६८
१९ पारस चरित्र	१६६७
२०. सुभाषित संग्रह	—
२१. गर्भ उपदेश सत्तरी	—
२२. हितोपदेश	—
२३. नेमि धमाल	—
२४. शीलवती प्रबन्ध	—
२५. भगवान महावीर का पारणा	—
२६. सत्तरह प्रकार की पूजा	—
२७. भविष्य भविष्या चौपाई	—
२८, २९. मन-भमरा, स्थूलिभद्र फाग	—
३०. शील सुरंगी चूनड़ी,	—
३१, ३२. पंचउर (पंजौर), ज्ञान पंचमी स्तव	

कवि मालदेव का परिचय—प्रभु महावीर के निर्ग्रंथ गच्छ की पट्टावली में ३५ वें पट्टपर आचार्य श्री उद्योतन सूरि से बड़गच्छ निकला। इसी गच्छ में विक्रम की १७वीं शताब्दी में यति कविमाल हुए है। इन का संबन्ध बड़ गच्छ भटनेर श्रीपूज्य की गद्दी से था। आप ने दीर्घकाल तक संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत जैनग्रंथों की रचनाएं की हैं। जिनमें से कुछ के नाम ऊपर लिखे हैं। ये ग्रंथ आप ने अधिकतर सिरसा नगर में रचे हैं। आप उच्चकोटि के कवि थे। आप का उल्लेख कवि ऋषभदास ने पूर्व के विद्वान कवियों के रूप में अपने कुमारपाल रास ग्रंथ में किया हैं। इस कवि को रचनाएं ललित और सुन्दर हैं। इस के गुरु भावदेव सूरि थे। भावदेव सूरि का उपाश्रय अभी भी भटनेर (हनूमानगढ) में है। श्रीपूज्य भावदेव के शिष्य पंजाब और सिंध में भी रहते थे।

कवि मालदेव की गुरवावली इस प्रकार है—

बृहद् (बड़) गच्छीय भद्रेश्वर सूरि के पट्टधर मेरुप्रभ सूरि के पट्टधर पुण्यप्रभ सूरि के पट्टधर भावदेव सूरि के पट्टधर शिष्य शीलदेव सूरि तस्य भ्रातृ मुनि मालदेव के कई शिष्य थे। आप के दामोदर नाम के एक शिष्य ने वि० सं० १६६४ में सामाना के अनन्तनाथ प्रभु के स्तवन की रचना की थी।

(४) उत्तराध लौंकागच्छीय यति श्री मेघराज ऋषि की रचनाएं

[फगवाड़ा—पंजाब—समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी]

नाम ग्रंथ	वि० संवत्	ग्रंथ नाम	वि० सं०
१ मेघमाला	१८१७	६. पिंगल शास्त्र	१८४३
२ मेघ विनोद	१८२८	७. मेघविलास	१८४७
३. गोपीचन्द कथा	१८२५	८ मेघ मुहूर्त	—
४ दान शील तप भावना	१८३२	९. अन्य अज्ञात कृतियां	—
५. चौबीसी स्तव (प्रात:मंगल पाठ)	१८३५		

परिचय—आप अपने समय में उच्चकोटि के विद्वान, कवि यति (पूज) हो गये हैं आप की गुरवावली इस प्रकार है वि० सं० १५३१ में लुंकामत के आदि यति जिन से लौंकागच्छ की उत्पत्ति हुई भूणा ऋषि थे, २ भीदा ऋषि, ३. नूना ऋषि, ४. भीमा ऋषि, ७. रायमल्ल ऋषि (अपने गुरुभाई भल्लो के साथ गुजरात से सर्वप्रथम इस गच्छ के यति पंजाब में आये), ८. सदारंग ऋषि, ९. सिंघराज ऋषि, १०. जटमल ऋषि, ११ परमानन्द ऋषि, १२. सदानन्द ऋषि, १३. नारायणदास ऋषि, १४. नरोत्तम ऋषि, १५. मैया ऋषि, १६. मेघराज (वि० सं० १८७५ तक जीवित), इनके पट्ट शिष्य १७. माणेक ऋषि, १८. महताब ऋषि, १९. मंगलऋषि, २०. मनसाऋषि, २१. राजकरण ऋषि (वि० सं० १९२३ में विद्यमान था)।

कवि की रचनाएं कितनी ललित और सुंदर थी, उसका परिचय चौबीसी स्तव से मिल जाता है—यथा—

प्रात:मंगल पाठ चतुर्विंशति स्तव

(प्रारंभ) सुखकरण स्वामी जगतनामी, आदि करना दु:खहरं।
सुर इंद चन्द फुनिंद वंदत, सकल अघहर जिनवरं ॥

प्रभु ज्ञानसागर गुण ही आगर, आदिनाथ जिनेश्वरं ।
सब भविकजन मिल करो पूजा, जपो नित परमेश्वरं ॥१॥
(अन्त) तनु जो राम सुसिद्धि निसपति (१८३५), मास फागन सुदि कही ।
तीन दश (१३) तिथि भूमि को सुत (मंगलवार) नगर फगुवा कर लही ॥
कर जोड़ के मुनि मेघ भाखे, शरण राखू जिनेश्वरं ।
सब भविकजन मिल करो पूजा, जपो नित परमेश्वरं ॥२५॥

यति कवि मेघराजऋषि की गद्दी फगवाड़ा में थी, इन के उपाश्रय में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा चरचैत्यालय में प्रतिष्ठित थी ।

(५) श्रावक कवि हरजसराय की रचनाएं

[जाति ओसवाल, गोत्र गद्दहिया, कसूर-पंजाब निवासी]

ग्रंथ नाम	वि० सं०	ग्रंथ नाम	वि० सं०
१. गुरुगुण रत्नमाला (जैन साधुओं के विषय में)	१८६४	३. देवाधिदेव रचना (तीर्थंकरों के विषय में)	१८६५
२. श्री सीमंधर स्वामी छंद	१८६५	४. देवरचना (देवताओं—देवलोकों के विषय में)	१८७०

१. **परिचय**—साधु गुणमाला (गुरुगुण रत्नमाला) वि० सं० १८६४ चैत्र सु० ५

प्रारंभ - श्री त्रैलोक्याधीस को वन्दो ध्यावों ध्यान ।
या सेवा साता सुधी पावो नीको ज्ञान ॥१॥
अलख आदि इस ईस की उत्तम ऊंचो एक ।
ऐसो ओड़क और नहीं अन्त न आवे जग टेक ॥२॥
मुनि मुनिपति वर्णन करण शिव शिवमग शिवकरण ।
जस जस ससियर दीपत जग जय जय जिन जनसरण ॥३॥
कहत जस सुर असुर अहि उड़गन नर गहि सरण ।
जिह समरण समकित विमल प्रणमत हरजस चरण ॥४॥
वन्दो श्री समंदर स्वामी सदा कृपाल ॥
श्रुतदेवी को वन्द के रचूं साधु गुणमाल ॥५॥

अन्त—अठवस वरके ओसठे चैत मासे । ससि मृग सित पक्षे पंचमी पाप नासे
रचि मुनि गुणमाल मोद पाया कसूरे । हरजस गुण गाया नाथ जी आस
पूरे ॥१२५॥

२. **परिचय**—देवाधिदेव रचना वि० सं० १८६५ चैत्र सुदि १

प्रारंभ—सकल जगतपति परमपद पूरण पुरुष पुरान ।
परम ज्योति राजत सदा सो वन्दो भगवान ॥१॥
वन्दों श्री ऋषभादि जिन वर्धमान अरिहंत ।
श्री चंद्रानन देव थी, वारिषेण परयंत ॥२॥

श्री सीमंधर स्वामी थी विहरमान जिन बीस ।
बन्दे **हरजस** भगतिधर गावे गुण निसदीस ॥३॥

अन्त—श्री जैननायक षेमदायक मुक्तिलायक पूजिये ।
गुणरत्न आगर ज्ञानसागर सेव नागर हूजिये ॥
पणसठ संवत् से अठारह चेत सित प्रतिपदा भणी ।
विध दिवस कुसपुर नमत **हरजस** देहु प्रभु समतावणी ॥८५॥

३. **परिचय**—श्री सीमंधर स्वामी छंद वि० सं० १८६५ **चैत्र** सुदि १

प्रारंभ—सकल जगति परि दयाल प्रभु सकल ध्यान भगवन्त ।
बन्दो श्री जिनवर परमगुरु जिह ढिग करण सन्त ॥१॥
कर्म निर्जरा हेतु सुर करै भक्ति उत्साह ।
राग-दोष ते रहित प्रभु सरब दरब अनचाह ॥२॥

अन्त—(कलश) श्री जैननायक खेमदायक मुक्तलायक **पूजिये** ।
गुणरत्न आगर ज्ञानसागर सेवनागर हूजिये ॥३२॥
पणसठ संवत से अठारै चेत सुदि प्रतिपद भणी ।
विध दिवस कुसपुर जपत **हरजस** देहु प्रभु समता धणी ॥३॥

४. **परिचय**—देव रचना वि० सं० १८७० माघ सुदि ५

प्रारम्भ—सकल जगतपति परमपद पूरण पुरुष पुराण ।
परम जोति राजत मुदा सो वन्दो भगवान ॥१॥
वन्दो श्री रिखभादि जिन बर्द्धमान अरिहत ।
श्री चन्द्राणण देव थी वारिषेण पर्यन्त ॥२॥
श्री सीमंधर स्वामी थी विहरमान जिन वीस ।
वन्दे **हरजस** भक्तिधर गावे गुण निस-दीस ॥३॥

अन्त—**अठारह से सत्तरहवें** पचमि सित मांहे ।
बुद्ध दिन उत्तर मीन चन्द सुव सत उच्छाहे ॥
कुसपुरवासी ओसवाल हरजस रच लीनी सुर रचना ।
जिनधर्म पुष्ट सम गति रस भीनी जिह सुन पठ चित्त अर्थधर ।
बैठे ज्ञान सत बुद्ध तनो देव अरिहंत जी करजो समकित शुद्ध ॥६२५॥

कवि का परिचय— कवि हरजसराय बीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय जैन धर्मानुयायी सुश्रावक नगर कसूर-पंजाब के रहने वाले थे। आपकी रचनाओं के पढ़ने से ज्ञात होता है कि आप जैन आगमों के मार्मिक विद्वान थे, जैनधर्म पर आप को दृढ आस्था (श्रद्धा) थी और आप का जीवन सरल-सादा,निर्मल तथा उच्चकोटि के श्रावकधर्म के आचरणवाला था। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, उर्दु, फ़ारसी आदि भाषाओं के आप पंडित थे। आप ने अपनी रचनाओं में अपना पारिवारिक परिचय, विद्यागुरु, व्यवसाय, जन्म-मृत्यु समय तथा आयु आदि का कोई परिचय नहीं दिया। आप ने कुल कितने ग्रंथों की रचना की यह भी ज्ञात नहीं हैं। इस समय मात्र आप की उपर्युक्त चार रचनाएं ही उपलब्ध हैं।

धर्मश्रद्धा—आप श्वेतांबर जैनधर्मी थे। आप श्री जिनेश्वर प्रभु की पूजा में भी विश्वास रखते थे और उसे कर्मों की निर्जरा का हेतु मानते थे। जिसका निर्देश आपने अपनी रचनाओं में स्पष्ट किया है। यथा—

"कर्म निर्जरा हेतु सुर करे भक्ति उत्साह।
राग-दोष ते रहित प्रभु सरब दरब अनचाह ॥२॥
श्री जैननायक खेमदायक मुकतिलायक पूजिये।
गुणरत्न-आगर ज्ञान-सागर सेव नागर हूजिये ॥३२॥ (सिमंधर स्वामि छंद)

अर्थात्—यद्यपि प्रभु रागद्वेष रहित (वीतराग) हैं और किसी भी वस्तु की चाह नहीं रखते (सर्व परिग्रह से रहित हैं) तथापि देव-देवेन्द्र अपनी कर्म निर्जरा करने के लिए आपकी भक्ति करते हैं। अतः जैनधर्म के नायक, सुख-समृद्धि-शांति को देनेवाले, मुक्ति (मोक्ष-निर्वाण) प्राप्ति के लिए इनकी पूजा कीजिए। क्योंकि प्रभु गुण रूपी रत्नों के भण्डार हैं, ज्ञान के सागर (सर्वज्ञ) हैं, इस लिए इनकी सेवा- पूजा करके अपना आत्म कल्याण करें।

(६) श्रावक कवि खुशीराम दुग्गड़ की रचनाएँ

[बीसा ओसवाल दुग्गड़ गोत्रीय गुजरांवाला पंजाब निवासी विक्रम बीसवी शताब्दी]

अनु०	नाम रचना	वि० स०	अनु०	नाम रचना	वि० सं०
१.	नेमिनाथ राजमती गाथाएं १९	१९२७		से रामनगर का वर्णन गुजरांवाला	१९६१
२.	नेमिनाथ राजती बारहमासा (प्रश्नोत्तर गाथा २७)	—	१३.	गौतमस्वामी स्तवन	—
			१४.	चिंतामणि पार्श्वनाथ स्तवन	—
३.	जड़ चेतन बारहमासा गाथा २७	१९३६	१५.	श्री हीरविजय सूरि स्तवन	—
४.	चौबीस तीर्थंकरों के अलग-अलग स्तवन	१९४४	१६.	उपदेशक बीसी पद २०	१९५३
			१७.	विजयानन्द सूरि चरित्र पद ४७	१९५३
५	चौबीस तीर्थंकर पद स्तवन	—	१८.	गुरु आनन्दविजय बारहमासा	१९५३
६.	आध्यात्मिक पद	—	१९.	झबोले पद १८	—
७.	सवैये	—	२०-	चिट्ठी विजयकमल सूरि के नाम	१९५७
८.	नेमनाथ जी का बारहमासा पद्य १३,	१९४४	२१.	लावणी कमलविजय जी	१९५७
९.	चिट्ठी गुरु आत्माराम जी के नाम (श्रीसंघ गुजरांवाला की तरफ़ से)	१९४७	२२.	श्री कमलविजय जी को विनतीपत्र	१९५७
			२३.	कमलविजय जी के आचार्य पद की लावणी पद ७	
१०.	उपदेशी बारहमासा गाथा २१	१९५३			
११.	महावीर समवसरण पद ११	—	२४.	कमलविजयजी की लावणी	
१२.	लाला नरसिंहदास मुन्हानी के संघ		२५.	नेमिनाथ जी पद गाथा ११	

परिचय—कवि की कविता के नमूने के लिए यहाँ एक पद दिया जाता है—

प्रारम्भ—नमो राजगुरु शांत दांत करुणा सुखकारी ।
नमो राजगुरु सूरबीर धर धीर अपारी ।।
नमो राजगुरु दया-दयाल दिल क्षमा भण्डारी ।
नमो राजगुरु मुनि महंत पंडित सिंगारी ।।१।।

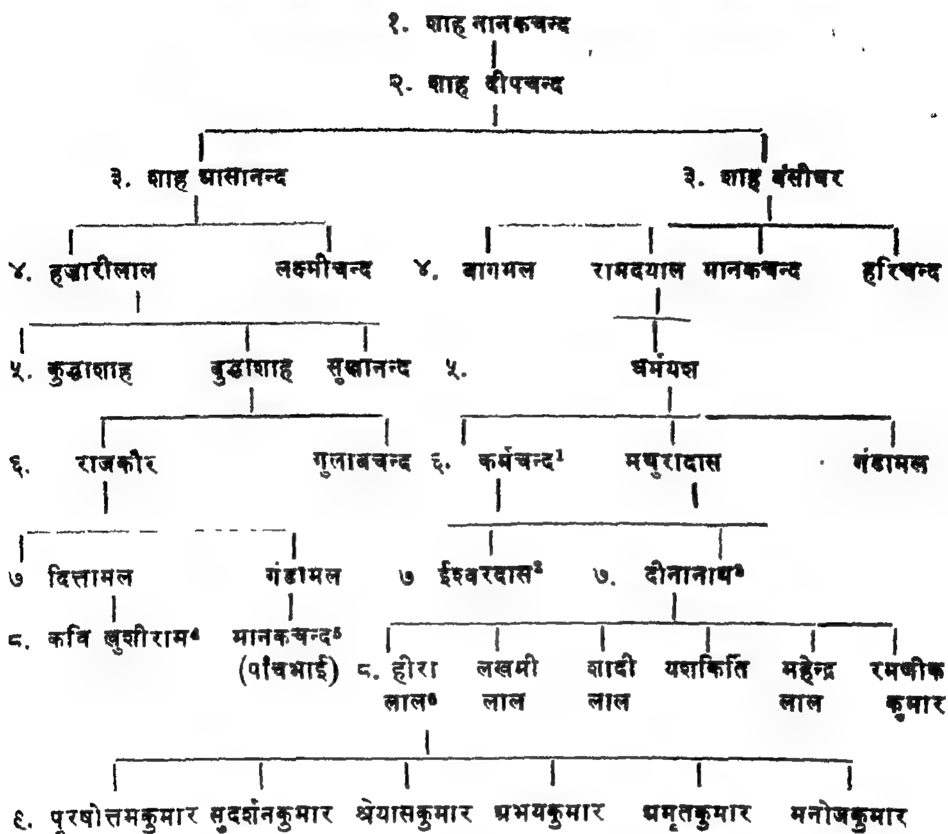
अन्त—गुरुराज स्वामी जगतनामी आनन्दविजय ध्यावतां ।
श्री सूरि आत्माराम मुनि रिख तप तपीश्वर गावतां ।।
कुजरवाल निहार कर गुरु खुशी जी खुशी आनन्दना ।
रिष वेद ग्रह चन्द (१९४७) भादरों तिथ पंचमी पख चांदना ।। १९।।

(चिट्ठी आत्माराम जी के नाम)

कवि परिचय—कवि खुशीराम आचार्य विजयानन्द सूरि के समकालीन, जैनश्वेतांबर मूर्तिपूजक धर्मानुयायी, गुजरांवाला पंजाब निवासी, बीसा ओसवाल दुग्गड़ गोत्रीय ज्ञान-चरित्रवान् श्रावक थे । आप उच्चकोटि के कवि थे । जैनदर्शन और धर्म के विद्वान थे । आपने सैंकड़ों रचनाएं हिंदी पंजाबी भाषा में की हैं । इनमें कई तो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व की हैं। उस समय के पंजाब के प्रमुख श्रावकों के नाम कई रचनाओं में मिलते हैं । पंजाब में विचरण करनेवाले अनेक साधु साध्वियो के विहार और चौमासो के वर्णन तथा उनके जिनशासन प्रभावना के कार्यकलापों का परिचय मिलता है । उस समय के धार्मिक संघर्षों का भी चित्रण पाया जाता है । कई धार्मिक उत्सवों, संघों एव मुनियों आदि का विवरण भी आपकी रचनाओ मे मिलता है । आप जीवन के अन्तिम श्वासों तक कविताओ की रचना करते रहे है जो छद, अलंकार, राग-रागनियाँ तथा भाषा की दृष्टि से उच्चकोटि की है । आपका व्यवसाय सोना-चांदी (सराफ़ा)का था । आप आर्थिक दृष्टि से भी बहुत सम्पन्न थे । खेद का विषय है कि आपकी रचनाओं का संकलन नहीं हुआ। आपका देहांत गुजरांवाला मे वैसाख प्रविष्टा ३ वि० सं० १९८३ में हुआ ।

कवि की वंशावली—१. शाह नानकचन्द, पुत्र शाह दीपचन्द्र पुत्र शाह आसानन्द व शाह बंसीधर, आसानन्द के दो पुत्र हजारीलाल व लक्ष्मीचन्द (लक्ष्मीचन्द ने जैनसाधु की दीक्षा ले ली) शाह हजारीलाल के तीन पुत्र शाह कुढामल, शाह बुद्धा (बुधमल), शाह सुखानन्द । शाह कुढामल के दो पुत्र शाह राजकौर, शाह गुलाबचन्द, शाह राजकौर के दो पुत्र शाह दित्तामल, शाह गण्डामल । शाह दित्तामल के पुत्र **कवि खुशीराम** । कवि का पुत्र रघुनाथमल था इस के तीन पुत्र सुलखनमल, बाबूलाल, शादीलाल । सुलखनमल की कोई सन्तान नहीं थी, इसकी मृत्यु विवाह के बाद शीघ्र ही हो गयी थी । पाकिस्तान बनने के बाद बाबूलाल अपने परिवार के साथ अम्बाला शहर में तथा शादीलाल अपने परिवार के साथ लुधियाना में आबाद हो गया हैं ।

कवि खुशीराम तथा इस ग्रन्थ लेखक की वंशावली



1. लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री जैनागमों के मार्मिक विद्वान थे। अनेक जैन साधु-साध्वियों को जैनागम का अभ्यास कराया। स्वर्गवास गुजरांवाला में वि० सं १९६१ में हुआ।
2. लाला ईश्वरचन्द लाला कर्मचन्द जी के सुपुत्र थे तथा उच्चकोटि के कवि थे। स्वर्गवास वि० सं० १९५१ में हुआ।
3. लाला दीनानाथ शास्त्री कर्मचन्द जी के छोटे भाई लाला मथुरादास जी के पुत्र थे और ज्योतिष विद्या के प्रकांड विद्वान थे। आपका स्वर्गवास आगरा में वि० सं० २०१० में हुआ।
4. लाला खुशीराम जी जैनवाङ्मय के विद्वान और कवि थे आप का स्वर्गवास वि० सं० १९८० में हुआ।
5. लाला मानकचन्द जी ने इकाई से व्यापार शुरू किया और गुजरांवाला में कपड़े के व्यवसाय में खूब तरक्की कर समृद्धिशाली हुए। स्कूल की शिक्षा अल्प होने पर भी आप की बुद्धि विलक्षण थी गुजरांवाला श्रीसंघ के कई वर्षों तक प्रधान रहे। पाकिस्तान के बाद आपका परिवार आगरा में आबाद हुआ।
6. पं० हीरालाल दूगड़ शास्त्री जैनदर्शन के योग्य विद्वान हैं। जन्म वि० सं० १९६१ (ई० सं० १९०४) में गुजरांवाला में हुआ, पाकिस्तान बनने के पश्चात् आप परिवार के साथ दिल्ली में जैनसाहित्य रचना के कार्य में जुटे हुए हैं।

१ से ६ तक का परिचय इन की जीवनियों में लिखा है। वहीं से ज्ञात कर सकते हैं।

(७) कवि चन्दूलाल (ब्राह्मण) जैन की रचनाएं

[मालेरकोटला पंजाब निवासी विक्रम की २०वीं शताब्दी]

कवि ने अपने जीवनकाल में कितनी रचनाएं की हैं यह ज्ञात नहीं है। कवि की रचनाओं की एक हस्तलिखित प्रति हमें खिवाई जिला मेरठ के शास्त्रभण्डार से प्राप्त हुई है। इस कृति का नाम कवि ने 'भजन कल्पद्रुम' रखा है और दो खण्डों में पूर्ण किया है। उसमें पत्र ८३, कद ८॥"×७" है। इसमें कवि की १७२ रचनाएं हैं। २५ रचनाएं अलग-अलग २४ तीर्थंकरों के स्तवन तथा कलश हैं। २६ से १०२ तक भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों, पंजाब के मन्दिरों का जिनकी आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी द्वारा अंजनशलाकाएं और प्रतिष्ठाएं हुई हैं उन का आंखों देखा वर्णन है तथा आचार्य श्री के जीवन सम्बन्धी प्रत्यक्ष देखा हुआ विवरण है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा महत्वपूर्ण है। यह रचनाएं वि० सं० १९४१ से १९५७ तक की हैं।

परिचय—चौबीसी (चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन) वि० सं० १९५६ फाल्गुन वदि ५।

प्रारम्भ—ऋषभदेव आदि चौबीस के चरणकमल धर शीश।
जिन-ग्रंथों का सार ले, वरणूं पद चौबीस ॥१॥
कवि नहीं गायक नही, नही छंद का ज्ञान।
नही बोध गण दग्ध का, न जानूं स्वर तान ॥२॥
केवल श्री जिनराज की, बसी भक्ति उर आन।
तातें यह वर्णन करूं, धर जिनवर का ध्यान ॥३॥
वीतराग गुण सिन्धु सम, सुरनर लहे न पार।
मो समान मतिमंद शठ, को कवि वर्णन हार ॥४॥
मोय भरोसा एक यह, श्रीजिन दीनदयाल।
चरण शरण मोय जानके, करें आप प्रतिपाल ॥५॥
मात-पिता निज पुत्र के, जिम तोतर गुण बैन।
गिने न दोष-अदोष कछु, लहे परम सुखचैन ॥६॥
ऐसे श्री जिनवर प्रभू, दयासिन्धु भगवान।
सुन प्रसन्न अति होयेंगे, बाल विनय मम जान ॥७॥
चरणकमल गुरुदेव के, चंदूलाल उर-धार।
चौबीसी वर्णन करूं, निज बुद्धि अनुसार ॥८॥

अन्त— (चबोला) कृपा भई गुरुदेव की, सिद्ध हुए सब काज।
चौबीसी जिनराज की, संपूर्ण भई आज।
साल रस तत्त्व अंक शशि (१९५६) सुखकारी।
फागुण मास विलास पंचमी चन्द्रवार की अंधियारी॥
जो नर नारी पढे चित्त हित से, सुख सम्पत सगरा पावे।
कर कर्मदल नास अन्त में शिव-पुर में सुख से जावे।

भूलचूक गर होय कहीं पे क्षमा करें कविजन ज्ञानी।
बुद्धिहीन मोहि दीन जान के, सोध लेना निज जन जानी॥
कोटलनगर निवास दासका, उर धर के मुनि का चरणन।
निज बुद्धि अनुसार कछु चन्दूलाल जिन गुण वर्णन॥
मुक ताल मत मेरी हीनी, कृपा सद्गुरु ने कीनी।
कथे ख्याल चौबीस, चाल जिनकी रंग भीनी॥[1]

कवि परिचय—कवि ने वि० सं० १९४४ श्रावण वदि ७ मंगलबार के दिन विजयानन्द सूरि की स्तुति करते हुए उनके द्वारा जैनधर्म को स्वीकार करने का जिकर किया है। जिसमें उसने अपने आपको मालेरकोटला का निवासी ब्राह्मण जाति का बतलाया है, यथा—

"हुए तपगच्छ मे मुनि मुक्तगामी। विजयानन्द आत्माराम स्वामी॥ १६॥
बड़े जग-भानु गुण षट्तीस जानो। जिन्हों की कीरती जग ने पिछानो॥१७॥
मारग जिनधर्म सूधा बताया। भरम मेरे का ज्ञान से परदा उठाया॥ १८॥
करूँ मैं आज क्या उनकी बड़ाई। ये शैली जैन की उत्तम दिखाई॥ १९॥
करो दर्शन ऐसे मुनिराज जी के। करूँ अरजी सुनो संग आज जी॥२०॥
कृपा जिनकी से पद पूरा बनाया। बड़ा आनन्द सब को ही सुनाया॥२१॥
संवत् शुभ जान उन्नीसै चुताली। श्रावण कुजवार वदि सातें निराली॥२२॥
कहे चन्दुलाल जिन-चरणों का दासा। समझ द्विज जात नगर कोटले में बासा॥२३॥

(८) पंजाब के कुछ अन्य श्रावक कवि (वि० बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी)

पंजाब में हिन्दी, पजाबी, उर्दू, फ़ारसी के अनेक जैनकवि हो गये हैं। हकीम माणकचन्द जी गद्दहिया रामनगर, श्री शोभाराम ओसवाल जम्मू, श्री बसोन्धीराम रायकोट, श्री सुन्दरलाल बोथरा जीरा (इनके भजन सुन्दरविलास नामक पुस्तक मे कई वर्ष पहले प्रकाशित हो चुके हैं) श्री मोहन-लाल, श्री चिरंजीलाल आदि ये सब विजयानन्द सूरि के समकालीन कवि थे। श्री वृजलाल नाहर होशियारपुर, श्री ईश्वरदास होशियारपुर, श्री साबर आदि अनेक कवि आचार्य विजयवल्लभ सूरि जी के समकालीन हो गये हैं। श्री नाजरचन्द गद्दहिया (सामानवी) चंडीगढ़, पं० रामकुमार (राम) स्नातक श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब, (दिल्ली); महेन्द्रकुमार मस्त आदि कई कवि वर्तमान में विद्यमान हैं। जिनकी कविताएं समाज में जागृति लाने तथा उत्साहित करने में बहुत उपयोगी हैं।

(९) पंजाब में—श्वेतांबर जैन मुनिराज कवि (२०वीं २१वीं शताब्दी विक्रमी)

१. मुनि बुद्धिविजय (बूटेराय)जी ने कई कविताएं तथा ग्रंथों की रचनाएं की हैं।
२. आचार्य श्री विजयानन्द सूरि ने अनेक ग्रंथों, पूजाओं, स्तवनों आदि की रचनाएं की हैं।

३. आचार्य विजयवल्लभ सूरि ने अनेक पूजाओं, स्तवनों, सज्झायों, स्तुतियों आदि की तथा अनेक ग्रंथों की रचनाएं की है।

---

1. इस ग्रंथ की प्रतिलिपि पन्नालाल बालकृष्ण जैन ने पालम में मिति चैत्र शुक्ल १२ वि० सं० १९७४ में की। पत्र ८३ एक पत्र के पृष्ठ २, प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में १८ से २२ तक अक्षर हैं।

४. मुनि शिवविजय (आचार्य विजयवल्लभ सूरि के शिष्य—गृहस्थ नाम मोतीलाल दूगड़) ने चैत्यवंदन, स्तवन, सज्झाय, कविताओं और ग्रंथों की रचना की है।

५. स्वामी सुमतिविजय जी ने अनेक स्तवनों की रचनाएं की हैं जिनका संग्रह सुमति-विलास नाम की पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

६. यति तिलकविजय ने अनेक कविताओं तथा दो तीन ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया था।[1]

(१०) तपागच्छीय आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी की रचनाएं

नं०	नामग्रंथ	प्रारंभ स्थान	वि० सं०	समाप्ति स्थान	वि० सं०
१.	श्री नवतत्त्व	बिनोली	१९२४	बड़ौत	१९२४
२.	श्री जैन तत्त्वादर्श	गुजरांवाला	१९३७	होशियारपुर	१९३८
३.	अज्ञान तिमिर भास्कर	अम्बाला शहर	१९३९	खंभात	१९४२
४.	सम्यक्त्व शल्योद्धार	अहमदाबाद	१९४१	अहमदाबाद	१९४१
५.	श्री जैनमत वृक्ष	सूरत	१९४२	सूरत	१९४२
६.	चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग १	राधनपुर	१९४४	राधनपुर	१९४४
७.	चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग २	पट्टी	१९४८	पट्टी	१९४८
८.	श्री जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर	पालनपुर	१९४५	पालनपुर	१९४५
९	श्री तत्वनिर्णय प्रासाद	जीरा	१९५१	गुजरांवाला	१९५३
१०	चिकागो प्रश्नोत्तर	अमृतसर	१९४९	अमृतसर	१९४९
११.	ईसाई मत समीक्षा	—	—	—	—
१२.	श्री जैनधर्म का स्वरूप	—	—	—	—
१३.	आत्म बावनी (पद्य)	बिनोली	१९२७	बिनोली	१९२७
१४.	स्तवनावली (पद्य)	अंबाला शहर	१९३०	अंबाला शहर	१९३०
१५.	श्री सत्तरभेदी (१७) पूजा (पद्य)	अंबाला शहर	१९३९	अंबाला शहर	१९३९
१६.	श्री बीसस्थानक पूजा (पद्य)	बीकानेर	१९४०	बीकानेर	१९४०
१७.	श्री अष्टप्रकारी पूजा (पद्य)	पालीताना	१९४३	पालीताना	१९४३
१८.	श्री नवपद पूजा (पद्य)	पट्टी	१९४८	पट्टी	१९४८
१९.	श्री स्नात्र पूजा (पद्य)	जंडियाला गुरु	१९५०	जंडियाला गुरु	१९५०

११-तपागच्छीय आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि की रचनाएं

आपने (१) भीमज्ञान त्रिंशका, (२) गप्पदीपिका समीर, (३) जैन भानु, (४) नवयुग निर्माता (विजयानन्द सूरि चरित्र) आदि अनेक ग्रथो की रचनाएं की है। अनेक चैत्यवन्दन, स्तवन, स्तुतियां सज्झाय आदि की रचना की है जो "**वल्लभ काव्य सुधा**' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुके हैं।[2] अनेक प्रकार की पूजाओं की रचनाए की हैं जो काव्य की दृष्टि से तथा जैनसिद्धांत एवं धर्म, ज्ञान, चारित्र की गहराइयों से भरपूर रचनाए हैं। ये पूजाए जैनमंदिरों में पढ़ाने के लिये

1. नं० १ से ६ तक सब जैन श्वेतांबर तपागच्छीय संत हैं।
2. संग्राहक पं० श्री हीरालाल दूगड़।

सर्वाधिक प्रिय हैं।

(१२) व्याख्यान— दिवाकर, विद्या—भूषण, न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक

श्री हीरालाल दूगड़ (सुपुत्र जौहरी दीनानाथ जी) द्वारा ग्रंथ रचना।

[वि० सं० २००० से २०३६ तक की रचनाएं]

१. जीवविचार प्रकरण सविवेचन सार्थ सचित्र
२. अर्हत् जीवन ज्योति ४ भाग (अनुदित)
३. जगत और जैनदर्शन (अनुदित)
४. आत्मज्ञान प्रवेशिका (अनुदित) तथा जैन तत्वबोध (रचित)
५. बंगाल का आदि धर्म (अनुदित) तथा जैन पुरातत्त्व सामग्री समीक्षा (रचित)
६. पंचप्रतिक्रमण सूत्र तथा सप्तस्मरण सार्थ –सविवेचन (खरतरगच्छीय)
७. नवपद ओली विधि तथा अक्षयनिधि तप विधि (संकलित)
८. श्री जिनदर्शन पूजन विधि (रचित)
९. अष्टाह्निका (अट्ठाई) व्याख्यान(संपादित)
१०. निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान महावीर तथा मांसाहार परिहार। (रचित)
११. वल्लभ काव्य सुधा (संकलित)
१२. वल्लभ जीवन ज्योति चरित्र (रचित)
१३. कतिपय जैनतीर्थों का इतिहास (रचित)
१४. श्री हस्तिनापुर तीर्थ का इतिहास (दो बार प्रकाशित) (रचित)
१५. श्री हस्तिनापुर तीर्थ के चैत्यवन्दन, स्तवन, स्तुति-सज्झाय (संकलित)
१६. सद्धर्मसंरक्षक मुनि बुद्धिविजय जी तथा पांच शिष्यों के चारित्र (रचित)
१७. तपसुधा निधि २ भाग (तप विधि-विधान) (संकलित)
१८. नवतत्त्व सार्थ-सविवेचन (प्रेस में)
१९. मध्य एशिया तथा पंजाब में जैनधर्म (रचित)
२०. अन्य अनेक लेखादि रचनाएं
२१. जिनप्रतिमा पूजन रहस्य तथा स्थापना-चार्य की अनिवार्यता। (अप्रकाशित)
२२. श्रीपाल चारित्र (आचार्य विजयवल्लभ सूरि के प्रवचन) (संपादित-अप्रकाशित)
२३. शकुन विज्ञान (अष्टांग निमित्त)
२४. स्वरोदय विज्ञान ,,
२५. प्रश्न पृच्छा विज्ञान ,,
२६. स्वप्न विज्ञान ,,
२७. भद्रबाहु संहिता (अप्रकाशित) ,,
२८. ज्योतिष विज्ञान ,,
२९. सामुद्रिक शास्त्र ,,
३० यंत्र-मंत्र-तंत्र कल्पादि संग्रह ,,
३१. औषध और टोटका विज्ञान ,,
३२. लघु हुनर उद्योग ,,
३३. कोकसार (यति आनन्द कृत) ,,

कुछ निबन्ध रचनाएं

३४. सम्राट अकबर के जीवन, धर्म विश्वास और राजनीति पर जैनधर्म का प्रभाव
३५. जैन समाज समय को पहचाने
३६ पंजाब के ओसवालों को भावड़ा क्यों कहते हैं।
३७. श्री पंचप्रतिक्रमण सूत्र पर प्रस्तावना
३८. पंजाब के उत्तरार्ध लौंकागच्छीय पट्टावलियां।
३९. जिनकल्प और स्थविरकल्प
४०. दिगम्बरों के चालीस प्रश्नों का समाधान

(१३) स्थानकवासी आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की रचनाएं

आपने अनेक मूल जैनागमों का हिन्दी भाषांतर किया है। तत्त्वार्थ सूत्र के मूल सूत्रों की श्वे० जैनागमों के पाठों से तुलना करके ग्रंथ के महत्व को बढ़ाया है। अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें

भी लिखी हैं। जिनका प्रकाशन लुधियाना पंजाब के स्थानकवासी संघ ने किया है। आपका स्वर्गवास लुधियाना में हुआ। आपका तपागच्छीय आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी से ७५ वर्ष का समयांतर है। यानी ७५ वर्ष बाद हुए।

जैन साहित्य की महानता

जैन साहित्य बड़ा विशाल है। कोई भी ऐसा विषय नहीं मिलेगा जिस पर रचे हुए अनेक ग्रंथ जैन साहित्य में न मिलें। मात्र इतना ही नहीं किन्तु इनमें सब विषयों की चर्चा विद्वतापूर्ण अत्यन्त सूक्ष्मता और बहुत उत्तमता के साथ की गई है।

जैनधर्म के प्रधान ४५ आगम हैं—११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूल सूत्र, १० पयन्ना और २ अवान्तर हैं। ये सिद्धान्त अथवा आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह साहित्य अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवन, कथन तथा उपदेश का सार है। यह सारा जैन साहित्य १. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३-धर्मकथानुयोग और ६-चरण करणानुयोग इन चार विभागों में विभाजित है।

(१) गणित सम्बन्धी साहित्य चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकप्रकाशादि अनेक ग्रंथ इतने अपूर्व हैं कि उनमें सूर्य, चन्द्र, तारामंडल, असंख्य द्वीप, समुद्र स्वर्गलोक, नरक भूमियो वगैरह खगोल, भूगोल का विस्तृत वर्णन मिलता है।

(२) हीरसौभाग्य, विजयप्रशस्ति, धर्मशर्माभ्युदय, हम्मीर महाकाव्य, पार्श्वाभ्युदय काव्य, द्वाश्रय काव्य, यशतिलक चम्पू इत्यादि अनेक काव्य ग्रंथ, ३-सम्मतितर्क, स्याद्वादरत्नाकर, अनेकात जय पताका, स्याद्वाद मंजरी, तत्त्वार्थसूत्र, प्रमाण मीमांसा आदि अनेक न्याय के ग्रन्थ, ४-योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशास्त्र, स्वरोदयसार आदि अनेक योगग्रथ, ५-ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मकल्पद्रुम आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रंथ, ६-सिद्धहेम आदि अनेक व्याकरण ग्रथ, ७-तिलक मंजरी ग्रथ कादम्बरी को भी मात कर देता है। जैनन्याय, जैनतत्त्वज्ञान, जैननीति तथा अन्यान्य विषयों के गद्य-पद्य के अनेक उत्तमोत्तम ग्रथ जैन साहित्य मे भरे पड़े है।

(३) प्राकृत साहित्य में ऊंचे से ऊचा साहित्य यदि किसी मे है तो वह जैनदर्शन में ही है।

(४) व्याकरण तथा कथा साहित्य तो जैन साहित्य मे अद्वितीय ही है। जैन स्तोत्र, स्तुतियाँ, पुरानी गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी भाषाओ के रास (कवितामय-चारित्र) इत्यादि अनेक दिशाओं में जैनसाहित्य व्यापक है जो अन्यत्र देखने में कही नहीं मिलता।

जैन साहित्य के लिये प्रो० जाहन्स हर्टल लिखता है कि—
They [Jains] are the creators of very popular literature.
अर्थात्—जैन लोग बहुत विस्तृत लोकोपयोगी साहित्य के स्रष्टा हैं।

प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, करनाटकी आदि अनेक भाषाओं में जैन साहित्य पुष्कल लिखा हुआ आज भी जैन शास्त्रभंडारों में सुरक्षित है। यद्यपि विदेशी-स्वदेशी धर्मांध आततायों ने जैनसाहित्य को बहुत क्षति पहुँचाई है। अनेकानेक ग्रंथ विदेशी ले गये हैं तथापि जो कुछ भी शेष बचा खुचा जैनसाहित्य भारत में विद्यमान है वह भारत के अन्य

सारे साहित्य को मिला देने पर भी सर्वाधिक है।

जैन साहित्य के विषय में अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की हैं।

(१) जर्मनी का विद्वान् डा० हर्टल अपने लेख में लिखता है कि

"Now what would Sanskrit poetry be without this large Sanskrit Literature of the Jains. The more I learn to know it the more my admiration rises (Jain Shasan Vol. I No. 21.

अर्थात् – जैनियों का महान् संस्कृत साहित्य यदि अलग कर दिया जावे तो मैं नहीं कह सकता कि संस्कृत साहित्य की फिर क्या दशा हो। जैसे-जैसे इस साहित्य को मैं विशेष रूप से जानता जाता हूं वैसे ही वैसे मेरा आनन्द बढ़ता जाता है। इसे और भी विशेष रूप से जानने की इच्छा बढ़ती जाती है।

मैं अपने देशवासियों को दिखलाऊंगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊंचे विचार जैनधर्म और जैनाचार्यों में हैं (जो इस साहित्य के स्रष्टा हैं।)

जैनियों का साहित्य बौद्धों से बहुत श्रेष्ठ है और ज्यों-ज्यों मैं जैनधर्म और उसके साहित्य को समझता हूं त्यों-त्यों मैं उसे अधिक पसन्द करता हूं।

(२) जैनधर्म का तत्त्वज्ञान और सिद्धान्त मुझे बहुत पसन्द हैं। मेरी यही अभिलाषा है कि मृत्यु उपरान्त मेरा जन्म जैन परिवार में हो (विश्वविख्यात् तत्त्ववेत्ता जार्ज बरनार्डशा)

(३) ऐतिहासिक संसार में जो जैनसाहित्य सर्वोपयोगी है, वह इतिहासज्ञों और तत्त्ववेत्ताओं के लिये अनुसंधान की विपुल तथा अमूल्य सामग्री उपस्थित करता है।

(डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए० पी० एच० डी० कलकत्ता)

(४) जैनधर्म (साहित्य) का जितना मैंने अभ्यास किया है, उस पर से मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि यदि विरोधि सज्जन भी जैनसाहित्य का अभ्यास व मनन सूक्ष्म रीति से करेंगे तो उनका विरोध समाप्त हो जावेगा। और वे विरोध करना ही छोड़ देंगे।

(डा० गंगानाथ झा एम० ए० डी० लिट्)

(५) जैनधर्म (साहित्य) पढ़ने की मेरी हार्दिक इच्छा है, क्योंकि मैं ख्याल करता हूं कि व्यावहारिक योगाभ्यास के लिये यह साहित्य सबसे प्राचीन है और वेद के रीति रिवाजों से पृथक है। (रायबहादुर पूर्णेन्दुनारायणसिंह एम० ए०)

(६) मैं जैन सिद्धान्त के सूक्ष्म तत्त्वों से गहरा प्रेम करता हूं। (मुहम्मद हाफ़िज सैय्यद बी० ए० एल० टी)

(७) भारतीय हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि पं० मैथलीशरण गुप्त भारत-भारती में लिखते हैं कि—

फैला अहिंसा बुद्धिवर्धक, जैन-पंथ समाज भी।
जिसके विपुल साहित्य की विस्तीर्णता है आज भी।।"

श्री सुधर्मास्वामी, श्री भद्रबाहु, श्री उमास्वाती, श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री समंतभद्र, श्री देवनन्दि, श्री अकलंक, श्री हरिभद्र सूरि, श्री हेमचन्द्राचार्य, मल्लवादी

श्री जिनभद्र गणि, श्री अभयदेव, उपाध्याय यशोविजय, उपाध्याय विनयविजय, आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम) आदि अनेक जैनाचार्यों तथा विद्वानों ने जैन साहित्य को समृद्ध बनाने में अपने जीवन को व्यतीत किया है।

अंतिम साठ-सत्तर वर्षों से जैन साहित्य विशेष प्रचार में आने लगा है। तब से इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और चीन आदि पाश्चात्य देशों में भी जैन साहित्य का अच्छा प्रचार हो रहा है। आज तो अनेक विद्वान देश-विदेश में जैन साहित्य के अभ्यास-संपादन तथा प्रचार में लगे हुए हैं। इंगलिश, जर्मनी, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं में भी जैन साहित्य पर्याप्त प्रकाशित हो रहा है।

जैन साहित्य के ताड़पत्रों पर लिखे हुए हजारों वर्ष प्राचीन ग्रंथरत्न आज भी जेसलमेर, पाटण, अहमदाबाद, दिल्ली, बड़ोदा आदि अनेक जैनग्रंथ भंडारों में सुरक्षित हैं। काग़ज़ पर लिखे हुए भी जैन साहित्य की कमी नहीं है। इनमें प्राचीन लिपियाँ, चित्रकला और सुन्दर लेखन आज भी भारतीय साहित्य सेवा का प्रत्यक्ष प्रमाण विद्वानों को मंत्रमुग्ध कर देता है।

अधिक क्या लिखें यदि विश्व में जैन साहित्य, कला, वास्तुकला ने विकास न पाया होता तो इन कलाओं का विश्व में नाम शेष रह जाता।

इस ग्रंथ में साहित्य का विवरण बहुत ही सीमित दिया है क्योंकि विस्तार करने से ग्रंथ विस्तार का भय है।

अर्हत् आदिनाथ की शासनदेवी



श्री चक्रेश्वरी देवी

अध्याय ६

पंजाब में धर्म क्रान्ति

हम लिख आये हैं कि विक्रम की १७वीं शताब्दी तक जैन श्वेतांबर साधु-साध्वियों का आवागमन तथा निवास पंजाब में बराबर रहा। परन्तु अकबर मुग़ल के पौत्र जहांगीर की मृत्यु के बाद औरंगजेब के राज्यकाल में तथा उसके बाद इस क्षेत्र में श्वेतांबर जैन साधुओं का विहार एकदम बन्द हो गया और इनकी संख्या भी घटते-घटते वि० १६वीं शताब्दी के अन्त तक सारे भारत में मात्र २०, २५ की रह गई थी। इधर वि० की १६वीं शताब्दी में लुंका गच्छ के यतियों का प्रवेश पंजाब मे हो गया और इन्होंने धीरे-धीरे सारे पंजाब में अपनी गद्दियाँ स्थापित कर ली तथा अपने मत के प्रचार का श्रीगणेश कर दिया। वे अपनी गद्दियों के साथ जिनमंदिरों का निर्माण भी करते थे और पूजा उपासना भी। पश्चात् वि० सं० १७३१-३२ में पंजाब में ढूंढक मत का प्रवेश हुआ। यह पंथ जैनमंदिर मूर्तियों की मान्यता का विरोधी तथा अपने मुंह पर दिन-रात मुंहपत्ति बांधने वाला है। लुंकामत की दो शाखायें हो गईं। १ – लौंकागच्छीय यति जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है। इस मत की अहमदाबाद में लुंकाशाह गृहस्थ ने वि० सं० १५०६ मे घोषणा की और वि० सं० १५३१ में भाना जी नामक यति ने सर्वप्रथम इस मत की दीक्षा लेकर लौंगागच्छ की स्थापना की। पश्चात् वि० सं० १७०६ में लवजी नामक लौंकागच्छीय यति ने जिनप्रतिमा का उत्थापन तथा मुंह पर मुंहपत्ति को बांधना प्रारंभ कर स्वयमेव इस मत की साधु दीक्षा लेकर ढूंढक मत की अहमदाबाद में स्थापना की। और इसने घोषणा की कि मैंने सत्यपथ ढूंढ लिया है इसलिये आज से मेरे मत का नाम ढूंढक अथवा ढूंढिया है। इस मत का पहला साधु पंजाब में लाहौर नगर में वि० स० १७३१ में आया और उसने अपनी शिष्य परम्परा बढ़ाकर जैनमंदिरो की मान्यता और उपासना का घोर विरोध किया और इस मत के साधु-साध्वियो के लिये चौबीस घंटे मुंहपत्ति बांधना तथा गृहस्थों को सामायिक-प्रतिक्रमण के समय मुंहपत्ति बांधने का प्रचलन किया।

जैन श्वेतांबर साधु-साध्वियों का पंजाब में एकदम अभाव और प्रचार बंद हो गया एवं इधर मुसलमान शासकों का मूर्ति के विरुद्ध जिहाद और ढूंढकपंथ के मूर्ति के विरुद्ध सर्वव्यापक ज़बर्दस्त आन्दोलन का यह परिणाम आया कि सारे पंजाब में प्राय: ढूंढक मत का प्रचार और प्रसार हो गया और प्राचीन जैनधर्म लुप्त प्राय: हो गया। यहाँ के निवासी इस धर्म से सर्वथा अनभिज्ञ हो गये थे। इस बात का हम विस्तार पूर्वक वर्णन पहले कर आये हैं।

१. सत्यवीर-सद्धर्मसंरक्षक मुनि बुद्धिविजय (बूटेराय) जी

वि० सं० १८६३ में जिला लुधियाना, सिरहंद के निकट दलुआ नाम के गाँव में सिक्ख धर्मानुयायी जाट जमींदार सरदार टेकसिंह के घर एक बालक का जन्म हुआ इसका नाम

बूटासिंह रखा। इसने २५ वर्ष की आयु में वि० सं० १८८८ में ढूंढक साधु की दीक्षा ली। नाम बूटाराय रखा गया। १० वर्षों तक निरंतर जैनशास्त्रों का अभ्यास तथा साधु जीवन का पालन करते रहे। शास्त्रज्ञान प्राप्त करने पर इन्हें ऐसा लगा कि ढूंढक मत जिसकी मैंने दीक्षा ली है यह जैनशास्त्रों की मान्यता के प्रतिकूल है। वि० सं० १८९८ से १९०५ तक विशेष अभ्यास मनन चिंतन तथा उस समय के इस मत के साधु-संतों एवं विद्वान श्रावकों से इन्होंने इस विषय पर चर्चाएं की जिसके परिणामस्वरूप आपका निश्चय दृढ़ हो गया और वि० सं० १९०३ में आप ने व आप के शिष्य मूलचन्द जी ने मुखपर मुंहपत्ति बांधना छोड़ दिया और उसे हाथ में लेकर मुख के आगे रखकर बातचीत तथा व्याख्यान आदि करने लगे। सच्चे गुरु की खोज का इतजार करने लगे। इस बीच में आपने जिनमूर्ति, जिनमंदिर मान्यता तथा मुंहपत्ति के विषय में ढूंढक साधुओं के साथ चर्चाएं की और कोई समाधान न पाकर सर्वत्र जिनपूजा के प्रचार में जुट गये। वि० सं० १९१२ में अपने शिष्य मूलचन्द तथा वृद्धिचंद को साथ लेकर आप अहमदाबाद गये। रास्ते में बड़े-बड़े प्राचीन सब जैनमंदिरो और तीर्थों की यात्रायें की और अपनी जिनप्रतिमा की मान्यता के प्रतीक रूप इन प्राचीन मंदिरों को देखकर आप को सत्य का साक्षात्कार हुआ। अहमदाबाद में जाकर आप ने ऐसे जैन मुनिराजों को देखा जिनको पहले कभी नहीं देखा था। ये थे श्वेतांबर जैन संवेगी साधु। जब से आपने ढूंढक मत की दीक्षा ली थी तब तक आप इतना ही जानते थे कि ढूढक मत के साधु तो जैनशास्त्रों में बतलाये हुए मुनि के आचार के विपरीत है अन्य कोई भी इस मत में ऐसा साधु नज़र नहीं आता जो शुद्ध जैनधर्म का अनुगामी हो। अतः इस काल मे कोई सच्चा जैन साधु है ही नहीं। जब आपने इन साधुओं के दर्शन किये और इनके निकट सम्पर्क में आये तब आप ने हर्ष का अनुभव किया कि आज भी सच्चे जैन साधु भारत मे विद्यमान है इसके बाद पूरे दो वर्ष सच्चे गुरु की तलाश में लगा दिये। अन्त में वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद मे सत्य सनातन जैनधर्म की तपागच्छीय मुनि मणिविजय जी से संवेगी दीक्षा ग्रहण कर और आगमानुकूल सत्यमार्ग को अपनाकर अपनी चिर प्रतीक्षित मुराद को पाया। आपके साथ आपके ही शिष्यरूप में मुनि मूलचन्द जी और मुनि वृद्धिचन्द जी ने भी संवेगी दीक्षा ग्रहण कर सत्यमार्ग को अपनाया। पूज्य मणिविजय जी महाराज ने बूटेराय का नाम बुद्धिविजय, मूलचन्द का नाम मुक्तिविजय और वृद्धिचन्द का नाम वृद्धिविजय रखा। वि० सं० १९१९ में आप अकेले पुनः पंजाब पधारे। अपने दोनो शिष्यों को गुजरात और सौराष्ट्र मे धर्मप्रचार के लिये छोड़ आये। पंजाब में आकर आपने आठ जैनमंदिरों की प्रतिष्ठाएं कराईं जो आपके उपदेश से बनकर तैयार हो चुके थे और पुनः सात वर्ष तक सत्य जैनधर्म का रावलपिंडी से लेकर दिल्ली तक धर्म प्रचार करते हुए आप वि० सं० १९२६ का गुजरांवाला में चौमासा कर गुजरात की ओर प्रस्थान कर गये और १९२८ को अहमदाबाद पहुंच गये तथा अन्त समय तक आप गुजरात-सौराष्ट्र में ही रहे अन्त में वि० सं० १९३८ में ७५ वर्ष की आयु में आपका अहमदाबाद में स्वर्गवास हो गया। आप ने ५० वर्षों में १७ वर्ष ढूंढक मत तथा ३३ वर्ष श्वेतांबर जैनधर्म के साधु का जीवन व्यतीत किया।

इस मार्ग को अपनाने तथा इसके प्रचार और प्रसार में विरोधियों ने आपको बहुत कष्ट उपसर्ग तथा परिषह किये परन्तु आपने इन्हें मर्दानगी के साथ बर्दाश्त किया और अपने उद्देश्य में

सफल हुए। पंजाब में सैंकड़ों परिवारों ने शुद्धमार्ग अपनाया और उसके ज्ञान को आपके द्वारा प्राप्त कर सन्मार्गगामी बने। आपके ३५ साधु शिष्य थे जिनमें पाँच अति प्रसिद्ध हुए हैं। १—मुक्तिविजय जी (मूलचन्दजी), २—वृद्धिविजय (वृद्धिचन्द) जी, ३—आचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी, ४—मुनि शांतिविजय जी तथा ५—मुनि नीतिविजय जी। पहले के चार पंजाबी थे और अंतिम एक गुजराती थे।

आपने चतुर्मास किये—	पंजाब,	दिल्ली,	राजस्थान,	गुजरात,	सौराष्ट्र,	उत्तरप्रदेश—	कुल
	१८	१०	५	१२	४	१	५०

आपके द्वारा प्रतिबोधित आगमों के ज्ञाता विद्वान मुख्य श्रावक—

१ **गुजरांवाला**— लाला धर्मयश जी दुग्गड़ के सुपुत्र लाला कर्मचन्द जी शास्त्री जिनके साथ सर्वप्रथम शास्त्र चर्चा करके अपनी धारणा को दृढ़ किया और शुद्धधर्म के प्रचार का श्रीगणेश किया। शास्त्री जी के प्रभाव से सारा गुजरांवाला का संघ सत्यधर्म का अनुयायी बना। शास्त्री जी ने वि० सं० १६०२ से १६०७ तक लगातार छह वर्षों तक आपके प्रथम शिष्य मूलचन्द जी को जैन शास्त्रों का अभ्यास कराकर सत्यधर्म के दृढ़ संस्कार दिये।

२. **पपनाखा**—लाला गणेशशाह दुग्गड़ तथा लाला जवन्दामल गद्दहिया इन दोनों के प्रतिबोध के बाद इनके सहयोग से यहाँ का सारा संघ शुद्धधर्म का अनुयायी बना।

३ **रामनगर**- लाला मानकचन्द जी गद्दहिया हकीम। ३२ मूलागमों के जानकार थे। इनसे आपने शास्त्र चर्चा करके प्रतिबोधित किया और इनके साथ सारा संघ आपका अनुयायी हो गया।

४- **लाहौर**—लाला साहिब दित्तामल, लाला हरिराम और लाला बूटेशाह जौहरी आदि।

५ **अमृतसर**—लाला उत्तमचन्द आदि।

६. **पिंडदादनखां** -लाला देवीसहाय अनविषपारख।

७. **रावलपिंडी**—प्रज्ञाचक्षु-तपस्वी मोहनलाल जख।

८ **अम्बाला शहर**—लाला मोहरसिंह, लाला सरस्वतीमल अग्रवाल।

६ **दिल्ली**—लाला भोलानाथ टांक, शिवजीराय खजलानी इन्द्रजीत दूगड़ तथा हीरालाल दूगड़।

१०. **जम्मू**—लाला सोभाराम ओसवाल भावड़ा कवि।

११. **पसरूर** - **किला सोभासिंह**—लाला जिवन्दशाह दूगड़।

इसी प्रकार रावलपिंडी से लेकर दिल्ली तक प्रत्येक गाँव-नगर में आपके विद्वान भक्त श्रावक थे।

आपके जीवन की मुख्य घटनाएं

१. वि० सं० १८६३ (ई० स० १७०६) में पंजाब में दलुआ नामक गाँव में सिक्ख धर्मानुयायी जाट-क्षत्रिय वंश में चौधरी टेकसिंह गिल गोत्रीय की पत्नी कर्मोदेवी की कुक्षी से आप का जन्म हुआ। जन्म नाम माता-पिता द्वारा रखा हुआ **दलसिंह** परन्तु आपका नाम **दलसिंह** प्रसिद्धि पाया।

२. वि० सं० १८७१ (ई० स० १८१४) में पिता टेकसिंह की मृत्यु। माता के साथ दूसरे गाँव बड़ाकोट साबरवान में जाकर बस जाना। वहाँ पर आपका नाम बूटासिंह प्रसिद्ध हुआ।

३. वि० सं० १८७८ (ई० स० १८२१) में १५ वर्ष की आयु में संसार से वैराग्य, १० व तक गुरु की खोज।

४. वि० सं० १८८८ (ई० स० १८३१) में दिल्ली में लुंका-मत के ढूंढक साधु नागरमल्ल से इस मत की दीक्षा। नाम बूटेराय जी। आयु २५ वर्ष। आप बालब्रह्मचारी थे।

५. वि० सं० १८८८ से १८९० तक दो वर्ष तक गुरु जी के साथ रहे। दिल्ली में तीन चौमासे किये थोकड़ों और आगमों का अभ्यास किया।

६. वि० सं० १८९१ (ई० स० १८३४) में तेरापंथ मत (ढूंढक मत का उपसम्प्रदाय) के आचार-विचारों को जानने और समझने के लिये उसकी आचरणा सहित उस समय के इस पंथ के आचार्य जीतमल जी के साथ जोधपुर में चौमासा।

७. वि० सं १८९२ में पुन: वापिस अपने दीक्षागुरु नागरमल्ल जी के पास दिल्ली आये। क्योंकि गुरु जी अस्वस्थ थे। दो वर्ष तक उनकी जी जान से सेवा-श्रूषा-वैयावच्च की। वि० सं० १८९३ में दिल्ली में गुरुजी का स्वर्गवास हो गया।

८. वि० सं० १९०४ में दिल्ली में अमृतसर के अमरसिंह ओसवाल तातेड़ गोत्रीय ने साधु रामलाल से ढूंढक मत की दीक्षा ली। इसी चौमासे में आपने रामलाल जी से "मुँहपत्ती मुँह पर बाँधना शास्त्र सम्मत नहीं।" इस विषय पर समाधान के लिये सर्वप्रथम चर्चा की। परन्तु सन्तोष-कारक उत्तर न पाने पर विचारों में हलचल की शुरुआत।

९. वि० सं० १८९७ (ई० सं० १८४०) में गुजरांवाला-पंजाब में शुद्ध सिद्धांत-सद्धर्म की प्ररूपणा का प्रारम्भ। श्रावक लाला कर्मचन्द जी दूगड़ शास्त्री के साथ जिनप्रतिमा तथा मुखपत्ती विषय पर चर्चा करके यहाँ के सकल संघ को प्रतिबोध देकर शुद्ध सत्य जैनधर्म का अनुयायी बनाया।

१०—विक्रम संवत् १८९७ से १९०७ (ई० स० १८४० से १८५०) तक १० वर्षों में रामनगर, पपनाखा, किला दीदारसिंह, गोंदलांवाला, किला सोभासिंह, जम्मू, पिंडदादनखाँ, रावलपिंडी, पसरुर, दिल्ली, अमृतसर, लाहौर, अम्बाला आदि पंजाब के अनेक गाँवों और नगरों में सद्धर्म की प्ररूपणा द्वारा सैकड़ों परिवारों को शुद्ध जैनधर्म को स्वीकार कराया। लुंकामतियों के साथ शास्त्रार्थों में विजय पायी। अनेक प्रकार के कष्ट, उपसर्ग, परिषह बर्दाश्त करते हुए एकाकी विरोधियों का डटकर मुकाबला किया और विजयपताका फहराई।

११—वि० सं० १९०२ (ई० स० १८४५) में स्यालकोट निवासी मूलचन्द ओसवाल भावड़े बरड़ गोत्रीय को गुजरांवाला में ढूंढक मत की दीक्षा दी। नाम ऋषि मूलचन्द रखा और अपना शिष्य बनाया। इसे सुयोग्य विद्वान बनाने के लिए गुजरांवाला में ही वि० स० १९०७ तक (छह वर्षो) तक यहाँ के बारह व्रतधारी सुश्रावक लाला कर्मचन्द जी दुग्गड़ शास्त्री के सानिध्य में रखकर जैनागमों का अभ्यास कराया और आपने अकेले ही ग्रामानुग्राम विचरण करके सारे पंजाब में सद्धर्म का प्रचार किया।

पूज्य बुद्धि विजय जी चार शिष्यों सहित



श्री मूलचंदजी (मुक्तिविजयजी गणी) महाराज



(आत्मारामजी) न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानन्दसूरि महाराज



मुनिराजश्री बुद्धिविजयजी (बूटेरायजी)



मुनिराजश्री वृद्धिविजयजी

वृद्धिचन्द्र



मुनिराजश्री खांतिविजयजी



मुनि श्री हर्षविजय जी



आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि



आचार्य श्री विजय समुद्र सूरि



आचार्य श्री इन्द्रदिन्न सूरि

१२—वि० सं० १६०३ (ई० स० १८४६) में गुजरांवाला और रामनगर के मार्ग में गुरु शिष्य ने मुंहपत्ति का डोरा तोड़ा और बोलते तथा व्याख्यान करते समय सदा हाथ में लेकर मुंह के आगे रखकर इसका उपयोग प्रारंभ किया।

१३—वि० सं० १६०८ (ई० स० १८५१) को पंजाब से गुजरात जाने के लिए विहार किया। जैनतीर्थों की यात्रा, शुद्ध जैनधर्मानुयायी, सद्गुरु की खोज, श्री वीतराग केवली भगवतों द्वारा प्ररूपित आगमों में प्रतिपादित स्वलिंग मुनिवेष को धारण करके मोक्षमार्ग की आराधना और प्रभु महावीर आदि तीर्थंकरों द्वारा जैन मुनि के शुद्ध चरित्र को धारण करने के लिये प्रस्थान किया।

१४—वि० सं० १६०८ में रामनगर निवासी कृपाराम भावड़ा गद्दहिया गोत्रीय को दिल्ली में दीक्षा दी और नाम बृद्धिचन्द्र रखा।

१५—वि० स० १६१२ (ई० स० १८५५) में आपने अहमदाबाद में तपागच्छीय गणि मणिविजय जी से अपने शिष्यों ऋषि मूलचन्दजी तथा ऋषि वृद्धिचन्द जी के साथ जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक धर्म की संवेगी दीक्षा ग्रहण की। आप श्री मणिविजय जी के शिष्य हुए, नाम बुद्धि विजय जी रखा गया तथा अन्य दोनों साधु आपके शिष्य हुए। नाम क्रमशः मुनि मुक्तिविजय जी तथा मुनि वृद्धिविजय जी रखा गया। शुद्ध चरित्र पालक की पहचान के लिए आप लोगों ने पीली चादर ग्रहण की।

१६—वि० सं० १६१६ (ई० स० १८६२) में पुनः पंजाब में आपका प्रवेश हुआ। इस समय आपके साथ अन्य दो शिष्य भी थे।

१७—वि० स० १६२० से १६२६ तक आपने उपदेश द्वारा निर्माण कराये हुए आठ जिन-मन्दिरों की पंजाब में प्रतिष्ठा की। रावलपिंडी, जम्मू से लेकर दिल्ली तक शुद्ध जैनधर्म का प्रचार तथा लुंकामतियों के साथ चर्चाएं की।

१८—वि० सं० १६२८ में पुनः गुजरात में पधारे। वि० स० १६२६ में अहमदाबाद में मुखपत्ती विषयक चर्चा, संवेगी साधुओं, श्री पूज्यों और यतियों, लुंकामतियों के शिथिलाचार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन की शुरुआत की।

१९—वि० स० १६३२ (ई० स० १८७५) में अहमदाबाद में पंजाब से आये हुए ऋषि आत्माराम जी को उनके १५ शिष्यों-प्रशिष्यों के साथ स्थानकवासी अवस्था का त्याग करवाकर संवेगी दीक्षा प्रदान की। श्री आत्माराम जी को अपना शिष्य बनाया। नाम आनन्दविजय रखा। शेष १५ साधुओं को उन्हीं के शिष्यों-प्रशिष्यों के रूप में स्थापन किया। आनन्दविजय जी पालीताना में वि० स० १६४३ में आचार्य बने, नाम विजयानन्द सूरि हुआ।

उपर्युक्त १६ मुनियों के नाम संवेगी दीक्षा में इस प्रकार रखे गये—

लुंकामती नाम	संवेगी नाम	गुरु का नाम
१. श्री आत्माराम जी	श्री आनन्दविजय जी	श्री बुद्धिविजय जी
२. ,, विश्नचन्द जी	,, लक्ष्मीविजय जी	,, आनन्दविजय जी
३ ,, चम्पालाल जी	,, कुमुदविजय जी	,, लक्ष्मीविजय जी
४. ,, हुकुमचन्द जी	,, रंगविजय जी	,, आनन्दविजय जी

५. श्री सलामतराय जी	श्री चरित्रविजय जी	श्री आनन्दविजय जी
६. ,, हाकिमराय जी	,, रतनविजय जी	,, आनन्दविजय जी
७. ,, खूबचन्द जी	,, संतोषविजय जी	,, आनन्दविजय जी
८. ,, कन्हैयालाल जी	,, कुशलविजय जी	,, आनन्दविजय जी
९. ,, तुलसीराम जी	,, प्रमोदविजय जी	,, आनन्दविजय जी
१०. ,, कल्याणचन्द जी	,, कल्याणविजय जी	,, चरित्रविजय जी
११ ,, निहालचन्द जी	,, हर्षविजय जी	,, लक्ष्मीविजय जी
१२ ,, निधानमल जी	,, हीरविजय जी	,, कुमुदविजय जी
१३. ,, रामलाल जी	,, कमलविजय जी	,, लक्ष्मीविजय जी
१४. ,, धर्मचन्द जी	,, अमृतविजय जी	,, रतनविजय जी
१५ ,, प्रभुदयाल जी	,, चन्द्रविजय जी	,, रंगविजय जी
१६. ,, रामजीलाल जी	,, रामविजय जी	,, मोहनविजय जी

आप सब मुनिराजों ने शुद्ध चरित्रधारक और पालक की पहचान के लिए पीली चादर को भी धारण किया। पीली चादर का प्रचलन संवेगी साधुओं में वि० सं० १७०९ में पन्यास सत्यविजय जी ने ढूंढियों और यतियो से भिन्नता और शुद्ध चरित्र की पहचान के लिये किया था।

२०—वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) में अहमदाबाद में आपकी निश्रा में मुनि आनन्दविजय (आत्माराम) जी तथा शांतिसागर के शास्त्रार्थ में मुनि श्री आनन्दविजय जी की विजय हुई।

२१—वि० सं० १९३२ से १९३७ (ई० स० १८७५ से १८८०) तक अहमदाबाद में आत्म-ध्यान तथा योग में लीन रहे।

२२—आपने अनेक बार हस्तिनापुर, सिद्धगिरि, गिरनार आदि अनेक तीर्थों की यात्राए संघो के साथ तथा अकेले भी कीं।

२३—वि० सं० १९३८ (ई० स० १८८१) चैत्र वदि ३० को अहमदाबाद में स्वर्गवास हुआ।

श्री बुद्धिविजय जी द्वारा क्रांति

१—व्याख्यान बाँचते समय कोनों के छेदों में मुँहपत्ती डालकर व्याख्यान न करना।

२—चैत्यवासी यतियों, श्रीपूज्यों, गुरांजी का श्वेतांबर जैनसाधु के वेश में परिग्रह संचय, जिनचैत्यों में निवास तथा जैनशासन विरुद्ध आचार होने के कारण, ऐसे असंयतियों की भक्ति पूजा का विरोध।

३—लुँकामतियों (ढूंढक-स्थानकवासियो) द्वारा जिनप्रतिमा भक्ति का विरोध तथा मुँह-पत्ती में डोरा डालकर चौबीस घंटे उसे मुह पर बाँधे रहना, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित जैनागमों के विरुद्ध साधु वेष होने से ऐसे अन्यलिंगियों की पूजा मानता का निषेध।

४—शिथिलाचारी संवेगी साधुओं का श्रावक-श्राविकाओं द्वारा अपने लिये धन संचय करना-कराना एवं वर्षों तक एक स्थान पर स्थानापति के रूप में निवास करना, रात को दिये-बत्ती की रोशनी मे व्याख्यान करना। साधुओं-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं का एक स्थान में निवास

करना आदि अनेक प्रकार के शिथिलाचार-भ्रष्टाचार सेवन करनेवाले पासत्थों की पूजा तथा अनेक क्रियाएं और बातें जो जैनागमों के विरुद्ध थीं; आपने इनका विरोध कर सुधार का बीड़ा उठाया और सद्धर्म के प्रचार और प्रसार के लिये दृढ़तापूर्वक डट गये।

५—पंजाब में यतियों तथा लुंकामति ऋषियों ने तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित जैनधर्म के शुद्ध स्वरूप में विकृति ला दी थी। इस विकृति को दूर करने के लिए सद्‌प्रयास किये।

६—भारत के अन्य प्रदेशों में उपर्युक्त दोनों कारणों के साथ शिथिलाचारी-स्थानापति संवेग साधु; इन तीनों की जैनागमों के विरुद्ध आचरण का प्रचार हो जाने के कारण जैनधर्म के स्वरूप का विकृत रूप में लोगों में प्रचार हो जाना। जिससे जैनधर्म की निन्दा होने लगी थी। पंजाब में जैनों को लौंका के चूहड़े (भंगी) कहकर जैनेतर लोग घृणा करने लग गये थे। इत्यादि शिथिलताओं, विकृतियों और निन्दा को मिटाने के लिए घोर पुरुषार्थ किया।

७. पंजाब में सदा आप ने एकाकी विहार किया। किसी भी श्रावक आदि की सहायता अथवा आडम्बर आदि के बिना विचरते रहे। आहार-पानी निवासस्थान आदि की दुर्लभ प्राप्ति अथवा अभाव के कारण क्षुधा-पिपासा आदि परिषह सहन करने में दृढ़ संकल्प थे। पंजाब में विरोधियों की तरफ़ से उत्पात के कारण अपनी सुरक्षा तथा सुख सुविधाओं के लिये अपने साथ किसी भी प्रकार का प्रबन्ध रखना, शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन समझते थे। आप किसी भी भक्त अथवा श्रीसंघ की सहायता के बिना तथा उन्हें बिना समाचार दिये विहार करते थे।

८. आपने एकाकी घोर उपसर्गों, कठोर परिषहों, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी को बर्दाश्त कर श्री वीतराग केवली तीर्थंकर भगवन्तों के वास्तविक सत्यधर्म के पुनरुत्थान करने में विजय प्राप्त की। पश्चात् आपके ही लघु शिष्य तपागच्छीय जैनाचार्य न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानन्द सूरीश्वर (आत्माराम) जी महाराज ने इन पाखंडों को जड़मूल से हिला दिया।

९. गुजरात और सौराष्ट्र में आप श्री के साथ आप के दो सुशिष्यों ने गणिश्री मुक्तिविजय जी, आदर्श गुरुभक्त मुनि श्री वृद्धिविजय जी, पंजाब में नवयुग निर्माता श्री विजयानन्द सूरि जी ने विजय दुन्दुभी बजायी। गणि मुक्तिविजय जी तथा शांतमूर्ति वृद्धिविजय जी गुजरात में आने के बाद अपनी जन्मभूमि पंजाब में कभी नही पधारे। ये दोनों गुजरात और सौराष्ट्र में ही विचरे।

१०. हाँ आप मुनिराजों के शिष्यों-प्रशिष्यों ने भारत के अन्य सारे प्रदेशों में भ्रमण करके इन तीनों गुरुभाइयों गणि मुक्तिविजय जी, शांतमूर्ति मुनि वृद्धिविजय जी तथा आचार्य विजयानन्द सूरि जी ने जिन क्षेत्रों को स्पर्श नही किया था; वहाँ विचर कर भी सद्धर्म का सर्वव्यापक प्रचार किया।

११. आज तपागच्छ में हज़ारों साधु-साध्वियाँ हैं। इनमें अधिकतम समुदाय सद्धर्म संरक्षक मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी का ही है।[1]

सारांश यह है कि यद्यपि भारत में अंग्रेज़ों का राज्य स्थापित हो चुका था परन्तु पंजाब

1. यहां अति संक्षिप्त जीवन वृतांत सद्धर्म संरक्षक का लिखा है। विस्तार से जानने के इच्छुक-देखें इसी लेखक द्वारा लिखित सद्धर्म संरक्षक नामक पुस्तक।

में लोहपुरुष सिक्ख वीर शेरे पंजाब महाराजा रणजीतसिंह का राज्य था। यहाँ जिनमंदिर थे किन्तु इन्हें पूजने वाला कोई नहीं रहा था। जो मन्दिर यतियों के थे वे तो बचे रहे, बाकी के प्रायः समाप्त कर दिये गये थे। आप ने पंजाब में पुनः सद्धर्म की स्थापना तो की, किन्तु गुजरात और सौराष्ट्र को भी धर्म में खूब चुस्त किया। आप को पंजाब की सार-संभाल की सदा चिंता रहती थी परन्तु वृद्धावस्था के कारण फिर पंजाब में न आपाये।

अलौकिक धर्मप्रेम, असीम आत्मश्रद्धा, अजोड़ निःस्वार्थता, और अद्भुत निस्पृहता से क्षत्रीय बालब्रह्मचारी श्री बूटेराय जी महाराज इस काल में संवेगी साधु संस्था के आदि जनक कहलाये। पंजाब से लेकर गुजरात-सौराष्ट्र में समस्त जीवन पर्यन्त जैनधर्म का डंका बजाने में आप अलौकिक पुरुष के रूप में निखरे। सद्धर्म के संरक्षण के लिये प्राणों की बाज़ी लगाकर सच्चे वीर पुरुष कहलाये और अपने पीछे वैराग्य तथा चरित्र सम्पन्न शिष्य समुदाय छोड़ गये।

आप ने मुख्य रूप से लुंकामतियों से अनेक बार दो विषयों पर चर्चाएं की। वे है (१) मुंहपत्ती और (२) जिनप्रतिमा की उपासना। हम यहाँ पर इन चर्चाओं का उल्लेख पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के नाम से करते हैं।

१—मुंहपत्ती चर्चा

चर्चा का विषय था—"क्या मुंहपत्ती को मुंह पर बांधना जैनागम सम्मत है और न बांधने से जीवहिंसा होती है या नही ?

पूर्वपक्ष—प्रभु महावीर आदि तीर्थंकरों के साधु साध्वी अपने मुंह पर मुंहपत्ती बांधते थे, इसलिये हम भी बांधते हैं। इसका प्रमाण श्री विपाक सूत्र मे प्रभु महावीर के प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गोतमस्वामी का विद्यमान है और मुखपत्ती मुंह पर नही बांधने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा होती है। पंचमांग श्री भगवती सूत्र के शतक १६ उद्देशे २ में शक्रेन्द्र के प्रसंग में खुले मुंह बोलने से भगवान महावीर ने बोलने वाले की भाषा को सावद्य कहा है। सावद्य शब्द का अर्थ है – हिंसादि दोष वाली।

उत्तरपक्ष (१)—विपाक सूत्र मे वर्णन है कि श्री गौतमस्वामी को रानी मृगादेवी ने कहा कि अपने मुँहपर मुंहपत्ती बांध लो क्योंकि जिस रोगी मृगापुत्र लोढा के पास हमने जाना है उसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध छूट रही है। यदि गौतमस्वामी के मुख पर पहले मुंहपत्ती बन्धी होती तो बांधने को क्यों कहा? इससे स्पष्ट है कि गौतमस्वामी के मुख पर मुंहपत्ती बन्धी नही थी। दुर्गन्ध से बचने के लिये उन्हे रानी ने मुंह-नाक ढांकने के लिये कहा था, वह भी मात्र उतने ही समय के लिये कि जब तक वे रोगी के पास रहे, न कि सदा सर्वदा के लिये। वह पाठ इस प्रकार है—

"तते णं से भगवं गोतमे मियादेविं पिट्ठओ समणुगच्छति। तते णं सा मियादेवी त कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता चउप्पुडेणं वत्थेण मुहं बंधमाणी भयवं गोतमं एवं वयासि तुब्भे वि णं भंते ! मुंहपोत्तियाए मुंहं बंधह। तते णं भगवं गोतमे मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुंहं बंधति। बंधइत्ता।" इत्यादि

(विपाक-सूत्र मृगापुत्र लोढा का अधिकार)

अर्थात्—तब भगवान गौतम स्वामी मृगादेवी के पीछे-पीछे चल दिये। तत्पश्चात् वह मृगादेवी काष्ठ की गाड़ी को खेंचती खेंचती जहाँ भूमिघर (भोयरा) है वहाँ आती है और चार पट

के वस्त्र से अपना मुंह बांधती है। फिर भगवान गौतम स्वामी से कहती है कि हे गुरुदेव! मुंहपत्ती से मुंह बाँधिये। मृगादेवी के ऐसा कहने पर (आपने भी) मुंहपत्ती से मुख को बांधा। बांधकर इत्यादि।

उपर्युक्त पाठ से यह स्पष्ट है कि मृगादेवी ने गौतम स्वामी को दुर्गन्ध से बचने के लिये ही मुंह को ढाँकने के लिये कहा था और वह भी उस मुंहपत्ती से जो उनके हाथ में थी। परन्तु सावद्यभाषा अथवा वायुकाय की हिंसा से बचने के लिये नहीं कहा था। जैनश्रमण नंगे सिर रहता है, यदि उसका सिर फोड़े-फुंसियों से भर जाय और मक्खियों आदि के उपद्रव से रोकने के लिये सिर को कपड़े से ढांकना पड़े, तो इसका प्रयोजन सिर को दिन-रात चौबीस घंटे जीवन पर्यन्त ढांकने का नहीं है। यदि कोई व्यक्ति यह प्रमाण देकर चौबीस घंटे जीवन पर्यन्त सिर ढांकने का सिद्धांत बना ले तो विचक्षण लोग उसे बेसमझ ही कहेंगे। वैसे ही इस प्रसंग से समझना चाहिये।

(२) भगवती सूत्र के शक्रेन्द्र वाले पाठ को भी समझ लेना चाहिये, जो इस प्रकार है—

(प्रश्न) "सक्के णं भंते देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासति अणवज्जं पि भासं भासति ?

(उत्तर) गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासति अणवज्जं पि।

(प्रश्न) से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ-सावज्जं पि जाव अणवज्जं पि भासं भासति ?

(उत्तर) गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिजूहित्ता णं भासं भासति, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासति। जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिजूहित्ता ण भासं भासति, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासति, से तेणट्ठे णं जाव-भासति।

(प्रश्न) देविंदे देवराया किं भवसिद्धीए अभवसिद्धीए सम्मदिट्ठीए-मिच्छादिट्ठीए।

(उत्तर) एवं जहाओ उद्देसए सणंकुमारे जाव नो अचरिमे।" (भगवती सूत्र श० १६,२०२)

अर्थात्— (प्रश्न) "हे प्रभो ! शक्र देवेन्द्र देवताओं का राजा सावद्य (पाप युक्त) भाषा बोलता है अथवा निरवद्य (पाप रहित) भाषा बोलता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! वह सावद्य भाषा भी बोलता है निरवद्य भाषा भी बोलता है।

(प्रश्न) हे पूज्य! आप ऐसा कैसे कहते हैं कि वह सावद्य भी, निरवद्य भी भाषा बोलता है ?

(उत्तर) हे गौतम ! यदि शक्रेन्द्र देवेन्द्र, देवताओं का राजा मुख को हाथ से ढांक कर अथवा वस्त्र से ढांककर नहीं बोलता तो सावद्य भाषा बोलता है। यदि हाथ या वस्त्र से मुख को ढांककर बोलता है तो निरवद्य भाषा बोलता है।

(प्रश्न) हे भगवन् ! शक्रेन्द्र देवेन्द्र देवताओं का राजा भव-सिद्ध हैं अथवा अभव-सिद्ध है, सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि हैं !

(उत्तर) हे गौतम ! हम इसका खुलासा इसी आगम के तृतीय शतक के प्रथम उद्देशे में सनत्कुमार के वर्णन में कर आये हैं। वहाँ से जान लेना।"

सनत्कुमार का प्रसंग इस प्रकार है—

(प्रश्न) "सणं कुमारे णं भंते। देवीन्दे देवराया किं भवसिद्धीए, अभवसिद्धीए ? सम्म-

दिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए? परित्त-संसारए अनंत-संसारए? सुलभदिट्ठीए दुल्लभदिट्ठीए? आराहए विराहए? चरिमे अचरिमे?

(उत्तर) गोयमा! सणं कुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धीए, नो अभवसिद्धीए, एवं सम्मदिट्ठीए, परित्त संसारए, सुलभ बोहिए, आराहए, चरमे पसत्थं नेयव्वा।

(प्रश्न) से केणट्ठेणं भंते?

(उत्तर) गोयमा! सणं कुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं हि बहूणं सावियाणं अकामए, सुहकामए, पत्थकामए, आणुकंपिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह (निस्सेयंसिए निसेसकामए) से तेणट्ठेणं गोयमा! सणं कुमारे णं भवसिद्धीए, जाव नो अचरिमे।

अर्थात्—(प्रश्न) "हे भगवन्! क्या देवेन्द्र देवताओं का राजा सनत्कुमार भवसिद्धिक है अथवा अभवसिद्धिक है? सम्यग्दृष्टि है अथवा मिथ्यादृष्टि है। मित्त संसारी है अथवा अपरिमत्त संसारी है? सुलभ बोधवाला है अथवा दुर्लभ बोधवाला है? आराधक है अथवा विराधक है? चरिम है अथवा अचरिम है?

(उत्तर) हे गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार भवसिद्धिक है पर अभवसिद्धिक नहीं है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि है, मित संसारी है, सुलभ बोधवाला है, आराधक है, चरम है। यानी सब प्रशस्त जानना।

(प्रश्न) हे प्रभो! ऐसा कहने का क्या कारण है?

(उत्तर) हे गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों, बहुत श्राविकाओं का हितेच्छु है, सुखेच्छु है, पथ्येच्छु है उनपर अनुकम्पा करनेवाला है, उनका निःश्रेयस चाहने वाला है (इन उपर्युक्त सब बातों का इच्छुक है)। इसलिये हे गौतम! वह सनत्कुमार इन्द्र भवसिद्धिक है यावत वह चरम है पर अचरम नही है।(भगवती श० ३ उ० १)

यहाँ पर भी मुख का ढांकना कहा है बांधना नहीं कहा।

पूर्व पक्ष—आगमों में मुँह को ढांक कर बोलने को कहा है, ऐसा आपने भगवती सूत्र से स्पष्ट कहा है। तो मुखपत्ती मुँह पर बांधना स्वतः सिद्ध हो गया?

उत्तर पक्ष-१. आगम में कहीं भी मुंहपत्ती को डोरा डालकर अथवा किसी अन्य प्रकार से भी चौबीस घंटे मुँह पर मुखपत्ती बांधने का उल्लेख नही है। जहाँ पर भी प्रसंग आया है, हाथ से अथवा हाथ में ही मुँहपत्ती रखकर मुख को ढांकने के लिये कहा है, वह भी मात्र बोलते समय अथवा पडिलेहण करते समय के लिये कहा है। यदि बोलते, व्याख्यानादि वांचते समय अथवा चौबीस घंटे मुहपत्ती बांधने का आगम प्रमाण हो तो दिखलाइये? और यदि मुंहपत्ती बंधी हो तो ढांकने का प्रयोजन ही नहीं रहता।

२. दूसरी बात यह है कि वायुकाय आठ स्पर्शी है और मुख की वाष्प अथवा शब्द चार स्पर्शी है। अतः शब्द, वाष्प अथवा दोनों मिलकर भी चार स्पर्शी होने से वायुकाय से अशक्त हैं। इसलिये खुले मुंह बोलने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा संभव नहीं है।

३. यदि खुले मुंह बोलने से निकलने वाले शब्द और वाष्प से वायु कायादि की हिंसा संभव है और बांधने से बचाव होता है तो अधिष्ठान आसन स्थान, नाक एवं मुख तीनों को बांधना

चाहिये ! परन्तु ऐसा तो आप, आपके संत अथवा कोई अन्य भी नहीं करता ! प्रथमांग आचारांग श्रुत स्कन्ध २, अध्याय २, उद्देश्य ३ में कहा है कि अपने शरीर से सात कारणों से वायु निकलते समय भिक्षु अथवा भिक्षुणी को हाथ से ढांककर वायु का निसर्ग करना चाहिये । पाठ यह है—

"भिक्खू वा भिक्खुणी वा ऊसासमाणे वा णिसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभाएमाणे वा उड्डुवाए वा वायणिसग्गे वा करेमाणे वा पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता ततो संजायेमेव ओसासेज्जा वायाणसग्गे वा करेज्जा ।"

अर्थात्—वह साधु अथवा साध्वी १-श्वास लेवे, २. श्वास छोड़े, ३. खांसी करे, ४. छींक करे, ५-जम्भाई (उबासी) लेवे, ६-डकार लेवे अथवा ७-वायु का निसर्ग (गुदा से) करे तो मुख, नासिका और अधिष्ठान आसन स्थान को हाथ से ढांककर करे ।

(अ) यहाँ पर मुख, नाक, अधिष्ठान आसन को हाथ से ढांकना कहा है, बांधना नहीं कहा यदि मुख बंधा होता तो हाथ से ढांकना क्यों कहा ? इससे स्पष्ट है कि जैनसाधु-साध्वी को कभी भी चौबीस घंटे मुंह बांधना आगम सम्मत नहीं है ।

(आ) यदि मुंह बांधने से वायुकाय आदि की हिंसा का बचाव है और न बांधने से हिंसा होना मान भी लिया जाय तो मुख बांधने से खांसी, जंभाई, डकार और शब्द के वेग तो रुक गये किन्तु नाक से निकलने और अंदर जाने वाला प्रतिपल श्वास-निश्वास तथा कभी-कभी आनेवाली छींक एवं अधिष्ठान आसनस्थान (गुदा) से निकलने वाली वायु (पाद) द्वारा होनेवाली हिंसा से बचने केलिये मुंह के साथ अन्य दोनों स्थानों को भी बांधना चाहिये ? परन्तु ऐसा तो आप लोग भी नहीं करते ? छींक तथा पाद से निकलने वाले शब्द के साथ वायु का वेग तो श्वोच्छ्वास और मुख से निकलने वाले वाष्पादि से भी अधिक वेग पूर्ण होता है ? इससे स्पष्ट है कि तीनों स्थानों से निकलने वाले वायु, शब्द और वाष्प से हिंसा संभव नहीं है ।

(इ) मुंह पर मुंहपत्ती बांधने से भी मुख से निकलने वाले वाष्प शब्द आदि मुंहपत्ती को पार-करके अथवा उसके सब तरफ़ से निकलकर बाहर आते हैं रुक नहीं सकते । क्योंकि मुख से निकला हुआ शब्द जब वायु के द्वारा बाहर आता है तभी सुनाई पड़ता है । प्रज्ञापणा आदि जैनागमों में शब्द का तुरन्त चौदह राजलोक में फैल जाने का वर्णन आता है । यदि मुख के शब्द और वायु से हिंसा संभव है तो मुंहपत्ती बांधने पर भी वायु सहित शब्द के बाहर आ जाने से हिंसा न रुक पायेगी ।[2]

1. वर्तमानकाल में सदाकाल मुंहपत्ती बांधने वाले ऋषि, साधु-साध्वी भी लाउडस्पीकर (ध्वनिवर्धक यंत्र) द्वारा व्याख्यान, प्रवचन आदि करते हैं जिस से शब्द अधिक वेग के साथ निकल कर दूर-दूर तक पहुंचता है । यदि शब्द से जीव हिंसा की इन की मान्यता सत्य है तो जान-बूझ कर लाउडस्पीकर का प्रयोग करना उनके लिये कहाँ तक उचित है ?

2. सम्मूर्च्छिम जीव—माता-पिता के संयोग के बिना, गंदगी आदि से उत्पन्न होने वाले द्विन्द्रीय से लेकर पचेन्द्रीय तक जो प्राणी हैं वे सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं । पैंतालीस लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में ढाईद्वीप और समुद्रों में पंद्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्मभूमियों और छप्पन्न अन्तर्द्वीपों में गर्भज (माता के गर्भ से पैदा होने वाले) संज्ञी मनुष्य रहते हैं । उनके मलमूत्रादि से सम्मूर्च्छिम मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं वे पंचेन्द्रीय होते हैं, उन की अवगाहना (लंबाई) अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है, आयु अन्तमुहुर्त की होती है, चर्मचक्षु से दिखलाई नहीं देते इतने सूक्ष्म हैं ये असंज्ञी (मन रहित) मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं । [पन्नवणा पद १ सूत्र ९१ आचारांग, अनुयोगद्वार]

४. चौबीस घंटे मुख पर मुँहपत्ती बांधे रहने से मुँह से निकलने वाले बाष्प और थूक मुँह के सब तरफ़ जमा हो जाने से त्रस जीवों की हिंसा संभव है। आगम में थूकादि १४ अशुचि स्थानों से सम्मूर्च्छिम त्रस जीवों की—यहाँ तक कि असंज्ञी पंचेन्द्रीय मनुष्यों तक की उत्पत्ति होना माना है। ऐसे जीवों की थूक से उत्पत्ति होकर क्षण-क्षण में मृत्यु होती है।[1]

इसलिये मुख बांधे रहने से इन पंचेन्द्रीय आदि त्रस जीवों की उत्पत्ति तथा हिंसा संभव है। अतः आगम प्रमाण से भी अहिंसा संभव नहीं है।[2]

अतः स्पष्ट है कि मुख के शब्द बाष्प और वायु से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा मानकर मुँह पर मुँहपत्ती बांधना न तो आगमानुकूल है और न ही प्रत्यक्ष प्रमाण, इतिहास और तर्क की कसौटी पर कसने से उपयुक्त है। इसके विपरीत मुँहपत्ती बांधने से स्थावर जीवों की हिंसा न होकर त्रस जीवों की हिंसा अवश्य संभव है।

पूर्व पक्ष—फिर तो मुँहपत्ती को हाथ में लेकर मुँह ढांकने का क्या प्रयोजन। मुँह पर बांधने से ही इसका नाम मुँहपत्ती सार्थक है। इससे स्पष्ट है कि मुँह बाँधना चाहिये ? नहीं तो हाथपत्ती कहना चाहिये।

उत्तर पक्ष—मुँहपत्ती का अर्थ है जो वस्तु मुख के लिये काम में आवे। जैसे पगड़ी, टोपी आदि सिर पर रखी जाती है फिर वह चाहे कहीं भी पड़ी हो पगड़ी और टोपी ही कहलायेगी। जूता पग में पहनने के काम आता है फिर वह कहीं पड़ा हो जूता ही कहलायेगा। आप लोग जिस मकान को स्थानक कहते हो और उसे स्थानकमार्गी साधु साध्वियों का निवास स्थान कहते हो, उस मकान में चाहे कोई साधु-साध्वी कभी भी न ठहरा हो स्थानक ही कहलायेगा। इसी प्रकार मुँहपत्ती का सही अर्थ यही है कि जो वस्त्र मुख के लिये काम में आवे। फिर वह चाहे हाथ में हो, चाहे कहीं रखा हो। इसलिये इसका अर्थ मुख पर बांधने का संभव नही है।

दशवैकालिक सूत्र में मुखस्त्रिका के लिये **हत्थग** (हस्तक) शब्द का प्रयोग भी आया है इससे भी प्रमाणित होता है कि मुखवस्त्रिका हाथ में रखनी चाहिये और बोलते समय उससे मुख को ढांककर बोलना चाहिये। अतः हाथ में रखने से भी यह मुखवस्त्रिका ही कहलायेगी। वह पाठ यह है—

"अणुन्नवित्तु मेहावी, परिच्छिन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजये॥ (५।८३)

---

1. इन के उत्पत्ति स्थान १४ हैं जो कि इस प्रकार है—
(१) उच्चारेसु [विष्टा में] (२) पासवणेसु [मूत्र में] (३) खेलेसु [थूक-कफ में] (४) सिंघाणेसु [नाक के मैल में (५) पित्तेसु [पित्त में] (६) वन्तेसु [वमन में] (७) पूएसु [पीप, राध, और दुर्गन्धयुक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में] (८) सोणिएसु [खून में] (९) सुक्केसु [शुक्र-वीर्य मे] (१०) सुक्कपुग्गल परिसाडेसु [वीर्य के त्यागे हुए पुद्गलों में] (११) विगय जीव कलेवरेसु [जीव रहित मुर्दा शरीर में] (१२) थी-पुरिस सञ्जोएसु [स्त्री पुरुष के समागम में] (१३) नगर निद्धमणेसु [नगर की मोरी में] तथा (१४) सव्वेसु असुइ-ठाणेसु [सब अशुचि के स्थानों में]। उपर्युक्त १४ अशुचि स्थानों में असंज्ञी पचेन्द्रीय मनुष्य उत्पन्न होते हैं।
2. विज्ञान ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी थूकादि में संमूर्छिम त्रस जीवों की उत्पत्ति और विनाश अल्प समय में होना प्रत्यक्ष कर दिखलाया है।

व्याख्या—तत्र 'अणुन्नवि त्ति' अनुज्ञाप्य सागारिक परिहारतो विश्रमण व्याजेन तत्स्वामिन-मवग्रहं 'मेधावी' साधु 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठादौ 'संवृतं' उपयुक्त सन् साधुः ईर्या प्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु 'हत्थगं' हस्तकं मुखवस्त्रिका रूपं आदायेति वाक्य शेषः 'संप्रमृज्य' विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत 'संयतो' राग-द्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥

भावार्थ—ग्रामादि से गोचरी लाकर आहार करने के निमित्त स्थानवाले गृहस्थी से आज्ञा लेकर एकान्त स्थान में जाकर ईर्यावही पडिकमे तदनन्तर हत्थग अर्थात् मुखवस्त्रिका पडिलेहे। उससे विधिपूर्वक शरीर की पडिलेहणा करे। उसके बाद समभावपूर्वक एकान्त में आहार करे।

इस गाथा में मुखवस्त्रिका केलिये प्रयुक्त हुआ शब्द 'हस्तकं'[1] मुखवस्त्रिका के हस्तगत होने की ओर ही संकेत करता है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये और प्रमाण देता हूं।

१-अंगचूलिया शास्त्र ४३ सूत्र में कहा है कि पुत्तिं पत्तिं पोहिय वंदणं दाओ। अर्थात्—पहले मुख को वस्त्र से ढांककर पीछे वन्दना करे। यदि मुँह बंधा होता तो मुख ढांकने को क्यों कहते ?

२—"चउरंगुल पायाणं मुंहपत्तिं उज्जुए, उवहत्थ रयहरणं।

वोसट्ठ चत्त देहो काउस्सग्गं करिज्जाहि।" (आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५४५)

---

1. ढूंढकों (स्थानकमार्गियों) के उपसंप्रदाय तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी गणि जी ने अपने द्वारा संपादित दशवैकालिक की हत्थगं वाली गाथा की टिप्पणी में नं० २०३ से २०४ तक पृष्ठ २७ में लिखा है कि—'अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्ति) स्वामी की अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—"हे श्रावक ! तुम्हे धर्मलाभ है। मैं मुहूर्त भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ।" "अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार प्रकट होती है—"गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है—आप चाहते हैं वैसे ही विश्राम की आज्ञा देता हूं।" छाये हुए एवं संवृत स्थान में (पडिछन्नम्मि संवुडे)। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'पडिछन्न और संवृत' ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं। उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं, शांताचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ में स्थान का विशेषण माना है और गौणार्थ में संवृत को भूमिका विशेषण माना है। बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार स्थल 'प्रच्छन्न' ऊपर से छाया हुआ और 'संवृत' पार्श्वभाग में आवृत होना चाहिये। इस दृष्टि से प्रतिच्छन्न और संवृत दोनों विशेषण होने चाहिये। हस्तक से (हत्थग) हस्तक का अर्थ मुखपोतिका[1] मुखवस्त्रिका होता है। कुछ आधुनिक व्याख्याकार [स्थानकमार्गी] हस्तक का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी) करते हैं। किन्तु यह साधार नहीं (बिना आधार के) लगता है। ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रंथों में मुखवस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन करना[2] बतलाया है। पात्र केसरिका का अर्थ होता है पात्र मुखवस्त्रिका के काम आने वाला वस्त्र खंड। 'हस्तक',[3] मुखवस्त्रिका और मुखांतक, ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

१-(क) अ० चू० ससि सोवरियं हत्संतं हत्थगं।

२-(ख) जि० चू० पृ० १८७ मुखपोतिया भण्णइ त्ति।

३-(ग) हा० टी० पृ० १७८ हस्तक मुखवस्त्रिका रूपं। (तुलसी गणि संपादित दशवैकालिक)

व्याख्या—**चउरंगुल-त्ति** चत्तारि अंगुलानि **'पायाणं'** अंतरं करेयव्वं **'मुहपत्ति'** मुहपोत्ति उज्जोए त्ति **दाहिण हत्थेण मुंहपोत्तिया घेतव्वा उव्वहत्थे रयहरणं'** कायव्वं एतेण विहिणा **'वोसट्ठ चित्तदेहो'त्ति** पूर्ववत् काउस्सग्गं करिज्जाहि त्ति गाथार्थः।

इस गाथा में कायोत्सर्ग की विधि का वर्णन है। कायोत्सर्ग केलिये इस प्रकार खड़े होना चाहिये, जिससे दोनो पैरों के बीच में चार अंगुल का अन्तर हो दक्षिण (दाहिने) हाथ में मुंहपत्ती एवं (बायें) हाथ में रजोहरण रखना। दोनों भुजाओं को लम्बी लटकाकर सीधे खड़े होकर शरीर का व्युत्सर्ग करते (शरीर को वोसराते) ध्यानारूढ़ होना चाहिये। यह काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) की विधि है। इस गाथा में कायोत्सर्ग करते समय मुखवस्त्रिका को दाहिने (सीधे) हाथ में रखने का स्पष्ट निर्देश है। न कि मुंह पर बांधने की बात है।

आपकी शंका के समाधान केलिये उपर्युक्त प्रमाणों से कोई कमी नही रही होगी अतः समाधान हो गया होगा?

पूर्वपक्ष—आप ने निर्युक्ति आदि के जो प्रमाण दिये है वे हमें मान्य नही हैं। ये तो पीछे के आचार्यों ने मनमाने लिख दिये हैं। हम तो मूल आगमों के पाठ को मानते हैं सो पाठ बतलावें।

दूसरी बात यह है कि **'हत्थग'** शब्द का अर्थ जो **'मुखपोत्तिका'** व्याख्याकार ने किया है हमारे परम्परा के साधु इसका अर्थ **'पूंजनी'** करते हैं। क्योंकि पूंजनी (प्रमार्जनी) हाथ में रखी जाती है और मुंहपत्ती मुंह पर बांधी जाती है। इसलिये इसका अर्थ मुंहपत्ती संभव नहीं है।

उत्तर पक्ष—१. मूलागमों में मुंहपत्ती का वर्णन तो आया है परन्तु इसके स्वरूप और प्रयोजन का वर्णन नहीं मिलता। यदि मिलता है तो ओघनिर्युक्ति में मिलता है और वास्तव में विचार किया जावे तो निर्युक्ति भी आगम के समान ही प्रामाणिक है। कारण कि उसके निर्माता कोई साधारण व्यक्ति नही हैं किन्तु पांचवें श्रुतकेवली चौदह पूर्वधारी जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी हैं। शास्त्रानुसार तो अभिन्न दसपूर्वी तक का कथन भी सम्यक् (यथार्थ) ही माना है। क्योंकि अभिन्न दसपूर्वी नियमेन सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसके लिये नन्दीसूत्र का पाठ यह है—

"इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चउदस्स पुव्विस्स सम्मसुयं अभिण्णा दसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण पर भिण्णेसु भयणा से सम्म सुयं।"

और यह निर्युक्तिकार जैनाचार्य पंचम श्रुत केवली श्री भद्रबाहू स्वामी चतुर्दश पूर्वधारी थे। इसलिये उनकी प्रमाणिकता में सन्देह को स्थान नहीं।

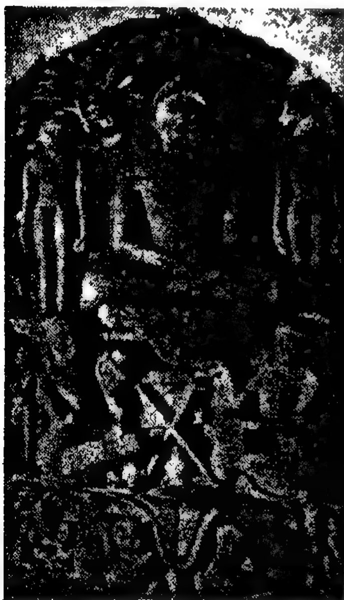
आप लोग हत्थगं शब्द का अर्थ पूंजनी करते हैं यह भी सर्वथा आगम तथा प्रसंग के विपरीत है जो कि इसकी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। **'हत्थग'** का अर्थ **'पूंजनी'** आप के उप-संप्रदाय वाले तेरापंथी भी नही मानते। जो कि वे भी आपके समान ही मुखवस्त्रिका को अपने मुंह पर बांधे रहते हे। अतः आगमविरुद्ध अर्थ करना या मानना उचित नही है। आगमविरुद्ध अर्थ करनेवालो को शास्त्रकारो ने अनन्तसंसारी तथा निन्हूव माना है।

३. ओघनिर्युक्ति में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली दो गाथाएं और भी हैं। एक में मुंहपत्ती-मुखवस्त्रिका के परिमाण-माप का स्वरूप और आकार का वर्णन है तथा दूसरी में उसका प्रयोजन बतलाया है। यथा—

"चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उपमाणं
बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं" ॥७१२॥

व्याख्या—चत्वार्यंगुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणं, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंत यं एतदुक्तं भवति-वसति प्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिका-पृष्टतश्च यथा ग्रंथिर्दातुं शक्यते तथा कर्तव्यं । त्र्यस्रं कोणद्वये गृहीत्वा तथा कृकाटिकयां ग्रंथर्दातुं शक्यते तथा कर्तव्यमिति एतद् द्वितीयं प्रमाण- गणणा प्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेव मुखानन्तकं भवतीति ।

इस गाथा में मुखवस्त्रिका का परिमाण (माप) बतलाया है। जो चारों ओर से एक बेंट और चार अंगुल हो अर्थात् १६ अंगुल लंबी और १६ अंगुल चौड़ी हो ऐसी चार तहवाली मुखवस्त्रिका होती है। यह मुखवस्त्रिका का एक माप है। दूसरा उपाश्रय आदि का प्रमार्जन (प्रतिलेखन) करते समय जिस मुखवस्त्रिका को त्रिकोण करके उसके दोनों सिरों को पकड़कर नासा और मुख ढक जावे और गर्दन के पीछे गाँठ दी जावे, इस प्रकार की मुखवस्त्रिका होनी चाहिये। यह उसका दूसरा माप या स्वरूप है। परन्तु ध्यान में रहे कि यहाँ जो मुखवस्त्रिका के दो माप या स्वरूप बतलाये हैं। वे एक ही मुखवस्त्रिका के दो विभिन्न स्वरूप या माप है। वैसे गणना में तो एक ही मुखवस्त्रिका समझें दो नहीं।



प्रतिमा

४. जैन साधु-साध्वी जब से दीक्षा लेते हैं तभी से ही मुंहपत्ती का प्रयोग हाथ से ही करते हैं। इस बात की पुष्टि के लिये श्री ऋषभदेव की बीच में बैठी हुई प्रतिमा के साथ दो खड़े तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। यह प्रतिमा देवगढ़ किले के जैनमंदिर में है और अतिप्राचीन ईसा से पूर्व समय की है। इसी प्रतिमा में इन तीनों तीर्थंकरों की मूर्ति के नीचे दो जैनसाधुओं की प्रतिमाएं भी अंकित हैं। इनके बीचोबीच स्थापनाचार्य है। एक साधु के हाथ में मुखवस्त्रिका है और दूसरा साधु मुंहपत्ती को खोलकर अपने दोनों हाथों से उसका पडिलेहन कर रहा है।

क्योंकि दिगम्बर साधु अथवा आर्यिका न तो मुंहपत्ती रखते हैं और न स्थापनाचार्य ही रखते हैं। इसलिये इसमें सन्देह का कोई अवकाश ही नहीं रहता कि प्रभु महावीर और उनसे पहले के तीर्थंकरों के समय से मुंहपत्ती को बाँधने का कभी प्रचलन नहीं रहा। निर्ग्रंथ श्रमण-श्रमणी (जो आजकल श्वेतांबर जैनों के नाम से प्रसिद्ध हैं) सदा से मुंहपत्ती का प्रयोग आज तक करते आ रहे हैं।

दूसरी बात इस प्रतिमा से यह भी स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही श्वेतांबर जैन नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की जिनप्रतिमों को मानते तथा पूजा-अर्चा करते आ रहे हैं। (लेखक)

५. दूसरा प्रमाण हम यहाँ हिन्दुओं के शिवपुराण का देते हैं। जिसमें जैनधर्म की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जैनसाधु के स्वरूप का वर्णन दो श्लोकों में इस प्रकार किया है—

"मुण्डितं म्लानवस्त्रं च गुम्फिपात्र समन्वितम् ।
दधानं पुंजिकां हस्ते चालयंतं पदे पदे ॥१॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षिप्यमानं मुखे सदा ।
धर्मेति व्याहरन्तं न वाचा विक्लवया मुनिम् ॥२॥

अर्थात्—सिर से मुंडित (लोचकिये हुए), मलीन वस्त्र पहने हुए, काष्ठ के पात्र और पुंजिका (रजोहरण) हाथ में रखते हुए पद-पद पर उसे चलायमान करते हुए (पडिलेहण करते हुए), हाथ में एक वस्त्र लेकर उससे मुख को ढाँकते हुए और धर्मलाभ मुख से बोलते हुए, ऐसे पुरुष को उत्पन्न किया।

(अ) इन दो श्लोकों से भी स्पष्ट है कि जैन साधु-साध्वी हाथ में लेकर ही मुंहपत्ती का प्रयोग सदा करते हैं।

(आ) इन श्लोकों से इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि निर्युक्तियों, चूर्णियों आदि में वर्णन किये हुए मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने के उल्लेख मूल जैनागमों के अनुकूल हैं। इसलिये उन्हीं के अनुसार आचरण करके तीर्थंकर प्रभु की आज्ञाओं का पालन करना सम्यग् दृष्टि का लक्षण है। यदि निर्युक्ति को न माना जाय तो मुंहपत्ती का स्वरूप कहीं से भी मिलना असंभव नहीं है। अतः इसके विपरीत आचरण करना जिनाज्ञा के विरुद्ध है।

(इ) मुंह को चौबीस घंटे बाँधने का और मुंहपत्ती में डोरा डालकर कानों में लटकाये रहने का आगमों, निर्युक्तियों, चूर्णियों, टीकाओं और भाष्यों (पंचांगी) में कहीं भी न होने से जिनाज्ञा के विरुद्ध जानकर हमने इसको बाँधने का त्याग करना उचित समझा है आप लोग भी ऐसा ही करने से सर्वज्ञ तीर्थंकरों की आज्ञा को पालन करने के सौभागी बनेंगे।

पूर्व पक्ष—मुख द्वारा निकले हुए शब्द-वाष्प आदि से हिंसा संभव नहीं होने से मुंहपत्ती का प्रयोजन कुछ नहीं रहता।

उत्तरपक्ष—इसी ओघनिर्युक्ति में मुंहपत्ती का प्रयोजन जिस गाथा में बतलाया है, उसे भी जान लो—

"संपातिम रयरेणुपमज्जणट्ठा वयंति मुंहपत्ति ।
नासं मुहं च बंधइ तीए वसहीं पमज्जंतो" ॥७१२॥

व्याख्या—संपातिम सत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिमुखेदीयते, तथा रजः सचित्त पृथ्वीकाय-स्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते; तथा रेणु प्रमार्जनार्थं ये मुखवस्त्रिका ग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिका मुखं च बध्नाति तया मुखवस्त्रिकाया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविश्यतीति ॥

इस गाथा का भावार्थ यह है कि—१. बोलते समय संपातिम (उड़ते हुए) जीवों का मुख में प्रवेश न हो, इस लिये मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखकर बोलना। २. पृथ्वीकाय के प्रमार्जन केलिये मुहपत्ती का उपयोग करना अर्थात्—जो सूक्ष्म धूली उड़ कर शरीर पर पड़ी हुई हो उसके प्रमार्जन—प्रतिलेखन केलिये मुखवस्त्रिका को ग्रहण करना प्राचीन ऋषि-मुनियों ने कहा है। ३. उपाश्रय वस्ती आदि की पडिलेहणा करते समय नाक और मुख को बांधने (ढांकने) के लिये [जिसे से कि सचित रज का मुख और नाक में प्रवेश न हो सके] मुखवस्त्रिका को ग्रहण करना चाहिये।

इस गाथा में मुख वस्त्रिका के तीन प्रयोजन बतलाये हैं। १. मुख ढांके बिना बोलते समय कोई उड़नेवाला छोटा जीव जन्तु [मक्खी-मच्छर आदि] मुख में पड़ जाना संभव है इस-लिये उनकी रक्षा के लिये बोलते समय अथवा उबासी आदि लेते समय मुखवस्त्रिका को मुंह के आगे रखना। २. शरीर पर उड़कर पड़ी हुई सूक्ष्म धूली को मुखवस्त्रिका द्वारा शरीर पर से दूर करना। ३. उपाश्रय आदि वसती का प्रमार्जन (साफ़-सूफ़) करते समय मुख और नासिका को मुखवस्त्रिका को त्रिकोण करके उस से ढक लेना और उसके दोनों कोणों (सिरों) को गले के पीछे बाध लेना जिस से मुख और नासिका में सचित धूली आदि का प्रवेश न हो। इसलिये साधु-साध्वी को मुखवस्त्रिका रखनी चाहिये।

संक्षेप में कहें तो—१. बोलते समय संपातिम जीवो की रक्षा के लिये २. शरीर आदि की प्रमार्जना के समय तथा—३. उपाश्रय आदि प्रमार्जना के समय पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों की रक्षा के लिये साधु-साध्वी केलिये मुखवस्त्रिका का रखना अनिवार्य है। एवं ४. चौथा कारण यह है कि शास्त्रादि का पठन-पाठन करते तथा व्याख्यानादि करते समय सूक्ष्म थूक श्लेष्म आदि मुख से उड़ना सभव है और उसके शास्त्रादि पर गिर जाने से आशातना होती है। इस पाप—अवज्ञा से बचने के लिये भी मुख ढांकना आवश्यक है। इस बात को मैं पहले भी कह चुका हूं।

पूर्व पक्ष—पडिलेहण आदि करते समय नाक और मुख पर मुंहपती बांधने का जो आप ने कहा है, उस से भी तो मुह पर थूक जमा हो जाता है तो फिर चोबीस घंटे बांधने में क्या हर्ज है ?

उत्तरपक्ष—उपाश्रय आदि की भूमि प्रमार्जन करते समय नाक के ऊपर से लेकर मुख ढांकने को कहा है। १. नाक के ऊपर से मुंह को ढांकते हुए मुंहपत्ती गले के पीछे गाँठ देकर बांधने से न तो नासिका के छेद ही मुखपति से स्पर्श करते हैं और नहीं मुख के होठ आदि स्पर्श करते हैं। मुंहपत्ती इन दोनों से अलग रहते हुए ढांकती है। इसलिये नाक से निकलने वाले श्वास तथा मुख से निकलनेवाले वाष्प से थूकादि मुख के आगे अथवा नासिका के नीचे जमा होना संभव नहीं है। २. परिमार्जन की क्रिया मौनपने की जाती है उस में बोलना वर्जित है। इसलिये मुख का वाष्प तथा थूक बाहर निकल कर जमा हो ही नही सकता। ३. मुखपत्ती से मुख और नाक को ढांकना मात्र उतने ही समय के लिये होता है जितने समय तक प्रमार्जन चालू रहता है। पश्चात् नहीं।[1] उपर्युक्त तीनों कारणों से न तो थूक ही जम पाता है। जब

1. श्वेतांबर जैनश्राविकाएं और श्रावक भी पूजा करते समय नाक-मुंह को मुखकोष से ढांककर पूजा करते हैं ताकि प्रभु मूर्ति पर पूजा करनेवाले का श्वास तथा सूक्ष्म थूकादि पड़ने का बचाव रहे। अंग पूजा के बाद उसे खोल दिया जाता है।

यूकादि जमेगा ही नहीं तो त्रस जीवों की उत्पत्ति भी संभव नहीं है।[1]

इतनी चर्चा के बाद इस चर्चा की समाप्ति हो गई। अब आगे जिन प्रतिमा मानने और पूजने के लिये जो चर्चाएं हुईं उन का भी संक्षिप्त उल्लेख करते हैं।

२. जिन प्रतिमा मानने और पूजने की चर्चा

चर्चा का विषय था—क्या जिन प्रतिमा तीर्थंकर देव की मूर्ति है और उसे तीर्थंकर के समान वन्दना नमस्कार करना और पूजा-उपासना करना जैनागम सम्मत है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—स्वामी जी ! तीर्थंकर की मूर्ति मानना सर्वथा अनुचित है, उसकी पूजा से षट्काया के जीवों की विराधना होती है। तीर्थंकर भगवन्तों ने जीव विराधना (हिंसा) को आगमों में धर्म नहीं बतलाया ? मूलागमों में मूर्ति को मानने का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिये आप जैसे मुमुक्षु मुनि को ऐसा उपदेश देना शोभा नहीं देता ?

उत्तरपक्ष—जैनागमों (अंग-उपांगम आदि) सूत्रों, शास्त्रों, के मूल पाठों में भी इन्द्रादि देवताओं, श्रावक-श्राविकाओं और साधु-साध्वियों आदि सब सम्यग्दृष्टियों के द्वारा जिन प्रतिमाओं को वन्दन, नमस्कार, पूजन, उपासना आदि के अनेक पाठ विद्यमान हैं। जिस से उन सब ने उत्तम फल की प्राप्ति की है। यहां तक कि कर्मों की निर्जरा और क्षय करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष तक प्राप्त किया है। जिस का बड़े विस्तारपूर्वक वर्णन है। उन का विवरण संक्षेप से इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—हम मात्र ३२ आगमों को ही मानते हैं क्योंकि वही जिनभाषित हैं बाकी के तो पीछे के आचार्यों ने जैसा मन में आया वैसा लिख दिया है इसलिये हम उन्हें प्रमाण नहीं मानते। अतः इन बत्तीस सूत्रों के मूल पाठों में कहीं भी जिनप्रतिमा मानने के उल्लेख नहीं है। पीछे से इन पर लिखे गये निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, भाष्यादि करनेवाले आचार्यों ने अपनी टीकाओं आदि में यदि उल्लेख कर दिया है तो वह हमें मान्य नहीं है। यदि ३२ सूत्रों के मूल पाठों में कोई प्रतिमा मानने के उल्लेख हो तो बतलाओ ?

उत्तरपक्ष—(१) ऐसी बात नही है कि बत्तीस सूत्र ही जिनवाणी है बाकी के आगम-शास्त्र आदि जिनवाणी नही है। इस विषय की चर्चा का तो यहां प्रसंग नही है अतः बत्तीस सूत्रों में भी जिनप्रतिमा को मानने के मूल पाठ विद्यमान है—उन्ही को सुनिये—

१. श्री आचारांग सूत्र (प्रथमांग) मे प्रभु महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ को श्री पार्श्व-नाथ संतानीय श्रावक कहा है। उस ने जिनेश्वरदेव की पूजाके लिये लाख रुपये खर्च किये और अनेक जिनप्रतिमाओं की पूजा की। इस अधिकार में "जायअ" शब्द आया है जिस का अर्थ देव-पूजा है।

२. श्री सूयगडांग सूत्र की निर्युक्ति में श्री जिनप्रतिमा को देखकर आर्द्रकुमार को

---

1. मुंहपत्ती का विस्तारपूर्वक चर्चा का वर्णन मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी ने अपनी स्वलिखित मुंहपत्ति चर्चा नामक पुस्तक में की है जिस से उन्होंने इस विषय का बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। विशेष रुचि रखने वाले उसे पढ़कर जान लेवें। यहां तो मात्र इतिहास को शृंखलाबद्ध करने के लिये संक्षेप मात्र लिखा है।

प्रतिबोध हुआ और जब तक उसने दीक्षा ग्रहण नहीं की तब तक वह प्रतिदिन उस प्रतिमा की पूजा करता रहा ।

३. श्री समवायांग सूत्र में समवसरण के अधिकार के लिये कल्पसूत्र का उदाहरण दिया है। इसी प्रकार श्री बृहत्कल्प सूत्र के भाष्य में समवसरण के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उस में लिखा है कि समवसरण में अरिहंत स्वयं पूर्व दिशा सन्मुख विराजते हैं और दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तीन दिशाओं में उन के तीन प्रतिबिम्ब (जिनमूर्तियाँ) इन्द्रादि देवता विराजमान करते हैं। यहाँ आनेवाले जैसे मूल तीर्थंकर को वन्दन करते हैं वैसे ही उन प्रतिमाओं को भी वन्दन करते हैं।

४. श्री भगवती सूत्र में कहा है कि जंघाचारण मुनि नन्दीश्वरद्वीप में शाश्वती जिनप्रतिमाओं को वंदना-नमस्कार करने के लिये जाते हैं।

५. श्री भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों द्वारा जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

६. श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में द्रोपदी (पांडव राजा की पुत्रवधू) ने जिनप्रतिमा की सत्तरहभेदी पूजा की तथा नमस्कार रूप नमुत्थुणं का पाठ पढ़ा ऐसा वर्णन है।

७. श्री उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि दस श्रावकों के जिनप्रतिमा वन्दन पूजन का अधिकार है। मात्र इतना ही नहीं पर आनन्द श्रावक का अन्यमतावालबीयों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा को न मानने का विवरण भी मिलता है।

८ श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में साधु द्वारा जिनप्रतिमा की वैयावच्च करने का वर्णन है।

९. श्री उववाई सूत्र में बहुत जिनमंदिरों का अधिकार है।

१०. इसी सूत्र में अंबड़ श्रावक के जिनप्रतिमा पूजने का अधिकार है।

११. श्री रायपणीय सूत्र में सूर्याभदेवता के जिनप्रतिमा के वांदने पूजने का वर्णन है।

१२. इसी सूत्र में चित्रसारथी तथा परदेशी राजा (इन दोनों श्रावकों) के जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

१३. श्री जीवाजीवाभिगम सूत्र में विजय आदि देवताओं के जिनप्रतिमा पूजने के वर्णन हैं।

१४. श्री जम्बूद्वीप पण्णत्ति में यमकदेवता आदि के जिनप्रतिमा पूजने का वर्णन है।

१५. श्री दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में श्री शय्यंभव सूरि को श्री शांतिनाथ की प्रतिमा देखकर प्रतिबोध पाने का वर्णन है।

१६. श्री उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति के दसवें अध्ययन में श्री गौतमस्वामी के अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने का वर्णन है।

१७ इसी सूत्र के २९वें अध्ययन में थयथुई मंगल में स्थापना को वन्दन करने का वर्णन है।

१८. श्री नन्दी सूत्र में विशालानगरी में मुनि सुव्रतस्वामी का महाप्रभाविक थूभ (स्तूप) कहा है।

१९. श्री अनुयोगद्वार सूत्र में स्थापना माननी कही है।

२०. श्री आवश्यक सूत्र में भरत चक्रवर्ती के (अष्टापद पर्वत पर) जिनमंदिर बनवाने का वर्णन है।

२१. इसी सूत्र में वग्गुर श्रावक के श्री मल्लिनाथ प्रभु के मन्दिर बनवाने का वर्णन है।

२२. इसी सूत्र में कहा है कि—प्रभावती श्राविका (उदायन राजा की पटरानी और राजा चेटक की पुत्री) ने अपने राजमहल में जिनमन्दिर बनवाकर श्री महावीर प्रभु की जीवितस्वामी (गृहस्थावस्था में कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा में) की मूर्ति स्थापित की थी और उस की प्रतिदिन पूजा करती थी।

२३. इसी सूत्र में कहा है कि फूलों से जिनप्रतिमा को पूजने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

२४. इसी सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा प्रतिदिन १०८ सोने के यवों से जिनप्रतिमा का पूजन करता था।

२५ इसी सूत्र में कहा है कि साधु कायोत्सर्ग में जिनप्रतिमा पूजने का अनुमोदन करे।

२६. इसी सूत्र में कहा है कि सर्वलोक में जिनप्रतिमाएं हैं उन की आराधना के निमित्त साधु और श्रावक कायोत्सर्ग करे।

२७. श्री व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देशे में जिनप्रतिमा के सामने आलोचना करना कहा है।

२८. श्री महाकल्प सूत्र में कहा है कि श्री जिनमन्दिर में यदि श्रावक-साधु दर्शन करने को न जावे तो प्रायश्चित आवे।

२९. श्री महानिशीथ सूत्र में कहा है कि श्रावक यदि जिनमन्दिर बनवावे तो उत्कृष्टा बारहवें देवलोक तक जावे।

३०. श्री जीतकल्पसूत्र में कहा है कि यदि श्री जिनमन्दिर में साधु-साध्वी दर्शन करने न जावे तो प्रायश्चित आवे।

३१. श्री प्रथमानुयोग में कहा है कि अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने श्री जिनमन्दिर बनवाये और उन की पूजा की।

अतः चक्रवर्तियों, राजाओं, महाराजाओं, रानियों, महारानियों, अविरति सम्यग्दृष्टि देवियों-देवताओं, इन्द्रों-इंद्रानियों, देशविरति श्रावक-श्राविकाओं, पाँच महाव्रतधारी साधु-साध्वियों, जंघाचारणादि लब्धिधारी मुनियों, गणधरों आदि सब के जैनागमों में जिनमन्दिर-जिनप्रतिमाएं बनवाने उन की वन्दना, नमस्कार—पूजा—उपासना करने के बहुत प्रमाण मिलते हैं।

इस प्रकार से उपर्युक्त सब सूत्र पाठों को दिखलाकर समाधान किया।

(२) १—जिनप्रतिमा पूजन में हिंसा भी संभव नहीं है परन्तु इस के द्वारा श्री तीर्थंकर प्रभु की भक्ति से कर्मों की निर्जरा, कर्मक्षय होने यावत् मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में वाचक श्री उमास्वति जी महाराज ने हिंसा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि "प्रमत्त-योगात्प्राणव्य-परोपणं हिंसा।[1] अर्थात् – प्रमादवश जीवों के प्राणों का नाश करना हिंसा है। श्री जिनप्रतिमा पूजन

1. (१) न च सत्यपि व्यपरोपणे अर्हदुक्तेन परिहरन्त्याः प्रादाभावे हिंसा भवति। प्रमादो हि हिंसा नाम। तथा च पठन्ति —
"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [तत्त्वार्थ ७/८] इति

में विषय, मद, विकथा, प्रमाद, कषाय आदि (प्रमत्त-प्रमाद के इन पांचों भेदों) का सर्वथा अभाव होता है। इसलिये जिनपूजा में हिंसा मानना अज्ञान है और जैनागम की मान्यताओं की अवहेलना करना है। मात्र इतना ही नहीं जो जिनप्रतिमा पूजन में हिंसा मानते हैं वे जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा-हिंसा के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

अन्यथा पिण्डोपधि—शय्यासु स्थान—शयन—गमनागमनाकुंचन—प्रसारण—ऽऽमर्शनादिषु च शरीरं क्षेत्रं लोकं च परिभुंजानो—

"जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तु मालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥" [तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० ५४१]

हिंसकत्वेऽपि अर्हदुक्त यत्न-योगे न बन्धः। तद्विरहे एव यत्नः। तथा च पठन्ति—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥" [कुंदकुंदाचार्य विरचिते प्रवचनसार]

"जयं तु चरमाणस्स दयाविक्खिस्स भिक्खुणो।
नवे न बज्झए कम्मे पोराणे य विधुयए॥
अजयं चरमाणस्स पाणभूयाणि हिंसओ।
बज्झए पावए कम्मे से होति कडुगे फले॥"

"अशुद्धोपयोगऽन्तरङ्गच्छेदः पर-प्राण व्यपरोपो बहिरङ्गः तत्र पर-प्राण-व्यपरोप-सदभावे तदसदभावे वा तदविनाभावि-प्रयताचारेण प्रसिध्यदशुद्धोपयोग-सदभावस्य सुनिश्चित हिंसा-भाव-प्रसिद्धेः। तथा तद्विनाभाविना प्रयतांचारेण प्रसिध्यद-शुद्धोपयोगासद्भाव-परस्य पर-प्राण व्यपरोप-सद्भावेऽपिबन्धा प्रसिद्ध्या, सुनिश्चितहिंसाऽभाव-प्रसिद्धेश्चांतरंग एव छेदो बलियान्, व पुनर्बहिरंगः। एवमप्यंतरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद् बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्यतेव॥

[प्रवचनसारस्य अमृतचन्द्र सूरि कृतायां वृत्तौ पृष्ठ २९१-२९२]

अर्थात्—जीव के प्राणों का नाश होने पर भी श्री अरिहंत प्रभु के कहे अनुसार यत्नपूर्वक (जयणा से) हलन—चलन आदि करने से प्रमाद के अभाव के कारण हिंसा नहीं होती।

प्रमाद ही हिंसा है। इसी लिये (उमास्वाती वाचक ने) तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के आठवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि "प्रमाद के योग से जीव के प्राणों का नाश करना हिंसा है।"

यदि ऐसा न मानें तो मुनि-आर्यकाओं (साधु-साध्वी) के आहार, उपधि (उपकरण), शय्या आदि में, स्थान, सोने, आने-जाने, उठने-बैठने, शरीर आदि को सिकोड़ने-फैलाने, आमर्शना आदि में शरीर क्षेत्र लोक का परिभोग करने से सर्वथा हिंसा ही हिंसा होनी चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर राजवार्तिक टीका पृ० ५४१ में कहा है कि :—

"जल में जीव-जन्तु हैं, स्थल में जीव जन्तु हैं और आकाश भी जीव जन्तुओं से भरपूर है। जीवजन्तुओं से भरे हुए चौदह राजलोक (सम्पूर्णविश्व) में भिक्षु (साधु-मुनि) अहिंसक कैसे?"

२. साधु-साध्वी उठते हैं बैठते हैं, चलते-हलन चलन करते हैं, श्वासोच्छ्वास लेते छोड़ते हैं, खाते-पीते हैं, टट्टी-पेशाब करते हैं, सोते-जागते हैं, बोलते-चालते, वार्तालाप करते, हाथ-पैर सिकोड़ते-फैलाते हैं, विहार करते हैं; इस सब कार्यों में प्राणिवध भी होता है। यदि मात्र प्राणिवध को ही हिंसा मानोगे तो साधु-साध्वी के पाँच महाव्रतों का पालन करना एकदम असंभव हो जावेगा। तब आप की धारणा के अनुसार तो कोई भी पंचमहाव्रतधारी साधु-साध्वी न रहेगा ?

यदि उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि से जीवहिंसा हो जावे तो भी श्री तीर्थंकर भगवन्तों के आदेशानुसार यत्नपूर्वक आचरण से बन्ध नहीं होता। अतः प्रमाद का त्याग ही यत्न है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है कि —

"जीव मरे अथवा जीवित रहें अयत्नाचारी (प्रमादी) निश्चय ही हिंसक है तथा यत्न, (जयणा, विवेक, अप्रमाद-सावधानी) पूर्वक आचरण करनेवाले व्यक्ति को प्राणवध मात्र से बंध नहीं होता।" कहा भी है—यत्नापूर्वक आचरण करनेवाले दयावान भिक्षु को नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्मों का नाश भी होता है।

"अयत्नापूर्वक आचरण करनेवाले व्यक्तियों को प्राणियों की हिंसा का दोष है। वे नये कर्मों का बन्ध भी करते हैं जिसके परिणामस्वरूप कड़वे फल भी भोगते हैं।"

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के उपर्युक्त संदर्भ की तत्त्वदीपिका नामक वृत्ति में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं जिस का सारांश यह है—

हिंसा की व्याख्या दो अंशों में पूरी की गई है; पहिला अंश है (१) अन्तरंग-प्रमत्त योग अर्थात् राग-द्वेष युक्त किंवा असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति और (२) दूसरा बहिरंग-प्राणवध। पहला अंश कारण रूप है और दूसरा अंश कार्यरूप है। इस का फलितार्थ यह होता है कि—जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्रमत्तयोग-आत्मा का अशुद्ध परिणाम होने के कारण इस के सद्भाव में प्राणवध हो या न हो तो भी हिंसा का दोष लगता है। (राग-द्वेष तथा असावधानी के बिना) अप्रमत्त योग (यत्न-पूर्वक-शुद्धयोग) से प्राणवध हो अथवा न हो तो भी हिंसा का दोष नही है।

कहा भी है कि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" "मन एव कारणं बंध-मोक्षयो।" अतः प्रमाद के अभाव से शुद्धोपयोग होने से यदि प्राणवध हो भी जावे तो हिंसा का दोष नहीं है।

२. श्री गौतम—गणधरादि आचार्यों ने भी हिंसा-अहिंसा के स्वरूप मे अहिंसा के स्वरूप के विषय में स्पष्ट कहा है कि :—"हिंसा का कारण प्रमाद है :"

शरीरी म्रियतां मा वा, ध्रुवं-हिंसा प्रमादिनः।
स प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमाद-रहितस्य न ॥१॥

अर्थात्—शरीरधारी प्राणी मरे अथवा न मरे पर प्रमादी को निश्चय ही हिंसा होती है। यदि प्रमाद रहित (अप्रमादी व्यक्ति से कदाचित जीव के प्राणों का नाश हो भी जावे तो उसे हिंसा का दोष नहीं लगता।

परन्तु आगमों में तो साधु-साध्वी को ये सब क्रियाएं करते हुए भी पांच महाव्रतधारी कहा है और माना भी है। क्योंकि आगम में कहा है कि "जयणा" पूर्वक ये सब क्रियाएं" करने से प्राणीवध यदि हो भी जावे तो साधु-साध्वी को हिंसा का दोष नहीं लगता। यदि साधु प्रमाद, असावधानी और कषाय आदि रहित होकर जयणा पूर्वक सब कार्य करता है तो वह महाव्रतधारी है, अहिंसक है, तीर्थंकर भगवन्तों का आज्ञाकारी है। यदि अजयणा (अयत्ना) प्रमाद कषाय, राग-द्वेष, असावधानी से करता है तो प्राणीवध न करते हुए भी हिंसक है। वह महाव्रतधारी नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा की जयणापूर्वक अप्रमादी, अकषायी और सावधान होकर पूजा करता है तो पूजक को हिंसक मानना भी तीर्थंकर भगवन्तों के सिद्धांत का अपलाप करना है।

अतः हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को समझकर अपने हठाग्रह, कदाग्रह को छोड़कर श्री जिन-प्रतिमा की पूजा सेवा स्वीकार करके आप लोगों को भी आत्मकल्याण की ओर अवश्य अग्रसर होना चाहिये तथा तीर्थंकर भगवन्तों की आज्ञाओं का पालन करते हुए सत्यमार्ग को अपनाना चाहिये। समझदारों को इशारा ही काफ़ी है।

इस प्रकार पूज्य बुद्धिविजय जी ने पूर्व पक्ष की तरफ़ से किये प्रश्नों का समाधान आगम पाठों, अकाट्य युक्तियों तथा तर्कपूर्ण दलीलों से किया। आगमों में आने वाले चैत्य, जिनपडिमा

---

३. विशेष खुलासा-यदि कोई व्यक्ति प्रमाद (कषाय, लापरवाही और उपयोगरहित) गमनागमन करे अथवा कोई अन्य काम करे तो उस से जीव मरे अथवा न मरे तो भी हिंसा का दोष लगता है। यदि अप्रमाद से कार्य अथवा गमनागमन करता है, कदाचित उस से जीव वध हो भी जावे तो उसे भाव हिंसा का दोष नहीं लगता।

दृष्टांत—नदी में उतरनेवाले साधु-साध्वी को जयणापूर्वक पानी में उतरने पर भी अप्काय के जीवों की विराधना, भाव हिंसा का कारण नहीं है। पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं। यदि सेवाल वाला पानी हो तो उस में अनन्त जीवों का विनाश भी होता है। यदि नदी में उतरनेवाला मुनि प्रमादी हो तो उसे भाव हिंसा का दोष लगता है। अप्रमादी को नहीं लगता।

श्री भगवती सूत्र में कहा है कि केवलज्ञानी के गमनागमन से तथा उन के नेत्रों के चलनादि से बहुत जीवों का घात होता है, परन्तु उन्हे मात्र काययोग द्वारा ही इरियापथिक बन्ध होता है। ऐसा होने से प्रथम समय में बांधते हैं, दूसरे में भोगते हैं, तीसरे समय के निर्जरा कर देते हैं।

इसी प्रकार जिनप्रतिमा की पूजा आदि में हृदय में दयाभाव तथा प्रभुभक्ति होने से, एवं अप्रमत भाव होने से यदि किसी सूक्ष्म जीव जन्तु का प्राणवध हो भी जावे तो उसे हिंसा का दोष नहीं लगता। परन्तु कषाय रहित अप्रमत्त शुद्ध भावों से प्रभु की भक्ति करने से महान उत्तम फल की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि सर्वथा कर्मक्षय होकर मोक्षप्राप्ति भी संभव है।

प्रथमांग श्री आचारांग सूत्र में भी कहा है कि—

"पमत्तस्स सव्वओ भयं अपमत्तस्स वि न कुतो वि भयमिति।"

अर्थात्—प्रमादी को सब भय हैं, परन्तु अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं है।

आदि शब्दों के अर्थ तीर्थंकर देवों के मंदिर, मूर्तियां तीर्थ आदि होते हैं इसे आगम के पाठों से ही स्पष्ट सिद्ध किया। यदि हम इस चर्चा को विस्तार से लिखते तो ग्रंथ अधिक विस्तार का रूप धारण कर लेता है। अतः संक्षिप्त लिखने में ही संतोष माना है।[1]

२-गणि मुक्तिविजय (मूलचन्द) जी का परिचय

पंजाब में स्यालकोट नगर में ओसवाल बरड़ गोत्रीय लाला सुखेशाह की पत्नी महताबकौर की कुक्षी से बालक मूलचन्द का जन्म वि० सं० १८८६ में हुआ। मूलचन्द का एक बड़ा भाई था उस का नाम पसरूरीमल था। वि० सं० १९०२ में मूलचन्द ने १६ साल की आयु में मुनि बूटेराय (बुद्धिविजय) जी से गुजरांवाला में ढूंढक मत की दीक्षा ली। छह वर्षों तक लगातार गुजरांवाला में ही रहकर लाला कर्मचन्द जो दुग्गड़ शास्त्री से जैन थोकड़ों और आगमों का अभ्यास किया। वि० सं० १९०३ में गुरु शिष्य ने मुहपत्तियों के धागे तोड़े और मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का त्याग किया। वि० सं० १९०८ में अपने गुरु के साथ पंजाब से विहार कर वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में जैन श्वेतांबर तपागच्छ की संवेगी दीक्षा ग्रहण की और नाम मुक्तिविजय जी हुआ और बूटेराय (बुद्धिविजय) जी के ही शिष्य रहे। वि० सं० १९२३ के अहमदाबाद में अपने दादा गुरु मणिविजय जी के साथ गणि पद प्राप्त किया। वि० सं० १९४५ में भावनगर में ५९ वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हो गया। अग्नि संस्कार के स्थान पर आपकी देरी (समाधी मंदिर) का निर्माण हुआ। आप अपने गुरु की जीवन पर्यन्त सेवा में रहे। वापिस पंजाब लौटकर नहीं आए और गुजरात-सौराष्ट्र में ही जैनशासन की प्रभावना में जीवन बिताया।

३-शांतमूर्ति वृद्धिचन्द (वृद्धिविजय) जी का परिचय

पंजाब के रामनगर ज़िला गुजरांवाला में वि० सं० १८९० पोष वदि ११ (ई० स० १७३३) के दिन लाला धर्मयश ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय की धर्मपत्नि कृष्णादेवी की कुक्षी से कृपाराम का जन्म हुआ। कृपाराम के चार भाई और एक बहन थी। वि० सं० १९०८ आषाढ सुदि १३ (ई० स० १८५१) के दिन मुनि बूटेराय जी से दिल्ली में दीक्षा ली। नाम वृद्धिचन्द रखा। वि० सं० १९१० में अपने गुरु जी तथा गुरुभाई मूलचन्द जी के साथ अहमदाबाद पहुचे वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में अपन गुरु तथा गुरुभाई के साथ जैन श्वेतांबर तपागच्छीय दीक्षा ग्रहण की और बुद्धिविजय जी के ही शिष्य रहे। नाम वृद्धिविजय जी हुआ।

वि० सं १९२५ में अहमदाबाद में शास्त्रभण्डार की स्थापना की। वि० स० १९३० में भावनगर में धार्मिक पाठशाला की स्थापना की। वि० सं० १९३१ में पालीताना के ठाकुर के विरुद्ध पोलिटीकल ऐजेंट राजकोट के पास केस के लिए शास्त्रीय प्रमाणों को संकलन करके सेठों को दिये। वि० सं० १९३२ में पालीताना में धार्मिक पाठशाला की स्थापना की। भावनगर में श्री जैनधर्म प्रसारक सभा की स्थापना की। भावनगर में जेनधर्म प्रकाश नामक गुजराती मासिक पत्र चालू कराया। वि० सं० १९४९ वैसाख सुदि ७ को भावनगर में आपका स्वर्गवास हो गया।

---

1. विशेष जिज्ञासु हमारी लिखी हुई "जिनप्रतिमा पूजन रहस्य तथा स्थापनाचार्य की अनिवार्यता" नामक पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

दीक्षा लेने के बाद आप कभी पंजाब में नहीं आये। सारे जीवन गुजरात और सौराष्ट्र में ही रहे। आप परम गुरुभक्त और गुरुभाई भक्त थे।

४-महातपस्वी मुनि श्री खांतिविजय जी का परिचय

पंजाब में मालेरकोटला नगर में अग्रवाल वैश्य जाति में श्री खरायतीमल का जन्म हुआ। वि० सं० १९११ (ई० स० १८५४) में स्थानकवासी अवस्था के श्री आत्माराम जी के गुरु जीवनराम जी से राजिया गाँव में ढूंढकमत की दीक्षा ली और आत्माराम जी के छोटे गुरुभाई बने। वि० सं १९३० (ई० स० १८७३) में इस पंथ की दीक्षा छोड़कर रेलमार्ग द्वारा अहमदाबाद में पहुंचे और श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी से संवेगी दीक्षा ग्रहण की। नाम खांतिविजत जी रखा। वि० सं० १९३२ में श्री आत्माराम जी ने जब संवेगी दीक्षा अहमदाबाद में बुद्धिविजय जी से ली तब श्री गुरुदेव ने बड़ी दीक्षा में आत्माराम जी से खांतिविजय जी को छोटा गुरुभाई बनाया। आप श्री महातपस्वी थे। बेले-तेले का पारणा नित्य करते थे। अनेक बड़ी-बड़ी तपस्याएं भी करते थे। आप के तपोबल तथा चमत्कारों की अनेक बातें प्रसिद्ध थीं। सब लोग आपको खांतिविजय दादा के नाम से पहचानते थे। आप सौराष्ट्र में जामनगर के आसपास के क्षेत्र में विचरते रहे। आपका वि० सं० १९५९ (ई० स० १९०२) में स्वर्गवास हो गया। संवेगी दीक्षा के बाद आप कभी पंजाब नहीं आये।

५-आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी महाराज

पंजाब अपने शहीदों एवं पराक्रमशाली पुरुषों के लिये इतिहास में प्रसिद्ध है। इस देश में लहरा नामक ग्राम जो ज़ीरानगर (ज़िला फ़िरोज़पुर) के निकट है उसमें वि० सं० १८९४ (ई० स० १८३७) को कलश जाति के वीर कपूर क्षत्रीय श्री गणेशचन्द्र की पत्नी रूपादेवी की कुक्षी से बालक आत्माराम का जन्म हुआ। बालक की छोटी आयु में ही गणेशचन्द्र का देहांत हो जाने से इसके परम विश्वास पात्र एवं परममित्र ओसवाल (भावड़ा) नौलखा गोत्रीय ज़ीरानिवासी लाला जोधामल जी के वहां आत्माराम का पालन पोषण हुआ। लाला जी ढूंढक (स्थानकमार्गी) जैन धर्मानुयायी थे। बालक को इनके यहां जैनधर्म के संस्कार मिलने से वि० सं० १९१० में १६ वर्ष की आयु में मालेरकोटला नगर पंजाब में ढूंढकमत के साधु गंगाराम के शिष्य ऋषि जीवनराम से (आत्माराम ने) इस पंथ की साधु दीक्षा ग्रहण की। नाम ऋषि आत्माराम रखा।

ऋषि आत्माराम जी की स्मरण शक्ति बहुत तीक्ष्ण थी। पाँच छह वर्षों में ही स्थानकमार्गी पंथ के मान्य ३२ सूत्रों का अभ्यास कर लिया। फिर व्याकरण का अभ्यास किया। पश्चात् मूलागमों पर पूर्वाचार्यों द्वारा रचित निर्युक्तियों, चूर्णियों, टीकाओं और भाष्यों का (पंचांगी का) सूक्ष्म दृष्टि से पठन-मनन-चिंतनपूर्वक अभ्यास किया। इस अभ्यास से आपको ऐसा लगा कि जो मैंने पंथ अपनाया है वह महावीर परम्परा से भिन्न है इससे आपकी श्रद्धा एक दम बदल गई। १५ स्थानकमार्गी ऋषियों को साथ में लेकर महावीर आदि तीर्थंकरों के शुद्धधर्म को अपनाने और उसी के प्रचार करने का निश्चय किया। आपने इसी वेश में अपने १५ ऋषियों के साथ सत्यधर्म के प्रचार का बिगुल बजा दिया। इस प्रचार का ऐसा प्रभाव हुआ कि बीस स्थानकमार्गी ऋषि तथा हजारों श्रावक-श्राविकाएं आपके अनुयायी हो गये। अब वीर परम्परा के साधु की दीक्षा लेने

केलिये अपने १५ साथियों के साथ अहमदाबाद पहुंचे और वि० सं० १६३२ में आपने वीर परंपरा की शुद्ध सामाचारी तथा सिद्धांतों को माननेवाले श्वेतांबर जैन तपागच्छीय दीक्षा मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी से ग्रहण की। तब आपका नाम मुनि आनन्दविजय जी हुआ। दीक्षा का विवरण हम पूज्य बुद्धिविजय जी के जीवनचरित्र में कर आये हैं। पश्चात् वि० सं० १६३५ में वापिस पंजाब पधारे। अब अपने साथी साधुओं के साथ सर्वत्र शुद्ध-सत्य जैनधर्म का प्रचार किया। अनेक जैनमंदिरों का निर्माण तथा प्रतिष्ठाएं कराईं। अनेक मुमुक्षुओं को दीक्षाएं दीं। अनेक शास्त्रार्थ किये, जिनका मुख्य विषय था कि वीर परम्परा में जिनप्रतिमा पूजन का स्थान तथा मुंहपत्ति का प्रयोग।[1] इन में आपने विजय प्राप्त की। वि० सं० १६४३ मार्गशीर्ष वदी ५ को पालीताना में आपको तीस हजार जैन गृहस्थों तथा उपस्थित साधुओं ने मिलकर आचार्य पदवी से विभूषित किया। चार शताब्दियों से श्वेतांबर परम्परा में कोई आचार्य नहीं था। इस रिक्त स्थान की पूर्ति चार शताब्दियों के बाद आपको आचार्य पदवी से विभूषित करके श्रीसंघ को अपार हर्ष हुआ। इस समय से आपका नाम आचार्य विजयानन्द सूरि हुआ। राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि जनपदों में सत्यधर्म का प्रचार करते हुए अनेक प्राचीन जैनतीर्थों की यात्रा करते हुए आप वि० सं० १६४७ में पुनः पंजाब लौटे वि० सं० १६५० मे आपने विदेशों में जैनधर्म के परिचय तथा प्रचार के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में जैनश्रावक श्री वीरचन्द राघवजी गांधी को चिकागो (अमरीका) श्री विश्वधर्म परिषद् में भेजा। वि० सं० १६५३ ज्येष्ठ सुदि ८ को आपका गुजरांवाला पंजाब में स्वर्गवास हो गया।

वीर परम्परा का अखण्ड प्रतिनिधित्व[2]

"श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर ने स्थानकमार्गी (ढूंढक) सम्मत मुंहपत्ती बन्धन और मूर्ति उत्थापन इन दोनों का त्याग किया। मैं स्वय भी ऐसा मानता हूं कि मुंहपत्ती का एकांतिक बन्धन वस्तुतः आगमसम्मत तथा व्यवहार्य नही हैं और ऐसा भी मानता हूं कि आध्यत्मिक विकासक्रम में अधिकारी विशेष के लिए मूर्ति उपासना का समुचित और शास्त्रीय स्थान है।

धार्मिक भावना जब सांप्रदायिक रूप धारण कर लेती है। तब बहुत अटपटी बन जाती है। इसमें सत्यांश और निर्भयता का अंश दब जाता है। इसमे साम्प्रदायिक अथवा वास्तविक धार्मिक किसी एक मुद्दे की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से करने पर कई पाठको के मन मे साम्प्रदायिक भावना की गन्ध आ जाना सम्भव है। यह बात मेरे ध्यान से बाहर नही है। एवं आजकल प्रतिष्ठित हुई ऐतिहासिक दृष्टि के नाम पर अथवा उसकी आड़ में साम्प्रदायिक भावना को पोषण करने की प्रवृत्ति विद्वान अथवा विचारक माने जाने वाले व्यक्तियों में भी दिखलाई पड़ती है। इन सब भय-स्थानों के होते हुए भी मैं प्रस्तुत चर्चा कर रहा हूं। यह एक ही विचार से कि जो असाम्प्रदायिक अथवा साम्प्रदायिक सत्य सशोधक होंगे, जो साहित्य और इतिहास के अभिलाषी होंगे उन्हें यह चर्चा कदापि साम्प्रदायिक भाव से रंगी हुई भासित नही होगी।

जैन परम्परा जो अन्तिम तीर्थंकर महावीर से वीर परम्परा कही जाती है। इसके अब तक छोटे-बड़े तड़ चाहे कितने भी हों, पर ये सब संक्षेप में श्वेतांबर, दिगम्बर, स्थानकमार्गी

1. इसकी चर्चा हम बुद्धिविजय जी के जीवन चरित्र में कर आये हैं।
2. देखें दर्शन और चिंतन (गुजराती) पं० सुखलाल जी—पुस्तक १ विभाग पृ० ३०३ से ३१२

इन तीनों संप्रदायों में समा जाते हैं। भगवान महावीर से पहले भी जैनपरम्परा का अस्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध है। इस परम्परा को वीर पूर्व परम्परा के नाम से पहचाना जाता है। यह परम्परा आर्हत् (अथवा जैन परम्परा) से जगत्प्रसिद्ध है और आज तक एक या दूसरे रूप में जीवित चली आ रही है। यहाँ विचारणीय मुद्दा यह है कि वीर परम्परा के प्रथम से अब तक कितने फांटे इतिहास में दृष्टिगोचर होते हैं और अब जितने सम्प्रदाय समक्ष हैं उन सब में वीर-परम्परा का प्रतिनिधित्व कम व अधिक एक व दूसरे रूप में होते हुए भी उन सब फिरकों में से किस फिरके अथवा सम्प्रदाय में उसका प्रतिनिधित्व कम व अधिक एक व दूसरे रूप में होते हुए भी उन सब फिरकों में से किस फिरके अथवा संप्रदाय में उसका प्रतिनिधित्व अधिक अखण्ड रूप से सुरक्षित है? वीर-परम्परा के तीनों फिरकों के शास्त्रों का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक वांचन, चिंतन और इन तीनों फिरकों के उपलब्ध आचार-विचारों का अवलोकन करने से ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वीर-**परम्परा का अखण्ड प्रतिनिधित्व श्वेतांबर परम्परा में बाकी की दोनों परम्पराओं से विशेष रूप से तथा विशेष यथार्थ रूप से सुरक्षित** रहा है। मेरे इस मन्तव्य की पुष्टि में यहाँ संक्षेप में आचार, उपासना और शास्त्र इन तीनों अंशों पर विचारों का ध्यान खेंचूंगा।

श्वेतांबर, दिगम्बर या स्थानकमार्गी किसी भी फ़िरके की धार्मिक प्रवृत्ति और प्रचार के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे तो हम पायेंगे कि अमुक फ़िरके ने वीर परम्परा के प्राणरूप अहिंसा के सिद्धान्त में ढील नहीं की। इसके सिद्धान्त और समर्थन के प्रचार में जितना भी बन पड़ा किंचित् मात्र भी कमी नहीं की, हमें यह बात सगौरव स्वीकार करनी चाहिये कि अहिंसा के समर्थन और उसके व्यावहारिक प्रचार में तीनो फ़िरकों के अनुयायियों ने अपने-अपने ढंग से एक समान सहयोग दिया है। इसलिये अहिंसा सिद्धान्त की दृष्टि से मैं यहाँ कुछ नहीं कहना चाहता। पर इसी अहिंसा तत्त्व का प्राण और कलेवर स्वरूप अनेकान्त सिद्धान्त की दृष्टि से मैंने यहाँ प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करने का निश्चय किया है। यह तो प्रत्येक अभ्यासी जानता है कि तीनों फ़िरकों का **प्रत्येक अनुयायी अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के लिये एक समान अभिमान, ममत्व और आदर रखता है**। ऐसा होते हुए भी प्रस्तुत प्रश्न के लिये देखना यह है कि यह अनेकान्त दृष्टि किस फ़िरके के आचारों में, उपासना में अथवा शास्त्रों में पूर्णरूप से सुरक्षित है। अथवा सुरक्षित रखी जाती है? जहाँ तक वादविवाद, दार्शनिक चर्चाएं, दार्शनिक खंडन-मंडन और कल्पना जाल का सम्बन्ध है वहाँ तक तो अनेकान्त की चर्चा तथा प्रतिष्ठा तीनो ही फ़िरकों में समान रूप से इष्ट और मान्य है। उदाहरण रूप में यदि जड़ या चेतन, स्थूल या सूक्ष्म किसी भी वस्तु के स्वरूप में प्रश्न आवे तो तीनों फ़िरकों के अभिज्ञ अनुयायी दूसरे दार्शनिकों के सामने अपना मन्तव्य नित्यानित्य, भेदाभेद, अनेकानेक आदि रूप से समान रूप से अनेकान्त दृष्टि से स्थापन करने का अथवा जगत्कर्ता का प्रश्न आवे तो भी तीनों ही फ़िरकों के अभिज्ञ अनुगामी एक समान ही अपनी अनेकान्त दृष्टि रखेंगे। इस प्रकार जैनेतर दर्शनों के साथ विचार प्रदेश में वीर परम्परा के प्रत्येक अनुगामी का कार्य अनेकान्त दृष्टि की स्थापना करने में भिन्न नहीं है। अधूरा भी नहीं और कम अधिक भी नहीं। ऐसा होते हुए भी वीरपरम्परा के इन तीनों फ़िरकों में आचार विशेषकर मुनि आचार और उनमें भी मुनि सम्बन्धि पात्र-वस्त्राचार के विषय में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करके विचार करेंगे तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि किस परम्परा में अनेकान्त दृष्टि का वारसा जाने-अजाने अधिक अखंड रूप से सुरक्षित है। अन्त में हम शास्त्रों के तीनों फ़िरकागत वारसा की दृष्टि से भी प्रस्तुत विषय पर विचार करेंगे।

(१) आध्यात्मिक विकास की विविध भूमिकाओं को स्पर्श करने वाले जैनत्व की साधना के स्वतंत्र विचार से अनुशीलन करने केलिये यदि तीनों फिरकों के उपलब्ध समग्र साहित्य का संतुलन करने से यह तो स्पष्ट दीपक के समान दीख पड़ता है कि मुनि वस्त्राचार संबन्धी सचेल और अचेल दोनों धर्मों में से भगवान महावीर या उनके समान इतर मुनियों के समग्र जीवन में अथवा उनके महत्व के भाग में अचेल धर्म को स्थान था। इस दृष्टि से नग्नत्व या अचेल धर्म जो दिगम्बर परम्परा का मुख्य अंश है वह वास्तव में भगवान महावीर के जीवन का और उनकी परम्परा का भी एक उपादेय अंश है। परन्तु अपनी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में प्रत्येक कम अधिक बलवाले यथार्थ साधक का समावेश करने की महावीर की उदार दृष्टि अथवा व्यावहारिक अनेकान्त दृष्टि का विचार करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि महावीर सर्व साधक अधिकारी के लिये एकांतिक नग्नत्व का आग्रह रखकर धर्म शासन के लोकग्राह्य प्रचार की चाहना अथवा कर ही न पाते। इनका अपने आध्यात्मिक बल का आदर्श चाहे कितनी ही पराकाष्टा तक पहुँचा हो तथापि यदि उन्हें अपने धर्मशासन को चिरंजीवी रखना इष्ट हो तो अपने व्यक्तिगत उच्चतम आदर्श का व्यवहार रखकर सहगामी अथवा अनुगामी दूसरे साधकों के लिये (यदि मूल गुण में अथवा मूलाचार में एक मत्य हो तो) वस्त्र पात्रादि स्थूल वस्तुओं के लिये मर्यादित छूट देनी ही पड़ेगी। मानव स्वभाव के, अनेकान्त दृष्टि के, और धर्मपंथ-समन्वय के अभ्यासी के लिये यह तत्त्व समझना सरल है। यदि यह दृष्टि ठीक हो तो हम कह सकते हैं कि भगवान वीर ने अपने धर्मशासन में अचेल और मर्यादित सचेल धर्म को समान स्थान दिया है। दिगम्बर परम्परा जब सच्चे मुनि के अंश की शरत रूप में नग्नत्व का एकान्तिक दावा करता है तब वह वीर के शासन के एक अंश का अति आदर करते हुए दूसरे सचेल धर्म के अंश की अवगणना करके अनेकान्त दृष्टि का व्याघात करती है।[1] इससे विपरीत श्वेतांबर अथवा स्थानकमार्गी परम्पराएं सचेल धर्म को मानते हुए और उसका समर्थन और अनुसरण करते हुए भी अचेल धर्म की अवगणना, उपेक्षा अथवा अनादर नहीं करती। किन्तु ये दोनों परम्पराएं दिगम्बरत्व के प्राणरूप अचेलधर्म की प्रधानता को स्वीकार करके जिस अधिकारी के लिये सचेलधर्म की अनिवार्यता देखती हैं उसके लिये स्थापन करती है। इस पर से हम तीनों फिरकों की दृष्टियों का अवलोकन करेंगे तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वस्त्राचार के विषय में दिगम्बर परम्परा अनेकान्त दृष्टि सुरक्षित नहीं रख सकी। जबकि बाकी की दोनों परम्पराओं ने विचारणा में भी वस्त्राचार परत्वे अनेकान्त दृष्टि का संरक्षण किया है और अब भी वे इसी दृष्टि

---

1. वीरपरम्परा में स्त्री-पुरुष यहां तक कि कृत्रिम नपुंसक को भी पंचमहाव्रत और मोक्ष प्राप्त करने का निरूपन किया है। यदि महावीर को एकान्त नग्नत्व का ही आग्रह होता तो वे साध्वी संघ की स्थापना करके चतुर्विध संघ की स्थापना कभी न करते। मोक्ष मार्ग के पथिक रूप में महावीर ने स्त्री-पुरुष को समान माना है। महावीर के साधु संघ में सचेल-अचेल दोनों प्रकार के साधको का समावेश है और साध्वी संघ में सचेल साधकों का ही उल्लेख है। दिगम्बर आर्यिका भी सवस्त्र होती है और उन्हें तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बर पंथ के शास्त्रों में पंचमहाव्रती माना है। तथापि इस पंथ के वर्तमान अनुयायी आर्यिका को सवस्त्र होने से पाँच महाव्रत मानने में आनाकानी करते हैं।

का पोषण करती हैं।[1] तीनों संप्रदायों के उपलब्ध साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से भी निर्विवाद रूप से सबसे अधिक प्राचीनता के अंश सुरक्षित रखने वाले आचारांग सूत्र में हम सचेल और अचेल दोनों धर्मों का विधान पाते हैं। इन दोनों में एक पहले का है और दूसरा बाद का है इसका आगम में ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाते। इसके विपरीत अचेल और सचेल दोनों धर्मों के विधान महावीरकालीन हैं ऐसा मानने के अनेक प्रमाण हैं। आचारांग के ऊपर से विरोधी मालूम पड़ने वाले ये दोनों विधान एक दूसरे के इतने समीप हैं—तथा एक दूसरे के ऐसे पूरक हैं जो ये दोनों विधान एक ही गहरी आध्यात्मिक धुन में से इस प्रकार फलित हुए हैं कि इनमें से एक का लोप करने पर दूसरे का वर्चस्व ही समाप्त हो जाता है और परिणाम स्वरूप दोनों विधान मिथ्या हो जायेंगे। मात्र इतना ही नहीं यदि एकान्त अचेलकत्व (नग्नत्व) में ही मुनिपन को स्वीकार किया जाये तो भगवान महावीर का मूल सिद्धान्त ही समाप्त हो जाता है। यह बात निर्विवाद और सर्व-सम्मत है कि ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने चतुर्विध संघ की स्थापना करके साधु-साध्वी को सर्वविरति रूप और श्रावक-श्राविका को देशविरति रूप में सम्पन्न किया। अतः आचारांग के प्राचीन भाग का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करते हुए मैं इस निश्चय पर आया हूं कि अचेल धर्म के विषय में वीर परम्परा का प्रतिनिधित्व यदि विशेष यथार्थ अखंड रूप से संरक्षण किया है तो यह दिगम्बर फिरका नहीं अपितु श्वेतांबर और स्थानकवासी फिरकों के मान्य साहित्य में सुरक्षित है।

(२) अब हम उपासना के विषय में वीर परम्परा के प्रतिनिधित्व के प्रस्तुत प्रश्न की चर्चा करेंगे। यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि महावीर आदि तीर्थंकरों की परम्परा के अनेक महत्वपूर्ण अंशों मे मूर्ति उपासना को भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस उपासना की दृष्टि से स्थानक—मार्गी (तथा तेरापंथी) फिरका तो वीर परम्परा से बहिष्कृत ही है। क्योंकि वह आगमिक परम्परा, इतिहासवाद, युक्तिवाद, आध्यात्मिक योग्यता और अनेकांत दृष्टि इन सबको इन्कार करके एक या दूसरी किसी भी प्रकार की मूर्ति उपासना नहीं मानता।[2] इसलिये उपासना के विषय में श्वेतांबर-दिगम्बर परम्पराओं के बीच में ही विचार करने का अवकाश है। इसमें संदेह नहीं कि दिगम्बर परम्परा सम्मत नग्न मूर्ति की उपासना वीतरागत्व की सगुण उपासना के लिये अधिक ठीक और निराडम्बर होकर अधिक उपादेय भी हो सकती है। किंतु इस विषय में भी दिगम्बर परम्परा का मानस, विचारणा और व्यवहार की दृष्टि से एकांगी और एकान्तिक ही है। श्वेतांबर परम्परा का आचार-विचार और चालू पुरातन व्यवहार पर दृष्टिपात करेंगे तो हमें मालूम होगा कि इसने आचार अथवा व्यवहार से नग्नमूर्ति का उपासना में से बहिष्कार किया ही नहीं। इसलिये

1. श्वेतांबर परम्परा सचेल-अचेल दोनों अवस्थाओं को तीर्थंकरों की परम्परा मानती है किन्तु अचेल अवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट है इसलिये बहुत ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ मुनि ही इसके पालन करने की योग्यता रखता है। वैसी योग्यता केलिये विशिष्ट संघयण, दशपूर्व की योग्यता आदि अनिवार्य हैं जो वर्तमान काल में संभव न होने से अचेल परम्परा का विच्छेद हो चुका है।

2. स्थानकमार्गी तीर्थंकर प्रतिमा का उत्थापन तो अवश्य करते हैं। पर अपने साधुओं की समाधियों तथा उन साधुओं के चित्रों को मानने के कायल हैं। मुँहपत्ती बांधने का इतना व्यामोह है कि तीर्थंकरों, गणधरों, पूर्वाचार्यों तथा चन्दनबाला, मृगावती जैसी महावीर समकालीन साध्वियों और साधुओं के मुख पर मुँहपत्ती बांधे हुए चित्रों को भी बना डाला है। जो सरासर आगम तथा इतिहास के विरुद्ध है।

बहुत प्राचीनकाल से लेकर आज तक श्वेतांबर परम्परा की मालिकी के मंदिरों[1], तीर्थों में नग्न मूर्तियों का अस्तित्व उनका पूजन, अर्चन निर्विरोध रूप में चालू देखते हैं किन्तु श्वेतांबर—परम्परा में सवस्त्र, सालकार मूर्तियों को भी स्थान है।[2] जैसे-जैसे दोनों फिरकों में कशमकश बढ़ती गई वैसे-वैसे श्वेतांबर परम्परा मे सवस्त्र तथा सालंकार मूर्तियों की प्रतिष्ठा-स्थापना बढ़ती चली गई है। —परन्तु मथुरा[3] के ककाली टीले से निकली हुई श्वेतांबर आचार्यों के नामों से अंकित प्रतिष्ठित नग्न मूर्तियां और उसके बाद भी अनेक शताब्दियों तक चालू रही हुई नग्न मूर्तियों का श्वेतांबरीय प्रतिष्ठा का विचार करने से यह स्पष्ट है कि श्वेतांबर परम्परा आध्यात्मिक उपासना

---

1. श्वेतांबर परम्परा के उदयपुर जिले में ऋषभदेव नाम के गांव में मंदिर है जिसमें श्रीऋषभदेव की नग्न प्रतिमा जो केसरियाजी के नाम से प्रसिद्ध है तथा अनेक अन्य नग्न प्रतिमाएं भी विराजमान हैं। तथा आगरा के रोशन मुहल्ले में चिन्तामणि पार्श्वनाथ के श्वेतांबर मंदिर में श्री शीतलनाथ प्रभु की नग्न प्रतिमा विराजमान है।

2. तीर्थंकरों के पांचो कल्याणकों की उपासना के लिये नग्न-अनग्न, सवस्त्र-सालंकार प्रतिमाएं मानी जाती हैं जो आगम प्रमाण से प्रमाणित है।

3. मथुरा का कंकाली टीला देवनिर्मित जैन स्तूप का ध्वंसावशेष है जिसका उल्लेख श्वेतांबर शास्त्रों में पाया जाता है यह स्तूप बहुत प्राचीन था। इसके निर्माण का समय कोई नहीं जानता इसलिये दंतकथा इसे देवताओं द्वारा निर्माण किया गया मानती चली आ रही है। इस टीले की खुदाई से ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी तक नग्न तथा अनग्न अनेक तीर्थंकरों की प्रतिमाएं खड़ी तथा पद्मासन में बैठी हुई प्राप्त हुई हैं जिन पर श्वेतांबर आचार्यों के प्रतिष्ठा कराने के लेख अंकित हैं। खड़ी प्रतिमओं में पुरुष चिन्ह (जननेन्द्रीय) बना है। बैठी में नहीं है। ये प्रतिमाएं ऋषभदेव से लेकर महावीर तक अनेक तीर्थंकरों की अनेक प्राप्त हुई है। बैठी अनग्न मूर्तियां भी अनेक प्राप्त हुई हैं उन पर भी श्वेतांबर आचार्यों के लेख अंकित हैं। इनमें महावीर के गर्भ परिवर्तन करते हुए हरिणेगमेशी का पट्टक भी मिला है। सिर पर पांचमुख वाले सर्पफण वाली पद्मासनासीन सुपार्श्वनाथ की बहुत बड़ी प्रतिमा भी मिली है तथा एक वस्त्रधारी जैन साधु के शिलापट्टक भी मिले हैं। एक पाषाण में चारों तरफ एक-एक तीर्थंकर की चार प्रतिमाएं नग्न खड़ी भी मिली हैं। इन चारों प्रतिमाओं में से (१) एक के सिर पर नौ मुँह वाला सर्पफण है जिससे वह पार्श्वनाथ की मूर्ति है। (२) एक प्रतिमा के दोनों कन्धों पर केश लटक रहे हैं—यह ऋषभदेव की प्रतिमा है। (३) एक प्रतिमा के चरणों के पास बालक को लियेहुए स्त्री की मूर्ति है। यह स्त्री अंबिकादेवी है। अंबिकादेवी अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) की शासनदेवी है। अतः यह प्रतिमा नेमिनाथ की है। (४) चौथी प्रतिमा के पादपीठ पर सिंह बने हुए हैं। सिंह महावीर का लांछन (प्रतीक) है। यह प्रतिमाएं क्रमशः ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर चार तीर्थंकरों की है। इस टीले से प्राप्त सब मूर्तियां मथुरा तथा लखनऊ के पुरातत्व संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

में नग्नमूर्ति का मूल्यांकन भी प्राचीनकाल से करती चली आ रही है। इससे विपरीत दिगम्बर फिरके की मालिकी के किसी भी मंदिर या तीर्थ को लो तो उनमें नग्नमूर्ति के सिवाय यदि सादा तथा दिगम्बरत्व के अधिक निकट भी होगी तो भी उस मूर्ति का बहिष्कार ही होगा। इस परम्परा के शास्त्र भी एकान्त नग्नत्व के ही समर्थक होने से दिगम्बर मानस प्रथम से आज तक एकान्तिक नग्नमूर्ति और नग्न साधु ही जिनप्रतिमा और जैनसाधु हैं ऐसा मानता चला आ रहा है। मूर्ति नग्न न हो, साधु नंगा न हो तो उन्हें मानना और पूजना योग्य नहीं ऐसा ही विश्वास करता रहा है। जबकि श्वेतांबर परम्परा का इस विषय का वारसा प्रथम से ही उदार रहा है, ऐसा लगता है। यही कारण है कि यह जिनमूर्ति की उपासना की अनेकांतिक मान्याता दिगम्बर परम्परा के जितनी ही रखते हुए दिगम्बर फिरके के समान एकांतिक नहीं बनी। बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसने से लगता है कि नग्न और अनग्न दोनों प्रकार की जिनप्रतिमाएं उपासना के अनुकूल हैं। न कि कोई एक प्रकार की। इसलिए मूर्ति स्वरूप के विषय की परंपरा से चली आने वाली कल्पना का विचार करने से और उसकी उपासनागत अनेकान्त दृष्टि के साथ मेल बिठाने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि एकांत नग्नमूर्ति अथवा नंगे साधु की मान्यता का आग्रह रखने से वीर परम्परा का प्रतिनिधित्व खंडित हो जाता है। क्योंकि इस एकान्त आग्रह में तीर्थंकर की सर्वांग उपासना का समावेश नहीं होता। किन्तु श्वेतांबर परम्परा की नग्न और अनग्न जिनप्रतिमा तथा निर्ग्रंथ साधु की मान्यता में दिगम्बर एक पक्षीय मान्यता का भी रुचि और अधिकारी भेद से पूर्ण समावेश हो जाता है।

(३) तीसरा प्रश्न मुँहपत्ती के विषय में है। दिगम्बर फिरका तो इसका उपयोग नहीं करता। इसलिये श्वेतांबर और स्थानकमार्गी साधु इसका उपयोग करते हैं। श्वेतांबर मुँहपत्ती का प्रयोग हाथ में लेकर बोलते समय मुँह के आगे रखकर करते हैं और स्थानकमार्गी मुँह पर बांधते हैं। इसका विचार हम मुनि बुद्धिविजयजी के प्रसंग में कर आये हैं। श्वेतांबर परम्परा वीरपरम्परा के अनुसार इसका प्रयोग करती है। इसलिये वीरपरम्परा से इसका सीधा संबन्ध है। (लेखक)

---

(१) गर्भापहरण, (२) सुपार्श्वनाथ के सिर पर पाँच मुँह वाला सर्पफण, (३) ऋषभदेव के सिर और कंधों तक लटकते केश तथा (४) जैन साधु का वस्त्र परिधान सर्वथा श्वेतांबर परम्परा की मान्यता के अनुकूल है। दिगम्बर परम्परा इन चारों मान्यताओं का जबर्दस्त विरोधी है। इससे यह बात प्रत्यक्ष है कि ये नग्न-अनग्न मूर्तियां जिन पर श्वेतांबर आचार्यों के लेख भी अंकित हैं और श्वेतांबर मान्यता के अनुकूल तथा दिगम्बर मान्यता के प्रतिकूल हैं; निश्चय ही श्वेतांबर परम्परा की मालिकी की ही हैं। श्वेतांबर साहित्य में सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा पर पाँच मुखवाले सर्पफण का कारण यह बतलाया है कि जब सुपार्श्वनाथ माता के गर्भ में थे तब माता ने स्वप्न देखा था कि उनके गर्भस्थ बालक के सिर पर पाँच मुखवाला सर्पफण मंडित है और उस नाग की सेज पर वे विराजमान हैं। त्रिषष्टि शालाका पुरुष चरित्र में लिखा है कि जब भगवान सुपार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो गया था और वे देवनिर्मित समवसरण में विराजमान थे तब इन्द्र ने उनके सिर पर सर्पफण का छत्र लगाया था। इसलिये उनकी प्रतिमा पर पाँचमुख सर्पफण बनाया जाता है तथापि

(४) अब हम शास्त्रों के विषय को लेकर विचार करेंगे और यही सबसे अधिक महत्व का है। तीनों फ़िरकों के पास अपना-अपना साहित्य है। स्थानकमार्गी तथा श्वेतांबर इन दो फ़िरकों का कितना एक आगमिक साहित्य तो साधारण है जबकि दोनों फ़िरकों के मान्य साधारण आगमिक साहित्य को दिगम्बर फ़िरका मानता ही नहीं। वह यह कहता है कि असली आगमिक साहित्य क्रम-क्रम से लेखबद्ध होने से पहले ही अनेक कारणों से नष्ट हो गया। ऐसा कहकर वह स्थानकमार्गी और श्वेतांबर उभय मान्य आगमिक साहित्य का बहिष्कार करता है और उसके स्थान में उसकी अपनी परम्परा के अनुसार ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी से रचित मान्यता वाले अमुक साहित्य को आगमिक मानकर उसका आलंबन करता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि ईस्वी सन् से पहली-दूसरी सदी में रचे हुए खास दिगम्बर साहित्य को इस फ़िरके के आचार्यों तथा अनुयायियों ने जीवित रखा तो उन्होने स्वयं ही असली आगम साहित्य को सुरक्षित क्यों न रखा? असली आगम साहित्य के सर्वथा विनाशक कारणों ने उस फ़िरके के नवीन और विविध विस्तृत साहित्य का सर्वथा विनाश क्यों न किया? ऐसा तो कह ही नहीं सकते कि दिगम्बर फ़िरके के

खेद का विषय है कि आजकल के कतिपय दिगम्बर शास्त्री तथा पी० एच० डी० पदवीधर डाक्टर इन लेखों को अपनी कृतियों में अधूरे छापकर इस प्राचीन स्थापत्य को दिगम्बर सिद्ध करके जैन इतिहास के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। देखें जैनधर्म का प्राचीन इतिहास भाग १ दि० बलभद्र कृत तथा भाग २ दि० परमानन्द कृत। जैन इतिहास के साथ अपने आपको जैन कहलाने वाले दिगम्बर लेखकों का खिलवाड़ करना कहा तक उचित है? सत्य इतिहास को जानने के इच्छुक अवश्य विचार करें। अब हम यहाँ इन प्रतिमाओं पर अंकित लेखों तथा प्रतिमाओं के विषय में कुछ विवरण देते हैं।]

१. मथुरा ककाली टीले से प्राप्त-लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित शिलापट्ट नं० J 626 हरिणिगमेशीदेव देवानन्दा की कुक्षी से भगवान महावीर को हस्त संपुट में उठाकर रानी त्रिशला की कुक्षी में रखने के लिये जा रहा है। उस समय का इसमें चित्रण है। एक तरफ मनोहर शय्या में देवानन्दा सो रही है, दूसरी तरफ़ राजभवन में पलंग शय्या पर त्रिशलादेवी सो रही है, मध्य में हरिणिगमेशीदेव प्रभु वीर को भक्ति से उठाकर रानी के पास आया है। ऐसा मनोहर दृश्य है। यह शिलापट्ट कुछ खंडित हो गया है।

प्रथम लेख—

"सिद्धं सं० २० ग्री० १ दिन २५ कोटियतो गणतो वाणियतो कुलतो वयरियतो साखातो सिरिकातो भत्तितो, वाचकस्य आर्य संघ सिंहस्य निवर्त्तन दत्तिलस्य............वि...... लस्य कोढुंबिणिय जयवालस्य, देवदासस्य नागदिनस्य च नागदिन्नाये च मातु सराविकाये दिण्णाए दाणं। ।ई। वर्धमान प्रतिमा ।।"

अर्थ—विजय! संवत् २० उष्णकाल का पहला महीना, मिति २५ को कौटिक गण, वाणिज कुल, वयरि शाखा, सिरिका विभाग के वाचक आर्य संघसिंह की निर्वर्तन (प्रतिष्ठित) है। श्री वर्धमान [प्रभु] की [यह] प्रतिमा दत्तिल की बेटी...वि...ला की स्त्री, जयपाल, देवदास तथा नागदिन्न (नागदत्त) की माता नागदिन्ना श्राविका ने अर्पित की। आर्किआलोजीकल रिपोर्ट में इस लेख की नकल के नीचे सर कनिंघम ने एक नोट भी

जुदा खास रचे हुए शास्त्रों के समय से पहले ही ये विनाशक कार्य थे और पीछे ऐसे न रहे क्योंकि ऐसा न मानने से ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी कि वीर परम्परा के असली आगमिक साहित्य को सर्वथा विनाश करने वाले बलों ने समान क्षेत्र और समान काल में विद्यमान ब्राह्मण और बौद्ध असली साहित्य अथवा उस समय में रचे गये साहित्य पर विनाशक प्रभाव नहीं डाला और डाला भी हो तो नाममात्र से। यह कल्पना मात्र असंगत ही नहीं परन्तु अनैतिहासिक भी है। भारत के किसी भी भाग में वर्त्तमान अथवा रचे जाने वाले साहित्य के विषय में ऐसे पक्षपाती विनाशक बल कभी भी उपस्थित होने का इतिहास प्राप्त नहीं होता कि जिन बलों ने मात्र जैन साहित्य का ही सर्वथा विच्छेद किया हो और ब्राह्मण अथवा बौद्ध साहित्य पर दया रखी हो। यह और ऐसी ही दूसरी अनेक असंगतियां हमें ऐसा मानने के लिये प्रेरित करती हैं कि वीर परम्परा का असली साहित्य वस्तुतः नाश न होकर अखंड रूप से विद्यमान ही रहा है। इस दृष्टि से देखते हुए इस असली साहित्य का वारसा दिगम्बर फ़िरके के पास नहीं है परन्तु श्वेतांबर और स्थानकमार्गी

लिखा है जिसका अर्थ यह है कि यह लेख जो कि संवत् २० ग्रीष्म ऋतु का प्रथम महीना मिति २५ का है इसमें वर्णन है कि श्री वर्धमान की प्रतिमा भेंट की। यह प्रतिमा नग्न है। इसमें कोई-सन्देह नहीं है कि यह जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्धमान अथवा महावीर का प्रतीक है। यह मूर्ति ईसा पूर्व ३७ वर्ष की हैं अर्थात् दो हजार वर्ष प्राचीन है। Alaxander Cunningham C. S. I, ने Archeological Report Vol. III p. 31 में Plate no; 6 Script 13 Samvat 20 Jain Figure में लिखा है कि—
This inscription which is dated in the Samvat year 20 in the first of Grishma (the hot season) the 25th day, records the gift of one statue of Vardhman (Pratima 1) as on the figure is naked. There can be no doubt that it represents the Jain Vardhman or Mahavira the twenty fourth Pontiffs. (B. C. 37)

दूसरा लेख—

नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं सं० ६२ ग्र० ३ दिन ५ अस्यां पूर्वाये शटकस्य आर्यककक-संघस्तस्य शिष्य आतपिको गहवरी यस्य निर्वर्तणं चतुर्वणं संघस्य या दिन्ना पडिमा ग० वैहिकाये दत्ति॥

अर्थ—अरहंतो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार। संवत् ६२ उष्णकाल का तीसरा महीना मिति ५ को आर्य कककसंघ के शिष्य आतपिक ओगहक आर्य द्वारा प्रतिष्ठित करवाकर चतुर्वर्ण संघ की अर्चना के लिए अर्पण की। (यह संवत् इंडो सेंथियन नरेशों के साथ संबंध नहीं खाता किन्तु इसके पहले के किसी राजा का संवत् प्रतीत होता है। क्योंकि इस लेख की लिपि अत्यन्त प्राचीन है—डा० बूल्हर)।

तीसरा लेख

सिद्धं। महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये संवत्सरे नवमे (९) मासे प्रथ० (१) दिवसे ५ अस्यां पूर्वाये, कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वयरितो साखातो वाचकस्य नागनंदिस्य निवर्तनं ब्रह्मधूतये भट्टि मित्तस्य कोडुंबिणिये। विकडाए श्री वर्धमानस्य प्रतिमा कारिता सव्वसत्वानं हित-सुखाये।

फ़िरकों के पास हैं। स्थानकमार्गी फ़िरका कुछ आगमिक साहित्य मानता है, किन्तु वह डालों, शाखाओं, पत्तों, फूलों और फलों के बिना का एक मूल अथवा धड़ जैसा है और वह मूल अथवा धड़ भी उसके पास अखंडित नहीं है। यह बात वास्तविक है कि श्वेतांबर परम्परा जो आगमिक साहित्य का वारसा रखती है वह प्रमाण में दिगम्बर परम्परा के साहित्य से अधिक और खास असली है। तथा स्थानकमार्गी आगमिक साहित्य से विशेष विपुल और समृद्ध है।

अर्थ—विजय ! महाराजा कनिष्क के राज्य में नवें वर्ष के पहिले महीने में मिति ५ के दिन ब्रह्मा की बेटी, भट्टिमित्र की स्त्री विकटा ने सर्वजीवों के कल्याण तथा सुख के लिये कीर्तिमान वर्धमान की प्रतिमा कौटिक गण (गच्छ) वाणिज कुल और वयरी शाखा के आचार्य नागनन्दि की निर्वर्तना (प्रतिष्ठित) है। (यह मूर्ति ए० कनिंघम के मत से ई० स० ४८ वर्ष की है)

अब हम कल्पसूत्र पर दृष्टि डालते हैं। तो उस मूलपाठ वाली प्रति के पत्रे ८१, ८२ एस. बी. ई. वाल्युम २२ पत्र २९३ से हमें ज्ञात होता है कि सुट्ठिय (सुस्थित) नामक आचार्य ने जो श्री महावीर प्रभु के आठवें पट्टप्रभावक थे कौटिक नामक गण स्थापन किया था। उसके विभाग रूप चार शाखाएं और चार कुल हुए। तीसरी शाखा 'वयरी' थी और तीसरा वाणिज नामक कुल था। कल्पसूत्र का मागधी भाषा का पाठ यह है—

"थेरेहिंतो णं सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडिय काकंदिएहिंतो वग्घावच्चस गुत्तेहिंतो। इत्थणं कोडिय गणे णामं गणे निग्गए। तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओं, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा उच्चनागरी, १. बिज्जाहरी २. वयरी य ३. मज्झिमिल्ला य ४. कोडिय गणस्स एया हवंति चत्तारि साहाओ।१। से तं साहाओ।"

"से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंज्जहा-पढमित्थं बंभलिज्ज बिइय नामेण वित्थलिज्ज तु, तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं" ।२।

इससे स्पष्ट है कि मथुरा से प्राप्त प्राचीन जैन मूर्तियों के लेखों में जो गण, कुल और शाखाओं के नाम दिए गये हैं वे सब कल्पसूत्र की स्थविरावली के साथ मिलते हैं।

चौथा लेख

(पंक्ति १) संवत्सरे ९० व···कोडुबिनी वेदानस्य वधुय।

(पंक्ति २) को [टितो] गणतो [पण्ह] वाह [ण] यतो कुलतो मज्झिमातो साखातो··· सनीकाये।

(पंक्ति ३) भत्ति सालाए बंबानी ··(A Canningham Arch Report Vol III p. 35 plate no. 15 Script no- 19)

इस उपर्युक्त लेख का सम्पूर्ण अर्थ करना संभव नहीं है क्योंकि लेख अनेक स्थानों से नष्ट हो गया हुआ है। तथापि प्रथम पंक्ति के अधूरे लेख से ऐसा अनुमान करना ठीक प्रतीत होता है कि इस मूर्ति को अर्पण करने का काम किसी स्त्री ने किया है। दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है :—कौटिक गण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा से।

जब हम कल्पसूत्र के लेख को देखते है तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये कुल और शाखा भी कल्पसूत्र की स्थविरावली से मिलते हैं।

तो भी वह इस समय जितना है उसमें ही सब असली साहित्य का मूल रूप में समावेश हो जाता है ऐसा कहने का आशय नहीं है। स्थानकमार्गी फिरके ने अमुक ही आगम मान्य रख कर उसके सिवाय मान्य न रखने की पहली भूल की। दूसरी भूल आगमिक साहित्य के अखण्डित विकास को और वीरपरम्परा को पोषण करने वाली नियुक्ति आदि चतुरंगी के अस्वीकार में इस ने की और अन्तिम अक्षम्य भूल इस फिरके के मुख्य रूप से क्रियाकांड के समर्थन में से फलित होने वाले चिंतन मनन के नाश में आ जाती है। जो अनेक सदियों के मध्य भारतवर्ष में आश्चर्य-जनक दार्शनिक चिंतन, मनन और तार्किक रचनाएं खूब अधिक होती थीं इस जमाने में श्वेतांबर और दिगम्बर विद्वान भी इस प्रभाव से अछूते न रहे और इन्होंने थोड़ा परन्तु समर्थ योगदान जैन साहित्य को दिया। उस समय में प्रारम्भ हुआ और चारों तरफ विस्तार पाने वाला स्थानक-

---

"थेराणं सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडिय काकंदगाणं इमे पंच थेरा अन्तेवासी अहवच्चाए अभिण्णया होत्था, तं जहा—थेरे अज्ज इंददिण्णे पियगंथ थेरे विज्जाहर गोवाले कासव-गुत्तेणं, थेरे इसिदत्ते थेरे अरिहदत्ते थेरेहिंता णं पियगंथेहिंतो इत्थं मज्झिमा साहा निग्गया।"
"से कि तं कुलाइं एवमाहिज्जंति, तं जहा पढमित्थ बंभलिज्जं बिदूयं नामेण वत्थलिज्जं तु तइयं पुण वाणिज्जं चउत्थयं पण्हवाहणयं।

अर्थात्—इस कल्पसूत्र में ऐसा वर्णन है कि सुस्थित सुप्रतिबद्ध आचार्य के दुसरे शिष्य प्रिय-ग्रंथ स्थविर ने मध्यमा शाखा स्थापित की और इसमें से प्रश्नवाहनक कुल निकला।

पांचवां लेख —

सं० ४७ ग्र० २ दि० २० एतस्यां पूरवाये चारणे गणे, पेतिकधम्मिक [कुल] वाचकस्य रोहणंदिस्य सीसस्य सेनस्य निवंतणं, सावक दर............प्रपा [दि] न्ना......
अर्थ—संवत् ४७ ग्रीष्म काल का दूसरा महीना मिति २० को चारण गण पेतिधम्मिक (प्रतीधार्मिक) कुल के वाचक रोहनन्दि के शिष्य सेन के उपदेश से श्रावक इत्यादि। यह लेख सर कनिंघम के मत से ई० पू० १० वर्ष का है। [A. Cunningham C. S. I. Arch Report Vol III page 33 plate no; 10 Script 14 (10 B. C)]
जब हम कल्पसूत्र की स्थविरावली से मिलान करते हैं तो ये गण और कुल भी इससे मेल खाते हैं।

(पाठ) थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो इत्थणं चारणे गणे णामं गणे निग्गए, तस्सणं इमाओ चत्तारि सहाओ, सत्त य कुलाइ एवमाहिज्जंति—

से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जाति तंजहा पढमित्थ वत्थलिज्जं, बीअ पुण 'पीइ-धम्मिअ' होइ।

अर्थात्—स्थविर श्री गुप्त से चारण गण निकला तथा चारण गण से प्रीतिधर्मिक शाखा निकली।

छठा लेख —
सिद्धं। नमो अरहते महावीरस्य देवस्य राज्ञा वासदेवस्य संवत्सरे ६८, वर्षामासे ४ दिवसे ११ एतस्ये आर्य्य रोहनियतो गणतो परिहासक कुलतो पोधयत्रिकात साखातो गणिस्य

मार्गी फिरके ने दार्शनिक चिंतन-मनन की दिशा में तथा तार्किक अथवा किसी भी योग्य साहित्य की रचना में अपना नाम नहीं कमाया। यह विचार वास्तव में स्थानकमार्गी फिरके के लिये नीचा दिखलाने वाला है। इन सब दृष्टियों से स्थानकमार्गी फिरके को वीरपरम्परा का अखण्ड प्रतिनिधित्व अथवा अपेक्षाकृत विशिष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त करने वाला नहीं कह सकते। इसलिये अब बाकी के दो फिरकों के लिये ही विचार करना है।

आर्यं देवदत्तस्य न·······।

अर्थ—विजय। ॐ अर्हत् महावीर देव को नमस्कार करके राजा वासुदेव के संवत् ९८ वर्ष में, वर्षा ऋतु के चौथे महीने में मिति ११ के दिन आर्य रोहण के द्वारा स्थापित किए गए हुए (रोहणीय) गण के, परिहास कुल के पौर्णपत्रिका शाखा के गणि आर्य देवदत्त के·········।

इन उपर्युक्त सब लेखों को पढ़ने से डा० बुल्हर लिखता है कि :—

(१) संवत् ५ से ९८ तक अथवा ईस्वी सन् ८३ से १६६-६७ के मध्यवर्ती काल में मथुरा के जैन साधुओं के अनेक गण, कुल और शाखाएं थी।

(२) तथा इन लेखों में लिखे हुए साधुओं के नाम के साथ वाचक, गणि, आर्य, आचार्य आदि उपाधियों का भी उल्लेख हैं। ये उपाधियाँ जैनधर्मानुयायियों उन यतियों-साधुओं को दी जाती थीं, जो साधुओं सम्बन्धी शास्त्रों [जैन-जैनेतर शास्त्रों] के प्रकांड विद्वान होते थे। तथा ये पदवी धारी साधुओं और श्रावकों को इन शास्त्रों को समझाने-पढ़ाने में निपुण होते थे। जिस साधु को गणि (आचार्य) पदवी दी जाती थी वह उस गण (गच्छ) का नेता माना जाता था। इसलिए यह उपाधि बहुत बड़ी समझी जाती थी। वर्तमान काल में भी पुरानी रीति के अनुसार आचार्य पदवी प्रमुख साधु को देने की पद्धति है।

(३) शाखाओं (गणों) में से कौटिक गण की बहुत शाखाएं हैं। इस लिए इसका बहुत बड़ा इतिहास होना चाहिए।

(४) यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि इन लेखों से यह प्रमाणित होता है कि कौटिक गण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में अवश्य विद्यमान था। तथा उस समय में जैनधर्म की प्राचीन काल से चली आने वाली आत्मज्ञान वाली शिष्य परम्परा भी अवश्य विद्यमान थी। उस समय जैन साधु अपने धर्म के सदा सर्वत्र प्रसार के लिए तत्पर रहते थे तथा उस काल के पूर्व भी अवश्य तत्पर रहते होंगे?

(५) जब कि उस समय में जैन साधुओं में वाचक पदवीधारी भी विद्यमान थे, तो यह बात भी निःसंदेह है कि उन वाचकों से शास्त्रों का पठन-पाठन-अभ्यास करने वाले साधुओं के अनेक गण (समूह) भी अवश्य विद्यमान तथा जिन शास्त्रों का पठन-पाठन होता था वे शास्त्र भी अवश्य विद्यमान थे।

(६) ये लेख कल्पसूत्र में वर्णित स्थविरावली से बराबर मिलते हैं अर्थात् जिन गणों, कुलों, शाखाओं का वर्णन कल्पसूत्र में आता है उन्ही गणों कुलों शाखाओं का इन लेखों में उल्लेख है। अतः ये लेख निःसन्देह प्रमाणित करते है कि श्वेतांबर जैनों के परम्परागत शास्त्र बनावटी नही है। अर्थात् श्वेतांबर जैनों के शास्त्रों पर लगाये गये बनावटी के आरोप को ये शिलालेख मुक्त करते हैं।

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर फिरके ने असली आगमिक साहित्य की अवगणना में, उसके बहिष्कार करने में, बनावटी बतलाने में मात्र विद्या के कई अंशों से वंचित होने की ही भूल नहीं की है। परन्तु इसको इसके साथ वीरपरम्परा के बहुत आचारों और विचारों से भी हाथ धोने पड़े हैं। आगमिक साहित्य छोड़ने के साथ इसके हाथ में से पंचांगी के प्रवाह को सुरक्षित रखने, रचना करने तथा पोषण करने का सुनहरी अवसर ही छिन गया। यह तो एक निराबाध सत्य है कि मध्यकाल में कई शताब्दियों तक माननीय दिगम्बर गम्भीर विद्वानों के हाथ से रचा गया दार्शनिक, तार्किक और अन्य प्रकार का विविध साहित्य ऐसा है जो मात्र प्रत्येक जैन को ही नहीं किंतु प्रत्येक भारतीय और संस्कृति के अभ्यासी को गौरव उत्पन्न करे, ऐसा है। ऐसा होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से मानना पड़ेगा कि यदि दिगम्बर परम्परा ने आगमिक और पंचांगी साहित्य को सुरक्षित, सर्वधित और व्याख्यायान के विवरण का अपने ही ढब से किया होता तो इस परम्परा के गम्भीर विद्वानों ने भारतीय और जैन साहित्य को एक सम्मानवर्धक भेंट दी होती, जो हो। इस पर से मेरा अभिप्राय केवल ऐतिहासिक दृष्टि से यह बना है कि शास्त्रों की बाबत में वीरपरम्परा का जो कोई भी अखण्ड प्रतिनिधित्व आज देखने में आता है वह श्वेतांबर परम्परा को आभारी है। जब मैं दिगम्बर परम्परा की पुष्टि और उसके समन्वय की दृष्टि से भी श्वेतांबरीय पंचांगी साहित्य को देखता हूं तब मुझे स्पष्ट लगता है कि इस साहित्य में दिगम्बर परम्परा की पोषक अखूट सामग्री है। आमुक मुद्दों के प्रति मतभेद होने पर भी उसे एकान्तिक आग्रह का रूप देने से जो हानि दिगम्बर परम्परा को उठानी पड़ी है उसका ख्याल इस पंचांगी साहित्य को तटस्थ भाव से मनन-चिंतन किये बिना नहीं आ सकता है। यदि इस साहित्य के अमुक विधान दिगम्बर परम्परा के अनुकूल न होते तो इस परम्परा के विद्वान इन विधानो के विषय में—इस साहित्य को छोड़े बिना भी जैसे ब्राह्मणों और बौद्ध परम्परा में बना है तथा जैसे एक ही तत्त्वार्थ ग्रंथ को अपनाकर इसकी जुदा-जुदा व्याख्याएं की गई हैं वैसे—विविध ऊहापोह की जा सकती थी। अथवा उस भाग को, स्वामी दयानन्द ने स्मृति पुराण आदि में जो अनिष्ट भाग को प्रक्षिप्त कहकर बाकी के समग्र पंचांगी भाग को स्वीकार करके परम्परा के प्रतिनिधित्व के मूल रूप में कुछ विशेष रूप से सुरक्षित रख सका होता। दिगम्बर परम्परा का समग्र मानस एकांगी बढ़ा दिखलाई देता है कि उसे जिज्ञासा और विद्योपासना की दृष्टि से भी पंचांगी साहित्य को देखने की वृत्ति होती ही नहीं। जबकि श्वेतांबरीय मानस प्रथम से ही उदार रहा है। इसके प्रमाण हम इसकी साहित्य रचना में बराबर देख पाते हैं। एक भी दिगम्बर विद्वान ऐसा दिखलाई नहीं पड़ता कि जिसने ब्राह्मण-बौद्ध ग्रंथो पर लिखने की बात तो अलग रही, पर श्वेतांबरीय आगमिक साहित्य अथवा दूसरे किसी दार्शनिक या तार्किक श्वेतांबरीय साहित्य पर कुछ लिखा हो। इससे विपरीत दिगम्बर परम्परा का प्रबल खंडन करने वाले अनेक श्वेतांबरीय आचार्य और गम्भीर विद्वान ऐसे

---

(७) इन लेखों से यह बात भी निःसंदेह सिद्ध हो जाती है कि उस समय श्वेतांबर जैनों की वृद्धि उन्नति खूब थी।

(८) मथुरा के इन सब लेखों से यह भी स्पष्ट है कि उस समय मथुरा शहर में बसने वाले जैन लोग श्वेतांबर जैन धर्मानुयायी थे (आचार्य विजयानन्द सूरि कृत जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर पुस्तक)।

हुए है जिन्होंने दिगम्बर ग्रन्थों पर आदर सहित महत्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। इतना ही नहीं पुस्तक संग्रह की दृष्टि से भी दिगम्बर परम्परा का मानस श्वेतांबर परम्परा के मानस से पहले से ही

---

(६) श्री वासुदेव शरण अग्रवाल M.A. Curator Curzon Museum Mathura अपने लेख-प्राचीन मथुरा में जैनधर्म का वैभव में लिखते है कि — मथुरा में ईस्वी सन् में लगभग चार-पाँच शताब्दि पूर्व, जैनधर्म के स्तूपों की स्थापना हुई। आज कंकाली टीले के नाम से जो भूमि वर्तमान मथुरा संग्राहलय से पश्चिम की ओर करीब आध मील दूरी पर स्थित है, वह पवित्र स्थान ढाई सहस्र वर्ष पहले जैनधर्म के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उत्तर भारत में यहाँ के तपस्वी आचार्य सूर्य की तरह तप रहे थे। यहां की स्थापत्य और भास्कर कला के उत्कृष्ट शिल्पों को देखकर दिग्दिगन्त के यात्री दांतों तले उंगली दबाते थे। यहाँ के श्रावक और श्राविकाओं की धार्मिक श्रद्धा अनुपम थी। अपने पूज्य गुरुओं के चरणों में धर्मभीरु लोग सर्वस्व अर्पण करके नाना भाँति की शिल्पकला के द्वारा अपनी अध्यात्म साधना का परितोष करते थे। अन्त में यहां के स्वाध्यायशील भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा संगठित जो अनेक विद्यापीठ थे उनकी कीर्ति भी देश के कोने-कोने में फैल रही थी। उन विद्यास्थानों को गण कहते थे, जिनमें कई कुल और शाखाओं का विस्तार था। इन गण और शाखाओ का विस्तृत इतिहास जैन (श्वेतांबर) कल्पसूत्र तथा मथुरा के शिलालेखों से प्राप्त होता है। अब हम कुछ विशदता से जैनधर्म के इस अतीत गौरव का यहाँ उल्लेख करेंगे।

देवनिर्मित स्तूप

कंकाली टीले की भूमि पर एक प्राचीन जैन स्तूप और दो मन्दिर या प्रासादों के चिन्ह मिले थे। अर्हत् नन्द्यावर्त अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर अर की एक प्रतिमा की चौकी पर खुदे हुए एक लेख में लिखा है [F. I Vol. II, Ins no. 20] कि कोट्टिय गण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देवनिर्मित स्तूप में अर्हत् की प्रतिमा स्थापित की।

यह लेख सं० ७९ अर्थात् कुषाण सम्राट् वासुदेव के राज्यकाल ई० १६७ का है, परन्तु इसका देवनिर्मित शब्द महत्त्वपूर्ण है; जिस पर विचार करते हुए बूलर स्मिथ आदि विद्वानों ने [Jain stupa, P. 18] निश्चय किया है कि यह स्तूप ईस्वी दूसरी शताब्दि में इतना प्राचीन समझा जाता था कि लोग इसके वास्तविक निर्माणकर्त्ताओं के इतिहास को भूल चुके थे और परम्परा के द्वारा इसे देवों से बना हुआ मानते थे। इस स्तूप का नाम बौद्ध स्तूप लिखा हुआ है। (यह बात इतिहासज्ञों की अज्ञानता का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है, और उनकी इस धारणा का आधार हुएनसांग आदि बौद्ध चीनी यात्रियों के भारत भ्रमण के समय उनके सभी लिखे गये भ्रांत विवरण हैं। उन लोगों ने भारत में जहां भी कोई स्तूप देखा उसे अशोक का अथवा बौद्धों का लिख डाला। फिर वह चाहे किसी अन्य धर्मा-

बहुत संकीर्ण रहा है। इस के प्रमाण पुराने समय से लेकर आज तक की दोनों फिरकों के शास्त्र भण्डारों की सूचियों से पद-पद पर मिलते है। मैंने यह लेख किसी एक परम्परा के अपकर्ष अथवा

वलंबियों का हो। जैन वांगमय में ऋषभदेव के काल से लेकर आज तक जैन स्तूपों के निर्माण के उल्लेख पाये जाते हैं। हमारी सम्मति में देवनिर्मित शब्द साभिप्राय है और इस स्तूप की अतिशय प्राचीनता को सिद्ध करता है। तिब्बतीय विद्वान् तारानाथ ने अशोककालीन तक्षकों और शिल्पियों को यक्षों के नाम से पुकारा है कि मौर्यकालीन शिल्पकला यक्षकला है। उससे पूर्व युग की कला देवनिर्मित थी। अतएव शिलालेख का देवनिर्मित शब्द यह संकेत करता है कि मथुरा का स्तूप मौर्यकाल से पहले अर्थात् लगभग छट्ठी या पाँचवी शताब्दि ईस्वी पूर्व में बना होगा। जैन विद्वान् जिनप्रभ द्वारा रचित तीर्थकल्प किंवा राजप्रासाद ग्रंथ में मथुरा के इस स्तूप के निर्माण और जीर्णोद्धार का इतिहास दिया हुआ है। उसके आधार पर बूलर ने A legend of the Jain stupa at Mattura नामक निबन्ध लिखा था। उसने कहा है कि मथुरा का स्तूप, आदि में सुवर्णमय था, जिसे कुबेरा नामकी देवी ने सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्व की स्मृति में (उनके समय में) बनवाया था। कालान्तर में तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी के समय में इसका निर्माण ईंटों से हुआ। (पार्श्वनाथ केवली अवस्था में मथुरा पधारे थे।) भगवान् महावीर की सम्बोधी के १३०० वर्ष बाद बप्पभट्टिसूरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इस आधार पर डॉ० स्मिथ ने जैन स्तूप नामक पुस्तक में यह लिखा है :—

"Its original erection in brick in the time of Parsvanath, the predecessor of Mahavir, would fall at a date not later than B. C. 600. Considering the significance of the phrase in the inscription "built by the Gods" as indicating that the building at about the beginning of the Christian era was believed to date from a period of mythical antiquity, the date B. C. 600 for its first erection is not too early. probably, therefore, this stupa, of which Dr. Fuhrer exposed the foundations, is the oldest known building in India."

इस उद्धरण का भावार्थ यही है कि अनुश्रुति की सहायता से मथुरा के प्राचीन जैन स्तूप का निर्माण काल लगभग छठी शताब्दि ई० पूर्व का प्रारम्भकाल था और इसी कारण यह भारतवर्ष में प्राप्त स्तूपों में से सबसे पुराना स्तूप था। (इसी प्रकार भारत में सर्वत्र जैन स्तूप विद्यमान होने चाहिए जिन्हें पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासवेत्ताओं ने बौद्धों आदि के लिखकर जैन इतिहास से खिलवाड़ की है)।

बौद्ध स्तूप के सामने दो विशाल देव-प्रासाद थे। इनमें से एक मन्दिर का तोरण [प्रासाद-तोरण] प्राप्त हुआ था। इसे महारक्षित आचार्य के शिष्य उत्तरदासिक ने बनवाया था। इसके लेख के [E. I. Vol. II, Ins. no. 1] अक्षर भारहूत के तोरण पर खुदे हुए लगभग १५० ई०पू० के धनभूति के लेख के अक्षरों से भी अधिक पुराने हैं; अतएक विद्वानों की सम्मति में इन मदिरों का समय ईस्वी० पूर्व तीसरी शताब्दि समझा गया है।

दूसरी परम्परा के उत्कर्ष की दृष्टि से नही लिखा। मेरा यह प्रस्तुत लेख मात्र सत्य की दृष्टि से है। पर किसी के प्रति अवगणना अथवा लघुता की दृष्टि के पोषण का इसमें अवकाश नहीं है।

अद्भुत शिल्प का तीर्थ

ईस्वी० पूर्व दूसरी शताब्दि से लेकर ईसा के बाद ग्यारहवीं शताब्दि तक के शिलालेख और शिल्प के उदाहरण इन देवमन्दिरों से मिले हैं। लगभग १३०० वर्षों तक जैनधर्म के अनुयायी यहाँ पर चित्र-विचित्र शिल्प की सृष्टि करते रहे। इस स्थान से प्रायः सौ शिलालेख, और डेढ हजार के करीब पत्थर की मूर्तियां मिल चुकी हैं। प्राचीन भारत में मथुरा का स्तूप जैनधर्म का सबसे बड़ा शिल्पतीर्थ था। यहाँ के भव्य देव-प्रासाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तम्भ, मूर्धन्य या उष्णीष पत्थर, उत्फुल्ल कमलों से सज्जित सूची, उत्कीर्ण आयागपट्ट तथा अन्य शिलापट्ट, सर्वतो-भद्रिका प्रतिमाएं, स्तूप-पूजा का चित्रण करनेवाले स्तम्भतोरण आदि अपनी उत्कृष्ट कारीगरी के कारण आज भी भारतीय कला के गौरव समझे जाते हैं। सिंहक नामक वणिक के पुत्र सिंहनादिक ने जिस आयागपट्ट की स्थापना की थी वह अविकल रूप में आज भी लखनऊ के संग्रहालय में सुशोभित है। चित्रण—सौष्ठव और मान—सामंजस्य में इसकी तुलना करनेवाला एक भी शिल्प का उदाहरण इस देश में नहीं है। बीच के चतुरस्रस्थान में चार नन्दिपदों से घिरे हुए मध्यवर्ती कुण्डल में समाधिमुद्रा में पद्मासन से भगवान् अर्हंत् विराजमान है। ऊपर नीचे अष्ट मांगलिक चिन्ह और पार्श्वभागों में दो स्तम्भ उत्कीर्ण हैं, दक्षिण स्तम्भ पर चक्र सुशोभित है और वाम पर एक गजेन्द्र। आयागभट्ट के चारों कोनों में चार चतुर्दल कमल हैं। इस आयागपट्ट में जो भाव व्यक्त किए गए हैं उनकी अध्यात्म—व्यंजना अत्यन्त गम्भीर है। इसी प्रकार माथुरक लवदास की भार्या का आयागपट्ट जिसमे षोडश आरेवाले चक्र का दुर्धर्ष प्रवर्तन चित्रित है, मथुराशिल्प का मनोहर प्रतिनिधि है। फल्गुयश नर्तक की भार्या शिवयशा के सुन्दर आयागपट्ट को भी हम नहीं भूल पाते।

कंकाली टीले के अनन्त वेदिका स्तम्भों और सूची—दलों की सजावट का वर्णन करने के लिए तो कवि की प्रतिभा चाहिए। आभूषण—संभारों से सन्नतांगी रमणियों के सुखमय जीवन का अमर वाचन एकबार ही इन स्तम्भों के दर्शन से सामने आजाता है। अशोक, बकुल, आम्र और चम्पक के उद्यानों मे पुष्पमंजिका क्रीडा में प्रसक्त, कन्दुक, खड्गादि नृत्यों के अभिनय में प्रवीण, स्नान और प्रसाधन मे संलग्न पौरांगनाओं को देखकर कौन मुग्ध हुए बिना रह सकता है? भक्तिभाव से पूजा के लिए पुष्पमालाओं का उपहार लाने वाले उपासक वृन्दों की शोभा और भी निराली हैं। सुपर्ण और किन्नर सदृश देवयोनियाँ भी पूजा के इन श्रद्धामय कृत्यों में बराबर भाग लेती हुई दीखाई गई हैं। मथुरा के इस शिल्प की महिमा केवल भावगम्य है।

श्रावक-श्राविकाएं तथा उनके आचार्य

मथुरा के शिलालेखों से मिलि हुई सामग्री से पता चलता है कि जैन समाज में स्त्रियों को बहुत ही सम्मानित स्थान प्राप्त था। अधिकांश दान और प्रतिमा-प्रस्थापना उन्हीं की श्रद्धा-भक्ति का फल थी। सब सत्त्वों के हितसुख के लिए [सर्वसत्त्वानां हितसुखाय] और अर्हत पूजा के लिये

श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी के मन में कोई ऐसी अन्तःस्फुरणा हुई कि उनका जिज्ञासु मन स्थानकमार्गी फिरके के अल्पमात्र आगमिक साहित्य से संतुष्ट न रह सका। यदि वे

[अर्हत्पूजायै] ये दो वाक्य कितनी ही बार लेखों में आते हैं। ये उस काल के भक्तिधर्म की व्याख्या करने वाले दो सूत्र हैं जिन में इसलोक के जीवन को परलोक के साथ मिलाया गया है। गृहस्थों की पुरंध्री कुटुम्बिनी बड़े गर्व से अपने पिता, माता, पति, पुत्र, पौत्र, सास—ससुर का नामोल्लेख करके उन्हें भी अपने पुण्य भागधेय अर्पण करती थीं। स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय ही मथुरा का प्राचीन भक्तिधर्म था।

देवपाल श्रेष्ठी की कन्या श्रेष्ठी सेन की धर्मपत्नी क्षुद्रा ने वर्धमान प्रतिमा का दान करके अपने को कृतार्थ किया। श्रेष्ठी वेणी की धर्मपत्नी, भट्टिसेन की माता कुमारमित्रा ने आर्या वसुला के उपदेश से एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्य जयभूति की शिष्या आर्या संगमिका की शिष्या थी। सर्वलोकोत्तम अर्हतों को प्रणाम करने वाली सुचिल की धर्मपत्नी ने भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा दान में दी। वज्री शाखा के वाचक आर्य मातृदत्त जो आर्य बलदत्त के शिष्य थे, इसके गुरु थे। मणिकार जयभट्टि की दुहिता, लोहवणिज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा ने कोट्टिय गण के अन्तर्गत ब्रह्मदासिक कुल के बृहन्तवाचक गणि जमित्र के शिष्य आर्य ओघ के शिष्य गणि आर्यपाल के श्रद्धाचर वाचक आर्यदत्त के शिष्य वाचक आर्यसिंह की निर्वर्तना या प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान दिया। पुनश्च कोट्टिय गण के आचार्य आर्यबलत्रात की शिष्या संधि के उपदेश से जयभट्टकी कुटुम्बिनी ने प्रतिमा-प्रतिष्ठा की। (E. I. vol. I Mattura ins no 5) एवं इन्ही आर्यबलत्रात की शिष्या सधि की भक्त जया थी जो नवहस्ती की दुहिता, गुहसेन की स्नुषा, देवसेन और शिवदेव की माता थी और जिसने एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की ११३ ई० के लगभग प्रतिष्ठा कराई। (E. I- voll. no. 34)। पूज्य आचार्य बलदत्त को अपनी शिष्या आर्या कुमारमित्रा पर गर्व था। शिलालेख में उस तपस्विनी को 'संशित, मखित, बोधित' (whetted polished and awakened) कहा गया है। यद्यपि वह भिक्षुणी थी। तथापि उसके पूर्वाश्रम के पुत्र गधिक कुमारभट्टिने १२३ ई० में जिनप्रतिमा का दान किया। यह मूर्ति कंकाली टीले के पश्चिम में स्थित दूसरे देवप्रासाद के भग्नावशेष में मिली थी। पहले देवमन्दिर की स्थिति इसके कुछ पूर्वभाग में थी। महाराजा राजाधिराज देवपुत्र हुविष्क के ४० वें संवत्सर [१२८ ई०] में दत्ता ने भगवान् ऋषभदेव की स्थापना की जिससे उसके महाभाग्य की वृद्धि हो। शिलालेख नं० ६ से ज्ञात होता है कि चारणगण के आर्यचेटिक कुल की हरितमालगढी शाखा के आर्य भगनन्दी के शिष्य वाचक आर्य नागसेन प्रसिद्ध आचार्य थे।

ग्रामिक (ग्रामणी) जयनाग की कुटुम्बिनी और ग्रामिक जयदेव की पुत्रवधू ने सं० ४० में शिलास्तम्भ का दान किया। आर्या श्यामा की प्रेरणा से जयदास की धर्मपत्नी गूढा ने ऋषभ प्रतिमा दान में दी। श्रमणश्राविका बलहस्तिनी ने माता-पिता और सास-ससुर की पुण्यवृद्धि के हेतु एक बड़े (९' × ३' × १'), तोरण की स्थापना की।

कंकाली टीले के दक्षिण पूर्व के भाग में डॉ० बर्जेस को खुदाई में एक प्रसिद्ध सरस्वती की प्रतिमा प्राप्त हुई थी जिसे एक लोहे का काम करने वाले (लोहिककारक) गोप ने स्थापित किया था।

चाहते तो स्थानकमार्गी फिरके को छोड़कर दिगम्बर फिरके को अपना सकते थे और उसमें प्रतिष्ठा प्राप्तकर कुछ अधिक प्रमाण में जिज्ञासा की संतुष्टि पा सकते थे और विद्योपासना द्वारा वीर परम्परा का समर्थन कर सकते थे। किन्तु ऐसा लगता है कि आपकी भव्य और निर्भय आत्मा में कोई ऐसी ध्वनि उठी जिसने आपको अपेक्षाकृत वीर परम्परा का अखण्ड प्रतिनिधित्व प्राप्त फिरके की तरफ ही झुका दिया। हम देखते हैं कि आप ने अपने जीवन के थोड़े वर्षों में विशेष रूप से जीवन के अंतिम भाग के अमुक वर्षों में सारे जैन-जैनेतर साहित्य का मंथन कर डाला और उस के नवनीत रूप जो कुछ मिला गुंथनकर दिया, जो आपके शब्दों में विद्यमान है।[1]

इसी स्थान पर बलहस्ति की धर्मपत्नी और गुहदत्त की पुत्री ने धर्मार्था नामक श्रमणी के उपदेश से एक शिलापट्ट दान किया जिस पर स्तूप की पूजा का सुन्दर दृश्य अंकित है [E. I. Vol. I, no. 22] जयपाल, देवदास, नागदत्त नागदत्ता की जननी श्राविका दत्ता ने आर्य संघसिंह की निर्वर्तना मान कर वर्धमान प्रतिमा का ई० ६८ में दान किया। अन्य प्रधान दानशी महिलाओं में कुछ ये थीं—सार्थवाहिनी धर्मसोमा (ई० १००), कौशिकी शिवमित्रा जो ईस्वी० पूर्वकाल में शकों का विध्वंस करने वाले किसी राजा की धर्मपत्नी थी (E. I. Vol. I, no. 32), स्वामी महाक्षत्रप शुदास के राज्य संवत्सर ४२ में आर्यवती की प्रतिमा का दान देने वाली श्रमणश्राविका अमोहिनी (E. I. Vol II, Ins no 2), नर्तक फल्गुयश की धर्मपत्नी शिवयशा, भगवान् अरिष्टनेमि की प्रतिमा का दान करने वाली मित्रश्री, एक गन्धिक की माता, बुद्धि की धर्मपत्नी ऋतुनन्दी जिसने सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की, श्राविका दत्ता, जिसने नन्द्यावर्त अर्हत की स्थापना देवनिर्मित बौद्ध स्तूप में की, भद्रनन्दी की धर्मपत्नी अचला और सबसे विशिष्ट तपस्विनी विजयश्री जो राज्यवसु की धर्मपत्नी, देविल की माता और विष्णुभव की दादी थी और जिन्हों ने एक मास का उपवास करने के बाद सं० ५० (१२८ ई०) में वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की।

इन पुण्यचरित्र श्रमणश्राविकाओं के भक्तिभरित हृदयों की अमर कथा आज भी हमारे लिए सुरक्षित है और यद्यपि मथुरा का वह प्राचीन वैभव अब दर्शनपथ से तिरोहित हो चुका है तथापि इनके धर्म की अक्षम्य कीर्ति सदा अक्षुण्ण रहेगी। वस्तुतः काल प्रवाह में अदृष्ट होनेवाले प्रपंचचक्र में तप और श्रद्धा ही नित्य मूल्य वस्तुएं हैं। जैन तीर्थकर तथा उनके शिष्य श्रमणों ने जिस तप का अंकुर बोया था उसी की छत्रछाया में सुखासीन श्रावक-श्राविकाओं की श्रद्धा ही मथुरा के पुरातन वैभव का कारण थी। (श्री आत्माराम जी शताब्दी ग्रंथ पृ० ६१ से ६६)

(नोट)—व्रज में मात्र मथुरा के कंकाली टीले से ही नहीं अपितु सैकड़ों मीलों में तीर्थंकरों की प्रतिमाएं पाई जाती हैं। जो मथुरा और लखनऊ संग्रहालयों में सुरक्षित रखी गई हैं और ये सब श्वेतांबर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित की गई थीं। (लेखक)

1. श्री आत्मानन्द शताब्दी ग्रंथ ई० सं० १९३६ में पं० सुखलाल जी के लेख-वीर परम्परानुं अखण्ड प्रतिनिधित्व (गुजराती) का हिन्दी रूपांतर।

जैन इतिहास में महाराज श्री का स्थान और उसका कारण

ढाई हजार वर्षों के जैन इतिहास में श्वेतांबर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं ने अनेक विभूतियाँ ऐसी पैदा की है जो इतिहास के लेखकों और अभ्यासियों का ध्यान अपनी तरफ़ खेंचे बिना नहीं रह सकतीं। उन विभूतियों में से अंतिम हज़ार वर्षों में जो विभूतियाँ श्वेतांबर परम्परा ने अर्पण की हैं। उसमें आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी का विशिष्ट स्थान हैं। वाचक यशोविजय जी के बाद दो सौ वर्षों में बहुश्रुत होने का वास्तविक स्थान आपने ही संभाला है एवं अंतिम ढाई सौ वर्षों के जैन इतिहास में श्वेतांबर अथवा दिगम्बर दोनों परम्पराओं में एक महान विभूति के रूप में आप श्री ही दृष्टि गोचर होते हैं। इस पद को प्राप्त करने के कुछ विशिष्ट कारण ही है।

श्रद्धा और बुद्धि

आप में चाहे कितनी अडग श्रद्धा क्यों न होती अथवा कितना ही शासन अनुराग क्यों न होता, यदि आपका बुद्धि द्वार खुला न होता। यदि जितना भी प्राप्त हो सके उतना समग्र ज्ञान अधिक से अधिक प्राप्त करने के लिए अखण्ड अनथक पुरुषार्थ न किया होता तो आप नाम मात्र के ही आचार्य रह जाते। आपने आजीवन अपनी बुद्धि को शास्त्र व्यायाम की कसौटी पर कसकर और जब प्रकाशित पुस्तकें नहींवत् थीं, ऐसे अवसर पर आपने जैन-जैनेतर दर्शनों के, अनेक विषयों के संख्याबन्ध अनेक ग्रंथों को पढ़ा। आप जैन, बौद्ध, वैदिक पौराणिक आदि सब मता-मतांतरों के दिग्गज विद्वान थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्राचीन लिपियों, भूगोल, भूस्तर, मूर्तिकला विद्याओं के प्रकांड पंडित थे। जिस समय जैन समाज में शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि जागी नहीं थी तब आपने ऐतिहासिक शोध-खोज कर के जैन शासन की महत्ता, प्राचीनता सबल युक्तियों से सिद्ध की। प्राचीन लिपियों का अभ्यास कर अनेक प्राचीन तथ्यों को प्रकाश में लाये। आपका विशाल वाचन अद्भुत स्मरण शक्ति और प्रश्नों के उत्तर देने की सचोटता आपके द्वारा रचित ग्रंथों के शब्द-शब्द में दिखलाई पड़ते हैं। इसी बुद्धि योग की विशिष्टा के कारण आपको इस काल में विशिष्ट दर्जा प्राप्त हुआ है।

क्रांतिकारिता

आपके बुद्धि योग के उपरांत एक दूसरा तत्त्व भी था। जिस तत्त्व ने आपको इतना बड़ा महत्त्व दिया। वह यह है कि बहुत वर्षों तक एक सम्प्रदाय में रहते हुए आप ने जो गौरव, महत्त्वपूर्ण सम्मान, पूर्ण प्रतिष्ठा तथा उत्कृष्ट पूज्यावस्था पायी थी। जब यह अनुभव किया कि जिस परम्परा में मैं इस समय हूं, उसे वीर परम्परा में अखण्डता प्राप्त नहीं है। तब बिना किसी हिचकिचाहट के साँप की कांचली के समान उसे उतार फेंकने का साहस किया। यह कार्य आपकी सच्चे तत्त्व परीक्षक तथा क्रांतिकारिणी शक्ति का परिचय देता है। इससे स्पष्ट है कि आपके अंदर कोई ऐसी सत्य शोधक शक्ति होनी चाहिए। जिसने आपकी आत्मा को रूढ़ि के चोले में सन्तुष्ट न रहने दिया। आप तीस वर्षों तक और जीवित रहते तो आपको इस क्षत्रियोचित क्रांतिकारिणी प्रकृति ने किस भूमिका तक पहुंचाया होता, इसकी कल्पना कठिन अवश्य है। परन्तु आपके चालू जीवन पर से इतना तो अवश्य समझ सकते हैं कि एक बार जो आपको सत्य प्रतीत होता था उसे

कहने और आचरण करने से कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति अथवा प्रलोभन, प्रतिष्ठा आपको डगमगा नहीं सकती थी।

विरासत में वृद्धि

आप को जो जैनश्रुत वारसा में मिला था यदि आप उसी में सन्तुष्ट होकर बहुश्रुत कहलाते तो इतना उच्चपद कभी न मिल पाता। आपने देशकाल की विद्या समृद्धि को देखा, नए साधनों को पहचाना, भविष्य में आने वाली जोखम को समझा, इससे आपकी आत्मा तनमना उठी और इसके लिए आपसे जितना भी बन पाया, किया।

आपने वेदों को पढ़ा, उपनिषदों को देखा, श्रौत सूत्रों, स्मृतियों और पुराणों का पारायण किया, नवीन सामयिक साहित्य को देखा। जैनागमों-पंचांगी के मर्म को जाना। मृत और जीवित सभी जैन शाखाओं का साहित्य, उनका इतिहास और उनकी परम्पराओं को जाना। उसके बाद जो स्वयं कहना था उसे निःसंकोच कह डाला। आपके कथन में शास्त्रो का प्रचण्ड संग्रह है, व्यवस्था की प्रतिभा हैं, सत्यता की झंकार हैं, और अभ्यास की जागृति है। आपने प्राप्त वारसा में इतनी वृद्धि करके जो आदर्श उपस्थित किया है वह आगे होने वाले आचार्य पदवीधरों को सावधान किया है कि जैन शासन की सच्ची सेवा किस में है।[1]

आपके विषय में कुछ विद्वानों के अभिप्राय

१. कलकत्ता रायल एशियाटिक सोसायटी के ऑनरेरी सेक्रेटरी डा० ए० एफ़० रुडोल्फ हारनल ने उपासकदशांग सूत्र का अनुवाद सहित सम्पादन किया था। यह ग्रंथ आप श्री को अर्पण करते हुए अपनी अर्पण पत्रिका में अपने भाव इस प्रकार प्रकट किये हैं—

दुराग्रह-ध्वान्त विभेद-भानो, हितोपदेशामृत-सिंधु-चित्त
सन्देह-सन्दोह-निरास कारीन् जिनोक्त-धर्मस्य-धुरंधरोऽसि—
अज्ञान-तिमिर-भास्करमज्ञान-निवृत्तये सहृदयानाम्
अर्हत्-तत्त्वादर्श-ग्रंथ-परमपि भवान् कृत ।।
आनन्दविजय श्री मन्नात्माराम-महामुने !
मदीय निखिल-प्रश्न-व्याख्यात-शास्त्रे पारग ।।

(डा० ए० एफ़० रुडोल्फ़ हारनल)

अर्थात्—दुराग्रह रूपी अंधकार को छिन्न-भिन्न करने में आप सूर्य के समान हैं। हितकारी धर्मामृत के एक समुद्र हैं। संदेह के समूह से छुड़ाने वाले और जैनधर्म की धुरा को धारण करने वाले आप ही हैं।

सहृदय पुरुषों के अज्ञान को टालने के लिए आप ने अज्ञान-तिमिर-भास्कर और जैन तत्त्वादर्श आदि ग्रंथों की रचना की हैं।

हे आनन्द विजय जी, श्री आत्माराम जी महामुने ! आपने मेरे समस्त प्रश्नों का बड़ी ही उत्तम रीति से समाधान किया हैं। आप वास्तव में शास्त्र पारंगत हैं।

२. विद्वान मुनि श्री (आत्माराम) जी जो निबन्ध तैयार कर रहे हैं, वह अवश्य प्रति

1. महावीर जैन विद्यालय बम्बई मे श्री आत्माराम जी महाराज की जयंति के अवसर पर जेठ सुदि ८ को पं० सुखलाल जी के भाषण का हिन्दी रूपांतर।

धर्म सम्मेलन की पार्लियामेंट के सदस्य

शिकागो (अमरीका) में सर्वप्रथम विश्व धर्म सम्मेलन ई० स० 1893



जिस में जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि का भी चित्र है



श्री वीरचन्द राघवजी गांधी विवेकानन्द आदि के साथ
शिकागो (अमरीका) के विश्वधर्म सम्मेलन में श्री विजयानन्द सूरि के प्रतिनिधि के रूप में



श्री विजयानन्द सूरि की स्वर्गवास भूमि गुजरांवाला में उनके चितास्थान पर निर्मित समाधि मंदिर

आदरणीय होगा और ग्रंथकार के योग्य, उच्च शोभा से संगत हो वैसा ही उसको कार्यक्रम में स्थान मिलेगा। यद्यपि आपसे हम शिकागो में बहुत दूर बैठे हैं तो भी जब-जब धर्म सम्बन्धी चर्चाएं होती हैं तब-तब हम बारंबार आत्माराम जी महाराज का नाम सुनते रहते हैं।

(विलयम पाईप प्राइवेट सेक्रेटरी-शिकागो)

६. आपके चित्र के नीचे अंग्रेजी में लिखा है—जिसका अर्थ इस प्रकार है—

"मुनि श्री आत्माराम जी जैसा जैनसंघ के हित में तल्लीन रहने वाला अन्य कोई पुरुष नहीं है। अपने साध्य केलिए दीक्षा के दिन से लेकर अन्तिम श्वासों तक रात-दिन व्यस्त रहने वाला यह एक प्रतिज्ञाबद्ध महानुभाव है। जैनसंघ का तो वह पूजनीक पुरुष है ही, परन्तु जैनधर्म और जैनसाहित्य के विषय में पौर्वात्य विद्वान आपको प्रमाणभूत मानते हैं।

(विलियम पाईप प्राईवेट सेक्रेटरी विश्वधर्म परिषद् शिकागो)

विशेष ज्ञातव्य

१. मुनि श्री आत्मारामजी महाराज सदा अपने मुनिमंडल के साथ पाद विहार करते थे। किसी भी श्रावक आदि के बिना अथवा किसी विशेष आडम्बर आदि से रहित विचरते थे। रास्ते में गोचरी आदि की दुर्लभ प्राप्ति अथवा अभाव के कारण भी भूख-प्यास आदि के परिषहों को सहन करने में दृढ़ संकल्पी थे।

२. पंजाब में सर्वत्र स्थानकमार्गी पंथ का प्रसार होने से आप को सर्वत्र आहार—पानी तथा निवास स्थान की असुविधाए होने पर भी आप अपनी सुरक्षा तथा सुख-सुविधाओं केलिए अपने साथ किसी भी प्रकार का प्रबन्ध रखना शास्त्रमर्यादाओं का उल्लंघन समझते थे। अतः किसी भी श्रीसंघ आदि की बिना सहायता तथा उन्हे बिना समाचार दिए आप विहार करते थे। जिस गाँव-नगर में आप को जाना होता था, वहाँ पहुचने पर ही लोगों को आप का पधारना ज्ञात होता था। पहले कदापि नही।

३. विहार में आप को कई-कई दिनों तक आहार पानी न मिलने से मुनि-मंडल के साथ भूखे-प्यासे रहना पड़ता था। एकदा पसरूर में श्वेतांम्बरों के घर न होने से न तो आप मुनि-मंडल को आहार-पानी ही मिला न निवासस्थान। जेठ मास की कड़कती धूपवाली दोपहरी में १८ मुनियों के साथ यहाँ से विहार कर चार-पाँच दिनों में आप गुजरांवाला में पहुंचे और चार-पाँच दिनों बाद वि० सं० १९५३ जेठ सुदि ८ को आप का स्वर्गवास हो गया।

४. विरोधियों ने इस नाजुक और शोकमय अवसर से अनुचित लाभ उठाने के लिये सरकारी सत्ताधारियों को तार कर दिये कि आप का स्वर्गवास स्वाभाविक नहीं हुआ बल्कि आप को विष देकर समाप्त किया गया है। पूछ-ताछ करने के बाद ही शव का दाह संस्कार करने की आज्ञा दी जावे। इन का यह दाव भी निकल गया। पूरे सम्मान के साथ आप श्री के मृत शरीर का चन्दन की चिता में दाह संस्कार कर दिया गया। दाह संस्कार स्थान पर कुछ ही वर्षों में समाधिमंदिर का निर्माण कर दिया गया। वह स्थान अब पाकिस्तान में है।

५. जिस समय समुद्र पार जाना जैनश्रावक के लिए निषिद्ध था। विदेश जानेवालों को संघ बाहर कर दिया जाता था, उस समय आप ने वि० सं० १९५० (ई० सं० १८९३) में जैन श्रावक वीरचन्द राघवजी गांधी बैरिस्टर Bar-at-Law को विश्वधर्म परिषद शिकागो

(अमरीका) में जैनधर्म पर भाषण देने के लिये तथा अन्य देशों में भाषणों द्वारा जैनधर्म के परिचय, प्रचार और प्रसार द्वारा प्रभावना के लिये अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजा। उस समय अपने-अपने धर्मपंथों के प्रचार के लिये भारत से स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक विद्वान भी वहाँ गये थे। वीरचन्द राघवजी गाँधी को विलायत भेजने के बाद बम्बई अहमदाबाद आदि के जैनसंघों ने उनके विरोध में भारी वावण्डर उठाया। वीरचंद भाई को संघ बाहर करने का आन्दोलन ज़ोरों से उठ खड़ा हुआ। यह आन्दोलन इन को विदेश जाने के अपराध में कड़े से कड़ा दंड दिलाना चाहता था। किन्तु आप श्री के प्रभाव से यह आंदोलन अपनी मौत अपने आप ही मर गया। वीरचन्द भाई तथा गुरुदेव इस साहस के कारण अमर हो गये।

६. उस समय पंजाब में सर्वत्र आर्यसमाज और ईसाई धर्म का प्रचार बड़े ज़ोर से चालू था जैनधर्म पर अनेक आक्षेप किये जा रहे थे। स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में जैनधर्म को नीचा दिखाने के लिये एक पूरा सम्मुलास ही लिख डाला। ईसाई पादरी जैनधर्म के विरोध में खूब प्रचार कर रहे थे। उनके आक्षेपों के उत्तर में अज्ञान-तिमिर-भास्कर तथा ईसाई मत समीक्षा नाम की क्रमशः दो पुस्तकें लिखी। स्थानकमार्गियों ने भी आप को पिछाड़ देने के लिये कोई कमी न रखी। उन्होंने सम्यक्त्वसार आदि कई पुस्तकें लिखकर नीचा दिखाना चाहा। आप ने उत्तर में सम्यक्त्व-शल्योद्धार नामक पुस्तक लिखी। सद्धर्म की सुरक्षा के लिये अनेक धर्मचर्चायें और शास्त्रार्थ किये। अपनी जान को जोखम में डालकर भी कठोर परिषहों तथा उपसर्गों को हंसते-हंसते झेला और विजय दुंदुभि बजाई। अनेक ग्रंथ रत्नों की रचना करके जैनधर्म के सत्यस्वरूप को प्रकाश में लाये। अनेक स्वदेशी-विदेशी विद्वानों को जैनदर्शन की आस्था में दृढ़ किया। शोध खोज करनेवाले अनेक विदेशियों के आप पथ प्रदर्शक बने। आप श्री किसी मतपंथ-संप्रदाय पर आक्षेप पूर्ण व्याख्यान अथवा लेखन करना पसंद नहीं करते थे। परन्तु यदि कोई जैनधर्म पर लेखन अथवा भाषण द्वारा कीचड़ उछालता तो उस का युक्ति पुरस्तर मुंहतोड़ उत्तर देने में भी पीछे नहीं रहते थे।

७. आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश में जैनधर्म के विषय में लिखी हुई असंगत बातों के विरोध में अज्ञान-तिमिर-भास्कर नामक ग्रंथ को लिखकर प्रतिवाद किया और इस पथ की निस्सारता बतलाई। मात्र इतना ही नहीं परन्तु साक्षात् रूप से दयानन्द सरस्वती के साथ शास्त्रार्थ करने का आह्वान किया। जोधपुर में शास्त्रार्थ करने का निश्चय भी हो गया था। आप श्री ने जोधपुर के लिये विहार कर दिया था। शास्त्रार्थ करने में अभी कुछ दिन बाकी थे तब दयानद सरस्वती अपने रसोइये के साथ अजमेर गये। यह सोचकर कि रेल द्वारा शास्त्रार्थ के दिन जोधपुर पहुच जायेंगे। परन्तु उनके रसोइये ने भोजन में वहां विष दे दिया और जीवन लीला समाप्त कर दी गयी। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी पंजाब से पैदल विहार कर जोधपुर पहुंच चुके थे। परन्तु दयानन्द जी वापिस न लौट सके और उन का वहीं अन्त हो गया।

८. पूज्य आत्मारामजी ने पंजाब में जैनमंदिरों का जाल बिछा दिया था। इन को पूजने वाले गृहस्थों को शुद्धसनातन प्राचीन श्वेतांबर जैनधर्म से प्रतिबोधित करके श्रद्धालु भी बना चुके थे।

पंजाब में इस धर्म का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से सदा सर्वदा निर्मल गंगा की धारा के समान बहता रहे, उस के लिये जैन सरस्वती मंदिर की स्थापना भी चाहते थे। जिस में शिक्षण पाकर सम्यग्दृष्टि सच्चरित्र सम्पन्न और जैनदर्शन के प्रकांड विद्वान तैयार हो सकें। इस कार्य के लिये गुजरांवाला को उपयुक्त स्थान समझा। इस लिये आप विहार करके गुजरांवाला पधारे भी, पर काल के आगे किसी का जोर नहीं चलता। तेल के अभाव में दीपक कब तक प्रकाशमान रह सकता है? अन्त में वह बुझ ही जायेगा। इसी प्रकार आयुष्य कर्म के अभाव से मृत्यु अवश्य-म्भावी है। अतः वि० सं० १९५३ जेठ सुदि ८ (ई० सं० १८९६) को आप का गुजरांवाला में स्वर्गवास हो गया। आप श्री की इस भावना को आप के पट्टधर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने पूर्ण किया। इन्होंने वि० सं० १९८१ (ई० सं० १९२४) को गुजरांवाला में एक आदर्श संस्था श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब की स्थापना की।

९. आप अपने समय में समस्त जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक (संवेगी) संघ के एक छत्र आचार्य होते हुए भी आप को पदवी का अभिमान छू नहीं पाया था। जाने-अनजाने थोड़ी सी भी भूल हो जाने पर आप श्री तुरत अपने बड़े गुरुभाई गणि श्री मुक्तिविजय (मूलचन्द)जी से पत्र द्वारा प्राय-श्चित ले लेते थे। आचार्य की विनय निमित्त छोटे-बड़े सब साधु-साध्वियों का विधिपूर्वक वन्दन करने का आचार हैं। पर जब आप से दीक्षा में बड़े गुरुभाई आप को वन्दना करना चाहते तो आप उन्हें यह कह कर मना कर देते थे कि मैं तो अपने से छोटों का आचार्य हूं, बड़ों का नहीं। मैं तो आप से छोटा ही हूं।

१०. जिस प्रकार आपश्री ज्ञान में प्रौढ़ थे उस से भी कहीं अधिक निरातिचार चारित्र पालने में कड़क थे। जब आप राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र में विचरते थे तो आप के मुनि परिवार की इतनी धाक थी कि वहां के शिथिलाचारी साधु आप लोगों का आना सुनते ही वहां से अन्यत्र विहार कर जाते थे।

११. पालीताना में श्री सिद्धाचल जी तीर्थ पर आप श्री (विजयानन्द सूरीश्वर) जी की प्रतिमा दादा आदीश्वर प्रभु जी की मूल देहरे के प्रांगण में एक वेदी का निर्माण करवाकर श्री आनन्दजी कल्याण जी की पेढ़ी ने विराजमान की है।

वर्तमानयुग के आपश्री ही ऐसे युगप्रधान आचार्य हुए हैं जिन की एक मात्र प्रतिमा श्री सिद्धगिरी पर विराजमान की गई है।

प्रवर्तक कांतिविजय जी की हस्तलिखित नोट बुक के आधार पर

१२. आप स्वभावतः बहुत आनन्दी थे। (अपने मुनिमंडल को) कभी तो बहुत ही निर्दोष विनोद कराते। कभी-कभी शास्त्रीय राग रागनियां गाकर सुनाते। विधिवत स्वर-लय आदि समझाते। कभी-कभी गणितानुयोग की गहन-गंभीर बातों को विवेचनपूर्वक सरल शैली से प्रतिपादन करते। समय मिलने पर आकाश के ग्रह-तारों की पहचान कराते। अनेक बार न्यायशास्त्र की सूक्ष्म बातों का विवेचन करते और नय-निक्षेपों का महत्त्व सरल भाषा में समझाते। अनेक बार अपने आप ही पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष करके चर्चा की शैली बतलाते। श्रावकों को भी उनके योग्य उपदेश देते। आने से बड़े अथवा दीक्षा में बड़े किसी भी मुनिराज का समागम होता तो तुरत निरभि-

ज्ञानी होकर उसे वन्दना करने के लिये तैयार हो जाते। न न करते हुए भी विनय धर्म के आदेश का अनुसरण करते हुए आप वन्दना व्यवहार रखते। ज्ञान और विनय के तो आप भंडार ही थे।

१३. आप शास्त्रज्ञान के अगाध पंडित थे। जब कभी आप शास्त्रार्थ करते अथवा चर्चाओं का समाधान करते तो सब तरफ़ से सूक्ष्मरीति से मनन करते थे। और बोलते समय ऐसा मालूम होता था कि टकसाल में से स्वर्ण-मुद्राएं एक के बाद एक झड़ रही हैं। मानो पूर्वाचार्यों के वचनों की अथवा आधारों की वृष्टि हो रही है।

आप के कतिपय विचारदर्शन—

१. असभ्य और हीन जातियों को जो बुरा मानते हैं, उन्हें मैं बुद्धिमान नहीं मानता। क्योंकि मेरा यह निश्चय है कि बुराई तो खोटे कर्म करने से होती है। जो ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रीय बुरा काम करे उसे अवश्य बुरा मानना चाहिये। सुकर्म करनेवालों को उत्तम मानना चाहिये। नीच गोत्रवालों के साथ खाने-पीने का व्यवहार न रखने का कारण कुल की मर्यादा है। परन्तु उन की निन्दा करना, उन से घृणा करना महान अज्ञानता है। कारण कि जैनधर्म का सिद्धान्त है कि निन्दा-घृणा किसी से नहीं करनी चाहिये।

२. सब गुणों में मुख्य गुण नम्रता-निराभिमानता है, इसे कभी न भूलें। जिस का रस-कस सूख गया है, ऐसा सूखा झाड़ सदा अक्कड़ बन कर खड़ा रहता है, परन्तु जिस वृक्ष में रस है, जो प्राणिमात्र को पके-मीठे फल देता है वह नीचे झुक कर ही अपनी उत्तमता का प्रदर्शन करता है। नम्रता से लज्जित नहीं होना चाहिये। कोई गाली दे, अपमान करे तो भी हमें फलों से झुके हुए आम्र वृक्ष के समान सर्वदा नम्रीभूत होकर लोकोपकार करना चाहिये।

३. जैनियों में सद्विद्या का उद्यम नही है। एकता (संगठन) नहीं है। साधुओं में भी प्रायः ईर्ष्या बहुत है। यह न्यूनता जैनधर्म के पालने वालों की है, जैनधर्म की नहीं है। जैनधर्म में न्यूनता किंचित मात्र भी नही है।

४. जो कोई भी जैनधर्म का पालन करते हों, उन के साथ सगे भाई से भी अधिक स्नेह रखना चाहिये। "श्राद्धदिनकृत्य" में ऐसा वर्णन है। श्री रत्नप्रभ सूरि ने जब अठारह हज़ार परिवारों को जैनधर्मी बनाया था और उन्हें ओसवाल संज्ञा दी थी तब उन में राजपुत्र, क्षत्रिय वीर, वैभव-सम्पन्न वैश्य और ज्ञानआचरण सम्पन्न ब्राह्मण सभी थे। उन सब में रोटी व्यवहार भी चालू किया और बेटी व्यवहार भी चालू किया। पोरवाड़ वंश की स्थापना श्री हरिभद्र सूरि ने की थी। (इसी प्रकार श्रीमाल, श्रीश्रीमाल जातियों की स्थापनाएं भी जैनाचार्यों ने की)। जिन सेनाचार्य और लोहाचार्य ने भी हज़ारों संख्या में जैन बनाये और उन में भी भिन्न-भिन्न वर्णों को मिलाकर उन की जातियां स्थापित की थी। पश्चात् अनेक आचार्यों ने समय-समय पर अनेक परिवारों को नये जैन बनाकर ओसवाल आदि जातियों में शामिल किया और उन के नये गोत्र स्थापित करके सब में परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार चालू किया। इस बात का इतिहास साक्षी है। अतः अपनी ही जाति को सर्वोच्च मानना और दूसरे जैन भाइयों के साथ रोटी-बेटी व्यवहार न रखना यह तो मात्र अज्ञानता और रूढ़ी ही है।

५. जब धूर्त और पाखंडी ज्ञानी जबरदस्त होते हैं तथा जब प्रतिपक्षी असमर्थ एवं कम समझदार होते हैं तब ऐसी परिस्थिति में धूर्तों और पाखंडियों की बन आती है। सत्यमार्गी— परमेश्वर का भक्त ही स्वार्थ त्याग कर परमार्थ करता है। धूर्तों और पाखंडियों के जाल में न फंसना ही बुद्धिमत्ता है। पाखंडी लोगों को उचित है कि अपना स्वार्थ छोड़ देवें और लोगों को भ्रमजाल में न फंसावें। सद्विद्या का पठन-पाठन करें और लोगों को अच्छी बुद्धि देवें। हिंसक और अनिष्टकारी साहित्य के पठन-पाठन का त्याग करें। स्वपुरुषार्थ से कमा कर खावें। छल-कपट न करें। सब प्राणियों पर कृपा दृष्टि रखें। दुःखियों की सहायता करें। काली, कंकाली, भैरव आदि हिंसक देवों की मानता छोड़ दें। सत्य, शील, संतोष से अपना और दूसरों का कल्याण करें। तभी देश और विश्व में सुख और शांति का प्रसार संभव है।

६. अपनी नामवरी केलिये ब्याह-शादियों में, मंदिर आदि बनवाने में, जिह्वा के स्वाद केलिये खाने-पीने में लाखों रुपये लगा देते है। किन्तु जीर्ण-शास्त्रभंडारों की सारसंभाल तथा उन का उद्धार करने की बात तो न जाने स्वप्न में भी नहीं करते होंगे ?

जिनमंदिर बनवाने, साधर्मीवात्सल्य करने का फल स्वर्ग और मोक्ष कहा है किन्तु श्री जिनेश्वर प्रभु का धर्म एकान्तवाद में नहीं है। उन्हों ने कहा है कि जो क्षेत्र बिगड़ता हो उसे पहले संभालना चाहिये। इस काल में जैनशास्त्र भंडारों की व्यवस्था ठीक नही है, वे जीर्ण-शीर्ण होते जा रहे हैं, बिगड़ते जा रहे हैं। (जो जिस के हाथ पड़ा उसे उठा ले जा रहे हैं), इस लिये पहले उन का उद्धार करना चाहिये। जिस जाति धर्म का साहित्य नष्ट हो जाता है उस में अज्ञानता का साम्राज्य छा जाता है और संस्कृतिका लोप हो जाने से उस जाति और धर्म का नाम शेष रह जाता है। जिनमंदिर तो फिर भी बन जायेंगे। आगम शास्त्र-ग्रंथ नष्ट हो गये तो उन्हें कौन बनावेगा ? कहाँ से आवेंगे ? जो लोग अपने उत्तम ग्रंथों की सारसंभाल नही रखते, उद्धार नहीं करते, पठन-पाठन नहीं करते, प्रचार-प्रसार नहीं करते। (उन का प्रकाशन नहीं करते), वे जिन शासन के वफ़ादार तथा संरक्षक कदापि नहीं हो सकते। अतः इस ओर अधिक से अधिक लक्ष्य देना चाहिये।

आचार्य श्री ने जैनों के चारों सम्प्रदायों में ई० सं० १८९० तदनुसार वि० सं० १९४७ में जैनसमाज को जैनकालेज आदि संस्थाएं खोलने का उपदेश दिया था। इस विषय का बम्बई के सेठों के नाम स्वलिखित पत्र विजयानन्द शताब्दी ग्रंथ में प्रकाशित हैं।

शिष्य—

१. श्री लक्ष्मीविजय जी, २. श्री सुमतिविजय जी, ३. श्री रंगविजय जी, ४. श्री चरित्रविजय जी, ५. श्री कुशलविजयजी, ६ श्री उद्योतविजयजी, ७. श्री प्रमोदविजयजी, ८. श्री रतनविजयजी, ९. श्री संतोषविजयजी, १० (उपाध्याय) श्री वीरविजय जी, ११. श्री विनय-विजयजी, (प्रवर्तक) १२. श्री कान्ति विजयजी, १३. श्री शांतिविजयजी, १४. श्री अमरविजयजी, १५. श्री रामविजयजी आदि।

हस्तदीक्षित अन्य साधु—

१. श्री कमलविजय (आचार्य विजयकमल सूरिजी) २. श्री हर्षविजय जी, ३. श्री कल्याणविजय जी, ४. श्री मोतीविजय जी, ५. श्री हंसविजयजी, ६. श्री मोहनविजयजी, ७. श्रीमानकविजयजी,

८. श्री जयविजयजी, ९. श्री सुन्दरविजयजी १०. श्री अमृतविजयजी, ११. श्री हेमविजयजी, १२. श्री राजविजयजी १३. श्रीकुंवरविजयजी, १४. श्री संपतविजयजी, १५. श्री माणकविजयजी, १६. श्री वल्लभविजय (आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि)जी, १७. श्री भक्तिविजयजी, १८. श्री ज्ञानविजयजी, १९. श्री शुभविजयजी, २०. श्रीलब्धिविजय (आचार्य विजयलब्धि सूरि) जी, २१. श्री मानविजयजी, २२. श्री जसविजयजी, २३. श्री मोतीविजयजी, २४. श्री चन्द्रविजयजी, २५. श्री विवेकविजयजी, २६. श्री कपूरविजयजी, २७. श्री लाभविजयजी इत्यादि।

जिनमंदिरों की प्रतिष्ठा एवं अंजन शलाका करायी

नगर	संवत्	मिति	प्रतिष्ठा	अंजनशलाका
१. अमृतसर	१९४८	वैसाख सुदि ६	"	"
२. जीरा	१९४८	मगसिर सुदि ११	"	"
३. होशियारपुर	१९४८	माघसुदि ५	"	×
४. पट्टी	१९५१	माघ सुदि १३	"	"
५. अंबाला शहर	१९५२	मगसिर सुदि १५	"	×
६ सनखतरा	१९५३	वैसाख सुदि १५	"	"

प्रतिबोधित ग्राम-नगर

१. जीरा, २. मालेरकोटला, ३. होशियारपुर, ४. बिनौली, ५. लुधियाना, ६. अंबाला शहर, ७. अंबाला छावनी, ८. अमृतसर, ९ जंडियाला गुरु, १०. लाहौर, ११. नारोवाल, १२. सनखतरा, १३. पट्टी, १४. पटियाला, १५. नकोदर, १६. शांकर, १७. जालंधर, १८ मयानी, १९. गढ़दीवाला, २०. नाभा, २१. सामाना, २२. सुनाम, २३. जेजों, २४. रोपड़, २५. फगवाड़ा, २६. वैरोवाल इत्यादि।

संवेगी साधुओं में पीली चादर का प्रचलन—

यतियों, ढूंढ़कमतियों का वेश लगभग श्वेतांबर साधुओं के समान होने से और आगम प्रणीत श्वेतांबर साधुओं के आचार से शिथिल एवं भिन्न होने से शुद्ध समाचारी पालन करनेवाले संवेगी साधुओं की पहचान के लिये गणि सत्यविजय जी ने वि० सं० १७०९ में पीली चादर का प्रचलन किया।



अध्याय ७

प्रसिद्ध साधु-साध्वियाँ और गृहस्थ

आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि

आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि बीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध धर्मगुरु, शांतनेता, तत्ववेत्ता व युगप्रधान व्यक्तित्व को धारण करनेवाले जैन संत थे। आदर्श गुरु, महान सुधारक, शिक्षाप्रेमी, राष्ट्रीयनेता तथा प्रकांड विद्वान के रूप में आप युग-युग तक जाने जायेंगे। आप तपागच्छीय आचार्य श्री विजयानन्दसूरि (आत्मराम) जी के पट्टधर थे तथा उनके प्रपौत्र शिष्य थे। यानी आत्माराम जी के शिष्य लक्ष्मीविजय जी के शिष्य हर्षविजय जी के आप शिष्य थे।

आप ने अपने जीवनकाल में तथा विशेष रूप से साधु संस्था में जो कार्य किये है, उन से महान ऐतिहासिक घटनाएं बनी हैं। आप ने सारे भारत में विशेषकर पंजाब में जैनधर्म को बहुत ही लोकप्रिय बनाया है। पंजाब का लोक मानस बहुत चुस्त और दृढ़ है। न माने तो न माने, मानने लगे तब छोड़े नही इस प्रकार की मन:स्थिति वाले लोगों को आप ने धर्मानुकूल बनाया और धर्म के मूल को गहरा विकसित किया। एक प्रखर धुरंधर समाज सुधारक के रूप में आप ने अनुपम कार्य कर दिखलाये हैं।

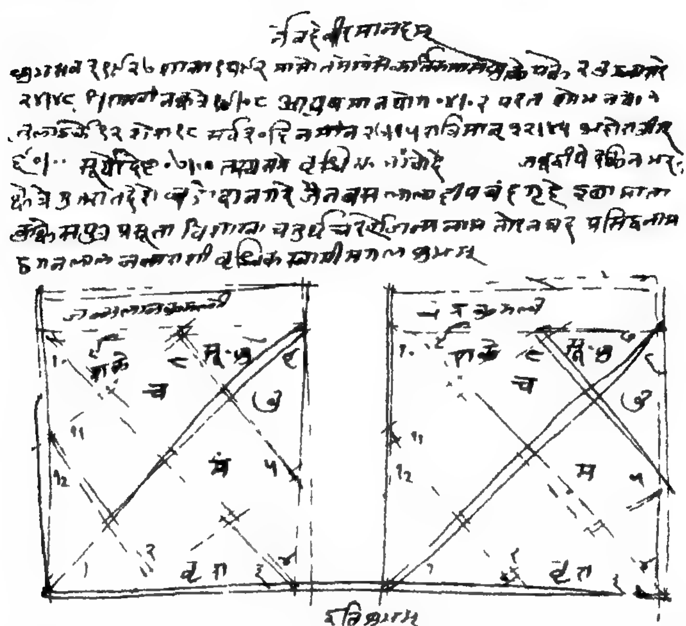
जन्म और दीक्षा—

आप का जन्म वि० सं० १९२७ कार्तिक सुदि २ को बड़ोदा (गुजरात) में हुआ। पिता का नाम दीपचन्द और माता का नाम इच्छाबाई था। माता-पिता ने आप का नाम छगनलाल रखा।

१७ वर्ष की आयु में वि० सं० १९४४ में राधनपुर (गुजरात) में आप ने आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी से तपागच्छ श्वेतांबर जैन परम्परा में दीक्षा ग्रहण की। आप को मुनि हर्षविजय जी का शिष्य बनाया और नाम वल्लभविजय रखा। वि० सं० १९८१ में आपको सारे पंजाब संघ ने लाहौर में आचार्य पदवी से विभूषित किया तब आप का नाम आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी रखा गया और आप को आचार्य विजयानन्द सूरि का पट्टधर घोषित किया गया।

आप की जन्मकुंडली नहीं थी। नष्ट जन्मकुंडली को आप के परमभक्त गुजरांवाला (पंजाब) निवासी लाला दीनानाथ जी चौधरी सुपुत्र बाबू मथुरादास जी दूगड़ ने आप के शिष्य पंन्यास विद्याविजय (आचार्य विजयविद्या सूरि) जी की प्रेरणा से ईस्वी सन् १९३० (वि० सं० १९८७) में निर्माण किया। उस जन्मकुंडली को पंन्यास विद्याविजय जी ने उड़मड़ (होशियारपुर) में आकर वहां के ज्योतिषि के पास सुरक्षित भृगुसंहिता नामक महाग्रंथ हस्तलिखित से मिलान किया। हर्ष है यह जन्मकुंडली भृगुसंहिता में विद्यमान आप की जन्मकुंडली से बराबर मेल खा

गई। उस जन्मकुंडली का ब्लाक चित्र दे रहे हैं जो लाला दीनानाथ जी ने अपने हाथ से लिखकर आचार्य श्री को भेजी थी।



पंन्यास श्री विद्याविजय जी ने इस जन्मकुंडली को अपने पत्र के साथ आचार्य श्री के पास भेजा और लिखा कि—

"पुज्य श्री की सेवा में चौधरी दीनानाथ के द्वारा निर्मित आपकी नष्ट जन्मकुंडली भेजता हूं। आप इसे देखने की कृपा करें। परम हर्ष का विषय है कि यह जन्मकुंडली भृगुसंहिता से बराबर मिल गई है जिस के फलादेश की नकल आप श्री की सेवा में भेज रहा हैं। इस से भी अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि भृगुसंहिता के इस फलादेश में यह भी वर्णन है कि आप श्री एक जन्म और बीच में लेकर अगले जन्म में मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करलेंगे[1]।"

आचार्य श्री विजयसुमद्र सूरि ने आपके आदर्श जीवन नाम की पुस्तक का संपादन तथा प्रकाशन करते समय अपनी प्रस्तावना में जो आप की जन्म, दीक्षा, स्वर्गवास आदि की कुंडलियाँ दी हैं, वे सब इसी नष्ट जन्मकुंडली से दो ज्योतिषियों ने तैयार करके दी हैं जिन के नाम श्री विजय समुद्रसूरि जी ने अपनी प्रस्तावना की टिप्पणी में दिये हैं। इस आदर्श जीवन का प्रकाशन वि० सं० २०११ (चौधरी साहब की नष्ट जन्मकुडली पर से ३२ वर्ष बाद तैयार की गई थी) में हुआ है और श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब ने अंबाला नगर से प्रकाशित किया है[2]।

1. यह पत्र श्री वल्लभस्मारक जैनशास्त्र भंडार दिल्ली में सुरक्षित है। हम ने इस पत्र का संक्षिप्त सारांश दिया हैं।
2. यद्यपि आचार्य विजयसमुद्र सूरि जी ने जो कुंडलियां आदर्शजीवन में दी हैं उन को लिखने लिखानेवालो का धन्यवाद तो किया है परन्तु इस नष्ट जन्मकुंडली के आदि निर्माता का नाम भी अवश्य देना चाहिये था।

चौधरी दीनानाथ जी इस ग्रंथ लेखक के पूज्य पिता श्री हैं। जिनका स्वर्गवास आगरा में वि० सं० २०१० में हुआ था।

मानवश्रेष्ठ-लोकमान्य

आप संप्रदायिकता के संकीर्ण वातावरण से बहुत ऊंचे उठ चुके थे। देशकाल के पूर्ण-ज्ञाता और महान सुधारक थे। वास्तव में जैनधर्म के रूप में आप ने भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को सदा के लिये अमर बनाये रखने का प्रगाढ़ प्रयत्न किया। जैनधर्म भारत का परमधर्म है। सब मानव समान हैं, कर्मों का खेल ही मानव को उन्नत अथवा अवनत बनाता है, जैनधर्म जन्म से नहीं अपितु (कर्तव्य) से वर्ण जाति आदि की व्यवस्था मानता है। १. जो व्यक्ति स्वयं सच्चरित्र रहकर परिवार, समाज तथा राष्ट्र के चारित्र निर्माण में अपना जीवन लगाता है वही ब्राह्मण है। २. जो व्यक्ति परिवार, समाज तथा राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा करता है तथा स्वतः अपने कर्म शत्रुओं का क्षय कर निर्वाण प्राप्ति के लिये जागरूक रहता है वही क्षत्री है। ३. जो व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र को धन-धान्य आदि से समृद्ध बनाता है और उसका उपयोग उन के लिये करता है वही वैश्य है। ४. जो व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र की सभी तरह से सेवा सुश्रूषा करता है वह शूद्र है और गांधी जी की भाषा में हरिजन है। इसीलिये तो भंगी(कूड़ा-कचरा-गंदगी आदि की सफ़ाई करने वाले) के लिये "मेहतर" शब्द का प्रयोग होता आरहा है। महान, महत्तर, महत्तम अर्थात् उच्च आदर्श को कायम रखने वाला महान है। यह शब्द सच्चरित्र-विद्वान ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुआ मिलता है और जो महान से भी महान है वह महत्तर कहलाता है। यह शब्द भंगी के लिने भारतीय संस्कृति में प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। पीछे से यह शब्द "मेहत्तर" के रूप में परिवर्तित हो गया। इस का आशय यह है कि भंगी ब्राह्मण से भी महान इस लिये है कि वह गंदगी को साफ़ करके विश्व के प्राणिमात्र को स्वस्थ रखने के लिये ऐसी उच्चतम सेवा का कार्य करता है जो दूसरे करने में अपना नाक, मुंह सिकोड़ते हैं। तीसरा शब्द महत्तम है इस का अर्थ है सब से महान, सर्वश्रेष्ठ इसी का पर्यायवाची महात्मा शब्द आध्यात्मिक, निष्परिग्रही, संत महापुरुष (साधु-मुनिराज) जो सदा स्व-पर कल्याण करने वाले हैं। अतः जिस संस्कृति में गंदगी साफ़ करनेवाले के लिये भी इतना सम्मान-आदरयुक्त शब्दों का प्रयोग पाया जाता है वहां किसी के प्रति घृणा, उपेक्षा अथवा हीनता के भावों का प्रश्न ही कहां है? जैनदर्शन में चारों वर्ण जन्मगत नहीं माने हैं। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र की नीचे लिखी गाथा से प्रभु महावीर ने स्पष्ट कहा है कि—

"कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणो होई, सुद्दो हवइ कम्मुणो॥

अर्थात्—ब्राह्मण कर्म से होता है, क्षत्रिय कर्म से होता है, वैश्यकर्म से होता है और शूद्र भी कर्म (कर्तव्य) से होता है।

आप श्री अपने प्रवचनों में सदा फ़रमाते थे कि "न मैं जैन हूं, न बौद्ध, न वैष्णव, न शैव, न हिन्दू न मुसलमान हूं। मैं तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलनेवाला एक मानव हूं, सत्पथ का यात्री हूं, आज सभी शांति की इच्छा करते हैं, परन्तु शांति की खोज सबसे पहले अपने मन में ही होनी चाहिये।"

आप श्री जैनसमाज के सब फ़िरकों में संगठन के लिये सदा प्रयत्नशील रहे हैं। इसके लिये आप सदा ही ऐसे भाव व्यक्त किया करते थे—

"होवे कि न होवे परन्तु मेरी आत्मा यही चाहती है कि सांप्रदायिकता दूर हो कर जैन-समाज एक मात्र श्री महावीर स्वामी के झंडे के नीचे एकत्रित होकर श्री महावीर की जय बोले तथा जैनशासन की वृद्धि लिये जैन विश्वविद्यालय संस्था स्थापित होवे। जिस से प्रत्येक जैन शिक्षित हो और धर्म को बाधा न पहुंचे। इस प्रकार राज्याधिकार में जैनों की वृद्धि हो। सभी जैन शिक्षित हों और भूख से पीड़ित न रहें। शासनदेव मेरी यह भावना सफल करे।"

स्पष्ट है कि आप मानवकल्याण के लिये सदा जागरुक रहते थे। यही कारण था कि आप जन-जन के हृदय सम्राट तथा लोकमान्य कहलाये।

महान शिक्षा प्रचारक

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के सरस्वती मंदिर की स्थापना के अन्तिम आदेश को पूरा करने के लिये आपने शिक्षा के मिशन (उद्देश्य) और योजना को सफल बनाने के लिये जो-जो प्रयास किये वे जगत प्रख्यात हैं और यह बात अधिकारपूर्ण शब्दों से कही जा सकती है कि समस्त जैन समाज में शिक्षा के क्षेत्र में जो रुचि तथा सक्रिय प्रवृत्ति आपने दिखाई वह अनन्य और अद्वितीय थी। अन्य किसी भी साधु अथवा गृहस्थ ने ऐसा अदम्य साहस नहीं दिखलाया है। आप श्री ने तीन जैन कालेज, ७ जैन विद्यालय, ७ जैन पाठशालाएं, ६ जैन पुस्तकालय, ६ वाचनालय तथा दो जैन गुरुकुल एवं अनेक अन्य संस्थाएं पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में स्थापित की। जिनमें विशेषकर १-श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई तथा २-श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला, ३-श्री आत्मानन्द जैन डिग्री कालेज अम्बाला विशेष महत्वपूर्ण संस्थाएं रही हैं। आप स्त्री शिक्षा के भी महान समर्थक रहे हैं। स्त्री तथा पुरुष मानव समाज रूपी रथ के दो पहिये है इसलिये दोनो के समान रूप से उन्नत होने से ही समाज आदर्श बन सकता है ऐसी आपकी दृढ मान्यता थी। अतः आपने अनेक शिक्षण संस्थाओं को स्थापित किया।

शिक्षण सस्थाएं स्थापित करने का उद्देश्य

सरकार की ओर से सर्वत्र शिक्षण संस्थाएं कायम हैं फिर जैन शिक्षण संस्थाए कायम करने का क्या उद्देश्य है, इसे समझने की भी आवश्यकता है। आपका विचार था कि मात्र धार्मिक पाठशालाएं चालू करने से उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थी वर्तमान युगीन विज्ञान, डाक्टरी, इन्जीनियरिंग इतिहास, भूगोल-भूस्तर व्यवसायिक, व्यापारिक अनेक भाषाओं, कानून आदि विविध प्रकार की महान् उपयोगी अर्थात् जीवन, समाज एवं राष्ट्रोपयोगी शिक्षण प्राप्त करने से रह जावेंगे जिससे व्यापारिक तथा राजनैतिक क्षेत्र मे पिछड़ जायेंगे। मात्र सरकारी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षण पाने वाले विद्यार्थी धार्मिक ज्ञान और धार्मिक संस्कारों से वंचित रह जायेंगे। ऐसा होने से अपने आचार को पवित्र न रख पायेंगे और आत्मस्वरूप तथा आत्मविकास की ओर से विमुख हो जावेंगे। अतः जैन संस्थाओं में शिक्षण पाने वाले विद्यार्थी दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर व्यवहारिक तथा आध्यात्मिक दोनों शिक्षाओं से लाभान्वित होकर अपनी सस्कृति में कायम रहते

हुए व्यवसायिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में भी सफलता पाकर सर्वांगिक उन्नत हो सकेंगे। दोनों प्रकार की शिक्षाएं मानव जीवन के लिये एक दूसरे की पूरक हैं। इसीलिये आप "अज्ञान तिमिर तरणि" कहलाये और समाज ने आपको इस पदवी से अलंकृत कर अपने कर्तव्य का पालन किया।

देश सेवक

आप आध्यात्मिक नेता थे, महान आचार्य थे किन्तु राष्ट्र के प्रति भी अपने कर्तव्य केलिये सदा जागरूक रहे। अहिंसा और शुद्ध खादी वस्त्रों की प्रतिष्ठा पर कायम भारत की राजनीति के कर्णधार राष्ट्रपिता गांधी के अहिंसा और शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों के प्रचार कार्य को महान प्रोत्साहन देते रहे। आपने अपने प्रभावक उपदेशों से जनसमुदाय और विशेषतः जैनसमाज से धर्म और अहिंसा के विरुद्ध वस्त्रों का परित्याग कराकर भारतवासियों पर महान् उपकार किया। देश के स्वतंत्रता के इतिहास में आप श्री का सहयोग और कीर्ति सदा अमर रहेगी।

समाज सुधारक

आपने कांग्रेस का जन्म, बंगाल विभाजन, चंपारण सत्याग्रह तथा जलियांवाला हत्याकांड सब देखे-सुने थे। इसलिये आप राष्ट्रीय आंदोलनों से अछूते न रहे। इन आन्दोलनों का प्रयोग आप समाज के मंच पर भी करते रहते थे। ई० सं० १६२१ तक आपने पूरे समाज को राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत कर दिया। आपके एक आह्वान पर सभी ने विदेशी वस्तुओं का परित्याग कर दिया और राष्ट्र सेवा में सब लोग तन-मन-धन से जुट गये। एक लम्बे समय तक पंजाब में शुद्ध खादी के दहेज दिये व लिये गये। कइयों ने सरकारी नौकरियां छोड़ दीं और अनेक देश की आजादी के आन्दोलन में जुट गये। आप समाज में व्यर्थ रूढ़ियों तथा बुरे रिवाजों के विरुद्ध थे एवं समाज को आदर्श प्रगतिवादी बनाना चाहते थे। कन्या विक्रय, वर विक्रय, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, विवाह शादियों में आडम्बर तथा फ़िज़ूल खर्चियों को बन्द कराने के लिये तथा समाज में विद्यमान कुरीतियों को मिटाने केलिये आपने समस्त पंजाब के जैन समाज को संगठित करके श्री आत्मानन्द जैन महासभा की स्थापना की और उसके द्वारा समाज में विद्यमान कुरीतियों को देश निकाला देने के लिये सर्व-सम्मति से प्रस्ताव पारित कराकर समाज सुधार की नींव डाली। आप सदा समाज को आदर्श तथा प्रगतिशील बनाने के लिये प्रयत्नशील रहे।

आपका विश्वास था कि चारित्र निर्माण के बिना राष्ट्र का वास्तविक तथा स्थाई उत्थान संभव नहीं। इसके बिना यदि स्वतंत्रता प्राप्त हो भी गई तो टिक न पायेगी। प्रजा पीड़ित तथा पददलित हो जावेगी। इसलिये राष्ट्र नेताओ को तो अवश्य ही अपने चरित्र निर्माण तथा निःस्वार्थ सेवा का लक्ष्य रखना चाहिये। आपके पास आने वाले कई नेताओं को आपने कुव्यसनों का त्याग कराया था।

राष्ट्र पुरुष आचार्य श्री

"**वल्लभ भाई पटेल तथा विजयवल्लभ सूरि**—एक वल्लभ ने राजक्षेत्र में जन्म लिया और दूसरे वल्लभ ने धर्मक्षेत्र में जन्म लिया। देश को स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसे स्थाई टिकाये रखने केलिये इन दोनों महापुरुषों ने एक दूसरे के काम की पूर्ति की।"

रहस्यमय सुन्दर ये प्रेरक शब्द वि० सं० २००६ को भाई दूज के दिन अखिल भारतवर्षीय जैन श्वेतांबर कान्फरेंस के स्वर्ण महोत्सव अधिवेशन के पंडाल भायखला बम्बई में आचार्य

श्री विजयवल्लभ सूरि जी की उपस्थिति में हजारों मानवों की मेदनी के समक्ष प्रधानपद से बंबई के भूतपूर्व नगरपति श्रीमान् गणपति शंकर देसाई ने गौरवपूर्ण उच्चारण किये थे।

"सरदार वल्लभभाई ने पटेल (किसान) जाति में जन्म लेकर राष्ट्रक्षेत्र में प्रवेश करके अग्रगण्य भाग लिया और ब्रिटिश सरकार की गुलामी से देश को स्वतंत्रता दिलाई। मात्र इतना ही नहीं परन्तु रजवाड़ों द्वारा विभाजित देश को राजाओं के चंगुल से मुक्त कराकर सारे भारतवर्ष को अखंड बना दिया। जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने वैश्य जाति में जन्म लिया और जैन मुनि की दीक्षा लेकर धर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। देश में फैली हुई अनैतिकता, कुरूढ़ियाँ, अज्ञानांधकार, नास्तिकता तथा मांस मदिरा आदि अभक्ष्य तथा कुव्यसनों की घृणित दासता से मुक्त कराने के लिये आध्यात्मिक क्रांति को जागृत कर भारत माँ के लाडलों के नैतिक पतन के विरुद्ध जिहाद किया। राष्ट्रभावना और नैतिक उत्थान के उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही आपने आदर्श राष्ट्रसंस्था श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब की गुजरावाला मे स्थापना की थी।

देश की स्वतंत्रता को कायम रखने के लिये दो शक्तियों की आवश्यकता रहती है। शारीरिक तथा नैतिक बल। बाहर के शत्रुओं तथा देश में अन्दर रहे हुए देश द्रोहियों और गुण्डों से रक्षा के लिये सुदृढ़ राजनीति और सुदृढ़ सेना बल की आवश्यकता रहती है। एवं देश में प्रजा में पारस्परिक मैत्री, शांति, करुणा, प्रमोद तथा मध्यस्थता आदि प्राप्ति के लिये, अज्ञानांधकार, कुरूढ़ियों, नास्तिकता, द्वेष, वैर-विरोध, अनैतिकता आदि समाज व राष्ट्र को अन्दरूनी बुराइयों से निजात दिलाने केलिये आध्यात्मिक बल तथा उपदेश की आवश्यकता रहती है। एक शक्ति के बिना दूसरी शक्ति अपंग है अर्थात् ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों शक्तियों को आचरण में लाने वाले राज्यकर्ता, राज्यनेता, राज्यकर्मचारी, प्रजा ही देश को समृद्ध बना सकने हैं और उस सशक्त, सुदृढ़ तथा स्थाई स्वतंत्र बनाने में सहयोगी बन सकते है। स्वार्थी, अनैतिक, कुचरित्रवान, दुष्ट, अत्याचारी, घूसखोर राज्याधिकारी देश को कलंकित करने का कारण बनते है जिससे राष्ट्र-शक्ति का ह्रास होकर स्वतंत्रता खतरे मे पड़ जाती है। जिस देश में दोनों शक्तियों में से किसी एक का अथवा दोनों का जब-जब ह्रास हुआ तब-तब उस देश का पतन हुआ।

कर्मभूमि के आदिकाल में तीर्थंकर (अर्हत्) श्री ऋषभदेव ने प्रजा को आध्यात्मिकता का अमृतपान कराया और देश की सुदृढ रक्षा के लिये उन्ही के सुपुत्र चक्रवर्ती भरत अपनी कुशल राजनीति तथा सुदृढ़ चतुरंगिनी सेना द्वारा देश को स्वतत्र रखने में सफल रहे।

उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस युग में धर्मनेता, सहृदय आचार्य श्री विजयवल्लभसूरि ने आध्यात्मिक और नैतिक सहयोग से तथा लोहपुरुष राष्ट्र नेता वल्लभभाई पटेल ने स्वतंत्रता प्राप्त कर सहयोग दिया और स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् उसे सुदृढ़ और चिरस्थाई बनाये रखने के लिये देश की सेना को सुदृढ़ किया। इस प्रकार इन दोनों महान् नेताओं ने एक दूसरे के कार्य की पूर्ति करके देश के सच्चे सपूतों के रूप में प्रख्याति पायी।"

आन्दोलन खिलाफ़त

गांधीजी द्वारा चलाये गये इस आन्दोलन का आपने भरपूर समर्थन किया। आन्दोलन के पक्ष में पब्लिक ओपीनियन पैदा की। कांग्रेस कमेटी तथा खिलाफ़त कमेटी को आपने अनेक बार ग़रीब, ग़ुरबों को कपड़ा और खाना बांटने के लिये जैनसमाज की तरफ़ से आपके सिरवारने का रुपया दान में दिलाया।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय की स्थापना तथा उत्कर्ष केलिये आप पं० मदनमोहन मालवीय के साथ निकट सम्पर्क रखकर धन इकट्ठा करवाकर भेजते रहे। जैनसमाज की धन राशि से इसमें जैनचेयर स्थापित करवाकर पंडित सुखलालजी की नियुक्ति करवाई। जिसमें पढ़कर अनेक जैन स्कॉलर तैयार हुए। महामना मालवीय जब गुजरांवाला पंजाब में हिन्दू महासभा के अधिवेशन पर पधारे तब प्रधान पद से भाषण देते हुए आपने आचार्य श्री के लिये कहा था—"आज हमारा हृदय प्रसन्नता से गद्‌गद् हो जाता है और गौरव से फूला नहीं समाता। जब कि आज के दूषित वातावरण में भी भारत में आप जैसे महात्यागी, तपस्वी, सच्चरित्रवान, एवं ज्ञानी जैनमुनि समूह विद्यमान है। सतत् पाद विहार करते हुए गाँव-गाँव नगर-नगर में निस्वार्थ भाव से देश के चारित्र निर्माण में आप जैसे महान् सहयोग प्रशंसनीय है। आप जैसे निष्परिग्रही, सच्चे त्यागियों और वैरागियों को पाकर मात्र जैनसमाज ही नहीं परन्तु सारा भारत उपकृत है। चिराग तले ढूंढने से भी जैनसाधुओं के सिवाय अन्यत्र ऐसे परमत्यागी, निःस्वार्थ संत दिखलाई नहीं देते। हम चाहते हैं कि भारत का साधु समाज फिर वह किसी भी मत-संप्रदाय का क्यों न हो आप जैसे संत पुरुषों के आदर्श को अपनाकर राष्ट्र के नैतिक बल को सुदृढ़ बनावें।

स्वदेशी तथा खादी

आप जीवन पर्यन्त शुद्ध खादी का उपयोग करते रहे, अपने शिष्य समुदाय को भी खादी के प्रयोग के लिये तैयार किया तथा जनता को भी इसके प्रयोग केलिये उपदेश देते रहे। आपको जब वि० सं० १९८१ में लाहोर में आचार्य पदवी हुई थी उस महान् अवसर पर भी पंडित श्री हीरालाल जी शर्मा ने अपने हाथों से सूत काता और कातते समय नवस्मरण का पाठ बराबर करते रहे। ऐसे सूत की बुनी चादर इस अवसर पर आचार्य श्री ने स्वीकार कर प्रसंग को भव्य बनाया।

हिन्दू मुस्लिम एकता

आपके व्याख्यान में हिन्दू, सिख, ईसाई, जैन और मुसलमान सब कौमों के लोग आते थे। हिन्दू, मुसलमानों की धार्मिक भावना भिन्न होते हुए भी प्रेम तथा पारस्परिक समन्वय से रहने का आप सदा उपदेश देते थे। हिन्दुओं और जैनों के समान ही मुसलमान भी पूज्य भाव से आपको रहबर मानते थे। पालनपुर और मालेरकोटला के मुसलमान नवाब आपके विशेष श्रद्धालुओं में से थे।

बंगाल राहत फंड

ई० सं० १९४२ में बंगाल में दुष्काल के समय आपने अनथक उपदेश देकर जैन समाज द्वारा बंगाल राहत फ़ंड चालू करवाकर वहाँ धन राशी भिजवाई।

हिन्दी भाषा प्रचार

गुजराती होते हुए भी आपने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया आप प्रवचन हिन्दी में ही करते थे और जितनी भी रचनाएं की हैं वे सब हिन्दी भाषा में ही की हैं। आपने अपने

जीवनकाल में हजारों कविताएं, छंद, स्तवन, भजन, पूजाएं आदि की रचनाएं भी हिन्दी भाषा में की, जिनका अपना साहित्यिक स्थान तथा मूल्य है।

शराबबन्दी आन्दोलन

आपश्री ने शराब आदि मादक पदार्थों के सेवन के विरुद्ध भारत के कोने-कोने में प्रचार किया। पंडित मोतीलाल नेहरू ने आपसे भेंट की और आप के उपदेश से प्रभावित होकर सिग्रेट पीना त्याग दिया। अनेकों भारतवासियों ने आपके उपदेश से अंडा, मांस, मदिरा आदि का त्याग कर पवित्र जीवन निर्वाह करने की प्रतिज्ञाएं कीं। गुजरात आदि प्रदेशों से पैदल विहार करते हुए अपने मुनिमंडल सहित ई० सं० १६४० में आप पुनः गुजरांवाला पधारे। नगरवासी सब कौमें सामूहिक रूप से बड़ी धूमधाम से आपके नगर प्रवेश की तैयारियों में संलग्न थे। यहां के जैन श्रीसंघ ने इस महोत्सव में शामिल होने के लिए सब जगह निमंत्रण पत्रिकाएं भेजी थीं। उस समय अंबाला शहर में कांग्रेस द्वारा शराबबन्दी का आन्दोलन चालू था। तब वहां के नगर कांग्रेस कमेटी के प्रधान मियां अब्दुलगुफारखां ने गुजरांवाला में प्रवेश होने से पहले आचार्य श्री के नाम एक पोस्टकार्ड लिखा कि—

"आप अंबाले के लोगों को आपके प्रवेशोत्सव पर आने के लिए मना करें।" इसका आचार्य श्री ने तार व पोस्टकार्ड से इस प्रकार उत्तर दिया—"तार में लिखा था कि—

१. वोटरों को रोको, गुजरांवाला में मत आवें।" पोस्टकार्ड में लिखा था कि—

२. "आपका पोस्टकार्ड मिला। आप जिस कार्य के लिए परिश्रम कर रहे हैं, वह बड़ा प्रशंसनीय है। इसके लिए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। में भी आपके इस शुभ कार्य में सहयोगी हूं। मैं ने अंबाला के जैनी भाइयों को लिख दिया है कि आप लोग गुजरांवाला में मत आयें। शराब की दुर्गन्ध नगर से निकालने के लिये आप लोगों से जितना भी बन सके सहयोग देकर काम को सफल बनावें। आप उन्हें कह सकते हैं कि गुजरांवाला मत जावें और इस कार्य में पूरा सहयोग दें। मेरे गुजरांवाला नगर प्रवेश के समय आप लोगों का शामिल होना इतना जरुरी नही हैं जितना कि शराब की लानत को शहर से हटाने में है। अतः आप लोगों केलिए शराबबन्दी कराने की सफलता में सहयोग देना मुख्य कर्त्तव्य है।"

इसी आशय का एक तार व पोस्टकार्ड अंबाला के जैन श्रीसंघ के नाम संतराम मंगतराम की मारफ़त दिया था।

राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी पर

ऐसे अवसर पर आप बाजे-गाजे के साथ आडम्बर से नगर प्रवेश नहीं करते थे इस प्रकार सरकार द्वारा नेताओं की गिरफ्तारी पर शांत और मौन प्रतिकार करते थे।

हरिजनों के लिए

मेघवालों के लिए विश्राम गृहों की स्थापनाएं कराईं। हरिजनों के मंदिर प्रवेश आन्दो-के समाधान कराये। आपकी निश्रा में हरिजनों ने अट्ठाई आदि की तपस्याएं कीं। जैनों को उप-देश देकर उनकी सुख—सुविधाओ के लिए कुंओ का निर्माण करवाया।

राष्ट्र के नाम सन्देश

आपने आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व मालेरकोटला (पंजाब) से राष्ट्र के नाम संदेश देते हुए कहा था—

"भारतवासी तभी समृद्ध और सुखी रह सकते है जबकि जैन, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई, पारसी आदि सब एक हों। इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है कि सबका धर्म एक बना दिया जावे, किन्तु इस बात की है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदर-भाव और सहिष्णुता रखें। हम सब धर्मों को एक सतह पर नहीं लाना चाहते बल्कि चाहते हैं कि विविधता में एकता हो। हम सब धर्मों के प्रति समभाव और समन्वय को अपनावें। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही विश्वशांति संभव है। हमें हरेक तरह का त्याग और बलिदान देकर भी देश में एकता को कायम रखना चाहिए। तब विश्व में भारत का महत्त्व-पूर्ण स्थान रहेगा।

जन्म के समय न कोई हिन्दू चोटी के साथ पैदा होता है और न मुसलमान सुन्नत के साथ। न सिक्ख पांच कक्कों (कंघा, केश, कच्छा, कड़ा, किरपान के साथ पैदा होता है। जन्म के समय न गुजराती भाषा का, न हिन्दी का, न उर्दू का और न पंजाबी का, न अंग्रेजी का, न तमिल भाषा का बालक को बोध होता है। जन्म के बाद बालक पर उसी समाज, प्रांत, देश, धर्म का रंग चढ़ जाता है जिसमें वह पैदा होता है। जिस परिवार में जिस भाषा का प्रचलन होता है वही सीख जाता है। जन्म के समय बालक पर जाति, संप्रदाय, वर्ण, भाषा आदि की कोई भी मोहर छाप लगी नहीं होती और न ही किसी प्रांत, देश, राष्ट्र के कोई विशेष लक्षण चिन्हित होते हैं। अतः स्पष्ट है कि बालक जन्म के समय प्रकृति के समान है।

हरेक प्राणी में समान आत्मा है, किसी भी देश, जाति, वर्ण आदि में पैदा होने वाले नर-नारी मोक्ष के अधिकारी हैं। अतः हम सब को मिल-जुलकर स्नेह और शांतिपूर्वक रहना चाहिये।

जब हम पड़ोसी के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी होना सीखेंगे तभी हम खुदा के सच्चे बन्दे और ईश्वर के सच्चे भक्त हो सकेंगे। इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम सब भाई-भाई हैं।

जीवन की बाजी लगा दी

देश के बटवारे के समय आप श्री अपने शिष्य परिवार तथा साध्वी संघ के साथ गुजरांवाला (पंजाब) में चतुर्मास विराजमान थे। जब पाकिस्तान की घोषणा कर दी गई तब गुजरांवाला भी पाकिस्तान में शामिल रहा। उस समय जिस उपाश्रय में आप विराजमान थे, उस पर मुसलसानों ने निशाना बांधकर आपके ऊपर बम फेंका जिसका विस्फोट नहीं हुआ। बम फेंकने वाला अपने दूसरे साथी की गोली से मारा गया। जो नमायंदगान— मुस्लिम जनता आपको रहनमाये मिल्लत मानते थे, उन्होंने इस घटना को आपके बुलन्द इखलाक का करिश्मा (चमत्कार) माना और घोषणा कर दी कि जब तक आप यहां रहें वे आपकी हिफ़ाजत (सुरक्षा) का वायदा करते है।

पाकिस्तान बनने से पहले निकटवर्ती समय में बम्बई, बीकानेर, अहमदाबाद, बड़ौदा आदि भिन्न-भिन्न नगरों के धनी-मानी गुरुभक्त आपकी सेवा में अनेक बार गुजरांवाला इसलिये आये

कि आपके साथ सब मुनि और साध्वी समुदाय को सुरक्षित रूप से अपने साथ भारत में ले आया जावे। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी आपने धैर्य न छोड़ा, उस समय आपने उच्चतम त्याग और कुर्बानी का परिचय दिया। भारत स्थित आपके भक्तों ने कायदे आजम मुहम्मदअली जिन्हा से प्रार्थना की कि उनके धर्मगुरुओं को सुरक्षित भारत पहुंचा दिया जावे। जिसका प्रबन्ध पाकिस्तान सरकार ने कर दिया। आप श्री ने केवल अपने लिए प्रबन्धों को एकदम ठुकरा दिया और घोषणा की कि मैं यहाँ के स्थानकवासी तथा श्वेतांबर दोनों जैनसंघों को अपने साथ लेकर ही पाकिस्तान को छोड़कर भारत आऊँगा। जब तक ऐसा प्रबन्ध न होगा तब तक मैं यहाँ से एक कदम भी नहीं उठाऊंगा यहाँ पर इन्ही के साथ जीऊँगा, इन्हीं के साथ मरूँगा। पर्यूषण पर्व की आराधना करने कराने के बाद सरकार के प्रबन्ध से आप दोनों जैन संघों को साथ में लेकर तथा मुनिमंडल, साध्वी समुदाय के साथ सुरक्षित भारत में पहुंचे।

गुजरांवाला से आप श्री सभी साधु साध्वियों व संघ के साथ लाहौर तक आए। सीमां-पार करके अमृतसर पहुंचाने के प्रबध करने में सरकार को कुछ दिन लगे थे। तभी लाहौर में ही आपको पता लगा कि तेरापंथी आचार्य श्री तुलसी के शिष्य मुनि अमोलक ऋषि यहाँ के ही एक दूरस्थ मुहल्ले में घिरे हुए बैठें हैं। आप ने साथ के सिपाहियों व भाइयो को आज्ञा देकर उक्त मुनि को भी अपने साथ ले आने का आग्रह किया।

शहर में फिसाद-दंगा ज़ोरों पर था। रावी नदी की ओर से अमोलकऋषि जी के स्थान पर पहुंचा गया तथा उन को उस स्थान पर लाया गया जहाँ पर आचार्य विजयवल्लभ सूरि जी संघ के साथ बिराजमान थे। उक्त मुनि श्री ने गुरुदेव के काफिले में ही देश की सीमा में प्रवेश किया और इकट्ठे ही अमृतसर आए। पुनः अमृतसर के भाइयों को आप ने मुनि जी की सेवा सश्रुषा को कहा।

(यह बात अमोलकऋषि जी ने अपने ई० सं० १६७८ के सामाना चौमासा में स्वयं बतलाई थी)

संगठन के अग्रदूत

(१) **बड़ौदा में मुनि सम्मेलन**—वि० सं० १६६८ में न्यायांभोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर जी महाराज के समुदाय का मुनि सम्मेलन आप के प्रयत्नों से हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्य श्री विजयकमल सूरि बने। उस में २४ प्रस्ताव पास किये गये। अध्यक्ष महोदय ने इस सम्मेलन की सफलता केलिये आप के प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

(२) वि० सं० १६६० में अहमदाबाद में जैनश्वेताबर सर्वगच्छीय मुनि सम्मेलन हुआ। उसे सफल बनाने के लिये आप ने बहुत परिश्रम तथा अनथक सहयोग दिया।

(३) अखिल भारतवर्षीय जैनश्वेतांबर कान्फरेन्स के अनेक सफल अधिवेशन आप श्री की निश्रा तथा सद्प्रेरणा से हुए। सादड़ी (राजस्थान) के अधिवेशन में आप ने सम्मेलन में भाग लेनेवालों को बहुत प्रोत्साहित किया। उन के हृदयों में कान्फरेन्स का महत्व बढ़ाया। उसीका यह परिणाम था कि फालना, जूनागढ़, बम्बई के अधिवेशन पूरी सफलता के साथ सम्पन्न हुए। प्रत्येक सम्मेलन को सफल बनाने में आप श्री की प्राणदायिनी शक्ति ने बहुत बड़ा काम किया।

(४) बामनवाड़ा (राजस्थान) में पोरवाड़ जैनसम्मेल में आप श्री की ही प्रेरणा से बड़े-बड़े काम हुए।

(५) युवक परिषदों, स्वयंसेवक परिषदों और शिक्षण समारम्भों में आप श्री के प्राण-प्रेरक संदेश पहुंचने पर उन से उत्साहित होकर युवक कार्यकर्त्ता काम करके सफलता को प्राप्त करते थे।

(६) पंजाब श्रीसंघ के संगठन रूप श्री आत्मानन्द जैन महासभा की स्थापना आप श्री के शिष्य उपाध्याय सोहनविजय जी ने की, तत्पश्चात् शीघ्र ही उनका स्वर्गवास हो गया। पश्चात् आप श्री की प्रेरणा और प्रोत्साहन से इस के अनेक अधिवेशन आप की निश्रा में हुए। जिन में कुरूढ़ियों, हानिकर रिवाजों तथा कुसंप आदि को मिटाकर श्रीसंघ पंजाब को सुसंगठित, सुसंस्कृत बनाया और संघशक्ति को महाबल प्रदान किया।

(७) वि० सं० १९८२ में गुजरांवाला में महासभा के अधिवेशन आप की निश्रा में ओसवाल, खंडेवाल आदि जैनजातियों में परस्पर बेटे-बेटियों के रिश्तेनातों को प्रचलित करने का प्रस्ताव पास होने पर निःसंकोच भाव से विवाह शादियाँ होने लगीं। इस प्रकार सब जैन जातियां परस्पर रीढ़ की हड्डी के समान शृंखलाबद्ध हुईं।

एकता की प्रत्यक्ष मूर्ति

आप बाड़ाबन्दियों और गुरुडमवाद को पसंद नहीं करते थे। आप सदा साधुसंघ तथा श्रावकसंघ में एकता के पक्षपाती रहे हैं। आपका कहना था कि यदि साधु समाज में मेलजोल रहेगा तो चतुर्विध जैनसंघ का संगठन कायम रह सकेगा। आप सदा यह चाहते थे कि सब जैन धर्मगुरू अपने मत-मतांतरों को भूलकर संगठित रूप से जिनशासन की शोभा को बढ़ावें। आप सदा फ़रमाया करते थे कि जैनसमाज के संगठन केलिये यदि मुझे आचार्य पदवी छोड़नी भी पड़े तो मैं तैयार हूं।

अन्य आचार्यों से मेल मिलाप

एक दो कदाग्रही आचार्यों के सिवाय आपश्री का वर्तमान आचार्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। आप चाहते थे कि उन एक दो के साथ भी किसी प्रकार का मतभेद न रहकर समस्त में एकता का वातावरण कायम किया जावे, पर वे लोग सदा अनेकता के रूप में ही बने रहे और अन्य भी आचार्यों और समुदायों के विरोध में ही सारा जीवन लगे रहे।

गुरुभक्त वल्लभ

आप श्री विजयानन्द सूरि के वचनों और आज्ञाओं का बराबर पालन करते थे और जब तक वे विद्यमान रहे तब तक उन्ही की सेवा मे साथ में रहे। गुरुदेव के प्रत्येक कार्य को निजी सचिव के रूप में करते रहे। पत्रों का उत्तर देना, ग्रंथ लेखन में सहयोग देना, देशी-विदेशी विद्वानों की शंकाओं के समाधान में पत्र व्यवहार करना, सब कार्य बड़ी बुद्धिमत्ता से करते थे। गुरुदेव को दूसरी बार कहने की आवश्यकता नही पड़ती थी।

एक बार प्रवर्तक श्री कान्तिविजय जो ने गुरुदेव से पूछा—गुरुदेव ! आप के बाद पंजाब किसको सौंप रहे हैं ? गुरुदेव ने वल्लभविजय जी की तरफ़ संकेत करते हुए कहा—इसके लिये "वल्लभ" को तैयार कर रहा हूं, मेरा ध्यान वल्लभ पर ही जाता है, यही इस देश में धर्म की प्रभावना करेगा" आपने गुरुदेव के एक-एक वचन को सत्य प्रमाणित किया और पंजाब पर सदा-सर्वदा उपकार करने में संलग्न रहे।

अभिग्रहधारी

आपका स्वभाव अपने लिये वज्र से भी कठोर था तथा दूसरों केलिये कुसुम से भी कोमल था। आपने अपने ध्येय की सिद्धि के लिये समय-समय पर अभिग्रह धारण किये। इसके प्रभाव से आपका अधिक आत्मविकास हुआ। सब कार्यों में सफलता ने आपके चरण चूमे।

१. बम्बई में श्रावक-श्राविकाओं के उत्कर्ष केलिये आपने पाँच लाख रुपये के फंड को इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की उद्घोषणा की। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये लखपति-करोड़पति, वृद्ध-युवक सब जुट गये और थोड़े ही समय में पांच लाख की धनराशि इकट्ठी हो गयी और उत्कर्ष के कार्य चालू हो गये।

२. वि० सं० १९७२ में बीकानेर में आपने अभिग्रह किया था कि जब तक मैं पंजाब न पहुँचूंगा तब तक केवल दस पदार्थ ही आहार में ग्रहण करूंगा। इसमें दवाई, पानी भी शामिल है। साथ में यह भी नियम लिया था कि कदाचित् भूलचूक से अथवा अन्य कार्यवश एक-दो पदार्थ अधिक उपयोग में आ जावेंगे तो दूसरे दिन केलिये उनसे दुगने पदार्थ छोड़ दूंगा। प्रतिदिन एकासना करते थे। पंजाब पहुँचने तक आपने इस अभिग्रह का दृढ़तापूर्वक पालन किया।

३. जब तक पंजाब में जैनगुरुकुल की स्थापना नहीं होगी तब तक प्रतिदिन एकासना, चौदस-पूनम, चौदस-अमावस्या का छठ (बेला), महीने के बारह तिथियों (दो दूज, दो पंचमी, दो अष्टमी, दो एकादशी, दो चौदस, पूनम व अमावस्या) के दिन मौन, नगर-गाँव में प्रवेश के समय बाजों आदि की धूम-धाम का त्याग रहेगा। ऐसी प्रतिज्ञाएं की।

४. जब अम्बाला शहर मे कालेज बना तब आपश्री को मानपत्र देने का विचार हुआ आपश्री ने विचारकर्त्ताओं को सूचित कर दिया कि जब तक कालेज केलिये डेढ़ लाख रुपया जमा न होगा मैं मानपत्र स्वीकार नही करूंगा। कालेज फंड में निर्धारित राशि जमा हो गई।

५. आपने गुजरांवाला में गुरुकुल स्थापित करना था, उसके लिये एक लाख रुपये की जरूरत थी। ६८००० रुपये जमा हो चुके थे आपने अभिग्रह किया कि जब तक एक लाख रुपया न होगा तब तक मिष्टान्न ग्रहण न करूंगा। आपके परम गुरुभक्त शिष्य आचार्य श्री विजयललित सूरि उस समय बम्बई में थे तब उन की प्रेरणा से एक अजैन भक्त सेठ ठाकुरदास-विट्ठलदास ने बम्बई से रुपया बत्तीस हजार भेजकर आपके अभिग्रह को पूर्ण किया। गुरुकुल की स्थापना हो गई।

जिनशासन की उन्नति और प्रभावना केलिये आपने अनेक अभिग्रह और प्रतिज्ञाएं कीं। इन सब का उद्देश्य जैनसमाज के कल्याण का था। ऐसे अभिग्रहों से आत्मशक्ति का विकास होता है और उस शक्ति में से ही पूर्ति के चक्र गतिमान होते हैं। हमने कई बार देखा और सुना कि आपने अभिग्रह और प्रतिज्ञा के बल से अनेक ऐसे कार्य किये जिससे जैनशासन की उन्नति हुई।

६. आपने वि० सं० १९९३ ई० स १९३६ में बड़ौदा में अखिल भारतीय स्तर पर श्री विजयानन्द सूरि की जन्म शताब्दी का समारोह बड़ी धूम-धाम से मनाया था।

क्षमता और कार्यदक्षता

संसार में यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि महापुरुषों के जीवन में उनके सामने अनेकानेक प्रतिस्पर्धी अथवा निष्कारण विरोधी उठ खड़े होते हैं और इसके लिये कई तरह के

प्रतिकूल वातावरण का सामना भी करना पड़ता है किन्तु यह तो अवश्य आश्चर्यजनक है कि ऐसे वातावरण में भी उन महापुरुषों की बुद्धि, प्रतिभा, धीरता, वीरता क्षोभ नहीं पाने पाते। अपने चरित्रनायक भी इस बात के अपवाद कैसे हो सकते थे। आपश्री के जीवन में आपके सामने विरोध का बावंडर मचाने वाले अनेक व्यक्ति उठे—खड़े हुए। अनेक प्रकार के प्रतिकूल-अनुकूल संयोग भी उपस्थित होते रहे। फिर भी आपने अपनी एक निष्ठा, धर्मवृत्ति, प्रतिभा और कार्यदक्षता के द्वारा सब को निस्तेज कर दिया था। इतना ही नहीं किन्तु आपश्री समुद्र में आये हुए तुफ़ान में अपने बेड़े को शांति और धीरता के साथ पार ले जाने वाले विशिष्ट विज्ञानवान सुकानी की भांति कार्यदक्षता से सदा अक्षुब्ध रहकर अपने ध्येय और कार्य को आगे पहुंचाते रहे। आपने अपने विरोधी के विरोध में न तो कभी वातावरण फैलाने की कोशिश की और न ही उसके लिये अपने हृदय में वैर-विरोध को स्थान दिया। चाहे कोई भी आप से ईर्ष्या भाव रखता, कोई क्रोध के आवेश में आकर लाल-पीला हो जाता, चाहे कोई वैरी समझकर अंट-शंट बोल जाता तो भी आपश्री की शांतप्रभा तथा शांतमुद्रा देखकर वह शांत हो जाता और हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर अपने किये पर पछता जाता था।

प्रवचन कौशल्य

आपकी धर्मदेशना जिन्होंने सुनी है उन्हें अनुभव है कि आपकी व्याख्यान देने की पद्धति कितनी प्रौढ़, व्यापक, ओजस्वी, पांडित्यपूर्ण, सरल, हृदय तलस्पर्शी तथा प्रशांत रस से परिपूर्ण थी। आपके प्रवचन में किसी भी मत-संप्रदाय-गच्छ के विषय में आक्षेप नहीं होता था। आप तो वास्तविक धर्म के रहस्यों को प्रकाश में लाते थे। यही कारण है कि जहाँ कहीं भी आप गये वहां आपके व्याख्यान में बिना किसी भेदभाव के जैन हो वा जैनेतर, स्वगच्छ का हो या परगच्छ का, अपनी परम्परा का हो या पर परम्परा का, हिन्दू हो या मुस्लिम, सिख हो या ईसाई, सनातनधर्मी हो या आर्यसमाजी निःसंकोच होकर आते थे और धर्मामृत का पान कर अपने को धन्य मानते थे। तथा प्रसन्नतापूर्वक अपनी धर्मभावना को पुष्ट करते थे। आप के प्रवचन को सुनकर बड़े-बड़े विद्वान भी मंत्रमुग्ध हो जाते थे। आपके शांत और मार्मिक उपदेश के प्रभाव से सैंकड़ों नगरों और गांवों के चिरकाल से चले आरहे झगड़े एवं वैर-वैमनस्य शांत हुए। इसी कारण को लेकर जैन-जैनेतर जगत को यह विश्वास था कि शांति के इस पैगम्बर के जहाँ भी चरण पड़ेंगे वहां आनन्द ही आनन्द और शांति ही शांति होगी। सारा जैनसमाज आपको "शांति का संदेशवाहक" के नाम से पहचानता था। व्याख्यान की शैली इतनी सहज और सरल थी कि छोटे से बड़े, अनपढ़ तथा विद्वान आसानी से हृदयांगम कर लेते थे।

संकटापन्न देशवासियों की सहायता

भूकम्प, दुष्काल, बाढ़, अग्निकांड आदि प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक मुसीबतों से पीड़ित प्रजा केलिये आप सदा अपने प्रभावशाली उपदेशों से जैनसमाज से अन्न, वस्त्र, जीवनोपयोगी सामग्री तथा आर्थिक आदि की अधिक से अधिक सुविधाएं दिलाते थे।

शास्त्रार्थ व चर्चाएं

आप सदा समन्वयात्मक धर्मोपदेश से जनता-जनार्दन को आदर्शमार्ग अपनाने के लिये प्रेरित करते थे। आप की वाणी में किसी भी मत-मतांतर-संप्रदाय पर आक्षेप नहीं होता था।

किन्तु यदि कोई मत-संप्रदायवादी जैनधर्म पर आक्षेप करने पर उतारू हो जाता तो आप शास्त्रार्थ करने से भी पीछे नहीं रहते थे। एक जमाना शास्त्रार्थों का कहा जाता था आपको भी अनेक शास्त्रार्थ करने पड़े, जिनमें से तीन तो बड़े ही महत्वपूर्ण थे। एक तो वि० सं० १६६५ में गुजरांवाला में सनातनधर्मियों से, दूसरा सामाना में स्थानकवासी पूज सोहनलाल जी से तथा तीसरा नाभा में वहां के महाराजा की पण्डित सभा में ढंढियों से। नाभा की पण्डित सभाका लिखित निर्णय व सामाना की पंचायत का लिखित निर्णय सभी में आपका पक्ष मान्य रहा। सब शास्त्रार्थों में विजय ने आप के चरण चूमे।

सन्क्रान्ति महोत्सव

पंजाब जनपद में सूर्य संक्रान्ति के दिन से ही विक्रम अथवा शक संवत् के महीने का प्रारम्भ होता है। उस दिन लोग ब्राह्मणों से महीने का नाम सुनते थे। दृढ़ श्रद्धावान कतिपय जैन परिवारों ने आचार्य श्री से प्रार्थना की कि—"गुरुदेव हम आपके श्रीमुख से संक्रान्ति का नाम सुनना चाहते हैं सो आप कृपा करिये। वि० सं० १६६७ से आचार्य श्री ने गुजरांवाला में प्रतिमास सूर्य संक्रान्ति के दिन श्रीसंघ समक्ष इस महोत्सव की शुरुआत की।

मध्यमवर्ग सहायता

महामानव का जीवन दूसरों के उपकार के लिए ही होता है—"**पर दुःखे उपकार करे तोय मन अभिमान न आने रे।**" यह महान् मानवी का लक्षण है।

आपके जीवन का प्रत्येक पल परोपकार में व्यतीत हुआ। मध्यमवर्ग का उद्धार आपका महान कार्य रहा। अनेक जैनों और अजैनों के दुःख भरी दास्तानों के पत्र आते रहते थे। प्रत्यक्ष रूप से भी ऐसे लोग आपके चरणों में आ उपस्थित होते थे। उन पत्रों और दास्तानों को लक्ष्य में रखकर दुःखियों को दुःखमुक्त कराने का भरसक प्रयत्न करने में अनेक धनवान श्रावकों से गुप्त रूप से सहायता करा देते थे। व्यक्तिगत लोगों को भी गुप्त सहायता दिलाकर दुःख मुक्त करते थे। विधवा, साधनहीन महिलाओं और पुरुषों को रोजगार दिलाने केलिए हुन्नर, उद्योगशालाएं खुलवाकर मध्यमवर्ग को अपने पांव पर खड़ा होने में सहयोग दिलाते थे। बड़े-बड़े जैन मिल-मालिकों के पास भेजकर उनके वहाँ नौकरी अथवा दलाली पर लगाने के काम की व्यवस्था करा देते थे। वि० सं० १६५४ में मालेरकोटला में दुष्काल पड़ा, यह जानकर आपने दो वस्तुओं का त्याग कर दिया। भूख से पीड़ितों के लिए आपने हजारों रुपये का फंड एकत्रित कराकर दान शालाएं खुलवा दीं। जब-जब भी जहाँ कहीं भी दुष्काल पड़े, वहाँ की जनता को अन्न, वस्त्र, निवास आदि के लिये फंड करवा कर उन्हें संकट मुक्त कराया। वि० सं० १६७४ में पाटण (गुजरात) में दुष्काल पीड़ितों के लिए फंड करवाकर वितरण कराया। वि० सं० २०१० में बंबई में साधर्मी सेवासंघ की स्थापना की जिसके द्वारा मध्यमवर्ग के अनेक भाई-बहनों को रोजगार दिलाया। बम्बई में मध्यमवर्ग केलिये सस्ते भाड़े के मकानों का निर्माण कराने का उपदेश दिया जिससे मकानों का निर्माण होकर उन्हें राहत मिली।

विद्यार्थी सहायता

१. बम्बई में महावीर जैन विद्यालय की स्थापना करके तथा गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र के कतिपय नगरों में इसकी शाखाएं स्थापित करवाकर, उच्चशिक्षा प्राप्त करने केलिए मध्यमवर्ग

के जैन विद्यार्थियों को छात्र वृत्तियाँ तथा निर्व्याज ऋण (loan) दिलाने की व्यवस्था की। जिसके परिणाम स्वरूप आजतक जैनसमाज के साधन हीन विद्यार्थी हजारों की संख्या मे डाक्टरी, इन्जीनियरी, वकालत, कामर्स आदि उच्च शिक्षा प्राप्त करने में सफल हुए है। इस संस्था से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी भारत तथा विदेशों में उच्च पदों पर आसीन होकर गौरव पूर्ण सुखी पारिवारिक जीवन पाने के सौभागी बने हैं।

(२) मध्यमवर्ग के अनेक साधनहीन विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता दिलाकर उन्हें उच्च शिक्षण प्राप्त करने में सहयोग दिलाया। पंजाब में जैन सरस्वती मंदिर स्थापित करने के लिए जो पाईफंड के नाम से धन राशी एकत्रित की गयी थी उस राशी से लगभग तीस हजार रुपया खर्च कराकर पं० सुखलाल संघवी तथा पं० बृजलाज ब्राह्मण को उच्च शिक्षा दिलवाई।

इसी प्रकार व्यक्तिगत सहायता पानेवाले हजारों की संख्या में जैन-जैनेतर विद्यार्थी भी आज भारत तथा अमरीका आदि विदेशों में उच्च पदों पर काम कर रहे हैं।

३. सिंध, पजाब, बंगाल के विभाजन के बाद पाकिस्तान से उजड़कर आये हुए लोगों को गुप्तरूप से सब प्रकार की मदद दिलाने में भी अपने कोई कमी नहीं रखी।

४. आप श्री की शरण में जो कोई आया व खाली हाथ न लौटा। सिसिकियाँ लेता आया और हंसता हुआ लौटा। इसी कारण से आपश्री को जनता ने कलिकाल कल्पतरु माना और इस पदवी से विभूषित कर अपने आप को धन्य माना।

प्रभावशाली आचार्य

विज्ञान के युग में सामान्य मानव का मन चमत्कार मानने को तैयार नहीं होता। पर जब प्रत्यक्ष वस्तु बनती है तब उस वस्तु को एक अथवा दूसरी प्रकार से स्वीकार ही करना पड़ता है। असामान्य मनुष्य को सामान्य व्यक्ति के समान परखना नितांत अनुचित हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए जो वस्तु अशक्य-असम्भव प्रतीत होती है वह असामान्य व्यक्ति केलिये सम्भव और स्वाभाविक है।

असामान्य व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति, निर्णय शक्ति द्वारा ही कार्य सिद्ध कर लेता है। इस व्यक्ति के कर्म इस प्रकार के होते हैं कि वह जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहां अनुकूल वातावरण हो जाता है। उस वातावरण से झगड़े-क्लेश सब शांत हो जाते हैं। जैनशास्त्रों में कहा है कि तीर्थंकर भगवान जिस प्रदेश में विचरते हैं अथवा देशना देते हैं वहाँ के उपद्रव नाश हो जाते हैं। हमारी संस्कृति के इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख पाया जाता है कि महान आचार्यों ने अपनी प्रभावशाली शक्ति से समाज और देश के अनेक महान उपकार कारक कार्य किये, अनेक उपद्रवों को नाश किया और समय-समय पर अनेक स्थानों में शांति की स्थापना की।

आप भी पुण्यवान महापुरुष थे। जिस भूभाग को आप अपनी चरणरज से पावन करते थे उस क्षेत्र में समाजहित के कार्य होते रहते थे। वहाँ नवीन जागृति होती थी, धार्मिक क्षेत्र विस्तृत बनता था। आप बालब्रह्मचारी थे। जैन सिद्धान्तों पर अटल श्रद्धा रखते हुए उनका आचरण करते थे। पाँच महाव्रतों के पालन के कारण आपके जीवन में एक प्रकार की सौरभ बहती थी। जिसके परिणाम स्वरूप जहाँ आप जाते वहाँ का वातावरण प्रेममय-धर्ममय बन जाता था। जहाँ जैन-

मंदिर न हो वहाँ मंदिर निर्माण के लिये फंड एकत्रित हो जाता था। शिक्षण संस्था न हो वहाँ शिक्षण संस्था की तैयारी हो जाती थी। अज्ञान हो तो इस अंधकार को मिटाने के लिये ज्ञान प्रचार की व्यवस्था बन जाती थी। दुखियों को दुःखमुक्त कराने के लिये फंड की योजना बनती। जहाँ कुसंप होता वहाँ संप हो जाता। जहाँ आपका विहार होता वहाँ एक नये प्रकार की चेतना आ जाती। जैनों में धर्म भावनाएं जाग्रत होतीं और बढ़ती। जो कोई भी अन्यधर्मी आपसे मिलता उसके विचारों में भी धर्म भावनाएं जागृत हो जातीं और धर्म के कार्यों में सहयोगी बन जाता। वह व्यसनों से निवृत होने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेता। इस प्रकार आपने मानव जीवन के उत्कर्ष के लिये अनेकों के दिलों को स्वच्छ बनाया।

आप श्री के जीवन में अनेक घटनाएं ऐसी घटी हैं कि जिन्हें चमत्कार मानें तो अनुचित न होगा। चाहे जितना भी बड़ा कार्य क्यों न होता वह आप (पुण्यशाली महात्मा) की हाजरी में तुरन्त निर्विघ्नता पूर्वक सम्पन्न हो जाता था। हजारों-लाखों मानवों की मेदिनी एकत्रित हुई हो उसमें से एक को भी आंच न आवे, अनिष्ट न हो, अशुभ न हो ऐसा पुण्यात्मा के प्रभाव से ही होता है। विघ्नलताएं नष्ट हो जाती हैं तथा मानव का मन प्रफुल्लित हो उठता है। आप एक विरल विभूति थे। आपके जीवन में अनेक प्रसंग ऐसे भी आये जिन्हें चमत्कार मानें तो अनुचित न होगा।

१-वि० सं० १९१२ में **करचालिया गांव** में प्रभु की प्रतिमा को नदी पार करके लाना था। इसके लिये पहले दो बार प्रयास भी किया गया था पर वे निष्फल हुए। आपने जो मुहूर्त निकाल कर दिया था, उसमें प्रभु निर्विघ्नता पूर्वक पधार गये।

२-**अकोड़ा गांव**—में एक उत्सव चालू था। उस अवसर पर अनेक लोग बाहर से यहाँ आये हुए थे। मुनि श्री पुण्यविजयजी भी पधारे हुए थे। मुनिश्री पर अचानक किवाड़ गिर गया पर उन्हें किसी भी प्रकार की चोट न आई। आचार्यश्री भी यहाँ विराजमान थे।

३-**जूनागढ़**—में आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। श्रोताओं से उपाश्रय का हाल खचाखच भरा हुआ था। उपाश्रय की बारी में से एक बच्ची गिर गई। श्रोताओं में हाहाकार मच गई किंतु बालिका को किसी प्रकार की चोट न आई और वह बाल-बाल बच गई।

४-**पसरूर नगर**—जहाँ पुण्यशाली के चरण पड़ते हैं वहाँ दुष्काल भी सुकाल हो जाता है। सूखी धरती भी हरी भरी हो जाती है। वातावरण में नये प्रकार की स्फूर्ति आ जाती है, धरती पावन हो जाती है। यदि नदी, नाला, द्रह, कुंआ सूख गया हो तो वह स्वच्छ जल से भर जाता है। पुण्यशाली के प्रभाव से एक अथवा दूसरी प्रकार से जनता जनार्दन को लाभ होता है। जब आपके पवित्र चरण पसरूर नगर में पड़े तब वहाँ जो कई वर्षों से कुंआ सूख चुका था उस में निर्मल-मीठा-स्वादिष्ट पानी आगया। इस प्रकार धरती ने भी पुण्यशाली महात्मा का स्वागत किया।

५. **गुजरांवाला**—में एक बार वर्षा ऋतु आने पर भी वर्षा न हुई। दुष्काल पड़ने की संभावना से लोगों के मन में चिंता होने लगी। आप को पता लगा आप ने सब से तप करवाया। तप के प्रभाव से तुरंत वर्षा हुई। लोगों ने शांति की सांस ली।

६. **होशियारपुर**—आप विराजमान थे तब अचानक ही उपद्रव का तांडवनाच होने लगा। गुण्डे उपाश्रय को आग लगाने की बात में ही थे कि उसी समय पुलीस आगई और गुंडे भाग निकले।

७. खरतरगच्छीय घनश्याम संगीतज्ञ को पालीताना में सांप काटने की घटना—

तीर्थाधिराज श्री शत्रुंजय की गिरिमालाएं, जलती हुई धरती, जेठ महीने की गरमी से तप्त पाषाण शिलाएं और संध्या समय की छाया से शीतल रेती इस प्रकार की संध्या वि० सं० २००८ जेठ महीने की सुदी ६ की इसी तरह की संध्या थी। घनश्याम अपने मित्रों के साथ पर्वत की कुदरती सुन्दरता को देखता हुआ शहर पालीताना से दूर निर्जन वन की ओर बढ़ रहा था। घनश्याम स्वयं इस घटना का वर्णन इस प्रकार करता है।

"दूर पांच नदियों का पुण्यप्रदेश पंजाब मेरी जन्मभूमि, संगीत शब्द ब्रह्म का मैं उपासक, संगीत के स्वरों को तो मैंने साधा परन्तु आत्मा की पहचान बाकी थी। ज्ञान का प्रकाश अभी दिखाई नहीं दिया था आत्मज्ञान का दीपक अब तक मेरे हृदय मंदिर में जला नहीं था। अन्तरंग के रंगमंडप में श्रद्धा देवी के नूपुरों की झनकार अब तक सुनाई नहीं दी थी। तो भी मैं पुण्यपवित्र तीर्थ पर पालीताना पहुंचा। श्री शत्रुंजय के भव्य और रम्यमंदिर, उन की अनुपम शिल्पकला, वहाँ की कुदरती सुन्दरता इन सब का दर्शन मैं केवल पार्थिव दृष्टि से करता था। जब मैं चारों तरफ़ बिखरे हुए प्राकृतिक सौंदर्य का दर्शन करता हुआ अपने मित्रों के साथ आगे बढ़ रहा था।

अचानक मेरे पैर का अंगूठा किसी ने डस लिया। उफ़! जिंदगी में पहली बार तीव्र वेदना का अनुभव किया धरती के जीव कितने जहरीले होते हैं, यह बात पहली ही बार मुझे मालूम हुई। मेरे हाथ-पैर बेकार होने लगे। क्या हुआ? यह जानने की उत्सुकता थी, मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा रहा था। उसी समय मैं ने एक नीले रंग की लम्बी आकृति दूर से आती हुई देखी। यह क्या है? यह जान सकूं इस से पहले ही बेहोश हो गया था।

जब उस नीले रंग की आकृति ने मुझे बेहोश कर दिया तब मेरे साथी यात्रियों का कहना है कि उन्होंने और आस-पास के ग्वालों ने इस जहर को उतारने के अनेक उपाय किये। पर सब बेकार हो गये। अन्त में मुझे अस्पताल पहुंचा दिया गया। सिविल सर्जन ने इंजक्शन लगाये, ओपरेशन किया परन्तु किसी से कोई लाभ न हुआ। मैं क्षण-क्षण में मौत के मुंह में जा रहा था। जीवन का दीप धीरे-धीरे बुझता चला जा रहा था। डाक्टरों ने मुर्दा समझकर मुझे मेरे मित्रों को सौंप दिया।

मेरी इस हालत की खबर मेरे प्रिय मित्र (जिगरी दोस्त) लाला रतनचन्द (सराफ़) के द्वारा जब परम पवित्र, पतितपावन आचार्यदेव (श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी) के पास पहुंची। तब तत्काल ही उन्हों ने ध्यान लगाया। कुछ देर बाद ध्यान छोड़ कर उन्होंने मुझे मृत्यु के मुंह से निकालकर जीवित करने के लिये वासक्षेप की एक पुड़िया भेजी। मुझे वासक्षेप पानी के साथ पिलाया गया। कुछ ही क्षणों के बाद मुझे उल्टी (वमन) हुई और उसके साथ ही मेरे शरीर में फैला हुआ विष (नीला-ज़हर) बाहर निकल आया। मैं सर्प के ज़हर से मुक्त हो गया और सचेत होकर अपने मित्रों तथा आस-पास में लगी हुई भीड़ की तरफ़ आश्चर्यपूर्वक देखने लगा। मित्रों ने मुझे बेहोश होने से लेकर सचेष्ठ होने तक का सब वृतांत कह सुनाया।

सर्प का ज़हर ही क्यों मेरे शरीर में फैले हुए अज्ञानरूपी ज़हर को इस वासक्षेप ने बाहर निकाल दिया। जिस से मेरे बाहर के चक्षुओं के साथ ही मेरा ज्ञान चक्षु भी खुल गया। आज से पहले जिस जीवन में केवल पार्थिव लालसाओं की पूर्ति रूप में मानता आ रहा था अब अपने

जीवन को आत्मानन्द प्राप्त करने का साधन मानने लगा। मानो आत्मानन्द एक उत्सव के रूप में मेरे हृदय और आँखों में समा गया।

जब मैं पूरी तरह से होश में आ गया तब मैंने अनुभव किया कि मेरा सारा जीवन ही बदल गया है। साँप जैसे अपनी काँचली उतार फेंकता है वैसे ही मेरे आत्मारूपी सर्प ने अज्ञानरूपी काँचली को उतार फेंका। वह दिन मेरे लिये एक पर्व का दिन हो गया। जैसे कि मुझे किसी ने अमृत पिलाया हो। उसी तरह मेरा हृदय आनंदित हो उठा। इस अमृत को पिलाने वाले पुण्य श्लोक के दर्शन करने को और उनकी चरणरज से अपनी आत्मा को पवित्र बनाने के लिये मेरा हृदय व्याकुल हो उठा।

जिन के पुण्यबल, तपोबल, योगशक्ति के सामर्थ्य ने मुझे जीवनदान दिया था। जिन्होंने मेरे मुर्दा शरीर में चेतनता प्रदान की थी एवं नई जिंदगी तथा नई दृष्टि भेंट की थी। आज उन्होंने मेरे संगीत द्वारा प्रदर्शित कृत्रिम भावों को भक्ति रस से भर दिया। उन प्रतापी पुरुष का नाम है आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी।" मैं ने आकर उन सौम्य, गंभीर और शांत गुरु-देव के चरणों में प्रणिपात किया। उन की चरणरज बड़ी श्रद्धा से अपने मस्तक पर चढ़ाई और अपने जीवन को धन्य माना।

८. इसी प्रकार आप ने अनेकों को संकट मुक्त किया। जिन पर ऐसे-ऐसे संकट आये कि उन्हें आजीवन कारावास हो जाता पर आप श्री के वासक्षेप के प्रभाव से अदालत से एकदम निर्दोष सिद्ध होकर हर्षपूर्वक घर लौटे।

९. वि० सं० २००४ तदनुसार अगस्त १९४७ ई० को ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वतंत्र करते हुए उसके दो टुकड़े कर दिये। (१) पाकिस्तान और (२) भारत बन जाने पर गुजरांवाला पाकिस्तान में चला गया। उस समय पाकिस्तान में मुसलमानों ने गुंडागिर्दी मचा दी। उन में मानवता समाप्त हो चुकी थी और दानवता का तांडव नाच होने लगा था। हजारों हिन्दू-सिक्ख अबलाओं पर अत्याचार हुए, मर्दों और बच्चों की हत्याएं कर डाली। हजारों मानवों के खून से होली खेली गई। मकानों, दुकानों को लूट लिया गया, अनेक जला कर खाक कर दिये गये। अनेकों को जबरन मुसलमान बना लिया गया फिर भी उन में कइयों की हत्याएं करके उन की चल-अचल सम्पत्ति को हथिया लिया। उस समय आप सात साधुओं के साथ तथा जैन-साध्वी प्रवर्तनी श्री देवश्री जी १४ शिष्याओं के साथ गुजरांवाला में ही चतुर्मास विराजमान थे। इतने भारी विप्लव होने पर भी यहां के जैन समाज तथा साधु-साध्वी संघ का सर्वथा सुरक्षित रूप से वहां पर्युषण पर्व का मनाना, तत्पश्चात् आप की संरक्षता में सही सलामत भारत में पहुंचाना, यह असाधारण घटना थी। यदि इसे आप का ही चमत्कार माना जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

आप के साथ सात साधु, १४ साध्वियाँ तथा सैंकड़ों श्रावक—श्राविका परिवार गुजरां-वाला से भारत पहुंचे।

उस समय की गुजरांवाला की परिस्थिति तथा आप की दृढ़ता का परिचय कराने वाले

एक पत्र को यहाँ उद्धृत करते हैं जो आप ने अपने शिष्य आचार्य श्री वियजललित सूरि को लिखा था।

वन्दे श्री वीरमानन्दम्

गुजरांवाला
वि० सं० २००४ द्वि० श्रावण वदि ५

गुजरांवाला श्री आत्मानन्द जैन उपाश्रय ता० ७-८-१९४७ गुरुवार—पू० पा० आचार्य भगवान श्री विजयवल्लभ सूरि जी महाराज आदि ८ की तरफ़ से आचार्य श्री गुरुभक्त विजय-ललित सूरि जी, पंन्यास पूर्णानन्दविजय, श्री न्यायविजय आदि ठाणा १० पालनपुर योग्य वन्दनानुवन्दना, सुखसाता के साथ विदित हो कि यहाँ सुखसाता है तुम्हारी सुखसाता का पत्र उर्दू में लिखा आज मिला।

तुम्हारे पत्रों तथा कई शहरों के श्रीसंघों व भक्त श्रावकों के जुदे-जुदे पत्रों-तारों से उन की भक्ति एवं धर्म की लगन विदित होती है। जिस में एक बात ख़ास विचारने की है। किसी साहूकार की पुरानी दुकान की जिंदगी और इज्ज़त का सवाल आ जावे तो वह दुकानदार अपनी साहूकारी को किसी तरह का बट्टा लगाना पसन्द नहीं करेगा। इसी प्रकार इस धर्म की दुकान का जिसके साधु लोग मुनीम कहलाने का दावा करते हैं। उनका कर्तव्य है कि वे त्यागमय भावना से अपनी दुकानदारी को कायम रखें। तात्पर्य कि अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये जो कि क्षणभंगुर है, उस के लिये जन्म भरके उपार्जित संयम चारित्र (पुण्यादि) को आँखो से ओझल करना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। इस लिये डट कर बैठे हुए हैं। ज्ञानी ने ज्ञान में जो देखा है सो ही होगा। ज्ञानी महाराज के इन वचनों का ख्याल करके "यद्भावी न तद्भावी भावी चेन्न तदन्यथा" के विचार हेतु श्री शासनदेव और सद्गुरु की कृपा से आज तक चारों ओर आग के शोले उठते रहे (सारा शहर चारों ओर से जल रहा है) परन्तु बचाव ही होता जा रहा है वे ही आगे को बचाव करेंगे। इसलिये किसी प्रकार की चिन्ता न करते हुए प्रभु के इस टकशाली वचन पर "भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न तु पौरुषं" में श्रद्धा रखनी चाहिये। भगवान श्री महावीर स्वामी जैसे को भी किये कर्मों का फल भोगना ही पड़ा था। तुम और हम चीज़ ही क्या हैं? इसलिये ज्ञानी महाराज के निश्चय और व्यवहार के वचनों पर ध्यान रखते हुए निश्चय को भी किसी समय स्थान देना योग्य समझा जाता है। चिन्ता न करना। साथ के सब साधुओं को सुखसाता है।

नगर सेठ तथा नानालाल भाई आदि श्रीसंघ को धर्मलाभ।

पू० पा० आचार्य भगवान की आज्ञा से लिखी सेवक समुद्र की सादर १००८ बार वन्दना। सब महात्माओं को वन्दना। कृपादृष्टि विशेष रखें। अपनी सुखसाता के समाचार भेजने की कृपा करते रहना जी।"

आप चौमासा तोड़ना नहीं चाहते थे. परन्तु आचार्य श्री विजयनेमि सूरि, आचार्य श्री विजयलब्धि सूरि, आचार्य श्री विजयललित सूरि, आचार्य श्री विजय उमंगसूरि, आदि अनेक आचार्यदेवों के, पदवीधर मुनिराजों के और भारत के सभी श्रीसंघों के तारों और पत्रों का तांता बन्धा रहा कि जैसे भी बने वैसे शीघ्र आप भारत पहुंच जावें। इन सब का तथा गुजरांवाला में

विद्यमान चतुर्विध संघ की परिस्थिति और सुरक्षा का एवं शास्त्राज्ञा का विचार करके अनिच्छा होते हुए भी आप ने यह अपवाद ग्रहण किया। और अमृतसर आ पहुंचे।[1]

आप के शिष्य पंन्यास विकासविजय (पश्चात् आचार्य विजयविकास सूरि) तथा इन के शिष्य मुनि हीरविजय जी भी लाहौर (पाकिस्तान) से पहले ही अमृतसर पहुंच चुके थे।

अमृतसर में पहुंचने के बाद मिति आसोज सुदि ६ वि० सं० २००४ को प्रवर्तनी साध्वी श्री देवश्रीजी का स्वर्गवास हो गया।

आप अपने मुनिमंडल के साथ तथा सब साध्वियाँ भी अमृतसर से विहार कर मिति चैत्र सुदि २ वि० सं० २००५ को बीकानेर पधारे।

आप ने बीकानेर से विहार कर राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र तक ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वि० सं० २००९ जेठ सुदि ५ को (२९ मई १९५२ ई० को) श्री गोड़ी जी के उपाश्रय बम्बई में प्रवेश किया। अनेकानेक जिनशासन प्रभावना के कार्य करते हुए वि० सं० २०१० गुजराती आश्विन वदि ११ को बम्बई में आप श्री का स्वर्गवास हो गया।

आप ने अपने प्रशिष्य श्री समुद्रविजय जी को आचार्य पद से अलंकृत कर अपना पट्टधर बनाया और शासननायक बनाकर विशेषकर पंजाब की सार संभाल करने का दायित्व सौंपा।

आप श्री के मृतक शरीर का भायखला बम्बई में दाह संस्कार करके चितास्थान पर श्री संघ ने भव्य समाधिमंदिर का निर्माण कर आप की पाषाण प्रतिमा प्रतिष्ठित की।

आप का शिष्य समुदाय

हम लिख आये हैं कि आप ने १७ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण करने से लेकर ८५ वर्ष की आयु में स्वर्गवास तक ६८ वर्ष की साधु अवस्था में लगभग आधा समय पंजाब में व्यतीत किया। आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की अन्तिम भावना को शिरोधार्य करके जीवन के अन्तिम क्षणों तक पंजाब की सारसंभाल की।

आप के १५ शिष्य थे—(१), मुनि श्री विवेकविजय जी, (२) आचार्य श्री विजयललित सूरि जी (३)उपाध्याय श्री सोहनविजय जी, (४) मुनि श्री विबुधविजयजी, (५) आचार्य श्री विजय विद्या सूरि जी, (६) मुनि श्री विचारविजय जी, (७) मुनि श्री विचक्षणविजय जी, (८) मुनि श्री शिवविजय जी, (९) मुनि श्री विशुद्धविजय जी, (१०) आचार्य श्री विजयविकासचन्द्र सूरि जी, (११) मुनि श्री विक्रमविजय जी, (१२) मुनि श्री दानविजय जी, (१३) मुनि श्री विशारदविजय जी, (१४) मुनि श्री बलवन्तविजय जी, (१५) मुनि श्री जयविजय जी। इस शिष्य समुदाय में अनेक प्रौढ़ विद्वान हो गये हैं। इन में से नं० २, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १४, १५ मुनिराज पंजाबी थे। इन में से आचार्य श्री विजयललित सूरि तथा उपाध्याय श्री सोहनविजय जी, आचार्य श्री विजय-विद्या सूरि, मुनि श्री विचारविजय जी, मुनि श्री शिवविजय जी, मुनि विशुद्धविजय जी, मुनि श्री जयविजय जी पंजाब में भी विचरे और जैनशासन की सेवाएं की हैं।

---

1. उस समय मात्र गुजरांवाला की ही भयावह स्थिति नहीं थी परन्तु सारे पंजाब और सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के सारे क्षेत्र की ही अत्यंत भयावह स्थिति थी।

मुनि श्री विवेकविजय जी गुजराती थे और दीक्षा लेने के पश्चात् पंजाब में विचरे नहीं। इन के शिष्य आचार्य श्री विजय उमंग सूरि रामनगर (पंजाब) के थे दीक्षा लेने के बाद पंजाब में नहीं आये और गुजरात में ही रहे। सब मुनिराजों का संक्षिप्त परिचय आगे लिखेंगे।

आप के शिष्य प्रशिष्य सैंकड़ों की संख्या में तथा आप की आज्ञानुवर्ती सैंकड़ों साध्वियाँ भारत में सर्वत्र विचर कर जैनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं।

आप के उपदेश से धर्मशालाओं का निर्माण

१. अंतरीक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ पर जैनधर्मशाला (सीरपुर-बरार)
२ जैनधर्मशाला कापरड़ा जी तीर्थ (राजस्थान)
३. श्री आत्मानन्द जैन पंजाबी धर्मशाला पालीताना (सौराष्ट्र)
४. श्री आत्मवल्लभ जैनधर्मशाला-किनारी बाजार दिल्ली
५. श्री आत्मवल्लभ जैनधर्मशाला-हलवाई बाजार अम्बाला शहर

आप के उपदेश से उपाश्रय निर्माण

१. श्री आत्मानन्द जैन उपाश्रय हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)
२. „ „ „ बड़ोदा (गुजरात)
३. „ „ „ सिनोर (गुजरात)
४. „ „ „ (जैनभवन) बालापुर (बरार)
५. „ „ „ महिला उपाश्रय—जंडियाला गुरु (पंजाब)
६. „ „ „ स्यालकोट (पाकिस्तान)
७. „ „ „ रायकोट (पंजाब)
८. „ „ „ पट्टी (पंजाब)
९. „ „ „ वसई (बम्बई के समीप)
१०. विशाल व्याख्यान भवन—थाना (बम्बई)
११. श्री आत्मानन्द जैन-उपाश्रय (आनंद भवन)—सामाना (पंजाब)

आप श्री की निश्रा में उपधान तप

१ बम्बई वि० स० १९७० लालबाग
२. बाली „ „ १९७६ राजस्थान
३. पूना सिटी वि० सं० १९८७ महाराष्ट्र
४. पालनपुर वि० सं० १९९० गुजरात
५. बड़ोदा वि० सं० १९९३ „
६. थाना वि० सं० २००९ बम्बई
७. घाटकोपर वि० सं० २०१० „

आचार्य श्री की निश्रा में छरी पालते यात्रा संघ

	वि० सं०
१. गुजरांवाला से रामनगर—लाला नरसिंह दास मुन्हानी	१९६२

२. दिल्ली से हस्तिनापुर (उत्तरप्रदेश) १९६४
३ जयपुर से खोगाम (राजस्थान) १९६५
४. राधनपुर से पालीताना (सौराष्ट्र) १९६६
५. बड़ौदा से कावी गांधार (गुजरात) १९६७
६. शिवगंज से केसरिया ऋषभदेव (राजस्थान) १९७६
७. दिनोज से गाभू (गुजरात) १९८४
८. फलोधी से जेसलमेर (राजस्थान) १९८६
१०-९. होशियारपुर से कांगड़ा (पंजाब) १९८०, १९९७
११. वेरावल से सौराष्ट्र की पंचायततीर्थी (ऊन, देलवाड़ा, दीव, अजार आदि बाद में पालीताना।

राजा-महराजा-नवाब आदि प्रतिबोधित

१. महाराजा हीरासिंघ नाभा (पंजाब)
२. ,, नादोद (गुजरात)
३. सयाजी राव गायकवाड़ ,,
४. संपत राव गायकवाड़ (बड़ौदा नरेश के भाई)
५. दौलतसिंह लीबड़ी (सौराष्ट्र)
६. ठाकुर बहादुर सिंघ पालीताना (,,)
७. महाराणा उदयपुर (राजस्थान)
८. महाराजा सैलाना (मध्यप्रदेश)
९. ,, जवाहरसिंह जेसलमेर (राजस्थान)
१०. नवाब साहब पालनपुर (गुजरात)
११. ,, मालेरकोटला (पंजाब)
१२. ,, मगरोल (गुजरात)
१३. ,, सचि
१४. ,, राधनपुर (गुजरात)
१५. ,, खंभात ,,
१६. दीवान साहब बड़ौदा (गुजरात)
१७. ,, भावनगर (सौराष्ट्र)
१८. ,, लीमड़ी ,
१९. ,, रतलाम (मालवा)
२०. ,, सैलाना (मध्यप्रदेश)
२१. ,, बांसवाड़ा
२२. ,, खंभात (गुजरात)
२३ ठाकुर साहब व दीवान नांदोद
२४. ,, खुडाला (राजस्थान)
२५. ,, बिजोवा ,,
२६. ,, वरकाणा ,,
२७. ,, बीजापुर ,,
२८. ,, नाना
२९. ,, बेड़ा
३०. महारानी बीकानेर (राजस्थान)
३१. , जम्मूतवी (काश्मीर)

देश नेताओं पर प्रभाव

१. श्री मोती लाल नेहरू (भारत के सर्व प्रथम प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू के पिता)
२. महामना पं० मदनमोहन मालवीय (हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के संस्थापक)
३ श्री वल्लभभाई पटेल (भारत सरकार के सर्वप्रथम गृहमंत्री)
४. श्री मणिलाल कोठरी जैन श्रावक (उच्चकोटि के स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी)
५. पं० श्री केदारनाथ
६. श्री मंगलदास पकवासा (भूतपूर्व गवर्नर बम्बई)
७. श्री मोरारजी देसाई (जनतापार्टी सरकार भारत के प्रधानमंत्री)

तीर्थ यात्राएं

१. श्री सिद्धाचल, २. श्री गिरनार, ३. श्री तारंगा हिल, ४. श्री आबू, ५ श्री अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ, ६. श्री मांडवगढ़, ७. श्री केसरिया ऋषभदेव, ८. श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ, ९. कांगड़ा, १०. भोयनी, ११. पानसर, १२. श्री कम्बोई, १३. श्री सेरिसा, १४. श्री उपरिआला, १५. श्री हस्तिनापुर, १६. श्री भोपावर, १७. श्री मेहरा, सौराष्ट्र और राजस्थान की पंचतीर्थियां अनेक तीर्थों की यात्राएं आप श्री ने मुनिमंडल के साथ कीं।

महोत्सव

१. आपका दीक्षा अर्धशताब्दी महोत्सव अंबाला शहर में वि० सं० २००५ में धूम-धाम से मनाया गया। २. दीक्षा हीरक महोत्सव वि० सं० २०१० में बम्बई में बड़ी धूमधाम से ३. जन्म हीरक महोत्सव वि० सं० २००१ में और ४. जन्म महोत्सव कार्तिक सुदि २ पंजाब के प्रत्येक गांव-नगर में तथा राजस्थान, बम्बई, बड़ौदा, बीकानेर, गुजरात आदि शहरों में प्रतिवर्ष मनाया जाता रहा है।

आचार्य श्री द्वारा जिनमंदिरों की प्रतिष्ठा तथा अंजनशलाका

नगर	वि० सं०	मिति	प्रतिष्ठा	मूलनायक
१. सामाना	१९७९	माघ सुदि ११	,,	शांतिनाथ
२. लाहौर	१९८१	मार्गशीर्ष सुदि ५	,,	ऊपर सुविधिनाथ नीचे शांतिनाथ
३. बिनौली	१९८३	जेठ सुदि ६	,,	शांतिनाथ
४. बड़ौत	१९९५	माघ सुदि ७	,,	शांतिनाथ
५. साढौरा	१९९६	मार्गशीर्ष वदि १०	,,	
६. खानकाहडोगरा	१९९९	फाल्गुन वदि ६	,,	शांतिनाथ
७. कसूर	१९९९	पोष सुदि १५	,,	ऋषभदेव
८. रायकोट	१९९९	वैसाख सुदि ६	,,	ऊपर सुमतिनाथ नीचे सुपार्श्वनाथ
९. होशियारपुर	१९९९	जेठ सुदि १३	,,	गौतमनगर में श्री विजयानन्द सूरि आदि की प्रतिमाएं
१०. फाजिलका	२००२	फाल्गुन सुदि २	,,	चन्द्रप्रभु
११. स्यालकोट	२००३	मार्गशीर्ष सुदि ५	,,	ऊपर शांतिनाथ चौमुख नीचे शाश्वतजिन ,, चारों दरवाजों के ताकों में शासन देवी देवता। एक ताक में मणिभद्र क्षेत्र-पाल एक वेदी में मुनि बुद्धि-

विजय जी, गणि मुक्ति-
विजय जी तथा आचार्य
श्री विजयानन्द सूरि जी
की धातु प्रतिमाएं।

१२. वि० सं० १९९५ में गुरु विजयानन्द सूरि के समाधिमंदिर की प्रतिष्ठा आचार्य श्री विजय कमल सूरि जी ने कराई।

आचार्य श्री का सम्मान

वि० सं० १९८१ से २०१० तक आपकी सेवा में लाहौर, अंबाला शहर, साढौरा, सामाना, मालेरकोटला, रायकोट, लुधियाना, होशियारपुर, फगवाड़ा, जालंधर शहर, जंडियाला गुरु, अमृतसर, गुजरांवाला, पपनाखा, जेहलम, पिंडदादनखाँ, खानकाहडोगरां, रामनगर, स्यालकोट, जम्मूतवी, नारोवाल, कसूर, फिरोजपुर छावनी, जीरा, जगरावां, शांकर, नकोदर, पट्टी, बीकानेर, बंबई आदि अनेक नगरों में प्रवेश के समय, जन्म, हीरक जयन्ति, और दीक्षा हीरक जयन्ति के अवसर पर लगभग ८० अभिनन्दनपत्र श्वेतांबर, दिगम्बर आदि जैनसमाजों, सभा सोसायटियों, संस्थाओं, विद्वानों तथा मुसलमान भक्तों एवं नगरपालिकाओं की तरफ से अर्पित किये गये।

कतिपय विशिष्ठ व्यक्ति

१. पुरातत्त्ववेत्ता श्री जिनविजय जी ने आपके समुदाय में मुनि श्री सुन्दरविजय जी से दीक्षा ग्रहण की। उच्चप्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् आपने जैनसाधु की दीक्षा का त्याग किया और गांधी जी के साबरमती आश्रम में पुरातत्त्व विभाग में साहित्य सेवा में जुट गये। तथा जैन साहित्य संशोधक त्रैमासिक पत्र निकाला। जर्मनी में जाकर वहाँ से पुरातत्त्व के विषय में विशेष योग्यता प्राप्त की। सिन्धी जैन ग्रंथमाला आदि अनेक संस्थाओ से उत्तम जैन ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन किया। दीक्षा छोड़ने के पश्चात् भी आप आचार्य जिनविजय के नाम से ही प्रख्यात रहे। आपको भारत सरकार ने सन् ईस्वी १९६१ में पदमश्री के पद से विभूषित किया।

२. आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी प्रवर्तक कांतिविजय जी के प्रशिष्य थे। आप ने पाटण, जेसलमेर, अहमदाबाद, बिकानेर आदि अनेक नगरों के जैन ग्रंथभण्डारों की हस्तलिखित प्रतियों की सूचियां (Cataloge) तैयार कर उन्हें सुरक्षित और व्यवस्थित किया। अनेक जैन ग्रंथों का आधुनिक शैली से संपादन और संशोधन कर प्रकाशित कराया। आप प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ थे। अनेक देशी-विदेशी स्कालर्ज को उनके शोधकार्यों में मार्गदर्शन करते थे। आप प्रतिदिन लगभग १८ घंटे इस कार्य में जुटे रहते थे। भारत सरकार द्वारा गठित प्राकृत सोसायटी के सभापति मनोनीत किये गये थे।

जिनशासन-रत्न आचार्य विजयसमुद्र सूरि

वि० सं० १९४८ मार्गशीर्ष सुदि ११ (ता० ११-१२-१८९१ ई०) के दिन पाली नगर (राजस्थान) में बीसा ओसवाल बागरेचा गोत्रीय सेठ शोभाचन्द्र जी की पत्नी सुश्री धारणीदेवी की कुक्षी से बालक का जन्म हुआ। बालक का नाम सुखराज रखा गया। वि० सं० १९६७

फाल्गुन वदि ७ के दिन १६ वर्ष की आयु में सुखराज ने सूरत (गुजरात) में आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि से तपागच्छीय जैनश्वेतांबर साधु की दीक्षा ली, नाम समुद्रविजय रखा गया और उपाध्याय सोहनविजय जी (आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के शिष्य) के शिष्य बनाये गये। फाल्गुन सुदी ५ को भरूच में आप की बड़ी दीक्षा पं० सिद्धिविजय जी (बाद में आचार्य) द्वारा सम्पन्न हुई। वि० सं० १९९४ मिति कार्तिक सुदी १२ के दिन आपको अहमदाबाद में गणि पद से विभूषित किया गया। इसी वर्ष मिति मार्गशीर्ष वदि ५ के दिन आप को अहमदाबाद में पंन्यास पद से अलंकृत किया गया। वि० सं० २००८ फाल्गुण सुदि १० के दिन बड़ौदा में आपको उपाध्याय पद प्रदान किया गया। वि० सं० २००९ माघ सुदि ५ (२० जनवरी १९५३ ई०) को थाना नगर (बम्बई) में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने आपको आचार्य पद से विभूषित कर अपना पट्टधर बनाया और पंजाब की सार-संभाल, धर्मरक्षा की ज़िम्मेवारी आप को सौंपी। वि० सं० २०३४ मिति जेठ वदि ८ को ८६ वर्ष की आयु में मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) में आपका स्वर्गवास हो गया। वहाँ आप के चितास्थान पर समाधिमंदिर का भव्य निर्माण कराया गया है।

विशेष ज्ञातव्य

१. आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के साथ ४० वर्षों तक सेवा में रहकर आपने उनके प्रत्येक कार्य में सहयोग दिया।

२. आचार्य श्री के सचिव के रूप में पत्र लेखन तथा अन्य सब कार्य आपके द्वारा ही सम्पन्न होते थे।

३. आपकी गुरुभक्ति भी अनन्य थी। गुरुदेव के वचन का पालन करने में राम और हनुमान का अथवा महावीर और गौतम गणधर का दृष्टांत दिया जा सकता है।

४. वि० सं० २००९ में थाना में आपको आचार्य पदवी देने के बाद गुरुदेव ने आप पर पंजाब की सेवा का उत्तरदायित्व डाला। तब बम्बई से गुरुदेव की भावना आप को साथ लेकर शीघ्र ही पंजाब जाने की थी। किन्तु बीमारी के कारण गुरुदेव की यह भावना पूरी न हो पाई। वे विहार अथवा उठने-बैठने से भी असमर्थ हो चुके थे। सख्त बीमार होते हुए भी गुरुदेव ने आप को पंजाब जाने की आज्ञा दी। परन्तु गुरुदेव को इस हालत में छोड़कर आप कदापि जाना नहीं चाहते थे। तथापि गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर आपने १० साधुओं के साथ पंजाब की ओर विहार कर दिया। रास्ते में अनेक श्रावकों तथा मुनियों ने कहा कि गुरुदेव के शरीर की अवस्था ऐसी है कि आपको उनकी सेवा में रहना चाहिये था। उनके पास रहना इस समय आपका परमावश्यक है। इसलिये आपको बम्बई से विहार नहीं करना चाहिये था। आपने सब को यही उत्तर दिया कि गुरुदेव की आज्ञा को टालना आगमविरुद्ध है। गुरुदेव की आज्ञा का पालन करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है। यद्यपि मेरी आत्मा गुरुदेव के चरणों में ही है, मेरा शरीर मात्र ही जुदा हो रहा है। गुरुदेव का आदेश पाते ही कठिन और लम्बा विहार करके भी मैं गुरुदेव की सेवा में बम्बई तुरत पहुंच जाऊंगा। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आप अपने साथी मुनियों के साथ बोरसद पहुंचे। वहाँ बम्बई से एक श्रावक सेवन्तीलाल आपके नाम गुरुदेव का पत्र लेकर पहुंचा। उसमें लिखा था—

"यह शरीर कमज़ोर है, तुम्हारी यहाँ जरूरत है"

छः साधुओं के साथ आपने बम्बई की तरफ़ तुरंत विहार कर दिया और लम्बा विहार करके थोड़े ही दिनों में गुरुदेव के पास आ पहुँचे। आते ही गुरुदेव की वैयावच्च में लग गये। बाकी के चार साधुओं—मुनि विचारविजय जी, मुनि प्रकाशविजय जी, मुनि वसन्तविजय जी, मुनि नन्दनविजय जी ने पंजाब की ओर विहार कर दिया। गुरुदेव के अंतिम श्वासों तक वि० सं० २०११ तक आप गुरुदेव की सेवा में ही रहे।

५. बम्बई में गुरुदेव के स्वर्गवास हो जाने के बाद आपने मुनिमंडल के साथ पंजाब की तरफ़ प्रस्थान कर दिया। गुरुदेव के बाद उनके पट्टधर के रूप में अब आपका स्वतंत्र कार्यक्षेत्र प्रारंभ होता है। गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान होते हुए आप वि० सं० २०१६ में जेठ सुदि ७ को आगरा नगर पधारे। यहाँ चतुर्मास करने के बाद आपने पंजाब की तरफ़ विहार किया।

६. बम्बई से विहार करने के बाद वि० स० २०१४ को नाडोल (राजस्थान) में मुनि दर्शनविजय जी (त्रिपुटी) के शिष्य मुनि वल्लभदत्तविजय ने आप से उपसंपदा ग्रहण कर आपका शिष्य कहलाने का गौरव प्राप्त किया। रास्ते में अनेक मंदिरो की प्रतिष्ठाए शिक्षणसंस्थाओं की स्थापनायें, साधु साध्वियो की दीक्षाएं आदि शासनप्रभावना के अनेक कार्य किये।

७. वि० सं० २०१६ के आगरा के चौमासे में रोशन मुहल्ला के उपाश्रय में आपके आदेश से आप की निश्रा में श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब के भूतपूर्व विद्यार्थियों का सम्मेलन हुआ। प्रधान प्रो० पृथ्वीराज जी तथा मंत्री श्री हीरालाल जी दुग्गड़ थे।

८. वि० सं० २०१७ चैत्र सुदि १ के दिन आपका मुनिमंडल के साथ लुधियाना पंजाब में प्रवेश हुआ। आठ वर्ष पंजाब में विचर कर वि० सं० २०२५ मे पुनः गुजरात की तरफ़ विहार कर गये और वि० सं० २०२६ जेठ सुदि ८ को आप भायखला बम्बई में पधारे। आपका चतुर्मास इस वर्ष गौड़ी जी के उपाश्रय पायधूनी बम्बई मे हुआ।

९. वि० सं० २०२७ मार्गशीर्ष वदि द्वादशी त्रयोदशी, चतुर्दशी (ता० २५, २६, २७ दिसंबर १९७० ईस्वी) को बम्बई में कलिकाल-कल्पतरु, अज्ञान-तिमिर-तरणि, पंजाबकेसरी, भारत-दिवाकर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की जन्मशताब्दी भारी समारोह पूर्वक मनाकर और अनेकानेक धर्मप्रभावना के कार्य करते हुए बम्बई से पूना, इन्दौर आदि होते हुए दिनांक ३० जून सन् १९७४ ईस्वी को आप श्री मुनिमडल सहित अखिल भारतवर्षीय श्री महावीर स्वामी २५सौवी निर्वाण महोत्सव समिति के निमन्त्रण पर दिल्ली पधारे। सरकार द्वारा गठित "अखिल भारतवर्षीय भगवान महावीर २५००वीं निर्वाण महोत्सव समिति" के सदस्य नियुक्त होने वाले आप एकमात्र जैन (श्वेतांबर मूर्तिपूजक) आचार्य थे। इस निर्वाण महोत्सव की दिल्ली प्रदेश समिति ने आपश्री का राष्ट्रीय सम्मान करने के लिये ऐतिहासिक स्वागत किया। लगभग १० किलोमीटर लम्बे जलूस के साथ आप श्री का बड़ी धूमधाम से नगरप्रवेश कराया गया। अखिल भारतवर्षीय श्री महावीर स्वामी पच्चीस सौवीं निर्वाण महोत्सव समिति के अखिल भारतीय स्तर पर इस महोत्सव को मनाने में आपने पूरा-पूरा सहयोग तथा मार्गदर्शन दिया। जिसके

परिणाम स्वरूप महोत्सव बड़ी सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। इस प्रकार आप राष्ट्रसंत के रूप में प्रख्यात हुए।

१०. जिनशासन रत्न पदवी

वि० सं० २०३१ का चतुर्मास आपने मुनिमंडल के साथ श्री आत्मवल्लभ जैनभवन रूपनगर दिल्ली में किया। इसी चतुर्मास में उत्तरभारत के श्री महावीर जैन युवकसंघ के तत्त्वावधान में आपके ८४ वें जन्म दिवस पर (ता० २५ दिसम्बर १९७४ ई० को) दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रांगण में महोत्सव मनाने का विशाल आयोजन किया गया। सारे उत्तरभारत के युवक तथा चारों (श्वेतांबर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी) समाजों के गण्य-मान्य व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए।

दिगम्बर समाज के सुप्रसिद्ध मुनि उपाध्याय (एलाचार्य) विद्यानन्द जी, विश्वधर्म-संगम के प्रणेता मुनि सुशीलकुमार जी स्थानकवासी, तेरापंथी मुनि राकेशकुमार जी, श्वेतांबर मुनि गणि जनक विजयजी, विदूषी साध्वी श्री मृगावती जी, जैनकोकिला साध्वी श्री विचक्षणश्री जी, स्थानकवासी साध्वी श्री प्रीतिसुधा जी इत्यादि अपने-अपने साधु-साध्वियों सहित इस अवसर पर गुरुदेव आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी को शुभ कामनाएं देने के लिये विशेष रूप से पधारे।

भारत सरकार के संचार मन्त्री श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने सभी युवकों को धर्म, समाज व राष्ट्र के प्रति निष्ठा व कर्तव्यों की शपथ दिलाई। उन्होंने ही जयनादों के मध्य गुरुदेव को 'जिन-शासन-रत्न' की पदवी की चादर ओढ़ाई। एक अन्य केन्द्रीय मन्त्री जगन्नाथ पहाड़िया तथा दिल्ली के मेयर श्री केदारनाथ साहनी ने गुरुदेव को इस युग का महान जैनाचार्य बतलाते हुए उन के शांतस्वभाव, समन्वय दृष्टि, राष्ट्र प्रेम एकता भाव व निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मौन एकादशी का दिन इतना महान था कि इसी दिन ईसाइयों का क्रिसमिस पर्व तथा मुसलमानों की ईद का पर्व था। आप के इस पदवी प्रदान के अवसर पर। युवकों द्वारा एकत्रित चौरासी हजार रुपये की धनराशी दिल्ली के निकट बनने वाले गुरु वल्लभ स्मारक के अन्तर्गत सदुपयोग हेतु श्री जैन श्वेतांबर संघ को भेंट की गई।

पदवी के लिए विचाराधीन नामों में "जिन-शासन-रत्न" नाम पंडित प्रवर श्री हीरा लाल जी साहब दुगड शास्त्री द्वारा सुझाया गया था। जो सर्वसम्मति से निर्णीत किया गया। युवकसंघ के तत्कालीन प्रधान श्री निर्मलकुमार मुन्हानी अंबाला, उपप्रधान श्री सुशील कुमार दुगड़ आगरा, महामन्त्री श्री महेन्द्रकुमार मस्त सामाना थे।

(११) यद्यपि आप एक विशेष जैनपरम्परा के धर्माचार्य थे तो भी आप श्री को राष्ट्र के प्रति अपार प्रेम था। १. भारत-चीन के युद्ध के अवसर पर आपने घोषणा की थी कि मैं पीड़ित भाइयों केलिए अपना रक्त देने केलिए तैयार हूं। यदि कोई क्षुद्र देवता विश्वशांति केलिए और युद्ध समाप्ति केलिए किसी मनुष्य की बलि चाहता हो तो सबसे पहले मैं अपनी बलि देने केलिए तैयार हूं। २. मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जब तक युद्ध बन्द न होगा तब तक मैं बैंड-बाजों आदि प्रदर्शन रूप सामग्री के साथ किसी भी गांव या नगर से प्रवेश न करूंगा। ३. तब तक खांड, मिश्री, गुड़ आदि मीठे पदार्थों से बने हुए किसी भी प्रकार के मिष्टान्न का खाने में प्रयोग नहीं करूंगा। चावलों का भी त्याग करता हूं।"

(१२) करुणानिधान आचार्य देव "यथा नाम तथा गुणः" की उक्ति के मूर्तरूप थे; क्षमा-शीलता, समता, सहनशीलता, कर्तव्य पारायणता, निराभिमानता, निश्छलता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे। आपके चरणों में पहुंचा हुआ कोई भी व्यक्ति कभी निराश नहीं लौटा।

(१३) गुरुवल्लभ की अन्तिम भावना 'समुद्र ! पंजाब अब तुम्हारे सहारे है, इस की सार-संभाल भले प्रकार से करना। गुरुदेव की इन भावनाओं को मूर्तरूप देने केलिए आप ने अपने जीवन की बाजी लगा दी। पंजाब के प्रत्येक नगर में आप ने विचरण किया जहां एक भी श्रावक का घर था वहां भी पधारे।

(१४) चारों संप्रदायों (श्वेतांबर, दिगम्बर, स्थानकमार्गी, तेरापंथ) द्वारा सभी प्रकार के मतभेद भुला कर आप के नेतृत्व में भगवान महावीर का २५ वां निर्वाण शताब्दी महोत्सव राष्ट्रीय स्तर पर मनाना मात्र जैन-इतिहास के पृष्ठों पर ही नहीं अपितु भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जावेगा। इस अवसर पर शासन प्रभावना के जो कार्य सारे देश में रचनात्मक हुए वे भी इतिहास के पृष्ठों पर सदा अमर रहेंगे।

(१५) स्वर्गस्थ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की यह उत्कट अभिलाषा थी कि चार-पांच पंजाबी युवक नरवीर मेरे संघाड़े में दीक्षित हों जो मेरे बाद पंजाब की धर्मबाड़ी को हरा-भरा रख सकें जिससे सद्धर्मसंरक्षक मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी तथा गुरु आतम की धर्मरक्षा की भावना सदा पल्लवित होती रहे। यह अभिलाषा उनके जीवनकाल में पूरी न हो सकी। परन्तु आप श्री ने लाला चिमनलाल जी नौलखा तथा उनके तीन बच्चों को, और लाला लालचन्द जी दुग्गड़ एवं उनके सुपुत्र को दीक्षाएं देकर गुरुदेव की अभिलाषा को पूर्ण किया। यद्यपि लाला चिमललाल जी के पुत्रों की अल्पायु होने से दीक्षा देने के लिए समाज के कुछ लोगों ने विरोध भी किया था, किन्तु आप मेरुवत दृढ़संकल्प रहे और दीक्षा देकर पंजाबकेसरी की भावना[1] को मूर्तरूप दिया। इस समय इन मुनियों की युवावस्था है और पंजाब की सार-संभाल के लिए उन्हें तैयार किया जा रहा है। इन के नाम हैं - १. मुनि श्री जयानन्द विजय जी, २. मुनि श्री धर्मधुरेन्द्र विजय जी, ३. मुनि श्री नित्यानन्द विजय जी, ४. मुनि श्री जयशेखर विजय जी। ५. मुनि श्री यशोभद्रविजय जी ये पांचों युवकमुनि बड़े होनहार हैं तथा ज्ञान-चारित्र सम्पन्न बनकर पंजाब के प्राण बन सकें, इसके लिए आचार्य श्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि पूरी-पूरी कोशिश कर रहे हैं।

(१६) पंजाब सरकार ने पंजाब के स्कूलों में विद्यार्थियों को खाने के लिए अण्डा योजना बनाई। इस योजना में सरकार की तरफ से बच्चों के खाने केलिए बिना मूल्य अण्डे वितरण करने का निर्णय किया। आपने पूरी दृढ़तापूर्वक इस योजना को समाप्त करने के लिए आन्दोलन किया और सरकार को यह योजना वापिस लेनी पड़ी।

(१७) आप हाथ के कते-बुने सूत के वस्त्र धारण करते थे। आप सचमुच गुणों के प्रशांत समुद्र थे। सांप्रदायिक कट्टरता से कोसों दूर थे। बेसहारों के सहारा थे। शरणागत के सच्चे संरक्षक थे। आप 'भाग्यशाली' कहकर सबको संबोधन करते थे। पंजाब में आने के बाद आप अन्तिम

1. देखें—आदर्श जीवन दूसरी आवृत्ति पृ० ५३४- "मुझे तो पांच-दस पंजाबी युवकों की जरूरत है। पंजाब की मेरी चिंता और जिम्मेदारी केलिये कोई चाहिये न। अन्त में उन्हें ही अपने वेश पंजाब की रक्षा करनी होगी।

समय तक इसी क्षेत्र में विचरते रहे। आप अपना अधिकतर समय आत्मचिन्तन, जाप-ध्यान में तथा मौन रखकर व्यतीत करते थे।

(१८) आपकी अपनी जीवन यात्रा के अन्तिम वर्षों में यह भावना थी कि उत्तरीभारत में जहाँ भी कोई जैन रहता है, वहाँ मैं अवश्य आऊंगा और उस की सारसंभाल लूंगा। यह भावना आपने-अपने अन्तिम श्वासों तक साकार करके दिखला दी।

मुनि सागरविजय

आचार्य विजयसमुद्र सूरि के बड़े भाई का नाम श्री पुखराज जी था। इन्होंने भी आपके दीक्षा लेने के कुछ वर्ष बाद दीक्षा ली। नाम मुनि सागरविजय हुआ और आप के गुरुभाई बने। मुनि जी का स्वर्गवास विजयसमुद्र सूरि के स्वर्गवास से बहुत वर्ष पहले हो गया था। आप बाल ब्रह्मचारी थे।

आचार्य विजयेन्द्रदिन्न सूरि

गुजरात प्रदेशांतर्गत बड़ौदा जिले में बोडेली के निकट सालपुरा गाँव में परमार क्षत्रिय रणछोड़ भाई गोपालसिंह के परिवार में वि० सं० १९८० कार्तिक वदि ९ को माता बालू बहन की कुक्षी से मोहनभाई का जन्म हुआ। बारह वर्ष की आयु में मोहनभाई के माता-पिता का देहांत हो गया। चाचा ने पालन-पोषण किया और पढ़ाया। स्कूल की शिक्षा के साथ जैनधार्मिक पुस्तकों का भी अभ्यास किया। वि० सं १९९८ फाल्गुन शुक्ला ५ को १८ वर्ष की आयु में मोहनभाई ने नरसंडा गाँव में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के पौत्र शिष्य मुनि विनयविजय जी से दीक्षा ग्रहण की और आपका नाम इन्द्रविजय रखा गया। आपकी बड़ी दीक्षा बिजोआ नगर में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य आचार्य श्री विजयविकाशचन्द्र सूरि जी द्वारा हुई।

आपने आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की सेवा में लगातार छह वर्ष रहकर जैनागमों, न्याय, व्याकरण, काव्य-साहित्य आदि नाना विषयों का प्राकृत-संस्कृत-गुजराती आदि भाषाओं में अभ्यास किया।

आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि का बम्बई में वि० सं० २०११ में स्वर्गवास हो गया। पश्चात् राष्ट्रसंत, जिनशासनरत्न शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी के साथ रहे। वि० सं० २०११ चैत्र वदि ३ को आपकी सूरत में गणि पदवी हुई। उसी समय मुनि जनकविजय जी व मुनि निपुनविजय जी को भी गणि पदवी मिली। मुनि कनकविजय जी को आचार्य पदवी दी गयी। बाद में आपने आचार्य विजयसमुद्र सूरि से उपसंपदा ग्रहण की और उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया।

आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी की आज्ञा से आप बोडेली क्षेत्र में पधारे। इस क्षेत्र में ५ वर्षों में आपने लगभग ५००० परमार क्षत्रियों को जैनधर्मी बनाया। ये सब लोग कबीर पंथी थे। इनमें से कई श्रावक-श्राविकाओं ने भागवती दीक्षाएं भी ग्रहण की हैं।

वि० सं० २०१८ में आप आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि के साथ पंजाब पधारे। वि० सं० २०१९ का चतुर्मास आपने आचार्य श्री के साथ दिल्ली में किया। चौमासे के बाद आप पुनः बोडेली पधारे और वहाँ के नये जैन परमार क्षत्रियों को दृढ़ संस्कारी बनाया।

वि० सं० २०२६ में स्व० आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के जन्म शताब्दी महोत्सव के अवसर पर आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी ने आपको बम्बई में बुला लिया और इस वर्ष का चतुर्मास भायखला बम्बई में आपने आचार्य श्री के साथ ही किया तथा जन्म शताब्दी महोत्सव को सफल बनाने के लिए आपने पूरा-पूरा सहयोग दिया। शताब्दी के बाद करली (बम्बई) में प्रभु प्रतिमा की प्रतिष्ठा के अवसर पर वि० सं० २०२७ माघ वदि ५ को आपको आचार्य पदवी से विभूषित किया गया।

पश्चात् आचार्य श्री की आज्ञा से आप पुनः बोडेली पधारे। वहाँ पुनः धर्मप्रचार करके परमार क्षत्रिय जैनों को धर्म का दृढ़ संस्कारी बनाया। आचार्यश्री ने बड़ौदा में आपको पुनः अपने पास बुला लिया और चतुर्मास भी उन्ही के साथ किया। पश्चात् विहार करते हुए पूना पधारे। चतुर्मास के बाद सब मुनिमंडल विहार करने वाला था कि श्री विजयसमुद्र सूरिजी एकदम सख्त बीमार हो गये। जीने की आशा छूट चुकी थी। तब अपनी ऐसी अस्वस्थ दशा को देखकर आचार्यश्री ने पोष सुदि ११ वि० सं० २०२८(ता० १३-१२-१९७१)की रात के समय मुनि वल्लभ-दत्तविजय द्वारा अपने समुदाय के समस्त साधु-साध्वियों को आदेश दिया कि—

"जिन्दगी का क्षण भर भी भरोसा नहीं रहा, इसलिये यह आज्ञा रूप से कहा जाता है कि (१) मेरे पश्चात् उपाध्याय, पंन्यास, गणिवर्य तथा मुनिमंडल व साध्वी मडल को चाहिये कि आचार्य श्रीमद् विजयइन्द्रदिन्न सूरिजी महाराज की आज्ञा का पालन करें। यह आज्ञा गुरुदेव (विजयवल्लभ सूरिजी) के समुदाय के जितने भी साधु-साध्वियाँ हो उन सबके लिये है। (२) पीली चादर धारण करते रहे। (३) संक्रान्ति मनाने का रिवाज चालू रखना। पंजाब में विचरें तब अथवा पजाबी भाई अन्य प्रांतों मे आवें तब जहाँ अपने साधु-साध्वियां विद्यमान हों उन्हें संक्रान्ति का स्मरण अवश्य करावें। सब साधु साध्वियां हिल-मिलकर मेलजोल के साथ सगे भाई बहनों के समान संगठित होकर रहे और गुरु महाराज के नाम को रोशन करे। यह सूचना पंजाब के लिये भी की जाती है।"

आशय यह है कि आपको विजयसमुद्र सूरिजी ने अपना पट्टधर घोषित कर चतुर्विध संघ को आपकी आज्ञा पालन करने और आपको पजाब की सार-सभाल करने का आदेश दिया।

गुरुदेव के स्वस्थ हो जाने पर सब मुनिराजो के साथ आपने भी पूना से पंजाब के लिये विहार कर दिया। वि० सं० २०३१ (वीर निर्वाण सं० २५०१) को महावीर निर्वाण २५वीं शताब्दी को महोत्सव मे आपने गुरुदेव का पूरा-पूरा साथ दिया। दिल्ली के इस चतुर्मास के बाद गुरुदेव और मुनिमंडल के साथ आप भी पंजाब मे पधारे और गुरुदेव के स्वर्गवास तक आप उन्हीं के साथ रहे।

श्री हस्तिनापुर में पारणा तथा कल्याणक मंदिर की प्रतिष्ठा

मुरादाबाद में गुरुदेव का स्वर्गवास हो जाने के बाद मुनिमंडल के साथ आपने आगरा के बालुगंज में चौमासा किया। चतुर्मास के बाद आप हस्तिनापुर पधारे वहाँ पर नवनिर्मित जैनमंदिर जिसमें श्री ऋषभदेव जी के वर्षीयतप के पारणे की प्रतिमाएं तथा श्रीशांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ तीनों तीर्थंकरों के चार-चार (च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान) कल्याणकों के तथा पारणे की घटनाओं के शिलापट्टों की प्रतिष्ठा वि० सं० २०३५ वैसाख सुदि ३ (आखा तीज) को की।

इस समय आपके साथ १६ साधु थे। प्रतिष्ठा विधिकारक चिमनलाल महासुखलाल अहमदाबाद से और इनके साथ संगीतकार जेठालाल भाई भी यहाँ आये थे। छोटी सादड़ी मेवाड़ से वैद्य पूनमचन्दजी नागौरी और जयपुर से धनरूपमलजी नागौरी भी प्रतिष्ठा विधिकारक रूप में आये थे। वे दोनों नागौरी सगे भाई हैं।

इस अंजनशलाका तथा प्रतिष्ठा महोत्सव में श्री ऋषभदेव के पांच कल्याणकों का विधिवत महोत्सव भी किया गया था। प्रभु का देवलोक से च्यवकर आना, माता का १४ महास्वप्नों को देखना, स्वप्नों का फल बतलाना, प्रभु का जन्म, चौसठ इन्द्र तथा छप्पन दिक्कुमारियों का जन्म-महोत्सव मनाने के लिये आना। प्रभु का जन्माभिषेक, राज्य सिंहासनारूढ़ होना, दीक्षा तथा निर्वाण महोत्सव आदि सब दृश्य नाटक के रूप में साक्षात् दिखलाये गये थे। इस प्रकार अनेक कार्यक्रम सम्पन्न हुए। यह सारा महोत्सव सोत्साह निर्विघ्न समाप्त हुआ।

भारतवर्ष में यह पारणामंदिर सर्वप्रथम स्थापित किया गया है और इसकी प्रतिष्ठा कराने का सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ है।

इस प्रतिष्ठा महोत्सव पर भारत के सब प्रदेशों के श्राविका-श्रावक आये थे जिनकी संख्या लगभग पांच हजार थी।

कांगड़ा तीर्थ पर नये मंदिर का निर्माण तथा तीर्थोद्धार

वि० सं० २०३५ का चतुर्मास महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी ने तीन शिष्याओं के साथ कांगड़ा किला की निकटवर्ती धर्मशाला में किया। कई शताब्दियों से यहाँ जैन साधु-साध्वियों का चतुर्मास नहीं हुआ था और यहाँ जैनों की बस्ती भी नहीं है। कांगड़ा किला में बहुत प्राचीन प्रतिमा श्री ऋषभदेव प्रभु की विराजमान है और वह सरकारी पुरातत्त्व विभाग के अधिकार में है। साध्वी जी के यहाँ चतुर्मास करने से इस प्रतिमा की पूजा प्रक्षाल का सरकार की तरफ से साध्वी जी के प्रयत्नों और प्रभाव से तथा श्री विजयसिंहजी नाहर कलकत्ता वालों के सहयोग से जैनसमाज को अधिकार प्राप्त हो गया। जैनश्वेतांबर धर्मशाला का नवनिर्माण हुआ और वि० सं० २०३५ माघ सुदि १२ तदनुसार ता० ६-२-१६७६ ई० को यहाँ आचार्य श्री विजय इन्द्रदिन्न सूरि द्वारा नये जैनश्वेतांबर मंदिर का शिलान्यास हुआ। जिससे इस अत्यन्त प्राचीन जैनतीर्थ का पुनरोद्धार हुआ। यह सारा श्रेय साध्वीजी महाराज को प्राप्त हुआ है। इस शिलान्यास के अवसर पर पंजाब से हजारों श्रावक-श्राविकायें तथा आचार्यश्री की निश्रा में बटाला से एक पैदल यात्रा संघ भी यहाँ आए थे।

क्योंकि विक्रम की १६वीं, २०वीं शताब्दी से पंजाब में जैनश्वेतांबर तपागच्छ के साधु-साध्वियां ही विचरणकर जैनधर्म का उद्योत कर रहे हैं अतः यहाँ पर उनकी पट्टावली दी जाती है।

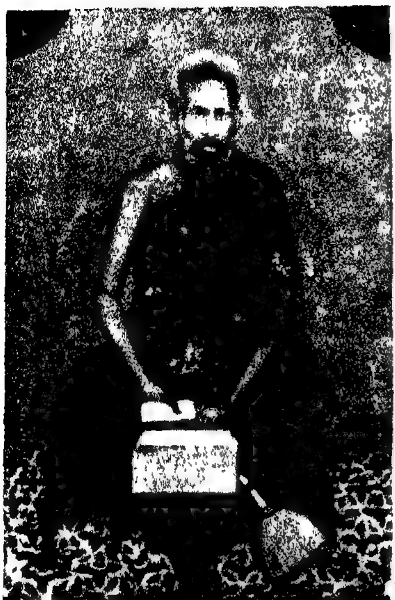
तपागच्छ पट्टावली

१. गणधर श्री सुधर्मास्वामी [निर्ग्रन्थगण गच्छ] भगवान महावीर के २० वर्ष बाद निर्वाण।

२. श्री जम्बूस्वामी (अंतिम केवली) प्रभु महावीर के ६४ वर्ष बाद निर्वाण हुआ।

३. श्री प्रभवस्वामी [भगवान महावीर के ७५ वर्ष बाद स्व०]

४. श्री शय्यंभव सूरि [भगवान महावीर के ६८ वर्ष बाद स्वर्ग०]
५. श्री यशोभद्र सूरि [वीरात् १४८ वर्ष स्व०]
६. श्री संभूतिविजय व भद्रबाहुस्वामी [अंतिम श्रुत केवली। वीरात् १७० स्व०]
७. श्री स्थूलिभद्र [१० पूर्व सार्थ, ४ पूर्व मूल के ज्ञाता, वीरात् २१५ वर्ष स्व०]
८. श्री आर्य सुहस्ति व श्री आर्य महागिरि [सम्प्रति मौर्य के धर्मगुरु—वीरात् २६१ सुहस्ति स्व० तथा वीरात् २४५ महागिरि स्व०]
९. श्री आर्य सुस्थित तथा आर्य सुप्रतिबद्ध [स्व० वीरात् ३३६—कोटिक गण प्रारंभ]
१०. स्थविर इन्द्रदिन्नसूरि [पंजाब के पेशावर प्रदेश में प्रश्नवाहणक कुल संस्थापक]
११. स्थविर दिन्नसूरि [आपके शिष्य शांतिश्रेणिक से पंजाब में उच्चनागरी शाखा की स्थापना]
१२. श्री आर्य सिंह सूरि [गर्दभिल्ल राजा के उच्छेदक कालिकाचार्य के समकालीन]
१३. श्री वज्रस्वामी [वज्रीशाखा संस्थापक अंतिम १० पूर्वी—वि० स० ११४ स्व०]
१४. श्री वज्रसेन सूरि [आपके समय में वि० सं० १३६ में दिगम्बर मतोत्पत्ति, वि० सं० १५० में स्वर्गवास]
१५. श्री स्थविर चन्द्रसूरि [वि० सं० १७३ स्वर्गवास-चन्द्रगच्छ स्थापना]
१६. श्री समन्तभद्र सूरि [वणवासी गच्छ]
१७. श्री वृद्धदेव सूरि
१८. श्री प्रद्योतन सूरि
१९. श्री मानदेव सूरि (प्रथम) [लघुशांति स्तव के रचिता]
२०. श्री मानतुग सूरि [भक्तामर स्तव रचयिता]
२१. श्री वीर सूरि [वि० स० ३०० में नागपुर में श्री नमिनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा की]
२२. श्री जयदेव सूरि
२३. श्री देवानन्द सूरि
२४. श्री विक्रम सूरि
२५. श्री नृसिंह सूरि
२६. श्री समुद्र सूरि
२७. श्री मानदेव सूरि (दूसरा)
२८. श्री विबुधप्रभ सूरि
२९. श्री जयानन्द सूरि
३०. श्री रविप्रभ सूरि
३१. ,, यशोदेव सूरि
३२. ,, प्रद्युम्न सूरि
३३. ,, मानदेव सूरि (तीसरा)
३४. ,, विमलचन्द्र सूरि
३५. ,, उद्योतन सूरि [बड़गच्छ]
३६. ,, सर्वदेव सूरि (प्रथम)
३७. ,, देव सूरि
३८. , सर्वदेव सूरि (दूसरा)
३९. ,, यशोभद्र सूरि
४०. ,, मुनिचन्द्र सूरि
४१. ,, अजितदेव सूरि [आपके समय में श्री जिनदत्त सूरि से खरतरगच्छ की स्थापना वि० सं० १२०४ में]
४२. ,, विजयसिंह सूरि
४३. ,, सोमप्रभ सूरि (प्रथम)
४४ ,, जगच्चन्द्र सूरि (हीरला) [तपागच्छ की स्थापना हुई]
४५. ,, देवेन्द्र सूरि [पांच कर्मग्रंथ कर्त्ता]
४६. ,, धर्मघोष सूरि
४७. ,, सोमप्रभ सूरि (दूसरा)
४८. ,, सोमतिलक सूरि
४९. ,, देवसुन्दर सूरि
५०. ,, सोमसुन्दर सूरि
५१ ,, मुनिसुन्दर सूरि
५२. ,, रत्नशेखर सूरि [आपके समय में वि० सं० १५३१ में लुकामत की उत्पत्ति]
५३. ,, लक्ष्मीसागर सूरि



उपाध्याय श्री लक्ष्मीविजय



आचार्य विजय कमल सूरि



पंन्यास जयविजय गणि



मुनि बसंतविजय



आचार्य कैलाशसागर सूरि



मुनि विशुद्ध विजय



मुनि हेमचन्द्र विजय मुनि यशोभ विजय



शिव विजय

५४. श्री सुमतिसाधु सूरि
५५. ,, हेमविमल सूरि
५६ ,, आनन्दविमल सूरि
५७. ,, विजयदान सूरि
५८. ,, जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरि [सम्राट अकबर प्रतिबोधक]
५९. ,, विजयसेन सूरि
६०. ,, विजयदेव सूरि [देवसूर संघ]
६१. ,, विजयसिंह सूरि
६२. ,, सत्यविजय गणि [आपके समय में वि० सं० १७०९ में लवजी नामक लुंकामति साधु ने ढूंढक मत की स्थापना कर सर्व प्रथम मुख पर मुंहपत्ति बांधी। आपने इसी वर्ष संवेगी साधुओं में पीली चादर का प्रचलन किया]
६३. ,, कपूरविजय
६४. श्री क्षमाविजय
६५. ,, जिनविजय
६६ ,, उत्तमविजय
६७. ,, पद्मविजय
६८. ,, रूपविजय
६९. ,, कीर्तिविजय
७०. ,, कस्तूरविजय
७१. ,, गणि श्री मणिविजय (दादा)
७२. , गणि श्री बुद्धिविजय [सद्धर्म संरक्षक]
७३. ,, न्यायांभोनिधि श्री विजयानन्द सूरि [वीरचन्द राघवजी गांधी को जैनधर्म के प्रचार के लिये अमरीका आदि विदेशों में भेजा]
७४. ,, विजयवल्लभ सूरि [पंजाब केसरी]
७५. ,, विजयसमुद्र सूरि [जिन शासन रत्न]
७६. ,, विजय इन्द्रदिन्न सूरि

आचार्य श्री विजयकमल सूरि

यति श्री रामलालजी उत्तरार्ध लौंकागच्छ के यति प्रतापचन्दजी के गुरुभाई थे। ब्राह्मण जाति में जन्म लेकर आपने सिरसा (पंजाब) में यति दीक्षा ग्रहण की और यहाँ की उत्तरार्ध लौंकागच्छ की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। आपने ऋषि बिशनचन्दजी से ढूंढक साधु की दीक्षा ली और परिग्रह के त्यागी बने। जब श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी ने १५ साधुओं के साथ ढूंढक मत का त्यागकर अहमदाबाद में मुनि श्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी से संवेगी दीक्षा ग्रहण की तब आप भी उन १६ साधुओं में एक थे। संवेगी दीक्षा लेने पर आपका नाम मुनि कमलविजय जी रखा गया और आपको मुनि श्री लक्ष्मीविजय (विशनचन्द) जी का शिष्य ही बनाया गया। आप आचार्य श्री विजयानन्द सूरिजी के साथ ही प्राचीन जैनधर्म के संरक्षण में जुट गये। आपको गुजरात में आचार्य पदवी दी गई, तब आपका नाम आचार्य श्री विजयकमल सूरि जी हुआ। आप श्री विजयानन्द सूरि के समाधिमंदिर की गुजरांवाला पंजाब में वि० सं० १९६५ में प्रतिष्ठा कराने के बाद पंजाब से गुजरात चले गये और पुनः पंजाब लौटकर नहीं आये। आपने अपने दो पट्टधर आचार्य स्थापित किये। वि० सं० १९८१ में अपने शिष्य मुनि श्री लब्धिविजय जी तथा उपाध्याय वीरविजय जी के शिष्य मुनि दानविजय जी को गुजरात में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके अपने पट्टधर घोषित किया। इन दोनों के नाम क्रमशः आचार्य श्री विजयलब्धि सूरि तथा आचार्य श्री विजयदान सूरि जी रखे। आपका शिष्य-प्रशिष्य परिवार गुजरात में ही विचर रहा है।

आचार्य श्री विजयललित सूरि

गुजरांवाला (पंजाब) नगरी के निकट पश्चिम दिशा में लगभग छह मील की दूरी पर मलड़ियांवाली नामक छोटे से गांव में स्वर्णकार श्री दौलतराम के घर वि० सं० १९३७ कार्तिक शुक्ला १ के दिन लक्ष्मणदास का जन्म हुआ। श्री दौलतराम वैष्णव धर्मानुयायी थे। इनके परम मित्र जैनश्रावक भगत लाला बुड्ढामल जी ओसवाल भावड़ा दूगड़ गोत्रीय थे। बालक लक्ष्मण की अल्पावस्था में ही इस के पिता का देहांत हो गया था। अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले ही उन्हों ने अपने मित्र भगत जी को बुला कर कहा कि 'भगत जी ! अब मैं संसार से विदा ले रहा हूं। यह मेरा इकलौता बेटा आप को धरोहर रूप में सौंपता हूं इसे संभालना। लक्ष्मण की माता का देहांत तो पहले ही हो चुका है। अब मेरा भी साया इसके सिर पर से उठ रहा है, अब यह तुम्हारा ही पुत्र है, इस अनाथ को सनाथ करो। इस का मानव जीवन सफल हो जावे ऐसा करना।" भगत जी बाल ब्रह्मचारी थे, आप की जिनेन्द्र भक्ति प्रशंसनीय थी। सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा आदि शुभ धर्म क्रियाओं को उत्साह पूर्वक करते थे। बालक लक्ष्मण भी धर्मक्रियाओं में रस लेने लगा।

वि० सं० १९५३ में श्री विजयवल्लभ सूरि जी (वल्लभविजय जी) पंजाब में गुजरांवाला नगर में विराजमान थे। भगत जी भी लक्ष्मण को साथ में लेकर गुरुदेव के दर्शनार्थ आये। उस समय उपाश्रय में व्याख्यान चल रहा था। धर्म अधर्म के स्वरूप का वर्णन हो रहा था। लक्ष्मण एक टक होकर एकाग्रतापूर्वक सुन रहा था। इस प्रकार अनेक दिनों तक व्याख्यान सुनता रहा। गुरुदेव की वाणी ने लक्ष्मण पर जादू का असर किया और संसार को असार जान कर गुरुदेव से भागवती जैनसाधु की दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

वि० सं० १९५४ वैसाख शुक्ला ८ के दिन आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने लक्ष्मण को उस की १७ वर्ष की आयु में नारोवाल जिला स्यालकोट में दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और नाम ललितविजय रखा।

दीक्षोपरांत मुनि ललितविजय जी ज्ञान साधना में लीन हो गये। आप ने संस्कृत में व्याकरण, काव्य, अलंकार, साहित्य, न्याय आदि विविध विषयों का अभ्यास किया। प्राकृत में व्याकरण, आगमों आदि, प्रकरणों में जीव विचार, नवतत्व दंडक, संग्रहणी, तीनभाष्य, कर्मग्रंथो आदि अनेक विषयों का अभ्यास कर ज्ञान में प्रौढता प्राप्त की।

पंजाब से लेकर बम्बई, पूना तक गुरुदेव के साथ तथा अलग विचर कर धर्मोपदेश, धर्मामृत से जनता जनार्दन का कल्याण करते रहे।

पदवी प्रदान

आप गुरुदेव के परमभक्त थे इस लिये वि० सं० १९८१ में श्री गुरुदेव को लाहौर में आचार्य पदवी, मुनि सोहनविजय जी को उपाध्याय पदवी दी गई, आप को गुरुभक्त की पदवी से अलंकृत किया गया। उस समय गुरुदेव लाहौर (पंजाब) में विराजमान थे और आप वीलेपार्ले (बम्बई) में विराजमान थे।

वि० सं० १९७५ में बाली नगरी (राजस्थान) में आप को पंन्यास पदवी से विभूषित किया गया।

मरुधर (मारवाड़-राजस्थान) में अनेक जैनशिक्षण संस्थाएं स्थापित कीं जिस से यह धरा साक्षर बनी। इस उपकार के उपलक्ष में वि० सं० १९९० वैसाख शुक्ला ३ गुरुवार को श्री बामणवाड़ा तीर्थ में आयोजित भारतवर्षीय पोरवाड़ महासम्मेलन में आप श्री को मरुधरोद्धारक एवं प्रखर शिक्षा प्रचारक की पदवी से विभूषित किया गया।

वि० सं० १९९१ वैसाख सुदि १० सोमवार को बीसलपुर गाँव (रेलवेस्टेशन जवाईबांध) में आप को उपाध्याय पद प्रदान किया गया।

वि० सं० १९९३ वैसाख शुक्ला ६ को पूज्य गुरुदेव की निश्रा में आप को आचार्य पदवी दी गई।

मंगलकार्य

१. वि० सं० १९६५ में गुजरांवाला (पंजाब) में सनातनधर्मियों के साथ शास्त्रार्थ के आह्वान पर श्री जैनश्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ की विजय प्राप्ति में पूर्ण सहयोग।

२. वि० सं० १९९१ वैसाख सुदि १० के दिन बीसलपुर में श्री धर्मनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा और अंजनशलाका।

३. वि० सं० १९९७ मार्गशीर्ष सुदि ११ को उम्मेदपुर (जिला जालोर राजस्थान) में श्री अमीझरा सहस्रफणा पार्श्वनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा व अंजनशलाका।

४. वि० सं० २००० में वरकाणा (राजस्थान) महातीर्थ में उपधान तप की आराधना आपके सानिध्य में हुई। इस अवसर पर दो दीक्षाएं भी हुईं।

५. वि० सं० २००३ मिगसर सुदी १३ को कालंद्री ग्राम (जिला सिरोही राजस्थान) में नवनिर्मित नमिनाथ भगवान के जिनालय की प्रतिष्ठा और अंजनशलाका आप ने कराई।

सरस्वती मंदिर

१. गुजरांवाला पंजाब में श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पजाब की स्थापना वि० सं० १९८१ माघ सुदि ५ के शुभ दिन आप के अपूर्व योगदान से बम्बई निवासी सेठ विट्ठलदास ठाकुरदास ने रुपया बत्तीस हजार की रकम आप की प्रेरणा से गुरुकुल केलिये दान में दी जिसके फलस्वरूप पूज्य गुरुदेव की सरस्वती मंदिर की स्थापना की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।

२. वि० सं० १९८७ मगसर सुदि १३ को उम्मेदपुर में गुरुदेव की सद्प्रेरणा से श्री पार्श्वनाथ जैन बालाश्रम की स्थापना की। वि० सं० १९९७ पोस वदि १० को इस बालाश्रम का फालना (राजस्थान) में स्थानान्तरण किया गया। इसका विकास श्री पार्श्वनाथ उम्मेद माध्यमिक विद्यालय एवं श्री पार्श्वनाथ उम्मेद महाविद्यालय के रूप में हुआ है। प्रारंभ में लोकमान्य श्री गुलाबचन्द जी ढढा M.A. संस्था के आनरेरी गवर्नर का इस की उन्नति में महान योगदान रहा।

३. महावीर जैन विद्यालय बम्बई में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने वि०सं० १९७१ में स्थापना की थी। गुरुदेव के पंजाब में पधार जाने के कारण कुछ विघ्नसंतोषी विरोधी तत्त्वों के प्रचार के कारण विद्यालय की स्थिति डाँवाडोल हो गई थी। पूज्य गुरुदेव की आज्ञा से इस विद्यालय के विकास और प्रगति के लिये होशियारपुर (पंजाब) से विहार करके आप तुरंत बम्बई पधारे। यहाँ के आपके दो चौमासों में अनेक जैन दानवीरों ने आप की प्रेरणा से लाखों रुपये विद्यालय केलिये दान में देकर उसकी जड़ों को सुदृढ़ किया।

४. श्री पार्श्वनाथ उच्च माध्यमिक विद्यालय वरकाणा (राजस्थान) के प्रतिपालक, पूज्य श्री विजयललित सूरि महाराज ने ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूमकर सदुपदेश दिया। फंड एकत्रित करवाया। अति परिश्रम से केवल ६ विद्यार्थियों से इस संस्था की वि० सं० १९६३ माघ सुदि ५ को स्थापना की।

ग्रंथ लेखन

१. महावीर सन्देश, २. श्री कुमारपाल चारित्र, ३. श्री हीरविजय सूरि चारित्र ४. श्री कल्पसूत्र का हिन्दी रूपांतर आदि।

कला प्रेम

संगीत साहित्य कला मर्मज्ञ, विविध राग-रागनियों का ज्ञान, मधुर कंठ स्वर, जब आप पूजा पढ़ाते थे श्रोता रस मग्न हो जाते थे।

प्रवचन कला

प्रभावकारी, व्याख्यान में विद्वता, सरलता तथा मधुरता का संमिश्रण। इस कला के कारण आप व्याख्यान वाचस्पति कहे जाते थे।

महाप्रयाण (स्वर्गवास)

वि० सं० २००६ माघ सुदि ६ खूडाल ग्राम में प्रातः ६-३० बजे आपका स्वर्गवास हो गया।

स्मारक

प्रातः स्मरणीय कलिकाल कल्पतरु, अज्ञान तिमिर तरणि, पंजाब केसरी, भारत दिवाकर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी के शिष्य, परम गुरुभक्त, मरुदेशोद्धारक, प्रखर शिक्षा प्रचारक, आचार्य श्री विजयललित सूरि के कलात्मक स्मारक का शिलान्यास वि० सं० २०३३ श्रावण सुदि १५ सोमवार की मंगल प्रभात में श्री पार्श्वनाथ उम्मेद माध्यमिक विद्यालय फालना के आंगन में मुनि वल्लभदत्त विजय के सानिध्य में हुआ।

आदर्शोपाध्याय श्री सोहनविजय जी

काश्मीर की सुप्रसिद्ध राजधानी जम्मू में ओसवाल श्वेतांबर जैनों की बस्ती तथा सद्धर्म संरक्षक मुनिश्री बुद्धिविजय (बूटेराय) जी द्वारा स्थापित श्री महावीर प्रभु का श्वेतांबर जैनमंदिर भी है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार होकर जिनशासन रत्न आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि द्वारा प्रतिष्ठा भी चार वर्ष पहले हो चुकी है।

१. काश्मीर के महाराजा सर प्रतापसिंह के दीवान ओसवाल कुलभूषण दूगड़ गोत्रीय लाला विशनदास जी जैन कुशल राज्य मंत्री हो गये हैं।

२. गुजरांवाला के लाला हरभगवान जी ओसवाल दूगड़गोत्रीय भी इसी महाराजा के प्राईवेट महकमें में उच्चाधिकारी थे।

इसी नगर के ओसवाल दूगड़ गोत्रीय लाला निहालचन्द जी की धर्मपत्नी उत्तमदेवी ने वि० सं० १९३८ माघ सुदी ३ को एक पुत्र को जन्म दिया। बालक का ाम बसंतामल रखा। इस की एक बड़ी बहन भी थी उस का नाम बसंतादेवी था। इस का विवाह जंडियाला गुरु ज़िला

उपाध्याय मोहनविजय जी द्वारा स्यालकोट (पंजाब) में श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ की स्थापना



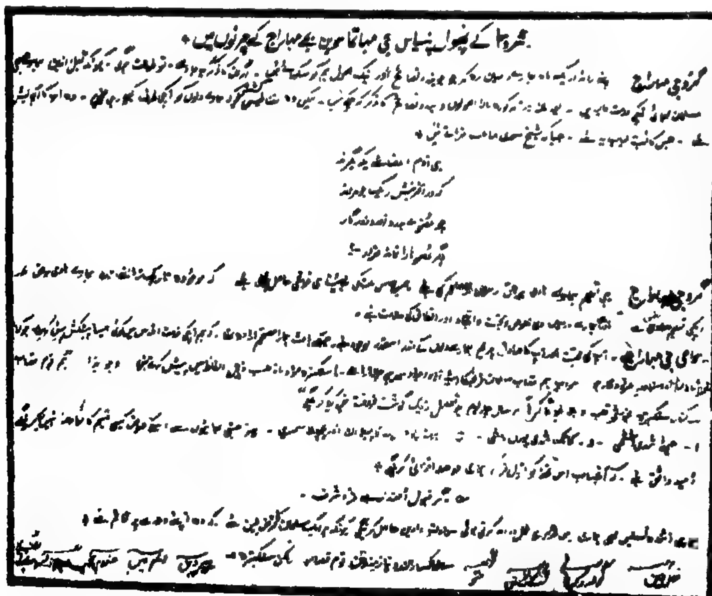
मुनि अनेकान्तविजय तथा उनके तीन बालपुत्रों की बड़ौत (मेरठ) में दीक्षा लेने के बाद का चित्र



उपाध्याय सोहन विजय जी को सनखतरा (पंजाब) के मुसलमान भाईयों की तरफ से दिया हुआ मानपत्र



उपाध्याय सोहनविजय जी को सनखतरा के कसाइयो की तरफ से दिया हुआ मानपत्र



अमृतसर में हुआ था। बसंतामल को अपने माता-पिता का सुख अधिक समय तक नहीं मिला क्योंकि उनका स्वर्गवास इस की छोटी अवस्था में ही हो गया था। अत: बसंत मल अपनी बहन के यहाँ चला गया।

बहनोई गोकलचन्द जी वहाँ स्टेशनमास्टर थे, उन्हों ने इस को स्कूल में पढ़ने के लिये बिठला दिया। थोड़े ही वर्षों में उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी आदि का अभ्यास कर लिया। शिक्षा प्राप्त करने के बाद तारघर में तार मास्टर की सरकारी नौकरी पर लग गये।

ढूंढक दीक्षा और उसका त्याग तथा संवेगी दीक्षा ग्रहण

बसंतामल का चित्त संसार से विरक्त हो गया। बालब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली। और विक्रम संवत् १९६० भादों सुदि १३ को २२ वर्ष की आयु में सामाना नगर में ऋषि गेंडारामजी से ढूंढक मत की दीक्षा ग्रहण कर उनके शिष्य बने। नाम ऋषि बसंतामल रखा। पर आप को यहाँ के आचार व्यवहार से संतोष न हुआ। मात्र चार मास इस सम्प्रदाय में रह कर आप ने इस मत के साधु वेश का त्याग कर दिया। अब आप श्वेतांबर मुनि वल्लभविजय (आचार्य विजयवल्लभ सूरि) जी की शरण में पहुंचे। पूज्य गुरुदेव ने बसंतामल को गुजरात-राजस्थान आदि के तीर्थों की यात्रा करने के लिये भेज दिया और कहा कि मेरे शिष्य मुनि ललितविजय इस समय गुजरात में ही विचर रहे हैं। वे तुम्हें दीक्षा दे देंगे और जैनदर्शन का अभ्यास भी करायेंगे तथा लघु बन्धु के समान तुम्हें अपने पास भी रखेंगे।

अम्बाला निवासी लाला गंगारामजी दूगड़ ने आपको मार्ग व्यय का सब खर्चा दिया और रेल द्वारा मार्ग में आने वाले सब तीर्थों की यात्रा करते हुए आप पाटण में प्रवर्तक श्री कांतिविजय जी के पास पहुंचे। उनके दर्शन करके आप भोयणी तीर्थ में विराजमान शांतमूर्ति मुनि श्री हंसविजय जी के पास पहुंचे। मुनि श्री ललितविजयजी भी यहीं थे। आपने गुरुदेव का पत्र उन्हें दिया।

मुनि श्री ललितविजय जी ने आपको अपने पास रखकर जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, संग्रहणी, कर्मग्रंथ, तीनभाष्य आदि प्रकरण ग्रंथो का अभ्यास कराया तथा व्याकरण, दशवैकालिक, साधु प्रतिक्रमण आदि साधुचर्या के ग्रंथों का भी अभ्यास कराया। भोयणी से विहारकर मुनिराज मांडल पधारे। यहाँ के संघ ने बसंतामल को यहीं दीक्षा देने का आग्रह किया। पर बसंतामल ने कहा कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं दीक्षा लेने से पहले देसाड़ा जाकर मुनिश्री शुभविजय जी (मुनिश्री ललितविजय जी के गुरुभाई) के दर्शन कर आऊं? आज्ञा पाकर आप देसाड़ा पहुंचे और दर्शन करके कृतकृत हुए। यहाँ के श्रीसंघ के आग्रह से मांडल से विहार कर मुनिश्री हंसविजय जी तथा ललितविजय जी देसाड़ा पधारे और वि० स० १९६१ वैसाख सुदि १० को बड़ी धूम-धाम से यहाँ बसंतामल जी को संवेगी दीक्षा दी गई। नाम मुनि सोहनविजय जी रखा गया और शिष्य श्री वल्लभविजय जी के बनाये गये। इस वर्ष का चतुर्मास मुनि श्री हंसविजय जी, ललितविजय जी आदि ठाणा १५ के साथ पालीताणा में किया। पश्चात् यहीं पर वि० सं० १९६१ मार्गशीर्ष वदि ६ को मुनि श्री संपतविजय जी ने आपको बड़ी दीक्षा दी।

अब श्री ललितविजय जी के साथ आपने पंजाब की तरफ विहार किया। वि० सं० १९६२ का चतुर्मास आपने जीरा में पूज्य गुरुदेव श्री वल्लभविजय जी के साथ किया तथा वि० सं० १९६५ तक पंजाब में गुरुदेव के साथ ही रहे। वि० सं० १९६६ का चौमासा गुरुदेव के साथ पालनपुर

गुजरात में किया। वि० सं० १९७२ तक आप गुजरात में ही तीर्थ यात्रा, शास्त्राभ्यास और योगोद्वहन करते हुए विचरे। आपका प्रवचन इतना प्रभावशाली होता था कि व्याख्यान हाल में जगह खिचाखिच भर जाती थी। कभी गुरुमहाराज के साथ और कभी अलग विचरते हुए आपने पाँच साधुओं के साथ श्री केसरिया ऋषभदेव की यात्रा कर उदयपुर में वि० सं० १९७५ का चौमासा किया।

समाज में क्रांति-समाज सुधार

१. इस चतुर्मास में जैनसमाज में अनेक प्रकार की कुरीतियों का सुधार हुआ। जैसे (१) समाज में वेश्यानृत्य बन्द किया गया। (२) बालविवाह, वृद्धविवाह तथा अनमेलविवाह को रोकने का प्रबन्ध किया गया। (३) यदि वृद्ध-युवा कोई भी मर जाता तो बिरादरी (पंचायत) को जीमन (मौसर) जिमाना पड़ता था, इस प्रथा को बन्द कराया। (४) समाज सेवा के लिये स्वयं-सेवक मंडल की स्थापना कराई। ये सारे कार्य आपके उपदेश और प्रयत्न से हुए।

२. चतुर्मास के बाद करेड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ की यात्रा के लिये पधारे। यहाँ पर आपके उपदेश से 'मेवाड़ तीर्थ कमेटी' की स्थापना हुई। उस समय इस कमेटी ने आपकी निश्रा में एक प्रस्ताव पास किया कि "करेड़ा तीर्थ में जो आमदनी हो उसका आधा भाग मेवाड़ प्रांत के जीर्ण मंदिरों के उद्धारार्थ खर्च किया जावे।"

३. वि० सं० १९७१ माघ सुदि ५ को शांतमूर्ति श्री हंसविजय जी महाराज की अध्यक्षता में श्री संपतविजय जी महाराज के पास भगवती सूत्र का आप ने योगोद्वहन किया। आप को रतलाम में पंन्यास और गणि की पदवी से अलंकृत किया गया। आज से आप पंन्यास सोहनविजय जी गणि के नाम से ख्याति में आये। यहां से विहार करके आप इन्दौर पधारे। यहाँ तपागच्छ के अनुयायियों में कई वर्षों से वैमनस्य चल रहा था। आप के उपदेश से वैमनस्य दूर होकर संघ में एकता-संगठन का प्रवेश हुआ। स्थानकवासी साधु, प्रसन्नचन्द्रजी के साथ स्थानक में एक पाट पर बैठकर आप दोनों ने धर्म प्रवचन किया।

४. वि० सं० १९७६ का चौमासा आप का बाली (राजस्थान) में हुआ। आपके उपदेश से यहाँ पर "नवयुवक मंडल" की स्थापना हुई। मुनि श्री ललितविजय जी, मुनि श्री उमंगविजय जी तथा मुनि श्री विद्याविजय जी को आप ने भगवती सूत्र का योगोद्वहन कराकर उन को मार्ग-शीर्ष सुदि ५ के दिन गणि व पंन्यास पदवी से अलंकृत किया।

यहां से विहार कर बीकानेर आदि होते हुए आप पंजाब पधारे। जीरा, पट्टी, जंडियाला गुरु, अमृतसर, लाहौर होते हुए आप गुजरांवाला पधारे और वि० सं० १९७८ का चौमासा वयोवृद्ध मुनि सुमतिविजय (बाबा) जी, मुनि श्री विबुधविजय जी व मुनि श्री विचक्षणविजय जी के साथ यहीं पर किया।

पंजाब में क्रांति का श्रीगणेश

(श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब की स्थापना)

जैनसमाज में कुछ बुरे रिवाजों और फिजूलखर्ची को देखकर हरेक समाजसुधारक को दिल में एकदम दुःख हुए बिना नहीं रह सकता। इस कुप्रथाओं के कारण समाज का मध्यमवर्ग पिस रहा था। जब तक इन को दूर करने का निश्चय न किया जावे तब तक समाज कभी

उन्नत दशा प्राप्त नहीं कर सकता। इस से आप को बहुत चिंता हुई और अपने मन में इन्हें सुधारने का दृढ़ संकल्प किया। इसी भावना को लेकर आप ने वि० सं० १९७८ जेठ सुदि ८ के दिन स्वर्गस्थ आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की स्वर्गारोहण तिथि के महोत्सव पर सारे पंजाब से गुजरांवाला में पधारे हुए श्रावक समुदाय को संगठित रूप से कुरीतियों को मिटाने के लिये आह्वान किया। उसी समय यहाँ पर सकल पंजाब जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ के संगठन रूप आप श्री द्वारा **"श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब"** की स्थापना की गई। इसी अवसर पर इसका प्रथम अधिवेशन गुजरांवाला में लाला मोतीलाल जी गद्दहिया-जौहरी (बुकसेलर) लाहौर वालों की अध्यक्षता में हुआ। अनेक प्रकार के कुरीति निवारक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किये गये, तथा एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि पंजाब में ओसवाल और खंडेलवाल, दसा और बीसा बिरादरियों (जैनसमाजों) में परस्पर बेटी व्यवहार (विवाह-शादी) करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित करके उसी समय दोनों समाजों में परस्पर बेटे बेटियों की सगाई की सकल संघ के समक्ष रसम करके इस प्रस्ताव को कार्यान्वित कर दिया। इन दोनो समाजों में पहले रोटी व्यवहार तो था पर विवाह-शादी नहीं होते थे। जो इस समय चालू कर दिये गये।

चतुर्मास समाप्त होने के बाद आप आदमपुर (द्वाबा) में पधारे। पूज्य गुरुदेव श्री वल्लभविजय जी, पंन्यास ललितविजय जी, पंन्यास विद्याविजय जी, मुनि श्री विचारविजय जी आदि मुनि समुदाय के साथ बीकानेर से विहार कर १२, १३ वर्षों के बाद पंजाब पधारे। आप भी अपने साथी मुनियों के साथ गुरुदेव के दर्शन कर कृत्यकृत हो गये और गुरुदेव के साथ ही पंजाब में सर्वप्रथम होशियारपुर में प्रवेश किया। कुछ समय गुरुचरणों में रहकर गुरुदेव की आज्ञा लेकर अपनी जन्मभूमि जम्मू की तरफ विहार किया। विहार करते हुए आप सनखतरा पहुंचे। यहाँ पर आप के व्याख्यान में कई मील की दूरी से चल कर सनखतरा के आस-पास के गाँवों से हिन्दू, सिख, मुसलमान, जैन आदि जनता भी आती। आप का व्याख्यान इतना रोचक और हृदयग्राही होता था कि सनखतरा जैन उपाश्रय के हाल में लोगों को जगह सकड़ी पड़ जाती थी। यहाँ के श्री मंदिर जी मे स्व० आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के चरणपट्ट की स्थापना आप ने जेठ सुदि १५ के दिन की।

आप के दयामय उपदेश से प्रभावित होकर **"कसाइयों के नेता मियाँ फजलद्दीन ने"** अपने कसाई के धंधे का ही त्याग कर दिया। सभा के समक्ष की हुई इस पुण्य प्रतिज्ञा का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ के अन्य सब कसाइयों ने भी जो सब मुसलमान ही थे, मिल कर प्रतिज्ञा की कि वर्ष भर मे चार दिन बिना कुछ बदले में लेने की भावना पूर्वक जब तक सनखतरा नगर कायम रहे तब तक सब दुकानें बन्द रखेंगे और जीवदया का पालन करेंगे। इस प्रतिज्ञा को लिखकर सब ने अपने हस्ताक्षरों सहित आप श्री को अपना प्रतिज्ञा पत्र अर्पण किया। वर्ष भर में जिन चार दिनों में सनखतरा के कसाइयों ने दुकानें बन्द रखने की प्रतिज्ञा की थी— वे चार दिन ये हैं—

१ आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी की स्वर्गवास तिथि-जेठ सुदि ८।

२. कार्तिक सुदि पूर्णमाशी का दिन।

३. भादों वदी १२ पर्यूषणा पर्व का प्रथम दिन।

४. भादों सुदि ४ पर्यूषणा पर्व का अन्तिम-संवत्सरी पर्व का दिन।

यहां के हिन्दुओं, सिक्खों, जैनों, मुसलमानों, कसाइयों ने आपको मानपत्र दिये।[1]

जब आपने सनखतरा से विहार किया तब सब नगरवासियों ने आप श्री को यहीं चतुर्मास करने की विनती की। लोगों की प्रार्थना को सुन कर आपने कहा कि मैं अभी तो कुछ कह नहीं सकता, जैसी गुरुमहाराज की आज्ञा होगी वैसा ही होगा।

सनखतरा से विहार कर आप नारोवाल पधारे। जेठ सुदि ८ को विजयानन्द सूरि का स्वर्गवास दिन बड़ी धूम-धाम से मनाया। इस अवसर पर पंजाब से लगभग १५०० नर-नारी आये थे। सनखतरा के सब कौमों के लोगों ने मिलकर आपको अपने यहां चतुर्मास करने की पुनः पुरजोर विनती की। यहां पर भी एक विशेष घटना का उल्लेख बड़ी दिलचस्पी दिलाने वाला करते हैं। एक अकाली सिख के यहां विवाह के अवसर पर उसने मेहमानों के खाने के लिए कुछ बकरे झटकाने के लिए बांध रखे थे। वह अकाली महोदय आपके व्याख्यान में प्रतिदिन आने लगा। उसके हृदय पर आपके व्याख्यान का ऐसा जादू का प्रभाव पडा कि उसने अपनी जाति के लोगों को कह दिया कि "मेरे हृदय में अब इतनी कठोरता नहीं रही कि जिससे मैं इन निरपराधी जीवों का केवल जीभ के स्वाद के लिए वध कर डालूं। यह काम अब मुझसे हरगिज न होगा ? बस फिर क्या था उन बेचारे मूक प्राणियों को अभयदान मिल गया। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में जहां-जहां भी आप विचरे वहां के अनेक लोगों ने विदेशी खाण्ड, विदेशी व रेशमी वस्त्रों का त्याग किया तथा शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों को पहनने का नियम लिया। सैकड़ों ने आजीवन मदिरा-मास का भी त्याग किया।

सनखतरे में चतुर्मास

गुरुदेव विजयवल्लभ सूरि उस समय अम्बाला शहर में थे। सनखतरे के हिन्दू, मुसलमान, कसाई, सिख, जैन आदि सब जातियों, समाजो, धर्मसम्प्रदायों के सज्जन यहां आये और गुरुमहाराज से आपके लिए सनखतरा में चतुर्मास करने की आज्ञा ले आये।

नारोवाल से विहार कर किला सोभासिंह पधारे। यहां पर लाला सदानन्द ओसवाल जैन द्वारा निर्मित देवविमान जैसे सुन्दर जैन श्वेतांबर मंदिर का दर्शन किया। यहां पर स्यालकोट निवासी स्थानकवासी लाला पन्नालाल जी ओसवाल जैन के उद्योग से आपका एक पब्लिक व्याख्यान हुआ, जिसका जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहां से विहार कर आप पुनः सनखतरा पधारे। यहां की सारी जनता ने आप का शानदार स्वागत किया। चतुर्मास कराने की अपनी भावना की सफलता के लिए यहां की जनता फूली नहीं समाती थी।

आपके व्याख्यानों की धूम मच गई थी। आस-पास के गावों के लोग भी प्रतिदिन कई मील पैदल चलकर सनखतरा में आपका व्याख्यान सुनने आते थे। आपके व्याख्यानों से यहां की जनता को बहुत लाभ पहुंचा।

शरारतबाजी

किन्तु विघ्न संतोषी लोग भी बीच में ही होते हैं। किसी मनचले व्यक्ति ने वहां के थानेदार को खबर दी कि सनखतरे में एक जैनसाधु ऐसा आया है जिसके व्याख्यान में हजारों स्त्री-पुरुष

1. कसाइयों और मुसलमानों ने उर्दू भाषा में आपको प्रतिज्ञापत्र-मानपत्र दिये थे उनके फोटो यहां दिये जाते हैं।

प्रतिदिन आते हैं। उसका व्याख्यान निरा पोलिटिकल होता है। आप को अवश्य उधर ध्यान देना चाहिए इत्यादि। फिर क्या था, इस रिपोर्ट के मिलते ही यहां के थानेदार ने गुप्तचर विभाग (खुफ़िया पुलीस-सी. आई. डी.) के एक व्यक्ति को व्याख्यान की डायरी नोट करने के लिए भेज दिया। वह लगातार आठ दिन व्याख्यान में आता रहा किन्तु यहां तो केवल धार्मिक उपदेश था। धर्म का आचरण करने, सच्चरित्र बनने, धर्म सम्प्रदायों की वाड़ाबंदियों से ऊपर उठकर परस्पर प्रेम भाव रखने, और प्रत्येक प्राणी (जीव) को अपनी आत्मा के समान समझने, मांस-मदिरा आदि सात कुव्यसनों को छोड़ने आदि पुण्यकर्मों का ही प्रतिदिन उपदेश दिया जाता था।

आप के उपदेश का उस गुप्तचर के हृदय पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। एक दिन उससे न रहा गया। वह सभा में उठकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर कहने लगा "महाराज! धन्य है आप को और धन्य है आपकी वाणी को। आपके उपदेशामृत का पान करते हुए मेरा हृदय गद्-गद् हो उठता है। परन्तु क्या करूं, इस पापी पेट की खातिर मैं आजकल खुफ़िया पुलीस में काम कर रहा हूं। आप कृपा करके मेरे जैसे अधम का भी उद्धार करें। मैं आया तो करता हूं आप की खुफ़िया तौर पर रिपोर्ट लिखने के लिए, क्योंकि यहां के किसी ने थाने में यह खबर भेजी थी कि यहां पर लोगों को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया जाता है। मगर मैंने यहां आकर आप की वाणी से आज आठ दिनों से जो कुछ सुना है उससे तो मैं उस व्यक्ति पर लानत दिए बिना नहीं रह सकता। पर इस बात की भी मुझे प्रसन्नता है कि इस रिपोर्ट लेने के बहाने से आकर मुझे आपके उपदेशामृत पान करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

थानेदार पर उपदेश का प्रभाव

सनखतरा स्यालकोट ज़िले में एक परगना था। एक दिन ज़िला स्यालकोट के थानेदार लाला लेखराज जी (क्षत्रिय) आप के पास आये। उनके साथ सनखतरे की नगरपालिका के प्रधान लाला अमीचन्द जी खंडेलवाल जैन भी थे। थानेदार साहब इस इरादे से आए थे कि देखें—यह साधु कोई पोलिटिकल आदमी है या कोई सच्चा महात्मा है? आपके साथ थानेदार साहब ने वार्तालाप शुरू की। परस्पर की बातचीत का थानेदार पर आप का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने आजन्म मांसाहार का त्याग कर दिया और आप के चरणों में नतमस्तक होकर अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहने का आशीर्वाद मांगा। इसके साथ ही लाला अमीचन्द जी ने भी आजन्म चमड़े का जूता न पहनने की अटल प्रतिज्ञा की।

विशेष उल्लेखनीय बात

इस चतुर्मास में सनखतरे में मुसलमानो के यहां एक पीर साहब (धर्मगुरु) आये। वे अपने अनेक शिष्यों के साथ आपके पास भी आये। आपके सारगर्भित उपदेश को सुनकर उसने विदेशी वस्त्रों, विदेशी खांड और मांस भक्षण के त्याग करने की भावना प्रगट की और कहा—"मैं खुदा को हाज़िर-नाज़िर जानकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपकी इस नसीहत का जरूर पालन करूंगा।" आपके यहां के इस चतुर्मास में अनेकों ने मांस-मदिरा, विदेशी खांड, कीड़ों से बना हुआ रेशम तथा विदेशी वस्त्रों का त्याग किया। इन सबके मन में ठस गया था कि दया रहित धर्म धर्म नहीं है। इस प्रकार वि. सं. १९७९ का सनखतरे का आपका चतुर्मास सानन्द सफल समाप्त हुआ।

जन्मभूमि जम्मू की तरफ विहार

चतुर्मास के बाद आप यहां से विहार कर काश्मीर की राजधानी जम्मूनगर में पधारे। यह आपकी जन्मभूमि थी। आपके दो शिष्य मुनि समुद्रविजय तथा मुनि सागरविजय भी सदा आपके साथ में थे। इस समय गुजरांवाला से पंन्यास विद्याविजय जी, मुनि विचारविजय जी भी यहां पधार गये थे। जम्मू के श्रावक लाला सांईदास तथा लाला वधावामल ने नवपद के तप की समाप्ति के उपलक्ष्य में उपधान किया। इस अवसर पर पजाब के लगभग सात सौ-आठ सौ श्रावक-श्राविकायें आये थे। प्रभु की रथयात्रा का जलुस बड़े ठाठ के साथ निकाला गया।

इस उद्यापन के अवसर पर आपने उपस्थित नर-नरियों के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक पंजाब में जैन गुरुकुल की स्थापना नही होगी तब तक केलिए मै आज से दूध, दही, घी, तैल, गुड़ तथा तली हुई (कढाही) वस्तु का त्याग करके सब विगयों को त्याग करता हूँ। अर्थात् उपर्युक्त छह विगयों के खाने-पीने का त्याग करता हूँ। तथा आज से अपने आहार पानी में मात्र पांच द्रव्य ही ग्रहण करूंगा। अन्य सब वस्तुओं के आहार-पानी का मेरा त्याग रहेगा।

एकता के लिए आह्वान

जम्मू के स्थानकवासी समाज के नेता लाला विशनदास जी दीवान तथा लाला काशीराम जी आपके पास आये। आपका दर्शन करने के बाद उन्होंने आपसे कहा—आज जब हिन्दू-मुसलमान एकता हो रही है, आर्या समाजी और सनातनी अब अपने मतभेदों को छोड़कर मिल रहे हैं तो जैनों के श्वेतांबर और स्थानकमार्गी दोनो समाजो मे भी एकता अवश्य होनी चाहिए।

आपने कहा—"यदि आप लोग सच्चे हृदय से मेल-मिलाप चाहते हैं तो इसके लिए मै पहल करने को तैयार हूँ। देखो! कल आप के साधु श्री मोतीलाल जी स्यालकोट से यहां पधारने वाले हैं। मैं अपने सब श्रावक-श्राविकाओं और अपने सब साधुओं के साथ उनको लेने से लिए सामने जाने को तैयार हूं। हमारे श्रावक उनका व्याख्यान भी सुनने आवेंगे, जब आप के साधु यहां से विहार करेंगे तो छोड़ने भी जावेंगे और आहार-पानी के लिए भी विनती करते रहेगे। इस बात केलिए मैं उन्हें प्रेरणा भी करूगा। इसी प्रकार जब कोई हमारे साधु-साध्वी भी यहां आवें तब आपके साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाएं उनके साथ भी वैसा ही सद्व्यवहार करें।

बस। अब आप भी इसी प्रकार अपने भाइयों को सूचना दे देवें कि जब कोई संवेगी (श्वेतांबरों-पुजेरों) का साधु-साध्वी आवे तब उन्हे लेने, पहुचाने, व्याख्यान वाणी सुनने आवें और जिनमंदिर में आकर प्रभुदर्शन भी करें। यदि आप लोगों की इच्छा हो तो मे आप के स्थानक में आकर भी आपको धर्मोपदेश सुनाने को तैयार हूँ। खासकर आप लोगों पर तो मेरा विशेष हक़ है।

आप की इस स्पष्ट घोषणा को सुनकर वे दोनों महाशय एकदम मौन हो गये। कुछ देर सोचने के बाद बोले कि ऐसा होना बड़ा कठिन है। हमारे साधु-महात्मा तो आपके इन विचारों से कदापि सहमत न होंगे। ऐसा कहकर वे उठकर चले गये।

कुछ दिन यहां स्थिरता के बाद आप स्यालकोट में पधारे। यहां स्थानकमार्गियों के लगभग पांच सौ घर थे। श्वेतांबरों के तो मात्र चार-पांच परिवार थे और वे भी अन्य नगरों से यहां आकर बसे थे। यहां पधार जाने पर लाला टेकचन्द भावड़ा गद्दहिया गोत्रीय स्थानकवासी गृहस्थ जो यहां की कांग्रेस के सेक्रेटरी थे, वह कांग्रेस की तरफ से आपका-पब्लिक व्याख्यान रामतलाई के मैदान में

कराने के लिए विनती करने आये। स्यालकोट में रामतलाई पर ही सार्वजनिक व्याख्यान हुआ करते थे। सब बड़े-बड़े देशनेता भी यहीं अपना भाषण देने आया करते थे। कांग्रेस के मंत्री महोदय की प्रार्थना को स्वीकार करके आपके दो पब्लिक व्याख्यान रामतलाई में हुए।

यहां पर स्थानकवासी साधु स्थानापति थे। आपकी भावना थी कि स्थानक में जाकर उनके साथ बैठकर दोनों संप्रदायों के साधु धर्मोपदेश दें। आपने स्थानकमार्गी समाज के दो नेताओं को बुलाकर अपनी भावना प्रकट की। परन्तु न तो साधुओं ने और न ही श्रावकों ने इस बात को स्वीकार किया। यहां आठ दिन रहकर आप विहार करते हुए वजीराबाद, गुजरात शहर, आदि नगरों में होते हुए जेहलम पहुंचे। वहां के संघ ने आपका शानदार स्वागत किया। आत्मानन्द जैन सभा की स्थापना की और एक पब्लिक व्याख्यान हुआ। कुछ दिन यहां ठहरकर आप पिंडदादनखां पहुंचे।

पिंडदादनखां का सौभाग्य

यहां श्वेतांबर जैनों के मात्र चार घर ही थे। यहां पधारने पर यहां के सब संप्रदायों ने मिलकर आपका भावभीना स्वागत किया। चार-पांच पब्लिक व्याख्यान आपके हुए। यहां पांच-छह हजार हिन्दुओं की आबादी थी। इनमें दो धड़े (तड़) पड़े हुए थे। यह धड़ेबन्दी इतनी जबरदस्त बन चुकी थी कि नित्य नये लड़ाई झगड़े होते रहते थे। आपके उपदेश से दोनों धड़ों में एकता हो गई। आपने अन्य भी अनेक छोटे बड़े झगड़ों का निपटारा किया। जैनों के चार घरों में भी मेल नहीं था, उनका भी मेल-मिलाप करा दिया।

परम पूज्य स्वर्गवासी आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के पूर्वज कलशां ग्राम में रहा करते थे। यह गांव पिंडदादनखां से लगभग तीन मील की दूरी पर था और अभी तक उन के कुटुम्ब के लोग यहां पर निवास करते थे। आप को वहां के लोगों ने भी कलशा पधारने की विनती की।

पिंडदादनखां से आप भेहरा पधारे। प्राचीन समय में श्वेतांबर जैनो की यहां आबादी थी। हम लिख आये हैं कि यहां (पंजाब में) श्वेतांबर जैनों को भावड़ा कहते थे। इस समय यहां जैनों का कोई घर नहीं था। उनके नाम से यहां भावड़ो का मुहल्ला अब भी विद्यमान था। इसी मुहल्ले में एक छोटा प्राचीन जैनमदिर भी उस समय था। यहा आप ने मंदिर के दर्शन किये। एक पब्लिक व्याख्यान भी हुआ। दो दिन की स्थिरता के बाद आप वापिस पिंडदादनखां पधारे और वहां से गुजरांवाला पधारे। वहां से विहार कर लाहौर होते हुए कसूर में पधारे और यहां पर जेठ सुदि ८ को स्वर्गवासी गुरुदेव की पुण्य तिथि मनाई और श्री विजयानन्द जैन श्वेतांबर कमेटी की स्थापना की। संघ में कुसप को मिटाया। फिर जंडियाला गुरु पधारे और वि०सं० १९८० का चौमासा यहीं किया। (१) आप की निश्रा में श्री आत्मानन्द जैन महासभा का तीसरा वार्षिकोत्सव यहीं पर हुआ। (२) लरायतीराम लोढ़ा ने नवपद ओलीतप की समाप्ति के बाद उद्यापन किया।

चौमासे के बाद जालंधर पधारे। अपने बड़े गुरुभाई श्री ललितविजय जी से स्नेह मिलन हुआ। पश्चात् श्री ललितविजय जी ने बम्बई जाने के लिये विहार किया और वहां से होशियारपुर में अपने गुरुदेव श्री वल्लभविजय जी की सेवा में जा पहुंचे। आठ दिन गुरु चरणों में रह कर राहों पधारे और रोपड़ होते हुए अंबाला शहर पधारे। गुरुदेव लाहौर पधार चुके थे आप भी विहार

करते हुए गुरुदेव के साथ लाहौर में जामिले और वि०सं० १९८१ का चौमासा लाहौर में गुरुचरणों में ही किया। इस चतुर्मास में श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब का अधिवेशन भी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

उपाध्याय पदवी का लाभ

श्री जैनसंघ पंजाब श्री विजयानन्द सूरि जी के स्वर्गवास हो जाने के बाद से ही इस कोशिश में रहा कि मुनि श्री वल्लभविजय जी को आचार्य पद से विभूषित कर स्वर्गवासी गुरुदेव का पट्टधर बनाया जावे। परन्तु अनेक बार प्रयास करने पर भी आप सदा इस पद को स्वीकार करने से इन्कार करते रहे। परन्तु पंजाबी भक्तों ने धैर्य नहीं छोड़ा। लगातार कोशिश करते ही रहे। आखिरकार लाहौर में वि०सं० १९८१ मार्गशीर्ष सुदी ५ के दिन प्रातःकाल ठीक ७ बजे सकल श्रीसंघ पंजाब ने आप को आचार्य पदवी से अलंकृत किया। आप के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही पंन्यास सोहनविजय जी गणि को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया।

गुजरांवाला में

लाहौर से विहार कर आप गुरुदेव के साथ ही गुजरांवाला में पधारे। यहाँ पर आचार्यश्री के प्रेरणादायक उपदेश और आप के अनथक शुभ प्रयत्न और गुरुभक्त श्री पंन्यास ललितविजय जी गणि आदि के सहयोग से विक्रम संवत् १९८१ माघ सुदि पंचमी को गुजरांवाला में श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब की स्थापना हुई।

गुरुकुल के प्रचार केलिये आपने गुरुदेव की आज्ञा से विहार किया। पसरूर, नारोवाल, सनसतरा होते हुए जम्मू पधारे। यहां एक मास की स्थिरता के बाद स्यालकोट पधारे। एक मास तक आप यहाँ विराजमान रहे और चैत्र सुदी १३ को भगवान महावीर की जयंति आप ने बड़ी धूम-धाम से मनाई। चैत्र शुक्ला १५ के दिन यहां के कई स्थानकमार्गी परिवारों ने आप से वासक्षेप लेकर श्वेतांबर धर्म को स्वीकार किया। जिन में (१) लाला नत्थुमल जी सुपुत्र लाला हरजसराय, (२) लाला लाभामल, (३) लाला खजानचीलाल बांठिया, (४) लाला अमरनाथ, (५) लाला सरदारीलाल, (६) लाला मेलामल चौधरी, (७) लाला लक्ष्मीचन्द, (८) लाला बिशनचन्द, (९) लाला देवीदयाल सुपुत्र लाला सरदारीलाल, (१०) लाला गोपालशाह, (११) लाला लद्धेशाह की पत्नी व पुत्र, (१२) लाला तिलकचन्द, (१३) लाला पालामल की धर्मपत्नी गुरुदेवी तथा उसका सारा परिवार, (१४) लाला जगन्नाथ, (१५) लाला बनारसीदास, (१६) लाला छोरी-लाल नाहर (१७) लाला मुनशीलाल, (१८) लाला देवराज मुन्हानी विशेष उल्लेखनीय हैं। तथा (१९) लाला रामलाल ज्ञानचन्द (पपनाखा वाले)(२०) लाला तुलसीदास (किलादीदारसिंह वाले), (२१) लाला मुलखराज (पपनाखावाले), (२२) लाला सरदारीलाल (जम्मूवाले) ये (नं० १९ से २२ तक) मूल श्वेतांबर जैनों के परिवारों को मिलाकर लगभग २५ परिवारों के श्वेतांबरसंघ की स्थापना कर श्री आत्मानन्द जैन सभा की स्थापना की।

स्यालकोट से विहार कर आप पुनः गुजरांवाला में गुरुदेव के चरणों में पधारे। यहां आकर नवपद ओली का आराधन प्रारंभ कर दिया। नवपद सिद्धचक्र की आराधना केलिये कपड़े पर नवपद मंडल का चित्र श्री हीरालाल जी दुग्गड़ से चित्रण कराया। वि०सं० १९८२ जेठ सुदि ५

को आप ने मौन व्रत धारण कर लिया । आयंबिल की तपस्या के साथ आप ने श्री नवपद जी सिद्धचक्र की आराधना भी चालू कर दी और आराधना की पूर्णाहूति कार्तिक सुदि ५ (ज्ञानपंचमी) के दिन की ।

अन्तिम चतुर्मास

वि०सं० १६८२ का चतुर्मास आप ने गुरुदेव के साथ ही गुजरांवाला में किया। यह आप का अन्तिम चतुर्मास था । आप का शरीर कृश होता गया । कार्तिक सुदी ११ से तो आप ऐसे अस्वस्थ हो गये कि उठ कर बैठने का भी सामर्थ्य न रहा । चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी आपने बड़ी कठिनाई से किया । यहाँ के संघ ने अच्छे-अच्छे वैद्यों-डाक्टरो से आप की चिकित्सा कराई किन्तु रोग बढ़ता ही गया । अन्त में मार्गशीष बदि १४ रविवार को दोपहर के ठीक ११बजे आपने स्वर्गलोक का रास्ता लिया ।

आपके चार शिष्य थे—(१) श्री मित्रविजयजी, (२) श्री समुद्रविजय (जिन-शासन-रत्न आचार्य विजयसमुद्र सूरि) जी, (३) मुनि सागरविजयजी, (४) मुनि रविविजयजी । इन चारों में से श्री समुद्रविजय जो, और मुनि सागरविजय जी ये दोनों अन्त समय में आपकी सेवा में रहे ।

अभिनन्दन पत्र

आपको पंजाब के अनेक नगरों में भिन्न-भिन्न धर्मानुयायियों ने मानपत्र दिए । उनमें से यहां कतिपय का नाम निर्देश किया जाता है ।

(१) सनखतरा निवासी कृष्णदत्त आदि विद्वद्जनों द्वारा संस्कृत में ।

(२) मुसलमानों के पीर साहब (धर्मगुरु) ने अपनी प्रतिज्ञाओं के नामनिर्देश वाला प्रतिज्ञापत्र उर्दू में ।

३ —सनखतरा के मुसलमान कसाइयों की तरफ से प्रतिज्ञापत्र, उर्दू में ।

४—सनखतरा के मुसलमान भाइयो की तरफ से मानपत्र, उर्दू मे।

५ —सनखतरा के निवासी कसाइयों की ओर से मानपत्र, उर्दू में ।

६—पिंडदादनखा के सब धर्मानुयायियों की ओर से मानपत्र, उर्दू में ।

इत्यादि अन्य भी अनेक मानपत्र, अभिनन्दन पत्र, प्रशस्तिपत्र आपको भेंट किए गए ।

आदर्श गुरुभक्ति

वि. स. १६६५ में गुजरांवाला में स्वर्गवासी आचार्य श्री विजयानन्दसूरि (आत्माराम) जी के समाधिमंदिर की प्रतिष्ठा होने वाली थी । इस अवसर पर यहां आचार्य विजयकमल सूरिजी उपाध्याय वीरविजयजी, मुनि लब्धिविजय (बाद में आचार्य विजयलब्धि सूरि) जी, मुनि ललितविजय (बाद में आचार्य विजयललित सूरि) जी आदि १३ साधु विराजमान थे । ढूंढियों के बहकाने-भड़काने से यहां के सनातनधर्मियों ने श्री विजयानन्द सूरि द्वारा रचित अज्ञान-तिमिर-भास्कर और जैन तत्त्वादर्श नामक ग्रंथों को असत्य ठहराने के लिए गुजरांवाला के श्वेतांबर जैनसघ से नोटिसबाजी शुरू कर दी । नगर का वातावरण अति क्षुब्ध हो उठा और खेंचाव ने भयानक रूप धारण कर लिया । यहां विराजमान सब श्वेतांबर मुनिराजों तथा श्रावकसंघ के दिलों में एक ही बात समा गई कि **'मुनि वल्लभविजय'** (आचार्य विजयवल्लभ सूरि) ही इस विवाद में विजय पाने में समर्थ हैं अतः

उन्हें यहां तुरत बुलाया जावे। उस समय गुरुदेव और आप उत्तर प्रदेश के जिला मेरठ के एक छोटे से गांव खिवाई में विराजमान थे। यह गांव गुजरांवाला से लगभग ४०० मील की दूरी पर है। गुजरांवाला के लाला जगन्नाथ ओसवाल (भावड़ा) मुन्हानी गोत्रीय जो 'नाजर' के नाम से प्रसिद्ध थे वे श्वेतांबरों की तरफ से शास्त्रार्थ संघ के मंत्री थे। आपको गुजरांवाला में बुलाने के लिए उसके साथ आचार्य श्री विजयकमल सूरि ने गुरुदेव के नाम खिवाई में बड़ा मार्मिक पत्र दिया। बिनोली वाले लाला मुसद्दीलाल प्यारेलाल के नाम तार और पत्र भी दिए कि वे मुनि वल्लभविजय जी को गुजरांवाला केलिए शीघ्र रवाना कर देवें। सब तारों और पत्रों का यही आशय था कि आप शीघ्रातिशीघ्र गुजरांवाला पहुंचे और इस भयावह स्थिति पर काबू पावें। गुरुदेव के साथ आप(मुनि सोहनविजय) भी चल पड़े। प्रतिदिन तीस-तीस, चालीस-चालीस मील का नंगे पांव नंगे सिर पैदल विहार करते हुए आप दोनों गुरु शिष्य जेठ मास की कड़कड़ाती गर्मी और धूप में जब धरती तवे के समान तपती थी, केवल धर्म की रक्षा के लिए थोड़े दिनों में गुजरांवाला में आ पहुंचे। विहार के कारण आप दोनों गुरु शिष्य के पांव सूज गए, छाले पड़ गये। मारे दर्द के धरती पर पांव रखते ही फोड़े के समान दुखने लगते तो भी गुजरांवाला पधारने पर विजयदेवी ने आपके चरण चूमे।

हमारे चारित्रनायक की अन्त तक यही भावना रही कि जैसे भी बने पंजाब के सब नगरों-ग्रामों में पहुचकर वहा की जनता जनार्दन में जैनधर्म की भावना जागृत की जावे। परन्तु आयु ने साथ न दिया।

वि. सं. १९७८ से १९८२ तक मात्र पांच वर्षों में पंजाब में जो-जो क्रांतिकारी समाज सुधार, जिनशासन की प्रभावना, अहिंसा धर्म के प्रचार आदि अनेक कार्यों को हमारे चारित्रनायक ने किस तन्मयता, दृढ़ता और उत्साह से किया इस बात का यह संक्षिप्त वर्णन पाठकों को आश्चर्यचकित करने वाला है। यदि आप कुछ वर्ष और जीते रहते तो पंजाब की काया पलटकर रख दी होती।

सार्वजनिक व्याख्यानों की सूची

आपके प्रत्येक स्थान पर सार्वजनिक भाषण होते रहे और उन्हें जनता बडी श्रद्धा और भाव-पूर्वक सुनती थी। यहां पर कतिपय सार्वजनिक (पब्लिक) व्याख्यानो के स्थलो का नाम निर्देश किया जाता है। आप के सब व्याख्यान राष्ट्र भाषा हिन्दी में ही होते थे।

बड़नगर, बदनावर, इन्दौर, उदयपुर, सोजत, जूनागढ़, सरदार शहर, डबवाली मंडी, फ़ाजलका बंगला, मुदकी, जीरा, पट्टी, जंडियाला गुरु, सनखतरा, गुजरांवाला, नारोवाल, जफ़रवाल, किला सोभासिंह, जम्मू, स्यालकोट, जेहलम, पिंडदादनखां, रामनगर, हाफिजाबाद, लाहौर, लुधियाना, टांडा, उरमड़, मियानी, पसरूर, सामाना, पालेज, इत्यादि अनेक नगरों में आपने सार्वजनिक व्याख्यान दिए थे।

चतुर्मास विवरण

विक्रम संवत्	स्थान	प्रदेश	विक्रम संवत्	स्थान	प्रदेश
१—१९६१	पालीताना	सौराष्ट्र	५—१९६५	गुजरांवाला	पंजाब
२—१९६२	जीरा	पंजाब	६—१९६६	पालनपुर	गुजरात
३—१९६३	लुधियाना	,,	७—१९६७	बड़ौदा	,,
४—१९६४	अमृतसर	,,	८—१९६८	भरुच	,,

९—१९६९	डभोई	गुजरात	१६—१९७६	बाली	राजस्थान
१०—१९७०	बम्बई	महाराष्ट्र	१७—१९७७	बीकानेर	"
११—१९७१	रतलाम	मालवा	१८—१९७८	गुजरांवाला	पंजाब
१२—१९७२	बदनावर	मालवा	१९—१९७९	सनखतरा	"
१३—१९७३	वेरावल	सौराष्ट्र	२०—१९८०	जडियाला गुरु	"
१४—१९७४	बम्बई	महाराष्ट्र	२१—१९८१	लाहौर	"
१५—१९७५	उदयपुर	राजस्थान	२२—१९८२	गुजरांवाला	"

कुल चौमासे २२—	सौराष्ट्र	पंजाब	गुजरात	बम्बई	राजस्थान	मालवा
	२	९	४	२	३	२

आचार्य विजयप्रकाशचन्द्र सूरि

वि. सं. १९६८ मिति फाल्गुण सुदि ३ बुधवार (ता० २१-२-१९१२) को सिरोही जिलांतर्गत जाडोली गांव में पोरवाड़ सुमतीदेवी की कुक्षी से पिता ताराचन्द के घर बालक का जन्म हुआ। माता-पिता ने बालक का नाम हजारीमल रखा। युवावस्था होने पर बम्बई में जाकर ३२ वर्ष की आयु तक व्यवसाय किया। वि. सं. २००१ चैत्र बदी ६ के दिन पालीताना में श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य श्री ललितविजय जी के शिष्य मुनि प्रभाविजय अपर नाम पूर्णानन्दविजय जी से दीक्षा ग्रहण कर उन्हीं के शिष्य बने। नाम मुनि प्रकाशविजय जी रखा गया। वि. सं. २००६ तक जीव विचार आदि चार प्रकरण, तीन भाष्य, कर्मग्रंथों आदि का अभ्यास किया। वि. सं. २००६ में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि ने अलग चौमासा करने की आज्ञा दी।

वि. सं. २००७ चैत्रमास में पालीताना में गाव सिलदर निवासी नथमल को दीक्षा दी और अपना पहला शिष्य बनाया। नाम मुनि नन्दनविजय रखा। नथमल विवाहित था सारे परिवार को त्यागकर वैराग्यपूर्ण भावों से दीक्षा ग्रहण की। तपस्या तथा जाप की अधिक रुचि है आजकल हस्तिनापुर तीर्थ में श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम में स्थानापति हैं। बड़ी दीक्षा भी पालीताना में हुई।

वि. सं. २००८ में गौड़ी जी के उपाश्रय बम्बई में अहमदाबाद निवासी रमणलाल को दीक्षा दी नाम निरंजनविजय रखा। बड़ी दीक्षा थाना (बम्बई) में दी। यह आपका दूसरा शिष्य हुआ।

इसी अवसर पर थाना में प्रकाशविजय जी के संसारी भतीजे पुखराज ने आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि से दीक्षा ली। नाम पद्मविजय रखा गया और शिष्य मुनि प्रकाशविजय जी का बनाया। बड़ी दीक्षा भी थाना में हुई।

आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की प्रेरणा से वि. सं. २००९ को नन्दनविजय और पद्मविजय को साथ में लेकर तथा दादा गुरुभाई प्रशांतमूर्ति मुनि श्री विचारविजय तत् शिष्य वसंतविजय जी के साथ प्रकाशविजय जी ने पंजाब की तरफ़ विहार किया। चौमासा पालेज (गुजरात) में किया। यहां श्री आत्मानन्द जैनज्ञानभंडार की स्थापना की।

वि. सं. २०१० का चौमासा किनारी बाजार दिल्ली में किया। आप पांच साधु इस समय थे प्रशांतमूर्ति मुनि श्री विचारविजय जी, मुनि वसंतविजय जी, मुनि प्रकाशविजय जी, मुनि नन्दन विजय जी, मुनि पद्मविजय जी।

इसी चतुर्मास में मुनि श्री विचारविजय जी की हृदयगति बन्द हो जाने से दिल्ली में स्वर्गवास हो गया।

चौमासे उठे मुनि प्रकाशविजय जी ने अपने तीन साधुओं के साथ पंजाब की तरफ विहार किया।

पंजाब में शासन सेवाकार्य

वि. सं. २०११ का चतुर्मास सामाना में किया और यहा के उपाश्रय का जीर्णोद्धार कराया।

वि. स. २०१२ में मालेरकोटला गये। वहां से विहार कर अम्बाला शहर में चतुर्मास किया। यहां पर व्याख्यानदिवाकर, विद्याभूषण, न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी स्नातक पंडित श्री हीरालाल जी दूगड़ से तत्त्वार्थ सूत्र का दिगम्बर-श्वेतांबर टीकाओं के साथ तुलनात्मक अभ्यास किया और दूगड़ जी की प्रेरणा से ही पंजाब और उत्तरप्रदेश के क्षेत्रों में जिनशासन की प्रभावना का निश्चय किया।

वि. सं. २०१३ में जंडियाला गुरु में चतुर्मास किया। पश्चात् होशियारपुर में लाला रतनचन्द रिखबदास ओसवाल भावड़ा गद्दहिया गोत्री ने उपधान तप कराया।

वि. सं. २०१४ में लुधियाना में चतुर्मास और युवकों को संगठित होने की प्रेरणा दी।

वि. सं. २०१५ में चौमासा पट्टी में और उपधान तप की आराधना कराई।

वि. सं. २०१६ में चौमासा लुधियाना में किया।

वि. सं. २०१७ में चौमासा अम्बाला में। पर्यूषणापर्व की आराधना अपने उपाश्रय में श्वेतांबरों और स्थानकवासियों दोनो को शामिल मे उनकी अपनी-अपनी आम्नाय से कराई।

पश्चात् हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा की।

कई शताब्दियों के बाद वि. सं. २०१८ का चौमासा मुनि वल्लभदत्तविजय, मुनि नन्दनविजय, मुनि पद्मविजय आदि के साथ हस्तिनापुर में आपने ही किया।

इस चतुर्मास में आपने हस्तिनापुर में निम्न प्रकार योजनाए बनाई।

(१) उपधान तप कराया।

(२) उत्तरप्रदेश (यू. पी.) के श्वेतांबर संघ को सगठित करके श्री श्वेतांबर जैन महासभा उत्तरप्रदेश की स्थापना की।

(३) श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम की स्थापना तथा उसकी बिल्डिंग निर्माण कराने की योजना बनाई।

(४) श्री आत्मानन्द जैन उच्चतर माध्यमिक स्कूल की स्थापना तथा उसकी बिल्डिंग निर्माण कराने का निर्णय किया।

(५) श्री शांतिनाथ भगवान के समवसरण की स्थापना का निर्णय किया।

(६) खरतरगच्छ दादावाड़ी की एक पार्क में स्थापनाएं करना।

वि. सं. २०१९ का चौमासा लुधियाना में। चतुर्मास के पश्चात् विहार कर बड़ौत पधारे। वहां वर्धमान जैन शिक्षण समिति की स्थापना करके कन्याओं केलिए सिलाई शिक्षण पाठशाला की स्थापना।

इसी संवत् में माकड़ी(उत्तरप्रदेश)के खरतरगच्छ जैन श्वेतांबर मंदिर का जीर्णोद्धार कराया।

२०२० वि. सं. चौमासा चांदनी चौक दिल्ली, २०२१ चौमासा कलकत्ता, २०२२ ऋषिकेश,

२०२३ चौमासा हस्तिनापुर में, २०२४ चौमासा लुधियाना में, वि. सं. २०२५ आचार्य श्री विजय समुद्रसूरि के साथ बीकानेर में किया और आचार्य श्री द्वारा गणि पद की प्राप्ति की। वि. सं. २०२७ में चौमासा आचार्यश्री के साथ वालकेश्वर (बम्बई) में। वरली (बम्बई) में आचार्य श्री द्वारा मुनि प्रकाशविजय तथा मुनि सुरेन्द्रविजय जी को उपाध्याय पद प्राप्ति। तथा मुनि बलवंतविजय, मुनि जयविजय को आचार्य श्री द्वारा पंन्यास व गणि पदों की प्राप्ति। एवं पूना में जसराज को दीक्षा देकर अपना चौथा शिष्य बनाया। नाम प्रवीणविजय रखा। इसको बड़ी दीक्षा अंधेरी में दी।

वि. सं. २०२८ का चौमासा मलाड़ में, २०२९ का चौमासा झाडोली (अपनी जन्म नगरी) में किया।

वि.सं. २०३० का चौमासा हस्तिनापुर में। उपधान तप कराया। श्री ऋषभ-विहार वृद्धा-श्रम की स्थापना की। श्री विजयानन्दसूरि तथा श्री विजयवल्लभसूरि जी के स्टेच्यु उच्चतर माध्यमिक स्कूल के सामने अगल-बगल, में आमने-सामने अलग-अलग छत्रियों में स्थापित किये। विद्यालय की दक्षिण दिशा में विद्यालय की बाऊंडरी के अन्दर ही एक अलग कमरे में श्री ऋषभदेव तथा श्रेयांसकुमार वर्षीय तप का पारणा करने कराने की दो प्रतिमाओं की स्थापना कराई।

वि. सं. २०३१ में कंपिला जी के मंदिर का जीर्णोद्धार कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई।

वि. सं. २०३१ में श्री हस्तिनापुर में अपने गुरु श्री पूर्णानन्द सूरि से वासक्षेप मंगवा कर आचार्य पद प्राप्त किया नाम विजयप्रकाशचन्द्र सूरि हुआ।

वि. सं. २०३१ का चौमासा किनारी बाजार दिल्ली में। पश्चात् इलाहाबाद के मंदिर की प्रतिष्ठा, इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराने के बाद—वि, सं. २०३२ का चौमासा अम्बाला शहर में। चौमासे के बाद अपने गुरु आचार्य पूर्णानन्द सूरि से मिलने के लिए राजस्थान की ओर विहार किया। सोजत में अभी सात मील पहुंचने में बाकी थे कि रास्ते में ही हृदयगति का अवरोध हो जाने से आपका स्वर्गवास हो गया। आपके मृतक शरीर का दाहसंस्कार सोजत में किया गया। उस समय पूर्णानन्द सूरि आपके स्वर्गवास होने के स्थान से २२ मील की दूरी पर विराजमान थे।

अन्य कार्य

(१) मेरठ से हस्तिनापुर का छरी पालता संघ निकाला। वि० सं० २०१७ में।

(२) फ़रुखाबाद, लखनऊ, पुरिमताल (इलाहाबाद), कौशांबी, माकड़ी कंपिला जी आदि अनेक जीर्णशीर्ण अवस्था में पड़े जैनमंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और उन मंदिरों की सुन्दर व्यवस्था कराई। मंदिरों के साथ जो जमीनें थीं, उनपर लोगों ने अनधिकार कब्जे कर रखे थे। उन जमीनों से उनके अधिकार समाप्त कराकर मंदिरो के ट्रस्टियों को दिलाई और उत्तरप्रदेश तीर्थोद्धार समिति की स्थापना कर उसके द्वारा मंदिरों की सारसंभाल करवाई।

(३) युवकों को संगठित कर उनमें सदाचार तथा धर्मसंस्कार दिये।

(४) पजाब में उपधान तप करवाकर पहल की।

(५) पंजाब के अनेक नगरों में कन्याओं केलिए सिलाई शिक्षण स्कूल खुलवाकर—जैन समाज की लड़कियों को शिक्षित कराया।

आचार्य श्री कैलाशसागर जी

पंजाब प्रदेश में जयरांवां नगर (जिला लुधियाना) में मोगला गोत्रीय अरोड़ा जाति के श्री

गंगाराम हलवाई के पुत्र श्री रामकिशन की पत्नी श्रीमती रामरखी की कुक्षी से चार पुत्रियों और दो पुत्रों ने जन्म लिया। श्री गंगाराम हलवाई के पुरखा सनातन(वैदिक)धर्मानुयायी थे। श्री गंगाराम हलवाई ने स्थानकवासी जैनधर्म को स्वीकार कर लिया था। अतः श्री रामकिशन का सारा परिवार इसी पंथ का अनुयायी था।

छोटे पुत्र का नाम श्री काशीराम था। इसने मोगा नगर में एम० डी० कालेज में एफ० ए० (इंटर) तथा लाहौर के एस० डी० (सनातनधर्म) कालेज में शिक्षा प्राप्त कर बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसका विवाह १६ वर्ष की आयु में नरूला गोत्रीय अरोड़ा जाति की शांतिदेवी नाम की कन्या से रामपुरा—फूलनगर में हुआ। इससे एक पुत्री का जन्म हुआ। विवाह से लेकर सात वर्षों तक संसार सुख भोगा। इसका एक ब्राह्मण लड़का मित्र था। उसका नाम सुशीलकुमार था। काशीराम ने स्थानकवासी साधु कुन्दनलाल से तथा सुशीलकुमार ने छोटेलाल नामक साधु से स्थानकवासी पंथ की साधु दीक्षा लेने का निश्चय किया। सुशीलकुमार ने दीक्षा ले ली परन्तु काशीराम को दीक्षा लेने की आज्ञा घरवालों ने नहीं दी। (सुशीलमुनि आजकल स्थानकवासी साधु के वेश में अमरीका आदि देशों में विश्वधर्म प्रचार केलिए चला गया हुआ है और संभवतः वहीं रहेगा)। काशीराम का जन्म मार्गशीर्ष सुदि ५ संवत् १६७२ बिक्रमी (ई. १६१५) में हुआ था।

दिनांक २ जनवरी, १६३८ (वि. सं. १६६४) को काशीराम घरवालों को कहे बिना चुपचाप घर से एकाकी निकल गया और बम्बई जा पहुंचा। वहां इसकी सेठ लालभाई माणेकचन्द पेथापुर वालों से भेंट हुई। उससे काशीराम ने दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। वह इसे तपागच्छीय योगनिष्ठ आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरि के पट्टधर आचार्य श्री कीर्तिसागर सूरि के शिष्य मुनि श्री जितेन्द्र सागर के पास ले गया। वि० सं० १६६४ पोष वदि १० के दिन २२ वर्ष की आयु में अहमदाबाद में मुनि जितेन्द्रसागर से दीक्षा ग्रहण की। नाम मुनि आनन्दसागर रखा।

दीक्षा लेने के १० मास बाद आनन्दसागर ने जगरांवा में कुन्दनलाल साधु को एक पत्र लिखा। जिसमें लिखा था कि—"मैंने दीक्षा ले ली है। मेरी तरफ से मेरे घरवालों को कष्ट हुआ है, उसके लिए क्षमा चाहता हूं।"

मुनि कुन्दनलाल ने वह पत्र आनन्दसागर के पिता रामकिशन को दे दिया। पत्र प्राप्त होते-ही पिता अपनी पुत्रवधु शांतिदेवी को साथ लेकर आनन्दसागर के पास जा पहुंचा और आनन्द सागर को घर लौटने के लिए विवश कर दिया। लाचार आनन्दसागर साधुवेश छोड़कर घर लौट आया। यह अपने पिता के साथ दुकान पर काम करने लगा। चार मास बाद स्थानकवासी स्व० ऋषि रूपचन्द की जगरावां में शताब्दी मनाई गई। मौका पाकर काशीराम (आनन्दसागर) रात के समय चोरी से घर से पुनः भाग निकला।

अहमदाबाद में पहुंचकर इसने पुनः बुद्धिसागर सूरि जी के प्रशिष्य श्री हेमेन्द्रसागर जी से पुनः दीक्षा ग्रहण की और नाम मुनि कैलाशसागर रखा गया।

दीक्षा लेने के बाद मुनि श्री कैलाशसागर ने आचार्य कीर्तिसागर की निश्रा में रहकर प्रकरणों, कर्मग्रंथों, आगमों आदि का अभ्यास किया। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि भाषाओं के ग्रंथों का अभ्यास कर विद्वता प्राप्त की। तीव्र बुद्धि होने के कारण कुछ ही वर्षों में आपकी गणना योग्य विद्वानों में होने लगी। पंजाबी तो आपकी मातृभाषा थी ही, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं का

ज्ञान आपने कालेज में ही कर लिया था। साधु अवस्था में तो आपकी विद्वता को चारचांद लग गए। अब आपकी गणना शासनप्रभावकों में होने लगी। सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र जनपदों में आप विचरण करके जैनधर्म के प्रचार तथा शासनप्रभावना में जुट गए।

योगनिष्ठ बुद्धिसागर सूरि का स्वर्गवास बीजापुर (गुजरात) में हो जाने से उनके पश्चात् शिष्य प्रशिष्यों में प्रभावशाली मुनिराजों का प्रभाव खटकने लगा। परन्तु वीरप्रसूता पंजाब धरा की जन्मजात प्रदत्त शक्ति और ओज के प्रभाव के कारण आपने इस परम्परा में दीक्षा लेकर उस कमी को पूरा कर दिया। आप ज्ञानगंभीर सवि जीव करुं शासनरसिया तथा निरातिचार चारित्र पालन में सदा जागरुक रहते हैं। सीधी, सरल, वैराग्यगर्भित, ज्ञानपूर्ण, ओजस्वी, तलस्पर्शी शैली से प्रवचन द्वारा हजारों लोगों के जीवन का परिवर्तन किया है। धर्मोपदेश के साथ मानवी बुराइयों को जैसे कि जुआ, शराब, मांस आदि सात व्यसनों का त्याग कराकर सैकड़ों अधर्मियों को सदाचारी बनाया है। यदि सच पूछा जाए तो आपकी वाणी संसारी जनों को कल्याण मार्ग में प्रोत्साहित करने वाली है।

आपकी इस योग्यता से प्रभावित होकर श्रीसंघ ने आपको वि० सं० २००४ मार्गशीर्ष वदि १० के दिन पूना में गणिपद, वि० सं० २००५ मार्गशीर्ष सुदि १० को बम्बई में पंन्यास पद तथा विक्रम सं० २०११ मार्गशीर्ष सुदि ५ को साणंद (गुजरात) में उपाध्याय पद, वि० सं० २०२२ में मार्गशीर्ष वदि ११ को साणंद में आचार्य पद प्रदान किया।

आपकी प्रेरणा से गुजरात, सौराष्ट्र के अनेक नगरों-ग्रामों में धर्मशालाएं, ज्ञानशालाएं, पौषध शालाएं (उपाश्रय) जैनमंदिरों तथा अनेक धर्मस्थानों को आपके भक्त श्रावक-श्राविकाओं ने निर्माण कराया है। सैकड़ों जिनप्रतिमाओं की अंजनशलाकाएं और प्रतिष्ठाएं भी आपने कराई है।

इस समय आपके शिष्य प्रशिष्यों की संख्या ३० से अधिक है। उनमें कई तपस्वी, विद्वान तथा प्रभावक भी हैं।

महसाना (गुजरात) में आपने महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान (विहरमाण) बीस तीर्थंकरों में से एक तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी के बृहद् जैनमंदिर का निर्माण कराकर नवीन जैनतीर्थ की स्थापना की है। इनमें मूलनायक के रूप में श्री सीमंधर स्वामी की बहुत बड़ी प्रतिमा पद्मासना-सीन स्थापित कर उसकी अंजनशलाका और प्रतिष्ठा की है। यह प्रतिमा १४५ इंच ऊंची और लगभग २३ टन वजन की संगमरमर सफेद पाषाण की बनाई गई है। यह मंदिर खूब ऊंची जगती वाला और १०० फुट ऊंचे शिखर से विभूषित है।

जिनालय के साथ ६५ कमरों वाली आधुनिक ढंग की सब प्रकार की सुविधाओं वाली धर्म-शाला, सेनिटोरियम, जैन भोजनशाला, व्याख्यान खंड, अशक्तजनों केलिए आश्रम, पाठशाला आदि का भी निर्माण कराया गया है।

आचार्य कैलाशसागर जी के बड़े भाई वीरचन्द ने अपनी वृद्धावस्था में वि० सं० २०३५ को होशियारपुर (पंजाब) में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य पंन्यास जयविजय जी गणि से दीक्षा ग्रहण की है। दीक्षा लेने के बाद आपका नाम मुनि कनकविजय रखा गया है। इस समय पंजाब में विराज रहे हैं।

मुनि श्री रतनविजय (हाकिमराय) जी

जैनाचार्य विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी महाराज के साथ जिन १६ साधुओं ने ढूंढक पंथ का त्याग कर संवेगी दीक्षा ग्रहण की थी, उनमें से एक ऋषि हाकिमराय जी भी थे। आप संवेगी दीक्षा के बाद आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी के शिष्य रतनविजय जी के नाम से हुए। आपने पंजाब में आचार्य श्री के मिशन को सफल बनाने केलिए भारी योगदान दिया। आप होशियारपुर निवासी ओसवाल वंश में नाहर गोत्रीय थे। आपके छोटे भाई का नाम लाला गोरामल था।

आचार्य विजयविद्या सूरि व प्रशांतमूर्ति मुनि विचारविजय जी

होशियारपुर (पंजाब) बीसा ओसवाल (भावड़ा) नाहर गोत्रीय अच्छरमल और मच्छरमल दोनों भाई वि० सं० १६४४ में जोड़ा (युगल) जन्मे। वि० स० १६६५ चैत्र वदि ५ को जयपुर (राजस्थान) में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी से दोनों भाइयो ने २१ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण कर आचार्य श्री के ही शिष्य बने। अच्छरमल का नाम मुनि विद्याविजय तथा मच्छरमल का नाम मुनि विचारविजय रखा गया। मुनि विद्याविजय जी क्रमशः गणि, पन्यास तथा आचार्य पदवियों से विभूषित हुए। आचार्य पद पाने पर आपका नाम आचार्य विजयविद्या सूरि हुआ। आपका एक शिष्य था मुनि उपेन्द्रविजय। मुनि विचारविजय जी का एक शिष्य मुनि बसन्तविजय जी है।

विजयविद्या सूरि जी का वि० सं० २००७ मिति मार्गशीर्ष सुदि १० को जूनागढ़ में स्वर्गवास हुआ और मुनि विचारविजय जी का स्वर्गवास वि० सं० २०१० में दिल्ली में हुआ। आप दोनों भाई बालब्रह्मचारी, स्वरूपवान, गौरवर्ण, सरल स्वभावी, मिलनसार, महातेजस्वी थे। आप दोनों भाइयों के चेहरे ऐसे मिलते-जुलते थे कि दोनों को अलग-अलग पहचानना दुष्कर था।

मुनि विबुधविजय तथा मुनि विज्ञानविजय

वि० सं० १६६४ को श्री जगलराम ब्राह्मण तथा घासीराम दोनों ढूंढक साधु की दीक्षा का त्याग कर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के पास संवेगी दीक्षा लेने के लिए अमृतसर पजाब मे आए। आचार्य श्री ने उन्हें कहा कि तुम लोगों का उस फिरके की दीक्षा को त्याग करके यहां आने का कारण क्या है? तब उन्होंने विनम्र होकर आंखों में आंसू भरकर कहा कि गुरुदेव! आत्म साधक केलिए श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म का पालन करना अनिवार्य है आप जिस परम्परा के साधु हैं वही वीर परम्परा का अखंड प्रतिनिधित्व है और सर्वगुण सम्पन्न है। इसलिए हमें दीक्षित करके इस सत्पथ का अनुगामी बनाइये। गुरुदेव ने उनका अत्यन्त आग्रह देखकर अमृतसर में वि. सं. १६६४ मिति मार्गशीर्ष सुदि ११ को श्वेतांबर मुनि की दीक्षा देकर अपने शिष्य मुनि विमलविजय के शिष्य बनाए। उनके नाम क्रमशः मुनि विबुधविजय जी तथा मुनि विज्ञान विजय जी रखे। ये दोनों पंजाबी थे। संवेगी दीक्षा लेने के बाद अधिकतर गुजरात में ही विचरे। इस परम्परा में क्या विशेषता है इसका हम क्रमशः उल्लेख करते आ रहे हैं। यथा १—वीर शासन से अखंड सम्बन्ध, २—तीर्थंकरदेवों की उपासना का माध्यम जिनप्रतिमा की मान्यता, ३—मुंहपत्ती का जैनागम सम्मत प्रयोग तथा ४—छः आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) का तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित विधि से पालन, ५— तीर्थंकरों द्वारा प्रकटित द्वादशांगवाणी जो गणधरों द्वारा आगम रूप में संकलित है उनकी वारसादार, ६—तीर्थंकर देवों की समस्त कल्याणक भूमियों पर उनके स्तूपों,

मंदिरों का निर्माण करके आज तक उनका संरक्षण तथा उनकी उपासना और व्यवस्था का अखंड प्रतिनिधित्व। उपर्युक्त ६ बातों में से पांच का विवेचन किया जा चुका है—

अब हम यहां छठे—छह आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

जैनसमाज में मुख्य दो शाखायें हैं (१) श्वेतांबर और (२) दिगम्बर। दिगम्बर संप्रदाय के मुनि परम्परा में विच्छिन्न प्रायः आराधना है। उनके श्रावक समुदाय में भी आवश्यक का प्रचार वैसा नहीं है जैसा श्वेतांबर परम्परा में है। दिगम्बर संप्रदाय में जो प्रतिमाधारी या ब्रह्मचारी आदि होते हैं उनमें मुख्यतया सिर्फ सामायिक करने का रिवाज देखा जाता है। शृंखलाबद्ध रीति से छहों 'आवश्यकों का नियमित प्रचार जैसा श्वेतांबर परम्परा में आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है, वैसा दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदाय में सिलसिलेवार छहों आवश्यक करने की परम्परा—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक और सांवत्सरिक रूप में वैसी प्रचलित नहीं है जैसी श्वेतांबर परम्परा में प्रचलित है।

यानी जिस प्रकार श्वेतांबर परम्परा-सायंकाल, प्रातःकाल, प्रत्येक पक्ष के अन्त में, चातुर्मास के अन्त में और वर्ष के अन्त में स्त्रियों तथा पुरुषों का समुदाय अलग-अलग या एकत्र होकर अथवा अकेला व्यक्ति भी सिलसिले से छहों आवश्यक करता है, उस प्रकार आवश्यक करने की रीति दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं है।

श्वेतांबरों की भी दो प्रधान शाखाएं है—(१) मूर्तिपूजक और (२) स्थानकमार्गी। इन दोनों शाखाओं की साधु-श्रावक दोनों संस्थाओं में दैवसिक, रात्रिक आदि पांचों प्रकार के आवश्यक करने का नियमित प्रचार अधिकारानुरूप बराबर चला आ रहा है।

मूर्तिपूजक और स्थानकमार्गी दोनों के साधुओं को सुबह-शाम अनिवार्य रूप से आवश्यक करना ही पड़ता है। क्योंकि शास्त्र में ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु आवश्यक नियम से करें। अतएव यदि वे इस आज्ञा का पालन न करें तो साधु पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

श्रावकों में आवश्यक का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियमवाले होते हैं, वे अवश्य करते हैं और अन्य श्रावक-श्राविकाओं की प्रवृत्ति इस विषय में ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य आवश्यक नहीं करता वह भी पक्ष के बाद, चतुर्मास के बाद या आखिरकार संवत्सर (वर्ष) के बाद उस को यथासंभव अवश्य करता है। श्वेतांबर परम्परा में आवश्यक क्रिया का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान में न जाता हो, वह तथा छोटे-बड़े बालक-बालिकायें भी बहुधा सांवत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान में आवश्यक क्रिया करने के लिये एकत्र हो ही जाते हैं और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक क्रिया' का महत्व श्वेतांबर परम्परा में कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सब से पहले आवश्यक क्रिया सिखाते हैं।

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान ये छह आवश्यक हैं। इस को ठीक समझने के लिये आवश्यक किया किसे कहते हैं यह आध्यात्मिक क्यों है इस का यहां विवेचन करने का अवकाश नहीं है।

आवश्यक क्रिया करने की जो विधि चूर्णि के जमाने से भी बहुत प्राचीन है और जिस का

उल्लेख श्री हरिभद्र सूरि जैसे—प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यकवृत्ति पृ० ७६० में किया है, वह विधि बहुत अंशों में अपरिवर्तित रूप से ज्यों की त्यों जैसी श्वेतांबर मूर्तिपूजक परम्परा में चली आती है वैसी स्थानकमार्गी फिरके में नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकमार्गी सम्प्रदाय की सामाचारी में जिस प्रकार आवश्यक क्रिया में बोले जाने वाले कई प्राचीनसूत्रों की जैसे—पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं-बुद्धाणं, अरिहंत चेइयाणं, आयरिय उवरज्झाय, अब्भुट्ठिओऽहं इत्यादि की काटछांट कर दी गई है। इसी प्रकार उस में प्राचीन विधि की भी काट-छांट नजर आती है। इस के विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ की सामाचारी में 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि में कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नहीं आता। अर्थात् इस में 'सामायिक' आवश्यक से लेकर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से लेकर प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों 'आवश्यक' के सूत्रों का तथा बीच में विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है जिसका उल्लेख श्री हरिभद्र सूरि ने किया है।

यद्यपि प्रतिक्रमण स्थापन से पहले चैत्यवन्दन करने की और छठे आवश्यक के बाद सज्झाय स्तवन स्तोत्र आदि पढ़ने की प्रथा पीछे सकारण प्रचलित हो गई है। तथापि मूर्तिपूजक श्वेतांबर परम्परा की आवश्यक सामाचारी में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसमें आवश्यकों के सूत्रों का तथा विधि अभी तक प्राचीन और सहज ही चला आता है।

आवश्यक और श्वेतांबर-दिगम्बर परम्पराएं

आवश्यक क्रिया जैनत्व का प्रधान अंग है। इसलिए जैन समाज की श्वेतांबर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पाया जाना स्वाभाविक है। श्वेतांबर परम्परा में साधु परम्परा अविच्छिन्न चलते रहने के कारण साधु-श्रावक दोनों की आवश्यक क्रिया तथा आवश्यक सूत्र अभी तक मौलिक रूप में पाये जाते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर सप्रदाय मे साधु परम्परा विरल तथा विच्छिन्न हो जाने के कारण साधु सम्बन्धी 'आवश्यक' क्रिया तो लुप्तप्राय है ही, पर उसके साथ-साथ उस सम्प्रदाय में श्रावक सम्बन्धी आवश्यक क्रिया भी बहुत अंशों में विरल हो गई है। इस कारण दिगम्बर संप्रदाय के साहित्य में आवश्यक सूत्र का मौलिक रूप में सम्पूर्णतया न पाया जाना ही है।[1]

अतः उपर्युक्त कारणों से इन दोनो मुनियों ने श्वेतांबर मूर्तिपूजक परम्परा में ही दीक्षित होने का लाभ लिया।

पंन्यास जयविजय जी गणि

म्यानी अफ़ग़ानां ज़िला होशियारपुर (पंजाब) में श्वेतांबर जैनधर्मानुयायी खंडेलवाल जाति के लाला रामचन्द जी की पत्नी श्रीमती द्रोपदीदेवी की कुक्षी से वि. सं. १६७१ में एक बालक का जन्म हुआ। माता-पिता ने इस बालक का नाम तीर्थराम रखा। लाला रामचन्द जी का व्यवसाय कपड़े की दुकानदारी का था। आप धार्मिक वृत्ति के थे। धर्म में अगाध श्रद्धा और रुचि थी।

लाला रामचन्द जी के तीन पुत्र थे। १—सरहंदी लाल, २—तीर्थराम और ३—सरदारी लाल। ये तीनों भाई कपड़े का व्यवसाय अपने पिता के साथ करते थे। पिता के देहांत हो जाने के बाद सरहदीलाल सिरसा चला गया। वहां उसने कपड़े की दुकानदारी की और अन्त में वहीं उसका

1. पंडित सुखलाल द्वारा लिखित श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ की प्रस्तावना का उपयोगी अंश।

देहांत हो गया। छोटा भाई सरदारीलाल ध्यानी अकगालां में ही कपड़े की दुकान करता है। सब प्रकार से सुखी और समृद्ध है। तीनों भाई विवाहित और सपरिवार थे। सबके घर में धार्मिक वातावरण एवं सदाचार पर पूरी निष्ठा है।

तीर्थराम का विवाह भी अच्छे जैन परिवार की रूपवती कन्या के साथ हुआ, उससे दो लड़कों और एक लड़की ने जन्म लिया। बड़ा लड़का इस समय अमरीका में उच्चपद पर नौकरी कर रहा है। तीर्थराम ने ३२ वर्ष की आयु में धन-सम्पत्ति तथा भरेपूरे परिवार का त्यागकर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी से वि. सं. २००३ में जैनसाधु की दीक्षा ग्रहण की। नाम मुनि जयविजय रखा गया और आचार्य श्री ने अपना शिष्य बनाया। क्रमशः आप पंन्यास तथा गणि पदों से विभूषित हुए।

पंन्यास श्री जयविजय जी गणि उर्दू, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के ज्ञाता हैं, जैनसिद्धान्त के अच्छे विज्ञ हैं। आपकी व्याख्यान शैली अत्यन्त रोचक, मनोरंजक, सरल, दृष्टांतों तथा उदाहरणों से भरपूर होती है। आपका स्वभाव मिलनसार, विनम्र, सरल तथा हंसमुख है।

आपके परिवार से आठ व्यक्तियों ने दीक्षाएं ली हैं—विवरण इस प्रकार है।

(१) मुनि श्री लाभविजय जी—संसारी नाम लाला लब्भुराम, ये आपके संसारी चाचा जी थे।

(२) पंन्यास श्री बलवन्तविजय जी गणि जिनका संसारी नाम बनारसीदास था। पिता का नाम लाला ईश्वरदास तथा बड़े भाई का नाम श्री द्वारकादास। दोनों भाइयों ने श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला में शिक्षा पाई और विनीत परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इस समय द्वारकादास अपने परिवार के साथ जालंधर (पंजाब) में रहते हैं। मुनि बलवंतगिजयजी महातपस्वी थे, बाल-ब्रह्मचारी थे और आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य थे। आप अधिकतर पालीताणा में सिद्धाचल जी की छत्रछाया में आत्मसाधना में तल्लीन रहे और वहीं आपका देहांत हो गया। आप गणि जयविजय जी के संसारी अवस्था में भानजे थे।

३—मुनि श्री शांतिविजय जी। जिनका संसारी नाम लाला खुशीराम जी था। आप श्री विजय समुद्रसूरि के शिष्य थे। आपका स्वर्गवास हो गया है। पंन्यास जयविजयजी के संसारी बहनोई थे। आपका अहियापुर—उड़मड़ में जन्म तथा अन्त समय में आपका स्वर्गवास भी वहां हुआ।

(४) साध्वी श्री प्रवीनश्री जी जिन का संसारी नाम पुष्पाकुमारी था। यह जयविजयजी की संसारी अवस्था की पुत्री है।

(५) साध्वी श्री चिंतामणि श्री जी। संसारी नाम जवन्दीदेवी था। यह पं० जयविजयजी की बहन तथा पं० बलवन्तविजय जी की माता थी।

(६) साध्वी श्री चिदानन्द श्री जी, जिनका संसारी नाम तेजकौर था। यह शांतिविजयजी की संसारावस्था की पत्नी तथा पं० जयविजयजी की संसारी अवस्था की बड़ी बहन थी।

(७) साध्वी श्री चित्तरंजन श्री जी। संसारी नाम प्रियदर्शना था। यह मुनि शांतिविजय जी की संसारी अवस्था की पुत्री तथा पं० जयविजय जी की संसारी अवस्था की भानजी थी।

(८) साध्वी श्री लाभश्री जी। जिसका संसारी नाम इन्द्रकौर था। यह पं० बलवंतविजयजी

की संसारी ताई (माताजी की जेठानी) थी।

उपर्युक्त ८ में से नं० एक के सिवाय बाकी सातों ने आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी के समुदाय में श्वेतांबर तपागच्छीय श्रमण-श्रमणियों की दीक्षाएं ग्रहण की हैं।

पंन्यास जयविजय तथा उपर्युक्त अन्य आठों ही पंजाब देश के निवासी खंडेलवाल जाति के श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक धर्मानुयायी समृद्ध परिवारों के व्यक्ति हैं।

पन्यास श्री जयविजय जी के दो शिष्य हैं—(१) मुनि नयचन्द्रविजय जी और (२) मुनि कनकविजय जी।

(१) नयचन्द्रविजय जी का संसारी नाम लाला विलायतीराम जाति ओसवाल (भाबड़ा) गोत्र नौलखा ज़ीरा (पंजाब) निवासी हैं। आपके पितामह का नाम लाला टेकचन्दजी चौधरी तथा पिता का नाम लाला दीनानाथ जी था। ये लोग ज़ीरा नगर में कपड़े का व्यापार करते थे। माता का नाम पार्वतीदेवी था। विलायतीराम तीन भाई थे। (१) लाला देवीदास (२) लाला विलायतीराम (स्वयं) तथा (३) लाला शादीलाल और तीन बहनें थीं—(१) भागवन्ती, (२) राजवन्ती और (३) प्रसन्नी देवी। दीक्षा लेने से पहले विलायतीराम दिल्ली में सौदागरी के सामान की दलाली करते थे। आपकी दीक्षा ५५ वर्ष की आयु में वि. सं. २०२४ मिति मार्गशीर्ष सुदि १० को बड़ौत ज़िला मेरठ (उत्तर प्रदेश) में अपने भतीजे श्री चिमनलाल तथा इनके तीन बालपुत्रों तथा इन पुत्रों की माता के साथ आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी द्वारा हुई। आपको पं० जयविजय जी का शिष्य बनाया और नाम नयचन्द्रविजय रखा।

आप दीक्षा लेने के बाद तपस्या में अधिक रुचि रखते हैं—होशियारपुर के चौमासे में ६१ दिन के उपवास, लुधियाना के चौमासे में ५१ दिन के उपवास, दिल्ली के चौमासे में ५१ दिन के उपवास, बड़ौदा के चौमासे में ४१ दिन के उपवास, इन्दौर के चौमासे में ३१ दिन के उपवास तथा किसी अन्य चौमासे में २१ दिनों के उपवासों की तपस्यायें की हैं। इस समय अपने गुरु के साथ आप पंजाब में विचर रहे हैं।

(२) दूसरा शिष्य आपका मुनि कनकविजय है। यह जाति का अरोड़ा, ढूंढिया धर्मानुयायी जगरांवा नगर (पंजाब) का निवासी, आचार्य कैलाशसागर जी का बड़ा सगा भाई। इसने वृद्धावस्था में वि. सं. २०३४ में होशियारपुर (पंजाब) में दीक्षाग्रहण की और पं. जयविजयजी का शिष्य बना। सामान्य शिक्षित, संसारी नाम वीरचन्द था। गुरु के साथ ही पंजाब में विचर रहा है।

तपस्वी मुनि श्री बसन्तविजय जी

जैन श्वेतांबर तपागच्छीय आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के शिष्य सरल स्वभावी प्रशांतमूर्ति मुनि श्री विचारविजय जी के शिष्य तपस्वी मुनि श्री बसंतविजय जी का जन्म वि. सं. १९९८ मिति कार्तिक वदि अमावस्या (दीवाली) के दिन ज़ीरा जिला फ़िरोज़पुर (पंजाब) में हुआ। आपके पिता का नाम लाला अनघूमल तथा माता का नाम श्रीमती बचनदेवी था। वंश बीसा ओसवाल (भाबड़ा) गोत्र नौलखा था। इस बालक का नाम माता-पिता ने यशदेव रखा।

दीक्षा लेने का कारण—यशदेव चार-पांच वर्ष की आयु में ऐसा बीमार पड़ा कि इसके बचने की कोई आशा ही नहीं रही थी। माता-पिता ने चिकित्सा करने में कोई कमी न रखी, परन्तु सब चिकित्सकों ने हताश होकर कह दिया कि यह बच्चा जीवित नहीं रहेगा रोग असाध्य है। हम लोगों के पास इस रोग का उपचार कोई नहीं है कि जिससे इसे निरोग किया जा सके। माता-पिता ने लाचार होकर चिकित्सा करना छोड़ दिया। इन दिनों आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि अपने मुनि

समुदाय के साथ जीरा में आए हुए थे। गुरुदेव को लाला अबधूमल विनती करके अपने मरणासन्न पुत्र को अन्तिम दर्शन देने के लिए अपने घर ले गये। उस समय बालक को अन्तिम श्वास लेते देखकर सारा परिवार रो रहा था। गुरुदेव ने रोने का कारण पूछा, पिता ने बालक की चिन्ता प्रकट की और कहा—गुरुदेव! आपके प्रताप से यदि यह बालक स्वस्थ हो गया तो इसे आप श्री के चरणों में समर्पण कर दूंगा। गुरुदेव ने बालक के सिर पर अपने हाथों से मंत्रित वासक्षेप डाला और अपने उपाश्रय में वापिस लौट आये। माता-पिता ने भी भाग्य भरोसे छोड़कर बालक की चिकित्सा एकदम बन्द कर दी। कुछ दिनों बाद बालक एकदम स्वस्थ हो गया। थोड़े समय बाद लाला अबधूमल की मृत्यु हो गयी। माता ने अपने वचन का पालन करते हुए आठ वर्ष के इस बालक को गुरुचरणों में भेंट कर दिया।

दीक्षा—आचार्यश्री ने यशदेव को वि. सं. २००७ मिति वैसाख वदि १० के दिन ९ वर्ष की आयु में सादड़ी नगर (राजस्थान) में दीक्षा दी और नाम मुनि बसंतविजय रखा। तथा मुनि श्री विचार विजयजी का शिष्य बनाया।

मुनि बसन्तविजय जी ने प्रकरण, साधु प्रतिक्रमण, दसवैकालिक आदि का अभ्यास किया। संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, हिन्दी आदि भाषाओं की जानकारी प्राप्त की। आप स्वाध्याय प्रिय तथा लेखन में रुचि रखते हैं।

किन्तु सबसे विशेष बात यह है कि आप तपस्या में अधिक रुचि रखते है। बीसस्थानकतप, नवकार महामंत्र की आराधना, तथा कई वर्षी तप कर चुके हैं और अब भी आपका वर्षीतप चालू है।

मुनिपति चरित्र, अर्चना, अर्हत् प्रवचन का हिन्दी रूपांतर तथा आत्मगीता नामक पुस्तकों का हिन्दी भाषा में प्रकाशन भी आपने करवाया है।

विहार क्षेत्र—राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों में सतत विहार करते रहते हैं। आपको प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों को देखने और उन्हें संग्रह करने की विशेष रुचि है। आपकी प्रकृति शांत, मिलनसार एवं सरल स्वभाव है।

मुनि श्री अनेकान्तविजय तथा उनके शिष्य

ज़ीरा ज़िला फ़िरोज़पुर (पंजाब) के बीसा ओसवाल नौलखा गोत्रीय, लाला देवीदास के घर वि. सं. १९७९ को बालक चिमनलाल का जन्म हुआ। पिता का व्यवसाय कपड़े का था। चिमनलाल का विवाह सनखतरा निवासी लाला लालचन्द खंडेलवाल की पुत्री श्रीमती राजरानी से हुआ। इससे तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई। पिता की मृत्यु के बाद चिमनलाल जी दिल्ली में अपने परिवार के साथ अपने चाचा शादीलाल के पास चले आये। दिल्ली आने से पहले आपने कांग्रेस के स्वतंत्रता आन्दोलन, विनोबा भावे के भूदान यज्ञ आन्दोलन में भाग लिया, पश्चात् वैष्णव संन्यासी की दीक्षा ली, उसमें आत्म-कल्याणकारी-मार्ग न पाकर संन्यास अवस्था का त्यागकर वापिस अपने घर गृहस्थाश्रम में चले आए और दिल्ली में सौदागरी के सामान की दलाली (brocker) का काम शुरू किया। आपने परिग्रहपरिमाण, स्थूलमृषावाद विरमण आदि श्रावक के व्रत ग्रहण किए और चतुर्थव्रत पूर्णब्रह्मचर्य का व्रत भी सपत्नी ग्रहण किया। परिग्रह परिमाण तथा सत्यव्रत के कारण आपका धन्धा खूब चमका। सारी मार्कीट के विश्वास पात्र दलाल बन गये। परिग्रह का आपने जो नियम लिया था, प्रतिदिन जब उतनी आय हो जाती थी तब आप धन्धा बन्द कर देते थे। दुकानदारों को कल के लिए आपका इन्तजार करना पड़ता था।

मुनि श्री प्रकाशविजय जी के अत्यन्त आग्रह से आपने श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम हस्तिनापुर की सेवा केलिए वहां के सुपरिन्टेंडेंट का कार्यभार संभाला और वहां की व्यवस्था को अपने हाथ में लिया। संस्था दिन दुगनी रात चौगुनी तरक्की करने लगी। छात्रों में धार्मिक वृत्ति जागृत हुई। किन्तु संस्था के संचालक आपको देर तक न रख पाये और आपने विवश होकर संस्था से त्याग पत्र दे दिया और पुनः दिल्ली में आकर आप अपना दलाली का धन्धा करने लगे।

आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि का वि. सं. २०२४ का चतुर्मास श्री आत्मानन्द जैन भवन रूपनगर दिल्ली में था। तब आपकी वैराग्य भावना ने ऐसा रंग जमाया कि सपरिवार दीक्षा लेने को तैयार हो गये।

वि. सं. २०२४ मिति मार्गशीर्ष सुदि १० के दिन बड़ौत नगर ज़िला मेरठ (उत्तरप्रदेश) में आपने अपने सारे परिवार जिनशासन रत्न, शांतमूर्ति, आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि से दीक्षा ग्रहण की। जिसका विवरण इस प्रकार है—

गृहस्थ नाम	साधुनाम	आयु	संबंध	गुरु
१—श्री चिमनलाल	मुनि अनेकान्तविजय	४५ वर्ष	स्वयं	विजयसमुद्र सूरि
२—श्रीमति राजरानी	साध्वी अमितगुणाश्री	४० वर्ष	पत्नी	साध्वी सुभद्राश्री
३—श्री विलायतीराम	मुनि नयचन्द्रविजय	५५ वर्ष	चाचा	पं० जयविजय
४—चि० अनिलकुमार	मुनि जयानन्दविजय	१३ वर्ष	पुत्र	मुनि अनेकांतविजय
		(जन्म चैत्र वदि १० वि. सं. २०१० सोमवार)		
५—चि० सुनीलकुमार	मुनि धर्मधुरेन्द्र विजय	११ वर्ष	पुत्र	मुनि अनेकांतविजय
		(जन्म फाल्गुन सुदि ७ वि. सं. २०१२ सोमवार)		
६—चि० प्रवीणकुमार	मुनि नित्यानन्द विजय	६ वर्ष	पुत्र	मुनि श्री अनेकांतविजय
		(जन्म द्वि. श्रावण वदि ४ वि. सं. २०१५ रविवार)		

मुनि श्री अनेकान्तविजय जी दीक्षा लेने के बाद तपस्या करने में जुट गये।

१—बीकानेर के चौमासे में ५१ उपवास, २—लुणावा के चौमासे में ६१ उपवास तथा ३—बम्बई के चतुर्मास में ६३ उपवास क्रमशः वि. सं. २०२५, २०२६, २०२७ में किये। सब तप चौविहार और मौन की प्रतिज्ञा सहित सलग किये। अंतिम तपस्या के पारने के बाद आपका बम्बई में स्वर्गवास हो गया।

आपके तीनों पुत्र बालमुनि सतत विद्याध्ययन, ज्ञानार्जन में संलग्न रहते हैं। छोटी उम्र में ही आप की योग्यता तथा विद्वता प्रशसनीय है। आप बाल त्रिपुटी के नाम से प्रख्याती प्राप्त हैं। आचार्य श्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि के गुरुकुलवास में रहकर आप तीनों सब प्रकार की प्रगति में अग्रसर है। आशा की जाती है कि आप लोग आगे चलकर पंजाब धरा को धर्मामृत से सिंचन करने में कोई कसर उठा नहीं रखेंगे और गुरु वल्लभ की भावनाओं को चारचांद लगाकर स्वपर का कल्याण करेंगे।

मुनि श्री विशुद्धविजय

जंडियाला गुरु ज़िला अमृतसर (पंजाब) में बीसा ओसवाल लोढ़ा गोत्रीय श्री खजानचीलाल ने वि. सं. १६८३ में बिनोली ज़िला मेरठ के जिनमंदिर की प्रतिष्ठा के समय आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि से दीक्षा ग्रहण कर उन्हीं के शिष्य बने। नाम मुनि विशुद्धविजय रखा गया। आप अपने गुरु के जीवन प्रसंगों का उर्दू भाषा में आजीव संकलन करते रहे। आप का स्वर्गवास हो चुके कई वर्ष हो गये हैं।

गणि श्री जनकविजय जी महाराज

आचार्य श्री समन्तभद्र ने भगवान महावीर के तीर्थ का स्वरूप बताते हुए उसे जिन विशेषणों से सुविभूषित किया है उनमें एक है 'सर्वोदयम्'—अर्थात् सब का—प्राणी मात्र का उदय या उत्कर्ष करने वाला। वर्तमान युग में महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों को सक्रिय रूप से प्रचारित करने वाले सन्त विनोबा भावे ने आज इस शब्द को भारत के कोने-कोने में पहुंचा दिया है। भगवान महावीर के पथ के पथिक प्रायः जैनसंतों ने शासनसेवा और जैनधर्म को सीमा क्षेत्र में आबद्ध रखा है। कुछेक श्रमणों ने भगवान महावीर के सन्देश को जनता जनार्दन तक पहुंचाने का प्रयास किया और कर रहे हैं। उन में गणि श्री जनकविजय जी का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आपका जन्म वि० सं० १९८२ मिति जेठ वदि ५ सोमवार के दिन जिला भरूच (गुजरात) के जम्बूसर नामक ग्राम में हुआ। पिता श्री डाह्या भाई और माता श्रीमती तारा बहन धार्मिक संस्कार सम्पन्न सदाचारी व्यक्ति थे। बालक के जन्म के कुछ समय बाद ही वे शिशु को लेकर मुनिपुंगव शांतमूर्ति श्री हंसविजय जी के पावन करकमलों से वासक्षेप प्राप्त करने के लिए बड़ौदा गये। शिशु के कांतियुक्त मुख के मस्तक की रेखाओं को देख कर मुनिवर की अन्तरात्मा से ध्वनि परिस्फुरित हुई 'यह बाबा (गुजराती में बच्चे को बाबा कहते हैं) बड़ा होकर दीक्षा लेगा।' उनकी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। आज वह बाबा (बच्चा) अंबाला जिले की ग्रामीण जनता केलिये सचमुच बाबा (पंजाबी भाषा में दादा, बजुर्ग, पूजनीय सन्त) बन गया है।

पूर्वजन्म के वैराग्य के संस्कार अंकुरित हुए और केवल १८ वर्ष की युवावस्था में वि० सं० २००० मिति मार्गशीर्ष वदि प्रतिपदा को जनकविजय जी की दीक्षा वरकाणा की तीर्थभूमि पर जैनाचार्य श्री विजयललित सूरि जी की छत्रछाया में सम्पन्न हुई। मुनि श्री चतुरविजय जी आपके दीक्षागुरु बने। परिवार में धर्मभावना का स्रोत प्रवाहित था। आपके पूज्य पिता तथा चार बहनें भी साधुमार्ग के पथिक बने।

दीक्षा के केवल ११ मास बाद आपके दीक्षा गुरु का स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् आप विद्याभ्यास के लिए पंजाबकेसरी भारत दिवाकर, युगवीर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिश्वर जी के चरणों में उपस्थित हुए। उन्होंने बड़ी दीक्षा बीकानेर में वि० सं० २००१ में दी। गुरुदेव के चरणों में आपने परिश्रम और निष्ठापूर्वक संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, व्याकरण, आगम, काव्य, दर्शनशास्त्र आदि का अध्ययन किया। आप आचार्य श्री के वि० सं० २०११ के देवलोक गमन तक उनकी सेवा में रहे। इस अवधि में आचार्य श्री की सुधारवादी विचारधारा का आप पर गहरा प्रभाव पड़ा।

फलतः आपने रचनात्मक क्षेत्र में उत्साह और निष्ठापूर्वक प्रवेश किया। शिक्षा प्रचार, समाज संगठन, सार्धमिक भक्ति, समाज सुधार आदि गुरुदेव के मिशन के कार्यों को आपने गति प्रदान की। श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब और भारतवर्षीय जैन श्वेतांबर कान्फ्रेंस की प्रवृत्तियों का भी मार्गदर्शन किया। नवयुवकों को धार्मिक शिक्षण और संस्कार देने के लिए पंजाब-हरियाणा और हिमाचलप्रदेश में प्रथमबार शिविरों का आयोजन आप ने किया। अम्बाला शहर

और हस्तिनापुर में वि० सं० २०३४ और २०३५ में दो सफल शिविर नवयुवकों के लग चुके हैं। तीसरा वि० सं० २०३६ में कांगड़ा में आयोजित हुआ।

लगभग १२ वर्ष पूर्व शांतमूर्ति, जिन-शासन-रत्न, आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी का आर्शीवाद प्राप्त कर आप ने सक्रिय रूप से अंबाला जिले के गाँवों में मद्यनिषेध, शाकाहार आदि के प्रचार का कार्य शुरू किया। आप ने अनेक कष्टों और परिषहों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए १२ वर्षों में लगभग ६०० ग्रामों में विचरण किया है। आप ऐसे-ऐसे स्थानों में भी गये हैं जहाँ धर्म और जैनसाधु के नाम से भी लोग अपरिचित थे। परन्तु आपके भागीरथ प्रयास से कुछ कार्यकर्त्ता आपके सहयोगी बने। शराब के ठेके उठवाने के लिए आपकी प्रेरणा से गढ़ीग्राम में सत्याग्रह भी हुआ। पवित्र उद्देश्य में सफलता प्राप्त होती ही है। आज तक १८ गाँवों से शराब के ठेके उठ चुके हैं। अम्बाला जिले के गांवों में भी आपको अत्यन्त उच्चस्तर का चरित्रवान् महात्मा समझा जाता है। जैनसाधु की पवित्रता की छाप से जन-जन प्रभावित हुए हैं। आपकी प्रेरणा से स्थापित और संगठित हरियाणा ग्राम प्रायोगिक संघ (प्रधान कार्यालय शहजादपुर जिला अंबाला) आपके कार्य का सतत् प्रचार कर रहा है।

"सर्वधर्म समन्वयी" की अलंकारिक पदवी आप को आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी ने बम्बई में एक विधिवत सभा में (जिस में आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी थे) प्रदान की थी।

जिन-शासन-रत्न आचार्य श्री ने मुरादाबाद की ओर विहार करने से पूर्व कुछ ऐसे क्षेत्रों में विचरण किया जिनमें आपने काम किया है। एक जैन घर न होते हुए भी आचार्य श्री का भाव भीना और भव्य स्वागत हुआ। वहाँ की जनता के उत्साह और कार्य को देखकर आचार्य श्री ने अपने मुखारविन्द से फरमाया, "जितना सुनता था उनसे कई गुणा अधिक देखा।" गणि जी सर्वधर्म समभाव का भी प्रचार करते हैं इस लिए इन्हें सर्वधर्म समन्वयी के नाम से याद किया जा रहा है। आप के प्रवचन अत्यन्त प्रभावशाली एवं उत्साहवर्धक होते हैं।

श्री जिनशासनरत्न ने वि० सं० २०११ में सूरत (गुजरात) में आपको गणि की उपाधि से अलंकृत किया। बम्बई में अनेक श्री जैनसंघों ने आचार्य श्री जी से विनती की कि श्री जनकविजय जी को आचार्य पद प्रदान करके अपना पट्टधर स्थापित करें। परन्तु आपको पद से मोह न था। कार्य से था। आपने यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया। आचार्य श्री के जीवन काल में तथा उनके स्वर्गवास के बाद भी अनेक श्रीसंघों की उत्कट भावना थी कि आपको ही श्री जिनशासनरत्न का पट्टधर बनाया जाय। पर आपने पुन: मनाकर दिया।

"सर्वधर्मसमन्वयी" की अलंकारिक पदवीं आपको आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी ने बम्बई में एक विधिवत सभा में (जिसमें आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी भी थे) प्रदान की थी।

मुनि हेमचन्द्रविजय व मुनि यशोभद्रविजय

जंडियाला गुरु जिला अमृतसर (पंजाब) में बीसा ओसवाल दूगड़ गोत्रीय लाला गुरुदित्ता मल जी के तीन पुत्र थे। १. श्री गोपीमल, २. श्री बाबूमल और ३. श्री मोहकमचन्द। ये

थोक करियाणे का व्यापार करते थे। लाला बाबूराम जी की पत्नी श्रीमती प्रासादेवी की कुक्षी से दो पुत्रों तथा एक पुत्री का जन्म हुआ—

१. श्री गुज्जरमल, २. श्री लालचन्द तथा श्रीमती कमलावन्ती। श्री लालचन्द का जन्म वि० सं० १९९० में हुआ। वि० सं० २००७ (१७ वर्ष की आयु) में गुजरांवाला निवासी श्री रलाराम मुन्हानी की पुत्री महिमावन्ती के साथ विवाह हुआ। इससे छह सन्तानें हुई—१. पुत्री उषारानी २. पुत्र प्रेमचन्द, ३. पुत्री मधुबाला, ४. पुत्री प्रवीणकांता ५. पुत्र मंगतराय और ६. पुत्री सरोजबाला।

लालचन्द के पिता का स्वर्गवास वि० सं०२००७ में और माता का देहांत वि० सं० २०११ में हो गया था। वि० सं० २०१७ में लालचन्द अपने परिवार के साथ लुधियाना आ गया। यहाँ स्टैपल कपड़े का व्यापार किया।

लालचन्द को पच्चीस वर्ष की आयु (वि० सं० २०१५) में संसार से वैराग्य होगया और धार्मिक ग्रंथों का स्वाध्याय करने लगा, इससे उत्तरोत्तर वैराग्य भावना को बल मिलता गया। लुधियाना में महिमावंती ने दो वर्षीतप किये, इससे इसे भी संसार से वैराग्य हो गया। अब दोनों ने पुत्र मंगतराय पुत्री प्रवीणकांता तथा पुत्री सरोजबाला को साथ में लेकर दीक्षा लेने का निश्चय किया। लुधियाना श्रीसंघ ने आप पांचों को ई० सं० १९७० ता० १४ जून को बड़े उल्लास पूर्वक बाजे गाजे के साथ विदा किया। सब आगरा में आये। यहाँ आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी के समुदाय की साध्वी श्री पुष्पाश्री जी से महिमावन्ती, प्रवीणकांता तथा सरोजबाला ने दीक्षा लेकर साध्वीधर्म स्वीकार किया। महिमावन्ती का दीक्षा लेने के बाद दीप्तिश्री नाम हुआ।

श्री लालचन्द अपने पुत्र मंगतराय को अपने साथ लेकर आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी महाराज के पास बम्बई पहुंचे। कुछ मास गुरुदेव की निश्रा में रहकर उनकी आज्ञा से पंन्यास बलवन्तविजय का शिष्य होना स्वीकार किया।

पंन्यास बलवन्तविजय जी बालकेश्वर जी बम्बई में आगमप्रभाकर पुण्यविजय जी तथा आचार्य हेमसागर जी के पास आप दोनों को ले गये और वहाँ वैसाख सुदि ११ संवत् विक्रमी २०२८ को उन्हीं से दीक्षित करवा कर पंन्यास जी ने लालचन्द को अपना शिष्य बनाया और इनका नाम मुनि हेमचन्द्रविजय रखा और मंगतराय को दीक्षा देकर मुनि यशोभद्रविजय जी नाम रखकर हेमचन्द्र विजय का शिष्य बनाया।

मुनि चन्दनविजय जी

खिवाई गाँव जिला मेरठ (उत्तरप्रदेश) के अग्रवाल गोयल गोत्रीय लाला रायमलदास के पुत्र चन्दनलाल ने १८ वर्ष की आयु में ऋषि गुलजारीमल स्थानकमार्गी साधु से ली थी। ढूंढक साधु अवस्था में इसका नाम पूर्ववत ही रहा। वि० १९२४ को दोनों गुरु-शिष्य ने रामनगर (पंजाब) में पूज्य बुद्धिविजय (बूटेराय) जी से संवेगी दीक्षा ग्रहण की। ऋषि गुलजारीमल का नाम मुनि मोहनविजय रखा और बुद्धिविजय जी ने अपना शिष्य बनाया और ऋषि चन्दनलाल को दीक्षा देकर उसे मोहनविजय का शिष्य बनाया। नाम मुनि चन्दनविजय रखा। मुनि चंदनविजय जी का स्वर्गवास १०५ वर्ष की आयु में लुधियाना (पंजाब) में हुआ। आप अधिकतर पंजाब में ही विचारे और अनेक जैनमंदिरों की प्रतिष्ठाएं कराईं। इनका शास्त्रभंडार खिवाई में लाला ऋषभदास श्वेतांबर जैन अग्रवाल के पास सुरक्षित है।

आचार्य श्री विजय उमंग सूरि

रामनगर (गजरांवाला पंजाब) में वीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय लाला गंगाराम के पुत्र श्री परमानन्द ने आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के प्रथम शिष्य मुनि श्री विवेकविजय जी वि० सं० १९६६ में दीक्षा ली। नाम मुनि उमंगविजय रखा गया। क्रमशः पंन्यास, गणि तथा आचार्य पद प्राप्त किया। आचार्य पदवी के बाद नाम विजयोमंग सूरि हुआ। दीक्षा लेकर आप आजीवन गुजरात में ही रहे। आपका स्वर्गवास साम्बरमती-अहमदाबाद में हुआ। आपने अनेक संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के जैनग्रंथो का संपादन करवाकर प्रकाशन कराया था।

मुनि शिवविजय

गुजरांवाला निवासी लाला मोतीराम ओसवाल दूगड़ गोत्रीय ने लगभग ५५ वर्ष की आयु में बड़ौदा (गुजरात) में वि० सं० १९८२ मिति फाल्गुन सुदि ३ को शांतमूर्ति मुनि श्री हंसविजय जी तथा पं० ललितविजय जी से दीक्षा ग्रहण की और आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि के शिष्य बने। नाम शिवविजय रखा गया। इन्होंने पंजाबी-हिन्दी मिश्र भाषा में पांच-सात पुस्तकें लिखीं। इनका स्वर्गवास लुधियाना में लगभग ८५ वर्ष की आयु में हुआ।

मुनि जितेन्द्रविजय

गुजरांवाला निवासी ओसवाय मुन्हानी गोत्रीय लाला मोतीलाल के सुत्र प्रतूलचंद ने आचार्य विजयसमुद्र सूरि से गणि जनकविजय जी के शिष्य रूप में दीक्षा ली। नाम मुनि जितेन्द्र-विजय रखा गया।

मुनि जयशेखरविजय

पट्टी जिला अमृतसर के ओसवाल लाला किशनचन्द जी के पुत्र लाला प्रवेशचन्द के पुत्र ने आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि से बालमुनि के रूप में दीक्षा ली। नाम मुनि जयशेखरविजय रखा गया।

मुनि उद्योतविजय जी आदि

(१) अंबाला के उत्तराध—लौंकागच्छ के यति उत्तमऋषि ने वि० सं० १९३५ में लुधियाना में विजयानन्द सूरि से वि० सं० १९३५ में संवेगी दीक्षा ग्रहण की। नाम मुनि उद्योत-विजय रखा गया।

(२) यति दुनीचन्द ने आचार्य श्री विजयानन्द सूरि से पंजाब में दीक्षा ली नाम मुनि विनयविजय रखा गया।

(३) होशियारपुर निवासी उत्तमचन्द ने आचार्य श्री विजयानन्द सूरि से दीक्षा ली। नाम कल्याणविजय रखा गया।

(४) जेजों के मोतीचन्द दूगड़ ने दीक्षा ली। नाम मोतीविजय रखा गया।

(५) अमृतसर के लाला मोतीचन्द ने वि० सं० १९३७ में पिंडदादनखां (पंजाब) में आचार्य श्री विजयानन्द सूरि से दीक्षा ली। नाम मुनि सुन्दरविजय रखा गया।

इस प्रकार अनेक मुमुक्षुओं ने पंजाब में श्वेतांबर संवेगी मुनियों की दीक्षाएं लेकर इस क्षेत्र में जैनधर्म का प्रचार तथा प्रसार किया।

ढूंढक (स्थानकमार्गी) साधु समुदाय

वि० सं० १९३५ से लेकर आजतक पंजाब क्षेत्र में इस मत के साधुओं का सर्वत्र प्रसार और प्रचार है। प्रायः सब नगरों में सदा-सर्वदा इन लोगों का निवास रहता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय

इस मत के साधुओं का कई शताब्दियों तक विच्छेद रहा। लगभग एक शताब्दी में इस मत में इने-गिने साधु दीक्षित हुए हैं। और इनका विहार क्षेत्र अधिकतर दक्षिण भारत से दिल्ली तक ही आजकल भी रहा है। मात्र एक दो मुनि हरियाणा में अंबाला तक गये हैं और वे भी एक दो चतुर्मास करके पंजाब से वापिस लौट आये हैं।

साध्वी समुदाय

प्रवर्तनी साध्वी देवश्री जी

अंबाला शहर में बीसा ओसवाल भाबू गोत्रीय लाला देवीचन्द्र जी के सुपुत्र लाला नानकचन्द की धर्मपत्नी श्रीमती श्यामादेवी की कुक्षी से वि० सं० १९३५ वैसाख सुदि १० को जीवी नामक पुत्री का जन्म हुआ। ये तीन बहनें थीं, जीवी मंझली थी।

जीवी की आठ वर्ष की आयु में इसकी माता का देहांत हो गया। बाद में छोटी बहन भी मर गई। विवश होकर पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। कुछ समय बाद जीवी की बड़ी बहन अक्की का भी देहावसान हो गया।

जीवी का विवाह वि० सं० १९४८ जेठ प्रविष्ठे २६ को १३ वर्ष की आयु में जोधा गाँव (लुधियाना) निवासी लाला शोभामल के सुपुत्र श्री चम्बामल के साथ हो गया। विवाहोपरांत जब जीवीबाई ससुराल पहुंची कुछ ही घंटों बाद इसके पति चम्बलाल हैजा के रोग से आक्रांत हो गये। बहुत उपचार करने पर भी वे निरोग न हो पाये और अन्त में उनका देहान्त हो गया। जीवीबाई को सोहागरात मनाना भी नसीब न हुई। यह सदा के लिये पतिसुख से वंचित होकर बालविधवा हो गई।

जीवीबाई को उसके पिता अंबाला ले आये। उसे जन्म से ही माता-पिता से धार्मिक संस्कार मिले थे। वह अधिकतर मायके में ही रहने लगी। कभी-कभी ससुराल में भी चली जाया करती थी। उस समय पंजाब में सर्वत्र ढूंढकमत का ही बोलबाला था। श्वेताम्बर संवेगी साध्वियों को पंजाब में तीन सौ वर्षों से विचरने का अवसर प्राप्त न हुआ था। यद्यपि अब से पचास वर्ष पहले पंजाब में श्वेतांबरधर्म का इस युग में सद्धर्मसंरक्षक मुनि श्री बूटेराय (बुद्धिविजय) जी ने सर्वत्र प्रचार करके सच्चे धर्मामृत का पान कराकर इस धर्म के अनुयायियों में वृद्धि की थी, उनके बाद उन्हीं के शिष्य तपागच्छीय आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी भी इसी धरा को पावन कर रहे थे परन्तु अभी तक श्वेतांबर संवेगी साध्वियों ने इस धरती पर पदार्पण नहीं किया था। जीवीबाई के माता-पिता का परिवार जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक धर्म का अनुयायी था। जीवीबाई को भी मूर्तिपूजा पर दृढ़ श्रद्धा थी, वह दर्शन किये बिना अन्न जल ग्रहण नहीं करती थी।

जीवीबाई को संसार से वैराग्य हो गया, वह ढूंढकमत की साध्वी प्रेमादेवी के पास स्थानक में आकर जैन थोकड़ों आदि का अभ्यास करने लगी। जब प्रेमादेवी को यह पता लगा की जीवी का विचार दीक्षा का है तब उसने इसे अपने पास दीक्षा लेने के लिए प्रेरणा करना शुरू कर दिया। जीवीबाई को मूर्तिपूजा पर अनन्य श्रद्धा थी। वह जानती थी कि ढूंढकपंथ जिन-प्रतिमा उत्थापक है, इसलिये वह इस मत की दीक्षा लेने को राज़ी न हुई। परन्तु निरन्तर जैन धर्म का अभ्यास करने केलिये वह स्थानक में प्रेमादेवी के वहाँ जाती रही। एकदा प्रेमादेवी ने जीवी बाई को जिनमंदिर तथा जिनप्रतिमा को न मानने का बलात् नियम दिला दिया। जीवी के आपत्ति करने पर आर्जा प्रेमादेवी ने कहा कि 'जिनप्रतिमा का मानना मिथ्यात्व है इसलिये हमने तुम्हें सम्यक्त्व देकर जैनधर्म में दृढ़ किया है। यह बात जीवीबाई को बहुत अखरी और उसको एक दम ठेस लगी। पर क्या कर सकती थीं। इस दिन से ढूंढक साध्वियों की यह कोशिश जारी रही कि जीवी इनके पास यथासंभव शीघ्र दीक्षित हो जावे पर इसकी भावना तो मंदिर आम्नाय में (श्वेतांबर संवेगी) दीक्षा लेने की थी। पंजाब में संवेगी साध्वियों का एकदम अभाव था।

पंजाब में संवेगी साध्वियों का आगमन

लगभग तीन शताब्दियों से पंजाब की धरती पर श्वेतांबर मन्दिर आम्नाय के साधु-साध्वियों का आवागमन न होने से इस धर्म के अनुयायियों का प्रायः अभाव हो चुका था। वि० सं० १६०० से सद्धर्मसंरक्षक मुनि श्री बुद्धिविजय जी तथा उन्हीं के प्रौढ़ चारित्र-चूड़ामणि प्रकांड विद्वान न्यायांभोनिधि तपागच्छीय जैनाचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी के सद्-प्रयास से पंजाब की पवित्र धरती पर सर्वत्र श्वेतांबर धर्म का भी बोलबाला था। वि० सं० १६५१ में गुजरात प्रांत से बीकानेर होते हुए दो संवेगी साध्वियाँ एक वैरागन महिला के साथ आचार्य श्री विजयानन्द सूरि आदि मुनिराजों के दर्शनार्थ पंजाब के जीरा नगर में पधारीं। उस समय आचार्य श्री जीरा नगर में विद्यमान थे।

साध्वी श्री चन्दनश्री व छगनश्री ने पंजाब में सर्वत्र पधारकर साहसपूर्ण कदम उठाया। और इन्होंने यह चतुर्मास भी आचार्य श्री की निश्रा में जीरा में ही किया। चौमासा के बाद आचार्य श्री ने वैरागन बाई को दीक्षा देकर चन्दनश्री की शिष्या बनाया और उसका नाम उद्योत-श्री रखा। तत्पश्चात् तीनों साध्विया पंजाब में विचरण करने लगीं।

बाल ब्रह्मचारिणी जीवीबाई की दीक्षा—दीक्षा के बाद नाम साध्वी देवश्री जी।

संवेगी साध्वियों के पंजाब में पधारने के समाचार जब जीवीबाई ने सुने तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। वह उनके दर्शन करने गई और अपनी भावना दीक्षा लेने की बतलाई। जीवी की भावना आचार्य श्री विजयानन्द सूरि से दीक्षा लेने को थी परन्तु ससुराल वालों ने दीक्षा लेने की आज्ञा नहीं दी। इसलिये दीक्षा लेने में विलम्ब होता गया। वि० सं १६५३ जेठ सुदि ८ मंगल-वार को आचार्य श्री का गुजरांवाला में स्वर्गवास हो गया। जीवीबाई की दीक्षा लेने की भावना भी उत्तरोतर वृद्धि पाती गई। अन्त में ससुराल वालों को दीक्षा की आज्ञा देनी पड़ी। वि० सं० १६५४ मिति माघ सुदि ५ (बसंतपंचमी) के दिन जंडियाला गुरु में मुनि वल्लभविजय (आचार्य विजयवल्लभ सूरि) जी ने जीवीबाई को दीक्षा देकर चन्दनश्री की शिष्या बनाया। नाम

साध्वी देवश्री जी रखा। इस समय जीवीबाई की आयु १६ वर्ष की थी। इस समय जंडियाला गुरु में बाबा मुनि श्री कुशलविजय जी, मुनि श्री हीरविजय जी, मुनि श्री सुमतिविजय जी तथा मुनि श्री वल्लभविजय जी विराजमान थे। साध्वी चंदनश्री, छगनश्री, उद्योतश्री तीन साध्वियों तथा इन साधुओं को शिक्षण देने के लिए पट्टी (पंजाब) निवासी बीसा ओसवाल नाहर गोत्रीय पंडित अमीचन्द जी शास्त्री भी मौजूद थे।

दीक्षा के अवसर पर जीवीबाई के ससुराल के परिवारवाले नहीं आये थे। उन्होंने एक पत्र में यह लिखा था कि जीवीबाई से ममता है कारण दीक्षा लेने से उसे अपने परिवार से अलग होते हुए देखना हमें असह्य है इसलिये हमने दीक्षा की आज्ञा तो दे दी है पर इस शुभ प्रसंग पर हमारी उपस्थिती असंभव है।

दीक्षा का सारा खर्च जंडियाला गुरु निवासी लाला झंडामल जी लोढ़ा ने किया और माता-पिता लाला हमीरमल जी दुग्गड़ और उनकी पत्नी बने। दीक्षा लेने से पहले जीवीबाई ने अपना सारा जेवर अपने जेठों—लाला हरदयालमल व लाला प्रभुमल बंभ को भेज दिया। देवश्री जी इस युग में पंजाब में सर्वप्रथम पंजाबी साध्वी बनीं।

दीक्षा लेने के बाद साध्वी देवश्री जी व्याकरण, संस्कृत, प्राकृत, तथा प्रकरणों आदि के अभ्यास करने में तल्लीन रहने लगीं। गुरुणी जी के साथ, पट्टी, मालेरकोटला में चतुर्मास किए। गुजरात की तीन महिलाओं ने पंजाब में दीक्षा लेकर आपकी शिष्याएं बनने का सौभाग्य प्राप्त किया। इनके नाम दानश्री, दयाश्री तथा क्षमाश्री रखे गये।

मालेरकोटला से विहार कर आप अपनी गुरुणी जी चन्दनश्री आदि साध्वियों के साथ लुधियाना आईं। यहाँ पर उपाश्रय कोई नहीं था। इसलिये लाला शिब्बूमल जी शादीराम जी के खाली मकान में साध्वियों ने निवास किया। वहीं पर सब महिलाएं हमारी चरित्रनायका से धर्मोपदेश सुनने केलिये आने लगीं। श्राविकाओं में स्थानीय जैनों के घरों में जा जा कर उपाश्रय केलिए धन इकट्ठा करना शुरु कर दिया, कई महिलाओं ने अपने तरफ से एक-एक कमरे के लिये धन दिया। जिससे उपाश्रय के लिये जमीन लाला मिलखीराम जी की धर्मपत्नी ने दान में दी। उस पर उपाश्रय का निर्माण हो गया। पश्चात् आपके उपदेश से इसी उपाश्रय में श्री आत्मानन्द जैन धार्मिक कन्या पाठशाला की स्थापना हुई जिसमें बालिकाएं धर्मशिक्षा पाने लगीं। लुधियाना में दो मास स्थिरता करने के पश्चात् होशियारपुर की ओर विहार करदिया। छोटे-छोटे गाँवों और नगरों में विचरण करके चन्दनश्री जी आदि सात साध्वियाँ धर्म का सर्वत्र उद्योत करने लगीं। अमृतसर के चतुर्मास के बाद चन्दनश्री, छगनश्री, उद्योतश्री इन तीन गुजराती साध्वियों ने बीकानेर जाने के लिए विहार कर दिया। बीकानेर पहुंचने पर चन्दनश्री जी का विक्रम संवत् १९५६ को स्वर्गवास हो गया। साध्वी श्री देवश्री जी अपनी तीन शिष्याओं के साथ पंजाब में ही विचरणे लगीं।

वि०सं० १७६२ में जीरा में श्री देवश्री जी तथा इनके साथ इनकी तीन शिष्याओं, दानश्री, दयाश्री व क्षमाश्री जी को मुनिश्री पंन्यास सुन्दरविजय जी ने बड़ी दीक्षाएं दीं। क्योंकि साध्वी चन्दनश्री जी का अब स्वर्गवास हो चुका था इसलिये देवश्री जी को बड़ी दीक्षा साध्वी कुंकुमश्री के नाम से देकर उनकी शिष्या बनाया गया। कुंकुमश्री चन्दनश्री जी की बड़ी

शिष्या थी। बाकी की आपकी शिष्याओं को बड़ी दीक्षा देकर आपकी (देवश्री जी की) शिष्यायें बनाया गया। तत्पश्चात् आपने बीकानेर की तरफ प्रस्थान किया।

लुधियाना के बीसा ओसवाल लाला रलयाराम की पुत्री शांतिदेवी के विवाह की मिति निश्चित हो गई, पर शांतिदेवी संसार की असारता के कारण विवाह नहीं करना चाहती थी। वि० सं० १९६२ में वह हमारी चारित्रनायिका के पास आई और दीक्षा लेने की भावना प्रकट की उत्कट वैराग्य के कारण विवश होकर माता-पिता को अपनी पुत्री को दीक्षा लेने की आज्ञा देनी पड़ी। वि० सं० १९६३ में बीकानेर में कु० शांतिदेवी की भागवती दीक्षा पंन्यास सुन्दरविजय जी ने देकर साध्वी देवश्री की शिष्या बनाया और नाम हेमश्री जी रखा।

हमारी चारित्रनायिका ने वि० सं० १९६३ का चौमासा बीकानेर में करके आगे को कूच किया। वि० सं० १९६४ में सिद्धाचल जी की यात्रा करके चौमासा पालीताना में किया। इस प्रकार राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि क्षेत्रों में विचरते हुए आपकी अनेक शिष्याएं-प्रशिष्याएं बनीं। सर्वत्र धर्म का उद्योत करते हुए इन क्षेत्रों में आनेवाले सब तीर्थों की यात्राएं करके आत्म-कल्याण किया। श्री सिद्धगिरि की निणाणूं यात्राएं भी की। गिरनार, आबू, तारंगा आदि की स्पर्शना भी की। कई छरी पालित श्रावक-श्राविकाओं के संघों के साथ भी तीर्थयात्राएं कीं।

पुनः पंजाब में आगमन

वि० सं० १९७६ में आप अपनी शिष्याओं-प्रशिष्याओं के साथ पुनः पंजाब पधारे और वि० सं० १९७७ का चतुर्मास आपने लुधियाना में किया। इस समय स्वामी सुमतिविजय जी का चौमासा भी यहीं था। चार वर्ष पंजाब में सर्वत्र विहार कर वि० सं १९८१ में लाहौर पधारे। इसी वर्ष लाहौर में पुरातन जिनमंदिर का जीर्णोद्धार होकर आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के द्वारा प्रतिष्ठा हुई और चतुर्विधसंघ ने मुनि श्री वल्लभविजय जी को आचार्य पदवी प्रदान की। आचार्य श्री तथा आपके चतुर्मास लाहौर में ही हुए।

वि० सं० १९८२ में गुजरांवाला में आचार्य श्री ने श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल पंजाब की स्थापना की। हमारी चरित्रनायिका भी गुजरांवाला में साध्वीमंडल सहित पधार गये थे। यह चौमासा भी गुजरांवाला में ही हुआ। पश्चात् नारोवाल, जीरा आदि में विचरण करते हुए गुरुकुल के प्रचार तथा आर्थिक सहयोग केलिये श्रीसंघों को प्रेरणा करने में संलग्न रहे।

स्वाध्याय, शास्त्राभ्यास आदि सदा चालू रखते थे। स्वस्थ-अस्वस्थावस्था में, वृद्धावस्था में भी आप सदा ज्ञानार्जन में तल्लीन रहते थे। जहां आचार्य श्री का चतुर्मास होता यदि उस वर्ष आप का चतुर्मास भी उसी नगर में होता तो आप व्याख्यान में उपस्थित होकर जिस शास्त्रादि का व्याख्यान आचार्य श्री फरमाते उसी शास्त्र को खोलकर सामने रख लेते और उसकी धारणा करते थे।

प्रवर्तनी पद से विभूषित

आपको आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी ने प्रवर्तनी पद से विभूषित किया और आप ने इस पद को इतनी कुशलतापूर्वक निभाया कि आप इस युग की आदर्श प्रवर्तनी कहलाये।

वि० सं० १९९७ को आपका तथा आचार्य श्री का चतुर्मास गुजरांवाला में था। उस समय आचार्य श्री ने सारे श्रीसंघ के समक्ष अपने मुखारविंद से फरमाया कि प्रवर्तनी साध्वी जी देवश्री जी

धन्य हैं कि जिन्होंने पंजाब भर से गुरुकुल पंजाब को प्रचुरदान दिला कर अपने विद्याप्रेम का पूर्ण परिचय दिया है।

वि० सं० २००१ को हमारी चारित्रनायिका बीकानेर पधारे। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि का चतुर्मास भी वहीं था। इस वर्ष बीकानेर में हमारी चारित्रनायिका के सद्प्रयत्नों और उपदेशों के प्रभाव से—(१) श्री विजयानन्द सूरीश्वर जी का जन्मजयन्ति महोत्सव, (२) प्रभु महावीर का जयन्ति महोत्सव, (३) नवपद ओली तप, (४) दीक्षा महोत्सव आदि अनेक धर्मकार्य आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के सान्निध्य में बड़ी धूम-धाम तथा सफलता पूर्वक हुए।

वि० सं० २००१ वैसाख सुदी ६ को आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के करकमलों से श्री जैन श्वेतांबर तपागच्छ दादावाड़ी की प्रतिष्ठा समारोह पूर्वक हुई।

परम गुरुभक्त आचार्य श्री विजयललित सूरि, तथा संस्कृत और प्राकृत के असाधारण विद्वान, इतिहास के ज्ञाता, प्राचीन साहित्य-पांडुलिपियों के संशोधक मुनि श्री चतुरविजय जी भी आचार्य श्री के साथ इस बीकानेर के चतुर्मास में विराजमान थे। इन्होंने भी आचार्य श्री के साथ पंजाब में आना था परन्तु मुनि श्री चतुरविजय जी का स्वर्गवास बीकानेर में ही हो गया।

बीकानेर के चतुर्मास के पश्चात् हमारी चरित्रनायिका अपनी शिष्या-प्रशिष्याओं के साथ पुन: पंजाब पधार गये। वि० सं० २००२ का चौमासा जंडियाला गुरु में किया। चतुर्मास के पश्चात् वि० सं० २००३ को आप गुजरांवाला पधारे। पूज्य आचार्य विजयवल्लभ सूरि भी गुजरांवाला होकर स्यालकोट अपने मुनिमंडल के साथ पधारे और वहां नवनिर्मित जैन श्वेतांबर मंदिर की प्रतिष्ठा करवाई। इस अवसर पर स्यालकोट में लुधियाना निवासी स्वर्गस्थ लाला पन्नालाल जी बंभ की विधवा धर्मपत्नी और लाला मोतीलाल मुन्हानी गुजरांवाला निवासी की पुत्री प्रकाशवंती की दीक्षा आचार्य श्री के वरद हाथों से हुई। नाम प्रकाशश्री रखा और साध्वी दमयन्ती श्री की शिष्या बनाई गई। आदर्श प्रवर्तनी जी अस्वस्थ होने के कारण गुजरांवाला में ही विराजमान रहीं

वि० सं० २००४ का चतुर्मास गुजरांवाला में किया। आचार्य श्री का चतुर्मास भी गुजरांवाला में ही था।

देश विभाजन

पंद्रह अगस्त १९४७ ई० भारतीय इतिहास में अमर है। इस दिन शताब्दियों के बाद भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के साथ ही एक दु:खित अभिशाप भी आया—वह था देश का -हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में विभाजन। विभाजन के साथ ही अनेक आततायी ताकतें उभर आयी और सारा देश रक्तरंजित हो गया। पाकिस्तान में इस तरह निरापराध मानवों के रक्त की होली खेली गई कि युग-युग तक मानव जाति की इस नृशंस हत्या पर मानव समाज काले दाग के रूप में स्मरण करती रहेगी। लाखों व्यक्ति बेघर-बार हो गये और लाखों ललनाएं अनाथ हो गईं। इनके करुण-क्रन्दन से दसों दिशाएं कम्पित हो उठीं। इस तुफान से गुजरांवाला भी न बच पाया। वहां के तमाम अमुस्लिम खतरे में पड़ गये।

गुजरांवाला में भी लूट तथा आग लगाने की सर्वत्र वारदातें होने लगीं। समाधिमंदिर की बाहर की खिड़कियों को आग लगा दी गई। उपाश्रय तथा जैनमंदिर को भी नष्ट-भ्रष्ट करने के

परोग्राम बन चुके थे। आक्रमणकारियों ने अनेक बार जैन धर्मस्थानों पर आक्रमण करने के मनसूबे बनाये। पर आचार्य श्री के प्रताप तथा प्रवर्तनी जी के शील के प्रभाव से वे सदा असफल रहे।

आचार्य श्री अपने मुनिमंडल सहित तथा प्रवर्तनी जी आदि साध्वियां तथा सकल जैन संघ इस समय गुजरांवाला में ही थे। यह समय चतुर्मास का था।

पाकिस्तान में तार-पत्रों का व्यवहार बन्द हो गया। पंजाब के जैनसंघों के सब नगरों में क्या परिस्थिति है उसे जानने का कोई साधन न रहा। भारत में रहनेवालों को भी साधु-साध्वियों, तथा श्रावक-श्राविकाओं का क्या हुआ उसका समाचार मात्र नहीं मिल पाता था। समाचार पत्रों में भी जो समाचार छपते थे वे भी अधूरे थे। एक समय तो सारे भारत में यह अफ़वाह फैल गई थी कि—पाकिस्तान में तीन जैनसाधु कत्ल कर दिये गये हैं—आचार्य श्री को भी पत्थर लगे हैं, साध्वियों का पता नहीं है, सभी जिनमन्दिर भस्मीभूत हो चुके हैं। इन सब समाचारों से जैनजगत बेचैन हो गया। आचार्य श्री, साधु-साध्वियों के बचाने केलिए तारों पर तार दिये जाने लगे। साधु-साध्वियों को वायुयानों से लाने केलिये हलचल मच गई। जब गुरुदेव को किसी प्रकार से ये समाचार मिले तो उन्होंने एकदम इनकार कर दिया और घोषणा की कि जब यहाँ के श्रावक-श्राविकाएं पाकिस्तान से सुरक्षित निकल जावेंगे तभी हम साधु, साध्वी भी निकलेंगे। इस पर और भी अधिक बेचैनी होने लगी। परन्तु देव, गुरु, धर्म के प्रताप से किसी भी श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी को नुकसान नहीं हुआ।

पर्यूषण पर्व के बाद वि० सं० २००४ भादों सुदी ११ शुक्रवार ता० २६-९-१९४७ ई० के दिन गुजरांवाला नगर से चलकर आचार्य श्री तथा प्रवर्तनी जी अपने-अपने साधु-साध्वियों के साथ गुजरांवाला के स्थानकमार्गी तथा श्वेतांबर आम्नाय के समस्त श्रावक-श्राविकाओं को साथ में लेकर श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल में पधारे। दूसरे दिन ता० २७-९-४७ को साय ४॥ बजे सारा चतुर्विध संघ सुरक्षित लाहौर जा पहुंचा। अग्रिम व्यवस्था के अनुसार सबने नेशनल कालेज लाहौर में विश्रांति ली। दूसरे दिन प्रातःकाल समस्त साधु-साध्वियों ने गरम पानी से पारणा किया और श्रावक-श्राविकाओं ने दोपहर के बाद थोड़ी खाद्यसामग्री याने दाल के साथ दो-दो रूखी रोटियां खा कर संतोष मनाया।

रविवार ता० २८-९-१९४७ की संध्या को अमृतसर शहर के बाहर शरीफ़पुर में रहे और दूसरे दिन सोमवार ता० २९-९-१९४७ को प्रातःकाल को समस्त साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं ने अमृतसर नगर में प्रवेश किया।

पाकिस्तान से सही-सलामत भारत पहुंचने का समस्त श्रेय मात्र आचार्य भगवान् श्री मद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी तथा आदर्श प्रवर्तनी जी की प्रभावकता को था। परन्तु व्यवहारिक रूप से इस यश की भागी बम्बई की मानवी राहत समिति और मुख्यतः गुरुभक्त श्री फूलचन्द शामजी, श्री फूलचंद नगीनदास, श्री मणिलाल जयमल शेठ, तथा गुजरांवाला निवासी लाला माणकचंद जी के सुपुत्र लाला कपूरचंद जी दूगड़ हैं।

चतुर्मास में जैन साधु-साध्वी एक नगर से दूसरे नगर पर साधारण स्थिति से विहार नहीं करते हैं, यह उनकी मर्यादा है। परन्तु दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध, अशांत वातावरण, रक्तपात आदि

विषम समय में साधु-साध्वी अन्यत्र विहार कर सकते हैं। चारित्र की रक्षा के लिए जैनशास्त्रों में 'अपवाद सेवन' का विधान है। अतएव ऐसे विषम समय में आचार्यदेव समस्त साधु-साध्वियों के धर्म और चारित्र की रक्षा की दृष्टि से चतुर्मास में पाकिस्तान से भारत आना शास्त्रसम्मत तथा दूरदर्शिता पूर्ण था।

पाकिस्तान से आने के बाद हमारी चारित्रनायिका का स्वास्थ्य एकदम गिरगया और घूमना-फिरना एकदम बन्द हो गया। आचार्यश्री दो तीन दिन के अन्तर में आप को दर्शन देने के लिए पधारते रहे।

स्वर्ग गमन

मिति आसोज सुदि ६ को दोपहर के दो बजे आपने आचार्य श्री के पास दर्शन देने के लिए अपनी शिष्या बसंतश्री को भेजा और कहलाया कि आज का दिन इस देह को त्याग करने का आ गया है।

आचार्य भगवान अपने दो शिष्यों के साथ दर्शन देने को पधारे उस समय वह सिद्धगिरि-सिद्धगिरि का नाम जप रही थी। गुरुदेव को देखते ही आपने हाथ जोड़ कर वंदना की और गुरुदेव ने आपको मांगलिक पाठ सुनाया और उनके मस्तक पर वासक्षेप डाला।

वि० सं० २००४ की आसोज सुदी ६ को संध्या के ६। बजे अर्हन्-अर्हन् शब्दों का उच्चारण करते-करते इस नश्वर देह का त्याग कर स्वर्गगमन किया। दूसरे दिन सकल पंजाब श्री संघ ने आप की देह का विमान रूपी पालखी में लेजाकर बाजे-गाजे के साथ अग्निसंस्कार किया।

आपके जीवन की विशेष घटनाएं

(१) **तपस्या**—आपका जीवन तपस्या से ओतप्रोत था। आप अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करते क्योंकि इच्छाओं के निरोध को ही तप कहा है। अनेकों उपवास, बेले, तेले, अट्ठाइयां, आयंबिल की ओलियाँ आदि तप किये। परन्तु उनकी निश्चित सख्या नहीं मिलती। यह बात तो निश्चित है कि आप एक महान तपस्विनी थीं। आप ने अंतिम श्वासों तक महान तपस्या करते हुए महान आदर्श उपस्थित किया।

(२)**विद्योपासना**—दीक्षा लेने से लेकर आप सर्वदा ज्ञानार्जन मे संलग्न रहती। नव-नव ज्ञान प्राप्त करने से कभी नहीं चूकते थे। वृद्धावस्था में जब आपको कोई भी विद्वान मिल पाता उसके पास निःसंकोच विद्याध्ययन करने लग जाते। आचार्य श्री के प्रवचनों में उपस्थित होकर प्रवचन के समय उस शास्त्र के पन्नों को खोलकर प्रवचन श्रवण करते थे और जहाँ-जहाँ शंका उपस्थित होती थी वहाँ-वहाँ प्रश्नों से समाधान कर लेते थे। अपने साथ की सब शिष्याओं प्रशिष्याओं को स्वयं भी वाचना देते थे। गीतार्थ साधुओं से भी वाचना दिलाते थे और विद्वान पंडितों से भी विद्याभ्यास कराते थे। किसी भी साध्वी को निठल्ले नहीं बैठने देते थे। उनके चारित्र दृढ़ता पूर्वक निर्वाह करने के लिये सदा-सर्वदा पूरा-पूरा ध्यान रखते थे।

(३) **साधनहीन श्रावक-श्राविकाओं का स्थिरीकरण**—

श्रावक-श्राविकाओं की नाजुक परिस्थिति को जानने पर आप का हृदय दया से आर्द्रित हो उठता था और गुप्त रूप से साधन सम्पन्न गृहस्थों द्वारा उनकी समस्याओं से उद्धार करा देते थे।

(४) जैन संस्थाओं को आर्थिक सहयोग दिलाने के लिए आप सदा प्रयत्नशील रहे।

शिष्या परिवार

आदर्श प्रवर्तनी साध्वी श्री देवश्री जी ने छोटी दीक्षा साध्वी चंदनश्री जी से ली और बड़ी दीक्षा साध्वी कुंकुमश्री जी के नाम से हुई। इसलिए आप कुंकुमश्री जी की शिष्या कहलाये।

१. देवश्री जी की शिष्याएं—श्री दानश्री जी, श्री दयाश्री जी, श्री क्षमाश्री जी, हेम श्री जी, विवेकश्री जी, चन्द्रश्री जी, चरणश्री जी, चित्त श्री जी, धनश्री जी, चतुरश्री जी, ललितश्री जी, पद्मश्री जी, जिनेन्द्रश्री जी, महेन्द्रश्री जी, शीलवतीश्री जी, (उपसंपदा ग्रहण की)।

आप की इन उपर्युक्त शिष्याओं की शिष्याओं, प्रशिष्याओं की संख्या लगभग पांच सौ होगी। जो निरातिचार चरित्र का पालन करते हुए सारे भारत में जैनधर्म की प्रभावना करते हुए स्व-पर कल्याण में अग्रसर हो रही है। इनमें से कई साध्वियां तो ऐसी हैं जो प्रौढ़ ज्ञानसंपन्न, चारित्रचूड़ामणि होने के साथ-साथ जैनशासन की उन्नति, प्रभावना, प्रचार तथा प्रसार करने में अद्वितीय हैं। जैसे कि जैनभारती, कांगड़ा तीर्थ उद्धारिका, महत्तरा साध्वी श्री मृगावती श्री जी, इनकी शिष्या साध्वी सुव्रता श्री जी शास्त्री साहित्यरत्न तथा जैनदर्शन की प्रौढ़ विदूषी हैं। इसी प्रकार साध्वी श्री जसवन्तश्री जी, साध्वी श्री प्रियदर्शनाश्री जी बी० ए० प्रभाकर तथा संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि भाषाओं की ज्ञाता एवं जैनदर्शन की विदूषी हैं। साध्वीश्री निर्मलाश्री आदि भी ज्ञान और चारित्र में अद्वितीय है। इसी प्रकार अनेक ऐसी साध्वियाँ भी हैं जो उग्र तपस्विनी हैं।

जैनभारती, कांगड़ातीर्थोद्धारिका, महत्तरा, साध्वीरत्न श्री मृगावतीश्री जी आदि

१-साध्वी श्री शीलवती जी महाराज

सौराष्ट्र प्रांत के राणपरदा गाव में वि. स १९५० में शिवकुंवर बहन का जन्म हुआ। वे बाल्यावस्था से ही प्रतिभा-शालिनी, व्यवहारकुशल एवं सहनशील थीं। यद्यपि शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उन्हें घर पर नहीं मिल पाया तथापि धार्मिक संस्कार बचपन से ही उनमें अंकुरित हो गये थे।

सरधारग्राम (राजकोट) निवासी बम्बई के कपड़े के व्यापारी दसा श्रीमाली श्री डूंगरसी भाई संघवी के साथ उनका विवाह हुआ था। दाम्पत्य जीवन की सब सुखसुविधायें प्राप्त थीं, पति का असीम प्यार भी उन्हें प्राप्त था। उनके दो पुत्र व दो पुत्रियाँ थीं। सब प्रकार से सुखी जीवन था। परन्तु यकायक दुःखों का पहाड़ उन पर टूट पड़ा। एक पुत्र व एक पुत्री काल-कवलित हो गये। इस दारुण दुःख को अभी भूल भी न पायी थी कि वि० सं० १९८४ को उनके पति का देहांत भी हो गया। अब वे अपने ससुराल के गाँव सरधार आ गईं। लगता था कि विधाता पग-पग पर उनकी परीक्षा लेने पर ही तुला हुआ है।

यहां आने पर परिवार का एक मात्र आधार दूसरा पुत्र भी १६ वर्ष की आयु में चल

प्रवर्तनी साध्वी श्री देवश्री जी



साध्वीश्री शीलवती श्री जी



महत्तरा साध्वी श्री मृगावती श्री जी अपनी तीन शिष्याओं के साथ



साध्वी सुयशाश्री   साध्वी सुज्येष्ठाश्री   महत्तरा मृगावती श्री जी   साध्वी सुव्रताश्री

साध्वी श्री प्रियदर्शनाश्री साध्वी श्री जसवतश्री जी साध्वी श्री प्रगुणाश्री



साध्वी श्री प्रियरत्नाश्री साध्वी श्री हर्षप्रियाश्री साध्वी श्री प्रियधर्माश्री

बसा। इस दारुण दुःख को भी हृदय पर पत्थर रखकर सहन किया और अपनी एकमात्र पुत्री भानुमती के लालनपालन में लग गई। एकदा भानुमती भी सख्त बीमार हो गई। बहुत उपचार करने पर भी स्वस्थ न हो पाई। जीवित रहने की सब आशाएं धूलि-धूसर हो गई। शिवकुंवर बहन ने मन ही मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि "यदि मेरी यह पुत्री स्वस्थ हो गई तो हम दोनों माता पुत्री भागवती दीक्षा ग्रहण कर लेंगी"। आयु कर्म बलवान होने से भानुमती पूर्ण स्वस्थ हो गई। वि. सं. १९९५ में तीर्थाधिराज श्री शत्रुंजयगिरि की छत्रछाया में अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने अपनी पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। यही माता व पुत्री क्रमशः वर्तमान की साध्वी शीलवतीश्री जी व मृगावतीश्री जी हैं।

साध्वी श्री शीलवती जी का शास्त्राभ्यास तो अल्प ही था, किन्तु रासा, स्तवन, सज्झाय आदि प्राथमिक ग्रंथों के अध्ययन से उनके पास दोहों, कथा-वार्ताओं आदि का अपार भंडार था। इसी कारण से उनके पास बैठनेवालों को समय व्यतीत होने का पता नहीं रहता था।

साध्वी श्री शीलवती जी ने आदर्श प्रवर्तनी साध्वी श्री देवश्री जी से उपसंपदा ग्रहण की तथा उनकी शिष्या बनी। और साध्वी श्री मृगावतीअपनी माता शीलवती जी की शिष्या बनीं।

वे गुरु वल्लभ की ही भांति निर्भीक होकर कटुसत्य कह डालती थीं। गुरु महाराज के प्रति उनकी असीम श्रद्धा और भक्ति थी और अपनी आज्ञा में रहनेवाली साध्वियों के प्रति अपार वात्सल्य था। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी के आदेश से उन्होंने अपनी शिष्या-प्रशिष्याओं के साथ सौराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र में घूम-घूमकर धर्म प्रभावना की। वे जहां भी जाती थी बिना किसी भेदभाव के महावीर वाणी सुनाती थीं। वे अपनी पुत्री और शिष्या श्री मृगावती के प्रति भी सदा जागरुक रहीं। यह इसी जागरुकता का परिणाम है कि मृगावतीजी तेजस्वी, स्वतन्त्रचिंतक, प्रभावक तथा विद्वता की प्रत्यक्ष प्रतिभा सम्पन्न हैं। आध्यात्मिक दृष्टि सम्पन्न और निरातिचार चारित्र पालन आदि गुणों से परिपूर्ण हैं। संघ के कल्याण केलिये इस प्रकार की अनुपम भेंट देने वाली साध्वी श्री शीलवती जी से श्रीसंघ कभी उऋण नही हो सकता। जहां उन्हें अपनी पुत्री के प्रति अपार वात्सल्य था वहां आवश्यकता पड़ने पर वे उसके हित की दृष्टि से कठोर भी हो जाया करती थीं।

पंजाब व बम्बई में वे अत्यन्त लोकप्रिय थीं। वे सदा गरीब तथा मध्यमवर्ग और असहाय वर्ग के हितचिंतन में तल्लीन रहती थीं। उनके गुरु के द्वारा स्थापित जब श्री महावीर विद्यालय बम्बई की शाखाओं में जयन्ती मनाई जा रही थी, तभी वि. सं. २०२४ मिति माघ कृष्णा ४ दिनांक १६ फरवरी १९६८ ई. को सायं ६ बजे बम्बई के महावीर स्वामी देरासर (मन्दिर) के उपाश्रय में ७४ वर्ष की आयु व ३० वर्ष की दीक्षा पर्याय पालकर समाधिपूर्वक उनका स्वर्गवास हो गया।

उनकी श्मसान यात्रा बड़ी विशाल व भव्य थी। उनकी स्मृति में ६३ हजार रुपए की राशि से स्थापित, श्री आत्म-वल्लभ-शील-सौरभ ट्रस्ट से उनकी कीर्ति-पताका स्थाई रूप से फहराती रहेगी।

१-जैनभारती, कांगड़ा तीर्थउद्धारिका, बालब्रह्मचारिणी, महत्तरा साध्वी श्री मृगावती श्री जी आदि ठाणा ४

वि. सं. १६८२ मिति चैत्र शुक्ला ७ के दिन राजकोट (सौराष्ट्र) से १६ मील दूर सरधार नगर में संघवी श्रीडूंगरशीभाई की धर्म परायणा अर्धांगिनी श्रीमती शिवकुंवर बहिन के एक बालिका ने जन्म लिया। यह बालिका दो बहनें और दो भाई थे। नवजात बालिका का नाम भानुमती रखा गया। बालिका अभी दो वर्ष की भी न हो पायी थी कि पिता का साया सिर से उठ गया। दोनों भाई तथा बड़ी बहन का भी देहांत हो गया। इससे माता के दिल को बड़ा भारी धक्का लगा। दिल पर पत्थर रखकर माता शिवकुंवर अपनी इकलौती पुत्री भानुमती के साथ सरधार नगर में रहने लगीं। एकदा भानुमती सख्त बीमार पड़ गई। सब प्रकार की चिकित्सा कराने पर भी स्वास्थ्य लाभ न कर पाई। जीवित रहने की सब आशाओं पर पानी फिर गया। छोटी अवस्था में ही पिता, भाइयों और बहन की मृत्यु ने तथा अपने असाध्य रोग से भानुमती को संसार की असारता का निश्चय हो गया। माता शिवकुंवर भी अपने मन में सोचने लगी कि इस असार-संसार में कोई अपना नहीं है और न ही कोई होगा। केवल धर्म और आत्मसाधना ही साथ देगी। अतः उन्होंने प्रतिज्ञा की कि बालिका के स्वस्थ हो जाने पर अपना और बालिका का भविष्य सुधारने के लिये तीर्थ यात्रा करेंगे और भवबन्धन को तोड़नेवाली भागवती दीक्षा ग्रहण करेंगे। इस प्रकार माता और पुत्री दोनो के हृदयों मे संसार की असारता का विचार करते हुए वैराग्य उत्पन्न हो गया। भानुमती स्वस्थ हो गई। शारीरिक निर्बलता दूर होने पर माता-पुत्री दोनों तीर्थयात्रा केलिये निकल पड़ीं और तीर्थयात्रा करते हुए गिरिराज श्री शत्रुंजय तीर्थ पर आदीश्वर दादा की छत्रछाया में वैराग्य भावना की प्रबलता से सांसारिक मोहमाया को तोड़कर वि. सं. १९९५ मिति पोष सुदि १० के दिन श्रीमती शिवकुंवर बहन ने ४४ वर्ष की आयु में तथा उनकी पुत्री भानुमती ने १३ वर्ष की आयु में भागवती दीक्षाएं ग्रहण की। दीक्षा लेने पर इनके नाम क्रमशः साध्वी श्री शीलवतीजी व साध्वी श्री मृगावतीजी रखा गया और दोनों परस्पर क्रमशः गुरुणी-शिष्या बनीं।

श्री मृगावती जी ने विद्या-अध्ययन में मन लगा दिया। श्री छोटेलाल जी शास्त्री, पण्डित बेचरदासजी दोशी, पण्डित सुखलाल जी संघवी डी. लिट और श्री दलसुखभाई मालवनिया तथा आगमप्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराज ने इन्हे विचक्षण जानकर विद्याध्ययन कराया। इन केलिये विद्याध्ययन कराने मे सेठ कस्तूरभाई लालभाई का पूर्ण सहयोग रहा। तथा माता गुरुणी श्री शीलवती जी का अपार वात्सल्य प्रेरणादायी बना। आप को भारतीय षड्दर्शनों का तथा पाश्चात्य विद्याओं का भी प्रौढ़ ज्ञान है।

हीरे की परख जौहरी एक ही झलक में कर लेता है। युगदृष्टा कलिकाल-कल्प-तरु, अज्ञान-तिमिर-तरणि, युगवीर, भारतकेसरी आचार्य प्रवर श्री मद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी ने साध्वी श्री मृगावती जी को शासन-प्रभाविका जानकर अपना आशीर्वाद प्रदान किया और कलकत्ता में साधु-मुनिराजों के विद्यमान होने पर भी आपको संघ में प्रवचन करने की अनुमती प्रदान की और वीरशासन की इस महाविभूति को चन्दनबाला समान सम्मानित किया।

ई. सं. १९५३ (वि. सं. २०१०) में कलकत्ता में हुई सर्व-धर्म-परिषद में जब आपने जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया तो आपकी वक्तृत्वकला तथा ज्ञानसौरभ की धाक चारों ओर फैल गई। लाखों की संख्या में जैन तथा अजैन प्रजा आपका सार्वजनिक भाषण सुनने को लालायित रहने लगी।

पंजाब केसरी श्री गुरु वल्लभ की आज्ञा को शिरोधार्यकर आपने पंजाब जाने के लिये कलकत्ता से विहार कर दिया। मार्ग में पावापुरी में भारत सेवक समाज का शिविर लगा था। श्री गुलजारीलाल नन्दा ने जब सुना कि महासती शीलवती जी व मृगावती जी उधर आ रही हैं तो उन्होंने तुरन्त आगे जाकर शिविर में पधारने की विनती की। आप श्री जी के उपदेश से पावापुरी मन्दिर में बिजली आदि लगवाकर नगर की शोभा बढ़ाई। श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा और श्री गुलजारीलाल नन्दा आपके सारगर्भित प्रवचन सुनकर बहुत प्रभावित हुए। प्रवचन में लगभग ८०००० की उपस्थित थी। लाउडस्पीकर से तीन मील तक प्रवचन सुना गया।

१९०० किलोमीटर का लम्बा रास्ता तय करते हुए आपने झरिया में देवशीभाई को जैन मंदिर और उपाश्रय बनवाने की प्रेरणा दी। पश्चात् पंजाब में पदार्पण किया और प्रथम चतुर्मास अम्बाला शहर में किया। अम्बाला में जन-जागरणकर वल्लभविहार की नींव रखवाई। श्री आत्मानन्द जैन डिग्री कालेज के दीक्षान्त समारोह में जब श्री मोरारजी भाई देसाई ने आपका प्रवचन सुना तो वे बहुत प्रभावित हुए। आपके ज्ञानगांभीर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

पंजाब के जैनसमाज में फैली हुई कुरीतियों को देखकर आपका मन बड़ा दुःखी हुआ और इनके सुधार केलिये आपने लुधियाना नगर में प्रयास चालू कर दिये। समाज सुधार केलिए सार्वजनिक भाषणों की झड़ी लग गई। जैन और अजैन सभी लोग आपकी वाणीपीयूश का पान करने केलिए रुचि और श्रद्धा से आपकी शरण में आने लगे। व्याख्यान मंडप श्रोताओं से खचाखच भर जाता था। आपकी ओजस्वी युक्तिपुरस्सर वाणी से प्रभावित होकर सैकड़ों युवकों ने दहेज न लेने की प्रतिज्ञाएं कीं, सैकड़ों परिवारों ने कुटुम्बी के मरणोपरांत स्यापा आदि का त्याग किया। स्थानीय श्री आत्मानन्द जैन हायर सैकेन्डरी स्कूल की इमारत के निर्माण के लिए विद्यादान की महिमा पर आपके ओजस्वी भाषणों को सुनकर उपस्थित जनता ने अपने आभूषण तक उतारकर दान में दे दिये और कुछ ही दिनों में लाखों रुपये दान में मिले। जिसके परिणामस्वरूप स्कूल की विशाल नई इमारत बन गई। सारे पंजाब में भ्रमणकर आपने गुरुवल्लभ के सन्देश का घर-घर में प्रचार किया। आपके ही प्रयास से अखिल भारतीय जैन श्वेतांबर कान्फरेन्स का ई. स. १९६० में जिनशासनरत्न, राष्ट्रसन्त, शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी की निश्रा में सफल आयोजन हुआ।

स्थानकमार्गी सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य (आचार्यसम्राट) श्री आत्माराम जी महाराज आपके विद्या-अभ्यास से विशेष प्रभावित हुए और आपको यथायोग्य मार्गदर्शन देते रहे।

कुछ वर्ष पंजाब में विचरकर आप फिर अहमदाबाद आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी से विद्याभ्यास केलिये चली गईं। उस समय आपके साथ आपकी गुरुणी साध्वी शीलवती जी तथा दो शिष्याएं साध्वी सुज्येष्ठाश्री तथा साध्वी सुव्रताश्री भी थीं। कुछ वर्ष पंडित बेचरदास, पंडित सुखलाल आदि से जैनागम-दर्शन आदि का अभ्यास कर आप वहाँ से सौराष्ट्र,

बम्बई, मैसूर, बेंगलोर, मद्रास इत्यादि क्षेत्रों में विचरते हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के गढ़ मूडबद्री में पहुंचे वहां जानेवाली पहली श्वेतांबर जैन साध्वियां आप चारों ही हैं। बम्बई में सफलता से सम्पन्न हुई वल्लभ शताब्दी में आपका सक्रिय योगदान रहा। चाहे आप उस समय बेंगलोर में थीं।

बड़ोदा में आपने जिनशासनरत्न गुरुदेव की आज्ञा से साध्वी-सम्मेलन कर आशीर्वाद प्राप्त किया और साध्वीवर्ग को समाज के कल्याण केलिये आगे आने की प्रेरणा दी।

दिल्ली में शासनपति भगवान महावीर की राष्ट्रीय स्तर पर भारत सरकार की तरफ से मनाई जाने वाली पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी को सफल बनाने के लिए आपने दिन-रात एक कर दिया। श्वेतांबर, दिगम्बर, स्थानकमार्गी, तेरापन्थी—चारों जैन समुदायों के साधु-साध्वियों के साथ कई दिनों तक घंटों बैठकर श्वेतांबर संघ की ओर से राष्ट्रसन्त, जिनशासनरत्न, शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी का प्रतिनिधित्व करती रहीं और गुरुदेव का मान बढ़े, जिनशासन की शोभा बने, बस यही धुन लिये आप कार्यरत रहीं और शताब्दी समारोह को सफल बनाया।

वल्लभ-स्मारक दिल्ली का काम कई वर्षों से रुका हुआ था, बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी को सफलता नहीं मिल पा रही थी। किसी के बस की बात नही रही थी। आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि ने आदेश दिया कि यह कार्य आप करें। गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर आप इस कार्य के लिये जुट गईं। आपने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मिष्ठान आदि का त्याग कर दिया और अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण किये। अन्त में सफलता ने आपके चरण चूमे और दिल्ली में स्मारक बनाने के लिये जैन श्वेतांबर श्री संघ ने बहुत बड़ी जमीन सरकार से खरीद ली। अभिग्रह पूर्ण होने के पश्चात् आपने पारणा किया। परमगुरुदेव श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी जब पंजाब से मुरादाबाद में जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा कराने जा रहे थे तब उन्होंने आपको जगाधरी में आदेश दिया कि पंजाब की सार-संभाल लो। लुधियाना, लहरा और कांगड़ा के अधूरे रहे कार्य पूरे करो। गुरु का आप पर विश्वास आपके लिये शक्तिदायक बना।

(१) वि. सं. २०१२ (ई. सं. १९५५) में आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब का अधिवेशन आपकी निश्रा में मालेरकोटला मे हुआ।

(२) लुधियाना आज पंचतीर्थी बन गया है। सिविललाईन के जैनमन्दिर की प्रतिष्ठा तथा सुन्दरनगर के जैनमन्दिर का निर्माण आपकी प्रेरणा के ही फल हैं। पंजाब श्रीसंघ, पंजाब महासभा, लुधियाना श्रीसंघ, पंजाब महिलामंडल के सर्वसम्मत आग्रह से तथा आचार्य श्री विजय इन्द्रदिन्न सूरि की आज्ञा से सिविललाईन के मन्दिर की प्रतिष्ठा का सबकार्य नियत तिथि पर महत्तरा साध्वी जी की निश्रा में हुआ। प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करते समय श्री मृगावती जी तथा गणि श्री जनकविजय जी दोनों ने वासक्षेप डाला। इस प्रतिष्ठा महोत्सव की फिल्म भी ली गई थी।

(३) गुरु आतमधाम लहरा जो आतमगुरु का जन्मधाम है, वहां आपके उपदेश से ही स्मारक रूप गुरुदेव के कीर्तिस्तम्भ का निर्माण हुआ था। इस गुरुधाम लहरा के लिए अपनी निश्रा मे लुधियाना से छरीपालित यात्रासंघ निकालकर आपने पंजाब जैनसंघ को गौरवान्वित किया। यहां के कीर्तिस्तम्भ को नया व सुन्दर रूप देने केलिए जब आपने अपना ओजस्वी

प्रवचन किया तो उसी समय पंजाबी गुरुभक्तों ने पचास हजार रुपये की धनराशि एकत्रित कर दी। उसी व्याख्यान मंडप में आपने घोषणा की कि कांगड़ा के अत्यन्त प्राचीन जैनतीर्थ की कीर्ति को बढ़ाने हेतु पूर्ण योगदान देने के लिये वि. सं. २०३५ का चतुर्मास कांगड़ा में करूंगी। जिसके परिणामस्वरूप आपने यह चतुर्मास कांगड़ा किला के जैनश्वेतांबर मन्दिर की तलहटी में नवनिर्मित जैनश्वेतांबर धर्मशाला में अपनी शिष्याओं, साध्वी सुज्येष्ठाश्री, साध्वी सुव्रताश्री और साध्वी सुयशाश्री के साथ किया। यह कांगड़ा तीर्थ महाभारत काल से जैनश्वेतांबर तीर्थ चला आ रहा है। कुछ शताब्दियों पहले सात जैनश्वेतांबर मन्दिर कांगड़ा नगर में तथा दो जैन श्वेतांबर मन्दिर कांगड़ा किले में थे और यहां के कटोचवंशीय राजा भी जैनधर्मानुयायी थे। इस नगर में श्वेतांबर जैनों के सैकड़ों परिवार आबाद थे। पर आज यहां न तो जैनलोग ही आबाद हैं और न ही किले में श्री आदिनाथ प्रभु की एक जैनश्वेतांबर पाषाण प्रतिमा के सिवाय कोई जैनमन्दिर विद्यमान है। किले के आस-पास में प्रायः आबादी भी नहीं है।

साध्वीजी महाराज ने मात्र इस तीर्थ के उद्धार केलिये ऐसे निर्जन स्थान में चतुर्मास करने का साहस किया। अतः आपने श्रावण मास से फाल्गुन मासतक आठ मास में कार्तिक तथा फाल्गुण के दो चतुर्मास लगातार करके इस तीर्थ का उद्धार किया। इतिहास साक्षी है कि ५०० वर्षों से यहां पर किसी साधु-साध्वी का चतुर्मास अथवा स्थिरता करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हां साधु-साध्वियों के इस क्षेत्र के जैनतीर्थों की यात्रा करने के विक्रम की १७ वीं शताब्दी तक के विवरण अवश्य मिलते हैं जो श्रावक-श्राविकाओं के संघ के साथ अथवा अकेले यात्रा करने यहां आये थे किंतु यात्रा करने के बाद वे यहां से लौट गये थे।

कांगड़ा का ऐतिहासिक चतुर्मास

कांगड़ा किला का श्वेतांबर जैन आदिनाथ मन्दिर सरकारी कब्जे में होने के कारण वर्ष भर में केवल तीन दिन (फाल्गुण सुदी १३, १४, १५) केलिये ही जैनों को सेवा-पूजा की आज्ञा प्राप्त थी।

(१) कांगड़ा तीर्थ में वि. सं. २०३५ में जैन श्वेतांबर तपागच्छीय साध्वी, जिनका आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी महाराज के साध्वी समुदाय में महत्त्वपूर्ण विशिष्ट स्थान है; मृगावती जी ने अपनी तीन शिष्याओं के साथ चतुर्मास किया। आपकी आध्यात्मिक शक्ति से प्रेरित होकर विभिन्न माध्यमों के प्रयत्नों से सरकार ने कांगड़ा जैनश्वेतांबर तीर्थ में किले में विराजमान श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) भगवान की भव्य प्रतिमा के पूजन-प्रक्षाल की सदा के लिये स्थाई अनुमति प्रदान कर दी।

कलकत्ता निवासी बाबू विजयसिंह नाहर एम० पी० महामंत्री जनतापार्टी तथा दुर्गाचंदजी सांसद को जैनभारती साध्वी श्री मृगावतीजी ने अपने प्रवचन में इस तीर्थ के उद्धार केलिये उत्साहित किया और उन्होंने इस कार्य में पूरा सहयोग देने का वचन दिया तथा उनके प्रयास से पूजा-प्रक्षाल की अनुमति सरकार की तरफ से जैनों को सदाके लिये मिल गई। राज्यादेश के अनुसार प्रतिदिन प्रातः ७ बजे से १२ बजे तक और सांय ६ बजे से ७ बजे तक पूजन एवं दर्शन किये जा सकते हैं।

केन्द्र सरकार द्वारा प्रदत्त अनुमति आदेश

No. 1.1.78-M-31371

Government of India

Archaeological Survey of India

Mantoo Building Rajbagh,
Shrinagar.
Dated the 6.11.1978

The Secretary,
Shri Swetamber Jain Kangra,
Tirath Yatra Sangh,
Hoshiarpur (Punjab)

Sub : Worship in the Jain temple in Kangra Fort.

Sir,

With reference to your letter No. nill dated 30.10.1978 on the subject cited above I am to inform you that worshippers can worship in the temple between 7 A.M to 12 P.M. and 6 P.M. to 7 P.M. daily as requested by you. The concerned officer is being instructed accordingly.

Your faithfully
Sd/- (H. K Narain)
Superintending Archaeologist

(२) इस चतुर्मास में आपके उपदेश से किले की तलहटी की समतल भूमि पर श्रीजैन श्वेतांबर संघ की तरफ से भव्य जैनधर्मशाला का निर्माण किया गया है। इस धर्मशाला केलिये भूमि स्व० लाला मकनलालजी मुन्हानी (गुजरांवालिया) दिल्ली निवासी ने आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी के उपदेश से खरीदकर श्री जैन श्वेतांबर संघ को भेट स्वरूप दी थी।

(३) इसी चतुर्मास मे आपके उपदेश से इसी धर्मशाला के प्रागंण में श्री जैनश्वेतांबर मंदिर के निर्माण हेतु इसका शिलान्यास लाला रिखबदास जी बीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय सराफ़ होशियारपुर निवासी (मालिक फर्म आर० सी०, आर० डी०) ने ता० १० फरवरी सन् ईस्वी १९७९ शनिवार को किया। तपागच्छीय आचार्य श्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि की निश्रा में शिलान्यास का विधि-विधान किया गया। आचार्य श्री बटाला नगर (पंजाब) के यात्रासंघ के साथ यहाँ पधारे थे। इस अवसर पर साध्वी श्री निर्मलाश्री जी भी अपनी शिष्याओं सहित यात्रा संघ के साथ पधारी थीं।

(४) इसी अवसर पर आचार्य श्री विजयइन्द्रदिन्न सूरि की निश्रा में उपस्थित चतुर्विध जैनसंघ द्वारा जैनभारती साध्वी श्री मृगावती जी को—"कांगड़ा तीर्थोद्धारिका", एवं "महत्तरा" की पदवियाँ प्रदान की गईं। इस अवसर पर विभिन्न संस्थाओं की तरफ से साध्वी जी को महत्तरा पदवी के उपलक्ष में चादरें भेंट की गईं।

विशेष ज्ञातव्य

(१) महत्तरा साध्वी श्री जी सदा आध्यात्मिक साधना में तल्लीन रहती हैं। दोपहर के एक बजे से सांय चार बजे तक प्रतिदिन मौन रहकर अपनी शिष्याओं के साथ एकांतवास में स्वाध्याय में तल्लीन रहती हैं।

(२) आप एकांत स्थान में चतुर्मास करने को सदा प्रयत्नशील रहती हैं। लोगों की भीड़-भाड़ और कोलाहलपूर्ण वातावरण को आप अपनी साधना में बाधक मानकर कांगड़ा, हस्तिनापुर आदि ऐसे तीर्थ आदि स्थानों पर जहाँ शान्त वातावरण हो अपना समय अधिकतर व्यतीत करना पसंद करती हैं।

(३) आपकी प्रवचन शैली समन्वयात्मक, सरस, ओजस्वी तथा प्रभावोत्पादक होती है जिसको श्रोतागण ऐसी तल्लीनता से श्रवण करते हैं मानों वहाँ कोई विशेष संख्या में श्रोतागण उपस्थित ही नहीं हैं पर व्याख्यान मंडप में प्रवेश करने पर श्रोताओं से सभामंडप ऐसा खचाखच-भरा होता है कि श्रोताओं को स्थान पाना असंभव हो जाता है।

(४) जैनशासन की सेवा और प्रभावना केलिये आपके हृदय में ऐसी लगन है कि सब प्रकार के परिषह तथा उपसर्गों को साहस पूर्वक बरदाश्त करके भी, सर्दी और गर्मी की परवाह न करते हुए सतत सर्वत्र, गांव-गांव और नगर-नगर में बिना किसी मददगार को साथ लिये एकाकी अपनी शिष्याओं के साथ विचरण करती हैं।

(५) बिहड़ जंगलों, कंटीली झाड़ियों, रेगिस्तानों तथा पथरीली धरती पर नंगे पांव विचरण करते समय भी आप अपने साथ अपनी सहायता केलिये किसी स्त्री अथवा पुरुष नौकर साथ में ले जाना उचित नही समझते। यदि कोई श्रीसंघ ऐसी व्यवस्था भी आपके लिये कर दे तो आप कदापि इसे स्वीकार नहीं करते।

(६) जितने आप प्राणिमात्र के लिये सहृदय है उससे कहीं अधिक कठोर अपने चारित्र को निरातिचार पालन करने में हैं।

(७) आप सदा ज्ञानार्जन में ही अपना अधिक समय व्यतीत करती हैं।

२—साध्वी सुज्येष्ठा श्री जी

गुजरात प्रांत में सीयोर नामक गांव में जैनदर्शन के ज्ञाता, श्रावक के १२ व्रतधारी कपड़े के व्यवसायी भगत मणिलाल पटवा की धर्मपरायणा पत्नी हीराबहन की कुक्षी से एक पुत्री का जन्म हुआ। माता पिता ने इस बालिका का नाम शांतिदेवी रखा। वि० सं० २००२ में शांतिबहन ने सीयोर में आचार्य श्री विजयउमंग सूरि से दीक्षा ग्रहण की और श्री मृगावती श्री जी की शिष्या बनी। दीक्षा लेने पर नाम श्री सज्येष्ठा श्री जी रखा गया। सुज्येष्ठा श्री जी ने जब से दीक्षा ग्रहण की है तभी से अपनी गुरुणी जी के साथ ही रही हैं और उनके सचिव के समान हर कार्य में सहयोग देती हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं के साथ जीवविचार आदि प्रकरण, कर्मग्रंथ तथा धार्मिकज्ञान में अच्छी योग्यता प्राप्त की है। आप अट्ठाई आदि तपस्याएँ भी करती रहती हैं। सरल स्वभावी होने के साथ आप शांतप्रकृति की धनी हैं।

३—साध्वी श्री सुव्रताश्री जी

पंजाब प्रांत के कसूरनगर में (वर्तमान में पाकिस्तान अन्तर्गत) लाला दीनानाथ जी बीसा ओसवाल दूगड़ गोत्रीय की धर्मपत्नी श्रीमती ज्ञानवन्ती की कुक्षी से वि० सं० १९९५ में कन्या का जन्म हुआ। इस बालिका का नाम माता-पिता ने चन्द्रकांता रखा। चन्द्रकांता के दो भाई १—श्री शादीलाल व २—श्री प्रेमचन्द हैं। पिताजी के स्वर्गवास के बाद गृहस्थी का सारा भार दोनों भाइयों पर आ पड़ा। सारा परिवार जैनधर्म का श्रद्धालु तथा आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न है। पाकिस्तान बनने के बाद यह परिवार लुधियाना (पंजाब) में आकर आबाद हो गया है और होज़री का व्यवसाय करता है। चन्द्रकांता ने स्कूल की शिक्षा पाने के उपरांत पंजाब विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्कृत की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। पंजाब में जैन साधु-साध्वियों के सानिध्य में इसने प्रतिक्रमण, प्रकरण आदि की शिक्षा भी प्राप्त की। प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाओं, जिनमंदिर में पूजा-प्रक्षाल आदि में रुचि रखने लगी। साधु-साध्वियों के प्रवचनों को भी बड़े चाव से सुनने लगी। धीरे-धीरे संसार की असारता को समझकर इसे वैराग्य हो गया और वि० सं० २०१६ वैसाख प्रविष्टे १ दिनांक १३ अप्रैल, १९५९ सन् ईस्वी को लुधियाना में आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि से २१ वर्ष की आयु में भागवती दीक्षा ग्रहण की और जैनभारती श्री मृगावती श्री जी की शिष्या बनी। नाम सुव्रताश्री रखा गया। सुव्रताश्री जी की स्मरणशक्ति तथा विद्या उपार्जन करने की जिज्ञासा अत्यन्त प्रशंसनीय है। आपने अपनी गुरुणी के साथ अहमदाबाद में कई वर्ष पं० बेचारदास जी से संस्कृत, प्राकृत, पाली, व्याकरण, जैनागमों तथा बौद्धग्रंथों का अभ्यास किया। प्रकरण, कर्मग्रंथों आदि अनेक ग्रंथों का भी परीशीलन किया है। अंग्रेजी में मैट्रिक, पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी भाषा की सर्वोच्च उपाधि 'प्रभाकर तथा इलाहबाद विश्वविद्यालय की हिन्दी की सर्वोच्च परीक्षा साहित्यरत्न भी उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण की हैं। गुजराती भाषा तो मानो आपकी मातृ भाषा बन गई है। पंजाबी तो आपकी मातृ भाषा ही है। इन प्राचीन विद्याओं के साथ आपको आधुनिक साहित्य पढ़ने की भी रुचि है।

व्याख्यान शैली—इनके व्याख्यान में भी वही सरसता है जो इनकी गुरुणी जी में हैं। त्यागियों का जीवन तो तपस्यामय होता है। सुव्रताश्री भी तपस्यादि करती रहती है।

४—साध्वी सुयशाश्री जी

बम्बई में श्री नानजी भाई छेडा की धर्मपत्नी लक्ष्मीबहन की कुक्षी से पुत्री जयभारती का वि० सं० २००६ में जन्म हुआ। नानजी भाई के तीन पुत्र भी हैं। जयभारती ने सरकारी स्कूल में मैट्रिक परीक्षा पास की। पश्चात् बम्बई में भायखला में आचार्य श्री विजयसमुद्र सुरि तथा आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजय जी से दीक्षा ग्रहण की और साध्वी श्री मृगावती जी की तीसरी शिष्या बनी। नाम सुयशाश्री जी रखा गया। प्रकरण, साधुक्रिया, दशवैकालिक धार्मिक अभ्यास अपनी गुरुणी जी से किया और संस्कृत का अभ्यास पं० हरिशंकर भाई से किया।

कांगड़ा का ऐतिहासिक चतुर्मास

अत: वि० सं० २०३५ का चतुर्मास गुरुणी जी के साथ श्री सुज्येष्ठा श्री, श्री सुव्रता श्री, श्री सुयशा जी तीनों शिष्याओं ने कांगड़ा में किया।

स्व० आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी की भावना थी कि यह कांगड़ा तीर्थ पंजाब का शत्रुंजय तीर्थ बने । उनकी भावना को साकार करने के लिये कांगड़ा तीर्थ कमेटी की विनती से जैनभारती साध्वी श्री मृगावती श्री ठाणा ४ ने वि० सं० २०३५ का वर्षाकालीन चतुर्मास कांगड़ा में करने का साहस किया । साध्वी समुदाय का यहाँ भव्य नगरप्रवेश बहुत ही महत्त्वशाली था । बम्बई, दिल्ली, लुधियाना, जंडियाला गुरु तथा पंजाब के सभी नगरों से गुरु आत्म-वल्लभ के भक्त जय-जयकार करते हुए जिन-शासन-रत्न के स्वप्न को साकार करनेवाली विदुषी साध्वी जी के सम्मान में आंखें बिछा रहे थे । आपके प्रवेशोत्सव में हिमाचल सरकार की ओर से शिक्षामन्त्री, स्पीकर, विधानसभा, स्थानीय विधायक एवं उच्च अधिकारियों व नागरिकों ने भी आपका स्वागत किया । यहां विदुषी साध्वी जी महाराज ने साहसिक पग उठाकर तीर्थ की उन्नति तथा उद्धार किया । नवीन जैनमंदिर के निर्माण हेतु इसका शिलान्यास भी कराया । आपके इस चतुर्मास में लगभग ८०००० यात्री भारत के दूर-दूर प्रदेशों से तीर्थयात्रा तथा आपको वन्दन करने आये जो इससे पहले कांगड़ा कभी नहीं आये थे वह भी आये । इससे यह भूला-बिसरा प्राचीन तीर्थ प्रकाश में आया ।

कांगड़ा एक पिछड़ा हुआ नगर है, यहां पर एक भी जैनघर नहीं है । साध्वी जी महाराज का चतुर्मास किला की तलहटी में नव-निर्मित जैन श्वेतांबर धर्मशाला में हुआ । साध्वी जी ने यहां आठ मास स्थिरता की । होशियारपुर की दो-चार श्राविकाएं तो सदा यहीं बनी रहीं । यात्रियों के ठहरने, उनके लिये भोजन आदि की सब व्यवस्था श्री कांगड़ा तीर्थयात्रा संघ कमेटी होशियारपुर ने की । भोजन सामग्री और इमारत सबंधी सामान सब होशियारपूर से ले जाना पड़ता था । कांगड़ा से होशियारपुर लगभग १०० किलोमीटर है । निकोदर के श्रावक श्री ऋषभदास जी ज्योतिषी खंडेलवाल ने तीर्थ की सेवा में आठ मास यही व्यतीत किए । श्री शांतिस्वरुप जी संचालक, श्री शांतिलाल जी नाहर मंत्री, आदि कर्मठ कार्यकर्त्ताओं की सेवा हर समय अर्पित रही है । श्री शांति स्वरुप जी का तो इस चौमासे में तन, मन, धन तथा समय का पूरा-पूरा सहयोग भुलाया नहीं जा सकता । श्री आत्मवल्लभ जैन यंगमैन सोसाइटी होशियारपुर का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता जिसके कर्मठ कार्यकर्त्ता तीर्थकमेटी को बड़ी तनदही से सदा पूर्ण सहयोग देते रहे । यदि सच पूछा जाये तो इनके सहयोग से ही सब व्यवस्था और कार्य निर्विघ्न और सकुशल सम्पन्न हुए ।

वि० सं० २०३६ में दिल्ली में चतुर्मास

चार वर्ष पहले दिल्ली चतुर्मास में आपने वल्लभस्मारक के लिए भूमि खरीदने के लिये कई अभिग्रह धारण किये थे जिसके फलस्वरुप दिल्ली से करनाल को जानेवाली जी० टी० रोड के २० वें किलोमीटर पर २७००० वर्ग मीटर रूपनगर दिल्ली के श्वेतांबर मुर्तिपूजक जैन संघ द्वारा वल्लभस्मारक केलिये भूमि खरीदी गई थी । इस स्मारक के निर्माण की योजना को सफल बनाने के लिये इस वर्ष आपने अपनी तीन शिष्याओं के साथ रूपनगर—दिल्ली के श्री आत्म वल्लभ जैन भवन में चतुर्मास किया है । इसका खातमहूर्त आपकी निश्रा में लाला रत्नचन्द जी ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय (मालिक फर्म आर० सी० आर० डी०) दिल्ली वालों द्वारा हो चुका है, शिलान्यास ता० २९-११-१९७९ को हुआ है ।

ही व्याख्यान मंडप में होते रहते थे। समय-समय पर सबकी परस्पर धर्मगोष्ठी और मैत्रीपूर्ण धर्म के अनेक विषयों पर चर्चाएं भी होती रहती थीं। जसवंतश्रीजी भी अपनी शिष्याओं प्रशिष्याओं के साथ इन सब प्रसंगों पर सक्रिय भाग लेती थीं। इनकी परम विदूषी शिष्या श्री प्रियदर्शना श्रीजी के प्रवचन तो अपना विशिष्ट गौरव रखते थे। हजारों की संख्या में उपस्थित श्रोता जनता जनार्दन इनके प्रवचनों से मंत्रमुग्ध होकर एकाग्रता पूर्वक सुनती थी। इस प्रकार इस चतुर्मास में इन्दौर की जैनजनता में एकता का सुन्दर वातावरण प्रसारित हो गया था। मात्र इतना ही नहीं अपितु अजैन जनता भी अधिकाधिक संख्या में आप लोगों के प्रवचनों से लाभान्वित होने के लिये व्याख्यान प्रारम्भ होने से पहले ही व्याख्यान मंडप में उपस्थित हो जाती थी। इस प्रकार एकता, संगठन का बीजारोपण किया गया। वहाँ से बम्बई में जाकर चतुर्मास किया। पश्चात् पालीताना में आकर आपने (जसवंतश्री जी ने) वैशाख सुदि ३ को वर्षीतप का पारणा किया तथा अपनी शिष्याओं को सिद्धगिरि की निनानवें यात्राएं करने की प्रेरणा की। निनानवें यात्रा तथा चतुर्मास पूर्ण करने के पश्चात् आपने अपनी शिष्याओं प्रशिष्याओं के साथ शास्त्राध्ययन तथा संस्कृत-प्राकृत आदि के ठोस ज्ञान के लिए गुरुदेव की प्रेरणा से अहमदाबाद में पाँच वर्ष रहकर अभ्यास करने का निश्चय करके आप अहमदाबाद में आये। तबसे आप लोगों का बराबर नाना विषयों का अभ्यास चालू है।

साध्वी जसवंतश्री जी का मुखमंडल सदा खिला रहता है। स्वभाव सरल तथा श्रद्धा प्रधान जीवन है। प्राणी मात्र के प्रति करुणा तथा वात्सल्य भाव से हृदय परिपूर्ण है। किसी भी प्राणी को दुखी देखकर आपका हृदय पसीज उठता है। आपके मन में गुरु आत्म और वल्लभ के उद्देश्यों की पूर्ति केलिये उत्कट भावना बनी रहती है। ज्ञान प्रचार, मध्यमवर्ग की सहायता केलिये आप सदा जागरुक रहती हैं। अहमदाबाद में इस विद्याभ्यास की कालावधि समाप्त कर आपकी भावना पंजाब में विचरणे की है।

२-साध्वी प्रियदर्शनाश्री जी

गुजरांवाला (पंजाब) में लाला दीवानचन्द जी बीसा ओसवाल दूगड़ के सुपुत्र लाला मनोहरलाल जी की अर्धांगी तिलकसुन्दरी की कुक्षी से पद्मादेवी का जन्म वि० सं० १९९५ में हुआ। पिताजी का व्यवसाय पीतल आदि धातुओं के बरतनों का था। लाला मनोहर लाल के तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं। पद्मा अपनी तीनों बहनों में मंझली है। वि० सं० २००४ (ई० स० १९४७) को देश का विभाजन हो जाने पर गुजरांवाला भी पाकिस्तान में आ गया और इनका सारा परिवार पाकिस्तान छोड़कर अम्बाला शहर में आकर आबाद हो गया। लाला मनोहरलाल का व्यवसाय यहाँ पर भी पूर्ववत बरतनों का ही है। यह परिवार सब तरह से सम्पन्न है।

अम्बाला में आकर पद्मा ने स्कूल की मैट्रिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। मैट्रिक के बाद पद्मा को कालेज की पढ़ाई करने की रुचि थी परन्तु माता-पिता ने इसे कालेज भेजना पसन्द नहीं किया। तथापि इसने घर पर ही पढ़ाई चालू रखी। पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी की उच्चतम परीक्षा पास कर '**प्रभाकर**' की उपाधि प्राप्त की। पश्चात् (Teacher training)

करके जैन कन्या हायर सेकेन्ड्री स्कूल अम्बाला में अध्यापिका बन गई। अंग्रेजी में बी० ए० तक परीक्षाएं भी घर पर ही शिक्षण प्राप्त कर पास कीं। इसको बचपन से ही माता-पिता से धार्मिक संस्कार मिले थे। विवाह करने की बिल्कुल रुचि नहीं थी और संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने की भावना बल पकड़ती गयी। धार्मिक पुस्तकों का अभ्यास, साधु-साध्वियों के सम्पर्क से धर्माभ्यास में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। साथ ही साथ वैराग्य भावना में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। वि० सं० २०१७ का चौमासा साध्वी पुष्पाश्री, साध्वी जसवन्तश्री जी का कई ठाणो के साथ अम्बाला शहर में था। जसवंतश्री जी की प्रेरणा से वैराग्य भावना को अधिक उत्तेजन मिला। पद्मा ने अपने माता-पिता से दीक्षा लेने की भावना प्रकट की, पर पहले तो माता-पिता दीक्षा केलिए बिल्कुल राजी नहीं हुए। इधर पद्मा ने अखंड ब्रह्मचर्य की साध्वी जी से दृढ़ प्रतिज्ञा ले ली तथापि माता-पिता और पुत्री में सहमती न हो पाई। जब माता-पिता को अपनी पुत्री के ब्रह्मचर्य व्रत लेने का पता चला तो उन्होंने पुत्री से कहा, यद्यपि तुमने विवाह नहीं करना तो भी तुम घर पर ही रहकर धर्माराधन कर सकती हो। हमारे घर में किसी भी प्रकार की कमी नहीं है। तुम्हें सब प्रकार की सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं। तुम्हें नौकरी करने की भी क्या आवश्यकता है। घर में रहकर जो चाहो धर्माराधना में खर्च करो इसके लिये कोई मनाही नहीं है। तीर्थयात्राएं करो, साधु-साध्वियों के दर्शन केलिये जाओ। जितना भी धर्म का ऊंचे से ऊंचा अभ्यास करना चाहो उसके लिये उच्चकोटि के जैनदर्शन के अध्यापक की भी व्यवस्था कर देंगे। अपने घर में भी रहकर सेवाकार्य करती ही रहती हो, आगे भी करती रहो, इसमें भी हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम तुम्हें घर के किसी भी काम को करने के लिये कभी नहीं कहेंगे। दीक्षा लेने में क्या पड़ा है यदि चाहोगी तो घर में रहकर भी साधु अवस्था से भी बढ़कर सेवा का लाभ ले सकोगी।

पनुश्च: यदि तुम्हारे मन में यह विचार आता हो कि 'मैं किसी पर अवलम्बित होकर बोझ बनकर नहीं रहना चाहती तो भी तुम स्कूल में अध्यापिका का स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रही हो, इस सेवा कार्य से भी तुम्हें बहुत अच्छा वेतन मिल रहा है और आगे चलकर वेतन में वृद्धि भी होती रहेगी। फिर तुम्हें किसी का भार बनकर रहने का प्रश्न ही नहीं होता।

पद्मा तो वैराग्य रंग में चुकी थी। अब उसे एक दिन भी भारी पड़ रहा था। इसने अपने माता-पिता को स्पष्ट कह दिया कि मैंने शीघ्रातिशीघ्र अवश्य दीक्षा लेनी है, यही मेरा अंतिम निर्णय है। अब तो मात्र आपकी आज्ञा की ही प्रतीक्षा है। अधिक क्या कहूं।

पिता श्री मनोहरलाल जी ने पद्मा को धार्मिक अभ्यास कराने के लिये जैनदर्शन के सुयोग्य विद्वान श्रावक पंडित श्री हीरालाल जी दुग्गड़ (इस इतिहास के लेखक) को नियुक्त किया। इसने पंचप्रतिक्रमण सार्थ, चार प्रकरण, तीन भाष्य, धर्मबिन्दु, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, वैराग्यशतक आदि का सार्थ सविवेचन अभ्यास किया। श्री दुगड़ जी के पढ़ाने की शैली से ज्ञान और वैराग्य का खूब विकास हुआ। धार्मिक संस्कारों ने दृढ़ श्रद्धा का स्थान पा लिया। श्रद्धा-ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत अभ्यास कराने की आपकी उत्तम शैली ने मानो माता के दूध के समान काम किया। माता का दूध संतान के लिये जैसे सुरुचिकर, स्वादिष्ट और पौष्टिक होता है, तंदरुस्ती तथा निरोगता को देनेवाला होता है, उसी प्रकार आप से जैनग्रंथों के अभ्यास से पद्मा खूब लाभान्वित हुई।

बार-बार दीक्षा की आज्ञा माँगने पर पिता जी ने कहा कि तुम्हारे भाई का विवाह कर लेने दो, बाद में तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा दे देंगे। श्री दूगड़ जी पर भी इस बात का ज़ोर डालते रहे कि—पदमा को समझा-बुझाकर उसके दीक्षा लेने के इरादे को बदल दो। पर दूगड़ जी ने कह दिया कि पद्मा कोई बच्ची तो नहीं है जो किसी के बहकाने में आकर दीक्षा ले रही है। वह अब सब तरह से समझदार है, मेरे रोकने से वह रुकने वाली नहीं है। बराबर तीन वर्षों तक माता-पिता ने खूब कसौटी पर कसा। आखिरकार माता-पिता को पद्मा को दीक्षा लेनें की आज्ञा देनी ही पड़ी

अन्त में ता० २४-११-१९६० ई० के दिन अम्बाला शहर में पूज्य आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि के करकमलों से पद्मा ने बड़ी धूम-धाम के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण की। इसको दीक्षा के बाद साध्वी श्री जसवंतश्री की शिष्या बनाया गया और नाम श्री प्रियदर्शनाश्री रखा। चार-पाँच वर्ष पंजाब में विचरणे से अम्बाला, लुधियाना, जालंधर, जम्मू, अमृतसर आदि नगरों तथा गाँवों में धर्म की प्रभावना करते हुए और सतत जैनदर्शन के अभ्यास में अभिवृद्धि करते हुए अपनी गुरुणी के साथ उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल के प्रदेशों को धर्मामृत से सिंचन करते और सम्मेत-शिखर, पावापुरी, चम्पापुरी, राजगृही, गुणायाजी, क्षत्रीयकुंड इत्यादि इस क्षेत्र में आनेवाले तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों तथा अन्य तीर्थों की यात्रा करते हुए इंदौर मध्यप्रदेश में पधारे। बीच में दिल्ली के चौमासे में आप ने श्री हीरालाल जी दूगड़ से कर्मग्रंथों का अभ्यास किया और एक पी० एच० डी० विद्वान से न्यायशास्त्र का अभ्यास किया।

आप ने अपनी गुरुणी के साथ इन्दौर में चौमासा किया। उस समय यहाँ गणि जनकविजय जी, दिगम्बर मुनि विद्यानन्द जी, स्थानकमार्गी साधु लाभचन्द जी अपने मुनि परिवार सहित तथा स्थानकमार्गी आर्याएं भी चतुर्मास के लिये विद्यमान थे। उस समय चारों जैनसंप्रदायों के साधु-साध्वियाँ एक ही व्याख्यान मंडप में प्रवचन करते थे, उसमें आपके प्रवचनों का जनता पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इसका वर्णन साध्वी श्री जसवंतश्री जी के परिचय में कर आये हैं। इस प्रकार आचार्य श्रीविजयवल्लभ सूरि जी की भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिये जैनों के चारों संप्रदायों में संगठन तथा एकता के भाव भरे। तत्पश्चात् इंदौर से विहार कर आप लोग बड़ौदा (गुजरात) पधारे और जिनशासन रत्न, शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी की निश्रा में चतुर्मास किया। यहाँ पर आचार्य श्री की निश्रा में साध्वी सम्मेलन हुआ जिसमें साध्वियों को अभ्यास में अधिक से अधिक प्रगतिमान बनने के लिये प्रेरित किया गया। वहाँ से बम्बई, पालीताना चतुर्मास तथा सिद्धिगिरि की निनानवे यात्राएं करके आचार्य गुरुदेव की भावना पूरी करने के लिये उनकी आज्ञा लेकर अपनी गुरुणी आदि के साथ स्थाई रूप से अध्ययन करने केलिये पाँच वर्ष केलिये अहमदाबाद रहने का प्रोग्राम बनाकर अहमदाबाद पधार गये और आजकल आप छठों साध्वियाँ बड़ी लगन के साथ विद्याध्ययन में संलग्न हैं।

अब तक आपने संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, साहित्य, काव्य आदि ग्रंथों का, जैनधर्म और दर्शन, प्रकरण, भाष्यत्रय, कर्मग्रंथ, पंचसंग्रह काम्मपयडी आदि कर्म सिद्धांत का, अनेक जैनागमों का साक्षर विद्वानों द्वारा अध्ययन करने में रत हैं। इसके अतिरिक्त जैनेतर ग्रंथों तथा आधुनिक विकसित ज्ञान धाराओं का भी आपको प्रौढ़ज्ञान है।

व्याख्यान शैली—सरल, रोचक, हृदयस्पर्शी, ओजस्वी, युक्तिपुरस्सर तथा श्रद्धा, ज्ञान एवं चरित्र की शुद्धि-वृद्धि में अत्यन्त प्रेरणादाई है।

स्वभाव— शांत, सरल, विनयी एवं मिलनसार तथा गहनगंभीर है।

३. साध्वी श्री प्रगुणाश्री जी

पट्टी नगर जिला अमृतसर (पंजाब) में लाला मथुरादास जी बीसा ओसवाल की सुपत्नी गंगादेवी की कुक्षी से सुभाषरानी का दिनांक १४-९-१९४७ ई० को जन्म हुआ। इसके दो भाई तथा दो बहनें हैं। तीव्र वैराग्य भावना होने से माता-पिता से दुष्प्राप्य आज्ञा मिलने पर मिति माघ सुदी तीज वि० सं० २०२१ दिनांक ४-२-१९६५ ई० के दिन १७ वर्ष की आयु में लुधियाना शहर में मुनि श्री शिवविजय जी तथा पंन्यास श्री बलवन्तविजय जी की निश्रा में उन्हीं के करकमलों से बड़ी धूमधाम से दीक्षा हुई और साध्वी जसवंतश्री जी की शिष्या बनी। नाम प्रगुणाश्री रखा गया। पश्चात् जंडियाला गुरु में शांतमूर्ति, जिनशासनरत्न आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरि जी ने बड़ी दीक्षा आश्विन मास में दी। दीक्षा लेने के पश्चात् अपनी गुरुणी जी के साथ ही विचरण कर रही है। चार प्रकरण, तीन भाष्य, कर्मग्रंथ, पंचसंग्रह, कम्मपयडी, दशवैकालिक, इन्द्रीयपराजय शतक, वीतरागस्तोत्र, विशेषावश्यक भाष्य, प्रवचनसारोद्धार, योगशास्त्र, क्षेत्रसमास, बृहत् संग्रहणी, प्रशमरति प्रकरण, ज्ञानसार, सबोध सत्तरी, दानादिकुलक, आध्यात्म कल्पद्रुम, अध्यात्मसार, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत काव्य-नाटक आदि, तर्क संग्रह, न्यायमुक्तावली, षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादमंजरी, सम्मति प्रकरण आदि दर्शन शास्त्र, धार्मिक तथा नैयायिक ग्रंथों का अध्ययन कर चुकी है और आगे के लिये भी सदा अध्ययन अनेक भिन्न-भिन्न विषयों का करने की भावना रखती हैं।

बुद्धि विचक्षण, विद्या व्यसनी तथा स्वभाव विनम्र सरल, तथा विनीत हैं।

४-साध्वीश्री प्रियधर्मा श्रीजी

जंडियाला गुरू जिला अमृतसर (पंजाब) में लाला किशोरीलालजी बीसा ओसवाल की भार्या श्रीमती कमलादेवी की कुक्षी से पुत्री नूतनबाला का जन्म वि० सं० २०१५ में हुआ। ये चार बहनें तथा एक भाई हैं। स्कूल में मैट्रिक तक की शिक्षा प्राप्त की। अपनी माता जी के मुंह से सुना था कि नूतन की मौसीजी ने जैन साध्वी की दीक्षा ली हुई है और वे बहुत विदुषी हैं। उसके मन में अपनी मौसीजी के दर्शन करने की भावना हुई। अपने माता-पिता के साथ यात्रा करने के लिये पालीताना में आई। यहां पर उस समय साध्वी जसवंतश्रीजी भी अपनी शिष्याओं के साथ विराजमान थीं। उनके दर्शन करके उसके मन में बहुत आनन्द हुआ। अपनी मौसी साध्वीजी के पास कुछ समय रहने के लिये अपने माता-पिताजी से सानुनय अनुरोध किया। माता-पिता ने उसकी भावना का आदर करते हुए साध्वीजी के पास रहने दिया और स्वयं अपने घर को वापिस चले गये। साध्वियों के सानिध्य में रहने से नूतनबाला को वैराग्य हो गया। डेढ़ वर्ष तक साथ में रहकर प्रकरणों, तीन भाष्यों, प्रतिक्रमण आदि का अभ्यास किया और माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

दीक्षा-भायखला-बम्बई में दिनांक १८ दिसम्बर सन ईस्वी १९७४ के दिन (वि० सं० २०३१ में भागवती दीक्षा ग्रहण की। नाम साध्वी श्रीप्रियधर्मा रखा गया और साध्वी श्रीजसवंत

श्रीजी की शिष्या बनी। दीक्षा लेने के पश्चात अपनी गुरुणीजी आदि साध्वी समुदाय के साथ गुजरात, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि देशों में विचरण करते हुए अहमदाबाद में विद्याभ्यास के लिये सबके साथ आईं और बड़ी लगन के साथ अध्ययन कर रही हैं। चार प्रकरण, तीन भाष्य, छह कर्मग्रंथ, क्षेत्र समास, बृहत् संग्रहणी, तत्त्वार्थसूत्र, पंचसंग्रह, कम्मपयडी आदि धार्मिक ग्रंथों का तथा न्याय में तर्कसंग्रह, सम्मति प्रकरण, स्याद्वादमंजरी, संस्कृत में व्याकरण का अभ्यास कर चुकी हैं और आगे भी सतत अभ्यास चालू है।

५-साध्वी श्री प्रियरत्ना श्रीजी

नूतनबाला (प्रियधर्माश्री) की छोटी सगी बहन सरोजबाला का जन्म वि० सं० २०२३ में जंडियाला गुरु में हुआ। इसने १३ वर्ष की आयु में सेरीसा तीर्थ (गुजरात) में वि० सं० २०३५ मिति माघ सुदि ५ के दिन दीक्षा ग्रहण की। नाम प्रियरत्ना श्री जी रखा गया। साध्वी जसवंत श्री जी की शिष्या बनी।

६-साध्वी श्री हर्षप्रभा श्रीजी

फरीदकोट (पंजाब) में लाला नरपतराय जी बीसा ओसवाल (पट्टीवालों) की भार्या श्रीमती चनन देवी की कुक्षी से पुत्री कमलेशकांता का जन्म दिनांक १६ दिसम्बर सन् ईस्वी १९४७ में हुआ। पिताजी के देहांत के बाद इसकी माता तथा दोनों भाई मालेरकोटला (पंजाब) में चले आये। यहाँ स्कूल में मैट्रिक तक विद्याभ्यास किया। स्थानकमार्गी साधु-साध्वियों के व्याख्यान आदि सुनने का अवसर प्राप्त होता रहा। माताजी के धार्मिक संस्कारों की पूरी छाप पड़ी। घर पर धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने की रुचि बढ़ती गई और हिन्दी भाषा में जैनधर्मकी अनेक पुस्तकें पढ़ डाली। गुरु वल्लभ का जीवन चारित्र 'आदर्श जीवन' नामक पुस्तक के पढ़ने से विचारों में परिवर्तन आया। संसार की असारता का भान हुआ, वैराग्य भावना जाग्रत हुई और दीक्षा लेने की भावना जोर पकड़ती गई। पूज्या साध्वीश्री जसवंतश्री तथा साध्वीश्री प्रियदर्शनाश्री से दीक्षा लेने की भावना से पत्र व्यवहार चालू किया। माताजी और भाइयों से दीक्षा लेने की आज्ञा पाने केलिये प्रयास चालू कर दिया। दो-तीन वर्ष तक आज्ञा न मिल पाई। भाई दीक्षा दिलाना कदापि नही चाहते थे। तदनन्तर साध्वी श्री जसवन्तश्री जी की निश्रा में माताजी की आज्ञा से तथा भाइयों को बड़ी कठिनता से मनाकर दिल्ली आई। दिल्ली से उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल आदि होते हुए पैदल कलकत्ता तक साध्वी पुष्पाश्रीजी, जसवंतश्रीजी, प्रियदर्शनाश्री आदि के साथ विहार में रही और रास्ते में सम्मेतशिखर, पावापुरी आदि तीर्थों की यात्रा की। पश्चात् दीक्षा लेने की आज्ञा पाने के लिए कलकत्ता से ट्रेन द्वारा अपने घर लुधियाना में माताजी और भाइयों के पास आई (आजकल ये लोग लुधियाना में रहते हैं)। पुष्पाश्री आदि साध्वियों ने आगरा में चतुर्मास किया, दीक्षा की आज्ञा प्राप्त कर आगरा में गुरुणीजी से आ मिली। पश्चात् साध्वियां विहार करके ग्वालियर पधारीं। वहाँ पर दिनांक ५ दिसम्बर सन् ईस्वी १९७० में २३ वर्ष की आयु में बड़ी धूम-धाम से दीक्षा हुई। दीक्षा लेने के पश्चात कमलेशकांता को हर्षप्रियाश्री नाम रखा गया। साध्वी श्री प्रियदर्शनाश्री जी की प्रथम शिष्या बनी। वहाँ से आज तक अपनी गुरुणी जी के साथ में विचरण करते हुए उनकी निश्रा में संयम यात्रा का निरातिचार पालन करते हुए ज्ञानार्जन करने में दत्तचित्त हैं।

अभ्यास—चार प्रकरण, तीन भाष्य, छह कर्मग्रंथ, पंचसंग्रहादि सार्थ, विशेषावश्यक भाष्य, उत्तराध्ययन, प्रवचनसारोद्धार, तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रंथों का धार्मिक अध्ययन; न्याय में तर्कसंग्रह, सम्मतितर्क, प्रमाण-नय-तत्त्वालोकालंकार, गुणपर्याय रास आदि; प्राकृत-संस्कृत व्याकरण, काव्य, साहित्य आदि का ज्ञानार्जन किया है और आगे भी सतत अभ्यास चालू रहता है। नवपद ओली, उपवास, छठ, अट्ठम आदि नाना प्रकार के तप तथा बीसस्थानक आदि तप चालू रहते हैं।

इस प्रकार ये छह साध्वियाँ ज्ञान तथा चारित्र की आराधना करते हुए स्व-पर कल्याण के लिए सदा प्रयत्नशील हैं। पुष्पाश्रीजी का स्वर्गवास हो चुका है।

साध्वी श्री यशःप्रभाश्री तथा साध्वी श्री निर्मलाश्री जी महाराज

जिनशासनरत्न शांतमूर्ति आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी महाराज की आज्ञानुवर्ती गुजराती साध्वी श्री यशःप्रभाश्री जी व साध्वी श्री निर्मलाश्री जी आदि ठाणा ७ ने वि० सं० १९७४ से १९७९ तक पंजाब में सर्वत्र विहार करके जिनशासन की प्रभावना की। यशःप्रभाश्री जी का स्वर्गवास वि० सं० १९७८ में जालंधर शहर (पंजाब) में हो गया। साध्वी श्री निर्मलाश्री जी परम विदूषी, ज्ञान-चारित्र आराधना मे सदा तत्पर रहती हैं। व्याख्यान शैली श्रोताओं के लिए रोचक एवं हृदयग्राही है। स्वभाव सरल और मिलनसार है। उपदेश आगमानुसारी तथा सरल हिन्दी भाषा में करती हैं। बहुत प्रयत्न करने पर भी इन साध्वियों के जीवन परिचय प्राप्त नहीं कर पाये। मालेरकोटला श्रीसंघ में कई वर्षों से वैमनस्य चल रहा था। जो बहुत प्रयत्न करने पर भी सुलझाया नही जा सका था। आपने मालेरकोटला में चतुर्मास करके चिरस्थाई वैमनस्य को दूर कराया और श्रीसंघ में चिरशांति स्थापित की।

—:o:—

यति (पूज्य) समुदाय

सारे पंजाब-सिंध के बड़े-बड़े नगरों में पूज्यों की गद्दियाँ थी और उनके द्वारा निर्मित जैन मंदिर तथा उपाश्रय भी थे। उनकी गद्दियों तथा मंदिरों के विषय में हम यथासंभव लिख आये है। बड़गच्छ, तपागच्छ, खरतरगच्छ, राजगच्छ, लाहौरी उत्तरार्द्ध लुंकागच्छ के यतियों का इस क्षेत्र पर बहुत उपकार रहा है। यहाँ पर एक दो पूज्यों का संक्षिप्त परिचय देकर ही सन्तोष मानेंगे।

यति राजऋषि व त्रिलोकाऋषि
१-जंडियाला गुरु (अकालदास का)

हम लिख आये है कि अहमदाबाद (गुजरात) मे लुंकाशाह लिखारी (ग्रंथलिपिकार) तपागच्छीय मुनि श्री सुमतिविजय जी के पास शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ किया करते थे। मुनिराज से कुछ मतभेद हो जाने के कारण उसने वि० सं० १५०८ में जिनप्रतिमा की मान्यता का उत्थापन किया। वि० सं० १५३१ को अहमदाबाद में ४५ व्यक्तियों के सहयोग से अपने नये पंथ की स्थापना की। इन ४५ व्यक्तियों ने स्वयमेव भूणाजी के नेतृत्व में इस नये पंथ की साधुवेश में दीक्षाएं ग्रहण की। इनके आचार के विषय में इस पंथ के अनुयायियों द्वारा दो मत पाये जाते हैं। एक मत तो यह है कि इन ४५ व्यक्तियों ने पाँच महाव्रत धारण करके जैन श्रमण के समान ही सर्व

प्रमुख जैन श्रावकों का परिचय

—:o:—

श्री वीरचन्द राघवजी गाँधी

वीरचन्द गांधी का जन्म २५ अगस्त स० ई० १८६४ को सौराष्ट्र में भावनगर के निकट महुवा गांव में श्री राघवजी के घर पुत्र रूप में हुआ था। परिवार पर लक्ष्मी का वरदान न था। परन्तु अपनी धर्मपरायणता, प्रमाणिकता तथा व्यवसायकुशलता में राघवजी भाई सुविख्यात थे और सच्चे समाजसुधारक भी थे।



वीरचन्द जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव की गुजराती शाला में ही हुई थी। पश्चात् भावनगर में जाकर उन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास की, तत्पश्चात् उच्चशिक्षा की प्राप्ति केलिये बम्बई गये और एलफ़िस्टन कालेज मे शिक्षा प्राप्त कर ई० स० १८८४ में सम्मान सहित बी० ए० की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। श्वेतांबर समाज में वीरचन्द जी पहले ग्रेजुएट बने थे। अतः उस समय समाज की ओर से आपका हार्दिक अभिनन्दन किया गया था।

ई० सं० १८८२ मे भारत के भिन्न-भिन्न भागों मे बसनेवाले जैनो को सगठित करने, उनकी सामाजिक, नैतिक और मानसिक उन्नति के उपाय सोचने, जैनधर्म के ट्रस्टफ़ंड और धर्म-खातों की देखरेख करने, पशुवध रोकने और तीर्थस्थानों की सुरक्षा तथा वहां जानेवाले यात्रियो की कठिनाइयो को दूर करने के उद्देश्य से श्वेतांबर जैनों की ओर से Jain Association of India नाम की एक सभा स्थापित की गई थी। ई० सं० १८८४ को वीरचन्द जी को इसका मंत्री बनाया गया। इस प्रकार बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद तत्काल ही आपने सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना प्रारभ कर दिया। इस संस्था ने आपके नेतृत्व में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। जिसमे पालीताणा के ठाकुर से कर (यात्री टैक्स) के विषय में समझौता तथा सम्मेतशिखर पर जैनों का अधिकार प्रमाणित कर वहां वधशाला को रुकवाना विशेष महत्वपूर्ण है।

श्री वीरचन्द जी एक व्यापारिक कम्पनी में नौकरी करने लगे और साथ ही सोलिसिटरी की परीक्षा की तैयारी करने लगे। तथा उसमे सफलता प्राप्त की।

श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी को शिकागो से १८९३ ई० मे सर्वधर्मपरिषद् में भाग लेने का निमन्त्रण मिला। आपने इस प्रश्न को "जैन ऐसोसिएशन" के पास विचारार्थ भेजा। श्री वीरचन्द जी को प्रतिनिधि निर्वाचित किया गया। श्री वीरचन्द जैनों के विदेश में जानेवाले इस युग के प्रथम जैनयुवक थे। कुछ लोगों ने समुद्र यात्रा का विरोध भी किया, परन्तु श्री विजयानन्द सूरि के क्रांतिकारी निश्चय के सम्मुख वह विरोध टिक न पाया।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि और सर्वधर्म सम्मेलन

प्रेजीडेंट Bonney ने १८९१ ई० के मार्च-अप्रैल में धार्मिक परिषदों केलिये एक जनरल सभा की स्थापना की तथा John Henry Barrows को उसका प्रधान बनाया गया। स० १८९१ ई० में सब देशों में इसकी प्रारंभिक सूचना भेजी गई। प्रायः सर्वत्र इस विचार का स्वागत किया गया। क्योंकि इससे तुलनात्मक धार्मिक अध्ययन, भ्रांतियों के निराकरण और ऐक्यस्थापना में बड़ी भारी सहायता प्राप्त होने की संभावना थी। कुछ ईसाई पादरियों और टर्की के सुलतान ने विरोध भी प्रकट किया था। धार्मिक परिषद् के उद्देश्यों में इन बातों का उल्लेख किया गया था कि भिन्न-भिन्न धर्मों का विश्व को ज्ञान कराना और यह बताना कि वे अपनी सत्यता किस प्रकार प्रकट करते हैं। सब धर्मों के मानने वालों में भ्रातृभाव और प्रेम के भाव उत्पन्न करना तथा विचार विनिमय से बन्धुता की भावना को दृढ़ करना। भिन्न-भिन्न विद्वानों और पंडितों के साहित्य, कला, व्यापार आदि के संबन्ध में विचार मालूम करना, उनके शिक्षा, श्रम, मादक वस्तुओं के निषेध आदि के विषय में मत मालूम करना। विभिन्न राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधकर संसार मे शांति स्थापित करने का प्रयत्न करना इत्यादि।[1]

इसी महान् परिषद् में भाग लेने के लिये श्री आत्माराम जी (विजयानन्द सूरि) को १६ नवम्बर १८९२ ई० का लिखा हुआ प्रथम निमंत्रण पत्र बम्बई की जैन ऐसोसिएशन की मारफत प्राप्त हुआ उस पत्र मे आपकी संक्षिप्त जीवनी और दो फोटो मांगे गये थे और आपसे जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने की प्रार्थना की गई थी। उस समय आप अमृतसर के निकट वैरोवाल गांव (पंजाब) मे विराजमान थे। आपके परामर्श से श्री वीरचन्द ने आपकी संक्षिप्त जीवनी तथा फ़ोटो भी भेज दिये। साथ ही विवशता भी प्रकट की गई कि "आत्माराम जी वृद्धावस्था तथा कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण स्वयं उपस्थित नही हो सकेंगे। सर्वधर्म परिषद् की ओर से पुनः पुनः अनुरोध पत्र आने पर आपने श्री वीरचन्द जी को अपने प्रतिनिधि के रूप में वहां भेजने का निर्णय किया। वीरचन्द ने वहाँ जाना स्वीकार किया। जाने के पूर्व आपने श्री वीरचन्द जी को अमृतसर में बुलाकर अपने पास जैनदर्शन तथा आचार का अभ्यास कराया और श्री वीरचन्द के अनुरोध से आपने शिकागो प्रश्नोत्तर के रूप में एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखकर उन्हें दी। आचार्य श्री जी ने उन्हें यह भी परामर्श दिया कि वे विदेशों में अपना स्वदेशी वेश ही रखें और नित्यनियम तथा आचार में शिथिलता न आने दें।

श्री वीरचन्द भाई अमेरिका में

विश्व की सर्वधर्म-परिषद् का उद्घाटन शिकागो में कोलम्बस हाल में ११ सितम्बर १८९३ ई० को हुआ था और लगातार १७ दिन तक उसकी कार्यवाही चलती रही। २७ सितम्बर अंतिम दिन था। पहले दिन C.C. Bonney ही अध्यक्ष थे। आप World's Congress Auxiliary के प्रधान थे। जबकि J.H.Barrows धार्मिक परिषदों की जनरल सभा के प्रमुख थे। श्री वीरचन्द जी गांधी जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हुए थे। भारत से कुछ और प्रतिनिधि भी गये थे, जिनमें स्वामी विवेकानन्द, पी० सी० मजमदार, मणिलाल जी द्विवेदी भी सम्मिलित थे। गांधी जी का मुख्य भाषण परिषद् के पन्द्रहवें दिन २५ सितम्बर १८९३ ई० को हुआ था। जिसमें

1. Barrows :World's Parliament of Religions Vol. I p. 18.

उन्होंने जैनइतिहास और जैनाचार पर प्रकाश डाला। उनका यह भाषण Neely's History of the Parliament of Religions में दिया हुआ है। (पृ० ७३३-३६)।

परिषद् के पहले दिन जब स्वागत के भाषणों के बाद भिन्न-भिन्न प्रतिनिधियों ने स्वागत का आभार मानते हुए अपना-अपना परिचय दिया था तब श्री वीरचन्द गाँधी ने अति संक्षिप्त भाषण में ये उद्गार प्रकट किये—

"मैं जैनधर्म का प्रतिनिधि हूँ। यह धर्म बुद्धधर्म से अति प्राचीन है। इसका आचारशास्त्र लगभग बुद्धधर्म के समान है, किन्तु आध्यात्मिक तत्त्वों की दृष्टि से यह उससे भिन्न है। इस समय भारत में इसके १५ लाख अनुयायी हैं, जो शान्तिप्रिय और नियमानुसार व्यवहार करनेवाले नागरिक समझे जाते हैं। आपने सुवक्ता सदस्यों के बहुत से भाषण सुने हैं और मैं बाद में विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रकट करूंगा। मैं इस समय अपनी समाज और उसके महान्गुरु मुनि श्री आत्माराम जी की ओर से आपके प्रेमपूर्ण स्वागत का आभार मानता हूं। धर्म और दर्शन के विद्वान नेताओं का एक मंच पर एकत्रित होकर धार्मिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का यह भव्य दृश्य श्री आत्माराम जी के जीवन का आदर्श रहा है। श्री मुनि जी ने मुझे आदेश दिया है कि विशेषत: उनकी ओर से तथा समस्त जैनसमाज की ओर से धर्मपरिषद् आयोजित करने के उच्च विचारको कार्यरूप में परिणत करने में सफल होने पर आपको बधाई अर्पित करूं"[1]।

श्रीयुत वीरचन्द्र ने इस परिषद् में केवल जैनधर्म का ही प्रतिनिधित्व नहीं किया। वस्तुत: वे सारे देश के प्रतिनिधि थे। जब कभी कोई व्यक्ति किसी भी अवसर पर भारत के किसी धर्म पर या यहाँ की सभ्यता संस्कृति अथवा रीति-रिवाज पर अनुचित आक्रमण करता तो आपकी देशभक्त आत्मा तड़प उठती। आप उसका युक्तियुक्त खंडन करते। परिषद् के १४वें दिन ता० २४ सितम्बर १८९३ ई० को एक वक्ता ने हिन्दूधर्म की नैतिकता पर अनुचित कटाक्ष करते हुए कहा था। "ब्राह्मणधर्म के अनुयायियो के हजारों मंदिरों में सैकड़ों स्त्रियां पुजारिन थी जो चरित्र पतित और विलासिनी समझी जाती थी। वे वैशियाएं थीं, इसलिये उन्हें पुजारिन बनाया गया वे पुजारिनें वैश्याओं का काम भी करती थी।" अगले दिन जब गांधी जी जैनधर्म पर अपना निबन्ध पढ़ने लगे तो प्रारंभ में उन्होंने इस भद्दे आक्रमण का उत्तर देते हुए कहा—

"मैं प्रसन्न हूँ कि किसी ने मेरे धर्म पर आक्रमण करने का साहस नही किया। ऐसा करना भी नही चाहिये। जो आक्रमण किये गये हैं वे सामाजिक कुरीतियों से सम्बन्ध रखते हैं। मैं जिस बात को हररोज दुहराता हूं कि ये बुराइयां धर्म के कारण नहीं हैं ऐसी बातें सब देशों की समाजों में हुआ करती हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को लक्ष्य में रख कर कुछ लोग ये समझते हैं कि वे महात्मा पाल हैं और इस पर वे विश्वास भी कर लेते हैं। ये पाल भारत को छोड़कर अपने विचारों का प्रदर्शन करने और कहा जाएं। तो वे ईसाई धर्म न मानने वालों को अपने धर्म की परिधि में लाने के लिये भारत में जाते हैं और जब उनके स्वप्न भंग हो जाते है तब वे जीवन भर हिन्दुओं की निन्दा करने केलिये वापिस लौट आते हैं। किसी भी धर्म की निन्दा करना उस धर्म

2. Neely's History of the Parliament of Religions P. 61-62.

के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं है। अपने धर्म की प्रशंसा तथा सत्यता का प्रमाण दूसरों की निन्दा करने में नहीं है। ऐसे व्यक्तियों पर मुझे दया आती है। दक्षिण भारत में कुछ ऐसे मंदिर हैं, जिनमें विशेष अवसरों पर गाने के लिए गानेवाली स्त्रियाँ रखी जाती हैं। उनमें कुछ का चरित्र संदिग्ध भी हो सकता है। हिन्दू इसे अनुभव भी करते हैं और इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। ऐसी स्त्रियों को मन्दिर के मुख्य भाग में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता। उनके पुजारिन होने के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक भी स्त्री पुजारिन नहीं है.........। यदि भारत में वर्तमान बुराइयाँ हिन्दूधर्म के कारण उत्पन्न हुई भी हैं तो इसी धर्म में ऐसा राष्ट्र बनाने की शक्ति है; जिसके विषय में युनानी इतिहासकारों ने कहा है कि कोई हिन्दू झूठ बोलता नही देखा गया और कोई हिन्दू नारी शीलपतित नहीं सुनी गई। आधुनिक काल में भी भारत से बढ़कर चरित्रवती नारियाँ और सहृदय पुरुष संसार में कहाँ हैं ? [1]"

परिषद् के अन्तिम दिन श्री गांधी की गम्भीर ध्वनि और विचारों की शालीनता गूंज उठी, जब उन्होंने कहा—

"क्या हम सब इस बात का अनुभव नहीं कर रहे कि हम अति शीघ्र विदा हो रहे हैं। क्या हम यह अभिलाषा नहीं रखते कि यह परिषद् सतरह दिन तक सत्तरह बार होती रहे। क्या हमने इस मंच पर विद्वान प्रतिनिधियों के भाषण आनन्द और रुचिपूर्वक नहीं सुने हैं ? क्या हम यह नहीं जानते कि इस अनुपम परिषद् के आयोजकों का स्वर्ण स्वप्न आशा से भी अधिक सफल सिद्ध हुआ है ? यदि आप किसी गैर ईसाई को शांति और प्रेम का संदेश देने की आज्ञा दें तो मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप उन विविध विचारों का उदार दृष्टि से मनन करें जो आपके सम्मुख उपस्थित किये गए हैं। हाथी और सात अंधों की कहानी के समान अन्धविश्वास तथा पक्षपात की दृष्टि से विचार करना अनुचित होगा।[2]

परिषद् के मंच के अतिरिक्त गांधीजी ने अमेरिका में जो अनेक भाषण दिये थे वे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण और मनन योग्य हैं। उनसे उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता, सत्यप्रियता तथा आज के लगभग ६० वर्ष पहले भी विश्वबन्धुता की भावना की झलक स्पष्ट रूपेण पाठकों को दिखाई दे सकेगी। उनके भाषणों के एक-दो उदाहरण और दिये जाते हैं—

"मेरे भाइयो और बहिनो। आप जानते हैं कि हम स्वतंत्र राष्ट्र के निवासी नहीं हैं। हम महारानी विक्टोरिया की प्रजा हैं। किन्तु यदि हम राष्ट्र शब्द के सच्चे अर्थ के अनुसार अपने राष्ट्र होने का गर्व कर सकते, हमारी अपनी सरकार होती और अपने ही शासक होते, हमारे कानून और हमारी संस्थाओं का संचालन स्वतंत्रता पूर्वक हमारी स्वेच्छा के अनुसार होता तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि हम संसार में सभी राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें हमेशा केलिये स्थिर रखने का सतत् प्रयत्न करते। हम न तो आपके सम्मान को कम करने का प्रयत्न करेंगे और न ही आपके अधिकारों अथवा भूमि पर छापा मारने की कोशिश करेंगे। हम राष्ट्रों के कुटुम्ब में सबको वही पद देंगे जो कि आप हमें इस समय मनुष्य जाति के कुटुम्ब में प्रदान करते हैं। एक संस्कृत के कवि ने कहा है कि, "यह मेरा देश है, यह तुम्हारा है ये विचार संकुचित हृदय

1. Barrows : World's Parliament of Religions Vol. I P. 144-45.
2. Barrows World's Parliament of Religions Vol. I P. 171.

वाले व्यक्तियों के होते हैं। उदारचेताओं केलिये सारा विश्व ही एक कुटुम्ब है।"[1]

"मुझे अपने सामने उपस्थित अमेरिकन ईसाई भाई-बहनों से तथा उनके द्वारा समस्त ईसाई संसार से कुछ निवेदन करना है इस देश में आने के समय से मैं सुन रहा हूँ कि ईसाई संसार का यह नारा है कि सारा विश्व ईसा का है। यह सब क्या है? इसका अर्थ क्या है? वह कौन सा ईसा है; जिसके नाम से आप विश्व पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं? क्या अत्याचार का कोई ईसा है? क्या अन्याय का कोई ईसा है? क्या सब अधिकारों के निषेध का कोई ईसा है? क्या अन्यायपूर्ण और अत्यधिक ऐसे करों (Taxes) का कोई ईसा है? जो ऐसी सरकार की मदद के लिये लगाये जाते हैं जो कि हमारे ज्ञान, विचार, धर्म और सहमति के प्रतिकूल हैं, विदेशी हैं?......यदि ऐसे ईसा के नाम पर और ऐसे झंडों के आधार पर आप हमें जीतना चाहते हैं तो हम पराजित नहीं होंगे। किन्तु यदि हमारे पास शिक्षा, भ्रातृभाव और विश्व प्रेम के ईसा के नाम से आते हैं तब हम आपका स्वागत करेंगे। ऐसे ईसा को हम जानते हैं और हमें उससे भय नहीं है।"[2]

श्री वीरचन्द गांधी भारत में

विदेश में जैनधर्म, दर्शन, योग और भारतीय सभ्यता आदि पर सैकड़ो व्याख्यान देने के पश्चात् आप १८९५ ई० में वापिस भारत आये। बम्बई मे उन्होंने 'हेमचन्द्राचार्य अभ्यास वर्ग' की स्थापना की, जिसमें उनके अनेक व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों को अजैन भी सुरुचि पूर्वक सुना करते थे। इसके अतिरिक्त बम्बई की बुद्धिवर्द्धक सभा, आर्य समाज, थियोसॉफ़िकल सोसाइटी आदि संस्थाओं में भी गांधी जी को जैनधर्म पर भाषण देने केलिये निमंत्रित किया जाता रहा।

अमेरिका से गांधीजी को पुनः निमंत्रण आया। अतः १८९६ ई० में आप दूसरी बार वहां गए। वापिस आते हुए इंगलैंड में भी आपने भाषण दिये और साथ ही वहाँ रहकर बैरिस्टरी का अध्ययन भी पूर्ण कर लिया। जर्मनी और फ्रांस में भी आपने जैनधर्म पर भाषण दिये थे।

१८९८ ई० में जैनसमाज के काम केलिये आप पुनः भारत आये, और कुछ महीनों बाद भारतमंत्री के यहाँ जैनसमाज की ओर से शत्रुंजयतीर्थ के विषय में एक अपील करने केलिये आप पुनः इंगलैंड गये। उन्हें अपने कार्य मे सफलता मिली।

अमेरिका में आपके व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा था। आपने कई जगह अभ्यासवर्ग स्थापित किये और जिज्ञासु जन आपसे जैनधर्म का अभ्यास करने केलिये आने लगे। एक जगह आपको स्वर्णपदक भेंट किया गया। आपने वहाँ 'गांधी फ़िलासोफ़िकल सोसाइटी' नाम की एक संस्था भी स्थापित की थी। वापिस आने पर आपको अभिनन्दन पत्र भी दिया गया था। उस समय माननीय महादेव गोविन्द रानाडे ने सभापति का आसन ग्रहण किया था।

इंगलैंड में आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया। अतः आप भारत वापिस आ गये। दुर्भाग्यवश आने के कुछ सप्ताह बाद ७ अगस्त सन् १९०१ ई० को केवल ३७ वर्ष की युवावस्था में आपका स्वर्गवास हो गया। जैनसमाज एक होनहार, उत्साही, धर्मवीर-कर्मवीर युवक से हमेशा केलिये विहीन हो गया।

---

1. Jain Philosophy by V. Gandhi P. 264.
2. Abid P. 268.

जब आप पहली बार विदेश गये थे और धर्मप्रचार करके देश में वापिस आये, तब लोगों के हृदय में यह विश्वास जमा हुआ था कि किसी भी कारण से यूरोप जाने वाला व्यक्ति धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः बम्बई का वातावरण क्षुब्ध था। उन दिनों बम्बई में मोहनलालजी महाराज विद्यमान थे। जब पंजाब में विजयानन्द सूरि जी के पास यह समाचार पहुँचा तब उन्होंने यह कार्य श्री मोहनलालजी के निर्णय पर छोड़ दिया। महाराज ने समुद्र पार जाने के लिये श्री वीरचन्द गांधी को श्री जिनेन्द्र भगवान की एक स्नात्रपूजा पढ़ाने का आदेश दिया। सबने यह निर्णय स्वीकार कर लिया और वातावरण में शांति स्थापित हुई।[1]

आपके बहुत से भाषण छप चुके हैं और वे Jain Philosophy, Yoga Philosophy, तथा Karma Philosophy नामक पुस्तकों में संगृहीत हैं। उनके भाषण जैनधर्म, दर्शन और आचार तक ही सीमित न थे। उन्होंने भारत की चमत्कार विद्या (Occulism in India) ईसा मसीह के धर्म का स्याद्वाद मतानुसार अर्थ, भारत का प्राचीनधर्म, गायनविद्या, अमेरिका की स्त्रियों को टोपियों में पक्षियों के पंख नहीं पहनने चाहिये, समाचार पत्र तथा नाटक का सम्बन्ध। ये तीनों भाषण केवल स्त्रियों की सभा में दिये गये थे। अमेरिकन राजनीति पर वर्तमान सामाजिक कानूनों का प्रभाव, यूरोपीय दर्शन की तीन मौलिक मिथ्या धारणाएं, हिन्दुओं का सामाजिक व्यवहार और रीति-रिवाज, बुद्धधर्म, भारत की राजनैतिक अवस्था, हिन्दू, मुस्लिम और अंग्रेजी राज्य में भारत में नारी का स्थान, भारत की अमेरिका को देन; इत्यादि विविध विषयों पर व्याख्यान दिये थे। उनके विचार सुनकर जनता को अभूतपूर्व आनन्द आता था। उन्हें १४ भाषाओं का ज्ञान था।

उन्होंने एक अनुदित पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम था 'Uuknown life of Jesus Christ'। इसी का शुद्ध अनुवाद प्रकाशित किया है। भारत के निवासी होने के कारण उन्होंने Himis मठ का अपनी पुस्तक में अत्यन्त सुन्दर चित्र दिया है। इस मठ से Notovitch को इस पुस्तक की पांडुलिपि मिली थी। उन्होंने और भी बहुत से चित्र दिये हैं और एक अत्यन्त विद्वतापूर्ण प्रस्तावना भी लिखी है। इसी पुस्तक के आधार पर हमने ये ईसा के जीवन के १८ वर्ष भारत में निवास करने का उल्लेख किया, जिसमें ६ वर्ष तक उसने जैन साधुओं के पास रह कर जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त किया था। देखें इसी पुस्तक का अध्याय—२।

श्री वीरचन्द गांधी एक आदर्श चारित्र के व्यक्ति थे। धर्मवीर भी थे और कर्मवीर भी थे। कर्त्तव्यपरायणता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे जीवन और कर्त्तव्य को सहयोगी समझते थे। वे नम्र और मिलनसार थे। दिन रात काम करने में वे कभी घबराते नहीं थे। संभव है कि परिश्रम की अधिकता ही उनकी अकाल मृत्यु का कारण बनी हो। मरतेदम तक भी समाज सेवा में कटिबद्ध रहे उन्होंने अपना समस्त जीवन लोकोपकार में बताया। उनके सम्मुख समाज-देश सेवा और विश्व प्रेम का अनुपम आदर्श था। १८९७ ई० में भारत में दुष्काल पड़ा था, तब लाखों मनुष्य अन्न के अभाव से काल का ग्रास बन गये। श्री गांधी उस समय अमेरिका में थे। वहां से उन्होंने सानफ्रान्सिसको शहर से मक्की का एक भरा हुआ जहाज कलकत्ता में भिजवाया। वह मक्की ग़रीबों में बांट दी गई तथा भिन्न-भिन्न भागों से चालीस हजार रुपया नकद भी भिजवाया।[2]

---

1. आत्माराम जन्म शताब्दी स्मारक ग्रंथ (गुजराती) पृ० ४२।
2. श्री वीरचन्दभाईना पत्रो-श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी ग्रंथ (गुजराती) पृ० ६०।

धर्म, साहित्य तथा राजनीति के मर्मज्ञ विद्वान एवं जैनसमाज के पुराने ख्याति प्राप्त निःस्वार्थ सेवक महात्मा भगवानदीनजी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'मेरे साथी' २५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। उसमें उन्होंने वीरचन्द गांधी का भी वर्णन किया था। उसका एक उद्धरण यहाँ देते हैं—

"......श्री वीरचन्द गांधी १९वीं सदी की पैदाइश थे। हिन्दुस्तान को गुलाम हुए पूरे ३६ वर्ष बीते थे। अभी तक इस देश में ऐसे आदमी जीवित थे, जिन्हें देश की गुलामी छू न पायी थी। तभी तो वे अमेरिका के मेसॉनिक टैम्पल में एक दिन खड़े होकर अमेरिकावासियों से उस विषय पर चर्चा कर बैठे, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि उस विद्या का जन्मदाता यूरोप है, जिसे हिप्नोटिज्म नाम से पुकारा जाता है।

कितना आकर्षण रहा होगा उस वीरचन्द राघवजी गांधी में, जिस वक्त मेसॉनिक टैम्पल में हिप्नोटिज्म पर बोलते हुए उन्होंने लोगों से कहा कि कमरे की बत्तियाँ हलकी कर दी जायें और जैसे ही हलकी हुई कि उस सफ़ेद कपड़ेधारी हिन्दुस्तानी की देह से एक आभा चमकने लगी और उसकी पगड़ी ऐसी मालूम होने लगी कि मानो उस आदमी के चेहरे के पीछे कोई सूरज निकल रहा हो और जिसे देखकर अमेरिकावासियों का कहना था कि वे उस आभा को न देख सके। उनकी आँखें बन्द हो गईं और थोड़ी देर के लिये उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो वे सब समाधि अवस्था में हों।

उनके अमेरिका में दिए हुए भाषणों का उपयोगी संग्रह प्रकाशित हो चुका है, पाठक उसे जरूर पढ़ें।

उस संग्रह में की गई कुछ श्रद्धांजलियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) "प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानों, दार्शनिकों और धर्मगुरुओं का एक मण्डल धर्मपरिषद में उपस्थित था। उन्होंने वहाँ भाषण भी दिये। उनमें से कुछ सहृदयता, वक्तृता, तथा विद्वता की दृष्टि से किसी भी अन्य जाति के उच्च विद्वानों के भाषणों के समकक्ष थे। किन्तु यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि पूर्व के विद्वानों में से जिस रुचि के साथ जैन युवक श्रावक का जैन आचार तथा जैनदर्शन सम्बन्धी व्याख्यान सुना गया था, वैसे और किसी का नहीं सुना गया।"

(२) "गांधी जी दृढ व्यक्तित्व के युवक हैं, उनमे उत्साह है और वे अपने उद्देश के प्रति सच्चे तथा लगन वाले पुरुष हैं। उन का नैतिक साहस अपार है, और उनमें पूरा-पूरा आत्म सम्मान है।...... जब वे मनुष्य जाति के स्वार्थ व अन्याय का तथा अनपढ़ दीन जनसाधारण के दुःखों का वर्णन करने लगते हैं, तब उनकी वक्तृत्वकला खिल उठती है और उनकी आत्मा उनके नेत्रों में चमकने लगती है। जबभी अवसर मिले, उनके भाषण सुनने से किसी को भी चूकना नहीं चाहिये। वे भारत और उसके निवासियो के विषय में आपकी सब भ्रांतियाँ दूर कर देंगे।"

(३) "मुझे जीवन में ऐसे व्यक्ति (वीरचंद गांधी जैसे) के दर्शन का सौभाग्य बहुत ही कम मिला है, जिसका अध्ययन व संस्कार इतने महान तथा विविध हैं और जिसके अन्तर में इतनी मधुर निष्ठापूर्ण और शिक्षाप्रद आत्मा है।"

स्व० श्री गुलाबचंद ढड्ढा एम० ए० ने भी वीरचंद जी के अमेरिका में किये गये कार्यों के विषय में एक विशेष महत्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि "अमेरिका से वापिस आने के बाद श्री गांधी जी से अजमेर में मेरी भेंट हुई। वहाँ हम दोनों भाषण केलिए निमन्त्रित किये गये थे। इस भेंट के समय गांधी जी ने मुझे चिकागो के डाक विभाग के एक उच्च अधिकारी

का पत्र दिखाया। इसमें उसने लिखा था कि गांधी जी की बताई हुई विधि से नवकार मंत्र के जाप से जो सिर की पीड़ा दूर हो गई थी, वह सम्भवतः किसी भूल से थोड़ी मात्रा में पुनः प्रारम्भ हो गई है। अतः उचित परामर्श दें। गांधी जी ने उस समय मुझे एक अमेरिकन बहन की फोटो भी दिखाई (संभवतः मिस हावर्ड)। जिसमें वह भारतीय वेश में ऊनी आसन पर बैठी और मुँहपत्ती हाथ में लिये सामायिक कर रही थी। स्थापनाचार्य सामने रखा था और हाथ में माला थी। गांधी जी ने मुझे बताया कि श्री विजयानन्द सूरि की विशेष सूचनाओं के अनुसार एक मास तक जाप करने के पश्चात् उस बहिन को जातिस्मरण ज्ञान (पहले जन्म का ज्ञान) हो गया और उसने भारत में अपने पूर्वजन्म की कई बातें बताई।

श्री वीरचंद गांधी और श्री विवेकानन्द की तुलना

ऋषि विवेकानन्द आर्य तत्त्वज्ञान की वेदान्त-दर्शन समझने केलिए चिकागो की धर्म परिषद् मे गये। वे ४० वर्ष की अवस्था में ही सन् ईस्वी १९०२ में मृत्युपाये। उस समय अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र "बेनर आफ लाईट" ने तुलना करते हुए लिखा था—

१. जैन तत्त्वज्ञानी वीरचंद की लेखनशक्ति एवं वक्तृत्वशक्ति मे जो विचारों की नवीनता थी वह विवेकानन्द मे न थी।

२. स्वामी विवेकानन्द सन्यासी थे और मांसाहारी थे। पर श्री वीरचंद गृहस्थ थे, धार्मिक जैन की भांति जीवन व्यतीत करनेवाले निर्दोष वनस्पति आहारी थे।

३ भारत के दोनो उत्तम रत्नो के लिए नीचे लिखी बातें कही जा सकती हैं—

(१) विविध धर्मों की चर्चा करने केलिए सन् ईस्वी १८९३ मे होने वाली चिकागो की धर्मपरिषद् मे गये और प्रशसा प्राप्त की।

(२) दोनों लोकप्रिय व्याख्यानकार थे। अमेरिका के श्रोताओ की ओर से उन के सम्बन्ध मे प्रशंसा के वचन सुनाई पड़ते हैं।

(३) जिन लोगो ने इनके भाषणो को सुना, उन्होने इनके सिद्धातों को प्रीतिपूर्वक स्वीकार किया और जिन्होने इनके सिद्धांतों का यथार्थ निर्णय करने केलिए विचार किया उनके मन के ऊपर इनके विचारो की छाप आजतक भी विद्यमान है।

(४) दोनों ने थोडी आयु पाई, विवेकानन्द ४० वर्ष की आयु मे और वीरचन्द ३७ वर्ष की आयु में स्वर्गस्थ हुए। यदि अधिक समय तक जीवित रहते तो हमारा भविष्य कुछ और सुधर जाता।

(५) दोनों ने पवित्र भारत भूमि में ही आकर प्राण त्याग किये। विवेकानन्द ने सन् १९०२ में बेलूर मठ में और वीरचंद ने सन् ईस्वी १९०१ में।

(६) स्वामी विवेकानंद के प्रबल विचारों केलिये उनके शिष्यमंडल (अभेदानंद आदि) ने रामकृष्ण सोसाइटी आदि अनेक संस्थाएं स्थापित कीं। परन्तु शोक कि वीरचन्द के प्रबल विचारों के प्रभाव से कोई जैन संस्था स्थापित न रह सकी। मात्र यही बात नही है बल्कि वीरचंद के स्मरणार्थ कोई सस्था स्थापित करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया।

श्रीमद् वीरचंद (अमेरिका के) प्रत्येक सज्जन के हृदय में अभी तक स्थित हैं। उनका शरीर नष्ट हो गया, किंतु वे नष्ट नहीं हुए। उनका यश रूपी शरीर अमृत और अमर है अंग्रेजी कहावत है—To live in hearts we leave behind, is not death. अर्थात् - हृदयों में रहना मृत्यु नहीं है। तीर्थादि कार्यों में विजय प्राप्त करने में, जैन धर्म के प्रसार करने में, जड़वादियों के हृदयों पर जैन संस्कारों की छाप डालने में श्रीमद् वीरचंद ने अपने मन, वचन और शरीर से जो आत्मत्याग किया है, उनके लिये सारा जैन समाज उनका ऋणी है। इस स्वर्गस्थ होने वाले के हित के लिये नहीं, बल्कि अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये भी जैन समाज ने अपना कर्त्तव्य किस प्रकार पूरा किया ? इसका विचार आते ही समाज की स्थिति और उसकी अकर्मन्यता का दृश्य नाचने लगता है।

—:o:—

सद्धर्मनिष्ठा शाह कर्मचन्द जी दूगड़

लाला कर्मचंद जी का जन्म नगर गुजरांवाला पंजाब में लगभग वि० सं० १८७५ (ई० स० १८१८) में शाह धर्मयश के यहां हुआ। शाह मथुरादास जी व शाह गंडामल जी आप के छोटे भाई तथा रूपादेवी व निहालदेवी दो बहनें थीं। शाह कर्मचंद जी के इकलौते पुत्र शाह ईश्वरदास जी थे।

आप दोनों पिता पुत्र सराफा (सोना-चांदी) का व्यापार करते थे। सही एक दाम तथा पूरा तोल से खरामाल लेने देने के सिद्धांत का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे, जिससे आपकी सच्चाई की धाक ग्राहकों पर थी, इसलिये आपको दुकान पर ग्राहकों की भीड़ लगी रहती थी।

माता-पिता से आपको बचपन से ही जैनधर्म के सस्कार मिले थे, संतों के सम्पर्क से आप ने ढूंढकमत मान्य ३२ आगमों का अभ्यास थोड़े ही वर्षों में कर लिया था। तबसे आप शास्त्री जी के नाम से प्रसिद्धि पाये। इस समय सारे पंजाब में प्राय: लुंकामति ढूंढक पंथ का प्रचार और प्रसार था। गुजरांवाला के सभी ओसवाल भावड़े परिवार भी इसी पंथ के अनुयायी थे। इस पंथ के साधु-साध्वियां आपसे जैनशास्त्रों का अभ्यास करने केलिये सदा गुजरांवाला में आते रहते थे और आप भी बड़ी उदारता से निःस्वार्थ भाव से उन्हें जैन शास्त्र-अभ्यास कराते थे। ऋषि बूटेराय (संवेगी दीक्षा के बाद मुनि बुद्धिविजय) जी के बड़े शिष्य ऋषि मूलचंद (संवेगी दीक्षा के बाद मुनि मुक्ति विजय) जी ने ढूंढक पंथ की साधु अवस्था में आप से वि० सं० १९०२ से १९०७ तक छह वर्ष गुजरांवाला में रहकर जैनागमों का अभ्यास किया था। जब कोई साधु-साध्वी यहां नहीं होता था तो स्थानक में श्रावक-श्राविकाओं को रात्री के समय जैनधर्म पर व्याख्यान सुनाते थे।

सद्धर्म प्राप्ति—ऋषि बूटेराय जी ने वि० सं० १८९७ (ई० स० १८४०) में जब शाश्वत जैनश्वेतांबर मूर्तिपूजक धर्म के पक्ष की स्थापना की थी, तब सर्वप्रथम ऋषि जी ने अपने मत को सत्यता की कसौटी पर कसने केलिये आपके साथ ही आगम (शास्त्र) चर्चा की थी। ऋषि जी को आपका समर्थन मिलते ही गुजरांवाला में ही सद्धर्म के पुनरोद्धार करने का श्रीगणेश किया था। जिस के परिणाम स्वरूप चार-पाँच को छोड़कर यहां के सारे जैनपरिवार आप तीनों

भाइयों के परिवारों के साथ सद्धर्म के अनुयायी बन गये। श्री बूटेराय जी को अपना धर्मगुरु मान कर उनके उपदेश से यहाँ श्री पार्श्वनाथ जैनश्वेतांबर मंदिर की स्थापना कर दी गई। तत्पश्चात् श्री सद्गुरुदेव ने ढूंढक साधु के वेश में ही पंजाब में सद्धर्म के प्रचार के लिये सर्वत्र विहार किया। परिणाम स्वरूप शास्त्री जी के सहयोग से पूज्य बूटेराय जी ने पपनाखा, रामनगर, किलादीदारसिंह, जम्मू, किला सोभासिंह, पिंडदादनखां आदि पंजाब के अनेक नगरों के परिवारों को प्रतिबोध देकर प्राचीन श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनधर्म के अनुयायी बनाया और वहाँ जिनमंदिरों की स्थापनाएं भी कीं। पश्चात् पूज्य बूटेराय जी ने वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद जाकर ढूंढक साधु के वेश का त्याग कर श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन तपागच्छीय मुनि श्री मणिविजय जी से संवेगी दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने नाम बुद्धिविजय जी रखा (विशेष परिचय के लिये देखें इसी ग्रंथ में मुनि श्री का चरित्र)।

श्रावक व्रत धारण तथा प्रवचन सेवा

आप जैनागमों के मर्मज्ञ विद्वान तो थे ही। सद्धर्म स्वीकार करने के बाद आपने सद्गुरुदेव से श्रावक के सम्यक्त्व मूल बारह व्रत स्वीकार किये, रात्रि भोजन का त्याग किया। जिनपूजा आदि षट्कर्म, सामायिक प्रतिक्रमण आदि षडावश्यक, चौदह नियम आदि प्रतिदिन करते थे। प्रातः ९ बजे तक प्रतिदिन श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैनमंदिर के नीचे के हाल के कमरे में बैठकर शास्त्र स्वाध्याय तथा शास्त्रों की प्रतिलिपि करते थे। चैत्र सुदी प्रतिपक्ष से लेकर आसोज सुदी १५ तक प्रतिवर्ष सात मास रात्रि के समय उपाश्रय में श्रावक-श्राविकाओं को ढाल, चौपाई, रासों को गायनपूर्वक सुनाने के साथ अर्थ का विवेचन करके अर्हत् प्रवचन से लाभान्वित करते थे।

आपका स्वभाव मिलनसार, सरल, मृदु और कोमल था। धर्मानुष्ठान तथा नित्यनियम का पालन करना आपके जीवन का अंग बन चुका था।

सहनशीलता और समता

वि० सं० १९५१ में आपके इकलौते पुत्र शाह ईश्वरदास का, वि० सं० १९५४ में बड़े पौत्र नन्दलाल का, फिर छोटे पौत्र मुकन्दलाल का, वि० सं० १९५९ में आपके सबसे छोटे भाई श्री गंडामल का भी देहांत हो गया था। इस प्रकार उपरोपरी परिवार में जवान पुत्र, पौत्रों की मृत्यु, भुजा के समान छोटे भाई की मृत्यु तथा साथ ही वृद्धावस्था के कारण आप पर असहनीय दुःखों के पहाड़ टूटने लगे, कुछ स्वास्थ्य भी ढीला रहने लगा। परिणामस्वरूप कमाने योग्य अकेले होने से आप दुकानदारी को भी न संभाल सके, इसलिये आपकी आर्थिक स्थिति भी डाँवाडोल हो गयी। फिर भी आपकी सहनशीलता और समता में कमी नहीं आयी।

आप श्री सद्ज्ञान प्राप्त करने वाले कोरे शास्त्री ही नहीं थे, परन्तु उस ज्ञान को आचरण में लाकर आत्मसात भी किया था। जैसे ज्ञान सम्पन्न थे वैसे ही तत्त्वचिंतक तथा विचारक भी थे। ज्ञान ने साक्षात् चारित्र का रूप धारण कर लिया था। सुख-दुःख में सदा समतावान रहते थे और यह सोचकर सानन्द विभोर हो जाते थे कि दुःखों और कष्टों के आने पर मेरे पाप-पुंज झड़ गये। अतः आपका चेहरा सदा हंसमुख, प्रसन्न और गंभीर रहता था। आप सहनशीलता में अद्वितीय थे।

यदि कोई आपको भला-बुरा कहता अथवा गाली-गलोच बोलता, अपमान करता तब भी आप उसे अपना शुभचिंतक मानकर प्रसन्नता प्रकट करते थे।

एकदा एक व्यक्ति ने आकर आपको गालियों की बौछार कर दी। आप सुनकर मुसकराते ही रहे। अन्त में वह खिसया गया और बोला—"ओ कर्मां! तू है ही कर्मां सड़या[1]। तुम कर्मचंद नहीं हो।" पंजाबी भाषा के इस शब्द का अर्थ होता है—भाग्यहीन, दुर्भागी, हीनपुण्य, बदनसीब इत्यादि। लाला जी सुनकर खिलखिलाकर हंस पड़े और बड़े गंभीर स्वर में कहने लगे—हे मेरे परम हितैषी महापुरुष! तुम्हारे जैसा मेरा शुभेच्छुक आज ही मुझे मिला है। क्योंकि तुमने मेरे कर्मों के नष्ट हो जाने के लिये अपनी आंतरिक भावना से कामना की है। आओ मैं तुम्हारे मुंह को खांड-शक्कर से भर दूं। सामने वाला व्यक्ति लज्जित होकर और खिसियाना होकर जिधर से आया था उधर चल दिया। आपका स्वर्गवास वि० सं० १९६१ मिति आषाढ़ कृष्णा १३ को गुजरांवाला में हो गया।

—:o:—

बापू मथुरादास जी दूगड़ चौधरी

श्री मथुरादास जी शास्त्री कर्मचन्दजी दूगड़ के छोटे भाई थे। आपका जन्म वि० सं० १८८८ में माता सुश्री मोलांदेई की कुक्षी से गुजरांवाला में हुआ। आपके श्री दीनानाथ जी इकलौते पुत्र थे।

व्यापार व्यवसाय—आपने पहले कपड़े की, फिर सराफे की स्वतन्त्र, उसके बाद धातु के बरतनों के थोक व्यवसाय की दुकान लाला गंडामल लोढ़ा की साझेदारी में वि० सं० १९१५ से १९६४ तक गुजरांवाला में की। बाद में साझेदारी से अलग अपने सुपुत्र श्री दीनानाथ जी केसाथ स्वतन्त्र रूप से यही व्यवसाय चालू रखा जो जीवन के अंतिम समय तक चालू रहा। आपकी धर्मनिष्ठा, सूझ-बूझ, एकदाम, सच्चाई और सही तोल के कारण कुछ ही वर्षों में व्यापार काबुल से दिल्ली, काश्मीर, सिंध, पंजाब के पार्वतीय प्रदेशों तक फैल गया। थोड़े ही समय में आपकी गणना पंजाब के अग्रगण्य व्यापारियों में होने लगी और लखपतियों का स्थान प्राप्त कर लिया। यह समय कल-कारखानों का नहीं था। माल की यातायात के साधन भी सीमित थे। फिर भी दूर-दूर के व्यापारी आपके यहां माल खरीदने आते थे। कारीगर लोग धातुओं की टूट-फूट को भट्ठी में गलाकर हाथों की कारीगरी से नये बरतनों का निर्माण करते थे। कारीगरों के साथ आपका पिता तुल्य वात्सल्य था। इनकी सार संभाल आप अपने पुत्रवत सदा करते थे। दुःख और संकट के समय आप उनके मसीहा थे।

परोपकारीमय जीवन—आप विलक्षण बुद्धि के धनी तथा अलौकिक सूझ-बूझ के मालिक थे। दीन दुःखियों तथा साधारण स्थिति के साधर्मी भाइयों के उद्धार केलिये आप गुप्त रूप से आर्थिक सहायता देते थे। साधर्मी भाइयों को व्यवसाय में लगाने के लिए उनको प्रशिक्षण केलिए अपनी दुकान पर नौकरी देकर रखते थे और प्रशिक्षण पा लेने के बाद जो साधनहीन थे उन्हें आर्थिक सहयोग से धन्धे में जोड़ देते थे।

---

1. कर्मां सड़या का एक अर्थ यह भी होता है कि "कि जिसके कर्मक्षय होकर झड़ चुके हैं।"

वेशभूषा और रहनसहन—आपकी वेशभूषा राजस्थानी थी। परिवार की महिलाओं की वेशभूषा भी राजस्थानी थी। भरावदार चेहरे पर राजपूती लम्बी दाढ़ी तथा लम्बी मूंछें मुखमंडल की शोभा को चारचांद लगाते थे। कानों में सोने की बालियां तथा दाहिने कान के ऊपर के छेद में चार इंच का बड़ा सोने का बाला पहनते थे।

सामाजिक प्रवृत्ति

उपर्युक्त गुणों से प्रभावित होकर गुजरांवाला की जैनसमाज ने आपको वि० सं० १९१५ में चौधरी पद से विभूषित किया जो गुजरात देश के नगर सेठ के पद की तुलना करता था। सारे सामाजिक, धार्मिक पंचायती कार्य आपकी अगवानी में होते थे। सारे नगरवासी फिर वे चाहे किसी भी धर्म, कौम या जाति वाले होते थे आपसी झगड़ों को निपटाने केलिये आपके पास आते थे और जो निर्णय आप देते थे वे सर्वमान्य माने जाते थे। सरकारी कोर्ट भी आपके फैसलों को मान्य रखती थी। यही कारण था कि आप पंजाब में बापूजी (पितामह) के नाम से प्रसिद्ध थे। इस प्रकार १. चौधरी साहब २. बापूजी, तथा ३. बालयाँवाले शाह इन तीनों बहुमान सूचक शब्दों से आप सर्व मान्य थे।

धार्मिक कार्यों में सहयोग तथा दान प्रवृत्ति

आपका सारा परिवार ढूंढक पंथ का अनुयायी था। वि० सं० १८९७ में आपके सारे परिवार ने भी यहां के जैन समाज के साथ श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक धर्म को स्वीकार किया। वि० सं० १९१५ से १९२० तक यहाँ श्री जिनमंदिर का निर्माण होकर उसकी प्रतिष्ठा पूज्य मुनि श्री बुद्धिविजयजी ने वि० सं० १९२० में करवाई। (१) श्री मंदिरजी के निर्माण में, श्री विजयानन्द सूरि जी के समाधिमदिर के निर्माण तथा प्रतिष्ठा के अवसर पर और वि० सं० १९६५ में श्वेतांबरजैनों के सनातन धर्मियों के साथ शास्त्रार्थ के अवसर पर एवं आचार्य विजयानन्द सूरि के स्वर्गवास के अवसर पर और भी अनेक गंभीर, विकट समस्याओं और अवसरों पर आपने श्रीसंघ का नेतृत्व कर आर्थिक, शारीरिक सहयोग तथा बुद्धिबल की सूझ-बूझ से संकट मुक्त होने में पूरा-पूरा सहयोग दिया।

(२) विक्रम संवत् १९१५ से लेकर १९६६—जीवन के अन्तिम श्वासों तक श्रीसंघ की कार्यकारिणी सभा के सदस्य रहे। वि० सं० १९१५ से १९६४ तक श्रीसंघ के धार्मिक खातों के कोषाध्यक्ष रहे। (३) गुजरांवाला से रामनगर का छरीपालित यात्रा संघ निकाला।

धार्मिक जीवन

प्रतिदिन जिनपूजा आदि षडकर्म, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षडावश्यक, किया करते थे रात्रिभोजन का त्याग, प्रातः नवकारसी-पोरिसी का पच्चक्खाण, पर्वतिथियों को सचित आहार का सारे परिवार का त्याग, गोभी बेंगन, गठा, प्याज, लहसुन तथा तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों का आज तक सारे परिवार का त्याग। सात व्यसनों का त्याग चला आ रहा है। सारे परिवार में आज तक धार्मिक वातावरण विद्यमान है।

जीवन की कुछ विशेषताएं

१-सारे नगरवासी आपका बहुत सम्मान करते थे। जब आप बाजार में होकर निकलते थे उस समय बड़े से बड़ा व्यक्ति भी अपनी गद्दी से खड़ा होकर हाथ जोड़कर नतमस्तक हो जाता

था। जो कोई भी अपनी फरियाद आपके पास लेकर आता था। आप उसे सहानुभूतिपूर्वक सुनते थे और उसे यथायोग्य तन, मन, धन से भी मदद करते थे।

२-दुकान का बहीखाता, हिसाब-किताब अपने ही हाथों से करते थे। दुकान की गद्दी पर स्वयं बैठना तथा तिजोरी की चाबियाँ भी आप अथवा आपके सुपुत्र संभालते थे।

३-बहुत बड़े परिवार तथा बाहर से आने वाले व्यापारियों केलिये भोजन की व्यवस्था, गाय, भैंसों की सार संभाल, दूध, दही, मठा बिलोने की सब व्यवस्था घर की स्त्रियाँ स्वयं करती थीं। ये दोनों कार्य नौकरों से कभी नहीं करवाये जाते थे। आपका विश्वास था कि दुकान का हिसाब-किताब तथा भोजन की व्यवस्था पराये हाथों में जाने से कभी भी इज्जत आबरू में हानि संभव है।

स्वर्गवास—विक्रम संवत १९९६ मार्गशीर्ष मास में आपका जालंधर में स्वर्गवास हो गया।

—:०—

चौधरी दीनानाथ जी दूगड़

आप बापू मथुरादास जी के इकलौते पुत्र थे। आपका जन्म माता हरकौरजी की कुक्षी से वि० सं० १९४३ मिति चैत्र कृष्णा १४ बुधवार को गुजरांवाला में हुआ। आपकी माता आपको १७ दिन का छोड़कर स्वर्ग सिधार गई थी। आपका लालन पालन धायमाता ने किया। आपके तीन विवाह हुए, पहली पत्नी सुश्री धनदेवी की कुक्षी से हीरालाल(इस ग्रंथ के लेखक) का जन्म मिति द्वि० ज्येष्ठ कृष्णा ५ वि० सं० १९६१ को गुजरांवाला में हुआ - हीरालाल को ९ दिन का छोड़कर उसकी माता का देहांत हो गया। इस नवजात शिशु का पालन पोषण इसकी नानी ने किया।



श्री दीनानाथ जी दूगड़

पश्चात् अन्य दो पत्नियों से पांच पुत्रों तथा दो पुत्रियों का जन्म हुआ। जिनमें से दो पुत्रों का देहांत हो चुका है। बाकी सब अपने-अपने परिवारों के साथ विद्यमान हैं। पिताजी की मृत्यु के बाद वि० सं० १९८६ तक बरतनों का व्यवसाय ही करते रहे। आर्थिक स्थिति एकदम नाजुक हो जाने से आपको व्यवसाय बन्द करने केलिये बाध्य होना पड़ा और सं० १९८६ में व्यवसाय बन्द करके आपने एक अनाज की आढ़त की दुकान में नौकरी कर ली। श्री हीरालाल जी वि० सं० १९८१ में श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल गुजरांवाला में जैनदर्शन के अभ्यास के लिए प्रविष्ट हो गये। आपके दो पुत्र श्री लखमीलाल व शादीलाल ने भी नौकरी कर लीं। छोटे पुत्र महेंद्रलाल व रमणीककुमार बच्चे होने से स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते रहे।

वि० सं० १९९७ में आपने महेंद्रलाल और रमणीककुमार को गुजरांवाला में बसाती (सौदागरी) की थोक दुकान करा दी जो दिन दुगनी और रात चौगनी तरक्की करते हुए पूर्ववत समृद्धि सम्पन्न हो गये।

श्रीसंघ सेवा तथा गुरुभक्ति

१-पिताजी के स्वर्गवास के बाद आप उनके चौधरी पद पर आसीन हुए।

२-वि० सं० १९६७ से १९९७ तक श्री विजयनन्द श्वेतांबर जैन (श्री संघ की कार्यकारिणी कमेटी के आप सदस्य, ऑनरेरी मंत्री, कोषाध्यक्ष तथा लेखानिरीक्षक (आडीटर) रहे।

३—आर्थिक परिस्थितियों की कटो-कटी और परेशानी में भी आपने संघ की सेवाओं से मुंह नहीं मोड़ा।

४—आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी के तो आप अनन्य भक्त थे। उनके आदेशों को आप तीर्थंकर के आदेश के तुल्य मानते थे। जब कभी और जहाँ कहीं भी आचार्यदेव ने आपको धार्मिक कार्यों के लिये बुलाया तभी जा पहुँचे। अपने निजी खर्चे में कटौती करके भी आप खुले-दिल धार्मिक कार्यों में खर्च करते थे।

५—ज्योतिष विद्या के तो आप पारगामी थे। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी भी प्रतिष्ठाओं आदि के मुहूर्त आपके परामर्श से ही निश्चित करते थे। इस समय पंजाब में आपकी तुलना करने वाला एक भी ज्योतिषी नहीं था। यह आपका व्यवसाय नहीं था इसे आपने धनो-पार्जन का साधन कभी नहीं बनाया था।

६—आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की नष्ट जन्मकुंडली आपने तैयार की थी जो भृगुसंहिता से बराबर मेल खाती थी।

७—श्री आत्मानन्द जैनपंचांग जो श्री हस्तिनापुरजैन श्वेताम्बर तीर्थ समिति लगभग चालीस-पेंतालीस वर्षों से प्रतिवर्ष आज तक प्रकाशित करती आ रही है। प्रारंभ से लेकर वि० सं० २०१० तक (जीवन के अन्तिम श्वासों तक) आप ही बनाकर श्री हस्तिनापुर जैनश्वेतांबर तीर्थ समिति को प्रकाशनार्थ भेजते रहे और पंचांग के प्रकाशन में जो भी खर्चा आता था उसको हस्तिनापुर तीर्थ समिति पर न डालकर अपने मित्रों से सब खर्चा करवा देते थे।

८—आपने अपने जीवन में हजारों रुपये धार्मिक कार्यों में खर्च किये।

९—श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ ने आपकी शासन-सेवाओं के उपलक्ष में एक बृहत् सम्मान समारोह में वि० सं० १९८६ (ई० स० १९२९) में गुजरांवाला में आपको दो तोले का स्वर्णपदक तथा अभिनन्दन पत्र भेंट किया था और आपका तैलचित्र श्रीसंघ के कार्यकारिणी के कार्यालय में लगाया था। स्वर्णपदक पर ये अक्षर अंकित थे—

Presented to Lala Dinanath Duggar Jain
by Shri Jain Sangh Gujranwala
for his Meritorious and Untiring services.

धार्मिक जीवन

आपने जिनपूजा, प्रतिक्रमण, नवपद ओली आराधना और अनेक बार सपरिवार तीर्थयात्राएँ

कीं। प्रातःकाल पोरिसी, रात्रि चौविहार पच्चक्खाण, वि० सं० १९८५ से सपत्नी आजीवन अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन; जिनबिंब-मंदिर प्रतिष्ठाओं में सक्रिय सहयोग, गुरु के आदेशों का सर्वदा पालन करते थे।

अपने निवासस्थान से निष्क्रमण

ई० स० १९४७ (वि० सं० २००४) को स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा देश के पाकिस्तान हिंदुस्तान के विभाजन हो जाने के कारण गुजरांवाला (उत्तर पंजाब का प्रसिद्ध नगर) भी पाकिस्तान में आ गया। इस समय इस नगर की जन गणना लगभग एक लाख की थी। उस समय यहाँ पर जैन बीसा ओसवाल भावड़ों के लगभग तीन सौ घर थे। श्वेतांबर जैनों के सवा दो सौ के लगभग तथा स्थानकमार्गियों के लगभग पचहत्तर घर थे। सभी परिवार सम्पन्न और सुखी थे। नगर में इस समाज की सब कौमों में बहुत मान-प्रतिष्ठा थी।

पाकिस्तान बन जाने के बाद ता० २७ सितम्बर १९४७ ई० को प्रातः १० बजे मिलिटरी के ट्रक उपाश्रय के आगे आ खड़े हुए। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तथा स्थानकमार्गी सकल श्रीसंघ तथा साधु-साध्वियों को साथ में लेकर आचार्य भगवान्-गुरुदेव विजयानन्द सूरि जी के समाधि मंदिर तक पैदल चलकर पहुँचे और गुरुदेव के समाधिमंदिर में अंतिम दर्शन कर सबने वहाँ से भारत आने के लिये कूच किया और दूसरे दिन भादों सुदि १३ वि० सं० २००४ ता० २८ सितम्बर १९४७ को अमृतसर (भारत की सीमा) में आ पहुँचे। सबको अपनी मातृभूमि से तथा चल-अचल सम्पत्ति से सदा के लिए वंचित होना पड़ा।

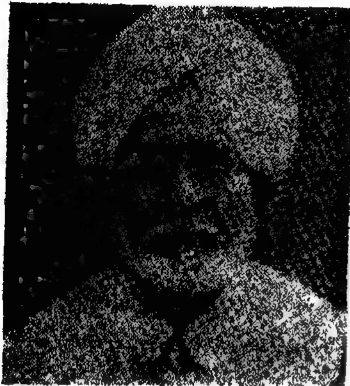
रास्ते में श्री दीनानाथ जी का द्वितीय पुत्र जिसका नाम लखमीलाल था वह संघ के साथ पाकिस्तान से भारत आता हुआ मुसलमान आततताइयों द्वारा लाहौर में कतल कर दिया गया जिसकी आयु उस समय ४० वर्ष की थी।

आप (दीनानाथ जी) का परिवार भी ता० ५ सितम्बर १९४७ ई० को आगरा में आ गया हीरालाल अपने परिवार के साथ भिंड (ग्वालियर स्टेट) में चला गया। आगरा पहुँचने पर चार पंजाबी श्रावक भाइयों के साझे में महेन्द्रलाल ने सराफ़े (सोने-चाँदी)की दुकान का मुहूर्त कर लिया। यह धंधा दिन प्रतिदिन उन्नति करने लगा और आपका परिवार स्थाई रूप से आगरा में आबाद हो गया। शादीलाल ने भी अपने पुत्र प्रशंसकुमार के साथ यहाँ आकर बर्तनों की दुकान कर ली। रमणीककुमार ने भी अपने बहनोई किशोरीलाल जी की साझेदारी में बसाती की दुकान कर ली। पश्चात् महेन्द्रलाल और रमणीककुमार ने सब साझेदारियाँ समाप्त कर दोनों भाइयों ने वि० सं० २००८ वैसाख सुदि ९ रविवार को आगरा में लोहारगली में मनियारी (बसाती सौदागरी) की थोक दुकान कर ली। फ़र्म का नाम महेन्द्रलाल रमणीककुमार रखा गया।

वि० सं० २००६ चैत्र सुदि १ बुधवार चैत्र प्रविष्टे १८ की नये संवत् के प्रथम दिन पंजाबी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक भाइयों ने आगरा में श्री आत्मानन्दजैन पंजाबी संघ समिति की स्थापना की कार्यकारिणी के सात सदस्य निर्वाचित हुए। आपको इस कार्यकारिणी का मंत्री बनाया गया। इस दिन से लेकर आपने जीवन के अंतिम श्वासों तक मंत्री पद से श्रीसंघ की सेवा में बिताये। इस समय आपकी आयु ६७ वर्ष की थी। थोड़े दिन बीमार रहने के बाद वि० सं० २०१० मिति चैत्र वदि ५ को ६७ वर्ष की आयु में आपका आगरा में स्वर्गवास हो गया। उस दिन श्री पंजाबी मूर्तिपूजक श्वेतांबर जैन संघ आगरा ने अपना कारोबार बन्द रखा और आपकी अर्थी पर दोशाले डाले गये।

लाला मानकचन्दजी दूगड़

वंश परिचय शाह नानकचन्दजी के पुत्र शाह दीपचन्दजी के दो पुत्र थे १-शाह आसानन्दजी व २-शाह बंसीधरजी। शाह बंसीधरजी के पितामह लाला नानकचन्दजी जी की आठवीं पीढ़ी में इस ग्रंथ के लेखक श्री हीरालालजी दूगड़ हैं तथा शाह आसानन्दजी के पितामह लाला नानकचन्दजी की आठवीं पीढ़ी में आप (लाला मानकचन्द जी), तथा कवि खुशीरामजी हुए हैं। यानी इस ग्रंथ के लेखक एवं लाला मानकचन्दजी और कवि खुशीरामजी भाई-भाई हैं।



लाला मानकचन्द जी का परिवार-परिचय

लाला नानकचन्दजी की सातवी पीढ़ी में लाला गंडामलजी के पाँच पुत्र थे सबसे छोटे लाला मानकचन्दजी का जन्म गुजरांवाला में वि० सं० १६२० में हुआ। आपके क्रमश: दो विवाह हुए उन दोनों पत्नियों में से आपके छह पुत्र १-श्री हुकमचन्द, २-श्री प्यारालाल, ३-श्री हीरालाल ४-श्री छोटेलाल, ५-श्री कपूरचन्द और ६-श्री पृथ्वीराज हुए। प्रथम के तीन छोटी अवस्था में अविवाहित स्वर्गस्थ हो गये। अंतिम के तीनों पुत्र पाकिस्तान बनने के बाद आगरा में अपने-अपने परिवार के साथ आबाद हैं। तीनों भाइयों का व्यवसाय सेनेटरी सामान बनाने के कारखाने हैं।

लाला मानकचन्दजी की जीवनी

आपके पिता की स्थिति साधारण थी, उनके पुत्र रूप में आप पाँच भाई थे। सबसे छोटे आप थे। आपने स्कूल की शिक्षा कोई विशेष रूप से नही पायी थी फिर भी आपने अपनी सूझबूझ और कठिन परिश्रम से अपने नगर, जैनसमाज, तथा अपने परिवारों में गौरवपूर्ण स्थान पा लिया था। आपने बुद्धि चातुर्य से अपने व्यापार को खूब चमकाया। बजाजे (कपड़े) की दुकान से प्रारंभ करके आपने आगे चलकर अपनी लाखों रुपये की नेक कमायी से अनेक व्यवसाय चालू किये। आप की दुकान पर नगर के उच्चाधिकारी, प्रतिष्ठित धनीमानी व्यवसायी, तथा पढ़ेलिखे विद्वान कपड़ा खरीदने आते थे। आपकी सच्चाई की इतनी धाक थी कि आपकी दुकान 'धर्मदुकान' के नाम से प्रसिद्धि पागई थी। छोटे से लेकर बड़े तक, अमीर से गरीब तक कोई भी ग्राहक आता आपका एकदाम प्रसिद्ध था। इसी सच्चाई के कारण आपने दिन दुगनी रात चौगनी उन्नति की। और आपकी गिनती अच्छे अमीरों में हो गई। पाकिस्तान बनने से पहले ही गुजरांवाला में आप का देहांत हो गया था। आपके द्वारा, चल-अचल लाखों रुपये की सम्पत्ति आपका पुत्र परिवार पाकिस्तान में छोड़कर आगरा चला आया।

विशेष उल्लेख—१-आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी का स्वर्गवास मिति जेठ सुदि ८ वि० सं० १९५३ को गुजरांवाला में हो गया। श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ पर आचार्यश्री के पार्थिव शरीर के दाह संस्कार के अवसर पर विरोधि पक्ष द्वारा किये अपरिहार्य उपद्रव के अवसर पर अंग्रेजी सरकार की तरफ से पुलिस केस बना दिया गया। उस समय श्वे० मू० संघ का बच्चा-बच्चा डिप्टी कमिश्नर की कोठी के आगे धरना लगाकर जा बैठा। और केस की पैरवी के लिये डट गया।

उस अवसर पर बड़ी निर्भयता से लाला मानकचन्दजी ने वहाँ खड़े होकर बुलंद आवाज से घोषणा की कि अंग्रेज सरकार गुजरांवाला श्रीसंघ को एक इकाई न समझे। इसके साथ सारे विश्व का जैन समाज है। इस मुकदमे की पैरवी में जैन समाज का बच्चा-बच्चा बलिदान हो जायेगा पर इस धर्मसंकट को मिटाकर ही जीवित रहेगा। अंत में गुजरांवाला श्रीसंघ की विजय हुई और विरोधी पक्ष को मुँह की खानी पड़ी। डिप्टी कमिश्नर को श्रीसंघ से क्षमा माँगनी पड़ी।

२-गुजरांवाला में छोटी रेलवे लाईन थी। पश्चात् बड़ी रेलवे लाईन का निर्माण होने पर रेलवे डिपार्टमेंट ने छोटी लाइन उखड़वाने के टेंडर मांगे। लालाजी ने सबसे कम मूल्य का टेंडर दिया जिससे इनका टेंडर मंजूर कर लिया गया। सबका यह अनुमान था कि इस धन्धे में लाला जी घाटे में रहेंगे। लगभग एक सौ मजदूर इस कार्य में संलग्न थे। लालाजी ने सब मजदूरों को इकट्ठा करके कहा कि जो मजदूर सबसे अधिक काम करेगा उसे आठ आने इनाम में प्रतिदिन दिये जाया करेंगे। बस फिर क्या था सब मजदूरों में होड़ मच गई और कार्य बड़ी झड़प के साथ होने लगा। परिणामस्वरुप लालाजी ने अपनी सूझ-बूझ से घाटेवाले सौदे को नफे में बदल दिया।

३-श्रीसंघ गुजरांवाला के प्रमुख मार्गदर्शक रहे, विशेष परिस्थितियों में स्व० आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी भी आपसे विचार विमर्श करते थे।

४-सामाना के जैनमंदिर की भूमि पर अनधिकार कब्जा हटवाने केलिये श्रीसंघ सामाना का मुख्य नेतृत्व किया।

५-श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब के आप कई वर्षों तक प्रधान रहे।

६-श्रीसंघ गुजरांवाला के कई वर्षों तक आप प्रधान रहे।

७-श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब तथा श्री आत्मानन्द जैन महासभा की रूपरेखा तैयार करने में आपका पुर्ण सहयोग रहा।

मुनि श्री ललितविजयजी को निरातिचार संयम पालने की दृढ़ता प्राप्त करने में आप मार्गदर्शक बने।

—:०:—

लाला रामलाल और लाला ज्ञानचन्द

आप दोनों भाइयों का जन्म पपनाखा जिला गुजरांवाला में लाला पंजाबराय जैन बीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय के यहाँ हुआ। बाल्यावस्था में ही आप के माता-पिता का देहांत हो जाने से आप असहाय अवस्था में अपने बहनोई के वहां स्यालकोट चले आये। यहाँ आकर आप दोनों भाइयों ने अलग-अलग फर्मों में नौकरी कर ली। उन्नति करते हुए धीरे-धीरे आप दोनों भाइयों ने अपने निजी व्यवसाय शुरु किये। लाला रामलाल ने कपड़े की दुकान तथा लाला ज्ञानचन्द ने सराफा (सोना चाँदी) के व्यापार की दुकान का श्रीगणेश किया। कुछ वर्षों में ही आपने व्यापार में उन्नति करते हुए अच्छी ख्याति प्राप्त की और आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न हो गए।



लाला रामलालजी

इस समय स्यालकोट में पाँच सौ घर स्थानकवासी ओसवालों के थे। आपका परिवार ही श्वेतांबर जैन मूर्तिपूजक था। धर्माराधन के साधनों का अभाव होते हुए भी आपकी धर्म पर आस्था बनी रही।



लाला ज्ञानचन्द जी

उपाध्याय सोहनविजयजी ने स्यालकोट में चतुर्मास किया तब उन्होंने कुछ नये परिवारों को वासक्षेप देकर श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनसंघ की स्थापना की उनके चतुर्मास कराने तथा संघ स्थापना के कार्यों में आप दोनों भाइयों ने वस्तुपाल-तेजपाल के समान उपाध्यायजी का सहयोग दिया। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी के वि० सं० २००३ के स्यालकोट के चतुर्मास में तथा श्री जिन-मंदिर के निर्माण एवं प्रतिष्ठा के अवसर पर और साधर्मीभाइयों के आगत स्वागत में दिल खोलकर खर्च किया तथा तन-मन-धन से पूरा-पूरा सहयोग दिया। इस चतुर्मास तथा मदिरनिर्माण के विरुद्ध यहाँ की स्थानक-मार्गी समाज ने उग्र विरोध किया और हर प्रकार से विघ्न-बाधायें डाली, पर गुरुदेव के प्रताप से सफलता ने चरण चूमें। आपके परिवार ने इस अवसर पर निर्भयतापूर्वक गुरुदेव के हर कार्य में सहयोग दिया।

पाकिस्तान बन जाने पर आप दोनों भाइयों के परिवार दिल्ली में आकर आबाद हो गये है। यहाँ आकर फिर एक इकाई से व्यवसाय शुरु किया और इस समय पंजाब से भी अधिक समृद्धिशाली हैं। लाला रामलालजी स्वर्गवासी हो गये हैं।

लाला रामलालजी के सुपुत्र लाला जगदीशलालजी भी अपने पिता के समान ही उदार एवं धर्मनिष्ठ हैं।

श्री प्यारेलालजी (रायसाहब)

ओसवाल बरड़ गोत्रीय लाला गणेशदास की धर्मपत्नी धनदेवीजी की कुक्षी से ई० स० १६०१ में श्री प्यारालाल का गुजरांवाला (पंजाब) में जन्म हुआ। आपकी १४ वर्ष की आयु में लाला गणेशदासजी का स्वर्गवास हो जाने से सारा बोझ आपके कन्धों पर आ गया। इस समय परिवार में आपसे छोटे चार भाई तथा बहनें भी थीं। भरे पूरे परिवार के पालन-पोषण तथा व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने की सारी जिम्मेदारी आपने संभाल ली। कपड़े के व्यापार में अपनी सूझ-बूझ से आपने दिन दुगनी रात चौगनी तरक्की की और लाखोंपति बने। ई० सं० १६४७ में पाकिस्तान बनने पर आप अपने सारे परिवार के साथ अम्बाला शहर पंजाब में स्थायी रूप से बस गये और यहाँ पर भी कपड़े के व्यापार की दुकानें खोलीं।



माता-पिता के धार्मिक संस्कार तो आपको माता की गोद से ही मिलते रहे परिणामस्वरूप आर्थिक उन्नति के साथ-साथ आपकी धार्मिक भावनाएं भी विकसित होती गईं। निज पुरुषार्थ से कमाए हुए न्यायोपार्जित द्रव्य को उदारता पूर्वक धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में दान देते रहे और अनेक धार्मिक कार्य किये

१. अनेक साधनहीन साधर्मी भाइयों की पुत्रियों के विवाह में गुप्त रूप से आर्थिक सहयोग दिया।
२. श्री सिद्धगिरि तीर्थ पर आचार्य श्रीविजयानन्द सूरि की प्रतिमा को पधराने का लाभ भी आपने लिया।
३. अनेक तीर्थ यात्राएं की, तीर्थ यात्रा स्पेशल ट्रेनों का प्रबन्ध करके संघपति बनने का लाभ लिया।
४. श्री तारंगाजी, शंखेश्वर पार्श्वनाथ, आदि तीर्थों पर चालू भोजशालाओं में अनेक बार दान दिया। जिसकी स्मृति में वहाँ के व्यवस्थापकों ने आपके फोटो लगाये।
५. पालीताना (सौराष्ट्र) में आत्मवल्लभ जैन धर्मशाला में आपने तन-मन-धन से उदारता-पूर्वक सहयोग दिया।
६. श्री हस्तिनापुर जैन श्वेतांबर तीर्थ के प्राचीन मंदिर के जीर्णोद्धार का शिलान्यास आपने ही किया।
७. श्री आत्मानन्द जैन डिग्री कालेज अम्बाला शहर में बड़ी रकम दान में दी।
८. श्री वल्लभविहार (गुरुमंदिर) को अम्बाला शहर में निर्माण कराने में सर्वप्रथम आपने ही सर्वाधिक रकम खर्च करने का लाभ लिया।
९. श्री आत्मानन्द जैन हाई स्कूल अम्बाला शहर में श्री गणेशहाल के नाम से आपने अपने पिता श्री की स्मृति में बहुत बड़ा हाल निर्माण कराकर भेंट किया।
१०. अनेक साधर्मी वात्सल्य किये, साधु-साध्वियों की वैयावच्च केलिये भी उदारतापूर्वक धनराशि खर्च की।

स्वभाव—१. गुरु वल्लभ के आप अनन्य भक्त थे। आपकी आज्ञाओं को तीर्थंकरदेव की आज्ञा मानकर सदा अपना सर्वस्व भी न्योछावर करने को कटिबद्ध थे।

२. यही कारण था कि आप श्री को परम गुरुदेव बड़े प्यार से 'रायसाहब' के नाम से सम्बोधित करते थे और गुरुप्रदत्त शुभाशीर्वाद रूप 'रायसाहब' के नाम से ही आप सर्वत्र प्रख्यात हो गये।

३. श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ की कार्यकारिणी के आप आजीवन सदस्य रहे।

४. आप बड़े सरल, उदार, मिलनसार और सुलहकुन थे। अनेकों के झगड़ों को आपने निपटाया। अपने जीवनकाल में आपने श्रीसंघ में सदा संगठन को बनाये रखने में पुरा-पुरा प्रयास रखा। आप जो निर्णय देते दोनों पक्ष उन्हें मान्य रखते थे। आप पर हर कोई को बड़ी श्रद्धा और विश्वास था।

अपने परिवार के लिये विरासत

१. सदा आप अपने परिवार के बच्चों को यही शिक्षा देते थे कि श्रीसंघ के कार्यों में सदा सहयोगी बने रहना, किसी भी विघटनात्मक कार्यों से दूर रहना।

२. गुरुवल्लभ की जन्म शताब्दी को खूब शानो शोकत से मनाना, उस शताब्दी के सब कार्यक्रमों में अपनी पूरी शक्ति में तन-मन-धन से सहयोग देना। (जीवन के अंतिम श्वासों के समय सूचना)

३. धर्म कार्यों में सदा दान देते रहना। पूर्वजन्म के पुण्योदय से सब सुविधायें प्राप्त हुई हैं इसलिये पुण्यकार्यों में सदा तन-मन-धन से सहयोग देते रहना। जिससे अपने परिवार में सदा आनन्द मंगल होता रहेगा।

४. परिवार में एकता को सदा बनाये रखना। कोई ऐसा कार्य न कर बैठना जिसके कारण से विघटन हो।

५. वल्लभ स्मारक के निर्माण कार्यों में हमारा परिवार पूरा-पूरा सहयोग देता रहे।

६. घर में सदाचार, सद्व्यवहार, साधर्मीभक्ति, देव-गुरु की सेवा भक्ति सदा कायम रहे ऐसा ध्यान रखना।

परिवार का आज्ञापालन—

आपके स्वर्गवास के बाद आपका सारा परिवार संगठित रूप से दिन दुगनी रात चोगनी तरक्की कर रहा है। आप की दी हुई शिक्षा के अनुसार धर्मकार्यों में सदा अग्रसर रहता है। बढ़ चढ़कर सुकृत कार्यों में दान देता है। कहने का आशय यह है कि आपके परिवार का बच्चा-बच्चा आपकी आज्ञाओं का पालन तथा चरणचिन्हों पर सदा सर्वदा चलने के लिये प्रयत्नशील है।

आपके सुपुत्र श्री राजकुमार जी तो आपकी आज्ञाओं को मूर्तरूप देने में आपसे भी आगे बढ़ गये हैं। वह भी आज 'रायसाहब राजकुमार' के नाम से जन-जन के प्रिय हैं।

—:०:—

लाला टेकचन्द जी (फगवाड़ा निवासी)



बीसा ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय लाला काशीराम जी स्थानकवासी जैन मतानुयायी एक समृद्ध श्रावक थे। आप के यहाँ बालक टेकचन्द ने ई० स० १६०२ में जन्म लिया। स्कूल की पढ़ाई के बाद आप भी अनाज का व्यवसाय करने लगे। बचपन से ही आपकी धर्म मे रुचि थी स्थानकवासी साधु साध्वियों के सानिध्य से आपको सामायिक प्रतिक्रमण, व्रत-पच्चक्खाण करने में विशेष लगन थी।। साम्प्रदायिक भेदभाव से आप कोसो दूर थे।

फगवाडा स्थानकवासी श्रीसंघ के आप प्रधान थे। ३२ वर्ष की आयु में आप परिवार के साथ अमृतसर चले आये वहाँ पर आपका व्यवसाय खूब चमका। जैसे-जैसे धन बढता गया वैसे-वैसे ही आप विनम्र दानी तथा सर्वप्रिय बनते गये। ई० स० १६५० मे आप अपने परिवार के साथ दिल्ली चले आये। आढत का व्यवसाय शुरू किया तत्पश्चात् आपने जैन फायनेन्स कम्पनी की स्थापना की। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली मे तथा काश्मीर और आसाम में शाखायें स्थापित की। जिनके द्वारा मोटरो, बसो, ट्रको का व्यवसाय होता है। आप बहुत बड़े समृद्धिशाली होते हुए भी जैन धर्म के दृढ़ श्रद्धावान, सच्चरित्र, सरल, विनम्र, गुप्तदानी, व्रत-पच्चक्खाण, सामायिक, प्रतिक्रमण प्रतिदिन करते थे।

जैन साहित्य के प्रचार और प्रसार मे विशेष रुचि रखते थे। वीरनगर जैन कालोनी दिल्ली स्थानकवासी श्रीसंघ के आप प्रधान थे। आपका स्वर्गवास ई० स० १६७४, ता० २६ नवम्बर को दिल्ली में हो गया। अपने पीछे श्री मदनलालजी, श्री ओमप्रकाशजी, श्री जिनेश्वर दासजी, तीन पुत्रों के भरे-पूरे परिवार के साथ छोड़ गये।

—:०:—

ला० खजानचीलाल जी (लाहौरवाले)



आपका जन्म सन १८६४ ई० लाहौर मे हुआ। लाहौर में जो भी साधु-साध्वी आते रहे उनके विहार मे आप हमेशा साथ रहे। जिससे सभी गुरु महाराजो से परिचय रहा और धर्म मे लगन रही। लाहौर में मंदिर जी की प्रतिष्ठा पर भोजनशाला का सारा प्रबन्ध आपने ही किया।

दादावाड़ी श्री जिनकुशल सूरिजी महाराज, गुरु-मांगट (लाहौर) का प्रबन्ध आप ही करते थे और वहाँ पर कमरो केलिये जगह आपने खरीद कर दी।

पाकिस्तान बन जाने पर जंडियाला गुरु में आ गये

और वहाँ २५ वर्ष रहे। वहाँ श्री आत्मानन्द जैन स्कूल का भवन बनवाने तथा उसे सुचारु रूप से चलाने में बहुत योगदान दिया।

कण्डकसेल में बाबा वैरा जी की समाधि का जीर्णोद्धार कराया।

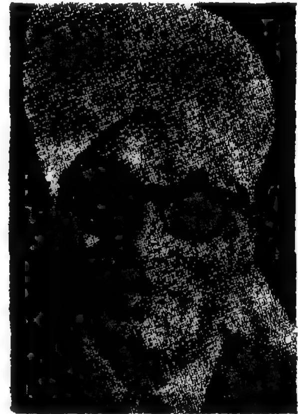
—o—

देव-गुरु-धर्म उपासक सुश्रावक

लाला खरैतीलाल जी जैन

(देहली)

आपका जन्म रामनगर (पाकिस्तान) में सन् १६०२ के फरवरी मास की १५ तारीख को हुआ था। आपको अपने पूज्य पिता श्री नरपतराय जी से जो धर्म संस्कार प्राप्त हुए थे, वे निरन्तर आपमें विकसित होते जा रहे हैं।



स्कूली शिक्षा के रूप में आप चाहे अपने युग के अनुसार विशेष शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाए, किंतु आपकी शैक्षणिक योग्यता बहुत ही विलक्षण है।

केवल १२ वर्ष की अवस्था में आपने व्यापारिक जगत में प्रवेश किया और गुजरांवाला में आकर थोक कपड़े का व्यापार आरम्भ कर दिया। पश्चात् जेहलम चले गये। पाकिस्तान बनने के बाद आप देहली आ गये और यहां पर "नरपतराय खरैतीलाल जैन" अमेरिकन रबड़ मिल्ज देहली, एन० के० (इण्डिया) रबड़ कम्पनी प्रा० लि० दिल्ली (गुड़गांवा), कोरोनेशन स्पोर्टिंग सेल कम्पनी (गुड़गांवा) आदि औद्योगिक संस्थानों की स्थापना कर व्यापारिक जगत में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की और एक करोड़ छप्पन लाख का निर्यात करके देश को विदेशी मुद्रा से सम्पन्न किया। आपको बनपीस ब्लैडर बनाने के उपलक्ष्य में स्वर्णपदक द्वारा तथा तीन बार भारत सरकार की ओर से 'एक्सपोर्ट प्राईज' द्वारा सम्मानित किया जा चुका है।

आपने निजी सहायता से नरपरतराय खरैतीलाल जैन फाउण्डेशन और श्री आत्मवल्लभ फ्री होम्योपैथिक औषधालय की स्थापना कर रोगियों की सहायता द्वारा उनके आशीर्वाद प्राप्त किये हैं और कर रहे हैं।

आप आत्मवल्लभ यात्रीभवन पालीताणा के चेयरमैन और श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि देहली, श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत, श्री शान्तिनाथ जैनमंदिर रूपनगर, हस्तिनापुर जैनतीर्थ प्रबन्धक कमेटी आदि सस्थाओं के सक्रिय सहयोगी एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। आप रात्रि-भोजन का त्याग, कन्द-त्याग आदि धार्मिक आस्थाओं का विधिवत् पालन करते हैं।

—:o:—

तीर्थ-प्रेमी परम गुरु-भक्त

सेठ श्री रामलाल जी जैन

सेठ श्री रामलाल जी (मे० रामलाल इन्द्रलाल दिल्ली) एक सफल व्यवसायी, मृदुभाषी एवं कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता हैं। अपनी व्यवहार-कुशलता तथा धर्म-निष्ठा के कारण आपके सम्पूर्ण परिवार ने जैनसमाज में अपना विशेष स्थान बनाया है।

सेठ श्री रामलाल जी का जन्म भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत फ्रंटियर सूबा के शहर कालाबाग में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। आपने अल्पायु में व्यापार क्षेत्र में प्रवेश किया। बन्नू शहर में एक इकाई के रूप में व्यापार प्रारम्भ करके थोड़े समय में ही आप प्रमुख व्यवसायी के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

पाकिस्तान बनने के पश्चात् आपने भारत के विभिन्न प्रांतों में अपने व्यवसाय को फैलाया। गाजियाबाद, हाथरस, आगरा, खन्ना, लुधियाना आदि नगरों में आपने अपने व्यवसाय की विशेष इकाइयां स्थापित की हैं। दिल्ली में आपका मुख्यालय है आप तेल व्यापार संघ DVOTA दिल्ली के उप-प्रधान हैं।

आपने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में अपनी आस्था एवं विलक्षण प्रतिभा के अनेकों महत्वपूर्ण कार्य प्रस्तुत किये हैं। आज आप विभिन्न प्रकार की संस्थाओं एवं समितियों के उच्च पदों पर अपने दायित्वों को सफलता पूर्वक निभाते हुए समाज के पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य कर रहे हैं। उत्तरी भारत के ऐतिहासिक पावन तीर्थ श्री हस्तिनापुर जी की तीर्थ-समिति के आप विगत ८ वर्षों से प्रधान हैं। और श्वेतांबर .. -पूजक जैनसंघ दिल्ली के प्राण हैं और आत्मानन्द जैन सभा दिल्ली के प्रधान हैं।

प्रातःस्मरणीय कलिकाल-कल्पतरु युगवीर पंजाब-केसरी जैनाचार्य श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महाराज के पट्टधर जिनशासनरत्न शांतमूर्ति जैनाचार्य श्री १००८ श्रीमद् विजय समुद्र सूरिश्वर जी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी विदुषी साध्वी जैनभारती, महत्तरा कांगड़ा तीर्थो-द्धारिका श्री मृगावती जी महाराज की प्रेरणा से आपने २० वर्षों से 'वल्लभ-स्मारक योजना' को क्रियान्वित रूप देकर समस्त पंजाब के जैन समाज पर एक महान उपकार किया है। इसके अतिरिक्त श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत एवं दिल्ली प्रदेश भगवान महावीर २५ वीं निर्वाण शताब्दी समिति के उप-प्रधान पदों पर कार्य करते हुए आपने पंजाब एवं दिल्ली के जैन समाज को एक नई प्रेरणा दी है।

—:०:—

महान् गुरुभक्त, सुश्रावक

श्री रतनचन्द जी

(फं० रतनचन्द रिखबदास जैन दिल्ली)



त्यागी संतो में जैसे गुरुदेव श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महान् माने जाते हैं, वैसे ही श्रावकवर्ग में श्री रतनचन्द जी महान् माने जाते है। आपने मात्र भारत में ही नहीं बर्मा और रंगुन आदि तक गुरुवल्लभ के मिशन का प्रचार किया है।

आपको जिनेन्द्र-भक्ति एवं गुरु-भक्ति के उच्च संस्कार अपने पूज्य पिता लाला सुन्दरमल जी जैन से प्राप्त हुए हैं। सन् १९०८ में होशियारपुर में आपका जन्म हुआ। साधारण स्कूलीशिक्षा पाई, किंतु गुरुकृपा एवं देव-कृपा से आपके बौद्धिक विकास का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आपके द्वारा सोने चांदी के शोध कार्यालय दिल्ली, आगरा, बम्बई और होशियारपुर में स्थापित किए गए और आपके द्वारा संचालित औद्योगिक संस्थानों की जैसे कि रतनचंद रिखबदास जैन दिल्ली, नत्थूमल फतूमल जैन होशियारपुर, आर० आर० जैन कैमिकल (बम्बई, शाहदरा, दिल्ली, होशियारपुर) की देश विदेशों में भी प्रसिद्धि है।

सामाजिक क्षेत्र में आप श्री आत्मवल्लभ जैनस्मारक शिक्षण-निधि के चेयरमैन हैं, श्री आत्मानन्द जैनसभा रूपनगर के विशिष्ट सदस्य हैं। श्री आत्मवल्लभ जैन यात्री-भवन पालीताना, हस्तिनापुर तीर्थ प्रबन्धक-कमेटी, श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत, श्री श्वेतांबर जैन कांफ्रेंस बम्बई, एस० ए० जैन कालेज अम्बाला आदि अनेक संस्थाओं में आप सम्माननीय पदों द्वारा सम्मानित हैं। श्री श्वेतांबर जैन मंदिर जालंधर आपके पूर्वजों की ही देन है और अपनी गुरुभक्ति से प्रेरित होकर वल्लभ-स्मारक के भूमि-पूजन और खात-मुहुर्त आपके कर कमलों से ही सम्पन्न हुए हैं। पालीताना में श्री विजयानंद पुण्य-तिथि मनाने के लिये संगीतविशारद श्री घन-श्याम जी आपके साथ गए थे, वहाँ उनको भ्रमण करते हुए सांप ने काट लिया था। आप गुरु-भक्ति से प्रेरित होकर श्री वल्लभ-शरण में पहुंच गये और उनके वासक्षेप मात्र से घनश्याम जी स्वस्थ हो गए।

आप समाज के एक सुदृढ़ स्तम्भ हैं, देव-गुरु और धर्म के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा है।

आपके भाई लाला रिखबदास जी सेवाभावी और गुरु के श्रद्धावान हैं। कांगड़ा में हो रहे नवनिर्मित मंदिर का शिलान्यास आपने ही किया है। होशियारपुर में आप उपधानतप कराने का दो बार लाभ लिया।

—:o:—

लाला दीनानाथ जैन

परम गुरुभक्त, धर्मानुरागी लाला दीनानाथ जी सुपुत्र ला० परमानन्द जी गद्दहिया गोत्री ओसवाल का जन्म रामनगर में हुआ था। बाद में वे सपरिवार गुजरांवाला में चले आये। जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी महाराज के प्रति उनके दिल में बड़ी श्रद्धा थी। उनकी अद्‌भुत सूझ-बूझ व्यवहार कुशलता और सूक्ष्मदृष्टि की सभी तारीफ करते थे। एक बार उनके संपर्क में आने पर उनकी प्रतिभा का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता था। वे बहुत परिश्रमी थे। भारत विभाजन के बाद वे आगरा आ गए और इंजिनिर्मारिंग उद्योग में लग गये। कुछ वर्षों बाद उन्होंने दिल्ली में अपना स्थायी निवास गृह बना लिया। उन्होंने अपने उद्योग की गुड़गावाँ, कलकत्ता, बम्बई आदि नगरों में ईकाईयां स्थापित की और आर्थिक क्षेत्र में दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति की। वे बड़े दूरदर्शी थे।

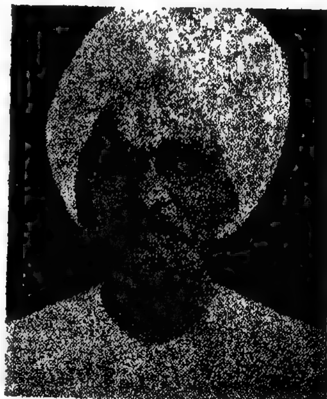


तीर्थयात्राओं में उनकी बड़ी रुचि थी। दिल्ली में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके तीनों पुत्र—श्री देवराज, श्री धनराज और श्री सुशील कुमार भी धर्म और समाज सेवा में कभी पीछे नहीं रहे।

—:०:—

लाला मकनलाल जी मुन्हानी

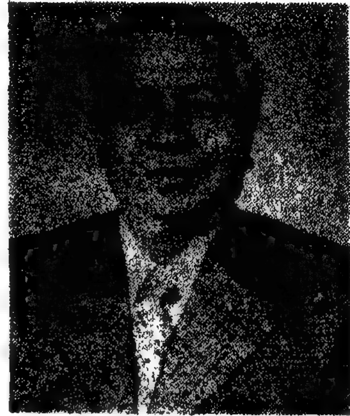
आप गुजरांवाला निवासी लाला रामेशाह के सुपुत्र थे। आपका जीवन धार्मिक था। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी की आज्ञा का पालन करते हुए आपने कांगड़ा तीर्थ पर जैन धर्मशाला के निर्माण के लिये भूमि खरीद कर श्री जैन श्वेतांबर संघ पंजाब को भेंट की जिस पर भव्य विशाल जैन धर्मशाला का निर्माण श्री कांगड़ा तीर्थ कमेटी ने किया है। आपकी इसी भूमि में श्री जैन श्वेतांबर मंदिर का निर्माण भी हो रहा है। अपने जीवन में अनेक बार धर्म खातों में उदारतापूर्वक दान देते रहे। पाकिस्तान बनने के बाद आप अंबाला चले आये। वहाँ आपका स्वर्गवास हो गया. इस समय आपका परिवार दिल्ली में आबाद है। यहाँ के रूपनगर के जैन श्वेतांबर मंदिर में बिजली फिटिंग का सारा खर्चा आपके पुत्र तथा पौत्रों ने करने की उदारता की है।



—:०:—

सेठ मणिलालजी डोसी

आपका जन्म चैत्र वदी चौदस विक्रमी सम्वत् १९७७ तदानुसार १९२० ई० को जोधपुर के महान् धर्मप्रेमी श्री सुखराम जी डोसी के सम्पन्न परिवार में हुआ। अल्पायु में ही आप अपने पूज्य पिताजी के साथ वस्त्र व्यवसाय में लग गये। गुरु महाराज की असीम कृपा, अपनी ईमानदारी, निष्ठा व लगन से शीघ्र ही व्यवसाय के क्षेत्र में आपने महत्वपूर्ण सफलता व प्रतिष्ठा अर्जित की। वस्त्र व्यवसाय के साथ-२ आपने हीरे जवाहरात आदि के जौहर व्यवसाय को भी अपनाया। सौभाग्यवश इस व्यवसाय में आपको भारत के प्रसिद्ध जौहरी श्री सुमतिदास जी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। आज आपकी गणना भारत के गिने-चुने जौहरियों में होती है। हीरा, पन्ना और मानक के साथ-साथ आप मनुष्य के भी अच्छे पारखी हैं। १९६५ में आपने मै० डोसी साड़ी पैलेस एण्ड ज्वेलर्स नामक व्यवसायिक संस्था की स्थापना की, जिनका संचालन आपके तीनों सुयोग्य पुत्र श्रीयुत दिनेशकुमार, श्रीयुत महेन्द्रकुमार, श्रीयुत अशोककुमार बड़ी कुशलता के साथ कर रहे हैं।



सेठ मणिलालजी डोसी

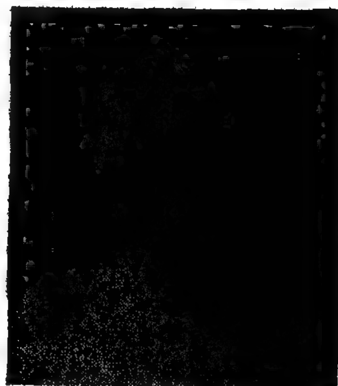
आपके परिवार की धार्मिक और संस्कारिक परिवेश की झलक, आपके व्यक्तित्व में पूर्ण रूपेण प्रतिबिम्बित होती है। आपकी मधुर भाषिता और स्पष्ट वादिता ने आपके व्यक्तित्व को इतना सम्मोहक बना दिया है कि जो भी एक बार आपसे मिल लेता है वह आपका अपना हो जाता है। आतिथ्य सेवा में तो आपका सानी ही नहीं। आप उदार एवं व्यवहार कुशल होने के साथ-साथ निःस्वार्थ समाज सेवी भी हैं। असहाय, दीन-दुखियों तथा स्वधर्मियों के प्रति तो सहानुभूति आपमें कूट-कूट कर भरी है। जैनसाधुओं व जैनतीर्थों के प्रति आपके मन में असीम श्रद्धा है। आपकी दानवीरता की चर्चा दिग्-दिगन्त में व्याप्त है। हस्तिनापुर तीर्थ तथा पावापुरी (बिहार) के जीर्णोद्धार में आपकी सेवाएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण है। जैन समाज में आप आधुनिक भामाशाह के नाम से विख्यात हैं। आपकी निःस्वार्थ समाज सेवा तथा वृति के लिए देहली जैन समाज ने आपको १९७२ में "समाज रत्न" की उपाधि से विभूषित किया। अनेक संस्थाएँ भी आपको सम्मानित कर चुकी हैं।

आपके जीवन का परम लक्ष्य व संदेश यह है कि भोजन की जूठन को न छोड़ा जाए, क्योंकि भारत जैसे अभावग्रस्त देश में अन्न अपव्यय एक सामाजिक अपराध तो है ही साथ-साथ नाली व कूड़ों में फेंकी गई अन्न की जूठन से उत्पन्न असंख्य जीवों की हिंसा भी होती है। आपने इस संदेश को पत्र पत्रिकाओं तथा अनथक प्रयासों से जन-जन तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया है। एक दिन अवश्य ही आपका संदेश भारत की सीमाओं को लांघता हुआ विश्व के प्रांगण में प्रभात की सुनहरी धूप की तरह जगमगा उठेगा। मानव कल्याण में सदैव ही आप अद्वितीय भूमिका निभाते रहें।

—:o:—

लाला मोतीशाह जी ओसवाल गद्दहिया गोत्रीय

लाला मोतीशाह जी स्यालकोट नगर की स्थानकवासी समाज के आजीवन प्रधान रहे। आप नगरपालिका के सदस्य आनरेरी मजिस्ट्रेट तथा पंजाब के जैन समाज में एक गण्यमान्य रईस थे। स्यालकोट नगर के हर कोने में आप की अचल सम्पत्ति थी। पाकिस्तान बन जाने पर नगर में सब से अधिक नुकसान आप के परिवार को हुआ। स्यालकोट में मुस्लिमलीगियों ने जब जैन मुहल्ले पर हल्ला बोल दिया तो उन्हें रोकने के लिये आप के मकान पर ही मोर्चा कायम किया गया था। गोली का जवाब गोली से दिया गया। मुसलमानों के इस आक्रमण को एक दम असफल बना दिया गया था।



इस मोर्चे में आपके छोटे भाई लाला खजानचीलाल गोली लगने से वीरगति को प्राप्त हुए। बहुत बड़े परिवार के साथ पाकिस्तान से निकल कर दिल्ली में आकर आबाद हुए। आप का देहांत ७९ वर्ष की आयु में दिल्ली में हुआ।

—:o:—

धर्मनिष्ठ श्रीयुत लाला गंगारामजी

लाला गंगाराम जी अम्बाले शहर के निवासी थे। वे पहले स्थानकवासी थे स्वर्गवासी १००८ श्री मद्विजयानन्द सूरिजी (आत्माराम जी) महाराज जब ढूंढक धर्म छोड़कर शुद्ध जैन धर्मानुयायी हो गए तब जो श्रावक उनके अनुयायी हो गये थे उन श्रावकों में लाला गंगाराम जी भी एक मुख्य थे।



धर्मप्रेम इन्हें बचपन ही से था मंदिर बनवाने के काम में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। सामाना, रोपड़ और अम्बाले के मंदिर प्रायः उन्ही की देखरेख में बने थे। मुलतान का मंदिर भी तैयार होते समय कई बार जाकर देख आए थे। मुल्तान के मंदिर की प्रतिष्ठा के मौके पर तो इन्होंने बहुत ज्यादा सहायता की थी। इसलिए कृतज्ञता दिखाने के लिए मुल्तान के श्रीसंघ ने एक स्वर्णपदक इन्हें भेंट में दिया था।

अम्बाले में कोई उपाश्रय नहीं था। इन्होंने उपाश्रय के लिए अपना एक मकान दे दिया। अम्बाले में जब प्रतिष्ठा हुई तब इन्होंने चार पांच दुकानें और एक तबेला मंदिर जी को भेंट कर दिया। अम्बाले के मंदिरजी का प्रबंध मुख्यतया सब इन्हीं के हाथ में था।

हस्तिनापुर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के ये सभापति थे। धार्मिक कार्यों में ये जहाँ बुलाये जाते थे वहीं तत्काल ही पहुंच जाते थे।

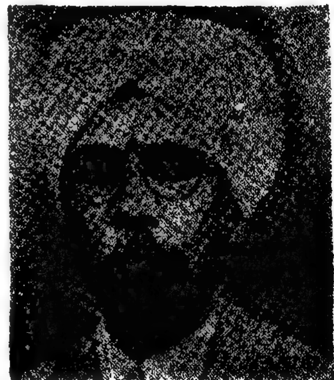
ये जैसे धर्मप्रेमी थे वैसे ही विद्याप्रेमी भी थे। अम्बाले के आत्मानंद जैन विद्यालय में इन्होंने एक खासी रकम दी थी। इतना ही नहीं अपनी वृद्धावस्था में भी विद्यालय के लिए चंदा जमा करने के लिए अम्बाले से एक डेप्यूटेशन बम्बई आया था उसके साथ ये आए थे। आत्मानंद जैन सभा अम्बाले के जब तक ये जीवित रहे पैटरन रहे थे। सारे पंजाब का जैनसंघ इनकी बात को मानता था। और एक मुरब्बी की तरह इनकी इज्जत करता और पिता की तरह मानते थे। जब महाराज साहिब की तबीयत ठीक नहीं थी, लाला जी ने उनसे पूछा था :—"भगवन् आप हमें किसके भरोसे छोड़ जाते हैं?" महाराज साहिब ने फर्माया था :—"मैं तुम्हें वल्लभ के भरोसे छोड़ जाता हूँ।" तभी से वे वल्लभविजय जी महाराज पर असीम श्रद्धा रखने लगे। आत्माराम जी महाराज के बाद विजयवल्लभसूरिजी महाराज पर उनको जितनी श्रद्धा रही उतनी और किसी पर न रही।

स्वर्गीय आत्माराम जी महाराज के ये अनन्य भक्त थे। उनके कथन को ये प्रभु आज्ञा मानते थे उनका स्वर्गवास सं० १९८२ के आषाढ़ वदी १४ के दिन लुधियाना में हुआ।

—:०:—

स्वर्गीय श्री गोपीचन्द जी एडवोकेट अम्बाला शहर

आपका जन्म ई० सन् १८७८ में अम्बाला शहर (पंजाब) में दुग्गड़ ओसवाल वंश में हुआ। आपके पूर्वज केसरी (जिला अम्बाला) से आकर यहाँ बसे थे अतः आपका वंश 'केसरी बाबा' के नाम से प्रसिद्ध है। आपके पिता जी का नाम लाला गोंदामल जी था।



यद्यपि आज से पच्चास वर्ष पहले जैन समाज में शिक्षा का अभाव ही था तथापि आपको उच्च शिक्षा दिलाई गई। आपने मिशन स्कूल अम्बाला शहर तथा फार्मन क्रिश्चियन (मिशन) कालेज लाहौर में शिक्षा प्राप्त की। इसी ईसाई संस्था से जगद्विख्यात् स्वामी रामतीर्थजी जैसे अध्यापकों से कालेज से गणित आदि विषय पढ़ कर बी० ए० पास किया। ग्रेज्युएट होने के पश्चात् आपने वकालत की परीक्षा पास की और अम्बाला शहर में ही आप काम करने लगे।

एक सुयोग्य वकील होते हुए भी आप प्रायः झूठे मुकद्दमे नहीं लिया करते थे। इसीलिए दूसरे वकील भाई और न्यायाधीश आपकी बात पर पूरा विश्वास किया करते थे और दीवानी के कमीशन का सरकारी काम बहुत कुछ आपको ही दिलाया करते थे। किसी झगड़े को निपटाने के लिए कहीं कोई कमेटी बने उसका सभासद आपको अवश्य बनाया जाता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि आप थोड़ा बोलते थे, सत्य बोलते थे और सर्वथा निष्पक्ष थे।

सार्वजनिक कार्यों में आप पूरा-पूरा भाग लिया करते थे। हिंदू सभा के आप मुख्य सदस्य थे। जब हिंदुओं को अम्बाला शहर की म्युनिसिपिल कमेटी में आपको मेम्बर बनाने की आवश्यकता हुई तो उस मेम्बरी को स्वीकार किया तथा जनता की आज्ञा को शिरोधार्य कर मेम्बर होते ही अपने त्याग पत्र भी दे दिया। स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभा बनायी। स्काउट एसोसियेशन तथा बार एसोसियेशन के आप कोषाध्यक्ष थे।

परन्तु आपकी सबसे बड़ी सेवा शिक्षा प्रचार की है। आप श्री आत्मानंद जैन हाई स्कूल अम्बाला शहर के २५ वर्ष तक मैनेजर रहे। इस संस्था की नींव को सुदृढ़ करने के लिए आपने मद्रास प्रांत तक भ्रमण करके धनराशि एकत्र की। यथा समय और यथाशक्ति अपने पास से भी बहुत कुछ दिया और औरों से भी दिलाया। आप श्री आत्मानंद जैन महासभा पंजाब के सभापति थे। श्री हस्तिनापुर जैनश्वेताम्बर तीर्थ कमेटी के भी आप ही प्रमुख थे, श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल पंजाब (गुजरांवाला) के ट्रस्टी और कार्यकारिणी समिति के मुख्य सदस्य थे। आपके निरीक्षण और आपकी सहयोगिता से इन संस्थाओं ने अच्छी समाज सेवा की है। और प्रतिदिन उन्नति कर रही हैं। आप श्री आत्मानंद जैन सभा अम्बाला शहर के प्रधान रहे हैं। स्कूलों में पढ़ाये जाने वाली इतिहास की पुस्तकों में जैनधर्म के विषय में जो कुछ अंडबंड लिखा जाता रहा है उसका निराकरण कराना एक सहज बात नहीं थी। परन्तु आपने अप्ररिहत परिश्रम से उसमें भी सफलता प्राप्त की। श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी ने आपके प्रधानत्व में १८ वर्ष तक जैनधर्म का जो प्रचार जैनों तथा सर्व साधारण में किया है वह समाज से छिपा नहीं है।

आपकी शान्त चिन्ता, सत्यप्रियता, निर्लोभता तथा धर्म वत्सलता आजकल के नवयुवकों के लिये आदर्श रूप थी। उमर भर पाश्चात्य शिक्षा के वातावरण में रहकर भी आप अपने प्यारे जैनधर्म एवं जैन संस्कृति को नहीं भूले। प्रतिदिन पूजा सामायिक, तिथियों को पौषध आदि करना आपका स्वभाव ही था। १९२२ में जब श्रीमज्जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि यहाँ पधारे थे तब आपने जीवनपर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया।

२४ साल की युवावस्था में अबला विधवा को छोड़कर निज सुपुत्र बाबू जिनदास के परलोक गमन का दुःख अभी आपको भूला भी न था कि पुत्री के अकाल वैधव्य का असहनीय शोक सामने आ खड़ा हुआ। इस हार्दिक वेदना के कारण आपकी प्रवृत्ति त्याग मार्ग में बहुत बढ़ गई परन्तु आपका दुर्बल शरीर इस कष्ट को सहन न कर सका। आपने दो चार वस्तुओं को छोड़ कर सब भोज्य पदार्थों का त्याग कर दिया। पक्ष में कई-कई उपवास किए और जिस दिन उपवास न हो उस दिन भी बहुत थोड़ा खाने के कारण आपका शरीर निर्बलता धारण करता गया। जिगर रोग पैदा हो गया। इस प्रकार आप तीन मास तक इन कष्टों को बड़ी शांति, धैर्य तथा दृढ़ता से सहन कर अन्त में देव, गुरु का स्मरण करते हुए वीतराग धर्म में अटूट श्रद्धा दिखाते हुए, पंच परमेष्ठी मंत्र का उच्चारण करते हुए सद्भावना के साथ १२ फरवरी १९३४ को स्वर्ग सिधार गए। आपकी मृत्यु से सकल श्रीसंघ पंजाब, विशेषतः स्थानीय जैनसमाज को अपार दुःख हुआ।

—:०:—

श्री तिलकचन्द जी जैन तिरपंखिया गोत्रीय बीसा ओसवाल गुजरांवाला

आपका जन्म गुजरांवाला (पंजाब) में ईस्वी सन् १६०० में लाला फग्गुमल जी की सुपत्नि के गर्भ से हुआ। आपके पिता श्री धातुओं के बर्तनों के प्रसिद्ध व्यापारी थे।



श्री तिलकचन्द जी जैन

श्री तिलकचन्द जी की शिक्षा गुजरांवाला में स्कॉच मिशन हाई स्कूल में हुई थी। यह संस्था ईसाई मिशनरियों द्वारा चालू की गई थी। वहीं से आपने क्रांतिकारी विचारधारा लेकर जीवन में प्रवेश किया।

आपका विवाह गुजरांवाला के प्रसिद्ध व्यापारी लाला जगन्नाथ जी मालिक फ़र्म मेसर्ज जगन्नाथ दीवानचन्द (मेटल रोलिंग मिल्स) की सुपुत्री सौभाग्यवती श्रीमती रामप्यारी के साथ हुआ।

(१) क्रांतिकारी विचारधारा ने आपका राजनीति की तरफ़ झुकाव बढ़ता गया। आपने गांधी जी के नमक सत्याग्रह में भाग लिया और जेल गये। फिर राष्ट्रीय आन्दोलन में आप पूरी तरह जुट गये। परिणाम स्वरूप आपको अनेक बार कारावास का दंड अंग्रेज सरकार ने दिया। लाहौर मुलतान और गुजरात (पंजाब) के जेलों में आपको कैद रखा गया।

(२) श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला के प्रारम्भ से ही आप अवैतनिक मंत्री रहे। गुरुकुल के अवैतनिक अधिष्ठाता श्रीमान बाबू कीर्तिप्रसाद जी B.A.L.L.B. के साथ मिलकर आपने गुरुकुल को उन्नति के शिखर तक पहुँचाने में पूर्ण सहयोग दिया।

(३) श्री आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी अहमदाबाद (जो श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैनसंघ की तीर्थों की व्यवस्था और सुरक्षा के लिये पूरे भारत की संस्था है पंजाब संघ के प्रतिनिधि के रूप में सदस्य रहे।

(४) श्री आत्मानन्दजैन महासभा पंजाब के आप दो बार प्रधान चुने गये और आजन्म सदस्य रहे।

(५) आप अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के आजीवन सदस्य रहे। गुजरांवाला जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव पद को भी आजीवन सुशोभित किया। बाद में पंजाब कांग्रेस कमेटी के भी सदस्य रहे।

(६) गुजरांवाला म्युनिसिपल कमेटी में आपने कांग्रेस के मुख्य सचेतक की भूमिका को कई वर्षों तक कुशलता पूर्वक निभाया।

(७) क्रांतिकारी और जेल का एक निश्चित नाता होता है। आपने इस नाते को दृढ़ता पूर्वक निभाया।

(८) किन्तु देश सेवा में जुट जाने के कारण व्यापार और स्वास्थ्य से हाथ धो बैठे। स्वास्थ्य बिगड़ गया और कारोबार समाप्त हो गया।

(९) देश के स्वतंत्र होने से दो वर्ष पूर्व ही स्वतंत्रता का यह सेनानी ई० स० १९४५ में संसार से उठ गया।

लाला दौलतराम जी जैन

पट्टी (जि० अमृतसर) निवासी का संक्षिप्त जीवन परिचय।

आपका जन्म वि० सं० १९४८ में २० मगर-भृगुवार-मुताबिक १८९१ ई० में वैरोवाल जि० अमृतसर में लाला फकीरचन्द जी जैन-गोत्र नक्षत के घर हुआ।



लाला दौलतराम जी जैन

शिक्षा बी० ए० लाहौर में की। शिक्षा के दौरान में सन्यास जैन दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। परिवार वालों ने येनकेन रोक लिया। पढ़ाई के बाद एक वर्ष 'कैरों' गाँव में अध्यापक का कार्य किया।

२५ वर्ष की आयु में शादी हुई। और सन् १९२७ ई० में स्थायी रूप से 'पट्टी' आकर निवास करने लगे। "माझा स्वदेशी स्टोर का उद्‌घाटन और संचालन करते रहे।

(१) श्री आत्मानन्द जैनगुरुकुल (पंजाब) गुजरांवाला।

(२) ,, ,, ,, महासभा पंजाब।

(३) ,, ,, ,, सभा पट्टी के आप सदस्य और बाहोदा रहते हुए तीनों संस्थाओं की वर्किंग कमेटी के सरगरम सदस्य रहे।

(४) सन् १९४२ ई० में आजादी के परवाने बनकर एक वर्ष मुलतान जेल में रहे।

(५) सन् १९५२ से १९५८ ई० तक आचार्य श्री विनोबा भावे के सर्वोदय के उत्थान में-भूदान यज्ञ में सेवा करते रहे।

(६) सन् १९५२ से १९६१ ई० तक "कताई मण्डल" संस्था पट्टी जो खादी ग्रामोद्योग 'आदमपुर'(जालंधर) के आधीन थी—उसका निस्वार्थ संचालन करते रहे। वही संस्था १-४-१९६१ ई० को खादी ग्रामोद्योग पट्टी में परिवर्तित हो गई और आप १९७६ तक उसके मंत्री रहे।

संक्षेप में यदि कहना पड़े तो कह सकते हैं कि जैन समाज को, देश को, किसी जैनसंस्था को, पट्टी श्रीसंघ को, नगर के किसी दुखिया को जहाँ भी जब भी आपकी सेवा की आवश्यकता हुई—आपकी ओर से सदैव तन-मन और धन से—परामर्श-स्नेह और सहानुभूति मिलती ही रही।

आपका जीवन बहुत सादा, शरीर सुन्दर, गौरवर्ण, पतला ६। फुट लम्बा, शुद्ध खद्दरधारी-उच्च आचार, निर्मल विचार और निरपक्ष हृदय था—इसी कारण केवल श्वेतांबर समाज में ही नहीं अपितु प्रत्येक नगर निवासी के हृदय में आपका स्थान प्रतिस्ठित और लोकमान्य था।

जब भी—जहां भी—दो पक्षों में झगड़ा—कलह—क्लेश या मतभेद हो जाता—निर्णयार्थ लाला दौलतराम जी जैन हमारी बात सुनकर जो भी निर्णय दें हमें स्वीकार होगा—दोनों पक्षों की ओर से ऐसी घोषणा हो जाती थी। यह है निरपक्ष-निर्मल-सत्यवादी और आदरणीय व्यक्तित्व।

आपकी चार पुत्रियां और तीन पुत्र हैं—बड़ा पुत्र लाला नत्थूराम, द्वितीय श्री कस्तूरीलाल और कनिष्ठ पुत्र श्री दीवानचन्दजी हैं।

४ साल से अधरंग (फालिज) से रोग शैय्या पर रहने से स्मरण शक्ति विस्मरण हो गई थी। स० ई० १९७९ में आप का स्वर्गवास हो गया।

श्री विलायतीराम जैन अम्बाला

मेरा जन्म ८ फरवरी १९०४ को अम्बाला शहर में श्री आत्माराम जैन ओसवाल के घर में हुआ था। मेरी माता का नाम श्रीमती परजो बाई था। मैं १५ मार्च १९२२ को दसवी कक्षा में पढ़ रहा था महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतन्त्रता आन्दोलन से प्रभावित होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया और कांग्रेस में शामिल हो गया और कांग्रेस के लिए कार्य करता रहा। १९२५ से १९२७ तक खादी के प्रचार का कार्य करता रहा। १९२८ में (२२ वर्ष की आयु में) कांग्रेस पार्टी का मंत्री बनाया गया। लगभग१९३६ तक मन्त्री का कार्य करता रहा। १९३०(३०-१०-३०)को शराब बंदी आन्दोलन के सिलसिले में ६ मास की सख्त सजा और १०० रु० जुर्माना हुआ, जुर्माना न देने पर १ माह १५ दिन की सजा और भुगतनी पड़ी यह सारी सजा अम्बाला जेल, अटक कैम्प जेल, कैम्बलपुर जेल में गुजारी। कैम्बलपुर जेल से रिहा होने के पश्चात् फिर मन्त्री का कार्य आरम्भ कर दिया। १९३२ में फिर स्वतन्त्रता आंदोलन आरम्भ हो गया ६-२-३२ को ४-५-१९३२ के कानून अनुसार पुनः गिरफ्तार कर लिया गया और ६ माह की सख्त कैद और ३० रु० जुर्माना हुआ। जुर्माना न देने के कारण १ माह १५ दिन की और सजा भुगतनी पड़ी। इस दौरान में मुझे अम्बाला और फिरोजपुर सेंट्रल जेल में रखा गया। फिरोजपुर जेल से रिहा होने के पश्चात् भी मैंने पार्टी के लिए मंत्री कार्य कई वर्षों तक जारी रखा। सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो आंदोलन' का नारा लगाया गया। ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव रखा और ९ अगस्त को सभी कार्यकारिणी के सदस्यों को बम्बई में गिरफ्तार कर लिया गया। अम्बाला में सूची पर सबसे ऊपर मेरा नाम था अम्बाला शहर में सबसे पहले १० अगस्त १९४२ को रात्रि के लगभग ८ बजे अनाजमंडी बाजार तंदूरान में पब्लिक और पुलिस की मौजूदगी में 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया और अंग्रेज सरकार के खिलाफ तकरीर की जिस पर पुलिस द्वारा मुझे गिरफ्तार कर लिया गया और दफा २६ अन्तर्गत मुझे अम्बाला जेल में नजरबंद कर दिया। अम्बाला जेल से कुछ दिनों के पश्चात् शाहपुर जेल में, और उसके पश्चात् मियांवाली जेल में लगभग ३ महीने तक रखा गया, मुझे करीब १ वर्ष ९ माह तक नजरबंद रखा गया। देश का विभाजन हुआ फिर देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उसी प्रकार मैं देश सेवा के कार्य करता रहा। अब तक इस समय भी मैं कांग्रेस का सदस्य हूं जितना भी कार्य हो अधिक से अधिक करने की

कोशिश करता हूँ। सन् १९२२ से अब तक मैंने जितनी भी देश सेवा की, वह सब महात्मा गांधी जी की विचारधाराओं से प्रेरणा लेकर की है। अब मेरी आयु ६८ वर्ष की है। अब तक मैं देश सेवा कर रहा हूं और आशा करता हूं कि जब तक जीवित रहूँगा देश की सेवा करता रहूँगा।

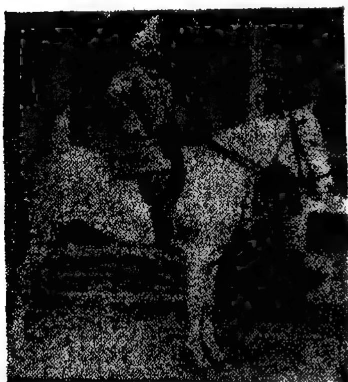
नोट—८ मई १९७९ को श्री विलायतीराम जी का स्वर्गवास हो गया।

आप देश भक्ति के साथ जैनशासन की सेवा में भी योगदान देते रहे। श्री हस्तिनापुर जैन श्वेतांबर तीर्थ के मंत्री तथा उपप्रधान के पद पर रहते हुए लगभग ३० वर्ष तक सेवारत रहे।

—:०:—

लाला टेकचन्द ओसवाल गददहिया गोत्रीय

लाला टेकचन्दजी स्थानकवासीजैन स्यालकोट पंजाब (पाकिस्तान) निवासी थे। आप एक उच्च और बहुत बड़े परिवार के सदस्य थे। आपके पितामह लाला रूपेशाह नगरपालिका के सदस्य थे। आपके पिता लाला नत्थूशाह भी नगरपालिका के सदस्य थे। और लाला टेकचन्दजी नगरपालिका के सदस्य तथा स्यालकोट नगर कांग्रेस कमेटी के प्रधान थे।



लाला टेकचन्द ओसवाल

देश के स्वतंत्रता संग्राम में आप सदा अग्रगण्य थे। अंग्रेज सरकार ने आपको सत्याग्रह आंदोलन में दो बार एक-एक वर्ष का कारावास का दंड दिया था।

आपने सन् ईस्वी १९३५ में स्यालकोट में एक रबड़ का कारखाना लाला भोलानाथजी खंडेलवाल श्वेतांबर मूर्तिपूजकजैन सनखतरा नगर निवासी के सहयोग से लगाया। यह डनलप कम्पनी के बाद भारत में पहला रबड़ का कारखाना था। बाद में इसे लिमिटिड कम्पनी का रूप दिया गया। पाकिस्तान बनने के बाद यह कम्पनी आज भी कटनी (मध्य प्रदेश) में इस कारखाने को बहुत बड़े रूप में चला रही है।

लाला टेकचन्द जी का स्वास्थ्य अंग्रेजी सरकार की जेल में ही खराब हो चुका था। रबड़ की कम्पनी को चालू करने के बाद आपका स्यालकोट में सन् ईस्वी १९३५ में ही देहान्त हो गया।

आपकी मृत्यु पर सारा नगर बन्द रहा और सब नगरवासियों ने श्रद्धांजलि अर्पित की।

—:०:—

अमृतकुमार दूगड़ जैन-देहली

कहते हैं कि मनुष्य के पतन अथवा उत्थान का कारण उसकी परिस्थितियां, संगत व वातावरण ही होते हैं। ऐसा तो संभव है कि—दूषित वातावरण में पड़कर मानव अपनी मनुष्यता एवं सच्चरित्रता को गंवा बैठता है और योग्य एवं शुद्ध-पवित्र वातावरण में पड़कर धार्मिक-सच्चरित्र, शुद्ध खान-पान वाला एवं योग्य मनुष्य के रूप में उभरता है। परन्तु-जब एक व्यक्ति प्रतिकूल वातावरण में भी अपने आपको सच्चरित्र-धार्मिक एवं शुद्ध खानपान की प्रवृत्ति वाला बनाकर रखे—हम उसे एक विलक्षण व्यक्ति ही कहेंगे।



अमृतकुमार दूगड़ जैन

२१ मई १९४१ को जन्मे श्री अमृतकुमार दूगड़ ने जब १८ वर्ष की आयु में भारतीय वायुसेना में भर्ती होकर देश व धर्म के प्रति सेवा भाव रखते हुए मिलिट्री के वातावरण में प्रवेश किया तो घर के बुजुर्ग लोग ही नहीं अपितु सारे जैन भाइयों को आश्चर्य हुआ कि हीरालाल दूगड़ शास्त्री जी का पुत्र तथा परिवार का सदस्य मिलिट्री के अभक्ष्य खानपान के वातावरण में किस प्रकार अपने आपको बचायेगा।

परन्तु एक विलक्षणता कहिए या संस्कार—आपने अपने प्रतिकूल वातावरण में होते हुए भी लद्दाख जैसे पर्वतीय-बर्फीले स्थानों पर भी अपने आपको शुद्ध शाकाहारी बनाए रखा। मदिरा' धूम्रपान, मांसाहार आदि अपवित्र व अभक्ष्य वस्तुओं का पूर्णरूप से बहिष्कार किया। कई बार ऐसे अवसरों पर—जब कि संपूर्ण वातावरण मांसाहारी एवं मदिरापान करने वालों का होता था, आपके (अकेले) खानपान के लिए शुद्ध शाकाहारी भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकती थी या अभक्ष्य पदार्थ खाने व पीने पर मजबूर किया जाता था। तब आपने कई दिनों तक मात्र दूध आदि लेकर या भूखे रहकर भी इन पदार्थों का संपूर्ण त्याग किया तथा कमांडिंग आफिसर को मजबूर होकर आपके लिए शाकाहारी भोजन की व्यवस्था करनी पड़ती थी।

उस समय भी जब कि १९६५ व १९७१ की लड़ाइयों में पाकिस्तान ने लद्दाख, जम्मू आदि पश्चिम-उत्तर बार्डर पर हमला करके भारतीय सीमाओं पर अपना कब्जा करने का स्वप्न देखा, आप लद्दाख, जम्मू व चंडीगढ़ से दिन रात अपने फौजी भाइयों के साथ क्षतिग्रस्त हवाई जहाजों को पुनः लड़ने योग्य बनाकर लड़ाई पर भेजते रहे और अंत में दोनों बार भारत की विजय हुई।

१५ साल देश की सेवा में व्यतीत करने के बाद २ नवंबर १९७४ को आपने वायुसेना से पेंशन सहित सेवा निवृत्ति पाई है और आजकल आपका निवास देहली शाहदरा में है।

आपकी धर्माराधना तथा प्रवृत्ति को जो रुकावट मिलिट्री के वातावरण से थी—उसके समाप्त हो जाने से—अब आपका समय नियमित रूप से नित्य नियम, पूजा पाठ एवं त्याग, तपस्या आदि धर्माराधना में व्यतीत होता है। नित्य नियम व पूजा पाठ के बगैर आप अन्न जल ग्रहण नहीं

करते। सुबह शाम अपने बच्चों को धर्माक्षर अथवा धार्मिक स्वाध्याय कराते हैं। तपस्या में व्रत, आयंबिल; एकासना आदि तो करते ही रहते हैं। इसके अलावा पर्यूषण पर्व में पाँच बार लगातार अठाई तपस्या कर चुके हैं। देव, गुरु, धर्म में पूर्ण श्रद्धा वा आस्था रखते हैं।

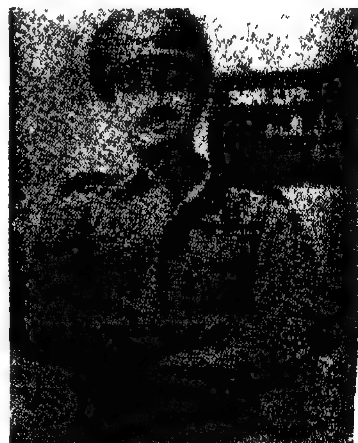
कहा जाता है कि संतान पर माता-पिता आदि बुजुर्गों का संस्कार ही ज्यादा प्रभाव डालता है—इस उक्ति के अनुसार आपके चरित्र में तो यह कहावत पूरी तरह सही बैठी ही है बल्कि आपके नन्हे-मुन्हे बच्चों पर भी यह उक्ति सही बैठती है। आपके बच्चे भी नित्य-प्रति आरती, पाठ धर्माराधना आदि करते हैं। जिन दर्शन किये बगैर अन्न जल ग्रहण नहीं करते। विशेष बात तो यह है कि आपके पुत्र पवनजैन ने ५ वर्ष की अल्पायु से लोगस्स, उवसग्गहरं, लघुशांति सीखते हुए आज ८ वर्ष की अवस्था में ही बृहच्छांति, भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि महास्तोत्र शुद्ध रूप में कंठस्थ कर लिए हैं और आत्मानंद जैनसभा देहली द्वारा आयोजित वार्षिक बाल-प्रतियोगिता में (पर्यूषण पर्व के दिनों में) लगातार तीन साल सर्वप्रथम रहकर चल-वैजयंती (सिल्वर ट्राफी) विजेता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

—०—

युवा स्क्वाड्रन लीडर

श्री एम. के. जैन

श्री महेन्द्रकुमार जैन जालंधर श्रीसंघ के प्रतिष्ठित कार्यकर्ता ला० कपूरचंद जैन के होनहार पुत्र थे। उनका जन्म १९३७ ई० में हुआ। कालेज में कुछ वर्ष शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे वायु सेना में भर्ती हो गये। अपनी योग्यता, प्रतिभा, साहस और कार्य कुशलता के बल पर थोड़े समय में ही श्रीजैन स्क्वाड्रन लीडर के पद पर आसीन हुए। देशभक्ति के सुसंस्कार इन्हें अपने पूज्य पिता श्री कपूरचंदजी से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए। श्री कपूरचंदजी अंग्रेजी साम्राज्य से टक्कर लेने वाले एक कर्मठ कांग्रेसी रहे जो जालंधर कांग्रेस कमेटी के मंत्री भी रहे तथा महात्मा गांधी के आह्वान पर जेल भी गये। उनमें आज भी देश और सामाज सेवा की लगन है।

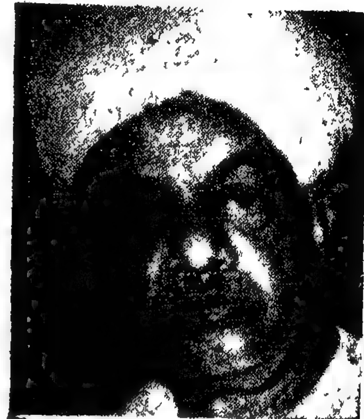


श्री महेन्द्र जैन ने १९६५ के भारत-पाक युद्ध में भी अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन किया। १९७१ में छंब-जोड़ियाँ के मोर्चे पर शत्रुओं के दाँत खट्टे करते हुए उन्होंने वीरगति प्राप्त की। उनकी शूरवीरता और देशप्रेम के उपलक्ष में भारत सरकार ने मरणोपरांत वीरचक्र प्रदान किया। यह जैन समाज के लिए गौरवपूर्ण अध्याय है। जिसे उनकी विधवा श्रीमती कमलेश जैन ने प्राप्त किया। श्री महेन्द्र जैन की तीन मासूम लड़कियाँ हैं। इस युवा स्क्वाड्रन लीडर का बलिदान स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा।

प्रतिभा के धनी स्वर्गीय लाला

श्री सुन्दरलाल जी जैन

"प्रतिभा स्कूल कालेज या यूनिवर्सिटी की देन नहीं होती, वह तो जन्मजात होती है और ऐसी प्रतिभाशालिता का प्रमाण ऐसे प्रतिभाशालियों के महान् कार्य ही होते हैं।" यह उक्ति स्व० लाला सुन्दरलाल जी पर सोलह आने चरितार्थ होती है।



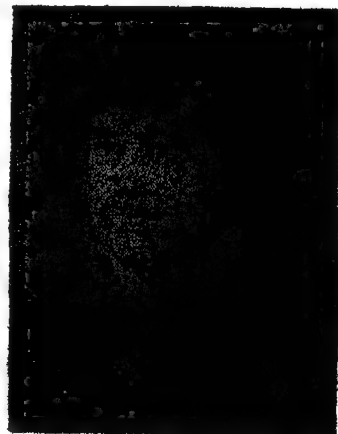
आपकी धर्मनिष्ठा, योग्यता, विद्वत्ता एवं कर्म-कुशलता अपने पिता श्री मोतीलाल जी से वरदान के रूप में प्राप्त हुई थी। लाहौर में १५-२-१९०० में जन्म लेकर आप २३-१-१९७८ के दिन देहली के स्वर्ग सिधारे।

आपकी फर्म "मोतीलाल बनारसी दास" का नाम पुस्तकों के क्षेत्र में विदेशों तक प्रसिद्ध है। आप संस्कृत, प्राकृत, इंगलिश, उर्दू, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के जानकार थे और तान्त्रिक अनुसंधान के क्षेत्र में रुचि रखते थे।

धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र की दृष्टि से आप श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत, श्री आत्मानन्द जैन कालेज कमेटी अम्बाला, श्री हस्तिनापुर तीर्थ प्रबन्धक कमेटी, श्री आत्मानन्द जैन सभा रूप नगर, श्री श्वेतांबर जैन तीर्थ सोसायटी वाराणसी, श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण-निधि आदि अनेकशः संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर समाज-सेवा का पुनीत अनुष्ठान करते रहे हैं।

पंजाब-केसरी युगवीर श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज के चरणों में आपको अनन्य श्रद्धा थी और आप उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे। देव-गुरु-भक्ति आपके महान् व्यक्तित्व की अभिन्न अंग थी।

श्री प्रवीण कुमार जैन (लुधियाना)



क्रूर काल का कहें या विश्व-परिचालिका प्रकृति का दोष मानें, न जाने क्यों वह समय से पूर्व ही अच्छे व्यक्तित्वों को समेट लेते हैं। काल तुम्हारी वह डोर क्यों न टूट गई जिसने हमसे छीन लिया हमारा लाल, जिसकी यादें हमें करती रहती हैं, बेहाल, कितना विकराल है वह दुष्काल जब हमसे सदा के लिए रूठ कर चला गया हमारे कुल का लाल।

प्रवीण! अब तुम हमारे पास लौट नहीं सकते, किन्तु तुम्हारी स्मृति हमसे दूर जा भी नहीं सकती और हमारी मजबूरी तुम्हें पा भी नहीं सकती। किन्तु हमारे स्मृति-पटल पर तुम्हारी प्रखर प्रतिभा, गम्भीर ज्ञान, प्रबल पुरुषार्थ, स्वस्थ औद्योगिक सूझबूझ एवं मिलनसील स्वभाव सदैव उभरते रहते हैं। और उभरते रहेंगे।

कौन कहता मृतक तुमको, तुम जिंदों के जिंदा हो। तुम्हारी नेकियाँ बाकी तुम्हारी खूबियाँ बाकी।

आज एक वर्ष बाद २५ जुलाई का दिन आया है, हम तुम्हारी आत्म-शांति के लिए श्री पार्श्वनाथ पञ्च-कल्याणक पूजा कर रहे हैं, तुम्हारी भावना पर फूल चढ़ाने के लिये बच्चों को मिठाइयां बांट रहे हैं, हो सकता है इससे तुम्हारी आत्मा को शांति मिल जाये, किन्तु तुम्हारी स्मृतियां हमारी आत्मा को शांत नहीं होने देतीं। हम सब आज भी उतने ही व्याकुल हैं जितने एक वर्ष पहले व्याकुल थे। हमारी आकुल-व्याकुल आत्माओं के प्रेम-पुष्प स्वीकार करो, दिव्यात्मन्। व्याकुल हृदय : कुन्दनदेवी दादी; विजय कुमार पिता; प्रेम सुन्दरी माता; नीलम पत्नी; देवराज; पार्श्वदास।

प्रो० पृथ्वीराज जैन



जन्म—१९२५ ई० पिता स्व० लाला शंकरदास जैन चौधरी। (पट्टी श्रीसंघ के मुख्य कार्यकर्ता और श्री आत्मानंद जैन महासभा पंजाब के आजीवन सदस्य तथा १९३३ तक कार्यकारिणी के सदस्य।)

प्रारम्भिक शिक्षा—पट्टी में। प्रतिभा-परिश्रमशील १९२७ से १९३३ तक श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला के छात्र। अपनी कक्षा में सदैव प्रथम स्थान। छात्र करते हुए भी कई जिम्मेदारी के काम करते। लिखने और भाषण देने में रुचि।

बाद में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा। १९३७ में जैनदर्शन, शास्त्री १९४० में प्रथम श्रेणी में संस्कृत में एम० ए०। प्रतियोगिताओं में अनेक पुरस्कार, जैनदर्शन का अभ्यास पं० सुखलाल जी व श्री दलसुख मालवणिया से।

निम्नलिखित संस्थाओं में अध्यापन कार्य।

१. श्री आ० जै० गु० गुजरांवाला—अध्यापक, विद्यापति, अधिष्ठाता।

२. जैन श्वेतांबर हाई स्कूल बीकानेर—प्रधानाध्यापक।

३. श्री आ० जैन कालिज अम्बाला शहर—२५ वर्ष तक संस्कृत तथा जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष।

४. अवकाश प्राप्ति के पश्चात् कुछ समय के लिए विद्यापीठ श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला उपनिर्देशक।

पंजाब जैन समाज के प्रमुख प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री आत्मानन्द जैनमहासभा के पंद्रह वर्ष तक पहले संयुक्त मंत्री फिर मंत्री। तत्पश्चात् कनिष्ठ उपप्रधान। अनेक शिक्षण संस्थाओं की कार्यकारिणी के सदस्य।

अतीव मधुर, प्रभावशाली वक्ता।

लेखक—अनेक जैन-अजैन पत्रिकाओं में लेख।

श्रमण के संपादक मंडल में दो वर्ष। विजयानंद के आद्य संस्थापक संपादक २५ वर्ष तक। मार्च १९८१ में श्री मानतुंग सूरि सांस्कृतिक समारोह बंबई में आठ विद्वानों व समाज सेवकों का सम्मान। उनमें एक आप भी थे। लेखों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तिकाएं—

१. हिन्दू, जैन और हरिजन मंदिर प्रवेश ।

२. भगवान् महावीर की अहिंसा और महात्मा गांधी ।

३. जैन संयास मार्ग ।

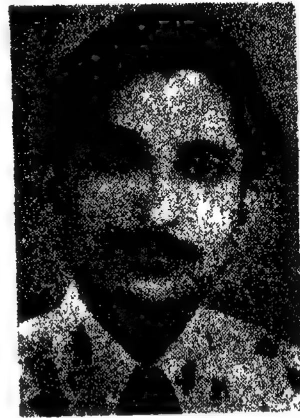
४. Fundamentals of Jainisim.

५. विश्वधर्म परिषद् और जैनधर्म

कुछ वर्ष तक पंजाब विश्वविद्यालय और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत बोर्ड के सदस्य रहे ।

सरल स्वभाव, सज्जन, मिलनसार, मधुरभाषी, प्रामाणिक, प्रतिष्ठित, शिक्षक आदि ।

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन



जन्म—जंडियाला गुरु (अमृतसर) शिक्षा—बी० ए०, साहित्यरत्न, लगभग २५० लेख, कहानी, कविताएं हिन्दी की शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित । दो कृतियां हिन्द पाकेट बुक्स में । अनेक रचनाएं प्रतिनिधि संकलनों में संग्रहीत । साहित्य में विशेष रुचि । कई रचनाएं अन्य भाषाओं में अनुदित हुई ।

जैन समाज की साहित्यक और सांस्कृतिक गतिविधियों से प्रारम्भ में संबद्ध । आध्यात्मिक स्वाध्याय और अनुशीलन में प्रवृत्त । सम्प्रति—प्रकाशन उद्योग से संलग्न ।

श्री महेन्द्रकुमार "मस्त"—सामाना



उत्तर भारतीय जैन समाज के युवा लेखक, वक्ता, व कवि महेन्द्रकुमार मस्त से शायद ही कोई अपरिचित हो । छोटी उमर में ही आप श्रीसंघ सामाना के प्रधान, महासभा वर्किंग कमेटी के सदस्य रह चुके है । इस समय भी आलइण्डिया जैन श्वेतांबर तीर्थ समिति हस्तिनापुर के मंत्री हैं । जैन साहित्य मे रुचि लेने वाले इस युवक ने प्रायः सारे भारत का भ्रमण किया है, तीर्थयात्राएं की हैं व जैन कार्यकर्ताओं से घनिष्ठता स्थापित की है ।

"वल्लभ अमर कहानी", महेन्द्र भजनमाला" तथा "गीतसुधा—ये तीन पुस्तकें आपके भजनों की छप चुकी हैं । दैनिक हिन्दी पत्रों व जैनपत्रो में आपके लेख गत २५ सालों से छपते रहे हैं ।

सामाना के परम गुरुभक्त व संस्कारी परिवार में सारगचंद जैन के घर आपका जन्म हुआ था । आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई है ।

आध्यात्मिकता की ओर आपका काफी झुकाव है, जिसमें मुख्य भूमिका महत्तरा साध्वी मृगावती जी की है।

—:०:—

धर्ममूर्ति-श्री चून्नीलाल जी दूगड़ (अमृतसर)

पंजाब के अग्रगण्य धर्मात्मा, श्रद्धालु, गुरुभक्त, चुस्त जैन धर्मानुयायी थे। बचपन में ही माता-पिता का स्वर्गवास स्वपुरुषार्थ से व्यवसाय में आशातीत उन्नति, सार्धमियों को गुप्त रूप से सहायक, हजारों रुपये का धर्म-संस्थाओं को दान, अनेक प्रकार की तपस्यायें कीं, व्रतधारी-श्रावक, रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग, अनेक जैन संस्थाओं के कार्यकर्ता सदस्य, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरावाला के कर्मठ सहयोगी, अमृतसर की श्वेतांबर जैन संसथाओं के ट्रस्टी यथा संरक्षक व्यवस्थापक, दान प्रवाह में मुक्त हस्त, प्रभुपूजा, सामायिक प्रतिक्रमण, व्रत-पच्चक्खाण में आपके नित्य नियम प्रशमसनीय थे।



वि० स० १९८६ में पूना शहर में आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी से बारह व्रतग्रहण, शत्रुंजय, गिरनार, आबु, तारगा, समेत शिखर केसरियानाथ, मारवाड़ की पंचतीर्थी, हस्तिनापुर आदि अनेक तीर्थों की अनेक बार यात्राएं। शत्रुंजय तीर्थ में ९९ यात्राएं, बाल्यावस्था में ही चुस्त दृढ़ श्रद्धा तथा आचरण।

अमृतसर में श्री आत्मानन्द जैन सेंट्रल लायब्रेरी पंजाब की स्थापना करके १४ वर्ष तक सारा खर्चा अपने पास से किया और श्रीसंघ को अर्पणा की।

प्रतिष्ठाओं आदि के अवसर पर पंजाब में सब जगह पहले पहुच कर अग्रगण्य भाग लेते थे।

आपके बड़े भाई लाला सोहनलाल जी का स्वर्गवास हो जाने पर निकट में ही श्री पर्यूषण पर्व आने पर स्यापा-शोक आदि का त्यागकर धर्माराधना के जुट गये थे अतः अपने समय के आप पंजाब के गिने-माने आदर्श धर्ममूर्ति श्रावक थे।

लाला सदाराम जैन—सामाना

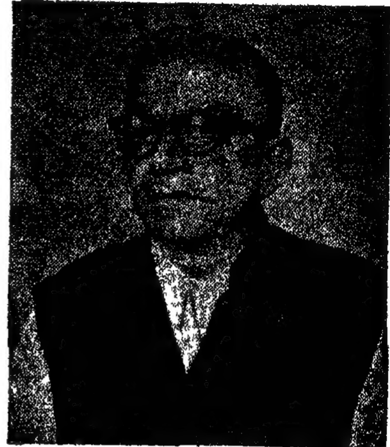
सामाना मंदिर के मूलनायक भ० शांतिनाथ जी को अपने हाथों से गादी पर विराजमान करनेवाले तथा अपने शहर में सबसे पहले गुरु वल्लभ का आर्शीवाद पाने वाले ला० सदारामजी शास्त्रज्ञान, धार्मिकक्रिया, पूजा प्रतिक्रमण आदि के जानकार श्रावक थे। सामाना में महासभा के अधिवेशन के अवसर पर आप स्वागत समिति के प्रधान बने।

स्वयं एक अच्छे गायक व गीतकार होने के साथ आप ८ वर्ष श्रीसंघ के प्रधान तथा २० वर्ष सेक्रेटरी रहे। प्रायः सभी जैनतीर्थों की यात्रा आपने की थी।

४ जून, १९६२ को ८१ वर्ष की उमर में आप स्वर्ग सिधारे। आपके दो पुत्र—सागरचंद व नाजरचंद हैं।

लाला सागरचंद जैन

श्रीसंघ के छः बार प्रधान तथा महासभा की वर्किंग कमेटी के कई साल सदस्य रहने वाले लाला सागरचंद जैन कुशल व्यवसायी, इतिहास अन्वेषक तथा स्वाध्यायी थे।



गाने बजाने का शौक बचपन से ही था। अपने शहर की भजनमंडली लेकर पंजाब में होने वाली प्रतिष्ठाओं व समारोहों में आप जाते रहे। आप हार्मोनियम से पूजाएं मंदिर जी में पढ़ाते रहे। आचार्य विजय ललित सूरि जी आपके संगीत गुरु थे।

विवाहों में बाज़ारी औरतों के नाचने गाने के ६० वर्ष पहले के भद्दे रिवाज के विरोध में आपने सामाना से एक ट्रैक्ट छपवा कर वितरित किया। प्रेम सभा सामाना के अध्यक्ष पद से आपने विधवा विवाह के पक्ष में ज़बरदस्त प्रचार किया।

आप निश्चिन्त विचारों के मालिक थे। जैनधर्म या मूर्तिपूजा पर कोई उलट बात अपको सहन न थी। १९५७ में स्था० आचार्य आनंदऋषि जी के साथ आर्य समाजियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में जैन पक्ष की ओर से बोलने का अधिकार मात्र आपको व आपके पुत्र महेन्द्र मस्त को था।

आप एक अच्छे वक्ता, लेखक व कवि थे। जैनधर्म पर कई निबन्ध आपने लिखे। प्रायः सारे भारत के जैन तीर्थों की यात्रा आपने की। असहाय बहनों की आप गुप्त सहायता करते रहते थे।

सामाना मंडी में भ० कुंथुनाथ जैनमन्दिर के निर्माण केलिए आपने ग्यारह हज़ार रुपये दिये थे।

१६-२-७८ को आपके स्वर्गवास पर आपके सुपुत्रों "सदाराम सागरचंद जैन चैरिटेबल ट्रस्ट" की स्थापना की है।

श्री नाजकचंद जैन

सफल गायक, गीतकार व लेखक श्री नाज़रचंद जैन के नाम से शायद ही कोई पंजाबी जैन अपरिचित हो। गुरुदेव विजयवल्लभ सूरि जी व विजयसमुद्र सूरि जी के ४०० से ज्यादा भजन आप अब तक बना चुके है।

"अब किसके सहारे" "हजारों सीप एक मोती", "जीवन की याद" तथा 'समुद्र की लहरें'—भजनों की यह चार पुस्तकें आप स्वयं छपवा कर बांट चुके है। भारतीय संस्कृति पर आपके धारावाहिक लेख दैनिक प्रताप (लाहौर) में छपे थे। जिला पटियाला हिन्दू मुस्लिम ऐत्तिहाद-कमेटी के मंत्री तथा व्यापारमण्डल के प्रधान रहे।

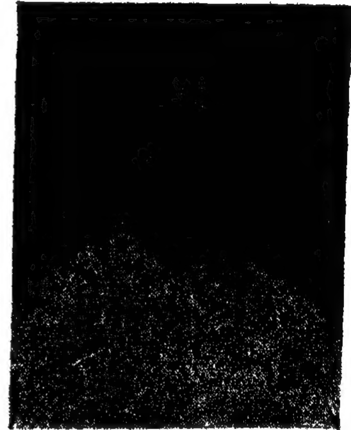
आजकल आप चण्डीगढ़ में अपने पुत्रों——नरेन्द्रकुमार और जिनेन्द्रकुमार के साथ रह रहे हैं।



पं० हंसराज शास्त्री

आप ब्राह्मण होते हुए भी जैनधर्म की आस्था रखते थे। जैनदर्शन के मार्मिक विद्वान थे। आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी के समकालीन थे। आपने जैनधर्म पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। अनेक जैन साधु-साध्वियों को पढ़ाया। आप प्रखर वक्ता एवं संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। आपका जन्म बिलगा गाँव में हुआ और देहांत लुधियाना में हुआ।

प्रोफेसर पं० रामकुमार जैन (राम)



आप श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल के स्नातक हैं। कुशाग्रबुद्धि के धनी हैं। कवि, वक्ता तथा लेखक सर्वगुण सम्पन्न हैं। गुरु वल्लभ तथा गुरु समुद्र के निष्ठावान भगत हैं। विद्याभूषण, न्यायतीर्थ, डबल एम० ए० संस्कृत में आचार्य, हिन्दी में प्रभाकर तथा साहित्यरत्न हैं। अनेक जैनशिक्षण संस्थाओं में अध्यापक-प्रध्यापक के रूप में आपने ख्याति प्राप्त की है आपकी वक्तृत्व कला लासानी है। श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने वाली है। आशुकवि हैं। आपकी कविताएं, भजन, गाने जन-जन की ध्वनियों में सर्वत्र मुखरित हैं। सरलस्वभावी, निराभिमानी तथा सज्जन प्रकृति आपकी विद्वता में सोने में सोहागे की उपमा के लायक हैं। इस समय आप दिल्ली में निवास करते हैं और रिटायर्ड जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आपका जन्म मक्खननगर (हस्तिनापुर के समीप) गाँव जिला मेरठ में ब्राह्मण कुल में हुआ। आप दृढ़ जैनधर्मानुयायी हैं और सामाना निवासी परमार्हत ब्राह्मण पंडित श्री नीलकंठ के समान जैनशासन के वफादार भगत हैं। (पं० नीलकंठ का परिचय हम सामाना के वर्णन में कर आये हैं।



जर्मन देशवासी स्वर्गवासी हर्मण जेकोबी

आप जैनधर्म के उच्चकोटि के प्रथम जर्मन स्कालर थे जिन्होंने अनेक जैन ग्रंथों का अर्वाचीनढंग से सम्पादन और प्रकाशन किया है। जैनधर्म पर शोध-खोज के अनेक प्रशंसनीय साहित्य की रचनाएं की हैं। आप पहले व्यक्ति हैं। जिन्होंने जैनधर्म की प्राचीनता भगवान महावीर से पहले ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध की है। जर्मनी में अनेक जैनस्कालर आपके शिष्य आज भी जैनधर्म की शोध-खोज में लगे हुए हैं।